भगवान् महावीर के २५०० वें निर्वाण-महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

णमोकार ग्रन्थ

(सचित्र)

भारत गौरव, धर्मनेता, विद्यालंकार,

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज

प्रकाशक

कश्मीरीलाल जी जैन जौहरी

वेदवाड़ा, दिल्ली

श्री १०८ आचार्यरत्न देशभूषण जी महाराज

जन्म संवत् १९६० मुनिदीक्षा संवत् १९८५

भूमिका

'णमोकार ग्रन्थ' पाठकों के हाथो मे देने से पूर्व इसके सम्बन्ध में दो शब्द लिखना आवश्यक प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ को प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ को रचना खण्डेलवाल जातीय वैनाड़ागोत्रीय किशनलाल के पौत्र और कन्हैयालाल के पुत्र लक्ष्मीचन्द ने की थी। वे दिल्ली निवासी थे। ग्रन्थ की समाप्ति वीर निर्वाण सवत् २४४६ चैत्र शुक्ला ११ को हुई। इस ग्रन्थ में सम्मति आदि देकर रचायिता के मित्र निर्भयराम ने बहुत सहायता प्रदान की। इस ग्रन्थ की एक प्रति वैदवाडा दिल्ली के जैन मन्दिर में तथा दूसरो प्रति सेठ-कूचा दिल्ली के जैन मन्दिर में उपलब्ध हुई। उन दोनो प्रतियो का मिलान करके इसका सशोधन और सपादन परम पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने किया है। ग्रन्थ प्रकाशन में आचार्य श्री को हार्दिक इच्छा और अभिलाषा एकमात्र यह रहती है कि विद्वद्वर्ग और सर्वसाधारण सभी लोग जैन धर्म के अन्तस्तत्वों और उनके हार्द को सही रूप मे समझ सकें और उनके सम्बन्ध मे प्रमाद या अजानकारी के कारण जो भूल भ्रान्तिया अब तक होती रही है, उनकी पुनरावृत्ति न हो। इस प्रकार के साहित्य का प्रणयन और प्रकाशन ही जैन धर्म और उसके लोक कल्याणकारी सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार का सर्वोत्तम एव सर्वसुलभ साधन है। इस सदुद्देश्य से इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

णमोकार मन्त्र का माहात्म्य

जैन धर्म मे णमोकार मन्त्र का स्थान सर्वोपरि माना गया है। जैन शास्त्रो में इस मन्त्र को अनादि निधन स्वीकार किया गया है। इसे मन्त्र नही, अपितु महामन्त्र बतलाया है। इसके माहात्म्य को प्रगट करते हुए इस प्रकार बतलाया है—

ऐसो पच णमोयारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसि, पढम हवइ मगल ॥

अर्थात् यह पच नमस्कार मत्र सब पापों का नाश करने वाला है, और सब मगलों में प्रथम मगल है।

णमोकार मन्त्र के अचिन्त्य प्रभाव का वर्णन करने वाले अनेक स्तोत्र-स्तवनों की रचना की गई है। इनमें बताया है कि यह महामन्त्र चौदह पूर्वों का पुञ्ज है, सम्पूर्ण विद्याओं

की आद्यविद्या है और सम्पूर्ण बीजाक्षरो का जन्म-स्थान है। अणिमा, महिमा आदि सम्पूर्ण सिद्धियाँ इस महामन्त्र में निहित है। यह प्रणव (ॐकार) रूप है। यह मुक्ति (सासारिक भोग) और मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह कर्म-राशि को नष्ट करने वाला, मोहान्धकार मे ग्रस्त प्राणियो के लिये हस्तावलम्बन रूप और जिनेन्द्र भगवान् का यह मन्त्रात्मक शरीर है। आचार्य सिंहनन्दी ने तो यहां तक बताया है कि पूर्वकाल में जितने जोव मुक्ति में गये, वर्तमान में जा रहे है और भविष्य में जायेगे, वे इसी णमोकार मन्त्र के कारण ही। यही कारण है कि यह मूल मन्त्र अनादि काल से मुक्ति का अग है। वस्तुत. यह महामन्त्र अनादि सिद्ध है, इसकी रचना किसी ने नहीं की है। इसीलिये शास्त्रो मे इसके अचित्य गौरव और माहात्म्य की अनेक कथाये मिलती हैं।

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ में कुल दो अधिकार दिये गये है। प्रथम अधिकार ११६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, जबकि शेष भाग में द्वितीय अधिकार है। प्रथम अधिकार मे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाच परमेष्ठियों का स्वरूप विस्तारपूर्वक दिया गया है। द्वितीय अधिकार का नाम रत्नत्रय अधिकार है। सम्यग्दर्शन के वर्णन मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षड्द्रव्य, सप्त तत्त्व, षोडश भावना, दश धर्म, द्वादश अनुप्रेक्षा, बाईस परिषह, पाच प्रकार के चारित्र, तप, सम्यग्दर्शन के आठ अगो और उनका पालन करने वाले महनीय पुरुषो के कथानक दिये गये है। सम्यग्ज्ञान के विवरण मे पाच ज्ञान, चार अनुयोगो का विवरण दिया गया है। सम्यक चारित्र का वर्णन करते हुए श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक भेदो का विस्तृत वर्णन, श्रावक के आठ मूल गुण, जीवदया और सप्त व्यसनो का कथाओ सहित वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक का निरूपण करते हुए कल्पकाल, १४ कुलकरो, २४ तीर्थकरो, १२ चक्रवर्तियो, नौ नारायणो, नौ बलभद्रो, नौ प्रतिनारायणो, नौ नारदो, ११ रुद्रो, २४ कामदेवो का जीवन-परिचय देकर आचार्य अकलक, और आचार्य कुन्द-कुन्द का इतिवृत्त दिया गया है। अन्त में षड् लेश्याओ का निरूपण करते हुए श्रीपाल चरित्र देकर प्राचीन हस्तलिखित प्रति के आधार से णमोकार मन्त्र की पूजा दी गई है।

विभिन्न प्रसगो में अनेक कथानक और रंगीन चित्र दिये गये है। ये चित्र ग्रन्थ की मूल प्रति में है। वे ही ज्यों के त्यो इसमे ब्लाक बनवाकर दे दिये गये है। उनके कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त सरल और रुचिपूर्ण बन गया है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नही होगा कि शास्त्रों के नीरस और शुष्क विषयो को इन कथानकों और चित्रो के माध्यम से अत्यन्त रोचक बनाने का प्रयत्न किया गया है। इससे विषय पाठकों के लिये अत्यन्त सुगम, सुबोध और

सहज ग्राह्य बन गया है। लगता है, लेखक ने इन कथानको और चित्रो का समावेश इसी दृष्टि से किया गया है। कहना होगा कि वे अपने उद्देश्य में पूर्णत सफल रहे है।

इस ग्रन्थ से पाठकों को अनादि निधन णमोकार महामन्त्र के साथ-साथ जैन धर्म के व्यापक सिद्धान्तो का ज्ञान हो सकेगा। इससे जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में भी सहायता प्राप्त होगी। यदि ग्रन्थ में णमोकार मन्त्र के माहात्म्य को प्रगट करने वाली कुछ कथाये भी दे दी जाती तो इससे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी अधिक बढ जाती।

आचार्य श्री की बहुमुखी प्रतिभा

आचार्यरत्न श्री देशभूषणजी महाराज के जीवन की दो विशेषताये है—सतत स्वाध्याय और निरन्तर ग्रन्थ प्रणयन। वे धर्म को अपने जीवन में आत्मसात् करने मे जितने दत्तचित्त है, उतने ही वे उसे लोक के लिये सुलभ करने में भी प्रवृत्त है। अपनी अनेकविध लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियो के बीच वे मौलिक ग्रन्थो की रचना, सग्रह, ग्रन्थो का प्रणयन, विभिन्न भाषाओ के ग्रन्थो का अनुवाद और अनेक ग्रन्थो का सपादन किस प्रकार कर लेते है, यह देखकर आश्चर्य होता है। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता है, उनकी प्रतिभा बहुमुखी है, जैन धर्म को सर्वसाधारण तक पहुचाने के लिये उनके हृदय मे अदम्य ललक है। उनकी रचनाओं का मूल्याकन इसी परिप्रेक्ष्य मे करना अधिक सगत होगा।

आभार-प्रदर्शन

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन धर्मात्मा बन्धुओ ने योगदान किया है, उन्होंने जैन धर्म और जैन साहित्य की बड़ी सेवा की है। उन्होंने इसके लिये अपनी चचला लक्ष्मी का दान करके वास्तव में उसका सदुपयोग किया है। इन सज्जनो मे लाला अजितप्रसाद जी जौहरी, कटरा खुशालराय दिल्ली ने,ग्रन्थ की ५०० प्रतियो का, लाला मदनलाल जी घन्टे वाले दिल्ली ने ५०० प्रतियों का, श्री कश्मीरीलाल जी जैन जौहरी वेदवाड़ा ने ३०० प्रतियों का तथा लाला फूलचन्द जी जैन कागजी धर्मपुरा ने ३०० प्रतियों का व्यय-भार सहर्ष वहन किया। इन सज्जनो की गुरु-भक्ति और धर्म-प्रेम वास्तव में सराहनीय है। मै इस अमूल्य सहयोग के लिये सभी सज्जनो का आभारी हूँ।

दिल्ली
वीर निर्वाण सम्वत् २४९९

—बलभद्र जैन

आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी महाराज
के
आशीर्वादात्मक

दो शब्द

'णमोकार ग्रन्थ' पाठको को देते हुए परम आनन्द का अनुभव हो रहा है। हम कुछ समय पूर्व वैदवाडा दिल्ली के दिगम्बर जैन मन्दिर में प्रवचन के लिये गये थे। जिस मन्दिर में हम जाते है, उसके शास्त्र-भण्डार का अवलोकन करने की हमारी प्रवृत्ति रहती है। अतः इस मन्दिर के शास्त्र-भण्डार का भी हमने अवलोकन किया। अवलोकन करते हुए हमें प्रस्तुत सचित्र 'णमोकार ग्रन्थ' प्राप्त हो गया। इसके रचयिता खण्डेलवाल जातीय लक्ष्मी चन्द्र वैनाडा दिल्ली वासी है। यह ग्रन्थ ढुढारी और खडी बोली दोनो मिश्रित भाषाओ में लिखा गया है। यह ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित था। हमें ग्रन्थ देखकर बहुत उपयोगी लगा। इसी प्रकार सेठ के कूंचे के दिगम्बर जैन मन्दिर के शास्त्र-भण्डार का अवलोकन करते हुए इस ग्रन्थ की एक और प्रति प्राप्त हो गई। हमने दोनों प्रतियो का मिलान करके भाषा का परिमार्जन किया, जो पाठको के समक्ष है। हस्तलिखित प्रति मे जो चित्र थे, वे भी ज्यो के त्यो इस ग्रन्थ मे दे दिये गये है। इससे उनकी कला की मौलिकता अक्षुण्ण रही है। इस ग्रन्थ मे णमोकार मन्त्र का माहात्म्य और उससे सम्बन्धित कथाये दी गई है। इसके अतिरिक्त जैन धर्म के सिद्धान्तो और रत्नत्रय आदि का विवेचन किया गया है। हमे पूर्ण विश्वास है, इस ग्रन्थ के पठन-पाठन और मनन-चिन्तन से सभी पाठको को लाभ होगा और वे जैन धर्म के सिद्धान्तो को भली प्रकार समझ सकेंगे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमारी भावना यही रही है।

वैदवाड़ा और सेठ के कूचा के जैन मन्दिरों के व्यवस्थापकों ने इस ग्रन्थ की हस्त लिखित प्रतिया सुलभ की, इसके लिये उन्हे हमारा आशीर्वाद है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में स्वेच्छा और धर्म-बुद्धि से लाला अजित प्रसाद जौहरी, लाला मदनलाल घण्टेवाले, कश्मीरीलाल जौहरी और फूलचन्द्र कागजी ने सहर्ष आर्थिक सहायता प्रदान की, एव पदमसैन जैन, वैद्य प्रेमचन्द जैन, एस० नारायण शास्त्री मालिक एस० नारायण एण्ड सस (प्रिंटिग) ने भी ग्रन्थ प्रकाशन मे सहयोग दिया है इसके लिये उन्हें भी हमारा शुभाशीर्वाद है।

णमोकार ग्रन्थ

विषय-सूची

रत्नत्रयनाम द्वितीय अधिकार

णमोकार मन्त्र
णमो अरिहन्ताण
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाण
णमो लोए सव्व साहूण

चत्तारि मंगलं - अरिहंता मंगलं,
सिद्धा मंगल, साहू मंगलं,
केवलिपन्नत्तो धम्मो मंगल॥
चत्तारि लोगुत्तमा -
अरिहता लोगुत्तमा,
सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा,
केवलिपन्नत्तो धम्मो लोगुत्तमो॥
चत्तारि सरणं पवज्जामि -
अरिहते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि,
केवलिपन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥

श्री सुकमाल मुनि
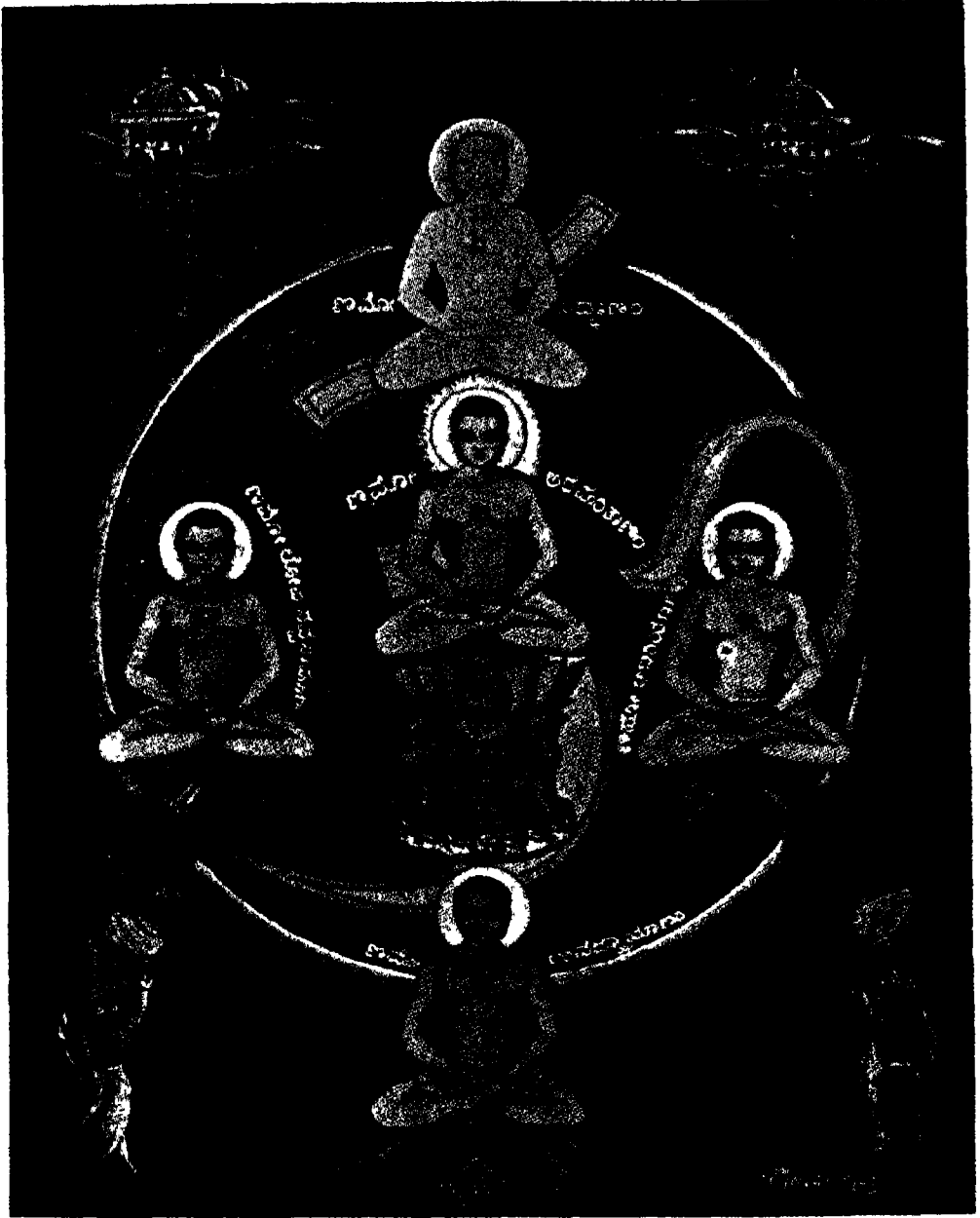
णमो अरहंताणं. णमो सिद्धाणं.
णमो आइरियाणं. णमो उवज्झायाणं.
णमो लोए सव्वसाहूणं ।

णमोकार ग्रंथ

मंगलाचरण

आकृष्टिं सुर संपदांविदधते मुक्ति श्रियो वश्यतां,
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।
स्तंभं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य संमोहनम्,
पायात्पंच नमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ।।

णमो अरहंताणं । णमो सिद्धाणं ।
णमो आइरियाणं । णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्व साहूणं ।

णमो अरहंताणं—अरहंत भगवान को मेरा नमस्कार हो ।
णमो सिद्धाण—सिद्ध भगवान को मेरा नमस्कार हो ।
णमो आइरियाण—आचार्यों को मेरा नमस्कार हो ।
णमो उवज्झायाण—उपाध्यायो को मेरा नमस्कार हो ।
णमो लोए सव्व साहूणं—लोक में जितने साधु हैं उन सबको मेरा नमस्कार हो ।

इस प्रकार भगवान पंच परमेष्ठी को नमस्कार कर आगे उनके गुणों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है ।

अथ क्रमागत श्री अरहन्त भगवान गुण वर्णन

कैसे है वे अरहन्त भगवान ? वे अष्टादश दोष रहित एवं छियालीस गुण सहित हैं । वे अष्टादश दोष कौन से है ?

रत्नकरण्ड श्रावकाचारोक्तं श्लोकम्

क्षुत्पिपासाजरातंक, जन्मांतक भयस्मया ।
न राग द्वेष मोहाश्च, यस्याप्ताः स प्रकीर्त्यते ॥१॥

पुनश्च दोहा

जनम जरा तिरषा क्षुधा, विस्मय आरत खेद ।
रोग शोक मद मोह भय, निद्रा चिंता स्वेद ॥१॥
राग द्वेष अरु मरण जुत, ये अष्टादश दोष ।
नाहिं होत अरहन्त के, सो छवि लायक मोष ॥

अर्थ

अरहन्त भगवान के (१) जन्म, (२) जरा, (३) तृषा, (४) क्षुधा, (५) विस्मय, (६) अरति, (७) खेद, (८) रोग, (९) शोक, (१०) मद, (११) मोह, (१२) भय, (१३) निद्रा, (१४) चिंता, (१५) स्वेद, (१६) राग, (१७) द्वेष और (१८) मरण। ये अठारह दोष नही होते है।

भावार्थ—सत्यार्थ देव के ये अठारह दोष नही होते है। ये अठारह दोष सब ही संसारी जीवो को लगे हुए है और जो यह दोष देव मे भी हो तो वह देव काहे का। अत. सत्यार्थ देव अर्थात् ईश्वर उपरोक्त अष्टादश दोष रहित है। यथार्थ में विचार किया जाए तो आप्तता जो पूर्वोक्त दोष रहित और जन्मातिशय आदि गुण युक्त हो उस ही के सम्भव है और जो राग द्वेष सहित देव है वे कहने मात्र के ही देव है। दोषो मे प्रथम दोष जन्म दोष कहा है।

(१) **जन्म दोष**—उसके दु:ख प्रत्यक्ष दीखते हैं। कैसा है जन्म दोष ? माता का रुधिर और पिता का वीर्य—इन दोनों के सम्बन्ध विशेष से इस शरीर की उत्पत्ति होती है। और माता जो आहार करती है उसके रस से यह वृद्धि को प्राप्त होता है। कारागार के समान उदर में नव मास पर्यन्त दु:ख भोग कर इसका निकलना होता है। कारागार में तो चारो ओर से पवन और कभी-कभी और भी नाना प्रकार के चरित्र देखने मे आते हैं और सीमा के मध्य हस्तपाद आदि अगो का यथेच्छित हिलाना-डुलाना हो सकता है, परन्तु उदर रूपी कारागार के मध्य हस्त, पाद, ग्रीवा आदि के सकुचित रूप से बहुत दु:ख से रहना होता है। कारागार मे तो रहने की जगह भी मल-मूत्र आदि से दुर्गंध रहित निर्मल होती है, पर उदर रूपी कारागार के मध्य मल-मूत्र आदि की दुर्गंध तथा जाल के समान मास और रुधिर से व्याप्त एक प्रकार की थैली के मध्य रहना होता है। बहुरि नव मास पूर्ण होने पर अत्यन्त दुस्सह कष्ट के साथ बाहर निकलता है। पुन: विचार करो कि बालपने में कैसी-कैसी असाध्य बाधाएँ सहन करनी पड़ती है। ऐसा जन्म रूप दोष यथार्थ तत्त्व प्ररुपक सत्यार्थ देव आप्त के नहीं होता है।

(२) **जरा दोष**—जरा अर्थात् बुढ़ापे के आने पर कुन्द के पुष्प के समान श्वेत दशनावलि अर्थात् दाँतों की पक्ति तो रहती ही नही। जैसे कृतघ्नी अपना कार्य सिद्ध होने के पश्चात् दूर हो जाता है वैसे ही दाँत भी कृतघ्नी के समान दूर हो जाते है और हाड़ों की संधियाँ ढीली हो जाती हैं। मानों देह बुढ़ापे को आता देखकर भय मानकर काँपती है और काया रूपी नगरी ऐसी दीखती है मानों जरा रूपी तस्कर द्वारा लूट ली गई हो अतः वह पहचान में नही आती हैं। बालो का रग पलट जाता है और वे श्वेत हो जाते है। शरद ऋतु में जैसे फूले हुए डाभ (कास) वर्षा ऋतु का बुढापा प्रगट करते है वैसे ही ये केश भी मानो बुढ़ापा प्रगट करते हैं। शरीर अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाता है और परिणाम भी चचल हो जाते है। रोगावस्था में वैसे ही अपने प्राण समान प्रिय पुत्र भी जब निकट नही आते है जैसे दुष्ट मित्र आपत्ति के समय पास नही आते है। तब अन्य कुटुम्बी जनो की क्या बात ? सब ही अपने अपने स्वार्थ के सगे है। निज स्वार्थ के बिना कोई भी किसी का प्रिय नही। जैसे नीतिकार ने कहा भी है।

शार्दूल छन्द

वृक्षंक्षीण फलंत्यजन्ति विहगा, दग्धं वनान्तं मृगा।
पुष्पं पीत रसं त्यजन्ति मधुपा, शुष्कं सरः सारसाः ।।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका, भृष्टं नृपं मंत्रिणः।
सर्वः कार्य वशाज्जनोभिरमते, कः कस्य ने वल्लभः।।

अर्थ—जिस प्रकार विहग अर्थात् पक्षी वृक्ष के फलहीन होने पर, मृगहरी दूब वाले वन के भस्म होने पर, मधुप अर्थात् भौरे पुष्प के रस पान कर लेने पर सारस सरोवर के जल रहित होने पर, गणिका अर्थात् वेश्या पुरुष के द्रव्यहीन होने पर, और मत्री राजा के राज्य भ्रष्ट होने पर त्याग कर देते है उसी प्रकार कुटुम्बी जन भी अपने-अपने कार्य के वशी-भूत होने पर उससे प्रेम भरा वार्त्तालाप करते है और उसे अपना वल्लभ अर्थात् प्यारा समझते है। अपना प्रयोजन सिद्ध होने पर अथवा आपत्ति आई जानकर तत्समय ही उससे पृथक् हो जाते है। अत यह निष्पक्ष सिद्ध हुआ कि 'सब ही अपने-अपने कार्य की सिद्धि के लिए दूसरे की सेवा सुश्रूषा करते है, पर के लिए कोई नही।' बुढापा आने पर श्रोत्रेन्द्रिय की शक्ति भी न्यून हो जाती है अतः वह अब सुन नही पाती है। जठराग्नि भी जरा के आगमन से मन्द हो जाती है अत परिणाम स्वरूप क्षुधा भी न्यून हो जाता है। क्षुधा के न्यून होने से शरीर की शक्ति घट जाती है अतः चाल अटपटी हो जाती है और नेत्रों की ज्योति कम हो जाती है। मुख के द्वारा दूसरों को ग्लानि उपजाने वाला कफ झरने लग जाता है और शरीर इतना पराक्रमहीन हो जाता है कि अपने तन के वस्त्रो की भी सुध नही रहती तो और बात का क्या कहना ? ऐसा दुःखदाई जरा रूप दूसरा दोष भी सत्यार्थ मार्ग के प्रवर्तक सकल परमात्मा ईश्वर के नही होता है अतः ऐसे निर्दोष ईश्वर को मेरा नमस्कार हो।

(३) **तृषा अर्थात् प्यास दोष**—कैसा है यह दोष ? इसके होते ही समस्त संसारी जीव व्याकुल हो जाते है और जब तक प्यास शमन नही हो जाती तब तक निराकुलता नही होती है। ऐसा तीसरा तृषा दोष भी सर्वज्ञ हितोपदेशी सकल परमात्मा ईश्वर के नहीं होता। ऐसे निर्दोष ईश्वर को बारम्बार नमस्कार हो।

(४) **क्षुधा दोष**—कैसा है यह दोष ? इसके वश में होकर ब्रह्मा, बिष्णु, महेश आदि ने वन में फल भक्षण कर इस क्षुधा रूपी पिशाचिनी को आहार रूप बलि देकर शान्त किया। और कैसी है यह क्षुधा ? जिस समय चौथे काल के आदि में उत्पन्न होने वाले चौदहवे कुलकर नाभिराय के नन्दन धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक तीर्थंकर आदिनाथ भगवान नीलाँजना अप्सरा को नृत्य करते हुए देखकर वैराग्य को प्राप्त हुए और सुरेन्द्रादि द्वारा पालकी चढ़ वन को गए एवं केशलोच कर षट् मास पर्यन्त आहार का निरोध किया। उस समय उनके सग अनेक राजाओं ने राज्य को त्याग कर मोक्ष की इच्छा से तप धारण किया। पर कुछ समय पश्चात् क्षुधा रूपी पिशाचिनी कृत उपसर्ग को न सह सकने पर, व्याकुल होकर भरत चक्रवर्ती के भय से स्व स्थान को न जाकर वन मे प्राप्त वृक्ष आदि के फलो से क्षुधा शान्ति कर, वृक्षो के बक्कल तथा गेरू आदि से रंगे वस्त्र धारण कर उन्होने अनत काल ससार में परिभ्रमण कराने वाले तीव्र कर्म का बध किया। इस क्षुधा के वशीभूत होकर ससार के समस्त प्राणी व्याकुल होकर अच्छे बुरे का ज्ञान खो देते है। और जैसे भी बन सके योग्य, अयोग्य कार्य करके अपनी क्षुधा को शान्त करने के लिये आहार उपार्जन करने का प्रयत्न करते है। और कैसी है यह क्षुधा ? इसके वश होकर मनुष्य अपने प्राणो के समान प्रिय इष्ट स्त्री पुत्र आदि को तज देश देशान्तर मे प्रति गमन करते है। इसके निमित्त मनुष्य चोरी करते हैं और झूठ बोलते है। पर जीवन का घात करते है और यदि दैवयोग से पकडे जाएँ तो राजाओ के द्वारा अनेक प्रकार के खोटे-खोटे दण्ड पाते है, पिटते है और दुष्ट वचन सहते हैं। किसी कवि ने सत्य कहा है :—

छप्पय

भूख बुरी संसार में, भूख सबही गुण खोवे।
भूख बुरी संसार भूख सब को मुख जोवे॥
भूख बुरी संसार मे, भूख कुल काण घटावे।
भूख बुरी संसार, भूख आदर नहिं पावे॥
भूख गमावे लाज, पति भूषण कार में।
मन रहस मनोहर इम कहें, भूख बुरी संसार में॥

अर्थ सुगम है। ऐसा क्षुधा रूपी चौथा दोष भी सकल परमात्मा अरिहन्त भगवान के नहीं होता। उन्हे मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(५) **विस्मय दोष**—कैसा है यह दोष ? इसके होते हुए जीवों के तन, मन, वचन सब कांप जाते हैं।

भावार्थ—विस्मय नाम आश्चर्य तथा अचम्भे का है सो आश्चर्यकारी वार्ता के श्रवण करने से विद्या, बल, ऐश्वर्य, व्रत, सयम आदि सब ही को बिसराकर चेतनात्मा डावा-डोल हो जाती है। ऐसा विस्मय नामक पचम दोष अर्हन्त अर्थात् सकल परमात्मा के नही होता है। उन अर्हन्त के चरण-कमल मेरे हृदय में बसे।

(६) **अरति दोष**—यह दोष भी अर्हन्त के नही होता है। पूर्व जिस इष्ट वस्तु के लिए उत्सुकता तथा आसक्ति थी उसका वियोग होने से उसका बारम्बार चितवन करना अरति दोष है। कैसा है यह दोष ? यह ब्रह्मा विष्णु और शिव तीनो के गर्भित है।

भावार्थ—ब्रह्मा उर्वशी जाति की तिलोत्तमासुरी के राग से अरति भाव को प्राप्त होकर दु:ख को प्राप्त हुए। इस कारण से ब्रह्मा मे अरति दोष विद्यमान है अत: वे दु.खी है। कृष्ण महाराज का ग्वालिनियो के साथ रतिभाव था अत जब ग्वालिनिया छिप जाती थी तब वे अरति भाव को प्राप्त होकर व्याकुल हो दु:खित हो जाते थे अत· इस कारण से कृष्ण महाराज दु खी हुए और शिवजी पार्वती के वियोग से अरति भाव को प्राप्त होकर दु:खी होते थे। अत ईश्वरत्व भाव न होने से नाम मात्र ईश्वर कहलाते है। ईश्वर तो वही है जिसके अरति दोष नही होता। ऐसा दु खदायक अरति नामक दोष सकल परमात्मा अर्हन्त के नही होता। उनको मैं हस्त मस्तक पर धारण कर और मस्तक को पृथ्वी से लगाकर नमस्कार करता हूँ।

(७) **खेद दोष**—खेद अर्थात् दु:ख कैसा है वह दु ख ? इसका नाम ही सुनकर जीव भयभीत हो जाते हैं। यह दु.ख ससारी जीव के ही होता है और ससार नाम बार-बार जन्म धारण करने का है।

भावार्थ—बार-बार अवतार लेना ही ससार है। विष्णु महाराज ने बार-बार अव-तार धारण किया है अत: वे दु:खी है। परन्तु सकल परमात्मा अर्हन्त के दु.ख रचमात्र भी नही। दु:ख के बीजभूत जो दोष है वे स्वप्न मे भी उनके पास नही आते है अत· उन्हे मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(८) **रोग दोष**—कैसा है यह दोष ? इसके होते हुए जीव की चेष्टा अति ही व्याकुल रूप हो जाती है और वह सुध-बुध रहित हो जाता है। यह रोग नामक दोष भी शिवजी के था तब व्याकुल होकर धतूरा खाकर उन्होने रोग शान्त किया। पर यह रोग दोष भी जिनेन्द्र भगवान् के नही होता। अत: उन्हे मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(९) **शोक दोष**—यह दोष भी अरहत के नही होता। इष्ट पदार्थो के वियोग होने पर परिणामों में व्याकुलता होना शोक है और सकल परमात्मा अरहन्त भगवान् के सकल पदार्थों में समभाव है अत: उनमें यह दोष भी नही है। ऐसे परमात्मा को मेरा बार-म्बार नमस्कार हो।

(१०) **मद अर्थात् गर्व दोष**—इसे मान भी कहते है। कैसा है यह दोष ? यह पर्वत के समान है। मान रूपी पर्वत के आश्रय को पाकर जीव अपने आपे को भूल जाते हैं और संसार में नीच दशा को प्राप्त होता है। यह मान आठ पदार्थों का आश्रय पाकर जीव के हो जाता है।

उन अष्ट मद के कारणो के नाम इस प्रकार है :—

यथोक्त रत्नकरण्डश्रावकाचारे श्लोकम्

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपोवपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं, स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥

अर्थ—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर सुन्दरता—इन अष्ट पदार्थों के सम्बन्ध से आठ प्रकार का मद हो जाता है।

अपनी विद्या का मद—कि मैं बहुत धनवान हूँ, मेरी बुद्धि, स्मृति तथा तर्कशक्ति बहुत तीव्र है, यह ज्ञान मद है।१।

अपनी पूजा अर्थात् प्रतिष्ठा का मद कि मैं सर्वजन प्रतिष्ठित हूँ, मुझे सबसे ऊँचा मानते हैं, यह पूजा-मद है।२।

अपने कल का मद है कि जितना ऊँचा मेरा कुल है उतना ऊँचा कुल और किसी का नही है सो कुल मद है।३।

उच्च जाति का मद कि मै ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ। मै तो ऊँच जाति का हूँ और वह नीच जाति है सो जाति मद है।४।

बल अर्थात् पराक्रम का गर्व कि मैं ऐसा बलवान हूँ, मेरे समान और कोई नही। यदि मैं किसी को एक मुष्टि की चोट लगा दूँ तो उसमें ही वह परलोक सिधार जाए। सो बल मद है।५।

अपने तप का मद कि मै जैसा तप करता हूँ वैसा कोई और नही कर सकता सो तप मद है।६।

ऋद्धि का मद कि जितना मेरे पास धन तथा ऐश्वर्य है उतना और किसी के पास नहीं सो ऋद्धि मद है।७।

वपु अर्थात् शरीर की सुन्दरता का मद, कि जैसा मेरा कांतिवान सुन्दर शरीर है ऐसा और किसी का नही, सो शरीर के रूप का मद है।८।

(१) **ज्ञान मद**—इस प्रकार उक्त आठ पदार्थों का आश्रय पाकर मद प्रादुर्भूत होता है। इन मदो को अज्ञानी जन ही धारण करते है, ज्ञानी नही। ज्ञानी विचार करते हैं कि मैं किसका मद करूँ ? मेरी निज वस्तु अर्थात् निजात्मा का स्वभाव जो ज्ञान व दर्शन है वह अभी मुझे प्राप्त हुआ ही नहीं तो जब मेरी ही वस्तु मुझे प्राप्त नहीं तो मैं इन पर वस्तुओं को पाकर कैसा मद करूँ ? मेरा तो केवल एक ध्येय है—केवल ज्ञान, उस ज्ञान को

ज्ञानावरणी कर्म ने आच्छादित कर दिया है और अब किंचित् ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम में किंचित् ज्ञान प्राप्त हुआ तो मैं किस बात के लिये मद करूँ? कभी मैंने तिर्यंच गति में आकर जन्म लिया तब अज्ञान में मग्न होकर आत्महित का विचार नही किया और कभी थावर में जा उपजा तो अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान पाया। जब कुछ सुध-बुध ही नही तो आत्महित के विचार का क्या कहना? अब कुछ 'जाड्य साख्यवत्' (वस्तु) का स्वरूप कुछ तो समझ में आवे और कुछ न आवे। संक्षेप ज्ञान पाकर मद करूँगा तो पुन: नरक निगोद में भटक-भटककर अनन्त काल पर्यन्त दु:ख पाऊँगा। ऐसा विचार कर ज्ञानी जन ज्ञान का मद नही करते हैं। ये मद विष्णु आदि अन्य देवों में पाए जाते है परन्तु ये दोष लोकालोक प्रकाशक सकल परमात्मा अर्हन्त के नही होते है अत. उन्हें मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

(२) **प्रतिष्ठा मद**—इसे भी ज्ञानी जन नही करते है। ज्ञानी जन विचार करते हैं कि मेरी आत्मा शुद्ध स्वरूप तीन जगत द्वारा पूज्य है। और यह ही मेरा आत्माविभाव रूप में परिणमित हो गया है, अत: स्थावर योनि मे अनेक पर्याय धारण कर पैसो मे बिका है। अत. मैं मद कैसे करूँ? मेरा आत्मा तीन लोक का स्वामी है सो अब मैं नामकर्म की प्रकृति आदेयता के क्षयोपशम से इन मनुष्यो द्वारा आदर भाव को प्राप्त हो गया हूँ। सो यह तो मेरा जब तक पुण्य प्रकृति का उदय है तब तक मेरा आदर सत्कार होता है। पुण्य क्षीण होते ही मेरे पास कोई नही आयेगा और अब भी मैं यदि मद करूँगा तो नरक निगोद मे सडकर बहुत दु:ख भोगना पडेगा। ऐसा विचार कर ज्ञानी ऐश्वर्य मद (प्रतिष्ठा मद) नही करता है।

(३) **कुल मद**—ज्ञानी लोग अपने कुल का मद नही करते है। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते है कि यह जो कुल है सो मेरा नही है। सब स्वार्थ के साथी हैं। मेरा तो निश्चित कुल चार अनन्त चतुष्टय ही है। वह तो मुझे प्राप्त नही हुआ है और जो कोई अब शुभ कर्म के उदय से उत्तम कुल पाया है, जब तक मेरा शुभ उदय है तब तक ही यह है तब मैं इस नाशवान कुल का क्या मद करूँ? यदि मै मद करूँगा तो फिर नरक गति में पड़कर अनेक दु:ख भोगना पडेगा। ऐसा समझकर के ज्ञानी जन कुल का मद नहीं करते है।

(४) **जाति मद**—उसको भी ज्ञानी कभी धारण नही करते है। कारण कि ज्ञानी विचार करते है कि मेरी जाति तो केवल सिद्ध पद ही है और ये जो उच्च जाति को अब मैं प्राप्त हो गया हूँ तो जब तक मेरा शुभ कर्म का उदय है तब तक मैं उच्च जाति में हूँ। अब जो मैं इस जाति का मद करूँगा तो फिर एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इन नीच जातियो में भटक-भटक कर दु:ख भोगना पड़ेगा। ऐसा विचार करके ज्ञानी कभी भी जाति मद नही करते हैं।

(५) **बल मद**—ज्ञानी बल मद भी नही करते है। ज्ञानी विचार करता है कि यह बल मेरे अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुआ है, सो अब यह बल जब तक मेरा पूर्व

पुण्य है तब तक मेरे साथ रहेगा। चैतन्य आत्मा इसके अन्दर रहता है जब तक बल भी शरीर के अन्दर ठहरता है पीछे वह बल भी नष्ट हो जाता है। अब यह बल पाना तो मेरा तब सफलता को प्राप्त हो जब छः काय के जीवो की दया करूँ, तब ही इस शरीर बल की सफलता है। इस विनाशिक बल का मद मं कैसे करूँ, कारण कि यह बल तो रोग के आते ही घट जाता है इसलिए मै इस प्रकार शरीर बल की प्राप्ति के बारे में कैसे मद करूँ ? दूसरे यह बल तो घी, दूध, फल आदि भक्षण करने से ही प्राप्त होता है और यदि घी, दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों का भक्षण न करूँ तो शरीर का पराक्रम आदि सब नष्ट हो जाता है इस-लिए विनाशी बल का मद करना व्यर्थ है। मेरा बल तो अनन्त बल है। जब तक वह प्राप्त नही है तब तक मद कैसा करूँ। ऐसा समझकर ज्ञानी बल का मद नही करते हैं।

(६) **ऋद्धि मद**—अर्थात् ऐश्वर्य मद—उसका ज्ञानी लोग मद नही करते हैं। ज्ञानी लोग ऐसा विचार करते है कि यह ऐश्वर्य तो क्षण भंगुर एव विनाशीक है। यह तभी तक रहता है जब तक मेरे शुभ कर्म का उदय है। पीछे अशुभ कर्म के उदय होने पर यह रक कर देता है तथा अनेक प्रकार के दु ख उठाने पडते है—ऐसा जानकर ज्ञानी लोग धन का मद नही करते है।

(७) **तप मद**—ज्ञानी लोग अपने तप का भी मद नही करते है। कारण कि ज्ञानी ऐसा विचार करते है कि मै तप कहाँ करता हूँ ? सम्यक्त्व तप तो मुझको अभी तक प्राप्त नही हुआ। जो प्राप्त हो जाता तो अब तक ससार मे जन्म-मरण को क्यो प्राप्त होता। इतना दु:ख क्यो सहता ? मेरा तप करना तो तभी सफल हो सकता है जबकि मै दर्शना-वरणीय आदि घातिया कर्मों का क्षय करके निज चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य को प्राप्त हो जाऊँ। तब ही मेरा तप करना सफल है और इस क्षुद्र तप का जो मै मद करूँगा तो पुन ससार मे अनन्त काल तक नाना प्रकार के दु:खो को मुझे भोगना पड़ेगा। ऐसा विचार करके ज्ञानी जीव तप का मद नही करते हैं।

(८) **शरीर मद**- शरीर के प्रति भी ज्ञानी लोग मद नही करते हैं। अज्ञानी अर्थात् बहिरात्मा जीव ही अपने शरीर का मद करते हैं। ज्ञानी इसके बारे में ऐसा विचार करता है कि यह शरीर अस्थिर, विनाशी, सप्त धातु अर्थात् मास, रस, अस्थि, रक्त, मज्जा, मेद, वीर्य और सात ही उप धातु अर्थात् वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम और जठराग्नि ऐसे सात से भरे हुए घर के समान है, तब ऐसे शरीर का मै कैसे मद करूँ ? यह जल के बुल-बुले के समान चचल और विनाशीक है। ज्ञानी जन ऐसा विचार करते है कि यह शरीर महादुर्गन्धमय घृणा रूप है जो प्रातःकाल के समय सुन्दर दिखता है और शाम को इस शरीर के अन्दर रोग प्रकट हो जाता है ऐसे रोगमयी शरीर के प्रति कैसा मद करूँ ? ये शरीर कृतघ्नी सदृश है।

भावार्थ—जैसे कृतघ्नी का पोषण करते-करते भी समय पर वह काम नही आता है इसी तरह से यह देह भी कृतघ्नी के समान घी, दूध आदि उत्तम-उत्तम रस आदि ग्रहण करते

रहने से भी दुर्बल हो जाता है और यह देह बहुत मूल्यवान सुगन्धित पदार्थ के लगाते रहने से भी दुर्गन्ध रूप हो जाता है अतः ऐसे अवगुण से भरी हुई देह का ज्ञानी लोग कभी भी मद नही करते हैं। ज्ञानी ऐसा विचार करते हैं कि मनुष्य देह मुझे बहुत दुर्लभता से प्राप्त हुई है सो यह मनुष्य जन्म और देह का पाना तब ही सार्थक होता है जब इससे मै तप करूँगा और निज स्थान को पाऊँ तब ही यह सार्थक है। अन्यथा मैने चिन्तामणि रत्न के समान दुर्लभ यह शरीर अनेक बार पाया और जैसे काग रत्न को फेक देते है उसी प्रकार मैं अनादि काल से इस शरीर रत्न को फेकता आ रहा हूँ और मैने विषय भोगो में रत होकर दुर्लभ मनुष्य पर्याय को खोया परन्तु मैने निज स्थान मोक्ष पद को नही पाया। इसलिए अब भी मै उपाय करके संसार से छूटने का यत्न नही करूँगा तो बारम्बार मुझे संसार में भटक-भटक कर अनेक प्रकार की नीच योनियो में जाना पडेगा और अनेक प्रकार के दुःख भोगने पडेगे। ऐसा विचार कर ज्ञानी जीव रच मात्र भी मद नही करते है। ऐसा जो मद नाम दसवा दोष है वह अर्हन्त भगवान् में नही पाया जाता है। ऐसे अर्हन्त भगवान् के चरण की भक्ति मेरे चित्त में हमेशा वसी रहे।

(११) **मोह दोष**—यह कैसा दोष है ? मोह रूपी दोष जिसके होता है वह अचेनन हो जाता है।

भावार्थ— मोह मदिरा के समान है। जैसे मदिरा पीकर प्राणी बेहोश हो जाता है उसी प्रकार मोह मे मग्न होते हुए वह पागल की तरह हो जाता है।

दोहा— जैसे मदिरा पाव तें, सुध बुध सर्व विलाय।
तैसे मोह कर्म उदय, जीव गहल हो जाय ।।

सो यह मोह कैसा है ? जब बलदेव, कृष्ण महाराज के अचेतन कलेवर को छः महीने पर्यन्त अपने कन्धे पर लेकर भ्रमण करते रहे तो क्षुद्र पुरुष की क्या बात ? ऐसा मोह रूपी शत्रु अर्हन्त परमात्मा ने ध्यान रूपी खड्ग से जीत लिया है। ऐसे परमात्मा के चरण कमल हमेशा मेरे हृदय रूपी सरोवर में वास करे और अर्हन्त की वाणीरूपी किरण से वह कमल सदा काल विकसित रहे।

(१२) **भय दोष**—कैसा है यह भय दोप ? भय नामक दोष के आते ही जीव मात्र थर-थर कांपने लग जाता है। सब सुध-बुध भूल जाता है और जान जाता है कि यह भय मरण के लघु भ्राता के समान है।

भावार्थ—जिस प्रकार मृत्यु से जीव कापता है उसी प्रकार भय से भी जीव कापता है। यह भय सात प्रकार का है :—

दोहा : इस भव भय, परलोक भय, मरन वेदना जानु ।
अनरक्षा, अनुगुप्ते भय, अकस्मात भय सात ।।

अर्थात् – १. इह लोक भय, २. परलोक भय, ३ मरण भय, ४. वेदना भय, ५. अरक्षा भय, ६ अनगुप्ति भय, ७. अकस्मात् भय से सात प्रकार के भय है।

यह भय कैसा है ? जिसको भय होता है वह व्याकुल होकर इधर-उधर छिपता रहता है। जैसे कि भय के होते ही महादेव जी नाम मात्र 'स्वयम्भू' नाम के धारक भस्मासुर के भय से विष्णु महाराज के सिहासन के नीचे जाकर छिप गये और कृष्ण महाराज जन्म समय ही कसराज के भय से मथुरा को छोड़कर वृन्दावन को चले गये और ग्वालिनी यशोदा की पुत्री को कृष्ण के बदले मे कस को सौपा। तब कस ने उस कन्या की नासिका को दबाकर चपटा कर दिया।

भावार्थ—नासिका के ऊपर मुष्टिका प्रहार कर देने से नासिका चपटी हो गयी। ऐसा जो दामोदर औरो की बलि देकर स्वय बचे तो धन्य है ऐसे ईश्वरपने को ! पुन. यशोदा नामक ग्वालिनी के स्तन से उत्पन्न दुग्धपान करके कृष्ण वृद्धि को प्राप्त हुये। तत्पश्चात् गायों और भैसो को जाकर घेर लिया और ग्वालिनियो के दधि को चुराकर खाया। फिर भी उन्हे ईश्वर मानते हैं। ऐसे भोले-भाले जीवो की अज्ञानता को क्या कहे ? ये लोग मिथ्यात्व के अन्धकार में अन्धे हो गये है। अब विचारिये कि जिस भय नामक दोष ने धूर्जटी और अनग पिता को भी सताया तो अन्य पुरुषों का क्या कहना ? ऐसे भय नामक दोष अरहन्त भगवान् सकल परमात्मा के नही है, अत. ऐसे सकल परमात्मा हमारी रक्षा करे।

(१३) **निद्रादोष**—यह निद्रा कैसी है ? निद्रा के आवेश में यह जीव अचेतन होकर गाफिल हो जाता है और ऐसी अवस्था में उसे कुछ भी सुध-बुध नही रह जाती। सोते हुये को चाहे जो भी कुछ कर डालो उसे खबर नही रहती। निद्रा रूपी नशा भी विष्णु महाराज के अन्दर पाया जाता है क्योंकि काली नाग की पीठ रूपी शय्या पर छ. माह तक हाथ पाव पसार कर निद्रा में मग्न रहे। उधर षट्मास के वियोग हो जाने से ग्वालिनिया दु खी होकर रोने लगी। तो विचार कीजिये कि ऐसी ईश्वरता का क्या ठिकाना है ? ऐसा निद्रा नामक दोष अर्हत सकल परमात्मा मे नही है सो परम पुरुषोत्तम मेरी रक्षा करे।

(१४) **चिन्ता दोष**—यह दोष कैसा है ? जिसके होते ही जीव के मन में बेचैनी हो जाती है। पुन यह चिन्ता कैसी है ? भस्म से ढकी हुई अग्नि के समान अन्दर ही अन्दर शरीर को भस्म कर देती है। उक्त च गिरधर कवि की कुण्डली इस प्रकार है—

चिन्ता ज्वाल शरीर बिन, दावानल लग जाय।
प्रगट धूम नहि देखिये, उर अन्दर धुधकाय॥
उर अन्दर धुधकाय जले ज्यों कांच की भट्टी।
जल गये लोहू, मांस रह गई हाड़ की टट्टी॥
कहें गिरधर कविराय, सुनो हो मेरे मित्ता।
वे नर कैसे जियें जाहि तन व्यापे चिन्ता॥१॥

अर्थ—ऐसी चिन्ता रूपी अग्नि कांच की भट्टी के समान जिनके अन्दर रहती है उनके दुःख का क्या पूछना ?

दोहा—चिन्ता चिता समान, बिन्दु मात्र अन्तर लखो।
चिता दहत निः प्राण, चिन्ता दहत सजीव को ।।

ऐसा चिन्ता नामक दोष भी ब्रह्मा, विष्णु, और महेश में पाया जाता है। क्योंकि चिन्ता वहां पर अवश्य होती है जहां पर राग-द्वेष मौजूद रहता है और जहा पर राग-द्वेष है वहां पर देवत्वपना नही।

भावार्थ—भक्ति वालों से राग, असुरों से बैर सो असुरों को मारने की चिन्ता होने से निश्चय ही यह दोष भी इनमें पाया जाता है। जब वे स्वय दु खी है तो अपने भक्तो को कहा से सुख दे सकते है? अतः राग-द्वेष रहित वीतराग देव ही सर्वज्ञ और सर्वथा सुखी दीखते है। कारण कि वे न भक्तो से प्रेम और न वैर करने वालों से द्वेष रखते है इस कारण उनको चिन्ता नही है। तब राग-द्वेष से रहित होने के कारण वीतराग देव ही सर्वत्र सुखी है और जब वे स्वय सुखी है तभी हम सभी को भी राग-द्वेष रहित सुखदायी उपदेश देते है, पर जो स्वय सुखी नही वह दूसरे को क्या सुख का उपदेश दे सकता है? इस बात से यह निश्चय हो गया कि राग-द्वेष युक्त जो है उसे चिन्ता है और चिन्ता से वह दु खी है जो राग-द्वेष से रहित होगा वही चिन्ता से रहित हो सकता है। जहा चिन्ता नही है वहा दु ख नही है। इसीलिये अरहन्त परमात्मा में जो अनन्त सुख विद्यमान है वह राग-द्वेष से रहित होने के कारण है। अत मैं भी उन्ही की शरण प्राप्त हो जाऊ जिससे कि मैं भी उनके सुख को धारण कर सकू।

(१५) **स्वेद दोष**— अर्थात पसीना यह दोष कैसा है? इसमे शरीर मे सुगन्धित वस्तु का लेपन करने पर भी क्षण मात्र में वह पुन. उसे नष्ट करके दुर्गन्ध को प्राप्त करा देता है और प्रगट होते ही बेचैनी होने लगती है। इसके सग से सुगन्धित वस्त्र भी दुर्गन्धित हो जाते है। ऐसा दुर्गन्ध रूप स्वेद दोष है। यह दोष अरहन्त परमात्मा को नही होता। ऐसे अरहन्त सकल परमात्मा मेरे भी दोष को दूर करे।

(१६) **राग (प्रेम) दोष**—कैसा है यह राग? इस राग रूप जाल की विचित्र गति है। इसमे समस्त संसारी जीव फसे हुए हैं। जैसे जाल में पशु-पक्षी नाना प्रकार के दुःखों को भोगते है, इसी प्रकार जो भी इस जाल में फंसा वह भयानक दुःख को भोगता रहता है। पुन यह राग कैसा है? अग्नि के समान आतापकारी है।

भावार्थ—जिस वस्तु से जीव को राग अर्थात् प्रेम होता है उसका वियोग हो जाने से आताप अर्थात् दुःख होता है। यावत् अभीष्ट वस्तु प्राप्त न हो तावत् चाह रूपी अग्नि से वह जला करता है। ऐसा राग नामक दोष ब्रह्मा, विष्णु और महेश मे भी पाया जाता है।

भावार्थ—ब्रह्मा को देवागनाओ से, विष्णु को सुदर्शन चक्र से और महेश को त्रिशूल से राग होने से वे सभी दु खी है। ऐसे देव नाम मात्र सुखी है। अतः राग रूपी दोष की अग्नि को श्री जिनेन्द्र भगवान् ने समता रूपी शीतल जल से शान्त किया है। उनके चरणारविन्द सदा मेरे हृदय रूपी सरोवर मे निवास करे।

(१७) **द्वेष अर्थात् वैरदोष**—यह दोष कैसा है ? जब मन मे द्वेष पैदा हो जाता है तब मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। यह द्वेष दोष अन्य देवों में भी पाया जाता है।

भावार्थ—विष्णु ने राक्षसों से वैर किया था। उसके लिए नरसिह अवतार धारण करके दैत्येन्द्र हिरण्यकश्यप के वक्षःस्थल को बडे यत्न से नाखूनों से विदीण किया था। पुनः अर्जुन के सारथी कृष्ण ने महाभारत सग्राम में कौरवो को मारा और महादेवजी ने भस्मासुर का वध किया तथा वाण से अग्नि उत्पन्न करके तीन पुरो को जला दिया। अतः द्वेष इनके अन्दर है, पर केवली भगवान को किसी से भी द्वेष नही है। वे षट्कायिक जीवो के रक्षक अरहन्त परमात्मा भव समुद्र से मुझे पार करे।

(१८) **मरण दोष**—यह मरण कैसा है ? इस मरण के मुख का ग्रास सभी ससारी जीव है। यह दोष भी अरहन्त सकल परमात्मा में नही है।

इति अष्टादश दोष वर्णन समाप्तम्।

प्रारम्भ मे ही कहा था कि—अठारह दोष रहित और आत्मिक अनन्त चतुष्ट्य व बाह्य ३४ अतिशय से युक्त तथा अष्ट प्रातिहार्य से युक्त अरहन्त देव है। इसलिए ऊपर अठारह दोषो का सक्षेप में वर्णन किया गया है।

अब ४६ गुणो का सक्षिप्त स्वरूप कहते है—

दोहा—चौतीसों अतिशय सहित प्रतिहार्य पुनि आठ।
अनन्त चतुष्टय गुण धरें, यह छियालीसों पाठ॥

अर्थ सुगम है। अन्योक्त :—

दोहा—विगत दोष अतिशय गरिम, प्रतिहार्य चतुनंत।
एवं छियालिस गुण सहित, बरक्त तः नंतानंत॥

अब जन्म के दस अतिशयो का वर्णन करते हैं :—

दोहा—अतिशय रूप सुगन्ध तन, नहीं पसेव निहार।
प्रिय हित वचन, अतौल बल, रुधिर श्वेत आकार॥
लक्षण सहस अरु आठ तन, समचतुष्क संठान।
वज्रवृषभनाराचयुत, ये जनमत दस जान॥

अर्थ—(१) अत्यन्त सुन्दर शरीर है, वह ऐसा नहीं है कि जैसा काले नाग की फुकार से विष्णुजी का शरीर श्याम वर्ण हो गया, ऐसा शरीर नही कि जैसे शिवजी के शरीर में रोग हो जाने से धनूरे का सेवन किया जिससे कि वह रोग जाता रहा, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान का शरीर नही होता। जिनेन्द्रदेव के शरीर की प्रशसा व स्तुति इन्द्रादि भी अपनी सहस्र जिह्वा से करते समय असमर्थ हो गये तो फिर मनुष्य की बात ही क्या है ?

(२) जिनका शरीर अत्यन्त सुन्दर व सुगन्धित है उनके शरीर की सुगन्धित से रोगियों का रोग नाश हो जाता है।

(३) स्वेद—भगवान् का शरीर पसीने से रहित होता है। यदि पसीना आ जाय तो उससे दुर्गन्ध का प्रसग आ जाता है। इसलिए भगवान् के शरीर में पसीने का अभाव है।

(४) भगवान् जिनेन्द्र देव के शरीर में मल-मूत्र नहीं है। यदि मल-मूत्र होता तो उनके शरीर में दुर्गन्ध अवश्य आती। अतः जिनेन्द्र भगवान् का शरीर अत्यन्त सुगन्धित है।

(५) जिनेन्द्र भगवान् का हितमित वचन—हित का अर्थ सभी जीवों के लिए हितकारी, मित अर्थात् सन्देह उत्पन्न न कराने वाला हो, ऐसा अल्प वचन, प्रिय कहिये अमृत के समान प्रिय वचन, जैसे अमृत रोग को दूर करता है वैसे भ्रम रूपी रोग को हरण करने वाला श्री जिनेन्द्र भगवान् का वचन होता है। ऐसे नाम मात्र के महादेव के समान वचन नही कि किसी को वर दिया और किसी को श्राप। भगवान् जिनेन्द्रदेव के वचन ऐसे कदापि नही होते।

(६) **अतुल बल**—जिनके शरीर के पराक्रम के समान किसी अन्य का पराक्रम या बल नही है।

(७) दुग्धवत् श्वेत वर्ण के समान रुधिर होता है।

(८) **समचतुरस्र संस्थान**—अर्थात् जिनका शरीर ऊँचे नीचे और मध्य में समान भाग से यथायोग्य आकृति वाला है।

भावार्थ—जैसे साचे मे ढाली हुई वस्तु ज्यो की त्यो सुन्दर रहती है उसी प्रकार परम शान्त मुद्रा भगवान् का शरीर सुशोभित रहता है।

(९) **वज्रवृषभनाराच संहनन**—अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के शरीर मे वज्र अर्थात् वेष्टन, नाराच अर्थात् कील और सहनन अर्थात् अस्थि पजर—ये तीनो ही वज्र के समान अभेद्य है। इस कारण श्री जिनेन्द्र देव का बल भी अवर्णनीय है। ९॥

भगवान् श्री जिनेन्द्रदेव के शरीर में १००८ शुभ लक्षण होते हैं जिनमें से कुछ लक्षणो को यहा कहेगे।

गीता छंद—

श्री वृक्षशंख सरोज स्वस्तिक, शक्तिचक्रसरोवरो।
चामर सिंहासन छत्रतोरण, रंगपति नारी नरो॥
सायर दिवायरकल्पबेलि, कामधेनुध्वजा करी।
वरवज्रबानकमान कमला कलश कच्छपकेहरी॥१॥
गंगा गौ वस्त गरुड़ गोपुर वेणु वीणा बीजना।
जुगमीन महल मृदंगमालारत्न द्वीपेन्द्रना॥
नागेन्द्र भवन विमान अंकुश वृक्ष सिद्धारथ सही।
भूषण पटंबर हट्ट हाटक, चन्द्रचूड़ामपि मही॥
जम्बू तरोवर नयन सुबश बाग जन मन भावना॥
नौ निधि नक्षत्र सुमेर सारद सालवन्त सुहावना।

अष्टमंगलाष्टक प्रातिहार्य प्रमुख और विराजहिं।
परमित अठ्ठोत्तर सहस प्रभु के अंग लक्षण साजहू ।।

अर्थात्—१- श्री वृक्ष, २—शख, ३—सरोज अर्थात् कमल, ४—स्वस्तिक ५—शक्ति, ६—चक्र, ७—सरोवर अर्थात् तालाब, ८- चवर, ९—सिंहासन, १०—छत्र, ११—तोरण, १२ - तुरंत अर्थात् घोडा, १३– नारी, १४—नर, १५—सायर अर्थात् समुद्र, १६—दिवाकर यानी सूर्य, १७—कल्पवेल, १८- कामधेनु, १९—ध्वजा, २०—हाथी, २१—वरवज्र, २२-वाण, २३-कमान, २४—कमल, २५-कलश, २६—कच्छप, २७—केहरि अर्थात् सिंह, २८—गगा, २९– वृषभ यानी बैल, ३०– गरुड़, ३१—गोपुर, ३२—वेणु, ३३– वीणा, ३४—विजणा अर्थात् पखा, ३५—युगमीन, ३६—महल, ३७—मृदग, ३८—माला, ३९—रत्नद्वीप, ४०—नागेन्द्र, ४१—भवन, ४२—विमान, ४३—अकुश, ४४—सिद्धार्थ वृक्ष, ४५—भूषण, ४६—पटम्बर, ४७—हट्ट, हाट, ४८—चन्द्र, ४९—चूड़ामणि, ५० जम्बूवृक्ष ५१—बाग, ५२—नौ निधि, ५३—नक्षत्र, ५४—सुमेरु, ५५—शारद, ५६—शालि—खेत, ५७– घण्टा, ५८—दर्पण, ५९—भामण्डल, ६० - अशोकवृक्ष, इत्यादि बहिरग १००८ लक्षण भगवान् के अग मे विराजमान होते है।

केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर १० अतिशय प्रगट होते है, वे इस प्रकार है—

दोहा—योजन इक शत में सुभिष, गगन गमन मुख चार।
नहि अदया उपसर्ग नहिं, नाहीं, कवलाहार ।।
सब ईश्वर विद्यापनों, नाहीं बढ़े नख केश।
अनिमिष दृग छाया रहित, दश केवल के वेश ।।२।।

भावार्थ—(१) जहा जिनेन्द्र भगवान् समवशरणादि बाह्य विभूति सहित विराजते हैं वहा से शत-शत योजन चारो ओर अर्थात् चार सौ कोश तक दुर्भिक्षता रहित सभी जीवो को आनन्दकारी दशो दिशाओ मे सुभिक्ष प्रवर्तता है।

(२) जिनेन्द्र भगवान का केवल ज्ञान होने के बाद पृथ्वी पर गमन नही होता। षट्काय के जीवो की बाधा रहित आकाश में ही गमन होता है।

(३) मुख तो एक ही है, परन्तु जिनेन्द्र के अतिशय से चार मुख दिखाई देते हैं। कारण यह है कि मनुष्य, देव एव तिर्यच ये चारो तरफ से भगवान के दर्शन करते हैं। सो चारो तरफ से उनको दर्शन होता है। इस कारण वे भगवान् चतुर्मुख दीखते है। यहां कोई प्रश्न करे कि चार मुख तो ब्रह्मा के भी है तो उनको भी ईश्वर मानो। इसका उत्तर है कि ब्रह्मा के चार मुख हैं यह ठीक है परन्तु अधिक मुखो के होने मे ईश्वर नही कहलाया जा सकता। यदि अधिक मुखो के होने से ही ईश्वर कहलाया जाय तो शिवजी के पुत्र कार्तिकेय के छ. मुख है उनको भी ईश्वर कहो और रावण के दश मुख हैं तो उसको भी ईश्वर कहो। अब बताओ इनमें से किसको ईश्वर कहे ? तात्पर्य यह है कि मुखो के अधिक होने से ईश्वर

नहीं कहलाया जा सकता। ईश्वर तो वही है जो अलोकाकाश सहित भूत, भविष्यत और वर्तमान काल सम्बन्धी अन्तानन्त पर्यायो को परिणति सहित समस्त तीनों लोगों को स्वयमेव इन्द्रिय उद्योतादिक की सहायता से रहित प्रत्यक्ष देखे-जाने और अपने निजात्मिक अतिशय से चतुर्मुख से युक्त सभी जीवों का हितोपदेष्टा हो वही ईश्वर है। एक बार ब्रह्मा इन्द्र की पदवी लेने की अभिलाषा से दण्ड पात्र कमंडलु आदि को धारण कर तप कर रहा था। उस अवसर पर इन्द्र की उर्वशी नामक अप्सरा इन्द्र की आज्ञा से इनके तप को भ्रष्ट करने के निमित्त आई। उस उर्वशी नामकअप्सरा के रूप में रागकी वाहुल्यता को प्राप्त होने से उसने अपने चतुर्मुख की रचना की। सो ऐसा चतुर्मुख ब्रह्मा हम लोगो के समान है वह ईश्वरत्व की प्राप्त नही हो सकता। जो क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, कामादिक रहित होकर, अनन्त अविनाशी सुख में लीन होकर कृतकृत्य हुआ वही सर्वज्ञ बीतराग चतुर्मुख धर्मोपदेशी ब्रह्मा हमारे मान्य हैं, अन्य नही।

(४) अदया का अभाव अर्थात् जहा जिनेन्द्र भगवान् केवल ज्ञान से युक्त तिष्ठते है वहाँ पर जीवो के दया रहित परिणाम नही होते है।

भावार्थ—दयाहीन जीव भी दया सहित हो जाते हैं।

(५) जहाँ पर केवली भगवान का समवशरण तिष्ठता है वहा पर किसी प्रकार का उपसर्ग नही होता। भला ईश्वर के होते हुये भी उपद्रव हो तो बडे आश्चर्य की बात है। जैसे कृष्ण महाराज के होते हुये भी द्वारिकापुरी जलकर भस्म हो गयी। इस प्रकार के उपद्रव यदि ईश्वर के सन्मुख होवे तो वह ईश्वर काहे का ? इस कारण उनकी शक्ति ही ईश्वरत्व को अप्रगट करती है इसलिये वह ईश्वर नही। ईश्वर तो वही होता है जिसके होते हुये किसी जीव को किसी प्रकार की भी उपसर्ग बाधा न हो सके।

(६) केवल ग्रास वर्जित अर्थात् देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान को केवल ज्ञान होने के पश्चात् कंवलाहार नही होता। अर्थात् वे अन्न के ग्रास नही खाते है। यहा श्वेताम्बर मत धारण करने वाले कहते है कि वे आहार करते हैं अर्थात् ग्रास उठाकर खाते है। इसका उत्तर यह है कि यह बात बिलकुल असम्भव है। कारण कि परमात्मा कवलहार नही करते और यदि करते है तो परमात्मा पद के अधिकारी नही हो सकते। वे कहते हैं कि भगवान अवश्य ही कंवलाहार करते है तो बताओ कि स्वय आहार (भिक्षा मागने) को जाते है कि शिष्यो से मगाते है। यदि यह कहा जाय कि भिक्षा लेने आप जाते है तो यह भी उचित नही ठहरता क्योकि स्वामी केवली भगवान् तो आकाश में विराजमान होगे और आहार देने वाला श्रावक पृथ्वी पर खडा होगा तो वह किस प्रकार आहार देता होगा और यदि यह कहा जाय कि आहार लेते समय केवली भगवान् भी पृथ्वी पर खड़े हो जाते हैं तो आकाश विहार का अभाव हुआ। यदि यह कहा जाय कि भगवान अपने लिये आहार शिष्यो से मगवाते है तो उन्हें शिष्यों को आज्ञा देनी होगी और यदि शिष्य आहारलेने न जाय तो उसे द्वेष होगा, और भगवान के मन में द्वेष उत्पन्न होता है तो वे वीतराग कहां रहे। इससे सिद्ध हुआ कि वे

अपने शिष्यो से अपने लिये आहार नही मंगाते फिर भोजन करेंगे तो भोजन में राग हुआ तथा दूसरे भोजन की इच्छा मोहनीय कर्म का कार्य है इसलिये मोहनीय कर्म का सद्भाव सिद्ध हुआ और मोहनीय कर्म के विद्यमान होने से केवलज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। कारण कि शास्त्र मे मोहनीय कर्म के क्षय होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त क्षीण कषाय नामक बारहवा गुण स्थान पाकर उसके बाद युगपत् अर्थात् एक समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति कही है। अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारों घातिया कर्मों के सर्वथा नष्ट होने से केवल ज्ञान प्राप्त होता है इसलिये केवली भगवान के आहार का न करना सर्व प्रकार से सिद्ध है और यदि शिष्य पर आहार लाने की आज्ञा न पाली गई तो द्वेष हुआ और पाली गयी तो राग हुआ तो वीतरागता का अभाव हुआ और जब राग द्वेष हुआ तो हितोपदेश का भी निश्चय नही हुआ, क्योंकि जिससे राग होगा उसको हित का उपदेश देंगे और जिससे द्वेष होगा उसे अहित का उपदेश करेंगे। तो उनके कहने के अनुसार वीतराग और हित उपदेश बराबर अभाव सिद्ध हुआ। पुन: जब मुनीश्वर आहार के समय बत्तीस प्रकार का अन्तराय मानते है तो क्या केवली अन्तराय नही मानेंगे ? इस कारण भी केवली को कवलाहार सदैव वर्जित है, क्योंकि केवली युगवत् एक समय मे सर्व लोकालोक को अपने ज्ञान रूपी चक्षु से अवलोकन करते है और जगत मे ही उपद्रव से यदि अन्तराय हो तो अन्तराय को देख जानकर केवली भगवान आहार कैसे ग्रहण करेंगे ? इस युक्ति से भी आहार का न होना ही सिद्ध है और जो यह कहा जाय कि भगवान् अन्तराय को नही देखते तो उनके प्रति सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध हुआ और सर्वज्ञता, वीतरागता, और हितोपदेश के अभाव हो जाने से देवत्व का अभाव हुआ, क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग व हितोपदेशी इन तीनो गुणो के बिना देव सत्यार्थ, कभी किसी काल मे कदापि नही हो सकता। इसलिये निश्चय हुआ कि केवली के कवलाहार नही है।

(७) समस्त विद्याओ का स्वामित्व, अर्थात् ऐसा नही कि एक विद्या अर्थात व्याकरण पढे तो व्याकरण शुद्ध हो, छन्द पढे तो छन्द शास्त्र का ज्ञान हो और छन्द के पीछे न्याय शास्त्र तथा अलंकारादि पढे। यह बात नही, बल्कि उन्हे सम्पूर्ण विद्याओ का विचार रहित युगवत् भास होता है।

(८) भगवान के नख और केश भी नही बढते है। ऐसा नही कि महादेववत् केशो की जटा लटकती रहे। केवली भगवान् के केश नही बढते।

(९) भगवान् निमेष रहित अर्थात् भगवान के नेत्रों की पलक नही गिरती।

(१०) छाया रहित शरीर होता है अर्थात् उनके शरीर की छाया नही पडती। कारण यह है कि जिसके छाया होती है उसके शरीर की दीप्ति (ज्योति) में मंदता रहती है, परन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान् के शरीर की दीप्ति के आगे तो कोटि सूर्य और चन्द्रमा की भी देदीप्यता लुप्त हो जाती है, इसलिये भगवान के शरीर की छाया नही होती।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र देव के शरीर के तेज के बराबर सूर्य और चन्द्रमा उपमा पाते हैं, क्योंकि सूर्य रात्रि को लुप्त हो जाता है और चन्द्रमा दिन को ढाक के समान प्रभा हीन हो जाता है, परन्तु जिनेन्द्र भगवान के शरीर का तेज अहर्निश सदैव एक सा रहता है, इससे उनके शरीर की उपमा सूर्य चन्द्र नही धारण कर सकते। ऐसे केवल ज्ञान के होने पर जिनेन्द्र के दश अतिशय होते है।

अथ – देवकृत चौदह अतिशय—

दोहा—देव रचित हैं चारदश, अर्द्धमागधी भाष।
आपस मांहि मित्रता निर्मल दिश आकाश।
होत फूल फल ऋतु सबै, पृथ्वी कांच समान।
चरण कमल तल कमल दल, मुखतें जय जयवान ॥२॥
मंद सुगंध व्यार पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षतई समसृष्टि ॥३॥
धर्म चक्र आगे चलै, पुनि वसु मंगल सार।
अतिशय श्री अरहंत के, ये चौंतीस प्रकार ॥४॥

अर्थ—अर्द्ध मागधी भाषा का होना जिसका शब्द एक योजन अर्थात् चार कोश तक सुनाई दे। १. समस्त जीवो मे परस्पर मित्रता का होना अर्थात् समस्त जाति विरोधी जीव यथा—हस्ती, सिंह, गौ, सिंह, सर्प—गरुड, मार्जार—स्वान (कुत्ता), मार्जार—मूषक, इत्यादि समस्त मित्र भाव को धारण कर भगवान् के निकट एकत्र होकर बैठते है। २ आकाश का निर्मल होना ३ दिशाओ का निर्मल होना। ऐसा नही कि जहां केवल ज्ञान युक्त देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान तिष्ठते है वहा आधी से धूलि की और मेघों द्वारा पानी की वर्षा हो। अर्थात् ये उस समय नही होते। ऐसा अतिशय जिनेन्द्र के केवल ज्ञान का ही है, जो समस्त दिशाये मल रहित निर्मल दीखती है। ४ सभी ऋतुओ के फल फूलादिक का एक समय फलना। अर्थात् षड् ऋतुओ मे होने वाले फल पुष्प धान्यादिक निज निज समय को छोडकर समस्त एक ही समय में फलते हैं, यह भी भगवान् के केवल ज्ञान का ही प्रभाव है। ५ एक योजन पर्यन्त पृथ्वी का तृण कटकादि रहित दर्पणवत् निर्मल होना। ६ भगवान् के बिहार के समय युगल चरणारविद के नीचे देवगणों द्वारा आकाश में स्वर्णमयी कमल की रचना करना। ७ देवों के द्वारा आकाश में जयजयकार शब्द का किया जाना। ८ शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन का चलना जिसके स्पर्श से असाध्य रोगियो के रोग दूर हो जाते है, यह भी जिनेन्द्र भगवान् के केवलज्ञान का अतिशय है। ९ सुगन्धित जल की वर्षा होना अर्थात् जहा पर जिनेन्द्र भगवान केवल ज्ञान सयुक्त तिष्ठते है वहाँ पर मद-मद सुगन्धि युक्त जल की वृष्टि आकाश से होती है। वह वृष्टि जीवो के आताप को हरण करने वाली है। १०. पवनकुमार जाति के देवो के द्वारा भूमि का तृण कटक रहित करना। अर्थात् जहा

पर जिनेन्द्र भगवान तिष्ठते है वहा पर पवन कुमार देवों के द्वारा भूमि स्वच्छ, तृण कंटकादि रहित निर्मल रहती है मानों जिनेन्द्र भगवान के अतिशय से पापरूपी रज दूर करके पृथ्वी पर निर्मलता प्रगट हुई हो। ११ समस्त जीवों का आनन्दमय होना। अर्थात् आनन्दमय क्यों नही हो ? जहा पर किसी प्रकार की बाधा नही, उपद्रव नही और किसी का भय नही वहां तो आनन्द होता ही है। विचार करके देखिये कि वर्तमान समय में ग्रीष्म ऋतु में किंचित् शीतल पवन और पान करने के लिये मिष्ट शीतल जल यदि प्राप्त हो जाय तो मनुष्य बहुत ही आनन्द मानता है और वहा समवशरण में तो सुगन्धमय पवन और षट् ऋतु के फल फूलों का एक ही समय में फलना तथा वापिकाओ का मिष्ट, शीतल जल और धर्मोपदेश मिलता है जिससे तीन लोक के भ्रमण से उत्पन्न हुये श्रम का अन्त होकर अव्याबाध, निराकुलित अनन्त सुख का स्थान जो मोक्ष का मार्ग है वह प्राप्त होता है। समवशरण में जो सुख है वैसा ससार में अन्य स्थान में नही मिल सकता। इसलिए वहा पर जीवन आनन्दमय होता ही है। १२ भगवान् के आगे धर्मचक्र का चलना। कैसा है वह धर्मचक्र ? वह मोक्ष मार्ग का प्रकाश करने वाला है। १३. चमर छत्रादिक अष्ट मगल द्रव्यो का साथ रहना।

अर्थ—अष्ट मगल द्रव्यनाम—

दोहा—छत्र चमर घंटा ध्वजा, झारी पंखा नव्य।
स्वस्तिक दर्पण संग रहे जिन वसुमंगल द्रव्य ॥

अर्थ—छत्र १ चमर २ घण्टा ३ ध्वजा ४ झारी ५ पखा ६ स्वस्तिक ७ और दर्पण खण्ड ये आठ मगल द्रव्य है जो जिन भगवान् के साथ रहते है। इत्यष्ट मगल द्रव्य नाम।

ऐसे ही जन्म के दस अतिशय, केवलज्ञान के दस अतिशय और चौदह देव रचित अतिशय ये सब मिलकर ३४ अतिशय अर्हन्त परमात्मा के होते है—

अब आठ प्रातिहार्य का वर्णन करते है—

तरु अशोक के निकट में, सिंहासन छबिदार
तीन छत्र सिर पर लसै, भामण्डल पिछवार ॥१॥
दिव्य ध्वनि मुख से खिरे, पुष्प वृष्टि सुर होय ॥२॥
ढारं चौसठ चमर चष, बाजै दुन्दुभि जोय ॥२॥

अर्थ—अशोक वृक्ष होना।

भावार्थ—जहा केवली भगवान तिष्ठते है वहा अशोक वृक्ष जिनेन्द्र भगवान के शरीर से सात गुणा ऊंचे होता है। ऐसे अशोक वृक्ष की प्रभा से ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों जिनेन्द्र भगवान का आश्रय पाकर दीप्तिवान हो गया हो। पुन: वह अशोक वृक्ष ऐसा होता है कि जिसके दर्शन से जीव का शोक दूर हो जाता है ॥१॥

अष्ट मंगल द्रव्य
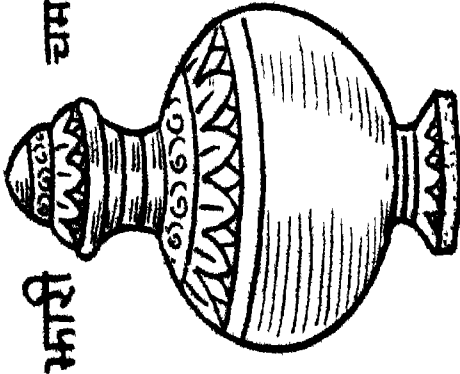
झारी

चमर

छत्र

ध्वज

घंटा

दर्पण

साँथिया

पंखा

८ प्रातिहार्य
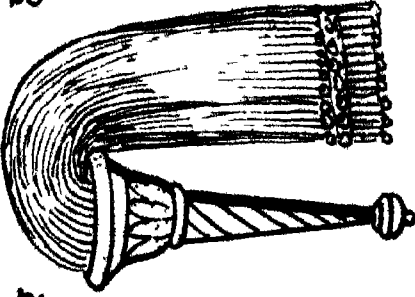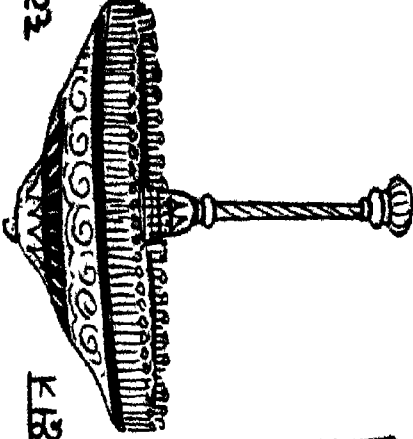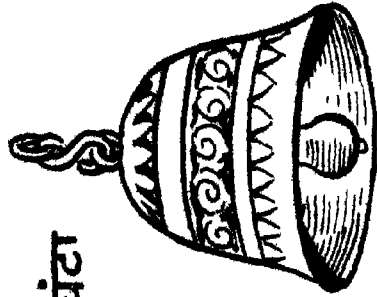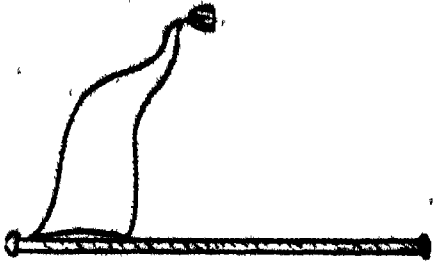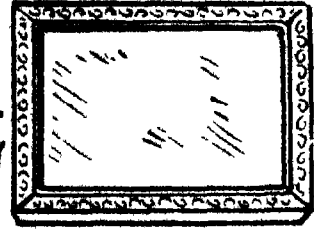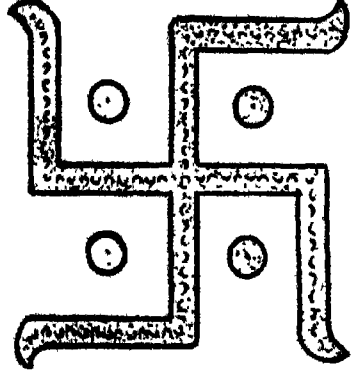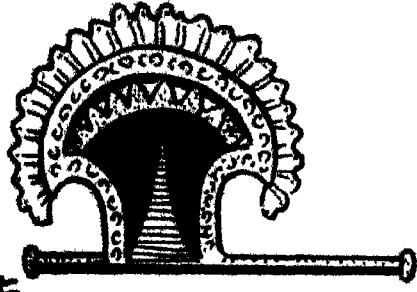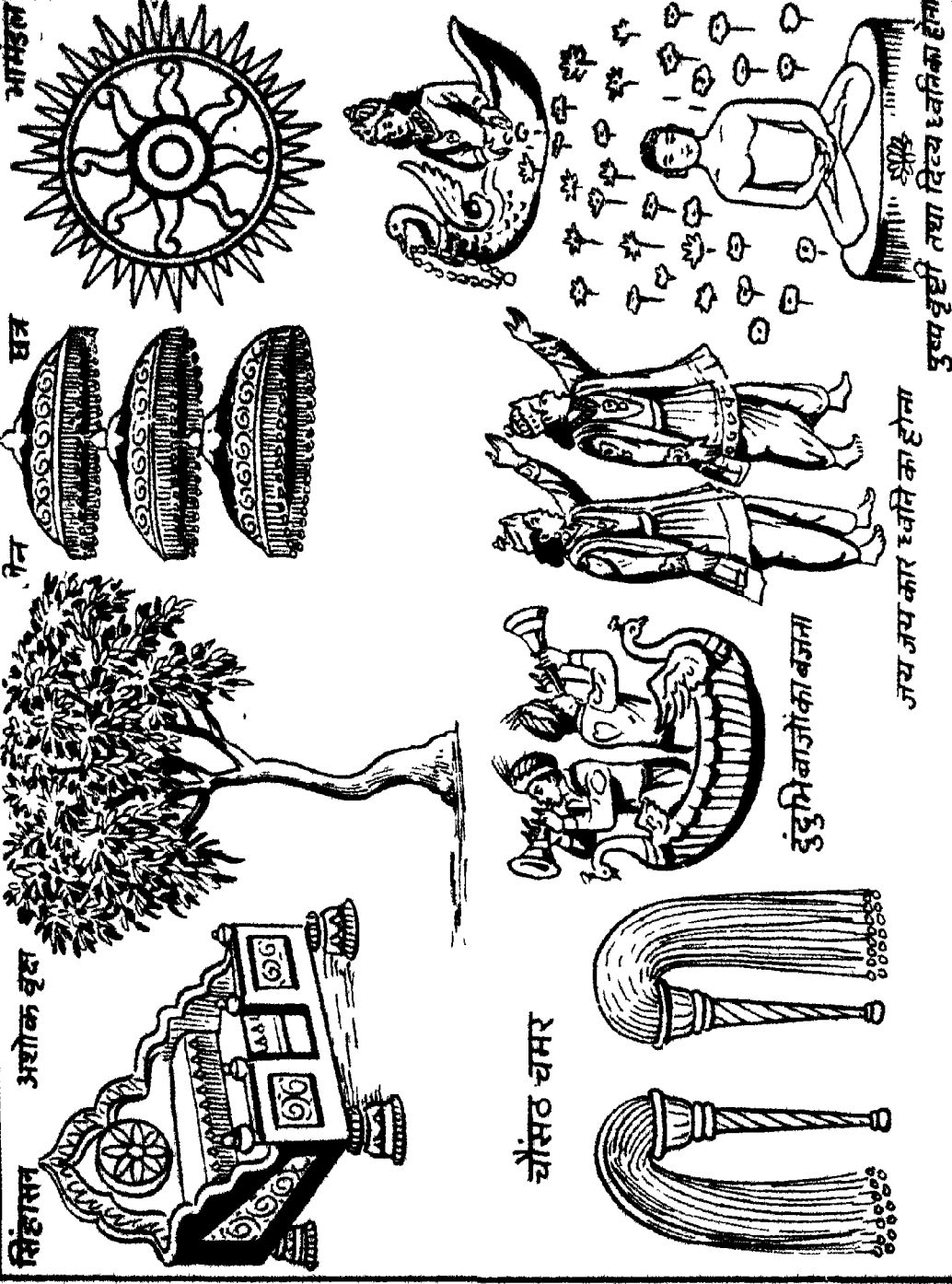
सिंहासन
अशोक वृक्ष
तीन छत्र
भामंडल
चौंसठ चमर
दुंदुभि बाजों का बजना
जय जय कार ध्वनि का होना
पुष्प वृष्टी तथा दिव्य ध्वनि का होना

रत्नमयी सिंहासन

भावार्थ—जहां पर केवली होते है वहां अशक वृक्ष के समीप रत्नमयी सिंहासन पर विराजमान श्री जिनेन्द्र देव ऐसे शोभित होते है मानों उदयाचल पर्वत के शिखर पर आकाश में निकली हुई किरणो द्वारा सूर्य का बिम्ब ही शोभायमान हो रहा हो ॥२॥

भगवान के सिर पर तीन छत्र का ढुरना—

भावार्थ--जिनेन्द्र भगवान के मस्तक पर चन्द्रमा और सूर्य की प्रभा के प्रताप का हरण करने वाले और मोतियों की माला के समूह से बढ़ी है जिनकी शोभा—ऐसे तीन छत्र भगवान की तीन लोक की परमेश्वरता को प्रकट करते है। इससे तीन लोक की ईश्वरता तथा तीन लोक के नाथ ऐसा नाम जिनेन्द्र देव का सम्भव है और ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि सब नाम मात्र के देव है। इनको त्रिलोकीनाथ नही कहा जा सकता। कारण कि नाथ ऐसे शब्द का प्रयोग रक्षा करने वाले के लिए होता है, जो तीन लोक की रक्षा करे उनको त्रिलोकीनाथ कहते है। त्रिलोक अर्थात् ऊर्ध्व लोक, मध्य लोक, पाताल लोक इन लोकों के जीवों की जो रक्षा करे उनको त्रिलोकीनाथ कहते है। त्रिलोकीनाथ जब होता है तब वह किसी की आशा नहीं करता और जो आशा करता है वह ईश्वर नही है। इसलिये ब्रह्मा ईश्वर पद को प्राप्त नही है। उसका कारण यह है कि ब्रह्मा ने इन्द्र के सिंहासन को प्राप्त करने की इच्छा से चार हजार वर्ष तक तप किया। पर उसे सिहासन प्राप्त नही हुआ अर्थात् हजारों वर्षों तक तप करके उन्होने इन्द्र के आसन की इच्छा की इसलिये ऐसा ब्रह्मा ईश्वर पदवी के योग्य नही है। ब्रह्मा उन्ही को कहते है कि जो निजात्मा का ध्यान करे। यदि उसे यानी ब्रह्मा को निजात्मा का ध्यान होता तो ध्यान से च्युत होकर वह उर्वशी जाति की तिलोत्तमा देवी को अथवा उसके रूप को राग की दृष्टि से देखकर काम भावना से प्रेरित होकर उसको देखने के लिए चार सिर नही बनाता। इस प्रकार ऐसे नाम मात्र के ब्रह्मा जो कामी, क्रोधी व मानी है हमको ईश्वर रूप में मान्य नहीं है। साक्षात् ब्रह्म तो वही है जो निज ब्रह्म को जानकर कृतकृत्य होकर निजात्म तत्व के आस्वादन में लवलीन हो। ऐसा कृतार्थ ब्रह्म सर्वज्ञ, वीतरागी, हितोपदेशी, परम पद में रहने वाला, निरजन अर्थात् कर्म लेप से रहित, आदि, मध्य, अन्त, रहित सर्व हितकारक ब्रह्म समवशरण मे तीन छत्र से शोभायमान तीन लोक की ईश्वरता को प्रकट करता है सो परम ब्रह्म मेरे रक्षक हो। पुनः विष्णु को त्रिलोकीनाथ कहा जाय तो वह भी त्रिलोकीनाथ नही हो सकते, क्योकि तीन जगत का नाथ अर्थात् ईश्वर तो उसे ही कहेगे जो तीन लोक की रक्षा करे, सर्व जीवो पर दया करे, सो यदि विष्णु लोक का नाथ अर्थात् रक्षक होता तो तीन लोक मे जरासिध को क्यो मारता और मथुरापति राजा कस को क्यो मारता ? और दैत्यो के इन्द्र हिरण्डकश्यपु (हिरणाकुश) का नृसिह रूप धारण कर अपने नख के द्वारा वक्षःस्थल क्यों विदारण करता ? महाभारत में युद्ध के समय अर्जुन का सारथी बनकर सग्राम में कौरवों का क्यो विध्वंस करता। ऐसा कोई विष्णु नहीं हो सकता। विष्णु शब्द का अर्थ तो यह है कि जिनको ज्ञान अनन्त काल तक

व्याप्त रहता है और समस्त क्षेत्र, काल सम्बन्धी और समस्त लोकालोक में व्याप्त होकर फैलता है उसको विष्णु कहते है। उसको भोले प्राणी ऐसा कहते है कि जो समस्त लोक में व्याप्त हो वह विष्णु है। कहा भी है :—

श्लोक—जले विष्णुस्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वत मस्तके ।
ज्वालमाला मुखी विष्णुः, विष्णुः सर्व जगन्मयः ॥

भावार्थ—जल मे विष्णु है, थल में विष्णु है, पर्वत मे विष्णु है, अग्नि में विष्णु है अर्थात् समस्त जीवो में विष्णु व्याप्त है। सो ऐसा समझना मिथ्या है। यदि विष्णु सर्व व्यापी है तो हिरण्यकश्यप को मारने के लिए नृसिह रूप क्यो धारण किया ? इसलिए यह नाम मात्र के विष्णु है, साक्षात् विष्णु नही। परन्तु जिसका ज्ञान त्रिकालवर्ती पर्याय से सहित समस्त पदार्थों मे व्याप्त हो रहा है, ऐसे सर्वज्ञ वीतराग अर्हन्त ही विष्णु है अन्य कोई और नही। पुनः महादेव को भी त्रिलोकीनाथ कहा जाता है, परन्तु वह भी तीन जगत का नाथ—ईश्वर नही है। वह भी रक्षक नही है। तीन लोक का नाथ वही हो सकता है जो सबसे श्रेष्ठ कार्य-कर्ता, जीवो का प्रतिपालक तथा उत्तम मार्ग में चलने का उपदेश करे। उस शिव ने वाणी से अग्नि उत्पन्न करके निर्दय होकर तीन पुत्रो को दग्ध किया। वे अपने साथ पार्वती एव पुत्र कार्तिकेय को रखते हैं। इसलिए योगी नही है। और जो शकर को ईश अर्थात् सामर्थ्य युक्त ईश्वर कहो तो शकर का लिग छिद कैसे हुआ अर्थात् उनका लिग कैसे छेदा गया। अगर वह भय रहित है तो त्रिशूल आयुध आदि क्यो धारण करते है ? ऐसे नाममात्र के शकर है, ये सुख देने वाले नही है ये रक्षा करने वाले भी नही है, और जीवो की दया करने वाले भी नही है। जैसे अकलक अष्टक स्तोत्र मे कहा है कि—

शार्दूलविक्रीडित छन्द

त्रैलोक्यं सकलं त्रिकालविषयं, सालोक्यमालोकितं ।
साक्षाद्येन यथा स्वयं करतले रेखात्रयं सांगुलिः ।
रागद्वेष भया मयांत-कजरालोलत्वलोभादयो ॥
नालयत्पदलंघनाय स महादेवो मया वद्यते ॥

अर्थ—वह महादेव कैसे है ? जो तीन लोक के गोचर और अलोक सहित समस्त त्रैलोक को जानने वाले है जैसे अगुलि सहित हथेली मे तीन रेखा साक्षात् दिखाई देती है। और रागद्वेष, भय, रोग, मृत्यु, जरा, लोभ आदि दोष जिनका पद उल्लघन न कर सके, उस महादेव को मै वदना करता हूँ। इस जगत मे ब्रह्मा, विष्णु, शिव जिन तथा बुद्ध आदि नाम के धारी देवप्रसिद्ध है परन्तु जिनका ज्ञान एक समय मे तीन लोक की अनन्तानन्त द्रव्य गुण और त्रिकालवर्ती अनन्त पर्याय इन समस्त पद.र्थ को प्रत्यक्ष जाने वह ही तीन जगत का नाथ, तीन छत्र से शोभायमान ईश्वर कहलाता है। उस ईश्वर को मेरा बार-बार नमस्कार हो ॥ ३ ॥

भगवान के प्रति भामण्डल का होना:—वह भामण्डल कैसा है ? जिसमें भव्य राशि के सात भव झलकते हैं।

भावार्थ—तोन भव पिछले और तोन भव आगे के और एक भव वर्तमान ऐसे सात भव जिनेन्द्र के पीछे भामण्डल में दिखते हैं सो ये जिनेन्द्र का ही अतिशय है और वह भाम-मण्डल कैसा है ? अपने अतिशय से तीन लोक के पदार्थों की द्युति को तिरस्कार करता हुआ प्रकाशमान, अनेक सूर्य के समान तेजस्वी होने पर भी चन्द्रसमान शीतल, प्रभा से रात्रि को भी जीतता है ।।४।।

भगवान के मुख से निरक्षर ध्वनि होना : —

भावार्थ— भगवान की दिव्य ध्वनि खिरते समय होट, तालु, रसना, दन्त आदि में क्रिया नही होती है । मेघ की गर्जना के समान उनकी ध्वनि होती है स्वर्गापवर्ग का मार्ग बताने मे इष्ट समीचीन धर्म और वस्तु स्वरूप कहने में अद्वितीय समस्त भाषा स्वभाव परिण मयी भगवान की दिव्य ध्वनि होती है ।।५।।

देवो के द्वारा पुष्प वृष्टि होना

भावार्थ—मन्दार सुन्दरनमेरु, सुपारोजात आदि कल्प वृक्षो के पुष्पो की जो वृष्टि देवो द्वारा की जाती है, वह ऐसी मालूम होती है मानो भगवान के दिव्य गुणों को पक्ति ही प्रसारित हो रही है । ६।।

यक्ष जाति के देवो के द्वारा भगवान के दोनो और ३२-३२ चमरो का ढोरना ।।७।। भगवान के समवसरण मे दुन्दुभि बाजे बजना ।।८।।

जब आगे चार अनन्त चतुष्टयो का वर्णन करते है ?

दोहा—ज्ञान अनन्तानन्त सुख, दर्शन अनन्त पषाण।
बल अनन्त अर्हन्त सो इष्ट देव पहचान ।।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान के अनन्त चतुष्टय हैं - ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, बल अनन्त, सुख अनन्त—ऐसे चार अनन्त चतुष्टय केवली भगवान सकल परमात्मा के होते है।

भावार्थ—सकल परमात्मा की आत्मा के चार घातिया कर्म दूर हो जाते है इसकारण चार अनन्त चतुष्टय प्रगट होते है । 'अर्थात् १-ज्ञानावरणीय, २-दर्शनावरणीय, ३-मोहनीय, ४-अन्तराय, ये घातिया कर्म आत्मा के निजगु ण ज्ञान, दर्शन, सुख, बल को घात करने वाले हैं अत: इनको घातिया कर्म कहते है। ये घातिया कर्म अनादि काल से जीवन के सायलगे है, और जब तक यह जीवात्मा सकल परमात्मा न होगा तब तक यह कर्म उसके साथ लगे रहेगे जैसे स्वर्ण में मैल है उसी प्रकार जीव से अनादि काल से कर्म रूपी मैल सम्बन्धित है। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि में तपने से मैल से पृथक् होकर अपने निज स्वभाव को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार

जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूपी अग्नि में तप कर कर्म रूप मैल से अलग होता है। अलग होकर अपने निज स्वभाव अनन्त चतुष्टय को प्राप्त होकर वह आत्मा सकल परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है। उस समय इन्द्रादिक देव आकर सामान्य केवलियो के लिए गन्ध कुटी और भगवान तीर्थंकरो के लिए समवशरण की रचना करते हैं। प्रसग वश शास्त्रों का रहस्य लेकरके समवशरण का वर्णन करते है: - प्रथम समवशरण की भूमि सब भूमि से पाच हजार धनुष आकाश में ऊंचाई है जिसकी, ऐसी श्री आदिनाथ भगवान के समवशरण की पृथ्वी बारह योजन प्रमाण, नील मणि के समान प्रभावशाली और देदीप्यमान किरणों के समूह से अत्यन्त उज्जवल गोलाकार है। इसी पर समवशरण की समस्त रचना है। आदि नाथ भगवान के समवशरण की भूमि का जो प्रमाण था वह नेमिनाथ भगवान पर्यन्त आधा आधा योजन कम होता गया। भगवान पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के समवशरण में भूमि का यह प्रमाण पाव पाव योजन कम था।

भावार्थ—महावीर स्वामी के समवशरण की भूमि का प्रमाण एक योजन का था उसके चारों दिशाओ मे समस्त भूमि से लगाकर समवशरण भूमि तक प्रत्येक दिशा में २०, २० हजार स्वर्णमयी सीढ़ी होती है, उनकी चौड़ाई तथा ऊचाई एक एक हाथ प्रमाण और लम्बाई एक कोश की होती है। उन सीढियो का प्रमाण भी आदिनाथ भगवान से लेकर वर्द्धमान भगवान तक कम होता गया। अब भगवान ऋषभदेव के समवशरण की रचना, के लिए भूमि का जो प्रमाण है उसको २४ का भाग दीजिए उसमे से एक भाग घटाइये, ऐसे नेमिनाथ तक एक भाग घटाना और पार्श्वनाथ तथा महावीर भगवान के उससे आधा भाग घटाना। प्रथम जो कहा है जो शिला उस शिला के सम्बन्ध मे शिलानमन की चारो दिशाओ मे चार गलियां है। उन गलियों की चौडाई, शिलानमन की लम्बाई के प्रमाण है जैसे ऋषभ देव भगवान के समवशरण में तेईसकोश लम्बी और एक कोश चौडी गली है, इस प्रकार धूली साल के द्वार से गन्ध कुटी-द्वार तक लम्बाई जानना। इन गलियो के दोनो ओर स्फटिक मणियुक्त भीत है उसको वेदी कहते है। इन दोनो वेदियो के बीच जो चौडाई है सो गली की चौड़ाई है। उन वेदियो की चौडाई वृषभदेव के साढ़े सात सौ धनुष है और फिर यह चौडाई कम होती गई है। उन गलियो के मध्य चार अन्तराल भूमि है और उसमे चार कोट पाच वेदी है। इन नौ के अन्तराल मे आठ भूमि है। फिर शिला के अन्त में कोट है, उसके ऊपर दूसरा कोट है, उससे आगे उपवन की भूमि है। फिर शिला के अन्त में कोट है, उसके ऊपर दूसरा कोट है, उससे आगे उपवन की भूमि है उससे आगे वेदी है, उसके ऊपर ध्वजा समूह भूमि और तीसरा कोट है। उससे आगे कल्प वृक्ष भूमि है, उसके आगे वेदी है उसके ऊपर मदिर की भूमि है, उसके ऊपर चौथा कोट है, उसके ऊपर सभा की भूमि है फिर वेदी है। ऐसे तीन गली है। तीन गली के अन्तराल भूमि में भूमि सम्बन्धी रचना जानना चाहिये। उन गलियो मे चार कोट पाच वेदी के द्वारा एक गली सम्बन्धी नौ द्वार है इस प्रकार चारो गली सम्बन्धी ३६ द्वार हो गये। प्रथम कोट और प्रथम वेदी के मध्य प्रथम भूमि है। प्रथम

जयन्त द्वार

वैजयन्त द्वार

अपराजित द्वार
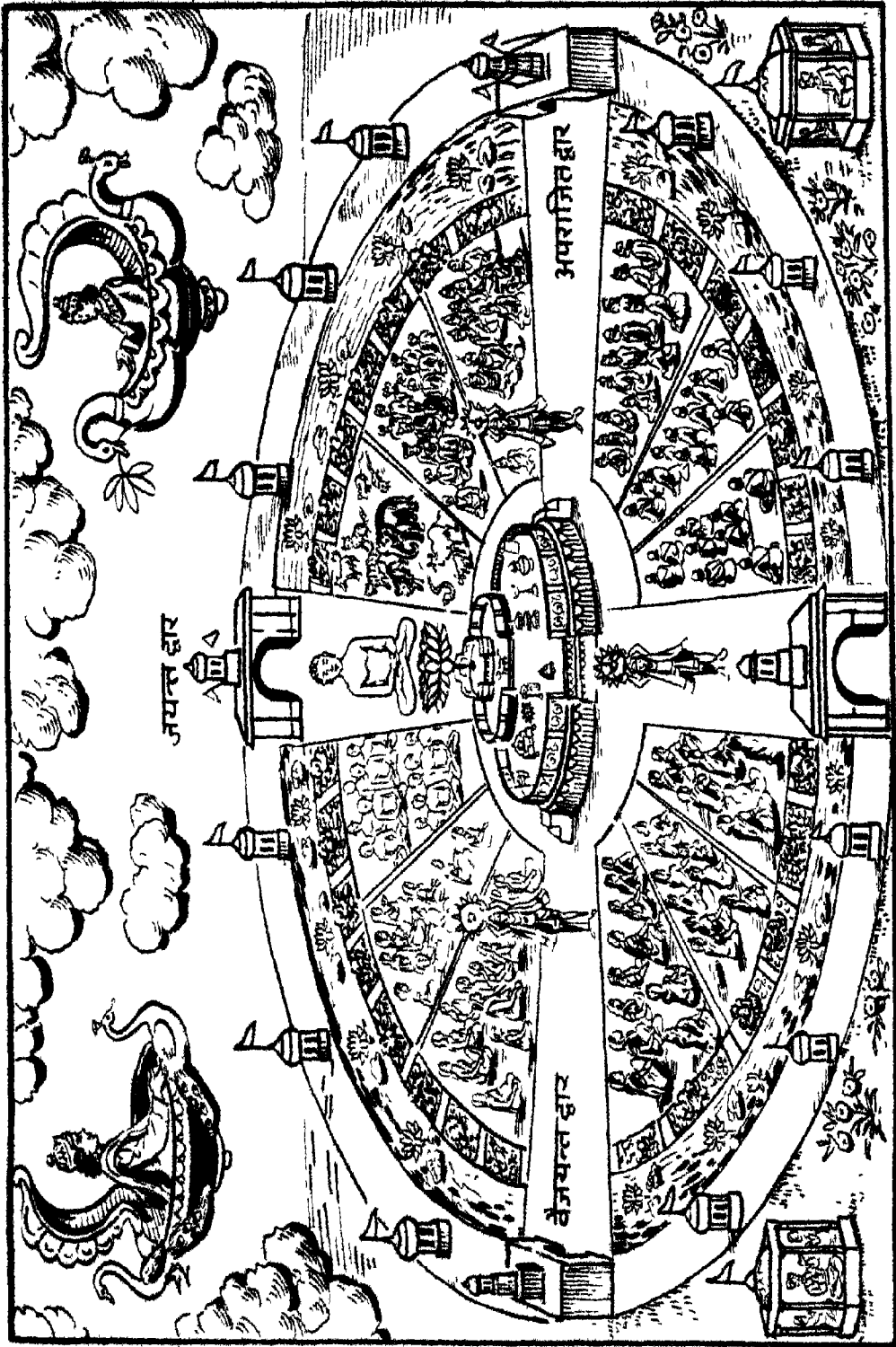
विजयक द्वार

कोट और प्रथम वेदी के द्वार के बीच जो गली है उसे प्रथम भूमि कहते हैं। ऐसे ही अन्य द्वारों के बीच द्वितीया आदि भूमि है। वहां प्रथम भूमि की गली के मध्य भाग में मानस्तभ हैं। चारों दिशाओं सम्बन्धी चार मानस्तभ है। हर एक मानस्तंभ के चारों दिशाओं में चार बावड़ी हैं। हर गली के दोनों ओर दो नाट्य शालाए हैं। ऐसे ही चौथी गली में भी दो नाट्यशालाएं है। छोटी गली के दोनो ओर इससे दुगनी नाट्यशालाए है। सप्तम भूमि में चारों दिशाओं में ९-९ रत्न स्तूप हैं और आठवी भूमि मे द्वादश सभा है। उन सभाओ मे कौन कौन बैठते हैं उसका वर्णन करते है। धर्मसग्रह श्रावकाचार में आया है : —

तेषुमुन्यशरः स्वार्थ्या। द्योतिभोमासुरस्त्रियः।
नागव्यन्तरचंद्रागाः। स्वर्भूनृपशवः क्रमात् ॥

अर्थ उन १२ सभाओ में अनुक्रमण से मुनि तथा गणधरदेव। कल्पवासी देवों की दे ागनाए, २-अर्जिका, ३-ज्योतिस देवो की स्त्रिया, ४-व्यंतर देवों की स्त्रिया, ५-भवनवासी देवों की स्त्रिया, ६-भवनवासी, ७-व्यन्तर, ८-ज्योतिषी, ९-कल्पवासी, १०-मनुष्य, ११-पशु, १२ बैठते है।

वैडूर्य्य स्वर्णमाणिक्य। मयंपीठप्रयंततः
अष्टचतुश्चतुश्चाप। प्रांशुपर्यु परिस्थितिम् ॥

अर्थात् उस अष्ट भूमि के मध्य में वैडूर्यमणि स्वर्ण माणिक्य में तीन पीठ क्रम से आठ धनुष है, चार धनुष तथा चार धनुष ऊंचे एक के एक ऊपर एक स्थित हैं।

श्लोक—सोपानाः षोडषाष्टार्ता नानारत्नविचित्रता.।
क्रमशः त्रिषुपीठेसु चतुमार्गेषु भांतिते ॥

अर्थात्—उन तीनो पीठो में क्रम से सोलह आठ और आठ सीढ़िया नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित चारों ओर शोभायमान थी। यह शोभा चारो ओर से दिखाई दे रही थी सबके ऊपर के तीसरे पीठ पर छह सौ धनुष लम्बी व इतनी ही चौड़ी तथा नौ सौ धनुष ऊंची जिसमें रतनों की दीपिका प्रज्वलित हो रही थी व अत्यन्त सुगन्धित पुष्प व ध्वजाये जिसके चारो तरफ सुशोभित हो रही थी, ऐसी जिन भगवान के विराजमान होने की गन्धकुटी बनी थी उसके ऊपर अत्यन्त मनोहर नाना प्रकार के रत्नों से जडित स्फटिक मणि का बना हुआ एक सिहासन है। उसके बीच में अत्यन्त कोमल, पवित्र व अनुपम एक सहस्रदलवाला एक रक्त वर्ण कमल है। उसके मध्य मार्ग में चार अगुल अन्तरिक्ष आकाश मे जिन भगवान लोकाकाश व अलोकाकाश को देखते हुए विराजमान होते हैं। और जीवो के शुभाशुभ को जानकर त्रिजगपति अर्थात् तीनों लोक के नाथ श्री जिनेन्द्र देव अपनी मेघ के समान सर्वभाषा भावयुक्त निरक्षर दिव्य ध्वनि से सत्य धर्म केउपदेश की वर्षा करते है, और द्वादस सभाओं में असख्यात जीव अपने अपने भवताप से संतापित आत्मा की शान्ति के लिए धर्मोपदेशामृत का पान करते हैं। जिनेन्द्रदेव के समवशरण में मिथ्यादृष्टि, अभव्य, असंज्ञी, अनध्यवसायी जीव नही रहते।

श्री धर्मसंग्रह श्रावकाचार मे कहा है—

मिथ्यादृष्टिरभव्योप्य संज्ञी कोपिन विद्यते ।
यश्चा नध्यवसायोपि तः संदिग्धो विपर्ययः ॥

और भगवान के समवशरण मे जीवो में परस्पर शत्रुभाव भी नही रहता है।
कहा भी है कि—अहिंसा प्रतिष्ठाया तत्वन्निधौ वैरत्यागः ।

अर्थ—बहुत काल तक अहिंसा धर्म पालन करने वाले के समीप जाति विरोधी जीवों में भी परस्पर मे वैरभाव त्याग का व्यवहार हो जाता है। यह केवल जिनेन्द्र भगवान् का ही प्रभाव है।

इति समवशरण वर्णन समाप्त

जिन भगवान को १००८ नामों से विनय सहित नमस्कार करते है :

ओ ह्रीं अर्हं श्रीमते नम. ॥ १ ॥ अनतचतुष्टयरूप अन्तरगलक्ष्मी व समवशरणरूप बहिरग लक्ष्मी से सुशोभित है, इसलिए आप श्रीमान कहलाते है ॥ १ ॥

ओ ह्रीं अर्हं स्वयम्भुवे नम. ॥ २ ॥ बिना गुरु के अपने आप समस्त पदार्थों को जानने वाले है अथवा अपनी आत्मा मे सदैव रत रहते है, अथवा अपने आप ही अपना कल्याण किया है, अथवा अपने ही गुणो से स्वयमेव वृद्धि को प्राप्त हुए है।

अपने आप केवल ज्ञान और केवल दर्शन के द्वारा समस्त लोकालोक मे व्याप्त हो रहे है, अथवा भव्य जीवों को मोक्षरूपी सम्पत्ति को देने वाले है, तथा द्रव्य पर्यायो को इन्द्रियादि की सहायता रहित अपने आप जानने वाले है अथवा ध्यान करने वाले योगियो को आप प्रत्यक्ष दिखाई देते है अथवा लोक शिखर पर अपने आप जाकर विराजमान होने वाले है इसलिये आप स्वयभू कहलाते है ॥ २ ॥

ओ ह्रीं अर्हं वृषभाय नम ॥३॥ आप वृष अर्थात् धर्म से भा अर्थात् सुशोभित होते है अथवा धर्म की वर्षा करते है अथवा भक्त जनो के लिए इष्ट वस्तु की वर्षा करने वाले हैं, इसलिए आप वृषभ कहलाते है ॥३॥

ओ ह्रीं अर्हं सम्भवाय नमः ॥४॥ आपके द्वारा सभी जीवो को सुख प्राप्त होता है एव आपका भव जन्म अत्यन्त उत्कृष्ट है, अथवा आप सुखपूर्वक उत्पन्न हुये है, इसलिये आप सम्भव वा शम्भव कहलाते है ॥ ४ ॥

ओ ह्रीं अर्हं शम्भुवे नमः ॥ ५ ॥ आप परमानन्द मोक्षरूपी सुख को देने वाले है। इसलिए आप शम्भू कहलाते है ॥५ ॥

ओ ह्रीं अर्हं आत्मभुवे नम ॥६ ॥ आप अपने आत्मा के द्वारा ही कृतकृत्य हैं

अथवा आप शुद्ध-बुद्ध चिरचमत्कार स्वरूप आत्मा में लीन रहते हैं अथवा ध्यान के द्वारा योगियों के आत्मा में ही प्रत्यक्ष होते हैं। इसलिये आप आत्मभू कहलाते है ॥ ६ ॥

ओ ह्री अर्हं स्वयम्प्रभाय नम ॥ ७ ॥ आप अपने आप ही प्रकाशमान होते है अथवा शोभायमान होते है इसलिये आप स्वय-प्रभ कहलाते है ॥ ७ ॥

ओं ह्री अर्हं प्रभवे नम ॥ ८ ॥ सबके स्वामी है या सर्वथा समर्थ है, इसलिए आप प्रभु हैं ॥ ८ ॥

ओ ह्री भोक्तये नम ॥ ९ ॥ आप परमानन्द स्वरूप सुख का भोग करने वाले होने से अपने आप भोक्ता है ॥ ९ ॥

ओ ह्री अर्हं विश्वभुवे नम. ॥ १० ॥ आप केवलज्ञान के द्वारा सब स्थानों पर व्याप्त है, अथवा समस्त लोको में मगल करने वाले है, अथवा ध्यानादि के द्वारा समस्त लोक मे प्रगट होते है अथवा समस्त लोकालोक को जानने वाले है, इसलिये आप विश्वभू है ॥ १० ॥

ओ ह्रीं अर्हं अपुनर्भवाय नम ॥ ११ ॥ अब आपके जन्मजरा, मरणरूप ससार शेष नही रहा गया है अथवा आप ससार मे ही पुन उत्पन्न होने वाले नही है इसलिये आप को अपुनर्भव कहते है ॥ ११ ॥

ओ ह्री अर्हं विश्वात्मने नम ॥ १२ ॥ आप समस्त लोक को अपने समान जानते है अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप है इसलिये आप विश्वात्मा कहे जाते है ॥ १२ ॥

ओ ह्री अर्हं विश्वलोकेशाय नम. ॥ १३ ॥ तीनो लोको मे रहने वाले समस्त प्राणियो के आप स्वामी है इसलिये आप विश्व लोकेश है ॥ १३ ॥

ओं ह्री अर्हं विश्वतच्चक्षुषे नम ॥ १४ ॥ आप के चक्षु अर्थात् केवल दर्शन सर्व जगत् मे व्याप्त है इसलिये आप विश्वतच्चक्षु है ॥ १४ ॥

ओ ह्री अर्हं अक्षराय नम. ॥ १५ ॥ कभी नाश नही होते इसलिये आप अक्षर है ॥१५॥

ओ ह्री अर्हं विश्वविदे नमः ॥ १६ ॥ आप षट् द्रव्यो से भरे हुये इस विश्व अर्थात् जगत को जानते है इसलिये विश्ववित् है ॥ १६ ॥

ओ ह्री विश्वविद्येशाय नम ॥ १७ ॥ समस्त विद्याओ के ईश्वर आप है, आप केवलज्ञान के स्वामी है, आप समस्त विद्याओ के जानने वाले गणधरादिको के स्वामी हैं इसलिये आप विश्वविद्येश कहे जाते है ॥ १७ ॥

ओ ह्री अर्हं विश्वयोनये नम ॥ १८ ॥ आप समस्त पदार्थो की उत्पत्ति के कारण हैं अर्थात् सब पदार्थों का उपदेश देने वाले है इसलिये आप विश्वयोनि कहलाते है ॥ १८ ॥

ओं ह्री अर्हं अनश्वराय नम: ।। १९ ।। आपके स्वरूप का कभी नाश नहीं होता इसलिये आप अनश्वर कहे जाते हैं ।। १९ ।।

ओ ह्री अर्हं विश्वदर्शने नम ।। २० ।। आप समस्त लोकालोक को देखने से विश्व द्रष्टा कहलाते हैं ।। २० ।।

ओं ह्री अर्हं विभुवे नम. ।। २१ ।। केवलज्ञान के द्वारा आप सब जगह व्याप्त हैं अथवा जीवों को संसार से पार करने में समर्थ है और आप परम विभूति सयुक्त है, इसलिये आपको विभु कहते है ।। २१ ।।

ओ ह्री अर्हं धात्रे नम ।। २२ ।। चारो गतियो में परिभ्रमण करने वाले जीवो का उद्धार कर मोक्ष स्थान मे पहुचाने वाले है तथा दयालु होने से आप सब जीवो की रक्षा करते है इसलिये आप धाता कहलाते है ।। २२ ।।

ओ ह्री अर्हं विश्वेशाय नम ।। २३ ।। समस्त जगत के स्वामी होने से आप विश्वेश कहलाते है ।। २३ ।।

ओ ह्री अर्हं विश्वलोचनाय नम ।। २४ ।। समस्त जीवो को सुख की प्राप्ति का उपाय आपने दिखलाया है इसलिये आप जीवो के नेत्रो के समान होने से आप विश्वलोचन कहलाते हैं ।। २४ ।।

ऊ ह्री अर्हं विश्व व्यापिने नम ।। २५ ।। केवलज्ञान के द्वारा समस्त लोकालोक मे आप व्याप्त है और केवलि समुद्‌घात करते समय आपके आत्मा के प्रदेश समस्त लोकाकाश में व्याप्त हो जाते है इसलिये आपको विश्वव्यापी कहते है ।। २५ ।।

ओ ह्री अर्हं विधवे नम. ।। २६ ।। आप कर्मो का नाश करने वाले है अथवा केवल-ज्ञान-रूपी किरणो के द्वारा मोहरूपी अधकार का नाश करने वाले है इसलिये आप विधु हैं ।। २६ ।।

ओ ह्री वेधाय नम. ।। २७ ।। आप धर्म रूप जगत को उत्पन्न करने वाले है इसलिये आप वेधा कहलाते है ।। २७ ।।

ओ ह्री अर्हं शाश्वताय नम ।। २८ ।। आप सदा विद्यमान रहते है, नित्य है इसलिये शाश्वत् कहे जाते है ।। २८ ।। ।

ओ ह्री अर्हं विश्वतो मुखाय नम ।। २९ ।। आपके चारों दिशाओ में चार मुख दीखते है तथा आपके मुख के दर्शन मात्र से जीवो का ससार नष्ट हो जाता है जल का मुख्य नाम विश्व है, आप जल के समान कर्मरूपी मल को धोने वाले है। विषयों की तृष्णा को नष्ट करने वाले और अत्यन्त स्वच्छ है इसलिये आप विश्वतोमुख कहलाते हैं ।। २९ ।।

ओ ह्री अर्हं विश्वकर्मणे नम: ।। ३० ।। आपके मत में समस्त कर्म ही दुख देने

वाले हैं एव आपने जीविका के लिये षट् कर्मों का उपदेश दिया है इसलिये आपको विश्वकर्मा कहते है ।। ३० ।।

ओं ह्रीं अर्हं जगज्ज्येष्ठाय नमः ।। ३१ ।। आप जगत के समस्त प्राणियो में वृद्ध है अथवा श्रेष्ठ हैं इसलिये आपको जगज्ज्येष्ठ कहते है ।। ३१ ।।

ओं ह्री अर्हं विश्वमूर्तये नमः ।। ३२ ।। आप अनन्तगुण मय है इसलिये आप विश्व-मूर्ति कहलाते है ।। ३२ ।।

ओ ह्री अर्हं जिनेश्वराय नमः ।।३३।। अनेक कर्मों के नाश करने में गणधर देवो को अथवा चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक रहने वाले जीवों को जिन कहते हैं, आप उनके ईश्वर है इसलिये आपको जिनेश्वर कहते है ।।३३।।

ओं ह्री अर्हं विश्वदृश्वे नम. ।।३४।। आप समस्त लोक को देते है इसलिये आप विश्वदृक् कहलाते है ।।३४।।

ओ ह्री अर्हं विश्वभूतेशाय नमः ।।३५।। आप समस्त प्राणियो के ईश्वर है और तीन जगत् की लक्ष्मी के पति हैं इसलिये आप विश्वभूतेश कहे जाते हैं ।।३५।।

ओ ह्री अर्हं विश्वज्योतिषे नमः ।।३६।। आपका केवल दर्शन रूपी तेज सब जगह भरा हुआ है तथा आप समस्त जगत में प्रकाश करने वाले हैं इसलिये विश्वज्योति कहलाते है ।।३६।।

ओ ह्री अर्हं अनीश्वराय नम. ।।३७।। आपका कोई ईश्वर या स्वामी नही है इसलिये आपको अनीश्वर कहते है ।।३७।।

ओ ह्री अर्हं जिनाय नमः ।।३८।। आप ने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम क्रोध आदि राग द्वेष शत्रु जीते है इसलिये आप जिन कहलाते है ।।३८।।

ओ ह्री अर्हं जिष्णवे नमः ।।३९।। आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट रूप तथा प्रकाश रूप है इसलिये जिष्णु कहे जाते हैं ।।३९।।

ओ ह्री अर्हं अमेयात्मने नमः ।।४०।। आपका ज्ञान प्रमाण रहित अनंत है इसलिये आप अमेयात्मा कहलाते है ।।४०।।

ओ ह्री अर्हं विश्वरीशायनमः ।।४१।। आप विश्वरी अर्थात् पृथ्वी के ईश यानी स्वामी है इसलिये विश्वरीश कहलाते हैं ।।४१।।

ओं ह्रीं अर्हं त्रिजगत्पतये नमः ।।४२।। आप तीनो लोको के स्वामी हैं, इसलिये त्रिजगत्पति कहे जाते है ।।४२।।

ओं ह्री अर्हं अनतजिते नमः ।।४३।। आप अनन्त ससार को जीतने वाले है तथा मोक्ष को रोकने वाले अनतनाम के ग्रह को जीतने वाले हैं, इसलिये आप अनत जित् कहे

जाते है ॥४३॥

ओ ह्री अर्ह अचित्यात्मने नम ॥४४॥ आपके आत्मा का स्वरूप मन से भी चित-वर्णन नही किया जा सकता इसलिये आपको अचित्यात्मा कहते है ॥४४॥

ओ ह्री अर्ह भव्य बधवे नमः ॥४५॥ आप भव्य जीवो का सदा उपकार करते है इसलिये आप भव्य बन्धु कहलाते है ॥४५॥

ओ ह्री अर्ह अबधनाय नमः ॥४६॥ आपको कर्म का बन्ध नही है, अथवा घातिया कर्मों के द्वारा आप बध हुए नही है, इसलिये आप अबधन कहे जाते है ॥४६॥

ओ ह्री अर्ह युगादि पुरुषाय नम. ॥४७॥ आप कर्मभूमि के प्रारम्भ में हुये है इस-लिये युगादि पुरुष कहलाते है ॥४७॥

ओ ह्री अर्ह ब्रह्मणे नम ॥४८॥ आपके यहा केवलज्ञान आदि समस्त गुण वृद्धि को प्राप्त होते है इसलिये आप ब्रह्मा कहे जाते है ॥४८॥

ओ ह्री अर्ह पचब्रह्ममयाय नमः ॥४९॥ आप पचपरमेष्ठी स्वरूप है इसलिये आप पचब्रह्ममय कहलाते है ॥४९॥

ओ ह्री अर्ह शिवाय नम ॥५०॥ आप सदा परमानन्द मे रहते है, तथा आप सब का कल्याण करने वाले है इसलिये आपको शिव कहते है ॥५०॥

ओ ह्री अर्ह पराय नम ॥५१॥ आप जीवो को मोक्ष स्थान मे पहुचाते है इसलिये पर कहे जाते है ॥५१॥

ओ ह्री अर्ह परतराय नम ॥५२॥ धर्मोपदेश देने से आप सबके गुरु है एव सबसे श्रेष्ठ है इसलिए परतर कहे जाते है ॥५२॥

ओ ह्री अर्ह सूक्ष्माय नम ॥५३॥ आप इन्द्रियो के द्वारा नही जाने जा सकते। आप केवलज्ञान के द्वारा ही जाने जा सकते है इसलिये आप सूक्ष्म कहलाते है ॥५३॥

ओ ह्री अर्ह परमेष्ठिने नम ॥५४॥ इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य ऐसे मोक्षस्थान में एव अरहत पद मे रहने के कारण आप परमेष्ठी कहलाते है ॥५४॥

ओ ह्री अर्ह सनातनाय नम. ॥५५॥ तीनो कालो मे आप सदा नित्य रहते है इसलिये सनातन कहे जाते है ॥५५॥

ओ ह्री अर्ह स्वय ज्योतिषे नम ॥५६॥ आप स्वय प्रकाश रूप है, इसलिये स्वय ज्योति है ॥५६॥

ओ ह्री अर्ह अजाय नमः ॥५७॥ आप ससार में उत्पन्न नही होते इसलिये आप अज हैं ॥५७॥

ओ ह्री अर्ह अजन्मने नमः ॥५८॥ आप किसी शरीर को धारण नही करते इसलिये

आप अजन्मा हैं ।।५८।।

ओं ह्रीं अर्हं ब्रह्मयोनये नम ।।५९।। आप ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की योनि अर्थात् खान है, इसलिये आप ब्रह्मयोनि कहे जाते है ।।५९।।

ओं ह्री अर्ह अयोनिजायनमः ।।६०।। आप मोक्ष स्थान मे चौरासी लाख योनियो से रहित होकर उत्पन्न होते है, इसलिये आप अयोनिज कहलाते है ।।६०।।

ओं ह्री अर्ह मोहारिविजयिने नम ।।६१।। आप मोहनीय कर्म रूपी शत्रु को जीतने वाले है इसलिये आप मोहरिविजयी कहे जाते है ।।६१।।

ओ ह्री अर्ह जेत्रे नम ।।६२।। आप सबमे उत्कृष्ट रीति से रहते है इसलिये आप जेता कहे जाते है ।।६२।।

ओ ह्री अर्ह धर्मचक्रिणे नम ।।६३।। गमन करते समय सदा आपके आगे धर्मचक्र रहता है इसलिये आपको धर्मचक्री कहते है ।।६३।।

ओ ह्री दयाध्वजाय नम ।।६४।। सब प्राणियो पर दया करने रूपी आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहरा रही है इसलिये आप दयाध्वज कहलाते है ।।६४।।

ओं ह्री अर्ह प्रशातारिणे नम ।।६५।। आपके कर्मरूपी शत्रु शात हो गये है इसलिये आप प्रशातारि कहलाते है ।।६५।।

ओ ह्री अर्ह अनतात्मने नम ।।६६।। आप अनन गुणो को धारण करने वाले है तथा आपकी आत्मा कभी नष्ट नही होती और आप केवलज्ञानी है इसलिये अनंतात्मा कहे जाते है ।।६६।।

ओ ह्री अर्ह योगिने नम ।।६७।। आपने अपने योगो का निरोध किया है इसलिये आप योगी है ।।६७।।

ओ ह्री अर्ह योगीश्वरार्चिताय नम ।।६८।। गणधरादि योगीश्वर भी आपकी पूजा करते है इसलिये आप योगीश्वरार्चित है ।।६८।।

ओ ह्री अर्ह ब्रह्मविदे नम ।।६९।। आप अपने ब्रह्म अर्थात् आत्मा का स्वरूप जानते है इसलिये आप ब्रह्मवित् है ।।६९।।

ओ ह्री अर्ह ब्रह्मतत्वज्ञाय नम ।।७०।। आप ब्रह्म तत्व अर्थात् आत्मतत्व का अथवा केवलज्ञान का या दया का अथवा कामदेव के नष्ट करने का मर्म जानते है इसलिये आप ब्रह्मतत्वज्ञ है ।।७०।।

ओ ह्री अर्ह ब्रह्मोद्याविदेनमः ।।७१।। आप ब्रह्म अर्थात् आत्मा के द्वारा कहे हुए समस्त तत्वों को अथवा आत्मविद्या को जानते हैं, इसलिये आप ब्रह्मोद्यावित् कहलाते है ।।७१।।

ओं ह्री अर्हं यतीश्वराय नम: ।।७२।। रत्नत्रय सिद्ध करने वाले यतियों में भी आप श्रेष्ठ है इसलिये यतीश्वर कहे जाते हैं ।।७२।।

ओं ह्री अर्हं शुद्धाय नम. ।।७३।। क्रोध आदि कषायों से रहित होने से आप शुद्ध हैं ।।७३।।

ओं ह्री अर्हं बुद्धाय नम· ।।७४।। केवलज्ञानी होने से अथवा सबको जानने से आप बुद्ध हैं ।।७४।।

ओ ह्री अर्हं प्रबुद्धात्मने नम: ।।७५।। अपने आत्मा का स्वरूप जानते है इसलिये प्रबुद्धात्मा है ।।७५।।

ओ ह्री अर्हं सिद्धार्थाय नम· ।।७६।। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ आपको सिद्ध हो चुके है तथा मोक्ष प्राप्त करने का ही आपका मुख्य प्रयोजन है एव आपके द्वारा ही जीवादि पदार्थों की सिद्धि होती है तथा मोक्ष का अर्थ अर्थात् कारण रत्नत्रय आपको सिद्ध हो चुका है इसलिये आपको सिद्धार्थ कहते हैं ।।७६।।

ओ ह्री अर्हं सिद्धिशासनाय नम: ।।७७।। आपका शासन अर्थात् मतपूर्ण तथा प्रसिद्ध है, इसलिये आप सिद्ध शासन कहलाते है ।।७७।।

ओ ह्री अर्हं सिद्धाय नम ।।७८।। आपके द्वारा कर्मों के नाश होने से आप सिद्ध कहलाते है ।।७८।।

ओ ह्री अर्हं सिद्धान्तविदे नम· ।।७९।। आप द्वादशाग सिद्धान्त के पारगामी है, इसलिये आप सिद्धान्तविद् कहलाते है ।।७९।।

ओ ह्री अर्हं ध्येयाय नम· ।।८०।। योगी लोग भी आपका ध्यान करते है, इसलिये आप ध्येय है ।।८०।।

ओ ह्री अर्हं सिद्धसाध्याय नम· ।।८१।। आपकी आराधना मुनिजन तथा सिद्ध जाति के देव भी करते है इसलिये आप सिद्ध साध्य कहलाते है ।।८१।।

ओ ह्री अर्हं जगद्धिते नम: ।।८२।। आप सम्पूर्ण जगत के हितकारी हैं, इसलिये आप जगत् हित कहलाते हैं ।।८२।।

ओ ह्री अर्हं सहिष्णवे नम ।।८३।। आप सहनशील होने से सहिष्णु कहलाते है ।।८३।।

ओ ह्री अर्हं अच्युताय नम: ।।८४।। आप आत्मा से स्वरूप से कभी भी च्युत नही होते इसलिये आप अच्युत है ।।८४।।

ओ ह्री अनन्ताय नम: ।।८५।। आपके गुणों का अन्त नही है तथा आपके गुण नाशवान् नही इसलिये आप अनन्त है ।।८५।।

ओं ह्रीं प्रभविष्णुवे नमः ॥८६॥ आप के अन्दर अनन्त शक्ति है इसलिये आप प्रभविष्णु कहलाते हैं ॥८६॥

ओं ह्रीं अर्हं भवोद्भवाय नम ॥८७॥ ससार में जन्म मरण से आप मुक्त हो चुके हैं एव ससार मे आपका जन्म उत्कृष्ट गिना जाता है इसलिये आप भवोद्भव है ॥८७॥

ओं ह्री अर्हं प्रभविष्णवे नम. ॥८८॥ आपकी स्वाभाविक परिणति समय-समय में परिणमनशील है अथवा सौ इन्द्रो के प्रभुत्व को प्राप्त करने का आपका स्वभाव है इसलिये आप प्रभविष्णु कहलाते हैं ॥८८॥

ओ ह्रीं अर्हं अजराय नमः ॥८९॥ आप बुढापे से रहित है अत आप अजर कहलाते है ॥८९॥

ओं ह्री अर्ह अजय्याय नमः ॥९०॥ आपको कोई भी जीत नही सकता इसलिए आप अजय है ॥९०॥

ओं ह्री अर्हं भ्राजिष्णवे नमः ॥९१॥ करोडो सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति से भी आपकी कान्ति अधिक है इसलिए आप भ्राजिष्णु कहलाते है ॥९१॥

ओं ह्री अर्हं धीश्वराय नम. ॥९२॥ आप पूर्ण ज्ञान के स्वामी है इसलिए आप धीश्वर कहलाते हैं ॥९२॥

ओ ह्री अर्हं अव्ययाय नम ॥९३॥ आप सदा अविनाशी हैं। आप कभी नाशक रूप अथवा न्यूनाधिक नही होते इसलिए आप अव्यय कहलाते है ॥९३॥

ओं ह्री अर्हं विभावसवे नम ॥९४॥ कर्मरूपी काष्ठ को जलाने से आप विभावसु अर्थात् अग्नि है। मोहरूपी अन्धकार को नाश करने से आप विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा धर्म रूपी अमृत की वर्षा करने से विभावसु अर्थात् सूर्य है, तथा राग-द्वेष आदि विभाव परिणामो को आपने नाश किया है इसलिए भी आप विभावसु कहलाते हैं ॥९४॥

ओ ह्री अर्हं असभूष्णवे नम. ॥९५॥ ससार मे उत्पन्न होने का आपका स्वभाव नही है इसलिये आप असभूष्णु है ॥९५॥

ओ ह्री अर्हं स्वयम्भूष्णवे नम ॥९६॥ अपने आप ही आप प्रगट अर्थात् प्रकाशमान हुये है इसलिये आप स्वयम्भूष्णु कहलाते है ॥९६॥

ओं ह्री अर्हं पुरातनाय नम. ॥९७॥ आप अनादि सिद्ध है, इसलिए पुरातन हैं ॥९७॥

ओं ह्री अर्हं परमात्मने नमः ॥९८॥ आपका आत्मा परमोत्कृष्ट है इसलिये आप परमात्मा कहलाते हैं ॥९८॥

ओं ह्रीं अर्ह परज्योतिषे नम. ॥९९॥ आप मोक्षमार्ग को प्रगट करने वाले हैं इसलिये आप परज्योति कहलाते है और तीनो लोको मे आपही उत्कृष्ट है ॥९९॥

ओं ह्रीं अर्ह त्रिजगत्परमेश्वराय नम· ॥१००॥ आप तीनो लोको के स्वामी है इसलिए आप त्रिजगत्परमेश्वर कहलाते है ॥१००॥

ओं ह्री अर्ह दिव्यभाषापतये नम ॥१०१॥ आप दिव्य ध्वनि के स्वामी है, इसलिये दिव्य भाषापति है ॥१०१॥

ओ ह्री अर्ह दिव्याय नम ॥१०२॥ आप अत्यन्त मनोहर होने से दिव्य है ॥१०२॥

ओ ह्री अर्ह पूतवाचे नम ॥१०३॥ आपकी वाणी सर्वथा निर्दोष है इसलिये आप पूतवाक् कहलाते है ॥१०३॥

ओ ह्री अर्ह पूतशासनाय नम ॥१०४॥ आपका उपदेश अथवा मत पवित्र होने से आप पूत शासन है ॥१०४॥

ओ ह्री अर्ह पूतात्मने नम ॥१०५॥ आपका आत्मा पवित्र है अथवा आप भव्य जीवो को पवित्र करने वाले है। अत आप पूतात्मा कहलाते है ॥१०५॥

ओ ह्री अर्ह परम ज्योतिषे नम ॥१०६॥ आपका केवलज्ञान रूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है। इसलिए आप परम ज्योति है ॥१०६॥

ओ ह्री अर्ह धर्माध्याय नम ॥१०७॥ आप धर्म के प्रमुख अधिकारी है इसलिए धर्माध्यक्ष है ॥१०७॥

ओ ह्री अर्ह दमीश्वराय नम ॥१०८॥ आप इन्द्रियों को निग्रह करने मे श्रेष्ठ है इसलिए दमीश्वर कहलाते है ॥१०८॥

ओ ह्री अर्ह श्रीपतये नम ॥१०९॥ आप मोक्षादि लक्ष्मी के भोक्ता है वा स्वामी है अतएव आप श्रीपति है ॥१०९॥

ओ ह्री अर्ह अर्हते नम ॥११०॥ आप महाज्ञानी होने से भगवान है ॥११०॥

ओ ह्री अर्ह अर्हते नम ॥१११॥ आप परम पूज्य होने से तथा सभी के द्वारा आराधना करने के योग्य होने से अर्हन्त है ॥१११॥

ओ ह्री अर्ह अरजायनम ॥११२॥ आप कर्म रूपी रज से रहित होने से अरजा हैं ॥११२॥

ओं ह्री अर्ह विरजाय नम ॥११३॥ आप के द्वारा भव्य जीवों के कर्ममल दूर होते है तथा आप ज्ञानावरण दर्शनावरण से रहित है अतएव विरजा है ॥११३॥

ओं ह्रीं अर्हं शुचये नमः ॥११४॥ आप परम पवित्र हैं कि वा पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालन करने वाले हैं अथवा मलमूत्र रहित हैं एवं मोहरहित हैं अत: आप शुचि हैं ॥११४॥

ओं ह्री अर्हं तीर्थकृते नमः ॥११५॥ आप धर्मरूपी तीर्थ के कर्ता हैं तथा ससार से पार करने वाले द्वादशांग रूपी तीर्थ कर्त्ता हैं इसलिए आप तीर्थंकृत हैं ॥११५॥

ओं ह्री अर्हं केवलिने नमः ॥११६॥ आप केवलज्ञान से युक्त होने से केवली हैं ॥११६॥

ओं ह्री अर्हं ईशानाय नमः ॥११७॥ आप अनन्त शक्तिमान् हैं तथा सबके ईश्वर हैं इसलिए आप ईशान है ॥११७॥

ओं ह्रीं अर्हं पूजार्हाय नम. ॥११८॥ आप आठ प्रकार की पूजा के लिए योग्य होने से पूजार्ह है ॥११८॥

ओ ह्री अर्हं स्नातकाय नमः ॥११९॥ आपने अपने घातिया कर्मों का नाश कर दिया है तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है इसलिये आप स्नातक है ॥११९॥

ओ ह्री अर्हं अमलाय नमः ॥१२०॥ आप धातु उपधातु आदि मल रहित होने से अमल है ॥१२०॥

ओ ह्री अर्हं अनन्तदीप्तये नम. ॥१२१॥ आपकी केवलज्ञान दीप्ति अथवा आपके शरीर की कान्ति अनन्त है अतः आप अनन्तदीप्ति कहलाते है ॥१२१॥

ओ ह्री अर्हं ज्ञानात्मने नम· ॥१२२॥ आप ज्ञानरूप होने से ज्ञानात्म कहलाते है ॥१२२॥

ओ ह्री अर्हं स्वम्बुद्धये नमः ॥१२३॥ अपने आप ही मोक्ष मार्ग में आप प्रवृत हुये है अथवा बिना गुरु के स्वय महाज्ञानी हुए हैं इसलिए आप स्वम्बुद्ध कहलाते हैं ॥१२३॥

ओं ह्री अर्हं प्रजापतये नम. ॥१२४॥ आप तीनों लोको के स्वामी होने से अथवा सभी को उपदेश देने से प्रजापति हैं ॥१२४॥

ओं ह्री अर्हं मुक्तये नम ॥१२५॥ आप संसार और कर्मों से रहित होने से मुक्त है ॥१२५॥

ओ ह्री अर्हं शक्तये नम. ॥१२६॥ आप में सामर्थ्य होने से अथवा अनन्त शक्ति होने से आप शक्त हैं ॥१२६॥

ओं ह्रीं अर्हं निराबाधाय नम. ॥१२७॥ आप बाधा अथवा दुख से रहित होने से निराबाध हैं ॥१२७॥

ओ ह्रीं अर्हं निष्कलाय नमः ॥१२८॥ आप शरीर रहित होने से निष्कल हैं ॥१२८॥

ओं ह्रीं अर्हं भुवनेश्वराय नमः ॥१२९॥ आप तीनों लोकों के स्वामी होने से भुवनेश्वर हैं ॥१२९॥

ओं ह्री अर्हं निरंजनाय नमः ॥१३०॥ आप कर्मरूपी अंजन से रहित होने से निरंजन कहलाते हैं ॥१३०॥

ओं ह्री अर्हं जगज्ज्योतये नम ॥१३१॥ जगत् को प्रकाशित करने से अथवा मोक्ष मार्ग का स्वरूप दिखलाने से आप जगज्योति हैं ॥१३१॥

ओं ह्रीं अर्हं निरुक्तोक्तये नमः ॥१३२॥ आपके वचन पूर्वापर अविरुद्ध होने से प्रमाण है इसलिये आपको निरुक्तोक्ति कहते है ॥१३२॥

ओं ह्री अर्हं निरामयाय नमः ॥१३३॥ आप रोग रहित अथवा खेद रहित होने से निनामय है ॥१३३॥

ओ ह्री अर्हं अचलस्थिताय नम ॥१३४॥ अनन्तकाल बीतने पर भी आपकी स्थिति अचल रहती है इसलिये आप अचल स्थिति कहलाते है ॥१३४॥

ओ ह्री अर्हं अक्षोम्याय नमः ॥१३५॥ आप व्याकुलता रहित है अथवा आपकी शाति कभी भंग नही होती इसलिये आप अक्षोम्य कहलाते है ॥१३५॥

ओ ह्री अर्हं कूटस्थाय नम. ॥१३६॥ आप सदा नित्य रहने से अथवा लोक शिखर पर विराजमान होने से कूटस्थ कहलाते है ॥१३६॥

ओ ह्री अर्हं स्थाणुवे नम ॥१३७॥ आप गमनागमन से रहित होने से स्थाणु हैं ॥१३७॥

ओं ह्री अर्हं अक्षयाय नम ॥१३८॥ आप क्षय रहित होने अक्षय है ॥१३८॥

ओ ह्री अर्हं ग्रामिण्ये नमः ॥१४०॥ आप मोक्षपद को प्राप्त होने से ग्रामणी कहलाते हैं ॥१४०॥

ओ ह्री अर्हं नेत्राय नम ॥१४१॥ आप समस्त प्रजा को धर्मानुसार चलाते है इसलिये आप नेता हैं ॥१४१॥

ओ ह्री अर्हं प्रणेताय नम. ॥१४२॥ आप शास्त्र से उत्पन्न करने वाले अथवा धर्म अथवा धर्म व मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले है इसलिये आप प्रणेता कहलाते है ॥१४२॥

ओ ह्री अर्हं न्यायशास्त्रकृते नमः ॥१४३॥ आप प्रमाण और नयो के स्वरूप को दिखाने वाले शास्त्रो के कहने वाले हैं अत आप न्यायशास्त्रकृत कहलाते हैं ॥१४३॥

ओ ह्री अर्हं शास्ताय नमः ॥१४४॥ आप सभी को हितरूप उपदेश देने से शास्ता हैं ॥१४४॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मपतये नमः ॥१४५॥ रत्नत्रय धर्म अथवा उत्तम क्षमादि धर्मों के स्वामी होने से आप धर्मपति हैं ॥१४५॥

ओं ह्री अर्हं धर्माय नमः ॥१४६॥ आप धर्मरूप होने से धर्म हैं ॥१४६॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मात्माय नमः ॥१४७॥ आप धर्मात्माओं की वृद्धि करने से धर्मात्मा हैं ॥१४७॥

ओं ह्री अर्हं धर्मतीर्थकृते नमः ॥१४८॥ आप धर्मरूपी तीर्थ की प्रवृत्ति करने से धर्मतीर्थकृत कहलाते हैं ॥१४८॥

ओं ह्री अर्हं वृषध्वजाय नमः ॥१४९॥ आपकी ध्वजा पर बैल का चिन्ह होने से अथवा वृषभ अर्थात् धर्म की ध्वजा फहराने वाले आप वृषध्वज कहलाते हैं ॥१४९॥

ओं ह्री अर्हं वृषाधीशाय नमः ॥१५०॥ आप अहिंसा रूपी धर्म के स्वामी होने से वृषाधीश कहलाते हैं ॥१५०॥

ओं ह्री अर्हं वृषकेतवे नमः ॥१५१॥ आप धर्म को प्रसिद्ध करने से वृषकेतु हैं ॥१५१॥

ओं ह्री अर्हं वृषायुधाय नम ॥१५१॥ आपने कर्मरूपी शत्रु को नाश करने के लिये धर्म रूपी शस्त्र को धारण कर रक्खा है इसलिये वृषायुध कहलाते हैं ॥१५२॥

ओं ह्री अर्हं वृषाय नम· ॥१५३॥ आप धर्म की वृष्टि करने से वृष है ॥१५३॥

ओं ह्री अर्हं वृषपतये नमः ॥१५४॥ आप धर्म के नायक होने से वृषपति है ॥१५४॥

ओं ह्री अर्हं भर्त्रे नमः ॥१५५॥ आप सबके स्वामी होने से भर्ता हैं ॥१५५।

ओं ह्री अर्हं वृषभांकाय नमः ॥१५६॥ आप वृषभ का चिह्न होने से वृषभांक हैं ॥१५६॥

ओं ह्री अर्हं वृषोद्भवाय नमः ॥१५७॥ माता को स्वप्न में वृषभ दिखाई देकर आप उत्पन्न हुये है अथवा महान् पुण्य से उत्पन्न हुये हैं इसलिये आप वृषभोद्भव कहलाते हैं ॥१५७॥

ओं ह्री अर्हं हिरण्यनाभये नमः ॥१५८॥ आप सुन्दर नाभि वाले होने से अथवा नाभिराजा की सतति होने से हिरण्यनाभि हैं ॥१५८॥

ओं ह्री अर्हं भूतात्मने नम. ॥१५९॥ आपका स्वरूप यथार्थ है, कभी नाश नही होता इसलिये आप भूतात्मा है ॥१५९॥

ओं ह्रीं अर्हं भूतमृते नमः ॥१६०॥ आप जीवों की रक्षा करने से अथवा कल्याण करने से भूतमृत कहलाते हैं ॥१६०॥

ओं ह्री अर्हं भूतभावनाय नमः ॥१६१॥ आपकी भावना सदा मगल रूप है इसलिये आप भूतभावन कहलाते हैं ॥१६१॥

ओं ह्री अर्हं प्रभवे नम. ॥१६२॥ आपका जन्म प्रशंसनीय है अथवा आपसे आपके वंश की वृद्धि हुई है इसलिये प्रभव कहे जाते हैं ॥१६२॥

ओं ह्री अर्हं विभवे नम. ॥१६३॥ संसार रहित होने से आप विभव है ॥१६३॥

ओं ह्रीं अर्हं भास्वने नमः ॥१६४॥ केवलज्ञान रूपी काति से प्रकाशमान होने से आप भास्वन् हैं ॥१६४॥

ओं ह्री अर्हं भवाय नमः ॥१६५॥ आप मे समय-समय में उत्पाद होता रहता है, इसलिये आप भव हैं ॥१६५॥

ओ ह्री अर्हं भावाय नमः ॥१६६॥ आप अपने स्वभाव में सदा लीन है इसलिये आप भावक हैं ॥१६७॥

ओं ह्री अर्हं हिरण्यगर्भाय नम. ॥१६८॥ आपके गर्भावतार के समय सुवर्ण की वृष्टि हुई थी इसलिये आपको हिरण्यगर्भ कहते है ॥१६८॥

ओ ह्री अर्हं श्रीगर्भाय नम ॥१६९॥ आपके गर्भावतार के समय लक्ष्मी ने भी सेवा की थी अथवा आपके अग-अग में स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान है, इसलिये आप को श्रीगर्भ कहते है ॥१६९॥

ओं ह्री अर्हं प्रभूतविभवे नम ॥१७०॥ अनन्त विभूति के स्वामी होने से आपको प्रभूत विभव कहते है ॥१७०॥

ओं ह्री अर्हं अभवाय नमः ॥१७१॥ आप जन्म रहित होने से अभव कहे जाते हैं ॥१७१॥

ओ ह्री अर्हं स्वयप्रभुवे नम ॥१७२॥ आप अपने आप ही समर्थ होने से स्वयंप्रभु कहलाते है ॥१७२॥

ओ ह्री अर्हं प्रभूतात्मने नम ॥१७३॥ केवलज्ञान के द्वारा आपका आत्मा व्याप्त होने से आप प्रभूतात्मा कहलाते है ॥१७३॥

ओं ह्री अर्हं जगत्प्रभवे नम ॥१७४॥ तीनों लोकों के स्वामी होने से आप जगतप्रभु कहलाते हैं ॥१७४॥

ओं ह्री अर्हं भूतनाथाय नम ॥१७५॥ समस्त जीवो के स्वामी होने से आप भूतनाथ हैं ॥१८५॥

ओं ह्रीं अर्हं सर्वादये नमः ॥१७६॥ सबसे प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ होने से आप सर्वादि हैं ॥१७६.।

ओं ह्रीं अर्हं सर्वदृशे नमः ॥१७७॥ आप समस्त लोकालोक को देख सकते है इसलिये सर्वदृक् हैं ॥१७७॥

ओ ह्रीं अर्हं सर्वाय नमः ॥१७८॥ आप हितोपदेश कर सभी का कल्याण करने से सर्व है ॥१७८॥

ओ ह्री अर्हं सर्वज्ञाय नमः ॥१८०॥ आप पूर्ण सम्यक्त्व को धारण करने से सर्वज्ञान हैं ॥१७०॥

ओं ह्री अर्हं सर्वात्मने नमः ॥१८१॥ आप सबके प्रिय होने से सर्वात्मा है ॥१८१॥

ओ ह्री अर्हं सर्वलोकेशाय नम. ॥१८२॥ आप तीनो लोको के समस्त जीवो के स्वामी होने से सर्वलोकेश है ॥१८२॥

ओ ह्री अर्हं सर्वविदे नम॰ ॥१८३॥ आप समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वविद् हैं ॥१८३॥

ओ ह्री अर्हं सर्वलोकजिते नम. ॥१८४॥ आप अनन्तवीर्य होने के कारण समस्त लोक को जीतने वाले है इसलिए सर्वलोकजित कहलाते हैं ॥१८४॥

ओ ह्री अर्हं सुगतये नम ॥१८५॥ आपकी पचम मोक्षगति अतिशय सुन्दर होने से अथवा आपका ज्ञान प्रशसनीय होने से आप सुगति कहलाते हैं ॥१८५॥

ओ ह्री अर्हं सुश्रुतायनमः ॥१८६॥॥ आप अत्यन्त प्रसिद्ध होने से अथवा उत्तम शास्त्रज्ञान को धारण करने से आप सुश्रुत है ॥१८६॥

ओ ह्री अर्हं सुश्रुते नम. ॥१८७॥ आप भक्तो की प्रार्थना को अच्छी तरह से सुनते है इसलिये सुश्रुत कहलाते है ॥१८७॥

ओ ह्री अर्हं सुवाचे नम ॥१८८॥ आपकी वाणी सप्तभग स्वरूप होने अथवा हितोपदेश देने से आप सुवाक् कहलाते है ॥१८८॥

ओ ह्री अर्हं सूर्ये नम. ॥१८९॥ आप सबके गुरु होने से सूरि है ॥१८९॥

ओ ह्री अर्हं बहुश्रुताय नमः ॥१९०॥ आप शास्त्रों के पारगामी होने से बहुश्रुत कहलाते है ॥१९०॥

ओ ह्री अर्हं विश्रुताय नम. ॥१९१॥ आप जगत् प्रसिद्ध होने से अथवा शास्त्रो से भी आपका यथार्थ स्वरूप जाना नही जाता इसलिये आप विश्रुत है ॥१९१॥

ओ ह्री अर्हं विश्वतः पादाय नमः ॥१९२॥ आपकी केवलज्ञान रूपी किरणे सब ओर फैली हुई है इसलिये आपको विश्वत. पाद कहते है ॥१९२॥

ओं ह्रीं अर्हं विश्वशीर्षाय नमः ।।१९३।। लोक के शिखर पर विराजमान होने से आप विश्वशीर्ष है ।।१९३।।

ओ ह्री अर्हं शुचिस्रवाय नमः ।।१९४।। आपका ज्ञान अत्यन्त निर्दोष है इसलिये आपको शुचिस्रवा कहते हैं ।।१९४।।

ओ ह्री अर्हं सहस्रशीर्षाय नम ।।१९५।। अनन्त सुखी होने से आप सहस्रशीर्ष हैं ।।१९५।।

ओ ह्री अर्हं क्षेत्रज्ञायनम. ।।१९६।। आप आत्मा के स्वरूप को जानने से अथवा लोकालोक को जानने से आप क्षेत्रज्ञ है ।।१९६।।

ओ ह्री अर्हं सहस्राक्षाय नमः ।।१९७।। आप अनन्तदर्शी होने से सहस्राक्ष हैं ।।१९७।।

ओ ह्री अर्हं सहस्रपदे नम· ।।१९८।। अनन्त वीर्य को धारण करने से आप सहस्रपाद् हैं ।।९८।।

ओ ह्री अर्हं भूतभव्यभवद्पत्रे नम. ।।१९९।। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनो कालो के स्वामी होने से आप भूतभव्यभवद्पर्त्रा है ।।१९९।।

ओ ह्री अर्हं विश्वविद्यामहेश्वराय नमः ।।२००।। आप समस्त विद्याओं के तथा केवलज्ञान के स्वामी होने से विश्वविद्यामहेश्वर कहे जाते है ।।२००।।

ओ ह्री अर्हं स्थविष्ठाय नम. ।।२०१।। सद्गुणो के पूर्ण होने से अथवा आपके प्रदेशो मे समस्त जीवो के अवकाश देने की शक्ति होने से आपको स्थविष्ठ कहते है ।।२०१।।

ओं ह्री अर्हं स्थविराय नम. ।।२०२।। आप आदि, अन्त रहित होने से अत्यन्त वृद्ध हैं अथवा ज्ञान से वृद्ध है इसलिए स्थविर कहलाते है ।।२०२।।

ओं ह्री अर्हं ज्येष्ठाय नम. ।।२०३।। मुख्य होने से आप ज्येष्ठ है ।।२०३।।

ओं ह्री अर्हं पृष्ठाय नम· ।।२०४।। सबके अग्रगण्य होने से आप पृष्ठ हैं ।।२०४।।

ओं ह्री अर्हं प्रेष्ठाय नम ।।२०५।। अत्यन्त प्रिय होने से आप प्रेष्ठ है ।।२०५।।

ओं ह्री अर्हं वरिष्ठधिये नम ।।२०६।। अतिशय बुद्धि को धारण करने वाले होने से आप वरिष्ठधी कहलाते हैं ।।२०६।।

ओ ह्री अर्हं स्थेष्ठाय नमः ।।२०७।। आप अत्यन्त स्थिर अर्थात् अविनाशी होने से स्थ्ष्ठ कहलाते है ।।२०७।।

ओ ह्री अर्हं गरिष्ठाय नमः ।।२०८।। अत्यन्त गुरु होने आप गरिष्ठ हैं ।।२०८।।

ओ ह्री अर्हं वहिष्ठाय नमः ।।२०९।। अनन्त गुणो के धारक होने तथा अनेक स्वरूप हो जाने से आप वहिष्ठ हैं ।।२०९।।

ओं ह्रीं अर्हं श्रेष्ठाय नमः ॥२१०॥ प्रशंसनीय होने से आप श्रेष्ठ हैं ॥२१०॥

ओं ह्रीं अर्हं अनिष्ठाय नमः ॥२११॥ अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञान गोचर होने से आप अनिष्ठ कहलाते हैं ॥२११॥

ओं ह्री अर्हं गरिष्ठगिरे नमः ॥२१२॥ आपकी वाणी पूज्य होने से आप गरिष्ठगी कहलाते हैं ॥२१३॥

ओ ह्री अर्हं विश्वश्रषे नमः ॥२१४॥ विधि विधान के कर्ता होने से आप विश्व-सृट् हैं ॥२१४॥

ओं ह्री अर्हं विश्वाय नमः ॥२१५॥ तीन लोक के स्वामी होने से आप विश्वेट् कहलाते है ॥२१५॥

ओं ह्री अर्हं विश्वभुके नमः ॥२१६॥ जगत् की रक्षा करने वाले होने से आप विश्वभुक् है ॥२१६॥

ओं ह्री अर्हं विश्वनायकाय नम. ॥२१७॥ सबके स्वामी होने से आप विश्वनायक है ॥२१७॥

ओ ह्री अर्हं विश्वासिने नमः ॥२१८॥ समस्त प्राणियो के विश्वास योग्य होने से अथवा केवलज्ञान के कारण सब जगह निवास करने से आप विश्वासी कहलाते है ॥२१८॥

ओं ह्री अर्हं विश्वरूपात्मने नम ॥२१९॥ आपका आत्मा अनन्त स्वरूप है, इस-लिए आप विश्वरूपात्मक कहलाते है ॥२१९॥

ओं ह्री अर्हं विश्वजिते नम ॥२२०॥ संसार को जीतने से आप विश्वजित कह-लाते है ॥२२०॥

ओ ह्री अर्हं विजितान्तकाय नम ॥२२१॥ काल को जीतने के कारण आप विजि-तान्तक कहलाते है ॥२२१॥

ओ ह्री अर्हं विभवाय नम ॥२२२॥ आपको किसी प्रकार का मनो विकार नही है इसलिए आप विभव कहलाते हैं ॥२२२॥

ओं ह्री अर्हं विभयाय नम ॥२२३॥ भय रहित होने से आप विभय कहलाते हैं ॥२२३॥

अ। ह्री अर्हं वीराय नम. ॥२२४॥ लक्ष्मी के स्वामी होने से तथा अतिशय बल-वान् होने से आपको वीर कहते हैं ॥२२४॥

ओं ह्री अर्हं विशोकाय नमः ॥२२५॥ शोक रहित होने से [आप विशोक कहलाते हैं ॥२२५॥

ओंह्रीं अर्हं विजराय नमः ॥२२६॥ जरा रहित होने से आप विजर है ॥२२६॥

ओं ह्रीं अर्हं जरणाय नमः ।।२२७।। नवीन न होने से अर्थात् अनादि कालीन होने से आप जरन वा वृद्ध है ।।२२७।।

ओं ह्री अर्हं विरागाय नमः ।।२२८।। राग रहित होने से आप विराग है ।।२२६।।

ओ ह्री अर्हं विरताय नमः ।।२२६।। समस्त विषयो से विरक्त होने से आपको विरत कहते हैं ।।२२६।।

ओ ह्री अर्हं असगाय नम. ।।२३०।। पर वस्तु का सम्बन्ध न रखने से आप असग है ।।२३०।।

ओं ह्री अर्हं विविक्ताय नम. ।।२३१।। आप एकाकी अथवा पवित्र होने से विक्क्ति हैं ।।२३१।।

ओ ह्री अर्हं वीतमत्सराय नम ।।२३२।। ईर्षा द्वेष न करने से आप वीतमत्सर कहलाते हैं ।।२३२।।

ओ ह्री अर्हं विनेयजनतावधवे नमः ।।२३३।। आप अपने भक्तजनों के बंधु है इस लिए आप विनेयजनता बधु कहलाते है ।।

ओं ह्री अर्हं विलीनाशेषकल्मषाय नम· ।।२३४।। कर्मरूपी समस्त कालिमा रहित होने से आप विलीनाशेषकल्मष हैं ।।२३४।।

ओं ह्री अर्हं वियोगाय नम ।।२३५।। अन्य किसी वस्तु के साथ सम्बन्ध न होने से अथवा रोग रहित होने से आप वियोग है ।।२३५।।

ओ ह्री अर्हं योगविदे नम ।।२३६।। योग के जानकार होने से आप योगवित् हैं ।।२३६।।

ओ ह्री अर्हं विद्वानाय नम ।।२३७।। महापडित अर्थात् पूर्ण ज्ञानी होने से आप विद्वान हैं ।।२३७।।

ओ ह्री अर्हं विधाताय नम ।।२३८।। धर्मरूप सृष्टि के कर्त्ता होने से अथवा सबके गुरु होने से आप विधाता हैं ।।२३८।।

ओं ह्री अर्हं सुविधये नम ।।२३९।। आपके अनुष्ठान एव क्रिया अत्यन्त प्रशंसनीय होने से आप सुविधि है ।।२३९।।

ओ ही अर्हं सुध्ये नम ।।२४०।। अतिशय बुद्धिमान होने से आप सुधी हैं ।।२४०।।

ओं ह्री अर्हं क्षातिभाजे नम· ।।२४१।। आप उत्तम शाति के धारण से क्षातिभाक् है ।।२४१।।

ओं ह्री अर्हं पृथ्वी मूर्तये नमः ।।२४२।। आप मे पृथ्वी के समान सबको सहन करने की शक्ति होने से पृथ्वी मूर्ति है ।।२४२।।

ओं ह्रीं अर्हं शांतिभाजे नमः ।।२४३।। आप शान्ति को धारण करने से शांतिभाक कहलाते हैं ।।२४३।।

ओ ह्री अर्ह सलिलात्मकाय नम. ।।२४४।। जल के समान अत्यन्त निर्मल होने से तथा अन्य जीवो को कर्ममल रहित शुद्ध करने से आप सलिलात्मक हैं ।।२४४।।

ओं ह्री अर्ह वायमूर्तये नमः ।।२४५।। आप वायु के समान पर के सम्बन्ध मे रहित होने के कारण वायुमूर्ति है ।।२४५।।

ओ ह्री अर्ह असंगात्मने नमः ।।२४६।। परिग्रह रहित होने से आप असगात्मा हैं ।।२४६।।

ओ ह्री अर्ह वन्हिमूर्तये नमः ।।२४७।। अग्नि के समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से अथवा कर्मरूपी ई धन को जला देने से आप वन्हिमूर्ति है ।।२४७।।

ओ ह्री अर्ह अधर्मधृजे नम. ।।२४८।। अधर्म का नाश करने से आप अधर्मधृक् कहलाते है ।।२४८।।

ओ ह्री अर्ह सुयज्वने नमः ।।२४९।। कर्मरूपी सामग्री का हवन करने से आप सुयज्वा है ।।२४९।।

ओ ह्री अर्ह यजमानात्मने नमः ।।२५०।। स्वभाव भाव की आराधना करने से अथवा भाव पूजा के कर्त्ता होने से आप यजमानात्मा है ।।२५०।।

ओ ह्री अर्ह सुत्वाय नमः ।।२५१।। परमानन्दसागर में अभिषेक करने से आप सुत्वा कहलाते है ।।२५१।।

ओ ह्री अर्ह सुत्रामपूजिताय नम. ।।२५२।। इन्द्र के द्वारा पूज्य होने से आप सुत्राम पूजित हैं ।।२५२।।

ओ ह्री अर्ह ऋत्विजे नमः ।।२५३।। ध्यान रूपी अग्नि में शुभाशुभ कर्मों को भस्म करने में अथवा ज्ञानरूप यज्ञ करने से आप आचार्य कहलाते है। इसलिए आपको ऋत्विक् कहते है ।।२५३।।

ओ ह्री अर्ह यज्ञपतये नम. ।।२५४।। यज्ञ के मुख्य अधिकारी होने से आप यज्ञ-पति है ।।२५४।।

ओं ह्री अर्हं यज्याय नमः ।।२५५।। सर्व पूज्य होने से आप यज्य है ।।२५५।।

ओ ह्री अर्ह यज्ञागाय नमः ।।२५६।। यज्ञ के साधन अर्थात् मुख्य कारण होने से आप यज्ञाग है ।।२५६।।

ओं ह्रीं अर्हं अमृताय नमः ।।२५७।। मरण रहित होने से अथवा ससार तृष्णा को निवारण करने से आप अमृत हैं ।।२५७।।

ओं ह्रीं अर्हं हृषिषे नमः ॥२५८॥ अपने आत्मा में तल्लीन रहने से आप हृषिष कह-लाते हैं ॥२५८॥

ओं ह्री अर्हं व्योममूर्तये नमः ॥२५६॥ आप आकाश के समान निर्मल अथवा केवलज्ञान के द्वारा सर्वव्यापी होने से व्योममूर्ति है ॥२५६॥

ओ ह्री अर्हं अमूर्तात्मने नमः ॥२६०॥ रूप, रस, गध, स्पर्श, रहित होने से आप अमूर्तात्मा है ॥२६०॥

ओं ह्री अर्हं निर्लेपाय नमः ॥२६१॥ कर्मरूपी लेप से रहित होने से आप निर्लेप है ॥२६१॥

ओ ह्री अर्हं निर्मलाय नम. ॥२६२॥ रागादि रहित होने से अथवा मलमूत्रादि से रहित होने से आप निर्मल है ॥२६२॥

ओ ह्री अर्हं अचलाय नमः ॥२६३॥ आप सर्वदा स्थिर रहने से अचल हैं ॥२६३॥

ओ ह्री अर्हं सोममूर्तये नम ॥२६४॥ चन्द्रमा के समान प्रकाशमान और शात होने से अथवा अत्यन्त सुशोभित होने से आप सोममूर्ति है ॥२६४॥

ओ ह्री अर्हं सुसौम्यात्मने नमः ॥२६५॥ आप अतिशय सौम्य होने से सुसौम्यात्मा हैं ॥२६५॥

ओ ह्री अर्हं सूर्य मूर्नये नम· ॥२६६॥ आप सूर्य के समान अतिशय कातियुक्त होने से सूर्यमूर्ति है ॥२६६॥

ओ ह्री अर्हं महाप्रभाय नम ॥२६७॥ आप अतिशय प्रभावशाली होने से अथवा केवल ज्ञान रूपी तेज से सुशोभित होने से महाप्रभ है ॥२६७॥

ओ ह्री अर्हं मत्रविदे नम ॥२६८॥ आप मत्र के जानने वाले होने से मत्रविद् है ॥२६८॥

ओ ह्री अर्हं मत्रकृते नमः ॥ २६६॥ प्रथमानुयोग आदि चारो अनुयोग रूप मन्त्रो के अथवा जप करने योग्य मन्त्रो के कर्त्ता होने से आप मन्त्रकृत् है ॥२६६॥

ओं ह्री अर्हं मत्रिणे नम· ॥२७०॥ आत्मा का विचार करने से अथवा लोक की रक्षा करने अथवा मुख्य होने से आप मन्त्री है ॥२७०॥

ओं ह्री अर्हं मंत्रमूर्तये नम· ॥२७१॥ मत्रस्वरूप होने से आप मन्त्रमूर्ति है ॥२७१॥

ओ ह्रीं अर्हं अनन्तगाय नमः ॥२७२॥ अनन्त ज्ञानी होने से आप अनंतगा हैं ॥२७२॥

ओं ह्री अर्हं स्वतत्राय नमः ॥२७३॥ स्वाधीन होने से अथवा आत्मा ही आपका सिद्धान्त होने ने आप स्वतन्त्र हैं ॥२७३॥

ओं ह्रीं अर्हं तंत्रकृते नमः ॥२७४॥ आगम के मुख्य कर्ता होने से आप तन्त्रकृत हैं ॥२७४॥

ओं ह्रीं अर्हं स्वांताय नमः ॥२७५॥ शुद्ध अंतःकरण होने से आप स्वांत हैं ॥२७५॥

ओं ह्रीं अर्हं कृतांताय नमः ॥२७६॥ यम अर्थात् मरण को नाश करने से आप कृतांत कहलाते हैं ॥२७६॥

ओं ह्रीं अर्हंकृतांतकृते नमः ॥२७७॥ यम अर्थात् मरण को नाश करने से और पुण्य की वृद्धि के कारण होने से आप कृतांतकृत है ॥२७७॥

ओं ह्रीं अर्हं कृतये नमः ॥२७८॥ प्रवीण अथवा अतिशय पुण्यवान् तथा हरिहरादि द्वारा पूज्य होने से आप कृती है ॥२७८॥

ओं ह्रीं अर्हं कृतार्थाय नमः ॥१७९॥ मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने से आप कृतार्थ है ॥२७९॥

ओं ह्रीं अर्हं सत्कृत्याय नमः ॥२८०॥ आपका कृत्य अतिशय प्रशंसनीय होने से आप सत्कृत्य है ॥२८०॥

ओं ह्रीं अर्हं कृतकृत्याय नमः ॥२८१॥ करने योग्य समस्त कार्य करने से अथवा समस्त कार्य सफल होने से आप कृतकृत्य है ॥२८१॥

ओं ह्रीं अर्हं कृतकृत्वे नमः ॥२८२॥ ध्यान रूपी अग्नि मे कर्म, नो कर्म आदि को भस्म करने से अथवा ज्ञानरूपी यज्ञ करने से अथवा तपश्चर्या रूपी यज्ञ समाप्त होने से आप कृतकृत्य है ॥२८२॥

ओं ह्रीं अर्हं नित्याय नमः ॥२८३॥ अविनाशी होने से अर्थात् सदा वर्तमान रहने से आप नित्य है ॥२८३॥

ओं ह्रीं मृत्युंजयाय नमः ॥२८४॥ मृत्यु को जीतने से आप मृत्युंजय है ॥२८४॥

ओं ह्रीं अर्हं अमृत्यवे नमः ॥२८५॥ आपका आत्मा कभी मृत्यु को प्राप्त नही होता इसलिये आप अमृत्यु हैं ॥२८५॥

ओं ह्रीं अर्हं अमृतात्मने नमः ॥२८६॥ मरण रहित होने से अथवा अमृतस्वरूप शांतिदायक होने से आप अमृतात्मा है ॥२८६॥

ओं ह्रीं अर्हं अमृतोद्भवाय नमः ॥२८७॥ जन्म मरण से रहित होने के कारण अथवा अविनश्वर अवस्था को प्राप्त होने से अथवा भव्य जीवो के लिये मोक्ष प्राप्ति का कारण होने से आप अमृतोद्भव है ॥२८७॥

ओं ह्रीं अर्हं ब्रह्मनिष्ठाय नमः ॥२८८॥ शुद्ध आत्मा में तल्लीन रहने से आप ब्रह्मनिष्ठ कहलाते हैं ॥२८८॥

ओं ह्रीं अर्हं परब्रह्मणे नमः ॥२८९॥ सबसे उत्कृष्ट अथवा केवलज्ञान को धारण

करने से आप परब्रह्म हैं ।।२८९।।

ओं ह्रीं अर्हं ब्रह्मात्मने नम. ।।२९०।। ज्ञान स्वरूप होने से आप ब्रह्मात्मा है ।।२९०।।

ओं ह्री अर्हं ब्रह्मसभवनाय नम· ।।२९१।। आप से ज्ञान की उत्पत्ति होती है अथवा शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है इसलिये आप ब्रह्मसभव हैं ।।२९१।।

ओ ह्री अर्हं महाब्रह्मपतये नम· ।।२९२।। गणधरादि बडे ज्ञानियो के स्वामी होने से आप महाब्रह्मपति है ।।२९२।।

ओ ह्री अर्हं ब्रह्मेशे नम ।।२९३।। केवलीभी आपकी स्तुति करते है अथवा केवल-ज्ञान के स्वामी है इसलिये ब्रह्मेश है ।।२९३।।

ओ ह्री अर्हं महाब्रह्मपदेश्वराय नम. ।।२९४।। आप मोक्ष के स्वामी अथवा समव-शरण के स्वामी होने से महाब्रह्मपदेश्वर है ।।२९४।।

ओ ह्री अर्हं सुप्रसन्नाय नम ।।२९५।। आप भक्तो को स्वर्गमोक्ष देने से अथवा सदा आनन्दस्वरूप होने से सुप्रसन्न है ।।२९५।।

ओ ह्री अर्हं प्रसन्नात्माय नम. ।।२९६।। आप मल रहित होने से प्रसन्नात्मा हैं ।।२९६।।

ओ ह्री अर्हं ज्ञानधर्मदमप्रभवे नम ।।२९७।। आप केवलज्ञान दया धर्म और इन्द्रिय निग्रहरूप तपश्चरण के स्वामी होने से ज्ञान धर्मदमप्रभु कहलाते है ।।२९७।।

ओ ह्री अर्हं प्रशमात्मने नम· ।।२९८।। क्रोधादि रहित होने से आप प्रशंसात्मा हैं ।।२९८।।

ओ ह्री अर्हं प्रशातात्मने नम ।।२९९।। आप परम शातरूप होने से प्रशातात्मा है ।।२९९।।

ओ ह्री अर्हं पुराण पुरुषोत्तमाय नमः ।।३००।। अनादि काल से मोक्षस्थान में निवास करने से अथवा अनादि काल से सदा होने वाले तिरेसठ शलाका पुरुषो में उत्कृष्ट होने से आप पुराण पुरुषोत्तम कहलाते है ।।३००।।

ओ ह्री अर्हं महाशोकध्वजाय नम ।।३०१।। महा अशोक वृक्ष ही आपका चिन्ह है इसलिये आपको महाशोकध्वज कहते है ।।३०१।।

ओ ह्री अर्हं अशोकाय नम· ।।३०२।। आप शोक रहित होने से अशोक है ।।३०२।।

ओ ह्री अर्हं काय नम. ।।३०३।। सब के पितामह होने से अथवा सब को सुख देने से आपको 'क' कहते है ।।३०३।।

ओ ह्री अर्हं सृष्टायनम ।।३०४।। भक्त लोगो को स्वर्ग, मोक्ष, देने से आप सृष्टा हैं ।।३०४।।

ओं ह्रीं अर्हं पदमविष्टराय नमः ॥३०५॥ आपका आसन कमल है अथवा कमल ही आपका सिंहासन है इसलिये आपको पद्म बिष्टर कहते है ॥३०५॥

ओं ह्री अर्हं पद्मेशाय नम· ॥३०६॥ लक्ष्मी के स्वामी होने से आप पद्मेश हैं ॥३०६॥

ओं ह्री अर्ह पद्म सभूतये नमः ॥३०७॥ बिहार करते समय इन्द्र लोग आपके चरण कमलों के नीचे कमलों की रचना करते हैं इसलिये आप पद्म संभूति कहे जाते हैं ॥३०७॥

ओ ह्री अर्ह पद्भनामये नमः ॥३०८॥ कमल के समान सुन्दर नाभि होने से पद्मनाभि कहे जाते हैं ॥३०८॥

ओ ह्री अर्ह अनुत्तराय नम· ॥३०९॥ आप से श्रेष्ठ अन्य कोई नही है अतएव आप अनुत्तर कहलाते है ॥३०९॥

ओं ह्री अर्ह पद्मयोनये नम· ॥३१०॥ लक्ष्मी के उत्पन्न होने का स्थान होन से आप पद्म योनि है ॥३१०॥

ओ ह्री अर्ह जगद्योनये नम. ॥३११॥ धर्म रूप जगत की उत्पत्ति होने के कारण से आप जगद्योनि है ॥३११॥

ओं ह्री अर्ह इत्याय नम· ॥३१२॥ ज्ञान गम्य होने से आप इत्य है ॥३१२॥

ओं ह्री अर्ह स्तुत्याय नम ॥३१३॥ सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होने से आप स्तुत्य हैं ॥३१३॥

ओ ह्री अर्ह स्तुतीश्वराय नम· ॥३१४॥ समस्त स्तुतियो के ईश्वर होने से आप स्तुतीश्वर है ॥३१४॥

ओ ह्री अर्ह स्तवनार्हाय नमः ॥३१५॥ स्तुतियो के पात्र होने से आप स्तवनार्ह हैं ॥३१५॥

ओ ह्री अर्ह हृषीकेशाय नमः ॥३१६॥ इन्द्रियो को वश में करने से आप हृषीकेश है ॥३१६॥

ओ ह्री अर्ह जितजेयाय नम ॥३१७॥ काम, क्रोध, रोग आदि को जीत लेने से जितजेय है ॥३१७॥

ओ ह्री अर्ह कृतक्रियाय नम. ॥ ३१८ ॥ आपने शुद्ध आत्मा के प्राप्ति के कृत्य पूर्ण किये है इसलिये आप कृतक्रिय है ॥ ३१८ ॥

ओ ह्री अर्ह गणाधिपाय नमः ॥ ३१९ ॥ बारह प्रकार की सभाओं के स्वामी होने से आप गणाधिप हैं ॥ ३१९ ॥

ओं ह्री अर्ह गणज्येष्ठाय नम· ॥ ३२० ॥ समस्त सघ के मुख्य होने से आप गण ज्येष्ठ है ॥ ३२० ॥

ओं ह्रीं अर्हं गण्यायनमः ।। ३२१ ।। अनन्त गुणों के स्वामी होने से आप गण्य हैं ।। ३२१ ।।

ओं ह्रीं अर्हं पुण्याय नम· ।। ३२२ ।। पवित्र होने से आप पुण्य है ।।३२२।।

ओं ह्रीं अर्हं गडाग्रण्ये नम ।। ३२३ ।। सब के अग्रेसर होने से गणाग्रणी है ।।३२३।।

ओं ह्रीं अर्हं गुणाकराय नम. ।।३२४।। गुणो की खान होने से गुणाकर है ।।३२४।।

ओ ह्रीं अर्हं गुणाबोधये नम· ।।३२५।। गुणो के समुद्र होने से गुणांबोधि है ।।३२५।।

ओ ह्री अर्हं गुणज्ञाय नम. ।। ३२६ ।। गुणों को जानने से गुणज्ञ है ।। ३२६ ।।

ओ ह्री अर्हं गुणनायकाय नम· ।। ३२७ ।। समस्त गुणों के नायक होने से गुणनायक हैं ।। ३२७ ।।

ओ ह्री अर्हं गुणादरये नमः ।। ३२८ ।। गुणों का आदर करने से गुणादरी हैं ।। ३२८ ।।

ओं ह्री अर्हं गुणोच्छेदये नमः ।। ३२९ ।। क्रोधादि वैमानिक गुणों का नाश करने से अथवा इन्द्रियो का नाश करने से गुणोच्छेदी है ।।३२९।।

ओ ह्रीं अर्हं निर्गुणाय नम ।। ३३० ।। केवलज्ञानादि गुण निश्चित रूप होने से अथवा वैमानिक गुणो का नाश करने मे अथवा गुण अर्थात् तंतु वा वस्त्र रहित होने से निर्गुण हैं ।। ३३० ।।

ओ ह्री अर्हं पुण्यगिर नमः ।। ३३१ ।। आपकी वाणी पवित्र है इसलिये पुण्यगी हैं ।। ३३१ ।।

ओ ह्री अर्हं गुणाय नमः ।। ३३२ ।। शुद्ध गुण स्वरूप होने से गुण है ।। ३३२ ।।

ओ ह्री अर्हं शरण्याय नम ।।३३३।। सब के शरण भूत होने से शरण्य है ।।३३३।।

ओं ह्री अर्हं पुण्यवाचे नम· ।।३३४।। पुण्य रूप वचन होने से पुण्यवाक् है ।।३३४।।

ओ ह्री अर्हं पूताय नमः ।। ३३५ ।। पवित्र होने से पूत है ।। ३३५ ।।

ओ ह्री अर्हं वरेण्याय नमः ।। ३३६ ।। सब में श्रेष्ठ होने से अथवा जीवों को अपना सा मुक्त स्वरूप करने मे वरेण्य है ।। ३३६ ।।

ओं ह्री अर्हं पुण्यनायकाय नम ।। ३३७ ।। पुण्य के स्वामी होने से पुण्य नायक हैं ।। ३३७ ।।

ओं ह्री अर्हं अगण्याय नम· ।। ३३८ ।। आपका परिमाण नही किया जा सकता अथवा आपके गुण नही गिने जा सकते इसलिये अगण्य हैं ।।३३८।।

ओं ह्रीं अर्हं पुण्यधिये नमः ।। ३३९ ।। पवित्र ज्ञान होने से पुण्यधी हैं ।। ३३९ ।।

ओं ह्रीं अर्हं गण्याय नमः ॥ ३४० ॥ सर्व कल्याण करने से अथवा समवशरण के योग्य होने से गण्य हैं ॥ ३४० ॥

ओं ह्री अर्हं पुण्यकृते नमः ॥ ३४१ ॥ पुण्य का कर्ता होने से पुण्य कृत हैं ॥३४१॥

ओं ह्री अर्हं पुण्य शासनाय नमः ॥ ३४२ ॥ आपका मार्ग पुण्य रूप होने से आप पुण्य शासन हैं ॥ ३४२ ॥

ओं ह्री अर्हं धर्मारामाय नमः ॥ ३४३ ॥ धर्म का बगीचा रूप (समूह) होने से आप धर्माराम हैं ॥ ३४३ ॥

ओं ह्री अर्हं गुणग्रामाय नमः ॥ ३४४ ॥ गुणों के समूह होने से गुणग्राम हैं ॥३४४॥

ओं ह्री अर्हं पुण्यापुण्यनिरोधकाय नम· ॥ ३४५ ॥ पुण्य और पाप दोनों का नाश करने से आप पुण्यापुण्य निरोधक कहे जाते है ॥ ३४५ ॥

ओं ह्री अर्हं पापापेताय नमः ॥ ३४६ ॥ हिसादि समस्त पापो से रहित होने से पापापते कहे जाते हैं ॥ ३४६ ॥

ओ ह्री अर्हं विपापात्मने नमः ॥३४७॥ पाप रहित होने से विपात्मा कहे जाते हैं ॥ ३४७ ॥

ओ ह्री अर्हं विपात्माय नम· ॥ ३४८ ॥ पाप कर्म नष्ट होने से विपात्मा कहे जाते है ॥३४८ ॥

ओ ह्री अर्हं वीतकल्मषाय नमः ॥ ३४९ ॥ कर्म मल रहित होने से वीतकल्मष है ॥ ३४९ ॥

ओ ह्री अर्हं निर्द्वंद्वाय नम. ॥ ३५० ॥ परिग्रह रहित होने से निर्द्वन्द है ॥ ३५० ॥

ओ ह्री अर्हं निर्मदाय नम· ॥ ३५१ ॥ अहकार के न होने से निर्मद हैं ॥ ३५१ ॥

ओ ह्री अर्हं शाताय नम· ॥ ३५२ ॥ उपाधि रहित होने से शान्त है ॥ ३५२ ॥

ओ ह्री अर्हं निर्मोहाय नम· ॥ ३५३ ॥ मोह रहित होने से निर्मोह है ॥ ३५३ ॥

ओं ह्री अर्हं निरुपद्रवाय नमः ॥३५४॥ उपद्रव रहित होने से निरुपद्रव हैं ॥३५४॥

ओं ह्री अर्हं निर्निमेषाय नमः ॥ ३५५ ॥ आपके नेत्र के पलक दूसरे पलक से नही लगते हैं इसलिये आप निर्निमेषा हैं ॥ ३५५ ॥

ओ ह्री अर्हं निराहाराय नम· ॥३५६॥ कवलाहार न करने से निराहार है ॥३५६॥

ओं ह्री अर्हं निष्क्रियाय नम· ॥ ३५७ ॥ क्रिया रहित होने से निष्क्रिय है ॥३५७॥

ओं ह्री अर्हं निरुपप्लवाय नमः ॥ ३५८ ॥ सब प्रकार के सकट रहित होने से निरुपप्लव है ॥३५८ ॥

ओं ह्री अर्हं निष्कलकाय नमः ॥ ३५९ ॥ सब प्रकार के कलंक रहित होने से निष्कलंक है ॥ ३५९ ॥

ओं ह्रीं अर्हं निरस्तैनाय नमः ।।३६०।। पापों के दूर करने से निरस्तैन हैं ।।३६०।।

ओं ह्री अर्हं निर्धुतागाय नमः ।।३६१।। अपराधों का नाश करने से निर्धूतांग हैं ।।३६१।।

ओं ह्री अर्ह निरास्त्रवाय नमः ।।३६२।। आस्त्रव रहित होने से निरास्त्रव हैं ।।३६२।।

ओं ह्रीं अर्ह विशालाय नम· ।।३६३।। अतिशयविशाल होने से विशाल हैं ।।३६३।।

ओ ह्रीं अर्ह विपुलज्योतये नम. ।।३६४।। केवल ज्ञान रूप अपार ज्योति को धारण करने से विपुल ज्योति है ।।३६४।।

ओ ह्री अर्ह अतुलाय नम ।।३६५।। आपके समान अन्य कोई न होने से अतुल हैं ।।३६५।।

ओ ह्री अर्ह अचित्य वैभवाय नम ।।३६६ ।। आपकी विभूति का कोई चिंतन भी नही कर सकता इसलिए आप अचित्य वैभव है ।।३६६।।

ओ ह्री अर्ह सुसवृत्राय नम· ।।३६७।। सवर रूप होने से अथवा गणधरादि से वेष्ठित रहने से सुसवृत है ।।३६७।।

ओं ह्री अर्ह सुगुप्तात्मने नमः ।।३६८।। आपका आत्मा गुप्त होने से अथवा आस्त्र-वादि से अलग होने से आप सुगुप्तात्मा है ।।३६८।।

ओ ह्री अर्ह सुभृताय नम ।।३६९।। आप उत्तम ज्ञाता होने से सुभृत है ।।३६९।।

ओ ह्रीं अर्हं सुनयतत्वविदे नम ।।३७०।। आप नयगम, सग्रह आदि नयों का मर्म जानते हैं इसलिये सुनयतत्वविद् कहलाते है ।।३७०।।

ओं ह्री अर्ह एकविधाय नम ।।३७१।। एक केवलज्ञान अथवा एक आध्यात्मविद्या धारण करने से आप एकविध है ।।३७१।।

ओ ह्री अर्ह महाविद्याय नम ।।३७२।। आप अनेक विद्याओ को जानने के कारण महाविद्य है ।।३७२।।

ओ ह्री अर्ह मुनये नम· ।।३७३।। आप प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से मुनि है ।।३७३।।

ओ ह्री अर्ह परिवृढाय नम ।।३७४।। तपस्वियां के स्वामी होने से आप परि-वृढ है ।।३७४।।

ओ ह्री अर्ह पतये नम. ।।३७५।। जगत् की रक्षा करने से अथवा दुख दूर करने से आप पति है ।।३७५।।

ओ ह्री अर्ह धीशाय नम· ।।३७६।। आप बुद्धि के स्वामी होने से धीश हैं ।।३७६।।

ओ ह्री अर्ह विद्यानिधये नमः ।।३७७।। आप ज्ञान के सागर होने से विद्या निधि

हैं ॥३७७॥

ओं ह्रीं अर्हं साक्षिणे नमः ॥३७८॥ तीनों लोकों को प्रत्यक्ष जानने से आप साक्षी हैं ॥३७८॥

ओं ह्रीं अर्हं विनेताय नमः ॥३७९॥ मोक्षमार्ग को प्रगट करने से आप विनेता हैं ॥३७९॥

ओं ह्री अर्हं विहिंतातकाय नमः ॥३८०॥ यम का नाश करने से आप विहिंतातक कहलाते है ॥३८०॥

ओ ह्री अर्हं पित्रे नमः ॥३८१॥ नरकादि गतियों से रक्षा करने के कारण आप पिता है ॥३८१॥

ओं ह्री अर्हं पितामहाय नमः ॥३८२॥ आप सबके गुरु होने से पितामह हैं ॥३८२॥

ओं ह्री अर्हं पातुवे नम· ॥३८३॥ सबकी रक्षा करने से आप पातु हैं ॥३८३॥

ओ ह्री अर्हं पवित्राय नमः ॥३८४॥ भक्ति को पवित्र करने से आप पवित्र है ॥३८४॥

ओं ह्री अर्हं पावनाय नमः ३८५॥ सबको शुद्ध करने से आप पावन है ॥३८५॥

ओ ह्री अर्हं गतये नमः ॥३८६॥ ज्ञानस्वरूप होने से आप गति हैं ॥३८६॥

ओ ह्री अर्हं त्राताय नमः ॥३८७॥ सबकी रक्षा करने से आप त्राता है ॥३८७॥

ओ ह्री अर्हं भिषगवराय नमः ॥३८८॥ नाम लेने मात्र से ही समस्त रोगो को अथवा जन्म, जरा, मरणादि रोगो को दूर करने से आप भिषग् अथवा उत्तम वैद्य है ॥३८८॥

ओ ह्री अर्हं वर्याय नमः ॥३८९॥ आप सबसे श्रेष्ठ होने से वर्य है ॥३८९॥

ओं ह्री अर्हं वरदाय नमः ॥३९०॥ स्वर्ग, मोक्षादि को देने के कारण आप वरद है ॥३९०॥

ओ ह्री अर्हं परमाय नमः ॥३९१॥ भक्तों की इच्छा पूर्ण करने से आप परम है ॥३९१॥

ओ ही अर्हं पुंसे नमः ॥३९२॥ अपने आत्मा तथा भक्तो को पवित्र करने के कारण आप पुमान है ॥३९२॥

ओ ह्री अर्हं कवये नमः ॥३९३॥ धर्म, अधर्म का निरुपण करने से आप कवि हैं ॥३९३॥

ओ ह्री अर्हं पुराण पुरुषाय नमः ॥३९४॥ अनादि कालीन होने से आप पुराण पुरुष हैं ॥३९४॥

ओं ह्रीं अर्हं वर्षीयानाय नमः ।।३९५।। आप अतिशय वृद्ध होने से वर्षीयान हैं ।।३९५।।

ओं ह्री अर्हं वृषभाय नम· ।।३९६।। ज्ञानी होने से आप वृषभ है ।।३९६,।

ओं ह्री अर्ह पुरुवे नमः ।।३९७।। सबसे अग्रगण्य होने से आप पुरु है ।।३९७।।

ओं ह्री अर्ह प्रतिष्ठा प्रसवाय नमः ।।३९८।। आपसे स्थैर्य गुण की उत्पत्ति हुई है अथवा आप की सेवा करने से यह जीव जगत् मान्य हो जाता है इसलिये आप प्रतिष्ठा प्रसव कहलाते है ।।३९८।।

ओ ह्री अर्हं हेतवे नम ।। ३९९।। मोक्ष के साक्षात्कार होने से अथवा सभी को जानने से आप हेतु है ।।३९९।।

ओ ह्री अर्ह भुवनैक पितामहाय नमः ।।४००।। आप तीनों लोकों के जीवों को रक्षा करने अथवा उपदेश देने मे भुवनैक पितामह हैं ।।४००।।

ओ ह्री अर्हं श्रीवृक्षलक्षणाय नमः ।।४०१।। श्रीवृक्ष का चिन्ह होने से आप श्री-वृक्षलक्षण कहलाते है ।।४०१।।

ओ ह्री अर्ह श्लेक्षणाय नम· ।।४०२।। सूक्ष्म होने से अथवा लक्ष्मी के द्वारा आलिं-गन करने मे आप श्लक्षण हैं ।।४०२।।

ओ ह्री अर्ह लक्षणाय नमः ।।४०३।। लक्षण सहित होने से आप लक्षण्य हैं ।।४०३।।

ओ ह्री अर्हं शुभलक्षणाय नम. ।।४०४।। अनेक शुभलक्षणो से सम्पन्न होने के कारण आप शुभलक्षण है ।।४०४।।

ओ ह्री अर्ह निरक्षराय नमः ।।४०५।। इन्द्रिय रहित होने से आप निरक्ष हैं ।।४०५।।

ओ ह्री अर्ह पुण्डरीकाक्षाय नम ।।४०६।। कमल के समान नेत्र होने से आप पुण्डरीकाक्ष है ।।४०६।।

ओ ह्री अर्ह पुष्कलाय नमः ।।४०७।। केवलज्ञान से वृद्धिगत होने से आप पुष्कल है ।।४०७।।

ओ ह्री अर्ह पुष्करेक्षणाय नमः ।।४०८।। आप कमलदल के समान दीर्घ नेत्र होने से पुष्करेक्षण है ।।४०८।।

ओं ह्रीं अर्हं सिद्धिदाय नमः ।।४०९।। मोक्षरूप सिद्धि को देने से आप सिद्धिदा हैं ।।४०९।।

ओं ह्रीं अर्हं सिद्धसंकल्पाय नमः ।।४१०।। समस्त मनोरथ सफल होने से आप सिद्धसंकल्प है ।।४१०।।

ओं ह्रीं अर्हं सिद्धात्मने नम. ।।४११।। आप पूर्णानन्दस्वरूप होने ये सिद्धात्मा हैं ।।४११।।

ओं ह्रीं अर्हं सिद्धसाधनाय नम· ।।४१२।। मोक्षमार्ग रूप साधन भूत होने से आप सिद्धि साधन है ।।४१२।।

ओं ह्रीं अर्हं बुद्धबोध्याय नम ।।४१३।। सम्यग्दृष्टियो अथवा विशेष ज्ञानियो के द्वारा जानने योग्य होने से आप बुद्धबोध्य है ।।४१३।।

ओ ह्रीं अर्हं महाबोधाय नमः ।।४१४।। आप का रत्नत्रय अति प्रशसनीय होने से आप महाबोधि हैं ।।४१४।।

ओं ह्रीं अर्हं वर्द्धमानाय नमः ।।४१५।। आपका पूज्यपना अतिशय बढा हुआ होने से आप वर्द्धमान है ।।४१५।।

ओ ह्रीं अर्हं महर्द्धिकाय नम· ।।४१६।। अति अधिक विभूति को धारण करने से महार्द्धिक है ।।४१६।।

ओं ह्रीं अर्हं वेदांगाय नम. ।।४१७।। प्रथमानुयोग आदि चारो वेदो के कारण होने से अथवा ज्ञान स्वरूप होने से आप वेदांग है ।।४१७।।

ओ ह्रीं अर्हं वेदविदे नम ।।४१८।। चारों अनुयोगो के जानने से अथवा आत्मा का स्वरूप जानने से आप वेदवित् हैं ।।४१८।।

ओं ह्रीं अर्हं वेद्याय नम ।।४१९।। आगम के द्वारा जानने योग्य होने के कारण आप वेद्य है ।।४१९।।

ओ ह्रीं अर्हं जातरूपाय नम. ।।४२०।। उत्पन्न होने के समान ही आपका स्वरूप है अथवा आप रूप रहित है इसलिये आप जात रूप है ।।४२०।।

ओ ह्रीं अर्हं विदांवराय नमः ।।४२१।। आप विद्वानों में श्रेष्ठ होने से बिदाम्बर हैं ।।४२१।।

ओ ह्रीं अर्हं वेदवेद्याय नम ।।४२२।। केवलज्ञान के द्वारा अथवा आगम के द्वारा जानने योग्य होने से आप वेदवेद्य हैं ।।४२२।।

ओ ह्रीं अर्हं स्वसंवेद्याय नमः ।।४२३।। अनुभव गम्य होने से आप स्वसंवेद्य है ।।४२३।।

ओं ह्रीं अर्हं विवेदाय नमः ।।४२४।। आप विलक्षण ज्ञानी होने से अथवा आगम के अगोचर होने से विवेद हैं ।।४२४।।

ओं ह्रीं अर्हं वदतांबराय नम· ।।४२५।। वक्ताओं में श्रेष्ठ अथवा उत्तम होने से आप वदतांबर है ।।४२५।।

ओ ह्री अर्हं अनादिनिधनाय नमः ।।४२६।। आदि, अत रहित होने से आप अनादि निधन हैं ।।४२६।।

ओ ह्री अर्हं व्यक्ताय नमः ।।४२७।। ज्ञान के द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होने से आप व्यक्त है ।। ४२७ ।।

ओ ह्री अर्हं व्यक्तवाचये नम ।। ४२८ ।। आपके वचन समस्त प्राणियों के समझने योग्य है इसलिये आप व्यक्तवाक् हैं ।। ४२८ ।।

ओं ह्री अर्हं व्यक्त शासनाय नमः ।। ४२९ ।। आपकी आज्ञा अथवा मत समस्त ससार में प्रसिद्ध होने से अथवा आपके कहे हुये शास्त्रों में पूर्वापर विरोध न होने से आप व्यक्त शासन है ।। ४२९ ।।

ओं ह्री अर्हं युगादिकृते नमः ।।४३० ।। आप युग की आदि अर्थात् कर्मभूमि के कर्ता हैं इसलिये युगादिकृत हैं ।। ४३० ।।

ओ ह्री अर्हं युगाधाराय नम ।। ४३१ ।। आप युगो का आधार होने से युगाधार है ।। ४३१ ।।

ओं ह्री अर्हं युगादये नमः ।। ४३२ ।। युग के आरम्भ में होने से आप युगादि हैं ।। ४३२ ।।

ओ ह्री अर्हं जगदादिजाय नम ।। ४३३ ।। जगत् के आदि में अर्थात् कर्मभूमि के आदि में उत्पन्न होने से आप जगदादिज है ।। ४३३ ।।

ओं ह्री अर्हं अतीन्द्राय नम ।। ४३४ ।। इन्द्र, नरेन्द्र, आदि सबके विशेष स्वामी होने से आप अतीन्द्र है ।। ४३४ ।।

ओ ह्री अर्हं अतीद्रियाय नम. ।। ४३५ ।। इद्रिय गोचर न होने से आप अतीद्रिय है ।। ४३५ ।।

ओ ह्री अर्हं धीद्राय नम. ।। ४३६ ।। ज्ञान होने से अथवा शुक्लध्यान के द्वारा परमातमस्वरूप होने से आप धीद्र है ।। ४३६ ।।

ओ ह्री अर्हं महेंद्राय नमः ।। ४३७ ।। पूजा के अधिपति होने से अथवा इन्द्र से भी अधिक सपत्तिवान् होने से आप महेन्द्र है ।। ४३७ ।।

ओं ह्री अर्हं अतीद्रियार्थदृशे नमः ।।४३८ ।। इन्द्रिय और मन के अगोचर पदार्थों

को भी जानने से आप अतींद्रियार्थदृक हैं ।। ४३८ ।।

ओं ह्रीं अर्हं अनीद्रियाय नमः ।। ४३९ ।। इन्द्रिय रहित होने से आप अनिंद्रिय हैं ।। ४३९ ।।

ओ ह्री अर्हं अहमिद्रार्चाय नमः ।। ४४० ।। आप अहमिन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से अहमिंद्रार्च्य है ।। ४४० ।।

ओं ह्री अर्हं महेन्द्रमहिताय नमः ।। ४४१ ।। समस्त बड़े-बड़े इन्द्रों के द्वारा पूज्य होने से आप महेन्द्रमहित हैं ।।४४१।।

ओ ह्री अर्ह महते नमः ।।४४२।। आप सबसे पूज्य व बड़े होने से महान् हैं ।।४४२।।

ओ ह्री अर्ह उद्भवाय नमः ।।४४३।। जन्म, मरण रहित होने से अथवा सर्वोत्कृष्ट होने से आप उद्भव हैं ।।४४३।।

ओ ह्रीं अर्ह कारणाय नम ।।४४४।। मोक्ष के कारण होने से आप कारण है ।।४४४।।

ओ ह्रीं अर्ह कृते नमः ।।४४५।। शुद्ध भावो के कर्ता होने से आप कर्ता हैं ।।४४५।।

ओ ह्री अर्ह पारगाय नमः ।।४४६।। ससार समुद्र के पारगामी होने से आप पारग है ।४४६।।

ओ ह्री अर्ह भवतारकाय नमः ।।४४७।। भव्य जीवो को ससार समुद्र से पार कर देने से आप भवतारक हैं ।।४४७।।

ओ ह्री अर्हं अगाह्याय नमः ।।४४८।। किसी के भी द्वारा अवगाहन न करने से आप अगाह्य है ।।४४८।।

ओ ह्री अर्ह गहनाय नमः ।।४४९।। आपका स्वरूप हर एक कोई नही कह सकता और न जान सकता है इसलिये गहन हैं ।।४४९।।

ओ ह्री अर्हं गुह्याय नम ।।४५०।। परम रहस्यरूप अर्थात् गुप्त रूप होने से आप गुह्य हैं ।।४५०।।

ओ ह्री अर्ह पराघ्र्याय नमः ।।४५१।। आप उत्कृष्ट विभूति के स्वामी होने से पराघ्र्य है ।।४५१।।

ओं ह्री अर्ह परमेश्वराय नमः ।।४५२।। सबके स्वामी होने से अथवा मोक्षलक्ष्मी के स्वामी होने से आप परमेश्वर हैं ।।४५२।।

ओं ह्रीं अर्ह अनतर्द्धये नमः ।। ४५३ ।। आप अनन्त ऋद्धियों के धारण करने से अनंतर्द्धि हैं ।। ४५३ ।।

ओं ह्री अर्हं अमेयर्द्धये नमः ॥ ४५४ ॥ आप अपरिमितऐश्वर्य को धारण करने से अमेयर्द्धि है ॥ ४५४ ॥

ओ ह्री अर्हं अचित्यर्द्धये नम. ॥ ४५५ ॥ आपकी सम्पति का कोई चितबन भी नही कर सकता इसलिये आप अचित्यर्द्धि है ॥ ४५५ ॥

ओ ह्री अर्हं समग्रधिये नम· ॥ ४५६ ॥ जगत के समस्त पदार्थों को जानने योग्य होने से अथवा पूर्ण ज्ञानी होने से आप समग्रधी है ॥ ४५६ ॥

ओ ह्री अर्हं प्राग्यग्राय नम. ॥ ४५७ ॥ आप सबमे मुख्य होने से प्राग्ग्रय है ॥ ४५७ ॥

ओ ह्री अर्हं प्राग्रहराय नम. ॥ ४५८ ॥ सबमे श्रेष्ठता प्राप्त करने से आप प्राग्र हर हैं ॥ ४५८ ॥

ओ ह्री अर्हं अभ्यग्र्ग्रयाय नम. ॥ ४५९ ॥ श्रेष्ठो मे भी सबसे श्रेष्ठ होने से आप अभ्यग्ग्रय है ॥ ४५९ ॥

ओ ह्री अर्हं प्रत्यग्राय नम. ॥ ४६० ॥ बलवानो मे भी अत्यन्त श्रेष्ठ होने से अथवा लोक का मुख्य भाग पसंद करने से प्रत्यग्र है ॥ ४६० ॥

ओ ह्री अर्हं अग्ग्राय नम. ॥ ४६१ ॥ सबके नायक होने से आप अग्ग्रय है ॥ ४६१ ॥

ओ ह्री अर्हं अग्रिमाय नम. ॥ ४६२ ॥ सबके अग्रेसर होने से आप अग्रिम है ॥ ४६२ ॥

ओ ह्री अर्हं अग्रजाय नम. ॥ ४६३ ॥ आप सबसे बडे होने से अग्रज है ॥ ४६३ ॥

ओ ह्री अर्हं महातपाय नम ॥ ४६४ ॥ कठिन से कठिन तपश्चरण करने से आप महातपा है ॥ ४६४ ॥

ओ ह्री अर्हं महातेजाय नम ॥४६५ ॥अतिशय तेजस्वी होने से व अतिशय पुण्यवा न् होने से आप महातेज है ॥४६५॥

ओ ह्री अर्हं महोदर्काय नम.॥४६६॥ आपकी तपश्चर्या का फल सबसे बड़ा अर्थात् केवलज्ञान है इसलिए आप महोदर्क कहलाते है ॥४६६॥

ओ ह्री अर्हं महोदयाय नम ॥४६७॥अतिशय प्रतापी होने से अथवा आपका जन्म सबको आनन्द देने वाला होने से आप महोदय है ॥४६७॥

औ ह्री अर्हं महायशसे नमः ॥४६८॥अतिशय यशस्वी होने से आप महायशा है ॥४६८॥

ओ ह्री अर्हं महाधाम्ने नम. ॥४६९॥ अतिशय प्रकाशन रूप होने से आप महा-धामा है ॥४६९॥

ओं ह्रीं अर्हं महासत्वाय नमः ॥४७०॥ अतिशय बलवान् होने से आप महासत्व हैं ॥४७०॥

ओं ह्रीं अर्हं महाधृतये नमः ॥४७१॥ आप अतिशय धीरवीर होने से महाधृति हैं ॥४७१॥

ओ ह्री अर्हं महाधैर्याय नमः ॥४७२॥ कभी भी व्यग्र न होने से आप महाधैर्य हैं ॥४७२॥

ओ ह्री अर्हं महावीर्याय नमः ॥४७३॥ अतिशय सामर्थ्यवान होने से आप महा वीर्य है ॥४७३॥

ओ ह्री अर्हं महासपदे नमः ॥४७४॥ समवशरण रूप अद्वितीय विभूति को धारण करने से आप महा सपत है ॥४७४॥

ओ ह्री अर्हं महाबलाय नम ॥४७५॥ अतिशय बलवान होने से आप महाबल है ॥४७५॥

ओ ह्री अर्हं महाशक्तये नमः ॥४७६॥ अनन्त शक्ति होने से आप महाशक्ति है ॥४७६॥

ओ ह्री अर्हं महाज्योतिषे नमः ॥४७७॥ अतिशय काति युक्त होने से आप महा ज्योति है ॥४७७॥

ओ ह्री अर्हं महाभूतये नम. ॥४७८॥ पचकल्याणको की महाविभूति के स्वामी होने से आप महाविभूति है ॥४७८॥

ओ ह्री अर्हं द्युतये नमः ॥४७९॥ अतिशय शोभायमान होने से आप महाद्युति है ॥४७९॥

ओ ह्री अर्हं महामतये नमः ॥४८०॥ अतिशय बुद्धिमान होने से आप महामति है ॥४८०॥

ओ ह्री अर्हं महानीतये नम. ॥४८१॥ अतिशय न्यायवान होने से आप महा नीति है ॥४८१॥

ओं ह्री अर्हं महाक्षांतये नमः ॥४८२॥ अतिशय क्षमावान् होने से आप महा क्षाँति है ॥४८२॥

ओ ह्री अर्हं महादयाय नमः ॥४८३॥ अतिशय दयालु होने से आप महादय हैं ॥४८३॥

ओं ह्री अर्हं महाप्रज्ञाय नमः ॥४८४॥ अतिशय प्रवीण होने से आप महाप्राज्ञ हैं ॥४८४॥

ओं ह्रीं अर्हं महाभागाय नमः ॥४८५॥ अतिशय भाग्यशाली होने से आप महा भाग हैं ॥४८५॥

ओं ह्री अर्हं महानदाय नमः ॥४८६॥ अतिशय आनन्द स्वरूप होने से अथवा भव्य जीवों को आनन्द देने से आप महानन्द हैं ॥४८६॥

ओ ह्रीं अर्हं महाकवये नमः ॥४८७॥ शास्त्रो के मुख्य कर्ता होने से आप महाकवि हैं ॥४८७॥

ओं ह्री अर्हं महामहाय नमः ॥४८८॥ अत्यन्त तेजस्वी होने से आप महा महा हैं ॥४८८॥

ओ ह्री अर्हं महाकीर्तिये नमः ॥४८९॥ आपकी कीर्ति सब जगह व्याप्त होने से आप महाकीर्ति हैं ॥४८९॥

ओ ह्री अर्हं महाकातये नम॰॥४९०॥ अत्यन्त काति युक्त होने से आप महाकांति है ॥४९०॥

ओ ह्री अर्हं महावपुषे नमः ॥४९१॥ अतिशय सुन्दर शरीर होने से आप महावपु हैं ॥४९१॥

ओं ह्री अर्हं महादानाय नम. ॥४९२॥ बड़े भारी दानी होने से आप महादान हैं ४९२॥

ओ ह्री अर्हं महाज्ञानाय नम. ॥४९३॥ सबसे बड़े केवलज्ञान को धारण करने से आप महा ज्ञान है ॥४९३॥

ओ ह्री अर्हं महायोगाय नमः ॥४९४॥ योगो का अत्यन्त निरोध करने से आप महायोग है ॥४९४॥

ओ ह्री अर्हं महागुणाय नमः ॥४९५॥ लोको का कल्याण करने वाले गुणो से सुशोभित होने से आप महागुण है ॥४९५॥

ओ ह्री अर्ह महामहापतये नमः ॥४९६॥ पच कल्याण रूप महापूजा के स्वामी होने से आप महापति है ॥४९६॥

ओ ह्री अर्हं प्राप्त महाकल्याण पचकाय नमः ॥४९७॥ आपको गर्भावतार आदि पांचो कल्याणक प्राप्त हुए है इसलिये आप महाकल्याणक पचक कहे जाते है ॥४९७॥

ओ ह्री अर्हं महाप्रभवे नमः ॥४९८॥ अतिशय समर्थ अथवा सबसे बड़े स्वामी होने से आप महा प्रभु है ॥४९८॥

ओं ह्री अर्हं महाप्रातिहार्याधीशाय नमः ॥४९९॥ अशोक वृक्षादि आठो प्रातिहार्यों के स्वामी होने से आप महाप्रातिहार्यशीश कहे जाते है ॥४९९॥

ओं ह्रीं अर्हं महेश्वराय नमः ॥५००॥ सब मुनियों में उत्तम होने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से आप महा मुनि हैं ॥५००॥

ओं ह्रीं अर्हं मुनये नमः ॥५०१॥ सब मुनियों में उत्तम होने से अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानी होने से आप महामुनि है ॥५०१॥

ओं ह्रीं अर्हं महामोन्याय नम. ॥५०२॥ आपके वचनालाप पर रहित होने से आप महामौनी है ॥५०२॥

ओं ह्रीं अर्हं महाध्यान्याय नमः ॥ ५०३॥ शुक्ल ध्यान का ध्यान करने से आप महाध्यानी है ॥५०३॥

ओं ह्रीं अर्हं महादमाय नमः ॥५०४॥ विषय कषायों का दमन करने से अथवा शक्तिमान होने से आप महादम है ॥ ५०४॥

ओं ह्रीं अर्हं महाक्षमाय नम ॥५०५॥ अतिशय क्षमावान होने से आप महाक्षम हैं ॥५०५॥

ओं ह्रीं अर्हं महाशीलाय नम ॥५०६॥ पूर्ण ब्रह्मचारी होने से अथवा शीलयुक्त होने से आप महाशील है ॥५०६॥

ओं ह्रीं अर्हं महायज्ञाय नम ॥५०७॥ स्वाभाविक परिणति रूप अग्नि मे विभाव-परिणति रूप सामग्री को हवन कर अथवा तपश्चरण रूप अग्नि मे विषयाभिलाषा को हवन कर महायज्ञ करने से अथवा केवलज्ञान रूप महायज्ञ प्राप्त होने से आप महायज्ञ कहलाते है ॥५०७॥

ओं ह्रीं अर्हं महामखाय नम ॥५०८॥ अतिशय पूज्य होने से आप महामख कहे जाते है ॥५०८॥

ओं ह्रीं अर्हं महाव्रतपतये नम. ॥५०९॥ पचमहाव्रतो के स्वामी होने से आप महा-व्रतपति है ॥५०९॥

ओं ह्रीं अर्हं मह्याय नम. ॥५१०॥ जगत पूज्य होने से आप मह्य है ॥५१०॥

ओं ह्रीं अर्हं अकातिधराय नम. ॥५११॥ अत्यन्त तेज को धारण करने से आप महाकांतिधर है ॥५११॥

ओं ह्रीं अर्हं अधिपाय नम. ॥५१२॥ सब जीवो की रक्षा करने से अथवा सबके स्वामी होने से आप अधिप है ॥५१२॥

ओं ह्रीं अर्हं महामैत्रीमयाय नमः ॥५१३॥ समस्त जीवो से मैत्री भाव रखने से आप महा मैत्रीमय हैं ॥५१३॥

ओं ह्री अर्ह [अमेयाय नमः ।।५१४।। किसी भी परिमाण से गिने अथवा नापे नहीं जाते हैं इसलिए आप अमेय है ।।५१४।।

ओं ह्री अर्ह महापायो नम ।।५१५।। मोक्ष के लिए सबसे बड़ा उपाय करने से आप महोपाय है ।।५१५।।

ओ ह्री अर्ह महोमयाय नम ।।५१६।। मगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज स्वरूप होने से आप महोमय है ।।५१६।।

ओ ह्री अर्ह महाकारुण्यकाय नमः ।।५१७।। सब जीवों पर दया करने से आप कारुणिक कहे जाते है ।।५१७।।

ओ ह्री अर्ह मत्रे नम ।।५१८।। सबको जानने से आप मता है ।।५१८।।

ओ ह्री अर्ह महामत्राय नम ।।५१९।। अनेक मत्रो के स्वामी होने से आप महामंत्र है ।।५१९।।

ओ ह्री अर्ह महायतये नम ।।५२०।। इन्द्रिय निग्रह करने वालो मे सबसे श्रेष्ठ होने से आप महायति है ।।५२०।।

ओ ह्री अर्ह महानादाय नम ।।५२१।। गभीर दिव्य ध्वनि सहित होने से आप महानाद है ।।५२१।।

ओ ह्री अर्ह महाघोषाय नमः ।।५२२।। आपकी ध्वनि अतिशय सुन्दर होने से आप महाघोष है ।।५२२।।

ओ ह्री अर्ह महेज्जाय नम ।।५२३,। बडे पुरुषो के द्वारा पूज्य होने से अथवा केवल ज्ञान रूप यज्ञ करने से आप महेज्य है ।।५२३।।

ओ ह्री अर्ह महसापतये नम ।।५२४।। समस्त तेज के अधिकारी होने से आप महासापति है ५२४।।

ओ ह्री अर्ह महाध्वरधराय नम ।।५२५।। अहिसादिव्रतो के धारण करने से आप महाध्वरधर कहलाते है ।।५२५।।

ओ ह्री अर्ह धुर्याय नम ।।५२६।। धुरधर होने से आप धुर्य है ।।५२६।।

ओ ह्री अर्ह महोदार्याय नम ।।५२७।। अतिशय उदार होने से आप महौदार्य है ।।५२७।।

ओ ह्री अर्ह महिष्ठवाचे नम. ५२८।। आपकी वाणी परम पूज्य होने से आप महिष्ठवाक् है ।।५२८।।

ओं ह्री अर्ह महात्मने नम. ।।५२९।। सब में बड़े अथवा पूज्य होने से आप महा

त्मा हैं ॥५२९॥

ओं ह्री अर्ह महसाधात्मने नमः ॥५३०॥ समस्त प्रकाश का तेज स्थान होने से आप महासाधाय है ॥५३०॥

ओं ह्री अर्ह महर्षिये नम ॥५३१॥ सब प्रकार की ऋद्धियो को प्राप्त होने से आप महर्षि है ॥५३१॥

ओ ह्री अर्ह महितोदयाय नम ॥५३२॥ आपका तीर्थंकर रूप अवतार सबको पूज्य है इसलिए आप मतितोदय कहलाते है ॥५३२॥

ओ ह्री अर्ह महाक्लेशाकुशाय नम. ॥५३३॥ बडे-बडे क्लेशो को दूर करने से अथवा महा क्लेश अर्थात् तपश्चरण रूप अकुश धारण करने से आप महाक्लेशाकुश है ॥५३३॥

ओं ह्री अर्ह शूराय नम. ॥५३४॥ घातिया कर्मों को जीत लेने से आप शूर है ॥५३४॥

ओ ह्री अर्ह शूराय नम ॥५३५॥ गणधर चक्रवती आदि वड़े बडे पुरुषो के स्वामी होने से आप महाभूत पति है ॥५३५॥

ओ ह्री अर्ह गुरुवे नम ॥५३६॥ धर्मोपदेश सब को देने से आप गुरू है ॥५३६॥

ओ ह्री अर्ह महापराक्रमाय नम ॥५३७॥ अतिशय पराक्रमी होने से अथवा ज्ञान शक्ति अधिक होने से आप महापराक्रमी है ॥५३७॥

ओ ह्री अर्ह अनताय नम ॥५३८॥ अन्त रहित अपार होने से आप आप अनन्त है ॥५३८॥

ओं ह्री अर्ह महाक्रोधरिपुवे नम ॥५३९॥ क्रोध के भारी शत्रु होने से आप महा क्रोध रिपु है ॥५३९॥

ओ ह्री अर्ह वशिने नम ॥५४०॥ सब प्राणियो को वश में करने से अथवा इन्द्रियो को वश मे करने से आप वशी है ॥५४०॥

ओ ह्री अर्ह महाभवाब्धिसतारिणे नम ॥५४१॥ ससार रूप महासागर से पार कर देने से आप महा भवाब्धि ससारी है ॥५४१॥

ओ ह्री अर्ह महामोहाद्रिसूदनाय नम ॥५४२॥ मोह रूपी महापर्वत को भेदन करने से आप महाद्रि सूदन है ॥५४२॥

ओ ह्री अर्ह महागुणाकराय नम. ॥५४३॥ सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणो की खान होने से महा गुणाकार है ॥५४३॥

ओं ह्री अर्ह शाताय नमः ॥५४४॥ कषाय रहित होने से आप शान्त है ॥५४४॥

ओ ह्री अर्ह योगीश्वराय नम. ॥५४५॥ आप गणधर आदि महा योगियों के स्वामी होने से महा योगीश्वर है ॥५४५॥

ओं ह्रीं अर्हं महाशर्मिने नमः ।।५४६।। समस्त कर्मों का क्षय करने से अथवा परम सुखी होने से आप शर्मी है ।।५४६।।

ओं ह्री अर्हं महाध्यानपतये नमः ।।५४७।। परम शुक्लध्यान के स्वामी होने से आप महाध्यान पति है ।।५४७।।

ओ ह्री अर्हं महाध्यान महाधर्माया नमः ।।५४८।। अहिसा धर्म का ध्यान करने से आप ध्यान महाधर्म है ।।५४८।।

ओ ह्री अर्हं महाव्रताय नम. ।।५४९।। महाव्रतो को धारण करने से आप महाव्रत हैं ।।५४९।।

ओ ह्री अर्हं महाकर्मारिहाय नम· ।।५५०।। आप कर्मरूप महाशत्रुओ को नाश करने से आप महाकर्मा रिहा है ।।५५०।।

ओ ह्री अर्हं आत्मज्ञाय नमः ।।५५१।। आत्मा का स्वरूप जानने से आप आत्मज्ञ हैं ।।५५१।।

ओ ह्री अर्हं महादेवाय नम ।।५५२।। समस्त देवो के स्वामी होने से आप महादेव हैं ।।५५२।।

ओ ह्री अर्हं महेशिताय नम ।।५५३।। विलक्षण ऐश्वर्य को धारण करने से आप महेशिता कहलाते है ।।५५३।।

ओ ह्री अर्हं सर्वक्लेशापहाय नमः ।।५५४।। शारीरिक और मानसिक क्लेशो को दूर करने से आप सर्वक्लेशापह है ।।५५४।।

ओं ह्री अर्हं साधवे नम. ।।५५५।। निश्चय रत्नत्रय को सिद्ध करने आप साधु हैं ।।५५५।।

ओ ह्री अर्हं सर्वदोषापहराय नम ।।५५६।। भव्य जीवो के समस्त दोष दूर करने से आप सर्वदोषापहर है ।।५५६।।

ओ ह्री अर्हं हराय नम· ।।५५७।। अनेक जन्मो मे किये हुये पापो का हरण करने से आप हर हैं ।।५५७।।

ओ ह्री अर्हं असख्येयाय नमः ।।५५८।। आप असख्य गुणो को धारण करने से असंख्येय है ।।५५८।।

ओ ह्री अर्हं अप्रेमात्मने नम. ।।५५९।। प्रमाण रहित शक्ति को धारण करने से आप अप्रमेयात्मा हैं ।।५५९।।

ओ ह्री अर्हं शमात्मने नम. ।।५६०।। आप परम शांतस्वरूप होने से शमात्मा

हैं ।।५६०।।

ओं ह्रीं अर्हं प्रशमाकराय नमः ।।५६१।। आप शांतता की खान होने से प्रशमाकर हैं ।।५६१।।

ओं ह्री अर्हं सर्वयोगीश्वराय नमः ।।५६२।। आप समस्त योगियो के ईश्वर होने से सर्वयोगीश्वर हैं ।।५६२।।

ओ ह्री अर्हं अचित्याय नमः ।।५६३।। आप किसी के चितवन में नही आते इसलिये आप अचित्य है ।।५६३।।

ओ ह्री अर्हं श्रुतात्मने नम ।।५६४।। समस्त शास्त्रों के रहस्यरूप होने से अथवा भावश्रुतज्ञानरूप होने से आप श्रुतात्मा है ।।५६४।।

ओ ह्री अर्हं विष्टरश्रवाय नमः ।।५६५।। तीनों लोको के समस्त पदार्थों के जानने से आप विष्टरश्रवा है ।।५६५।।

ओ ह्री अर्हं दातात्मने नम ।।५६६।। जितेन्द्रिय होने से अथवा सबको शिक्षा देने से आप दातात्मा हैं ।।५६६।।

ओं ह्री अर्हं दमतीर्थेशाय नम ।।५६७।। आप इन्द्रियो को दमन करने रूप तीर्थ के स्वामी होने से अथवा योग शास्त्र के स्वामी होने से दमतीर्थेश कहलाते है ।।५६७।।

ओं ह्री अर्हं योगात्मने नम ।।५६८।। आप योगस्वरूप होने से योगात्मा हैं ।।५६८।।

ओ ह्री अर्हं ज्ञानसर्वगाय नम ।।५६९।। ज्ञान के द्वारा सब जगह होने से आप ज्ञान-सर्वग कहलाते है ।।५६९।।

ओं ह्री अर्हं प्रधानाय नमः ।।५७०।। आप एकाग्रता से आत्मा का ध्यान करने से प्रधान है ।।५७०।।

ओ ह्री अर्हं आत्मने नम ।।५७१।। आप ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानात्मा है ।।५७१।।

ओ ह्री अर्हं प्रकृतये नम ।।५७२।। आप समवशरण रूप लक्ष्मी उत्कृष्ट है अथवा धर्मोपदेश रूप कार्य प्रशंसनीय है अथवा सबके कल्याणकारी है इसलिये प्रकृति है ।।५७२।।

ओ ह्री अर्हं परमाय नम. ।।५७३।। उत्कृष्ट लक्ष्मी को धारण करने से आप परम हैं ।।५७३।।

ओं ह्री अर्हं परमोदयाय नम ।।५७४।। परम उदय को धारण करने से अथवा आपका उदय कल्याणकारी होने से आप परमोदय है ।।५७४।।

ओं ह्रीं अर्हं प्रक्षीणबधाय नम. ।।५७५।। कर्मबन्ध सब नष्ट होने से आप प्रक्षीण-बंध हैं ।।५७५।।

ओं ह्रीं अर्हं कामारये नमः ।।५७६।। कामदेव के परम शत्रु होने से आप कामारि हैं ।।५७६।।

ओं ह्री अर्हं क्षेमकृते नमः ।।५७७।। सब का कल्याण करने से आप क्षेमकृत हैं ।।५७७।।

ओं ह्री अर्हं क्षेम शासनाय नम ।।५७८।। आपका मत वा उपदेश सबको कल्याण-कारी होने से आप क्षेमशासन कहलाते है ।।५७८।।

ओ ह्री अर्हं प्रणवाय नम ।।५७९।। ओंकार स्वरूप होने से आप प्रणव है ।।५७९।।

ओ ह्री अर्हं प्रणयाय नम ।।५८०।। सबके मित्र होने से आप प्रणय है ।।५८०।।

ओं ह्री अर्हं प्राणाय नम ।।५८१।। जगत् को प्रिय होने से अथवा सबको शरण होने से आप प्राण है ।।५८१।।

ओ ह्री अर्हं प्राणदाय नम ।।५८२।। अतिशय दयालु होने से आप प्राणों को देने वाले हैं इसलिये आप प्राणद है ।।५८२।।

ओ ह्री अर्हं प्राणेश्वराय नम ।।५८३।। आप प्रणाम करते हुये इन्द्रादिको के स्वामी हैं अथवा प्रणाम करते हुये भव्य जीवो का पालन-पोषण करने वाले है इसलिये आप प्रणतेश्वर हैं ।।५८३।।

ओ ह्री अर्हं प्रमाणाय नमः ।।५८४।। प्रमाण नय के वक्ता होने से अथवा ज्ञानस्वरूप होने से या ज्ञान का साधन होने से अथवा लोक प्रमाण एव देह प्रमाण होने से आप प्रमाण है ।।५८४।।

ओ ह्री अर्हं प्रणधिये नम ।।५८५।। योगी लोग आपको बडी गुप्त रीति मे चितवन करते है अथवा आप सबके मर्मी वा जानने वाले है इसलिये आपको प्रणधि कहते है ।।५८५।।

ओं ह्री अर्हं दक्षाय नम. ।।५८६।। मोक्ष प्राप्त करने मे चतुर होने से आप दक्ष है ।।५८६।।

ओं ह्री अर्हं दक्षिणाय नम ।।५८७।। सरल स्वभावी होने से आप दक्षिण है ।।५८७।।

ओ ह्री अर्हं अध्वर्यवे नम. ।।५८८।। केवलज्ञान रूप यज्ञ को करने से अथवा पाप रूप कर्मो का हवन करने से आप अध्वर्यु है ।।५८८।।

ओ ह्री अर्हं अध्वराय नम ।।५८९।। सन्मार्ग की प्रवृत्ति करने से आप अध्वर हैं ।।५८९।।

ओ ह्री अर्हं आनन्दाय नम ।।५९०।। सदा सन्तुष्ट रहने से आप आनन्द हैं ।।५९०।।

ओं ह्रीं अर्हं नन्दनाय नमः ॥५९१॥ सबको आनन्द देने से आप नन्दन है ॥५९१॥

ओं ह्रीं अर्हं नदाय नमः ॥५९२॥ सदा बढते रहने से आप नन्द है ॥५९२॥

ओं ह्रीं अर्हं वद्याय नम. ॥५९३॥ सभी के द्वारा वदना और स्तुति करने से आप वंद्य हैं ॥५९३॥

ओ ह्री अर्हं अनिद्याय नम· ॥५९४॥ आप अठारह प्रकार के दोषो से रहित होने के कारण आप सब प्रकार की निन्दा के अयोग्य हे ॥५९४॥

ओ ह्री अर्हं अभिनन्दनाय नम ॥५९५॥ सर्वथा आनन्ददायक होने से अथवा आप के समवशरण के चारों वन भयरहित होने से आप अभिनन्दन है ॥५९५॥

ओ ह्री अर्हं कामहाय नम. ॥५९६॥ कामदेव को नाश करने से आप कामहा है ॥५९६॥

ओं ह्री अर्हं कामदाय नम ॥५९७॥ भक्त भव्य जीवों की इच्छा पूर्ण कर देने से आप कामद है ॥५९७॥

ओं ह्री अर्हं काम्याय नमः ॥५९८॥ अतिशय मनोहर होने से अथवा आपकी प्राप्ति की इच्छा सबको होने से आप काम्य है ॥५९८॥

ओ ह्री अर्हं कामधेनवे नम ॥५९९॥ इच्छित पदार्थों को देने से आप कामधेनु है ॥५९९॥

ओ ह्री अर्हं अरिजयाय नम ॥६००॥ रागादि समस्त शत्रुओ को जीतने से आप अरिजय कहलाते है ॥६००॥

ओ ह्री अर्हं असस्कृतसुसस्काराय नम ॥६०१॥ बिना किसी सस्कार के स्वभाव से ही सुन्दर होने से आप असस्कृत सुसंस्कार है ॥६०१॥

ओ ह्री अर्हं अप्राकृते नम. ॥६०२॥ आपका स्वरूप प्रकृति से उत्पन्न नही हुआ है। वह असाधारण अथवा अद्वितीय है इसलिये आप अप्राकृत हैं ॥६०२॥

ओ ह्री अर्हं वैकृतातकृते नम ॥६०३॥ रोग अथवा विकारो को नाश करने से आप वैकृतातकृत है ॥६०३॥

ओ ह्री अर्हं अतकृते नम· ॥६०४॥ जन्म, मरण रूप ससार को नाश करने से अथवा मोक्ष को समीप करने से आप अतकृते है ॥६०४॥

ओ ह्री अर्हं कातगवे नम ॥६०५॥ सुन्दर वाणी अथवा सुन्दर प्रभा होने से आप कातगु हैं ॥६०५॥

ओ ह्री अर्हं कातायनम. ॥६०६॥ शोभायुक्त होने से आप कात हैं ॥६०६॥

ओ ह्री अर्हं चितामणये नमः ॥६०७॥ चितामणि के समान इच्छित पदार्थों को देने से आप चितामणि हैं ॥६०७॥

ओं ह्रीं अर्हं अभीष्ठदाय नमः ।।६०८।। आप भव्य जीवों को इष्ट पदार्थों की प्राप्ति कराते हैं इसलिये आप अभीष्ठदा हैं ।।६०८।।

ओं ह्रीं अर्हं अजिताय नमः ।।६०९।। काम, क्रोधादि किसी भी योद्धा से आप जीते नहीं जाते इसलिये आप अजित है ।।६०९।।

ओं ह्रीं अर्हं जितकामारिणे नमः ।।६१०।। कामरूप शत्रु को जीतने से आप जित-कामारि है ।।६१०।।

ओं ह्रीं अर्हं अमिताय नम. ।।६११।। मर्यादा रहित होने से आप अमित है ।।६११।।

ओं ह्री अर्हं अमितशासनाय नम. ।।६१२।। आपका शासन अपार होने से आप अमितशासन है ।।६१२।।

ओ ह्री अर्हं क्रोधजिताय नम' ।।६१३।। क्रोध को जीत लेने से आप जितक्रोध हैं ।।६१३।।

ओ ह्री अर्हं जितामित्राय नमः ।।६१४।। कर्मरूपी शत्रुओ को जीतने से आप जिता-मित्र हैं ।।६१४।।

ओ ह्री अर्हं जितक्लेशाय नम. ।।६१५।। समस्त क्लेशो को जीत लेने से आप जितक्लेश हैं ।।६१५।।

ओ ह्री अर्हं जितानकाय नमः ।।६१६।। यम को जीत लेने से आप जितांतक कह-लाते है ।।६१६।।

ओं ह्री अर्हं जिनेन्द्राय नम ।।६१७।। गणधरादि जिनो के इन्द्र होने से आप जिनेन्द्र है ।।६१७।।

ओ ह्री अर्हं परमानदाय नम ।।६१८।। उत्कृष्ट आनन्द स्वरूप होने से आप परमा-नन्द है ।।६१८।।

ओ ह्री अर्हं मुनीद्राय नम ।।६१९।। मुनियो के इन्द्र होने से आप मुनीन्द्र है ।।६१९।।

ओ ह्री अर्हं दुंदुभिस्वनाय नमः ।।६२०।। दुंदुभियो के समान आपकी ध्वनि होने से आप दुंदुभिस्वन है ।।६२०।।

ओ ह्री अर्हं महेन्द्रवद्याय नम' ।।६२१।। महेन्द्र के द्वारा पूज्य अथवा वदनीक होने से आप महेन्द्रवद्य है ।।६२१।।

ओं ह्री अर्हं योगीन्द्राय नमः ।।६२२।। योगियो के इन्द्र होने से आप योगीन्द्र हैं ।।६२२।।

ओं ह्रीं अर्हं यतीन्द्राय नमः ॥६२३॥ यतियों के इन्द्र होने से आप यतीन्द्र हैं ॥६२३॥

ओं ह्री अर्हं नाभिनन्दनाय नमः ॥६२४॥ महाराजा नाभिराजा के पुत्र होने से आप नाभिनन्दन कहलाते है ॥६२४॥

ओ ह्री अर्हं नाभेयाय नम ॥६२५॥ पिता का नाम नाभि होने से आप नाभेय कहलाते है ॥६२५॥

ओं ह्रीं अर्हं नाभिजाय नमः ॥६२६॥ महाराज नाभि के घर जन्म लेने से आप नाभिज है ॥६२६॥

ओं ह्रीं अर्हं अजाताय नमः ॥६२७॥ आप उत्पत्ति रहित होने से अजात हैं ॥६२७॥

ओ ह्री अर्हं सुव्रताय नम ॥६२८॥ आप अहिंसा आदि उत्तम व्रतवान् होने से सुव्रत है ॥६२८॥

ओ ह्री अर्हं मनुवे नमः ॥६२९॥ कर्मभूमि की रचना का अथवा मोक्ष मार्ग का स्वरूप बतलाने से आप मनु हैं ॥६२९॥

ओ ह्री अर्हं उत्तमाय नमः ॥६३०॥ सबसे श्रेष्ठ होने से आप उत्तम कहलाते है ॥६३०॥

ओं ह्री अर्हं अभेद्याय नम. ॥६३१॥ किसी से भी आपका भेद नही हो सकता इसलिये आप अभेद्य है ॥६३१॥

ओ ह्री अर्हं अनत्याय नमः ॥६३२॥ आप नाश रहित होने से अनत्यय हैं ॥६३२॥

ओ ह्री अर्हं अनाश्वानाय नमः ॥६३३॥ आप अनशन आदि तपश्चरण करने से अनाश्वान है॥ ६३३॥

ओं ह्री अर्हं अधिकाय नम ॥६३४॥ सबमें अधिक अर्थात् पूज्य होने से आप अधिक है ॥६३४॥

ओं ह्री अर्हं अधिगुरवे नमः ॥६३५॥ आप सबसे उत्तम उपदेश को देने से अधिगुरु है ॥६३५॥

ओ ह्री अर्हं सुगिरे नमः ॥६३६॥ आपकी दिव्यध्वनि सबके लिये कल्याणकारी है इसलिये आप सुगी कहलाते है ॥६३६॥

ओं ह्रीं अर्हं सुमेधे नमः ॥६३७॥ आप सम्यग्ज्ञानी होने से सुमेधा हैं ॥६३७॥

ओं ह्री अर्हं विक्रमिणे नमः ॥६३८॥ महापराक्रमी होने से आप विक्रमी हैं ॥६३८॥

ओं ह्रीं अर्हं स्वामिणे नम ॥६३९॥ सबके स्वामी होने से अथवा सब पदार्थों के यथार्थ ज्ञानी होने से आप स्वामी है ॥६३९॥

ओं ह्रीं अर्हं दुराधर्षाय नमः ।।६४०।। किसी के द्वारा निवारण नही किये जाने से आप दुराधर्ष हैं ।।६४०।।

ओं ह्रीं अर्हं निरुत्सुकाय नमः ।।६४१।। अभिलाषा रहित होने से अथवा स्थिर भाव होने से आप निरुत्सुक हैं ।।६४१।।

ओ ह्री अर्हं विशिष्टाय नम ।।६४२।। विशेष रूप होने से आप विशिष्ट हैं ।।६४२।।

ओ ह्री अर्हं शिष्टभुजे नम ।।६४३।। आप शिष्ट पुरुषों का पालन करने से शिष्ट-भुक् हैं ।।६४३।।

ओ ह्री अर्हं शिष्टाय नम ।।६४४।। राग, द्वेष, मोह आदि दोषो से रहित होने से आप शिष्ट हैं ।।६४४।।

ओ ह्री अर्हं प्रत्याय नम. ।।६४५।। विश्वास रूप होने से अथवा ज्ञान रूप होने से आप प्रत्यय है ।।६४५।।

ओ ह्री कामनसे नम. ।।६४६।। आप मनोहर होने से कामन हैं ।।६४६।।

ओ ह्री अर्हं अनद्याय नम ।।६४७।। आप पाप रहित होने से अनद्य है ।।६४७।।

ओ ह्री अर्हं क्षेमिणे नम. ।।६४८।। आप मोक्ष प्राप्त होने से क्षेमी है ।।६४८।।

ओ ह्री अर्हं क्षेमकराय नम. ।।६४६।। सबका कल्याण करने से आप क्षेमकर है ।।६४६।।

ओं ह्री अर्हं अक्षय्याय नम ।।६५०।। आपका कभी क्षय नही होता इसलिये आप अक्षय हैं ।।६५०।।

ओ ह्री अर्हं क्षेमधर्मपतये नम ।।६५१।। सभी जीवो का कल्याण करने वाले जैन धर्म के प्रवर्तक होने से आप क्षेमधर्मपति है ।।६५१।।

ओ ह्री अर्हं क्षमिणे नम ।।६५२।। क्षमावान् होने से आप क्षमी है ।।६५२।।

ओ ह्री अर्हं अग्राह्याय नम ।।६५३।। इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण न होने से अथवा मिथ्यात्वियो के द्वारा ग्रहण न होने से आप अग्राह्य है ।।६५३।।

ओ ह्री अर्हं ज्ञान निग्राह्याय नमः ।।६५४।। निश्चय ज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से आप ज्ञान निग्राह्य है ।।६५४।।

ओ ह्री अर्हं ध्यान गम्याय नम ।।६५५।। आप ध्यान के द्वारा जानने योग्य होने से ध्यानगम्य है ।।६५५।।

ओ ह्री अर्हं निरुत्तराय नम ।।६५६।। आप सबसे उत्कृष्ट है इसलिये निरुत्तर है ।।६५६।।

ओ ह्री अर्हं सुकृतये नम ।।६५७।। आप पुण्यवान् होने से सुकृती है ।।६५७।।

ओ ह्री अर्हं धातवे नमः ।।६५८।। शब्दो की खान होने से आप धातु हैं ।।६५८।।

श्रों ह्रीं अर्हं इज्याहाय नमः ।।६५९।। आप पूजा करने के योग्य होने से इज्यार्ह हैं ।।६५९।।

श्रों ह्रीं अर्हं सुनयाय नमः ।।६६०।। नयो के सम्यक् प्रकार ज्ञाता होने से आप सुनय है ।।६६०।।

श्रो ह्री श्रर्हं निवासाय नम. ।।६६१।। लक्ष्मी के निवास स्थान होने से आप श्री निवास है ।।६६१।।

श्रों ह्री श्रर्हं चतुराननाय नमः ।।६६२।। एक मुख होकर भी चारों श्रोर से दर्शन होने से अथवा लोगों को चार मुख दीखने से श्राप चतुरानन ।।६६२।। चतुर्वक्र ।।६६३।। चतुरास्य ।।६६४।। तथा चतुर्मुख कहलाते है ।।६६५।।

ओ ह्री श्रर्हं सत्यात्मने नम ।।६६६।। सत्यस्वरूप होने से अथवा जीवो का कल्याण करने से श्राप सत्यात्मा है ।।६६६।।

श्रो ह्री अर्हं सत्यविज्ञानाय नम. ।।६६७।। आपका विज्ञान सत्य अथवा सफल होने से श्राप सत्य विज्ञान है ।।६६७।।

श्रो ह्री श्रर्हं सत्यवाचे नमः ।।६६८।। आपकी वाणी यथार्थ पदार्थों का निरूपण करने वाली है इसलिये श्राप सत्यवाक् कहलाते है ।।६६८।।

श्रो ह्री श्रर्हं सत्यशासनाय नम ।।६६९।। आपका शासन (मत) यथार्थ होने से अथवा सफल अर्थात् साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराने वाला होने से आप सत्यशासन है ।।६६९।।

श्रो ह्री श्रर्हं सत्याशीर्षे नमः ।।६७०।। दोनों लोको में फलदायक होने से आप शत्याशीर्ष है ।।६७०।।

श्रो ह्री श्रर्हं सत्यसधानाय नम ।।६७१।। प्रतिज्ञा को दृढ रखने से अथवा सत्य स्वरूप रखने से आप सत्यसधान है ।।६७१।।

श्रो ह्री श्रर्हं सत्याय नमः ।।६७२।। आप शुद्ध मोक्षस्वरूप होने से सत्य हैं ।।६७२।।

श्रो ह्री श्रर्हं सत्यपरायणाय नमः ।।६७३।। आप सत्यस्वरूप में तत्पर होने से सत्यपरायण कहे जाते है ।।६७३।।

श्रो ह्री श्रर्हं स्थेयसे नमः ।।६७४।। अत्यन्त स्थिर होने से आप स्थेयान् हैं ।।६७४।।

श्रो ह्री श्रर्हं स्थवीयसे नम. ।।६७५।। अतिशय स्थूल होने से आप स्थवीयान् है ।।६७५।।

श्रों ह्री श्रर्हं नेदीयसे नम ।।६७६।। भक्तों के समीप होने से आप नेदीयान् है ।।६७६।।

श्रो ह्रीं श्रर्हं दवीयसे नमः ।।६७७।। पापो से दूर रहने के कारण आप दवीयान् हैं ।।६७७।।

ओं ह्रीं अर्हं दूरदर्शनाय नम· ॥६७८॥ आपके दर्शन दूर ही से होते हैं इसलिये आप दूरदर्शन हैं ॥६७८॥

ओं ह्रीं अर्हं अणोरणीयसे नमः ॥६७६॥ परमाणु से भी अत्यन्त सूक्ष्म होने से आप अणोरणीयान् हैं ॥६७६॥

ओं ह्री अर्हं अनणवे नमः ॥६८०॥ सूक्ष्म न होने से आप अनणु हैं ॥६८०॥

ओं ह्री अर्हं गरीसया आद्यगुरवे नम ॥६८१॥ बड़ो में सबसे बड़े होने से आप गरीयसां आद्य गुरु कहलाने है ॥६८१॥

ओ ह्री अर्हं सदा योगाय नम· ॥६८२॥ सदा योग स्वरूप होने से आप सदायोग हैं ॥६८२॥

ओ ह्री अर्हं सदा भोगाय नम ॥६८३॥ आप सदा आनन्द के भोक्ता होने से सदा भोग है ॥६८३॥

ओं ह्री अर्हं सदा तृप्ताय नमः ॥६८४॥ सदा तृप्त रहने से आप सदा तृप्त हैं ॥६८४॥

ओ ह्री अर्हं सदा शिवाय नम. ॥६८५॥ सदा कल्याण स्वरूप अथवा मोक्ष स्वरूप रहने से आप सदा शिव कहलाते है ॥६८५॥

ओ ह्री अर्हं सदा गतये नम. ॥६८६॥ आप सदा ज्ञान स्वरूप होने से सदागति हैं ॥६८६॥

ओ ह्री अर्हं सदा सौख्याय नमः ॥६८७॥ आप सदा सुख स्वरूप रहने से सदा सौख्य है । ६८७॥

ओ ह्री अर्हं सदा विद्याय नम· ॥६८८॥ आप सदा ज्ञानस्वरूप रहने से सदा विद्य है ॥६८८॥

ओ ह्री अर्हं सदोदयाय नम· ॥६८६॥ आप सदा उदय रूप होने से अर्थात् सदा कल्याण रूप अथवा प्रकाश स्वरूप रहने से आप सदोदय कहलाते है ॥६८६॥

ओ ह्री अर्हं सुघोषाय नम· ॥६६०॥ आपका सुन्दर शब्द होने से आप सुघोष हैं ॥६६०॥

ओ ह्री अर्हं सुमुखाय नमः ॥६६१॥ सुन्दर मुख रहने से आप सुमुख हैं ॥६६१॥

ओ ह्री अर्हं सौम्याय नम· ॥६६२॥ शान्त रहने से आप सौम्य हैं ॥६६२॥

ओ ह्री अर्हं सुखदाय नमः ॥६६३॥ सबको सुख देने से आप सुखद हैं ॥६६३॥

ओ ह्री अर्हं सुहिताय नम ॥६६४॥ सबका हित करने से आप सुहित है ॥६६४॥

ओं ह्रीं अर्हं सुहृदे नम ॥६६५॥ निष्कपट, शुद्ध, निर्मल होने से आप सुहृत् हैं ॥६६५॥

ओं ह्रीं अर्हं सुगुप्तये नमः ।।६६६।। मिथ्यादृष्टियों द्वारा आपका स्वरूप न जानने से आप सुगुप्त है ।।६६६।।

ओं ह्रीं अर्ह गुप्तिभृते नमः ।। ६६७।। आप तीनों गुप्तियों को पालन करने से गुप्तिभृत है ।।६६७।।

ओं ह्रीं अर्हं गोप्तये नमः ।।६६८।। पापो से आत्मा की रक्षा करने से अथवा जीवों की रक्षा करने से आप गोप्ता हैं ।।६६८।।

ओ ह्रीं अर्हं लोकाध्यक्षाय नमः ।।६६६।। तीनो लोको को प्रत्यक्ष देखने से आप लोकाध्यक्ष है ।।६६६।।

ओ ह्रीं अर्हं दमेश्वराय नम. ।।७००।। इद्रियदमन करने से तपश्चरण के स्वामी होने के कारण आप दमेश्वर कहलाते है ।।७००।।

ओ ह्रीं अर्हं बृहद वृहस्पतये नमः ।।७०१।। इन्द्रो के सबसे बड़े गुरु होने से आप बृहद् वृहस्पति है ।।७०१।।

ओ ह्रीं अर्हं वाग्म्ये नम ।।७०२।। विलक्षण वक्ता होने से आप वाग्मी है ।।७०२।।

ओ ह्रीं अर्हं वाचस्पतये नम ।।७०३।। वाणी के स्वामी होने से वाचस्पति है ।।७०३।।

ओ ह्रीं अर्हं उदारधिये नमः ।।७०४।। उदार बुद्धि होने से अर्थात् सब को धर्म का उपदेश दने से आप उदारधी है ।।७०४।।

ओ ह्रीं अर्हं मनीषिणे नमः ।।७०५।। बुद्धिमान होने से आप मनीषी है ।।७०५।।

ओ ह्रीं अर्हं धीषणाय नमः ।।७०६।। अपार बुद्धिमान होने से आप धीष्ण हैं धीमान है ।।७०६-७०७।।

ओ ह्रीं अर्हं शेमुषीशाय नमः ।।७०८।। बुद्धि के स्वामी होने से आप शेमुशीष है ।।७०८

ओ ह्रीं अर्हं गिरापतये नम ।।७०६।। सभी भाषाओ के स्वामी होने से आप गिरापति है ।।७०६।।

ओ ह्रीं अर्हं नेकरूपाय नमः ।।७१०।। अनेक रूप होने से आप नेकरूप है ।।७१०।।

ओं ह्रीं अर्हं नयोतुगाय नम ।।७११।। नयो का उत्कृष्ट स्वरूप कहने से आप नयोतु ग है ।।७११।।

ओ ह्रीं अर्हं नैकात्मने नमः ।।७१२।। आप अनेक गुणों को धारण करने से नेकात्मा हैं ।।७१२।।

ओ ह्रीं अर्हं नैकधर्मकृते नमः ।।७१३।। पदार्थों को अनेक धर्मरूप कथन करने से आप नैकधर्मकृत हैं ।।७१३।।

ओ ह्री अह अविज्ञेयाय नमः ।।७१४।। साधारण पुरुषों के द्वारा जानने के अयोग्य होने से आप अविज्ञेय हैं ।।७१४।।

ओं ह्रीं अर्ह अप्रतर्क्यात्मने नम· ।।७१५।। आपके स्वरूप का कोई तर्कवितर्क नही कर सकता इसलिये आप अप्रतर्क्यात्मा है ।।७१५।।

ओ ह्री अर्ह कृतज्ञाय नम· ।।७१६ ।। जीवो के समस्त कृत्य जानने से आप कृतज्ञ हैं ।।७१६।।

ओ ह्री अर्ह कृत लक्षणाय नमः ।।७१७।। समस्त शुभ लक्षणो से सयुक्त होने के कारण आप कृत लक्षण हैं ।।७१७।।

ओ ह्री अर्हं ज्ञानगर्भाय नमः ।।७१८।। अतरग मे ज्ञान होने से आप ज्ञानगर्भ हैं ।।७१८।।

ओ ह्री अर्ह दयागर्भाय नम. ।।७१९।। दयालु होने से आप दयागर्भ है ।।७१९।।

ओ ह्री रत्नगर्भाय नम ।।७२०।। रत्नत्रयो को धारण करने से अथवा गर्भावस्था ही में रत्नत्रय का स्वरूप जानने से अथवा गर्भावतार होने से पहले ही रत्नो की वर्षा होने से आप रत्नगर्भ हैं ।।७२०।।

ओ ह्री अर्हं प्रभास्वराय नम. ।।७२१।। अतिशय प्रभावशाली होने से आप प्रभास्वर है ।।७२१।।

ओ ह्री अर्ह पद्मगर्भाय नमः ।।७२२।। गर्भावस्था मे ही लक्ष्मी प्राप्त होने से आप पद्मगर्भ है ।।७२२।।

ओ ह्री अर्ह जगगर्भाय नम. ।।७२३।। आपके ज्ञान के भीतर समस्त जगत होने से आप जगगर्भ है ।।७२३।।

ओ ह्री अर्ह हेमगर्भाय नमः ।।७२४।। आपका आत्मा स्वर्ण के समान निर्मल होने से अथवा गर्भावतार के समय सुवर्ण की वर्षा होने से आप हेमगर्भ है ।।७२४।।

ओ ह्री अर्ह सुदर्शनाय नम. ।। ७२५।। आपका सुन्दर दर्शन होने से आप सुदर्शन है।।७२५।।

ओ ह्री अर्ह लक्ष्मीवते नमः ।।७२६।। समवशरणादि ऐश्वर्य सहित होने से आप लक्ष्मीवान् है ।।७२६।।

ओ ह्री अर्हं त्रिदशाध्यक्षाय नम. ।।७२७।। देवो को प्रत्यक्ष होने से अथवा तेरह प्रकार के चारित्र को धारण करने वाले मुनियों को प्रत्यक्ष होने से अथवा बाल, युवा बृद्ध तीनो अवस्थाओ मे एक सा प्रत्यक्ष होने से आप त्रिदशाध्यक्ष है ।।७२७।।

ओ ह्री अर्ह दृढीयसे नमः ।।७२८।। अत्यन्त दृढ़ होने से आप दृढीयान है ।।७२८।।

ओं ह्रीं अर्हं इनाय नमः ॥७२९॥ सबके स्वामी होने के आप इन हैं ॥७२९॥

ओं ह्रीं अर्हं ईशिताय नमः ॥७३०॥ तेजो निधि अर्थात् ऐश्वर्यवान् होने से आप ईशिता है ॥७३०॥

ओं ह्रीं अर्हं मनोहराय नमः ॥७३१॥ भव्य जीवों के अंतःकरण को हरण करने से आप मनोहर है ॥७३१॥

ओं ह्रीं अर्हं मनोज्ञांगाय नमः ॥७३२॥ अंग उपंग मनोहर रहने से आप मनोज्ञांग है ॥७३२॥

ओं ह्रीं अर्हं धीराय नमः ॥७३३॥ बुद्धि को प्रेरणा देने से अथवा भव्य जीवों को सुबुद्धि देने से आप धीर है ॥७३३॥

ओं ह्रीं अर्हं गंभीरशासनाय नमः ॥७३४॥ आपका शासन अथवा शास्त्र गंभीर होने से आप गंभीरशासन है ॥७३४॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मयूपाय नमः ॥७३५॥ आप धर्म के स्तंभ होने से धर्मयूप हैं ॥७३५॥

ओं ह्रीं अर्हं दयायागाय नमः ॥७३६॥ सब जीवों पर दया करना ही आपको पूजा होने से आप दयायाग है ॥७३६॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मनेमिने नमः ॥७३७॥ धर्मरूपी रथ की धुरी होने से आप धर्मनेमि है ॥७३७॥

ओं ह्रीं अर्हं मुनीश्वराय नमः ॥७३८॥ आप मुनियों के ईश्वर होने से मुनीश्वर है ॥७३८॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मचक्रायुधाय नमः ॥७३९॥ धर्मचक्र ही आपका आयुध होने से आप धर्मचक्रायुध है ॥७३९॥

ओं ह्रीं अर्हं देवाय नमः ॥७४०॥ परमानन्द में क्रीड़ा करने से आप देव है ॥७४०॥

ओं ह्रीं अर्हं कर्महाय नमः ॥७४१॥ शुभाशुभ कर्मों को नाश करने से आप कर्महा है ॥७४१॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मघोषणाय नमः ॥७४२॥ धर्म का उपदेश देने से आप धर्मघोषण हैं ॥७४२॥

ओं ह्रीं अर्हं अमोघवाचे नमः ॥७४३॥ श्रोताजनों को यथार्थ बोध कराने वाली आपकी वाणी होने से आप अमोघवाक् है ॥७४३॥

ओं ह्रीं अर्हं अमोघाज्ञाय नमः ॥७४४॥ आपकी आज्ञा कभी व्यर्थ न होने से आप अमोघाज्ञ है ॥७४४॥

ओं ह्रीं अर्हं निर्मलाय नमः ॥७४५॥ आप ममत्व रहित होने से निर्मल है ॥७४५॥

ओं ह्रीं अर्हं अमोघशासनाय नमः ॥७४६॥ आपका शास्त्र कभी व्यर्थ न होने से अर्थात् जीवों को मोक्ष प्राप्त करा देने से आप अमोघशासन है ॥७४६॥

ओं ह्रीं अर्हं सुरुपाय नमः ॥७४७॥ आपका स्वरूप आनददायक होने से आप सुरुप हैं ॥७४७॥

ओं ह्रीं अर्हं सुभगाय नमः ॥७४८॥ आपके ज्ञान का अतिशय महात्म्य होने से आप सुभग हैं ॥७४८॥

ओं ह्रीं अर्हं त्यागिने नमः ॥७४९॥ ज्ञानदान, अभयदान आदि देने से आप त्यागी हैं ॥७४९॥

ओ ह्री अर्हं समयज्ञाय नमः ॥७५०॥ आत्म सिद्धात तथा कालस्वरूप जानने से आप समयज्ञ हैं ॥७५०॥

ओं ह्री अर्हं समाहिताय नमः ॥७५१॥ समाधान रूप होने से अथवा ध्यान स्वरूप होने से आप समाहित है ॥७५१॥

ओ ह्री अर्हं सुस्थिताय नमः ॥७५२॥ निश्चल अथवा सुख मे निमग्न रहने से आप सुस्थित हैं ॥७५२॥

ओ ह्री अर्हं स्वास्थ्यभाजे नमः ॥७५३॥ आत्मा की निश्चलता को सेवन करने से आप स्वास्थ्यभाक् है ॥७५३॥

ओ ह्री अर्हं स्वास्थाय नमः ॥७५४॥ सदा आत्मनिष्ठ होने से आप स्वस्थ है ॥७५४

ओ ह्री अर्हं नीरजस्काय नमः ॥७५५॥ कर्मरूप रज से रहित होने से अथवा ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म रहित होने से आप नीरजस्क है ॥७५५॥

ओं ह्री अर्हं निरुद्धवाय नम. ॥७५६॥ आपका कोई स्वामी न होने से आप निरुद्धव हैं ॥७५६॥

ओ ह्री अर्हं अलेपाय नम. ॥७५७॥ कर्म के लेप रहित होने से आप निर्लेप हैं ॥७५७॥

ओं ह्री अर्हं निष्कलकात्मने नमः ॥७५८॥ दोष रहित होने से आप निष्कलकात्मा हैं ॥७५८॥

ओ ह्री अर्हं वीतरागाय नमः ॥७५९॥ रागादि दोषो से रहित होने से अथवा मोक्ष लक्ष्मी में प्रेम होने से आप वीतराग हैं ॥७५९॥

ओं ह्री अर्हं गतस्पृहाय नमः ॥७६०॥ आप इच्छा रहित होने से गतस्पृह है ॥७६०

ओ ह्री अर्हं वश्येंद्रियाय नम. ॥७६१॥ इन्द्रियो को वश करने से आप वश्येन्द्रिय हैं ॥७६१॥

ओं ह्रीं अर्हं विमुक्तात्मने नम. ।।७६२।। संसार रूपी बधन से रहित होने के कारण आप विमुक्तात्मा हैं ।।७६२।।

ओं ह्रीं अर्हं नि.सपत्नाय नमः ।।७६३।। दुष्ट भाव न रहने से अथवा निष्कटक होने से आप निःसपत्न है ।।७६३।।

ओ ह्री अर्ह जितेंद्रियाय नम. ।।७६४।। आप इन्द्रियो को जीतने से जितेंद्रिय हैं ।।७६४।।

ओं ह्री अर्ह प्रशाताय नम· ।।७६५।। शांत होने से अथवा रागद्वेष रहित होने से आप प्रशात है ।।७६५।।

ओं ह्री अर्ह अनत धामर्षये नम. ।।७६६।। अन त प्रकाश को धारण करते हुये भी पूज्य होने से आप अनतधामर्षि है ।।७६६।।

ओ ह्री अर्ह मगलाय नम ।।७६७।। सबको सुख देने से आप मगल है ।।७६७।।

ओ ह्री अर्ह मलघ्ने नम ।।७६८।। पापो को दूर करने से आप मलहर हैं ।।७६८

ओ ह्री अर्ह अनघाय नम ।।७६९।। समस्त पापो से रहित होने से आप अनघ है ।।७६९।।

ओ ह्री अर्ह अनीदृचे नम ।।७७०।। आपके समान अन्य कोई न होने से आप अनीदृक् है ।।७७०।।

ओ ह्री अर्ह उपमाभूताय नम ।।७७१।। सबके लिये उपमा योग्य होने से आप उपमाभूत है ।।७७१।।

ओ ह्री अर्ह दिष्टये नम ।।७७२।। महाभाग्यशाली होने से अथवा शुभाशुभ दाता होने से आप दिष्टि है ।।७७२।।

ओ ह्री अर्ह देवाय नम ।।७७३।। प्रबल अथवा स्तुत करने योग्य होने से आप देव है ।।७७३।।

ओ ह्री अर्ह अगोचराय नमः ।।७७४।। इन्द्रियो के अगोचर अथवा वचनो के अगोचर होने से आप अगोचर है ।।७७४।।

ओ ह्री अर्ह अमूर्तये नमः ।।७७५।। शरीर रहित होने से आप अमूर्त है ।।७७५।।

ओ ह्री अर्ह मूर्तिमते नम ।।७७६।। पुरुषाकार होने से आप मूर्तिमान है ।।७७६।।

ओ ह्री अर्ह एकस्मै नम. ।।७७७।। अद्वितीय होने से अथवा बिना किसी भी सहायता के मोक्ष प्राप्त कर लेने से आप एक है ।।७७७।।

ओं ह्री अर्ह अनेकस्मै नम. ।।७७८।। आप अनेक रूप होने से अथवा सब भव्य जीवों का सहायक होने से नेक हैं ।।७७८।।

ओं ह्री अर्हं नानैकतत्त्वदृशे नमः ॥७७६॥ आत्मा से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों को न देखने से अर्थात् उनमे तल्लीन न होने से आप नानैकतत्वदृक् कहलाते है ॥७७६॥

ओं ह्रीं अर्हं अध्यात्मगम्याय नमः ॥७८०॥ केवल अध्यात्म शास्त्रो के जानने योग्य न होने से आप अध्यात्मगम्य है ॥७८०॥

ओ ह्री अर्हं अगम्यात्मने नमः ॥७८१॥ ससारो जीवो के जानने योग्य न होने से आप अगम्यात्मा है ॥७८१॥

ओ ह्री अर्हं योगविदे नम ॥७८२॥ योग के जानकार न होने से आप योगवित् है ॥७८२॥

ओ ह्री अर्हं योगवदिताय नम. ॥७८३॥ योगियो के द्वारा वदना करने योग्य होने से आप योगवदित है ॥७८३॥

ओ ह्री अर्हं सर्वत्रगाय नमः ॥७८४॥ ज्ञान के द्वारा सर्वत्र व्याप्त होने से आप सर्वत्रग है ॥७८४॥

ओ ह्री अर्हं सदा भाविने नम· ॥७८५॥ सदा विद्यमान रहने से आप सदा भावी है ॥७८५॥

ओ ह्री अर्हं त्रिकालविपयार्थदृगे नमः ॥७८६॥ तीनो काल अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त पदार्थो को देखने से त्रिकाल विषयार्थदृग है ॥७८६॥

ओ ह्री अर्हं शकराय नम ॥७८७॥ सबको सुख का कर्त्ता होने से आप शकर है ॥७८७॥

ओ ह्री अर्हं शंवदाय नम. ॥७८८॥ यथार्थ सुख के अर्थात् मोक्ष रूप सुख के वक्ता होने से आप शवद है ॥७८८॥

ओ ह्री अर्हं दाताय नम. ॥७८९॥ मन को वश करने से आप दात है ॥७८९॥

ओ ह्री अर्हं दमिने नम ॥७९०॥ आप इन्द्रियों को निग्रह करने से दमी है ॥७९०॥

ओं ह्री अर्हं क्षातिपरायणाय नम· ॥७९१॥ क्षमा करने में तथा तत्पर रहने से आप क्षातिपरायण है ॥७९१॥

ओ ह्री अर्हं अधिपाय नम ॥७९२॥ जगत् के अधिपति होने से आप अधिप है ॥७९२॥

ओ ह्री अर्हं परमानदाय नमः ॥७९३॥ आप अत्यन्त सुखी होने से परमानन्द हैं ॥७९३॥

ओ ह्री अर्हं परात्मज्ञाय नमः ॥७९४॥ निज पर के ज्ञाता होने से अथवा विशुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने से आप परात्मज्ञ है ॥७९४॥

ओं ह्रीं अर्हं परात्पराय नमः ।।७९५।। सबसे श्रेष्ठ होने से आप परात्पर हैं ।।७९५।।

ओ ह्री अर्हं त्रिजगद्वल्लभाय नमः ।।७९६।। तीनो लोको को प्रिय होने से आप त्रिजगद्वल्लभ हैं ।।७९६।।

ओ ह्री अर्ह अभ्यर्चाय नम ।।७९७।। सबके पूज्य होने से आप अभ्यचर्य है ।।७९७।।

ओ ह्री अर्ह जिगन्मंगलोदयाय नम ।।७९८।। तीनो लोको मे मगलदाता होने से आप त्रिजगन्मगलोदय है ।।७९८।।

ओ ह्री अर्ह त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिने नम ।।७९९।। आपके चरण कमल तीनों लोकों में इन्द्रो के द्वारा पूज्य होने से आप त्रिजगत्पतिपूज्याघ्रि कहलाते है ।।७९९।।

ओ ह्री अर्ह त्रिलोकाग्रशिखामणये नम ।।८००।। तीनो लोको के शिखर के शिखामणि होने से आप त्रिलोकाग्रशिखामणि कहलाते है ।।८००।।

ओ ह्री अर्ह त्रिकालदर्शिने नम ।।८०१।। भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनो कालो को प्रत्यक्ष देखने से आप त्रिकालदर्शी है ।।८०१।।

ओ ह्री अर्ह लोकेशाय नमः ।।८०२।। तीनो लोको के ईश (स्वामी) होने से आप लोकेश है ।।८०२।।

ओ ह्री अर्ह लोकधात्रे नम ।।८०३।। समस्त प्राणियो की रक्षा का उपदेश देने से आप लोकधाता है ।।८०३।।

ओ ह्री अर्ह दृढव्रताय नम ।।८०४।। स्वीकार किये हुये निश्चय चारित्र को निश्चय कर देने से आप दृढव्रत है ।।८०४।।

ओ ह्री अर्ह सर्वलोकातिशाय नम ।।८०५।। तीनो लोको के प्राणियों में सर्वोत्कृष्ट होने से आप सर्वलोकातिग है ।।८०५।।

ओ ह्री अर्ह पूज्याय नम. ।।८०६।। पूजा के योग्य होने से आप पूज्य है ।।८०६।।

ओ ह्री अर्ह सर्वलोकैकसारथिये नम. ।।८०७।। समस्त प्राणियो के लिये मुख्य रीति से मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखलाने से आप सर्वलोकैकसारथि कहे जाते है ।।८०७।।

ओ ह्री अर्ह पुराणाय नम ।।८०८।। सबसे प्राचीन होने से अथवा मुक्ति पर्यन्त शरीर में निवास करने से आप पुराण है ।।८०८।।

ओ ह्री अर्ह पुरुषाय नमः ।।८०९।। सबसे बड़े होने से अथवा सब को तृप्त करने से अवथा पूज्य समवशरण मे स्थित रहने से आप पुरुष हे ।।८०९।।

ओ ह्री अर्ह पूर्वस्मैः नम. ।।८१०।। सबसे पूर्व अर्थात् अग्रेसर होने से आप पूर्व है ।।८१०।।

ओं ह्रीं अर्हं कृतपूर्वांग विस्तराय नम. ॥८११॥ ग्यारह अग, चौदह पूर्व का समस्त विचार निरूपण करने से आप कृतपूर्वांग विस्तर है ॥८११॥

ओ ह्री अर्हं आदिदेवाय नम ॥८१२॥ सब देवों में मुख्य होने से आप आदिदेव है ॥८१२॥

ओ ह्री अर्हं पुराणाद्याय नम. ॥८१३॥ सब पुराणो में प्रथम होने से आप पुराणाद्य हैं ॥८१३॥

ओं ह्री अर्हं पुरुदेवाय नमः ॥८१४॥ इद्रादि देव मुख्यता से आपकी ही आराधना करते है अथवा आप सबके ईश हैं इसलिये पुरुदेव है ॥८१४॥

ओं ह्री अर्हं युग मुख्याय नम ॥८१५॥ इस अवसर्पिणी काल मे मुख्य होने से आप युगमुख्य कहे जाते है ॥८१५॥

ओ ह्री अर्हं अधिदेवाय नम ॥८१६॥ देवों के भी देव होने से आप अधिदेव है ॥८१६॥

ओ ह्री अर्हं युगज्येष्ठाय नम. ॥८१७॥ इसी युग मे सबसे बड़े होने से आप युगज्येष्ठ कहलाते है ॥८१७॥

ओ ह्री अर्हं युगादिस्थितिदेशकाय नम. ॥८१८॥ कर्मभूमि के प्रारम्भ में कर्मभूमि की स्थिति के मुख्य उपदेशक होने से आप युगादिस्थितिदेशक कहलाते है ॥८१८॥

ओ ह्री अर्हं कल्याणवर्णाय नम ॥८१९॥ आपके शरीर की कान्ति सुवर्ण के समान होने से आप कल्याण वर्ण है ॥८१९॥

ओ ह्री अर्हं कल्याणाय नम ॥८२०॥ कल्याण स्वरूप होने से आप कल्याण है ॥८२०॥

ओ ह्री अर्हं कल्याय नम ॥८२१॥ सबके कल्याण करने में समर्थ होने से आप कल्य है ॥८२१॥

ओ ह्री अर्हं कल्याणलक्ष्मणाय नम ॥८२२॥ मगलस्वरूप होने से अथवा कल्याणरूप लक्षणो को धारण करने से आप कल्याणलक्षण कहलाते है ॥८२२॥

ओं ह्री अर्हं कल्याणप्रकृतये नमः ॥८२३॥ आपका स्वभाव ही कल्याणस्वरूप होने से आप कल्याण प्रकृति कहे जाते है ॥८२३॥

ओ ह्री अर्हं दीप्तकल्याणात्मने नम. ॥८२४॥ चारों ओर प्रकाशमान होता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आपका स्वभाव है, इसलिये आप दीप्तकल्याणात्मा कहे जाते हैं ॥८२४॥

ओं ह्रीं अर्हं विकल्पषाय नमः ॥८२५॥ आप पाप रहित होने से विकल्पष हैं ॥८२५॥

ओं ह्रीं अर्हं विकलंकाय नमः ॥८२६॥ काम आदि कलंक से रहित होने के कारण आप विकलंक है ॥८२६॥

ओं ह्रीं अर्हं कलातीताय नमः ॥८२७॥ आप शरीर रहित होने से कलातीत हैं ॥८२७॥

ओं ह्रीं अर्हं कलिलघ्नाय नमः ॥८२८॥ आप पापो को नाश करने वाले होने से कलिलघ्न हैं ॥८२८॥

ओं ह्रीं अर्हं कलाधराय नमः ॥८२९॥ अनेक कलाओं को धारण करने से आप कलाधर हैं ॥८२९॥

ओं ह्रीं अर्हं देवदेवाय नमः ॥८३०॥ इन्द्रादि सभी देवों के देव होने से आप देव देव है ॥८३०॥

ओं ह्रीं अर्हं जगन्नाथाय नमः ॥८३१॥ आप तीनों लोको के स्वामी होने से जगन्नाथ कहलाते है ॥८३१॥

ओं ह्रीं अर्हं जगद्बंधवे नमः ॥८३२॥ आप तीनों लोकों की हित भावना रखने से जगत्बंधु है ॥८३२॥

ओं ह्रीं अर्हं जगद्विभुवे नमः ८३३॥ समस्त जगत् के प्रभु होने से आप जगद्विभु है ॥८३३॥

ओं ह्रीं अर्हं जगद्धितैषे नमः ॥८३४॥ तीनों लोकों के लिये कल्याण करने की इच्छा रखने से आप जगद्धितैषी है ॥८३४॥

ओं ह्रीं अर्हं लोकाज्ञाय नमः ८३५॥ तीनो लोकों के जानने से आप लोकज्ञ है ॥८३५॥

ओं ह्रीं अर्हं सर्वगाय नमः ॥८३६॥ केवलज्ञान के द्वारा सब जगह व्याप्त होने से आप सर्वग है ॥८३६॥

ओं ह्रीं अर्हं जगदग्रजाय नमः ॥८३७॥ समस्त जगत में श्रेष्ठ होने से अथवा जगत् के मुख्य स्थान में उत्पन्न होने से आप जगत्ग्रज हैं ॥८३७॥

ओं ह्रीं अर्हं चराचर गुरुवे नमः ॥८३८॥ आप त्रस, स्थावर आदि सभी जीवों के गुरु होने से चराचर गुरु है ॥८३८॥

ओं ह्रीं अर्हं गोप्याय नमः ॥८३९॥ हृदय में बड़े यत्न से स्थापना करने के योग्य होने से आप गोप्य हैं ॥८३९॥

ओं ह्री अर्हं गूढात्मने नम: ॥८४०॥ आपका स्वरूप अत्यन्त गुप्त होने से आप गूढात्मा हैं ॥८४०॥

ओं ह्री अर्हं गूढ़ गोचराय नम ॥८४१॥ गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थों के जानने से आप गूढ गोचर है ॥८४१॥

ओं ह्री अर्हं सद्यो जाताय नम. ॥८४२॥ सदा तुरन्तही उत्पन्न होने के समान देख पड़ते हैं अर्थात् सदा नवीन ही जान पडते है इसलिये आप सद्योजात है ॥८४२॥

ओ ह्री अर्हं प्रकाशात्मने नम ॥८४३॥ आप प्रकाशरूप होने से प्रकाशात्मा हैं ॥८४३॥

ओ ह्री अर्हं ज्वलनज्वलनसप्रभाय नम ॥८४४॥ प्रज्वलित हुई अग्नि के समान दैदीप्यमान होने से आप ज्वलनज्वलनसप्रभ कहलाते है ॥८४४॥

ओ ह्री अर्हं आदित्यवर्णाय नम ॥८४५॥ सूर्य के समान तेजस्वी होने से आप आदित्य वर्ण कहलाते है ॥८४५॥

ओ ह्री अर्हं भर्माभाय नम ॥८४६॥ सुवर्ण के समान कान्तियुक्त होने से आप भर्माभ है ॥८४६॥

ओ ह्री अर्हं सुप्रभाय नम ॥८४७॥ मन के लिये आनन्द दायक सुन्दर कान्ति होने से आप सुप्रभ है ॥८४७॥

ओ ह्री अर्हं कनकप्रभाय नम. ॥८४८॥
ओ ह्री अर्हं सुवर्णवर्णाय नम ॥८४९॥
ओ ह्री अर्हं रुक्माभाय नम ॥८५०॥

सुवर्ण के समान उज्वल कान्तियुक्त होने से आप कनकप्रभ है ॥८४८॥ सुवर्णवर्ण ॥८४९॥ तथा रुक्माभ ॥८५०॥ कहे जाते है ॥

ओ ह्री अर्हं सूर्य कोटिसमप्रभाय नम. ॥८५१॥ करोड़ों सूर्यों के समान प्रभा होने से आप सूर्य कोटि समप्रभ है ॥८५१॥

ओ ह्री अर्हं तपनीयनिभाय नम ॥८५२॥ सुवर्ण के समान सुन्दर पीतवर्ण होने से आप तपनीयनिभा कहलाते है ॥८५२॥

ओ ह्री अर्हं तुंगाय नम ॥८५३॥ ऊचे शरीर को धारण करने से आप तुँग हैं ॥८५३॥

ओ ह्री अर्हं बालार्कभाय नम ॥८५४॥ प्रातःकाल के उदय होते हुए सूर्य के समान कान्तिमान् और सुन्दर होने के कारण आप बालार्काभ कहलाते है ॥८५४॥

ओ ह्री अर्हं अनिलप्रभाय नम. ॥८५५॥ अग्नि के समान प्रभावान् होने से आप अनिलप्रभ हैं ॥८५५॥

ओं ह्रीं अर्हं सन्ध्याभ्रुवभ्रुवे नमः ॥८५६॥ सन्ध्या के बादलों के समान सुन्दर वर्ण होने से आप सन्ध्याभ्रुवभ्रु कहलाते हैं ॥८५६॥

ओ ह्री अर्हं हेमाभाय नमः ॥८५७॥ सुवर्ण के समान होने से आप हेमाभ हैं ॥८५७॥

ओं ह्री अर्हं तप्तचामीकर प्रभाय नम· ॥८५८॥ तपाये हुए सुवर्ण के समान कान्तियुक्त होने से आप चामीकरप्रभ कहलाते है ॥८५८॥

ओ ह्री अर्हं निष्तप्तकनकच्छायाय नम. ॥८५९॥ कनत्काचन सन्निभाय नम· ॥८६०॥ हिरण्यवर्णाय नम. ॥८६१॥ स्वर्णाभाय नम· ॥८६२॥ शानिकुँभनिभ प्रभाय नमः ॥८६३॥ द्युम्नाभाय नम ॥८६४॥ जातरूपाभाय नम ॥८६५॥ तप्तजाम्बूनदद्युतये नम ॥८६६॥ सुधौत कलधौत श्रियें नम ॥८६७॥ हाटकद्युतये नमः ॥८६८॥

सुवर्ण के समान उज्ज्वल और कातियुक्त होने से आप निप्तप्तकनकच्छाया (८५९॥ कनत्काचन सन्निभा ॥८६०॥ हिरण्यवर्णा ॥८६१॥ स्वर्णाभा ॥८६२॥ शांतकुभ-नभप्रभा ॥८६३॥ द्युम्नाभा ॥८६४॥ जातरूपाभ ॥८६५॥ तप्तजाम्बूनद द्युति ॥८६६॥ सुधौतकलधौत श्री ॥८६७॥ और हाटकद्युति ॥८६८॥ कहलाते है ॥

ओ ह्री अर्हं प्रदीप्ताय नम ॥८६९॥ दैदीप्यमान होने से आप प्रदीप्त कहलाते है ॥८६९॥

ओ ह्री अर्हं शिष्टेष्टाय नम ॥८७०॥ इद्रादि उत्तम पुरुषो को प्रिय होने से आप शिष्टेष्ट हैं ॥८७०॥

ओ ह्री अर्हं पुष्टिदाय नम· ॥८७१॥ पुष्टि के दाता होने से आप पुष्टिदाता हैं ॥८७१॥

ओ ह्री अर्हं पुष्टाय नम ॥८७२॥ महाबलवान् होने से आप पुष्ट हैं ॥८७२॥

ओ ह्री अर्हं स्पष्टाय नमः ॥८७३॥ सबको प्रगट दिखाई देने से आप स्पष्ट हैं ॥८७३॥

ओ ह्री अर्हं स्पष्टाक्षराय नम· ॥८७४॥ आपकी वाणी स्पष्ट तथा आनन्ददायनी होने से आप स्पष्टाक्षर है ॥८७४॥

ओ ह्री अर्हं क्षमाय नमः ॥८७५॥ आप समर्थ होने से क्षम है ॥८७५॥

ओ ह्री अर्हं शत्रुघ्नाय नमः ॥८७६॥ कर्म रूपी शत्रुओ को नाश करने से आप शत्रुघ्न कहलाते हैं ॥८७६॥

ओं ह्री अर्हं अप्रतिगाय नमः ॥८७७॥ क्रोध रहित होने से आप अप्रतिग हैं ॥८७७।

ओ ह्री अर्हं अमोघाय नम· ॥८७८॥ सफल अर्थात् कृतकृत्य होने से आप अमोघ है ॥८७८॥

ओं ह्रीं अर्हं प्रशास्त्रे नमः ॥८७९॥ धर्मोपदेश देने से आप प्रशास्ता हैं ॥८७९॥

ओं ह्री अर्हं शासिताय नमः ॥८८०॥ आप रक्षक होने से शासिता हैं ॥८८०॥

ओं ह्री अर्हं स्वभुवे नम. ॥८८१॥ अपने आप उत्पन्न होने से आप स्वयंभू हैं ॥८८१॥

ओं ह्री अर्हं शान्तनिष्ठाय नमः ॥८८२॥ काम, क्रोध, आदि को नष्ट करने से अथवा शान्त होने से आप शान्तनिष्ट है ॥८८२॥

ओ ह्री अर्हं मुनिज्येष्ठाय नम ॥८८३॥ मुनियो में श्रेष्ठ होने से आप मुनि ज्येष्ठ हैं ॥८८३॥

ओ ह्री अर्हं शिवतातये नमः ॥८८४॥ सुख की परम्परा होने से आप शिवतात है ॥८८४॥

ओ ह्री अर्हं शिवप्रदाय नमः ॥८८५॥ कल्याण के दाता होने से आप शिवप्रद है ॥८८५॥

ओ ह्री अर्हं शान्तिदाय नम· ॥८८६॥ शान्तिदायक होने से आप शान्तिद हैं ॥८८६॥

ओ ह्री अर्हं शान्तिकृताय नम ॥८८७॥ समस्त उपद्रवो को शान्त करने से आप शान्तिकृत है ॥८८७॥

ओ ह्री अर्हं शान्तये नम ॥८८८॥ कर्मो का क्षय करने से आप शान्ति हैं ॥८८८॥

ओ ह्री अर्हं कान्तिमते नम ॥८८९॥ कान्तियुक्त होने से आप कान्तिमान् हैं ॥८८९॥

ओ ह्री अर्हं कामित्प्रदाय नम ॥८९०॥ मनवाछित फलो को देने वाले होने से आप कामित्प्रभ है ॥८९०॥

ओ ह्री अर्हं श्रेयोनिधये नम ॥८९१॥ कल्याण के समुद्र होने से आप श्रेयोनिधि हैं ॥८९१॥

ओ ह्री अर्हं अधिष्टानाय नम ॥८९२॥ धर्म के मूल कारण और आधार होने से आप अधिष्ठान है ॥८९२॥

ओ ह्री अर्हं अप्रतिष्ठाय नम ॥८९३॥ अपने आप ही ईश्वर होने से आप अप्रतिष्ठ हैं ॥८९३॥

ओ ह्री अर्हं प्रतिष्ठिताय नम· ॥८९४॥ सब जगह प्रतिष्ठित होने से आप प्रतिष्ठित हैं ॥८९४॥

ओ ह्री अर्हं सुस्थिताय नम ॥८९५॥ अतिशय स्थिर होने से आप सुस्थित है ॥८९५॥

ओं ह्रीं अर्ह स्थावराय नमः ।।८९६।। विहार रहित होने से आप स्थावर है ।।८९६।।

ओं ह्री अर्ह स्थाणुवे नम ।।८९७।। निश्चल होने से आप स्थाणु है ।।८९७।।

ओं ह्री अर्ह पृथीयसे नमः ।।८९८।। विस्तृत होने से आप पृथीयान है ।।८९८।।

ओ ह्री अर्ह प्रथिताय नम ।।८९९।। अतिशय प्रसिद्ध होने से आप प्रथित हैं ।।८९९।।

ओ ह्री अर्ह पृथुवे नम ।।९००।। बहुत बडे होने से आप पृथु कहलाते हैं ।।९००।।

ओं ह्री अर्ह दिग्वाससे नमः ।। ९०१।। दिशारूप वस्त्र धारण करने से आप दिग्वासा है ।।९०१।।

ओं ह्री अर्ह वातरशनाय नम ।।९०२।। वायुरूपी करधनी को धारण करने वाले होने से आप वातरशन है । ९०२।।

ओ ह्री अर्ह निर्ग्रन्थेशाय नमः ।।९०३।। निर्ग्रन्थ मुनियो मे भी श्रेष्ठ होने से आप निर्ग्रन्थेश है ।।९०३।।

ओ ह्री अर्ह निरम्बराय नम ।।९०४।। वस्त्र रहित होने से आप निरम्बर है ।।९०४।।

ओ ह्री अर्ह निष्कचनाय नमः ।।९०५।। परिग्रह रहित होने से आप निष्कचन है ।।९०५।।

ओ ह्री अर्ह निराशसाय नम. ।।९०६।। इच्छा अथवा आशा रहित होने से आप निराशस है ।।९०६।।

ओ ह्री अर्ह ज्ञानचक्षुषे नम ।।९०७।। ज्ञानरूपी नेत्रो को धारण करने से आप ज्ञानचक्षु कहलाते है ।।९०७।।

ओ ह्री अर्ह अमोमुहाय नम ।।९०८।। अत्यन्त निर्मोह होने से आप अमोमुह हैं ।।९०८।।

ओ ह्री अर्ह तेजोराशये नम. ।।९०९।। तेज के समूह होने से आप तेजोराशि है ।।९०९।।

ओं ह्री अर्ह अनतौजसे नम. ।।९१०।। अनन्त पराक्रमो होने से आप अनन्तौजा हैं ।।९१०।।

ओ ह्री अर्ह अनतज्ञानाब्धये नमः ।।९११।। ज्ञान का सागर होने से आप ज्ञानाब्धि है ।।९११।।

ओं ह्री अर्हं शीलसागराय नम· ।।६१२।। शील के सागर अथवा स्वस्वभाव के सागर होने से आप शीलसागर कहलाते है ।।६१२।।

ओं ह्री अर्हं तेजोमयाय नम. ।।६१३।। तेजरूप होने से आप तेजोमय हैं ।।६१३।।

ओ ह्री अर्हं अमितज्योतिषे नम· ।।६१४।। अनन्त ज्योति के धारक होने से आप अमितज्योति कहलाते है ।।६१४।।

ओं ह्री अर्हं ज्योति मूर्तये नमः ।।६१५।। तेजस्वरूप होने से आप ज्योतिर्मूर्ति है ।।६१५।।

ओ ह्री अर्हं तमोपहाय नमः ।।६१६।। अज्ञान रूपी अन्धकार के नाश हो जाने से आप तमोपह कहलाते है ।।६१६।।

ओ ह्री अर्हं जगच्चूडामणये नमः ।।६१७।। तीनों लोको के मस्तक के रत्न होने से आप जगत् के चूडामणि कहलाते है ।।६१७।।

ओ ह्री अर्हं दीप्तये नमः ।।६१८।। तेजस्वी होने के कारण अथवा प्रकाशमान होने से आप दीप्त है ।।६१८।।

ओ ह्री अर्हं शवते नम. ।।६१९।। अत्यन्त सुखी होने से आप शवान् कहलाते है ।।६१९।।

ओ ह्री अर्हं विघ्नविनायकाय नम· ।।६२०।। विघ्नो के अथवा अन्तराय कर्मों के नाश होने से आप विघ्नविनायक कहलाते हैं ।।६२०।।

ओ ह्री अर्हं कलिघ्नाय नम· ।।६२१।। दोषो को दूर करने से आप कलिघ्न हैं ।।६२१।।

ओ ह्री अर्हं कर्मशत्रुघ्नाय नम. ।।६२२।। कर्म रूपी शत्रुओ का नाश करने से आप कर्मशत्रुघ्न हैं ।।६२२।।

ओ ह्री अर्हं लोकालोकप्रकाशकाय नम· ।।६२३।। लोक और अलोक को देखने और जानने वाले होने से आप लोकालोक प्रकाशक है ।।६२३।।

ओ ह्री अर्हं अनिद्रालुवे नम ।।६२४।। निद्रा रहित होने से आप अनिद्रालु हैं ।।६२४।।

ओ ह्री अर्हं अतन्द्रालुवे नमः ।।६२५।। प्रमाद रहित होने से आप अतन्द्रालु हैं ।।६२५।।

ओं ह्री अर्हं जागरुकाय नमः ।।६२६।। अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए सदा जागरुक रहने से आप जागरुक कहलाते हैं ।।६२६।।

ओं ह्री अर्हं प्रमामयाय नमः ।। आप ज्ञानरूप होने से प्रमामय हैं ।।६२७।।

ओं ह्री अर्हं लक्ष्मीपतये नमः ।।६२८।। मोक्षरूपी अविनाशी लक्ष्मी के स्वामी होने से आप लक्ष्मीपति हैं ।।६२८।।

ओ ह्री अर्हं जगज्ज्योतये नम· ।।६२६।। जगत् को प्रकाशित करने से आप जग-ज्योति हैं ।।६२६।।

ओ ह्री अर्हं धर्मराजाय नम· ।।६३०।। धर्म के स्वामी होने से आप धर्म के राजा है ।।६३०।।

ओ ह्री अर्हं प्रजाहिताय नम ।।६३१।। प्रजा के हितैषी होने से आप प्रजाहित कहलाते है ।।६३१।।

ओ ह्री अर्हं मुमुक्षवे नमः ।।६३२।। निर्वाण के रुचिरूप होने से आप मुमुक्षु कहलाते है ।।६३२।।

ओ ह्री अर्हं बध मोक्षज्ञाय नम ।।६३३।। बंध और मोक्ष का स्वरूप जानने से आप बध मोक्षज्ञ है ।।६३३।।

ओ ह्री अर्हं जिताक्षाय नम. ।।६३४।। आप इन्द्रियो को जीतने से जिताक्ष हैं ।।६३४।।

ओ ह्रीं अर्हं जितमन्मथाय नम· ।।६३५।। कामदेव को जीतने से आप जितमन्मथ कहलाते है ।।६३५।।

ओ ह्री अर्हं प्रशातरसशैलुषाय नम ।।६३६।। शान्तरूपी रसामृत का पान करने से आप प्रशान्त रसशैलूष कहलाते है ।।६३६।।

ओ ह्री अर्हं भव्यपेटकनायकाय नम. ।।६३७।। भव्य जीवो के समुदाय के नायक होने से आप भव्यपेटकनायक कहलाते है ।।६३७।।

ओ ह्री अर्हं मूलकर्ताय नमः ।।६३८।। धर्म के मुख्य प्रकाशक होने से आप मूलकर्ता है ।।६३८।।

ओ ह्री अर्हं जगज्योतिषे नम. ।।६३९।। अनन्त ज्योति स्वरूप होने से आप जग-ज्योति हैं ।।६३९।।

ओ ह्री अर्हं मलघ्नाय नम. ।।६४०।। रागद्वेषादि मल को नाश करने से आप मल-घ्न है ।।६४०।।

ओ ह्रीं अर्हं मूलकारणाय नमः ।।६४१।। आप मोक्ष के मूल कारण होने से मूलकारण हैं ।।६४१।।

ओ ह्री अर्हं आप्ताय नमः ।।६४२।। यथार्थ वक्ता होने से आप आप्त हैं ।।६४२।।

ओ ह्री अर्हं वागीश्वराय नम ।।९४३।। स्व प्रकाश की वाणी के स्वामी होने से आप वागीश्वर कहलाते है ।।९४३।।

ओं ह्रीं अर्हं श्रेयसे नम ।।९४४।। कल्याणस्वरूप होने से आप श्रेयान् है ।।९४४।।

ओ ह्री अर्हं श्रायसोक्तये नम. ।।९४५।। आपकी वाणी कल्याणरूप होने से आप श्रायसोक्ति कहलाते है ।।९४५।।

ओ ह्री अर्हं निरुक्तवाचे नमः ।।९४६।। नि सन्देह वाणी होने से आप निरुक्तवाक् कहलाते है ।।९४६।।

ओ ह्री अर्हं प्रवक्त्रे नम ।।९४७।। सबसे उत्तम वक्ता होने से आप प्रवक्ता हैं ।।९४७।।

ओ ह्री अर्हं वचसामीशाय नम ।।९४८।। सब प्रकार के वचनो के स्वामी होने से आप वचसामीश है ।।९४८।।

ओ ह्री अर्हं मारजिते नम ।।९४९।। कामदेव को जीतने से आप मारजित है। ।।९४९।।

ओं ह्री अर्हं विश्वभावविदाय नम ।।९५०।। ससार के समस्त पदार्थों को जानने से अथवा समस्त प्राणियो के अभिप्राय जानने से आप विश्वासवित् कहलाते है ।।९५०।।

ओ ह्री अर्हं सुतनुवे नम ।।९५१।। उत्कृष्ट शरीर को धारण करने से आप सुतनु है। ।।९५१।।

ओ ह्री अर्हं तनुनिर्मुक्ताय नम ।।९५२।। शरीर रहित होने से आप तनुनिर्मुक्त है ।।९५२।।

ओ ह्री अर्हं सुगतये नम ।।९५३।। आतमा मे तल्लीन होने से अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करने से आप सुगत है ।।९५३।।

ओ ह्री हतदुर्नयाय नम ।।९५४।। मिथ्यादृष्टियो की खोटी नयो का नाश करने से आप हतदुर्नय है ।।९५४।।

ओ ह्री अर्हं श्रीशाय नम ।।९५५।। अतरग और बाह्यलक्ष्मी के स्वामी होने से आप श्रीश है ।।९५५।।

ओ ह्री अर्हं श्रीश्रितपादाब्जाय नम ।।९५६।। आपके चरण कमलो की सेवा लक्ष्मी करती है इसलिए आप श्री श्रितपादाब्ज है ।।९५६।।

ओ ह्री अर्हं वीतभीराय नम ।। ९५७।। भय रहित होने से आप वीतभीर है। ।।९५७।।

ओ ह्री अर्हं अभयकराय नम. ।।९५८।। भक्त लोगो के भय दूर करने से आप अभयकर है ।।९५८।।

ओं ह्री अर्हं उत्सन्नदोषाय नमः ।।६५६।। समस्त दोषो को नष्ट कर देने से आप उत्सन्न दोष कहलाते है ।।६५६।।

ओं ह्री अर्हं निर्विघ्नाय नम. ।।६६०।। विघ्न रहित होने से आप निर्विघ्न है। ।।६६०।।

ओ ह्री अर्हं निश्चलाय नम ।।६६१।। स्थिर होने से आप निश्चल है ।।६६१।।

ओ ह्री अर्हं लोकवत्सलाय नम. ।।६६२।। लोगो को अत्यन्त प्रिय होने से आप लोकवत्सल कहे जाते है ।।६६२।।

ओ ह्री अर्हं लोकोत्तराय नमः ।।६६३।। समस्त लोक में उत्कृष्ट होने से आप लोकोत्तर है ।।६६३।।

ओं ह्री अर्हं लोकपतये नम ।।६६४।। तीनो लोको के स्वामी होने से आप लोकपति हैं ।।६६४।।

ओं ह्री अर्हं लोकचक्षुषे नमः ।।६६५।। समस्त लोक को चक्षु के समान यथार्थ पदार्थों के दर्शन होने से आप लोकचक्षु है ।।६६५।।

ओ ह्री अर्हं अपाराधिये नमः ।।६६६।।अनतज्ञान को धारण करने से आप अपारधी है ।।६६६।।

ओ ह्री अर्हं धीरधिये नम ।।६६७।। आप का ज्ञान सदा स्थिर रहता है इसलिये आप धीरधी है ।।६६७।।

ओ ह्री अर्हं बुद्धसन्मार्गाय नम. ।।६६८।। यथार्थ मोक्षमार्ग को जानने से आप बुद्ध सन्मार्ग है ।।६६८।।

ओ ह्री अर्हं शुद्धाय नमः ।।६६९।। शुद्ध स्वरूप होने से आप शुद्ध है ।।६६९।।

ओ ह्री अर्हं सूनृतपूतवाचे नम. ।।६७०।। आपके वचन यथार्थ और पवित्र होने से आप सूनृतपूतवाक् है ।।६७०।।

ओ ह्री अर्हं प्रज्ञापारमिताय नमः ।।६७१।। बुद्धि के पारगामी होने से आप प्रज्ञापारमित हैं ।।६७१।।

ओं ह्री अर्हं प्राज्ञायनम. ६७२।। अतिशय बुद्धिमान होने से आप प्राज्ञ है ।।६७२।।

ओं ह्री अर्हं यतिये नम· ।।६७३।। मन को जीतने से अथवा सदा मोक्षमार्ग का प्रयत्न करने से आप यति है ।।६७३।।

ओं ह्री अर्हं नियमितेंद्रियाय नमः ।।६७४।। इन्द्रियो को वश में करने से आप नियमितेंद्रिय हैं ।।६७४।।

ओं ह्री अर्हं भदताय नम ॥९७५॥ आप पूज्य होने से भदंत है ॥९७५॥

ओ ह्री अर्हं भद्रकृते नमः ॥९७६॥ कल्याणकारी होने से आप भद्रकृत है ॥९७६॥

ओ ह्री अर्हं भद्राय नम ॥९७७॥ निष्कपट अथवा कल्याणस्वरूप होने से आप भद्र हैं ॥९७७॥

ओं ह्री अर्हं कल्पवृक्षाय नम ॥९७८॥ इच्छित पदार्थो के दाता होने से आप कल्पवृक्ष है ॥९७८॥

ओ ह्री अर्हं वग्प्रदाय नम ॥९७९॥ इष्ट पदार्थों की प्राप्ति करा देने से आप वरप्रद कहलाते हैं ॥९७९॥

ओ ह्री अर्हं समुन्मूलित कर्मारये नम ॥९८०॥ कर्मरूप शत्रुओ को उखाडकर फेंक देने से आप समुन्मूलित कर्मारि कहे जाते है ॥९८०॥

ओ ह्री अर्हं कर्मकाष्ठशुशक्षिणिये नम ॥९८१॥ कर्मरूपी लकड़ी को जलाने के लिये आप अग्नि के समान है इसलिए आप कर्मकाष्ठशुशर्क्षाण है ॥९८१॥

ओ ह्री अर्हं कर्मण्याय नम ॥९८२॥ क्रिया अर्थात् चारित्र मे नितॉत कुशल होने से आप कर्मण्य है ॥९८२॥

ओ ह्री अर्हं कर्मठाय नम ॥९८३॥ क्रिया करने मे शूरवीर अथवा सर्वदा तैयार रहने से आप कर्मठ है ॥९८३॥

ओ ह्री अर्हं प्रांशवे नम ॥९८४॥ सबसे ऊंचे अर्थात् उत्कृष्ट या प्रकाशमान होने से आप प्राशु है ॥९८४॥

ओ ह्री अर्हं हेयादेयविचणाय नम. ॥९८५॥ त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों के जानने मे चतुर होने से आप हेयादेय विचक्षण कहलाते है ॥९८५॥

ओ ह्री अर्हं अनतशक्तये नम. ॥९८६॥ आप मे अनन्त शक्तिया प्रगट होने से आप अनत शक्ति है ॥९८६॥

ओ ह्री अर्हं अछेद्याय नम ॥९८७॥ छिन्न भिन्न करने योग्य न होने से आप अछेद है ॥९८७॥

ओ ह्री अर्हं त्रिपुरारये नम ॥९८८॥ जन्म-जरा और मरण इन तीनो को नाश करने से आप त्रिपुरारि कहलाते है ॥९८८॥

ओ ह्री अर्हं त्रिलोचनायनम ॥९८९॥ ओ ह्री अर्हं त्रिनेत्राय नम. । ओ ह्री अर्हं त्र्यबकाय नम' ॥ ओ ह्री अर्हं त्र्यक्षाय नम. ॥ भूत, भविष्यत और वर्तमान

तीनों कालों के जानने और देखने से आप त्रिलोचन ॥९८९॥ त्रिनेत्र ॥९९०॥ त्र्यंबक ॥९९१॥ तथा त्र्यक्ष ॥९९२॥ कहे जाते हैं।

ओ ह्री अर्हं केवलज्ञानवीक्षणाय नमः ॥९९३॥ केवलज्ञान ही आपके नेत्रे होने से आप केवलज्ञान वीक्षण कहलाते हैं ॥९९३॥

ओ ह्री अर्हं समतभद्राय नम. ॥९९४॥ सर्वथा मगल स्वरूप होने से आप समंतभद्र है॥९९४॥

ओं ह्री अर्हं शातारिणे नम ॥९९५॥ कर्मरूप शत्रुओ को नाश करने से आप शातारि हैं ॥९९५॥

ओं ह्री अर्हं धर्माचार्याय नमः ॥९९६॥ धर्म के आचार्य होने से आप धर्माचार्य है ॥९९६॥

ओ ह्री अर्हं दयानिधये नम. ॥९९७॥ जीवो पर अतिशय दया करने से आप दया निधि हैं ॥९९७॥

ओं ह्री अर्हं सूक्ष्मदर्शये नमः ॥९९८॥ सूक्ष्म पदार्थों को भी साक्षात् देखने से आप सूक्ष्मदर्शी कहलाते है ॥९९८॥

ओ ह्री अर्हं जितानगाय नम ॥९९९॥ कामदेव को जीतने से आप जितानग है ॥९९९॥

ओ ह्री अर्हं कृपालुवे नम ॥१०००॥ दयावान होने से आप कृपालु है ॥१०००॥

ओ ह्री अर्हं धर्मदेशकजिनाय नमः ॥१००१॥ धर्म का उपदेश देने से आप धर्मदेशक कहलाते है ॥१००१॥

ओ ह्री अर्हं शुभयवे नमः ॥१००२॥ मोक्षरूप शुभ को प्राप्त करा देने से आप शुभयु हैं ॥१००२॥

ओ ह्री अर्हं सुखसाद्भूताय नमः ॥१००३॥ सुख को अपने स्वाधीन करने से आप सुखसाद्भूत कहलाते है ॥१००३।

ओं ह्री अर्हं पुण्यराजये नम. ॥१००४॥ पुण्य की राशि (समूह) होने से आप पुण्यराशि कहे जाते है ॥१००४॥

ओ ह्री अर्हं अनामयाय नमः ॥१००५॥ रोग रहित होने से आप अनामय है ॥१००५॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मपालाय नमः ॥१००६॥ धर्म की रक्षा करने से आप धर्मपाल हैं ॥१००६॥

ओं ह्रीं अर्हं जगत्पालाय नम ॥१००७॥ जगत् की रक्षा करने से आप जगत्पाल हैं ॥१००७॥

ओं ह्रीं अर्हं धर्मसाम्राज्यनायकाय नमः ॥१००८॥ आप धर्मरूप साम्राज्य के स्वामी होने से धर्म साम्राज्य नायक कहलाते है ॥१००८॥

इति अष्टोत्तर सहस्रनाम समाप्त ॥

दोहा

दश शत अष्टोत्तर कहे सार्थ श्री जिननाम ।
पढ सुने ज भविक जन पावे सौख्य ललाम ॥१ ॥

इस प्रकार महा तेजस्वी श्री जिनेन्द्र देव के विद्वान् लोगो ने ये एक हजार आठ नाम सचय किये है । जो पुरुष इन नामो का स्मरण करता है उसकी स्मृति बहुत ही पवित्र हो जाती है ॥

इति श्री अर्हद्भगवद् गुण वर्णन समाप्त ॥१ ॥

अथ निकल परमात्मा (सिद्ध) गुण प्रारम्भ ॥ कैसे है सिद्ध भगवान् ? वे अष्टकर्मों के अभाव से प्रादुर्भाव सम्यक्त्वादि अष्ट गुणो से सुशोभित है ॥

अष्ट गुणनाम श्लोक .-

सम्यक्त्वदर्शन ज्ञानमनतवीर्यमद्भुतम् ।
सौक्ष्म्यावगाहयाव्यावाधा सहागुरुलघुत्वका ॥१ ॥

सोरठा

समकित दर्शन ज्ञान, अगुरु लघु अवगाहना ।
सूक्षमवीरजवान, निरावाधगुणसिद्धके ॥२ ॥

अर्थात्—सम्यक्त्वादि अष्ट गुण सिद्ध भगवान् के मोहनीयादि कर्म के अभाव से प्रादुर्भूत व्यवहार मात्र कहे है । निश्चय से तो अनतगुण है ।

भावार्थ— मोहनीय कर्म के अभाव मे क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट हुआ ।१॥ दर्शनावरणी कर्म के अभाव से केवल दर्शन प्रगट हुआ ॥२ ॥ और ज्ञानावरणी कम के दूर होने से केवलज्ञान प्रगट हुआ ॥ ३ ॥ अनराय कर्म के अभाव से अनत बल प्रगट हुआ ॥ ४ ॥ आयु कर्म के अभाव से अवगाहनत्व गुण प्रगट हुआ ॥ ५ ॥

गोत्र कर्म के अभाव से अगुरु लघुत्व गुण प्रगट हुआ । ६ ॥ नाम कर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हुआ ॥७॥ वेदनीय कर्म के अभाव से निरावाधत्व गुण प्रगट हुआ ॥८॥

इस प्रकार अष्ट कर्मो के अभाव से सिद्ध भगवान् निकल परमात्मा है उनके आठ गुण प्रगट होते है। उस निकल परमात्मा को मेरा बारबार नमस्कार हो। और कैसे है वे निकल परमात्मा ? वे इन्द्रिय अगोचर ज्योति स्वरूप सुख पिड समुद्रवत् स्थिर है। अतिम शरीर से किंचितदून शरीराकार प्रमाण तीन लोक के अग्र भाग में तिष्ठते है सो उनका आकार दृष्टान्तपूर्वक जिनागम के अनुसार लिखते हैं :-

भासना आकार का जे लखो एक दृष्टान्त जी।
साचो करो इक मोम को फिर गारा लेप धरात जी ॥
सुखवाय ता को अग्नि देकर मोम काढन ठानिये।
पोलाखा में रहै जैसी सिद्ध आकृति जानिये ॥१॥

भावार्थ—जैसे मोम का एक पुतला नख शिख पर्यन्त समचतुरस्र सस्थानवाला पुरुषाकार बनाया जावे फिर उसके ऊपर जैसे मनुष्य की त्वचा होती है वैसे मृतिका लेप करके, सुखाकर अग्नि मे तपाकर मोम के शरीराकार आकृति गीली मिट्टी के साचे के मध्य केवल पुरुषाकार आकाश रह गया, वैसे ही निकल परमात्मा जो सिद्ध भगवान है उनका स्वरूप जानना चाहिये। आकाश तो शून्य और जड है और वह पूरन चेतन चिद्रूप है। इतना ही इसम अन्तर है। आकृति मे कुछ अन्तर नही है। इस प्रकार परम ब्रह्म का स्वरूप निराकार और साकार इस दृप्टान्त से अनुभव करना चाहिये। पुन कैसे है वे सिद्ध भगवान् ? सिद्धालय मे विराजमान है ज्ञान नेत्र से प्रगट होते है, चर्मनेत्र से दिखाई नही देते। सिद्ध भगवान द्रव्यत्वापेक्षा स्थिर और अर्थ पर्याय से उत्पाद् व्यय, ध्रौव्य से युक्त है। भावार्थ-सख्यात गुणावृद्धि अनतगुणावृद्धि, सख्यात भाग गुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि, अनतभागगुण हानि असख्यातभाग गुण हानि, अनतभाग गुण हानि, ऐसे षट् पतित हानि वृद्धि अर्थ पर्याय से सिद्धो क होते हैं। और कैसे है सिद्ध भगवान् ? ध्यान रूपी अग्नि से कर्मकाष्ठ जलाकर विकार रहित, अविनाशी अनतकाल पर्यन्त, तीन लोक के शिरोमणि, उत्कृष्ट स्थान ऐसे लोक शिखर पर स्थित ज्ञान स्वरूप, तीन लोक के द्वारा वदनीय सिद्ध परमात्मा को मेरा बारम्बार नमस्कार हो। इति सिद्धगुण वर्णन समाप्त. ॥

आचार्य के गुणो का वर्णन करते है :—

दोहा- द्वादश तप दशधर्मयुत् पाले पंचाचार।
षड् आवश्यक त्रयगुप्तिगुण, आचारजपदसार ॥१॥

बारह प्रकार का तप, दस प्रकार के धर्म, पांच प्रकार के पंचाचार, षट् आवश्यक और तीन गुप्ति इस प्रकार छत्तीस गुण आचार्य के होते है। ऐसे गुणो के धारक आचार्य को मैं नमस्कार करता हू।

प्रथम द्वादश प्रकार के तप के स्वरूप का निरूपण करने है :-

दोहा अनशन ऊनोदर करे, व्रत सख्या रस छोरि।
विवक्ति शय्यासन धरे, काय क्लेश जो ठौर ।।१।।

अनशन तप—

अर्थ- अनशन अर्थात् उपवास करना।

भावार्थ—आचार्य और मुनि उपवास करते है, नित्य प्रति आहार नही करते, क्योंकि नित्य आहार करने से शरीर पुष्ट हो जाता है और शरीर के पुष्ट हो जाने से बल बढ़ता है और बल बढने से इद्रिय बल बढता है इसलिये इद्रिया वश मे नही रहती जिससे तप का उद्यम नही होता इसलिये आचार्य मुनि अनशन तप धारण करते है।

ऊनोदर—

तप अर्थात् कम भोजन करने को ऊनोदर तप कहते है। भावार्थ - आचार्य व मुनि कम आहार ग्रहण करते है। कारण की उदर परिपूर्ण आहार करने से आलस्य अर्थात् प्रमाद बढ जाता है प्रमाद बढने से तप, जप सयम, पठन-पाठन आदि क्रियाओ में असावधानी होती है। ऐसा समझकर आचार्य और मुनि ऊनोदर तप करते है अर्थात् आहार कम मात्रा में लेते है।

व्रतिपरिसख्यान तप

अर्थात् आहार के विषय मे अटपटी वृत्ति लेकर विचरना।

भावार्थ—जब आचार्य या मुनि आहार के लिये वन से गमन करते है तब ऐसी वृति विचारे कि आज हम एक, दो, चार या पाच घर में ही आहार के लिये जायेगे अथवा किसी एक मुहल्ले में ही जायेंगे, इतने मे यदि भिक्षा मिल गयी तो आहार लेंगे अन्यथा नही लेंगे तथा मिट्टी के कलश, चादी के कलश, पीतल के कलश, तावे के कलश आदि जहा मिलेंगे तो उस घर में जायेंगे, मैदान मे या अमुक स्थान मे अमुक भोजन मिलेगा तब आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा नही। इस प्रकान की अटपटी वृत्ति लेकर वन से गमन करना और नियमानुसार यदि आहार की विधि न मिले तो पुनः वन में वापिस लौट कर उपवास करना। इस प्रकार के नियम को व्रतिपरिसख्यान कहते है ।।३।।

रस परित्याग तप

इन्द्रियो को दमन करने के लिये, सयम की रक्षा के लिये, जिह्वेन्द्रिय की लोलुपता के निवारण के लिये दूध, घी दही, तेल, शक्कर नमक आदि रसो का यथासमय त्याग करना रस परित्याग तप है ।।४।।

विविक्तशय्यासन तप

जीवो की रक्षा करने के लिये प्रासुक स्थान में जैसे मठ, गुफा, पर्वत तथा
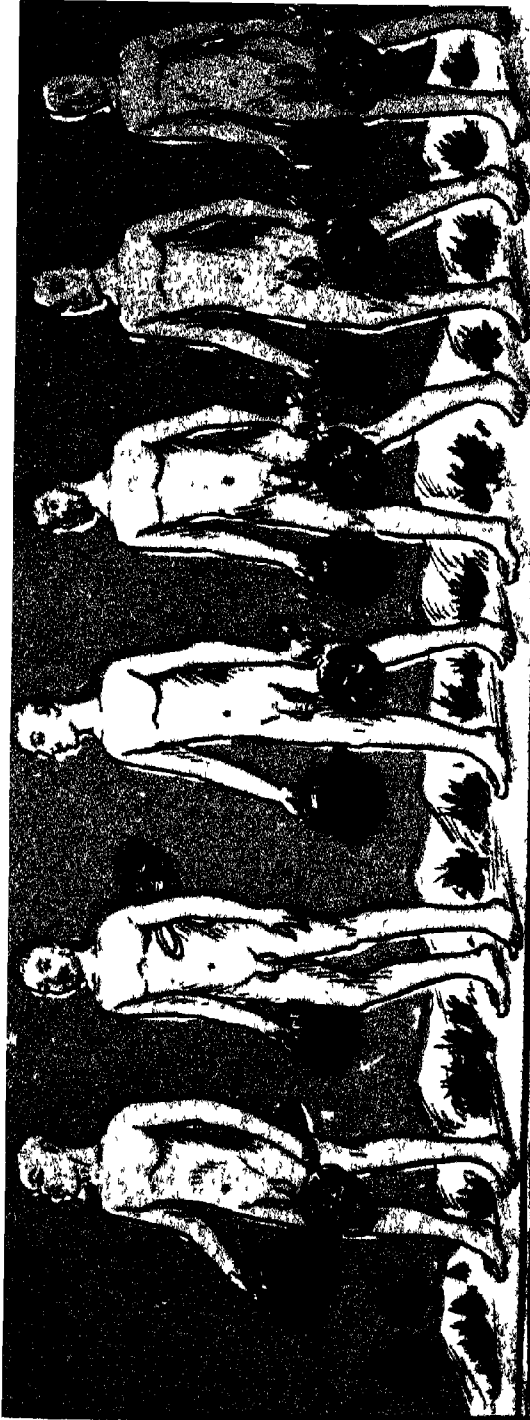
वनखंडादि एकान्त स्थान में जहां पर ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय ध्यान पठन, पाठनादि क्रियाओं मे विघ्न न हो, वहाँ पर शयन तथा आशन करना विविक्त शय्याशन तप है ।।५।।

कायक्लेप तप

शरीर के सुख स्वभाव को मिटाने के लिये तथा दुःख प्राप्त होने पर कायरता न होने के लिये शरीर को यथाशक्ति कष्ट देते रहना अर्थात् शरीर का ममत्व भाव त्याग करना, जैसे उष्ण ऋतु में सूर्य के सम्मुख होकर तप करना, तपे हुये पहाड पर जाकर तप करना काय क्लेश तप है ।।६।। ये छह प्रकार के तप बाह्य तप है तथा लोगो को दिखाई देने के कारण बाह्य तप कहलाते है उपर्युक्त छह बाह्य तपो का पालन करने वाला ही आभ्यन्तर तपो का सम्यक प्रकार से पालन कर सकता है इसलिये सबसे पहले बाह्य तप का वर्णन किया गया।

अब छह प्रकार आभ्यन्तर तप का वर्णन करते हैं :-

दोहा - प्रायश्चित विनय धरें वैयावृत स्वाध्याय।
पुनव्यत्सर्ग विचार के, धरे ध्यान मन लाय ।।

अर्थ— प्रायश्चित १, विनय २, वैयावृत्य ३, स्वाध्याय ४, व्युत्सर्ग ५, और ध्यान ६ ये छह अभ्यन्तर तप कहलाते हैं ।।

प्रमाद अर्थात आलस्य से जो दोष लगा हो उसे दूर करने के लिये ध्यान करना तथा गुरु से निवेदन करके दडादि लेना प्रायश्चित तप है ।।१।। पूज्य पुरुषों का आदर सत्कार करना विनय तप है ।।२।। मुनि आदि के रोगादि से ग्रस्त होने पर उनकी सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है ।।३।। आलस्य को त्यागकर ध्यानाध्ययन करना व उपदेश देना स्वाध्याय तप है ।।४।। धन धान्यादि बाह्य परिग्रह तथा अंतरग क्रोधादि परिग्रह को छोड़कर शरीर से ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है ।५। चित्तवृति को सब तरफ से सकोच कर एक ओर चित्त को स्थिर करना ध्यान तप है।६। इस प्रकार से छह तप है आगे हम इन तपो के भेद कहते है -

सबसे पहले प्रायश्चित के नौ भेदो का विवेचन करते है प्रायश्चित के आलोचना १, प्रतिक्रमण २, तदुभय अर्थात आलोचना और प्रतिक्रमण ये दोनो ३, विवेश ४, व्युत्सर्ग ५ तप ६, छेद ७, परिहार ८, तथा उपस्थापना ९ ये नौ प्रकार है। मूलगुणो में यदि कोई दोष लग जाय तो उसका बारम्बार चिन्तवन करते हुये अपने को धिक्कारना आत्मनिन्दा करना गुरू के निकट अपने किये हुये दोषो को स्पष्ट रीति से कहना आलोचना है ।।१।। मैंने जो प्रमादवश अपराध किया है, मेरे सामायिक आदि करने में जो दोष लगा हो वह मिथ्या हो इस प्रकार कहना प्रतिक्रमण है ।।२।। कोई दोष हो जाय तो आलोचना मात्र से शुद्ध हो जाता है और कोई दोष प्रतिक्रमण करने शुद्ध होता है और कोई दोनो के करने से शुद्ध होता

है। इस प्रकार आलोचना और प्रतिक्रमण करने को उभय प्रायश्चित कहते है ।।३।। आहार पान उपकरणादि का किसी नियमित समय तक त्याग कर देना विवेश प्रायश्चित है । विवेक अर्थात त्याग की हुई वस्तु यदि अनजान से उदय मे आ जाय तो उसे न लेना और इस प्रकार का विचार करके आहार ग्रहण करना विवेश है ।४। काल का परिमाण करके कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है ।।५।। अनशन आदि तप अथवा वेला, तेला आदि उपवास करना प्रायश्चित तप है ।६। दिन पक्ष, मास सवत्सरादि का परिमाण कर दीक्षा का छेद करना छेद प्रायश्चित है ।।७।। पक्ष मासादि के नियम से सघ से पृथक कर देना परिहार प्रायश्चित है ।।८।। समस्त दीक्षा को छेद कर पुन दीक्षा को देना उपस्थापना प्रायश्चित है ।।९।। इस प्रकार प्रायश्चित के नौ भेद जानने चाहिए ।

दूसरा आभ्यन्तर विनय तप है । जिसके दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ऐसे चार भेद है । नि शकित आदि दोष रहित सम्यग्दर्शन की आराधना करना दर्शन विनय है ।।१।। प्रमाद रहित होकर शुद्ध मन मे अत्यन्त सम्मान पूर्वक जिन सिद्धान्त को पढना ज्ञान विनय है ।।२।। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के धारी पाँच प्रकार के चरित्र को पालने वाले मुनिजनो से प्रम करना चारित्र विनय है ।।३।। आचार्य आदि पूज्य पुरुषो को देखते ही खडे हो जाना, सन्मुख जाकर हाथ जोडना, उनके पीछे-पीछे गमन करना, मन से उनका गुणगान करना तथा बार-बार उनका स्मरण करना उपचार विनय है । तीसरा वैयावृत्य तप है । आचार्य १, उपाध्याय २, तपस्वी ३, शैक्षिक ४, ग्लान ५, गण ६, कुल ७, संग ८, साधु ९, और मनाज्ञ १० इन दस प्रकार के साधुओ की वैयावत्य करना अर्थात् शरीर सम्बन्धी व्याधि अथवा दुष्ट जीवों द्वारा किये हुए उपसर्गादि के समय सेवा करना ये दश प्रकार के वैयावृत्य है ।

चौथे तप स्वाध्याय के पाच भेद है—निर्दोष ग्रन्थ का तथा उसके अर्थ का स्वय पठन करना बाचना स्वाध्याय है ।।१।। पठन करते हुए जहा सशय हो, उसको बड़े ज्ञानियों से प्रश्न करके अपनी शका को दूर कर लेना पृच्छना स्वाध्याय है ।।२।। विचार द्वारा तथा गुरुजनो से जाने समझे हुए तत्व को बारम्बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है ।।३।। जो विचार करके निर्णय किया हो उसको आचार्यो के वाक्यो से मिलाकर आम्नाय स्वाध्याय है ।।४।। उन्मार्ग को दूर करने के लिए पदार्थों का समीचीन स्वरूप प्रकाश करना, उपदेश रूप कथन करना धर्मोपदेश स्वाध्याय है ।।५।।

पाचवा व्युत्सर्ग तप दो प्रकार का है—एक बाह्योपधित्याग त्याग है ।।१।। क्रोधादि अतरग परिग्रहो का त्याग आभ्यन्तरोपधि त्याग तप है ।।२।।

छठा ध्यान नामक आभ्यतर तप ध्यान पिडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन भेदो से चार प्रकार का है । प्रथम लोक के स्वरूप का चितवन, पाताल, मध्य, नरकादिक का

चितवन, मध्य लोक में द्वीप, क्षेत्र, पर्वतादि का चिंतवन, ऊर्ध्वलोक के स्वर्गादि का चिंतवन, करना पिंडस्थ ध्यान है ।।१।। अपने हृदय के मध्य कमल स्थापन कर उसमें कर्णिका की स्थापना करे, कर्णिका के मध्य में ओंकार स्थापन कर उन कर्णिकाओं मे स्वर-व्यंजन स्थापन करके ध्यान करना पदस्थ ध्यान है ।।२।। समवशरणादिक विभूति सहित सिंहासन पर अन्तरिक्ष विराजमान घातिया कर्म रहित अनन्त चतुष्टय संयुक्त अरहंत भगवान् के स्वरूप का चितवन करना रूपस्थ ध्यान है ।।३।। सब कर्मों से रहित, पौद्गलिक मूर्तिक शरीर से रहित, अनन्त गुणो के भंडार ऐसे भगवान् सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान करता है सो रूपातीत ध्यान है ।।४।। ऐसे बारह प्रकार के तप का वर्णन किया। आगे दश प्रकार का जो धर्म आचार्य आचरण करते है, उसे लिखते है—

दोहा— क्षमा रु मार्दव आर्जवा, सत्य शौच तप त्याग।
संयम तप त्यागी सरब, आकिंचन तिय त्याग ।।१।।

अर्थ— १ उत्तम क्षमा, २ मार्दव, ३ आर्जव, ४ सत्य, ५ शौच, ६ संयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ आकिंचन्य और १० ब्रह्मचर्य ऐसे दश प्रकार के धर्म है। दुष्ट मनुष्यों के द्वारा तिरस्कार, हास्यादि क्रोध की उत्पत्ति के कारण होने पर भी, सम्यग्ज्ञान पूर्वक अपनी दण्ड देने की शक्ति होते हुए भी अपराध को क्षमा करना उत्तम क्षमा है ।।१।। सम्यग्ज्ञान पूर्वक अभिमान के कारण होते हुये भी गर्व न करना उत्तम मार्दव है ।।२।। मन, वचन, काय की कुटिलता त्याग कर सरल रूप मे रहना उत्तम आर्जव है ।।३।। पदार्थों का स्वरूप ज्यों का त्यों वर्णन करना और प्रशस्त वचन अर्थात् धर्म के अनुकूल स्व पर हितकारी वचन बोलना सत्य है ।।४।। आत्मा को कषायों द्वारा मलिन न होने देना उत्तम शौच है ।।५।। इन्द्रिय और मन को विषयों से रोकना और षड् प्रकार के जीवों की रक्षा करना उत्तम संयम है ।।६।। सांसारिक विषयाभिलाषा तजकर अनशनादि द्वादश प्रकार का तप करना उत्तम तप है ।।७।। धनधान्यादिक का त्याग बाह्य त्याग और द्वेषादिक को छोडना अंतरंग त्याग है ।।८।। आत्मस्वरूप से भिन्न शरीरादिक मे ममत्व रूप परिणामो का अभाव उत्तम आकिंचन्य है ।।९।। स्त्री मात्र से चित्त घटाकर अपना ब्रह्म जो आत्मा है उसमें चित्त का स्थिर करना सो उत्तम ब्रह्मचर्य है ।।१०।। ऐसे दश प्रकार उत्तम धर्म का प्रतिपादन किया है।

अब पंचाचार और तीनगुप्ति का वर्णन करते है :—

दोहा— दर्शन ज्ञान चारित्र तप, वीरज पंचाचार।
गोपे मन बच काय सो, आचारज सुखकार ।।

अर्थ—भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म आदि समस्त पदार्थों से भिन्न शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा श्रद्धान करना तथा इसकी उत्पत्ति के कारण षड् द्रव्य,

सप्त तत्त्व अथवा सुगुरु, सुदेव, सुधर्म का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन रूप प्रवृत्ति को दर्शनाचार कहते है ।।१।। शुद्ध चैतन्य आत्मा को मिथ्यात्व, रागादि पर भावो से पृथक जानकर उपाधि रहित जानना तो सम्यग्ज्ञान है। इस सम्यग्ज्ञान रूप प्रवृत्ति को ज्ञानाचार कहते हैं ।२। उपाधि रहित शुद्धात्मा के स्वाभाविक सुखास्वाद मे निश्चल चित्त होना अथवा संसार के कारण भूत हिसादि पापो का अभाव करना सम्यक्चारित्र है। इस सम्यकचरित्र रूप प्रवृत्ति को चारित्राचार कहते है ।।३।। समस्त पर द्रव्यो से इच्छा रोककर अनशनादि रूप प्रवर्तन करना तप है। इस तपरूप आचरण को तपाचार कहते है ।।४।। पूर्वोक्त कहे चार प्रकार के आचारो के रक्षण करने मे शक्ति न छिपाना अथवा परिग्रह आने पर भी इनमे च्युत नही होना वीर्य है। इस वीर्य रूप प्रवृत्ति को वीर्याचार कहते है ।५। मन से राग द्वेप रूप परिणामो का परिहार करना मनोगुप्ति है ।।१।। असत्य वचन का परिहार कर मौनपूर्वक ध्यान अध्ययन आत्मचितवनादि करना वचनगुप्ति है ।।२।। हिसादि पापो मे निवृत्तिपूर्वक तथा काय सम्बधी कुचेष्टा की निवृत्ति कर कायोत्सर्ग धारण करना काय गुप्ति है ।।३।।

।।अथ षडावश्यकनाम ।।

दोहा— समताधर बदन करे, नानास्तोत्र बनाय।
प्रतिक्रमण स्वाध्याययुत, कायोत्सर्ग लगाय ।।१।।

अर्थ भेदज्ञान पूर्वक सासारिक पदार्थों को अपने आत्मा से पृथक जानकर जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सयोग-वियोग, शत्रु-मित्र, सुख-दुख मे समान भाव रखना तथा शुभाशुभ कर्मों के उदय मे राग द्वेष रूप परिणामो को न करना समता है ।।१।।

चतुर्विंशति तीर्थकरो मे से एक तीर्थकर की या पंचपरमेष्ठी मे से एक की मुख्यता कर मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक स्तुति करना बदना है ।।२।। मुख्यता बिना चौबीस तीर्थंकरो की अथवा पचपरमेष्ठी की स्तुति करना स्तवन है ।।३।। आहार, शरीर, शयन, आसन, गमनागमन और चित्त के व्यापार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आश्रयभूत काल मे लगे हुये व्रत सम्बन्धी अपराधो का शोधना, निन्दा गृहीयुक्त अपने अशुद्ध परिणाम पूर्वक किये हुए दोपो का परित्याग करना प्रतिक्रमण है ।।४।। काय मे निर्ममत्व होकर खड़े हुए या बैठे हुए शुद्धात्म का चितवन करना कायोत्सर्ग है ।।५।। वाचना, पृच्छनादि पच प्रकार शास्त्रो का अध्ययन अथवा शुद्धात्मा का चितवन करना स्वाध्याय है ।।६।। इस प्रकार आचार्य के अनशनादि बारह तप, उत्तम क्षमादि दशधर्म, दर्शनाचारादि पचाचार, समता वदनादि षडावश्यक कर्म तथा त्रिगुप्ति सहित गुणों का वर्णन किया। इन छत्तीस गुणो के अतिरिक्त आचार्य अवपीडक अपरिश्रावी आदि अष्ट गुणयुक्त होते है और अपने सघ के मुनि समूह को लगे हुए दोषो का प्रायश्चित और धर्मोपदेश, शिक्षा-दीक्षा देते है।

अब यहां प्रसंगवश आचार्य शिष्य को कैसे, कौन से काल में और कौन से देश काल को त्याग कर दीक्षा देते है सो कहते हैं :

प्रथम मुनि धर्म के धारण करने योग्य पुरुष का लक्षण कहते है—मुनि धर्म का धारण करने वाला पुरुष उत्तम देश का उत्पन्न हुआ हो। उत्तम वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो, शूद्र न हो, क्योंकि जाति का असर भी कुछ न कुछ अवश्य रहता है। उत्तम कुल और उत्तम गौत्र का हो। शरीर के अगोपांग शुद्ध हो और अन्धा, बधिर, लूला, लगड़ा, कुबडा आदि दोषो से रहित हो। कुष्ट, उन्माद, मृगी मूर्छादि बडे रोगों से रहित हो। राज्य विरुद्ध तथा लोक विरुद्ध आचरण का धारक न हो। कषायो से रहित हो अर्थात् मन्द कषायी हो। पचेन्द्रिय के विषय भोगो में अरुचि करने वाला हो। शुभ चेष्टा वा उत्तम प्रवृति का धारक शुभाचरण पालने वाला, हास्य, कौतूहल से उपराम बुद्धि वाला, मोक्ष का इच्छुक, महा-वैराग्य परिणामी ऐसा शिष्य सघ मे कुशलता और धर्मबुद्धि का कारण दीक्षा देने योग्य होता है। ऐसे मुमुक्षु को आचार्य योग्य, अयोग्य समय विचार कर दीक्षा देते है। आचार्य जो देश अवसर प्राप्त होने पर मनुष्य को दीक्षा नही देते, उनके नाम इस प्रकार है।

जहा पर प्रथम ग्रहारोप अर्थात् कोई अशुभ ग्रह हो तो दीक्षा नही देते ॥१॥ सूर्यग्रहण, ॥२॥ चन्द्रग्रहण ॥३॥ इद्र धनुष ॥४॥ इसका उल्टा ग्रह अर्थात् वक्री ग्रह आया हो ॥५॥ आकाश मेघ के बादलो से आच्छादित हो रहा हो ॥६॥ तथा उसको वह महीना कष्टदायक हो ॥७॥ अधिक मास हो ॥८॥ सक्रान्ति अर्थात् उसी दिन सूर्य उस राशि से दूसरी राशि पर बदलने वाला हो ॥९॥ असपूर्ण तिथि हो ॥१०॥ इन दश कारणो का परित्याग कर निमित्तज्ञान के वेत्ता आचार्य शुभ मास, शुभ दिन, शुभ नक्षत्र, शुभयोग शुभ मुहूर्त, शुभग्रह देखकर शुभ लग्न में शिष्य को दीक्षा देते हैं ॥ और स्वय पंचाचार पालते तथा सघ के सब मुनि समूह को प्रवर्ताते है ॥ जिस प्रकार राजा प्रजा की कुशलता की वृद्धि तथा रक्षा करता है उसी प्रकार ये अपने सघ के आचार और रत्नत्रयादि की रक्षा और वृद्धि करते हैं इसलिये इनको सघपति भी कहते है। और ये अपना शरीर भी बहुत वृद्ध तथा इद्रिय शिथिल होता जानकर अधिक से अधिक बारह वर्ष पहले से समाधिमरण करने योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का समागम मिलाते है और अपने सघ का राग घटाने के लिए त्याग कर पर संघ मे जाकर अपवित्र शरीर के निमित्त कुछ भी ममत्व न कर रत्नत्रय धर्म की रक्षा के लिए कायकषाय को कृश करते हुए द्वादशानुप्रेक्षा की अराधना युक्त पंचपरमेष्ठी के स्वरूप तथा आत्मध्यान में लवलीन हो देह तजते है।

॥ अथ उपाध्याय गुण प्रारम्भ ॥

दोहा— चौदह पूरव में धरें, ग्यारह अग सुजान।
उपाध्याय पचवीस गुण पढ़े पढ़ावे ज्ञान ॥१॥

अर्थ—ग्यारह अग और चौदह पूर्व का पाठीपना इन पच्चीस गुणो से युक्त उपाध्याय, जिस प्रकार अध्यापक शिष्यो को पठन पाठन के द्वारा ज्ञान की वृद्धि कराता है और स्वय उस ज्ञान की वृद्धि के लिए पठन-पाठन करता है उसी प्रकार उपाध्याय सब सघ को अग पूर्वादि शास्त्रों का ज्ञान कराते और स्वय पठन-पाठन करते है। ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी मेरे ज्ञान की वृद्धि करे।

॥ अथ ग्यारह अग नाम ॥

दोहा— प्रथमहि आचाराग गिन, दूजा सूत्र कृताग।
स्थानाग तीजा सुभग, चौथा समवायाग ॥
व्याख्याप्रज्ञप्ति पचमो, ज्ञातृकथापट् जान।
पुनि उपासकाध्ययन, अन्त कृतदश ठान ॥२॥
अनुत्तरण उपपादवश, सूत्र विपाक पिछान।
ग्यारह प्रश्नव्याकरणजुत, ग्यारह अग प्रमाण ॥३॥

अर्थ—आचाराग १, सूत्रकृताग २, स्थानाग ३, समवायाग ४, व्याख्याप्रज्ञप्त्यग ५, ज्ञातृधर्मकथाग ६, उपासकाध्ययनाग ७, अन्त कृद्दशाग ८, अनुत्तरोपपादकदशाग ९, प्रश्न-व्याकरणाग १०, और विपाक सूत्राक ११ ये ग्यारह अग है। अब प्रकरण वश यहा पर द्वादशाग तथा चौदह पूर्वो मे से किस-किस अग और किस-किस पूर्व मे कितने-कितने पद है तथा उनमे किस-किस विषय का वर्णन है, उसे सक्षेप में लिखा जाता है। प्रथम आचाराग अठारह हजार पद का है। इसमे यती के धर्म का वर्णन है।

विशेष सूचना—इस जिनवाणी की सख्या मध्यम पद से जाननी चाहिए। पद तीन प्रकार के होते हैं। अर्थपद, प्रमाण पद और प्रमाण अध्ययनपद। इनमे से शास्त्र को वेष्टन मे बाधो, वह पुस्तक लाओ' इत्यादि अनियमित अक्षरो के समुदाय रूप किसी अर्थ विशेष के बोध वाक्य को अर्थ पद कहते है। आठ आदिक अक्षरो के समुदाय को प्रमाण पद कहते हैं। जैसे श्लोक के एक चरण मे आठ अक्षर होते है। इसी प्रकार अन्य छन्दो के पदो मे भी अक्षरो का न्यूनाधिक प्रमाण होता है, परन्तु गाथा मे कहे हुए पद के चार अक्षरो का प्रमाण सदैव के लिए निश्चित है, इसी को मध्यम पद कहते है। एक मध्यम पद मे सोलह सौ चौतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी अक्षर होते है। १॥ दूसरा सूत्रकृताग छत्तीस हजार पद का है। उसमे स्व समय और पर समय का विशेष वर्णन है। २॥ तीसरे स्थानाग के बयालिस हजार पद है। इसमे एक से दश तक गिनती का व्याख्यान है जैसे एक केवलज्ञान, एक मोक्ष, एक आकाश, एक अधर्म इत्यादि और दो दर्शन ज्ञान, अथवा राग द्वेष, इत्यादि तीन रत्नत्रय, तीन सत्य, तीन दोष, तीन प्रकार कर्म, तीन वेद इत्यादि। चार गति,

उपाध्याय परमेष्ठी
साधु परमेष्ठी
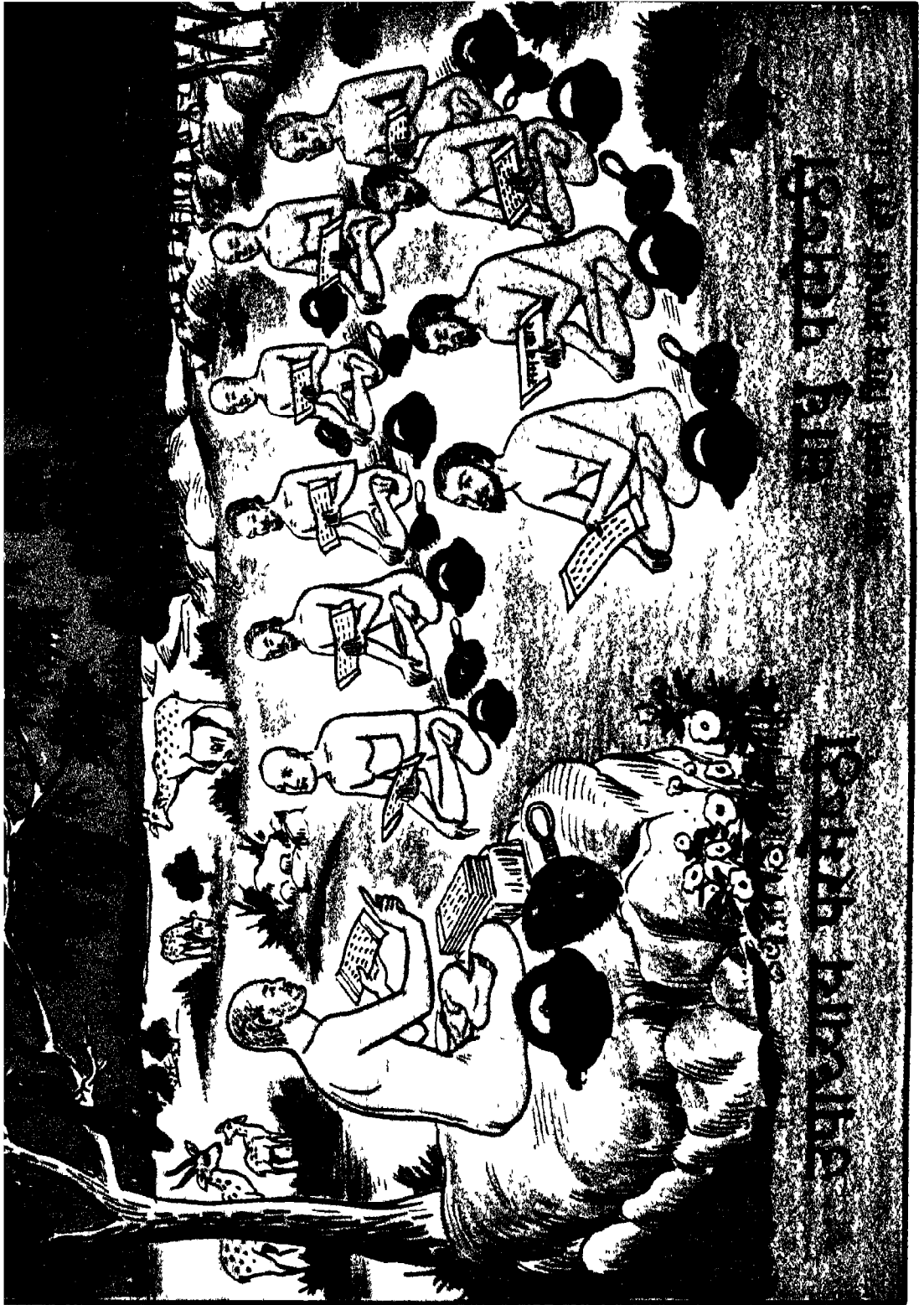
चार अनन्त चतुष्टय, चार कषाय इत्यादि । पच महाव्रत, पचास्तिकाय, पच प्रकार का ज्ञान इत्यादि अष्ट द्रव्य, षट्लेश्या, आदि । सप्त तत्त्व, सप्त व्यसन, सप्त नरक आदि । अष्ट कर्म अष्ट मद, अष्ट गुण, अष्ट ऋद्धि, अष्टाग निमित्त ज्ञान, इत्यादि । नव पदार्थ, नवधा शील, नवधा भक्ति इत्यादि । दश प्रकार धर्म, दशधा परिग्रह दश दिशा इत्यादि की चर्चा तीसरे स्थानाग में है ।। ३ ।। चौथा समवायाग एक लाख चौसठ हजार पद का है । इसमे द्रव्यादिक की तुल्यता का वर्णन है कि कोई द्रव्य किसी से न्यून नही । तभी द्रव्य सत्ता लक्षण से समान हैं ।। धर्म , अधर्म, जीव और लोकाकाश प्रदेशो से समान है । यह तो द्रव्य की तुल्यता का वर्णन हुआ और क्षेत्र मे ढाई द्वीप । प्रथम स्वर्ग का ऋजु विमान । प्रथम नरक का सीमतक नामा बिल और सिद्धशिलाये पंतालीस २ लाख योजना के है । यह क्षेत्र समानता कही । दश कोड़ाकोडी सागर की एक उत्सर्पिणी और दश कोडाकोडी सागर की एक उत्सर्पिणी और दश कोडाकोडी सागर की एक अवसर्पिणो यह काल की समानता का वर्णन हुआ । ज्ञान की अनतता और दर्शन की अनतता यह भाव की सत्यता कही गयी । इस भांति समवायाग में निरूपण किया है ।४।। पाचवा व्याख्या प्रज्ञप्ति दो लाख अट्ठाईस हजार पद का है । इसमें सासारिक विषय सुख मे विरक्त शिष्य के जीव है या नही, वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है, नित्य है या अनिन्य है, एक है या अनेक है, इत्यादि साठ हजार प्रश्नो का विस्तार पूर्वक व्याख्यान है ।५।। छठा ज्ञातृ धर्म कथाग पाच लाख छप्पन हजार पद का है । इसमें जीवादि वस्तुओ का स्वभाव, तीर्थंकरो का महात्म्य, उनकी दिव्य ध्वनि का समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दशविध धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय धर्म का स्वरूप इत्यादि जिनधर्म की अमृत कथा का कथन है ।।६।। सातवा उपासकाध्यनाग ग्यारह लाख सत्तर हजार पद का है । इसमे श्रावक के सम्पूर्ण व्रतो का वर्णन है ।।७।। आठवा अत कृद्दशाग तेईस लाख अट्ठावन हजार पद का है । इसमे प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ मे (एक तीर्थंकर का तीर्थ कहते है ।) जो दश दश मुनि चार प्रकार का तीव्र उपसर्ग सहन करके ससार के अत को प्राप्त हुए अर्थात् अत कृत केवली हुए है उनका वर्णन है । अत· कृतकेवली कहने का भाव यह है कि जिनका केवल कल्याणक और निर्वाण कल्याणक साथ हो अर्थात् आयु का अन्त होने पर ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ।।८।। नवमा अनुत्तरोपपादक दशाग बानवे लाख चौवालिस हजार पद का है । उसमे एक एक तीर्थंकर के तीर्थ मे दश-दश मुनि उपसर्ग जीतकर नव अनुदिश, पच अनुत्तर को प्राप्त हुए उन का कथन है । उपसर्ग दश प्रकार का है उनका ब्योरा इस प्रकार है :—

तीन प्रकार मनुष्य कृत स्त्री १, पुरुष २, नपुसक ३। तीन प्रकार तिर्यचकृत स्त्री ४, पुरुष ५, नपुसक ६, । नपुसक देवो में नही होते । इससे दो प्रकार के देवकृत देव ७ और देवागना ८, स्वशरीर कृत ९ तथा दशवा अचेतन पत्थरादिक अचेतन कृत उपसर्ग होता ।

है ।।१०।। ऐसेदस प्रकार के उपसर्ग को शुद्धात्मस्वादी मुनि जन ही जीतते है ।।९।। दशवा प्रश्न व्याकरणाग तिरानवे लाख सोलह हजार पद का है। इसमे आक्षेपिणी ।१। विक्षेपिणी २, संवेगिनी ३, और निर्वेदिनी ४। ऐसे चार प्रकार की कथाओ का वर्णन है ।।१०।। ग्यारह वां विपाक सूत्रांग एक करोड़, चौरासी लाख पद का है। इसमे कर्मो के विपाक अर्थात् उदय का वर्णन है ।।११।।

इन ग्यारह अगो के सर्व पद चार करोड पद्रह लाख दो हजार है।

इति ग्यारह अंग वर्णन ।।

बारहवा अष्टिवादाग। एक सौ आठ करोड अडसठ लाख छप्पन हजार पाच पद का है। इसमे तीन सौ तिरेसठ कुवादियो का कथन है। इसमे पहले क्रियावादियो के मूल भेद एक सौ अस्सी है। दूजे अक्रियावादियो के चोरासी भेद, तीसरे अज्ञान वादियो के सडसठ भेद, चौथे विनयवादियो के बत्तीस भेद, ऐसे समस्त भेद तीन सौ तिरसठ हुए।

अब प्रथम एक सौ अस्सी क्रियावादियो का कथन करते है—नियत कहिये निश्चय, स्वभाव कहिये वस्तु का स्वभाव, काल कहिए समय, दव कहिए पूवकर्म का उदय और पौरुष कहिए उद्यम ये पाच, स्व कहिए आप, पर कहिए दूसरा, नित्य कहिए स्थिर, अनित्य कहिए अस्थिर, इन चारो से गुणा करने पर बीस भेद होते है। इन बीसो को नव पदार्थो से गुणा करने पर एक सौ अस्सी होते है। यह क्रियावादियो के भेद है। ये एक एक अश का बल ग्रहण कर वाद करने वाले है ।।१।।

अक्रियावादियो के भेद जीवादिक सात तत्वो का स्वत कहिए आपसे और परसे गुणा कीजिये तो चौदह भेद होते है। इन चौदहो को नियत, स्वभाव, काल, देव, पौरुष इन पाचो से गुणा करने पर सत्तर भेद होते है। नियत, काल ये दो भेद स्वत सप्त तत्वो से गुणा करने पर चोदह भेद हुए। पूर्वोक्त सत्तर और चोदह भेद मिलाने पर समस्त चोरासी भेद अक्रियवादी के होते है ।।२।। मोक्ष के उपाय से विमुख, उदय को मुख्य मानकर पौरुष नही करते और एक एक स्थल का आलबन ग्रहण करके वाद करते है ।।२।।

अज्ञानवादी के भेद

नव पदार्थो को सप्तभंगो से गुणा करने पर तिरेसठ होता है। सप्तभग स्वरूप का वर्णन—प्रथम भग स्यात अस्ति कहिए कथचित अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जीवादि द्रव्य है ।।१।। दूजा भग स्यादनास्ति कहिए कथचित् पर द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल और परभाव की अपेक्षा नही है ।।२।। तीजा भग स्यादस्तिनास्ति कहिए एक ही अस्तिनास्ति है इससे अस्ति नास्ति उभयरूप है ।।३।। चोथा भग स्यादवक्तव्य कहिए वचन से अगोचर है। ।- अस्ति कहिए तो नास्ति का अभाव और नास्ति कहिए तो अस्ति का अभाव इससे

अवक्तव्य है ।।४।। पाचवा अस्ति स्यात् अवक्तव्य कहिए स्वभाव से तो है, किन्तु वचन अगोचर है । अस्ति कहिए तो नास्ति के अभाव से अवक्तव्य है ।।५।। छठवा भग स्यात्नास्ति अवक्तव्य कहिए जीवादि तत्वो पर भाव की अपेक्षा नही हैं, परन्तु नास्ति ही कहिए तो अस्ति के अभाव से अवक्तव्य है ।।६।। सातवा भग अस्ति नास्ति अवक्तव्य कहिए जीवादि पदार्थ अस्ति नास्ति है, परन्तु कहने में अनुक्रम मे आते है, एक साथ नही कहे जाते अत. अस्ति नास्ति अवक्तव्य है ।।७।। विज्ञानवादी के प्रश्न को एक सदभावपक्षी कोई सत्यासत्य पक्षी और कोई अवक्तव्य पक्षी ऐसे इन चारो मे पूर्वोक्त सरसट भेद होते है । ये भी तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से शून्य एक एक अश को ग्रहण करवाकर एक एक नय का बल लेकर वाद करते है ।।३।।

विनयवादी के भेद -

मन, वचन, काय और दान से आठ प्रकार के विनय को गुणा करे तो बत्तीस भेद होते है । आठ विनय के नाम— माता १, पिता २, देव ३, नृप ४, जाति ५, बाल ६, वृद्ध ७, और तपस्वी ८, इन आठो का मन, वचन और काय और दान सत्कार करना, इस भाति विनयवादी के बत्तीस भेद कहे है ।।

भावार्थ— यह जान कि विनय करना तो जिनधर्म का मूल है, परन्तु विनयवादी विनयवादी के भेद को जानकर मूर्तिमात्र को देव, भेष, मात्र को गुरु, पत्र तथा अक्षर मात्र को शास्त्र और जलमात्र को तीर्थ मानते है और स्वरूप ज्ञान से शून्य होते है । इस प्रकार वादियो का कथन है जिसमे ऐसे दृष्टिवाद नामक बारहवे अग के पाच भेद है ।

पहला परिकर्मक १, दूसरा सूत्र २, तीसरा प्रथमानुयोग ३, चौथा पूर्व ४, और पाचवा धूलिका ।।५।। परिकर्मक के पाच भेद है— पहला भेद चद्रप्रज्ञप्ति है १, छत्तीस लाख पाच हजार पद का है । उसमे चन्द्रमा के भोगादि का वर्णन है ।।१।। दूसरा भेद सूर्य प्रज्ञप्ति २, पाच लाख तीन हजार पदो का है । उसमें सूर्य के योगादिक सम्पदा का वर्णन है ।।२।। तीसरा भेद जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति ३, तीन लाख पच्चीस हजार पद का है ।

उसमें जम्बूद्वीप का विस्तार सहित वर्णन है ।। ३ ।। चौथा भेद द्वीपोदधि प्रज्ञप्ति ४, बावन लाख छत्तीस हजार पद का है । उसमे सपूर्ण द्वीप समुद्रो का वर्णन है ।।४।। पाचवा भेद व्याख्या प्रज्ञप्ति ५, चौरासी लाख छत्तीस हजार पद का है । उसमे पुद्गल द्रव्य मूर्तिक और जीवादिक पांच अमूर्तिक इन षट्द्रव्यो का विस्तारपूर्वक वर्णन है ।।५।। ऐसे समस्त परिकर्म के एक करोड इक्यासी लाख पाच हजार पद है ।

पुन दृष्टि-वादाग का दूसरे भेद सूत्र के अठासी लाख पद है । उनके प्रथम भेद में बध के अभाव का कथन, दूजे भेद में श्रुति स्मृति, पुराण का अर्थ, श्रुति कहिये केवली की

दिव्यध्वनि, स्मृति कहिये गणधरो की वाणी पुराण कहिये मुनियो के वचन, तीसरे भेद में नियत कहिये निश्चय का कथन और चौथे भेद मे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का निरूपण ये नाना भेद सूत्र मे है। बारहवे अग का तीसरा भेद प्रथमानुयोग पांच हजार पद का है। इसमें तिरेसठ शलाका पुरुषो का वर्णन है। बारहवे दृष्टिवादाग का चौथा भेद पूर्व है। वह चौदह प्रकार है। अथ चौदह पूर्व नाम ॥

दोहा—उत्पाद पूर्व अग्रायणी, तीजा वीरजवाद।
अस्ति नास्ति परवाद पुनि, पचम ज्ञान प्रवाद ॥१॥
षष्ठम कर्म प्रवाद है, सत्यवाद पहिचान।
आत्मवाद है आठवा, नवमो प्रत्याख्यान ॥२॥
विद्यानुवाद पूरबदशम, पूर्वकल्याण महत।
प्राणवाद क्रियावाद है लोकवाद है अत ॥३॥

अर्थ—पहला उत्पाद पूर्व एक करोड पद का है। उसमें द्रव्य के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का वर्णन है ॥१॥ दूसरा अग्रायणीपूर्व छयानबे लाख पद का है। उसमे चौदह वस्तुओ का वर्णन है। उन चौदह वस्तुओं के नाम इस प्रकार है :-

पूर्वांत अपरात, ध्रुव, अध्रुव, अच्यवनलब्धि, सप्रणिलब्धि, कल्प, अर्थ भौमावाय सर्वार्थकल्पक निर्वाण, अतीत, अनागत, सिद्ध, उपाय ये चौदह वस्तु दूजे पूर्व मे है उनमे पाचवा वस्तु अच्यवनलब्धि के पाहुड बीस मे चौथे पाहुड कर्म प्राकृत मे योगद्वार है। उन योगद्वारो के नाम कृति १, वेदना २, स्पर्श ३, कर्म ४, प्रकृति ५, बधन ६, निबधन ७, सात ८, प्रकृम ९, उपक्रम १०, उदय ११, मोक्ष १२, सक्रम १३, लेश्या १४, लेश्याकर्म १५, लेश्या परिणाम १६, असातासाता १७, दीर्घह्रस्व १८, भवधारण १९, पुद्गलात्मा २०, निधतानिधत २१, सनिकाचित अनिकाचित २२, कर्मस्थितिक २३, और स्कंध २४, ये दूजे पर्व की पाँचवो वस्तु के चौथे पाहुड मे चौवीस योगद्वार कहे है। उनमे अल्प बहुत्व धर्म का विशेष वर्णन है और भी पूर्व के वस्तुओ के सिद्धान्तो मे अन्यान्य पाहुड है ॥२॥ तीसरा वीर्यानुवाद पूर्व सत्तर लाख पद का है। इसमे वीर्यवत सतो के पराक्रम का वर्णन है ॥३॥ चौथा अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व साठ लाख पद का है। उसमे जीवादि पदार्थों के अस्ति नास्ति भग का निरूपण है। स्वभाव से सभी अस्तिरूप और परभाव से सभी ही नास्ति रूप है ॥४॥ पाचवा ज्ञानप्रवाद पूर्व एक कम एक करोड पद का है उसमे ज्ञान के पाच भेदो का निरूपण है।५। छठवाँ कर्मप्रवाद पूर्व एक करोड असी लाख पद का है उसमें कर्मबध के बध का वर्णन है। ६। सातवाँ सत्य प्रवाद पूर्व एक करोड़ छह पद का है। उसमे द्वादश प्रकार की भाषा और दश प्रकार सत्य का निरूपण है।

अब प्रथम बारह प्रकार की भाषा का वर्णन करते है—

प्रथम आभ्याख्यान भाषा

कोई हिसादिक का अकर्ता और कोई हिसादिक का कर्ता है। शठबुद्धि ऐसा कहते है कि हिसा कर्तव्य है ऐसे दुर्वचन का नाम आभ्याख्यायिनी भाषा है ।।१।। जिनके कहने से परस्पर कलह हो जाय सो कलहहनी भाषा है ।।२।। तीसरी पैशून्य भाषा पर के दोष तथा गुप्त वार्ता प्रगट कर दूसरे के सम्मुख प्रगट करना ।।३।। चौथी अबद्ध प्रलापभाषा-निष्प्रयोजन तथा वितथ्यवृथा बकवाद करना ।।४।। पाचवी रत्युत्पादक भाषा जिससे विषयो के भोगने की इच्छा हो ।।५।। छठी अरत्पुत्पादक भाषा जिससे अरति उत्पन्न हो ।।६।। सातवी वचन श्रवण भाषा जिससे श्रोताओ की अयथार्थ वस्तुओं मे अशक्तता हो ।।७।। आठवी निष्कृति भाषा अर्थात् मन मे मायाचार रखकर वार्ता करना ।।८।। नवमी अप्रति-भाषा जो स्वय से विद्या आयु तथा ज्ञान वृद्धि है उनको नमस्कार तथा विनययुक्त वचन न कहना ।।९।। दशवी मोघभाषा जिससे मनुष्य की स्तेय अर्थात चोरी रूप प्रवृति हो जाय ।१०। ग्यारहवी सम्यक्त्व भाषा जिसके श्रवण करने से जीव सम्यकत्व का प्राप्त हो जाय ।।११।। और बारहवी मिथ्यादशन भाषा जिसके श्रवण करने से जीवो को मिथ्यामार्गरूप प्रवृति हो जाय ।।१२।। ऐसी बारह प्रकार की भाषा है। वे त्रस जीवो मे यथायोग पायी जाती है। उनमे से पचेन्द्रियो मे तो सभी पायी जाती है।

अब दश प्रकार के सत्य का वर्णन करते है:—

प्रथम नाम सत्य--जैसे कोई मनुष्य नेत्रहीन अथवा असुंन्दर नेत्र वाला हो तो उसको कमलनयन अथवा नयनसुख सज्ञावश कहना ।।१।। दूसरा रूप सत्य—जैसे चित्रकार अथवा शिल्पकार के द्वारा बनाये गये मनुष्य के आकार तथा कुजराकार को अचेतन व शक्ति रहित होने पर भी पराक्रमी कहना ।।२।। तीसरा स्थापना सत्य-व्यवहार के लिये छती अनछती वस्तु की स्थापना करके तदाकार प्रतिमा मंदिरादिक मे विराजमान करके उसमे अपने इष्ट की कल्पना कर लेना ।।३।। चौथा प्रतीतिसत्य औपशमिक आदि पचभावों को आगम प्रमाण प्रतीत करके व्याख्यान करना। भावार्थ-शास्त्र पर श्रद्धान करके व्याख्यान करना प्रतीति सत्य है ।।४।। पाचवा स्मरणसत्य भेरी आदि अनेक प्रकार के वादित्र का शब्द होते हुये उच्च स्वर का जो वादित्र हो उसका नाम लेना ।।५।। छठा सयोजन सत्य जिनमें चेतन अचेतन द्रव्य की रचना का विभाग नही है। जैसे युद्ध के समय दोनो सेनाओ में चक्रव्यूह' गरुड़ाव्यूह क्रौच व्यूहादि अनेक प्रकार के व्यूह रचे जाते है। उनमें सेना तो चेतन है पर अचेतन द्रव्यों से पूरित है और उसको चक्रव्यूह कहना, सो चक्र तो अचेतन है परन्तु चक्र के आकार सेना रची गई अत उस को चक्रव्यूह कहते है। इसको सयोजना सत्य कहते है ।।६।। सातवां जनपद सत्य—जनपद नाम देश का है। देश मे कोई आर्य और कई म्लेच्छ देश है। उसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष शब्द का व्यवहार करना ।।७।। आठवां उपयोग सत्य ग्राम नगर की रीति आचार्यपद -साधुपद का उपदेश,जो पुरुष इन बातों में

प्रवीण है उनका वचन उन विषयों मे प्रमाण करना यथा ग्रामाचार तथा नगराचार के जानने में जो दक्ष हो, उनका वचन प्रमाण राजनीति में राजगुरु का वचन प्रमाण योगरीति में योगीश्वरो के वचन का प्रमाण करके उपदेश दना आदि उपयोग सत्य है ॥८॥ नववा भाव सत्य जैसा यथार्थज्ञान केवली भगवान के होता है वैसाछदमस्थ के नही होता। जो छद्मस्थ हैं वे ज्ञान से मद है ऐसा समझकर केवली के वचन का श्रद्धान करके अपने भावो में मानना अर्थात् केवली का वचन अन्यथा नही हो सकता ऐसा कहा गया है इस प्रकार उनके वचन की अपने भाव मे प्रतीति करके कहना ॥९॥ दशवा समय सत्य जो षट् द्रव्य का तथा सप्त तत्वो का और उनके भेद प्रभेद के स्वरूप का यथार्थ वक्ता (कहने वाला) एक जैन धर्म ही है उसमे जो निरूपण किया है सो अक्षर प्रत्यक्षर सत्य है ऐसी जिनवाणी की दृढ़ प्रतीति करना ॥१०॥ इस प्रकार के दश प्रकार स सत्य का निरूपण किया गया।७।

आठवा आत्मप्रवाद पूर्व है। यह छब्बिस करोड पद का है। इसमे जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, नित्यत्व, अनित्यत्वादि अनन्त स्वभाव का तथा प्रमाण, नय, निक्षेप का निरूपण किया गया है ॥८॥

नववा प्रत्याख्यानपूर्व है। इसमे चौरासी लाख पद है। उसमे द्रव्य, सवर और भावसवर का प्ररूपण है ॥९॥ दशवां विद्यानुवाद पूर्व है। वह एक करोड दश लाख पद का है। उसमे प्रसेना आदि सातसौ छुद्र विद्या और रोहिणी आदि पाचसा महाविद्याग्रो का वर्णन है ॥१०॥ ग्यारहवां कल्याण प्रवाद पूर्व है। इसमे २६ करोड पद है। उनमे समस्त ज्योतिषगण अष्टाग निमित्त ज्ञान, तिरसठ सलाका पुरुषो का तथा असुरेन्द्रो का विस्तार-पूर्वक वर्णन है ॥११॥ बारहवा प्राणवादक्रियापूर्व है। वह तेरह करोड पद का है। उसमे अष्टांग चिकित्सा, श्वासोच्छवास की निश्चलता और पवनाभ्यास का साधन तथा पृथ्वी अप तेज वायु, आकाश इन पाच तत्वो के पवन के परिवार का वर्णन किया गया है ॥१२॥ तेरहवा क्रियाविशालपूर्व। इसमे नौ करोड पद है इसमे पिगल व्याकरण तथा शिल्पादि अनेक कलाओ का निरूपण है ॥१३॥ चौदहवा त्रिलोक बिन्दुसार है। इसमे बारह करोड पचास लाख पद हैं। इसमे नक्षत्र राशि व्यवहार विधि तथा परिक्रम विधि आदि का कथन है समस्त पूर्वो के ९५ करोड ५० लाख पाच पद है ॥इति चौदह पूर्व वर्णनम् ॥

पुन द्वादशांग का पाचवा भेद चूलिका है। इसके पाच भेद है। इनका नाम जलगत १, थलगत २, आकाशगत ३, रूपगत ४, मायागत ५, है। पाचो मे प्रत्येक चूलिकाओ के दो करोड, नव लाख, नवासी हजार, दो सौ पद है। पाचो चूलिका के एकत्र किये दश करोड, उनचास लाख, छियालिस हजार पद है। यहा तक तो अगप्रविष्ट का कथन किया। सर्वद्वादशाग वाणी के एक अरब बारह करोड तिरासी लाख, अट्ठावन हजार, पाच पद है।

इनके उपरान्त आठ करोड एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षर और बचे। इनका पद पूर्ण न हो सका। इसलिये इनके बत्तीस अक्षर प्रमाण बत्तिस लाख, तीन हजार तीन सौ अस्सी हुये और पन्द्रह अक्षर शेष बचे। इन श्लोको के चौदह अग प्रकीर्णक रचे। पहला सामायिक प्रकीर्णक इसमे साम्यभाव का वर्णन है ।।१।। दूसरा स्तवन प्रकीर्णक। इसमे चतुर्विंशति तीर्थकरो का स्तवन है ।।२।। तीसरा वदना प्रकीर्णक। इसमें पच परमेष्ठी, चैत्य, चैत्यालय तथा तीर्थवंदना का प्रकरण है ।।३।। चौथा प्रतिक्रमण प्रकीर्णक। इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से किये गये अपराध उनके शोधन तथा प्रायश्चित्तादि का वर्णन है ।।४।। पाचवा वैनयिक प्रकीर्णक। इसमे पच विध विनय अर्थात् दर्शन विनय १, ज्ञानविनय २, चारित्र विनय ३, तप विनय ४, और उपचार विनय ५, इनका विशेष वर्णन है ।।५।। छठा कृतिकर्म प्रकीर्णक। इसमे त्रिकाल सामायिक विधि का विशेष वर्णन है ।।६।। सातवा दस वैकालिक प्रकीर्णक। इसमे ग्रहगोचर और ग्रहण आदि का वर्णन है ।।७।। आठवा उत्तरा ध्ययन प्रकीर्णक है। इसमे अन्तिम तीर्थकर महावीर स्वामी के निर्वाणगमन का वर्णन है ।।८।। नववा कल्पव्यवहार प्रकीर्णक है। इसमे सुयोग्य आचरण जनित दोषो के प्रयश्चित का वर्णन है ।।९।। दशवा कल्पाकल्प प्रकीर्णक। इसमे विषय कषायादिक हेय तथा ज्ञान वैराग्यादि उपादेय के विधि निषेध का वर्णन है ।।१०।। ग्यारहवा महाकल्पप्रकीर्णक है। इसमे यति के उचित अर्थात् योग्य वस्तु, क्षेत्र, काल का विशेष वर्णन है ।।११।। बारहवा पुण्डरीक प्रकीर्णक है। इसमे प्रायश्चित विधि का वर्णन है। किन किन कर्मो के द्वारा देवादिक किन किन गतियो को जीव प्राप्त होता है, इसका वर्णन है ।।१२।। तेरहवा महापुण्डरीक प्रकीर्णक है। इसमे किन किन शुभ कर्मो के उदय मे महा ऋद्धि के धारक देवो की पदवी प्राप्त होती है, इसका वर्णन किया गया है ।।१३।। चौदहवा पुण्डरीक निशीत का प्रकीर्णक है। इसमे दोषो की शुद्धि के लिये प्रायश्चित सूत्रो का वर्णन है ।।१४।। इस प्रकार श्री उपाध्याय परमेष्ठी के ग्यारह अग चौदहपूर्व के ज्ञान स्वरूप २५ गुण होते है ।। ये उपाध्या परमेष्ठी स्वय आचार्य के निकट शिक्षा ग्रहण और तत्व चर्चा करते रहते है। तथा आचार्य के आदेशानुसार निकटवर्ती अन्यशिष्यो को भी पढाते है इसलिए उनको पाठक भी कहते है। यद्यपि ये भी द्रव्य, क्षेत्र काल भाव के ज्ञाता, पचाचार परायण, उत्तम क्षमादि दशलक्षण रूप धर्म के धारक होने से आचार्य के समान सर्वदा तत्पर रहते है, परन्तु अन्तर इतना ही है कि आचार्य शिक्षा दिक्षा देने के अधिकारी व सघ के अधिष्ठाता समझे जाते है और ये उपाध्याय नही, क्योकि सघ मे सघाधिपति तो एक ही होता है परन्तु उपाध्याय अनेक होते है। इनका अध्ययन और अध्यापन करना ही मुख्य कर्म होता है। ऐसे ज्ञान के सागर श्री उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति पूजा तथा गुणानुवाद करने से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। इनके समान मुझे भी ज्ञान की प्राप्ति हो ।। समाप्तोऽय उपाध्यायगुणानुवादः ।।

आगे साधु परमेष्टी का वर्णन करते हैं :—

दोहा—पचमहाव्रत पनसमिति' पंच इद्रियरोध ।
षट् आवश्यक नियम गुण, अष्टाविशति वोध ।।१।।

अर्थ—पच महाव्रत, पच समिति, पचेन्द्रिय निरोध, षडावश्यक, सप्त नियम गुण इस प्रकार २८ मूल गुण के धारक साधु होते है और दया के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमडलु और ज्ञान के उपकरण शास्त्र से युक्त होते है । आगम कथित ४६ दोष, ३२ अन्तराय, १४ मलदोप को बचाकर शुद्धाहार को ग्रहण करते है । ये ही मोक्षमार्ग के साधक होने से साधु और सच्चे गुरु कहलाते है ।

पचमहाव्रत का दोहा

हिसा अनृत तस्करी, अब्रह्म परिग्रह पाप ।
मन वच तन से त्याग वो, पचमहाव्रत थाप ।।

अर्थ—हिसा अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह-इन पाच पापो से सर्वथा त्यागरूप महाव्रत पाँच प्रकार का है । अहिसा महाव्रत-प्रमत्त योग पूर्वक षट्काय के जीव के द्रव्यो और भाव से प्राणो के घात का सर्वथा त्याग करना ।।१।।

अचौर्य महाव्रत—प्रमत्त योग पूर्वक विना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने का त्याग करना । यद्यपि अचौर्य व्रत का प्रयोजन विना दी हुई वस्तु को ग्रहण न करने का है तथापि मुनि धर्मोपकरण और अन्न के सिवाय दी हुई वस्तु को भी नही ग्रहण करते-क्योकि साधु सर्व प्रकार परिग्रह त्यागी होते हैं ।।२।। सत्य महाव्रत-प्रमत्तयोग पूर्वक असत्य वचन का सर्वथा त्याग सत्य महाव्रत है ।।३।। ब्रह्मचर्य महाव्रत वेद के उदय जनित मैथुन सम्बन्धी सपूर्ण क्रियाओ का त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है ।४। परिग्रहत्याग महाव्रत १४ प्रकार अतरग परिग्रह और दश प्रकार वाह्य परिग्रह का मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना परिग्रह त्याग महाव्रत है ।।५।।

पचसमिति नाम ।

दोहा—ईर्याभाषाएषणा, पुनि क्षेपण आदान ।
प्रतिस्थापना युत क्रिया, पाचो समिति विधान ।।३।।

अर्थ—भली प्रकार गमनादि मे प्रवृतिसमिति है वह पाच प्रकार है । प्रथम ईर्या समिति जो मार्ग पशु मनुष्यादिक के गमनागमन से खुद गया हो ऐसे प्रासुक मार्ग के सूर्य के प्रकाश मे चार हाथ प्रमाण भूमि को भली प्रकार से निरखते हुए सावधानता. पूर्वक तीर्थ, दर्शन, गुरुयात्रादि धर्म कार्य तथा आहार, विहार, निहार आदि आवश्यकीय

कार्यों के निमित गमन करना ईर्या समिति है ।।१।। दूसरी भाषा समिति-सर्व प्राणियों के हितकारी, कोमलमिष्ट' प्रिय सत्य प्रामाणिक, शास्त्रोक्त मिथयात्व रूपी रोग को दूर करने वाले वचन बोलना भाषा समिति है ।।२।। तीसरी एषणा समिति-छियालिस दोष, बत्तीस अंतराय और चौदह मल दोष टालकर कुलीन श्रावक के घर तप और चरित्र की वृद्धि के लिये शरीर की सुन्दरता और पुष्टी के प्रयोजन से रहित, अपने निमित्त न किया हुआ अनुदिष्ट आहार ग्रहण करना एषणा समिति है ।३। यहा प्रसगवश सक्षिप्तरूप से आहार सम्बन्धी छियालिस दोष, बत्तीस अतराय और १४ मल का वर्णन किया जाता है ।

अथ छियालिस दोष—प्रथम उद्गम दोष कथन । जो दातार के अभिप्राय से प्रगट हो वे उद्गम दोष कहलाते है । षट्काय के जीवो के बध द्वारा आहार उत्पन्न करना अध: कर्म दोष है ।।१।। साधु का नाम लेकर भोजन तैयार कराना उद्देशिक दोष कहलाता है ।।२।। सयमी का आगमन जानकर भोजन बनाने का आरभ करना अध्वसाय दोष है ।३। प्राशुक भोजन मे अप्रासुक भोजन मिला देना पूतिदोष है ।।४।। सयमी के ग्रहण योग्य भोजन मे असयमी के योग्य भोजन का मिलाना मिश्रदोष है ।५।। रसोई के स्थान से अन्यत्र पकाये हुये या दूसरे के स्थान में रक्खा हुआ भोजन लाकर देना स्थापित दोष है ।।६।। यक्ष नागादि के निमित्त बनाया हुआ भोजन देना बलि दोष है ।।७।। पात्र को पडगाहकर पीछे काल (समय) की हानि वृद्धि करना अथवा नवधा भक्ति मे शीघ्रता वा विलम्ब करना प्रावर्तित दोष है ।।८।। अधेरा जानकर मडप आदि को प्रकाशरूप करना प्राविशकरण दोष है ।।९।। अपने घर मे किसी वस्तु के विद्यमान न होने पर दूसरे से उधार लाकर देना प्रामिशिक दोष है ।।१०।। जो वस्तु अपने घर मे विद्यमान हो उसको दूसरे गृहस्थी से अपनी वस्तु के बदले मे लाकर देना परिवर्तक दोप है ।।११।। तत्काल दूरदेश से आई हुई वस्तु देना अभिघटदोष है ।।१२।। बधी या छादा लगी हुई वस्तु के खोलकर देना उद्भिन्न दोष है ।।१३।। रसोई के स्थान से ऊपर की मजिल मे रखी हुई वस्तु को सीढ़ी पर चढकर लाकर देना मालारोहण दोष है ।।१४।। उद्वेग, त्रास, भय के कारण भोजन देना आच्छेय दोष है ।।१५।। दातार का असमर्थ होना अनिसार्थ दोष है।१६। सोलह उत्पादन दोष—जो आहार प्राप्त करने में अभिप्राय सबधी दोष पात्र के आश्रय लगते हैं यथा गृहस्थ को मजन मडल क्रीडनादिधात्री कर्म का उपदेश देकर आहार ग्रहण करना धात्री दोष है ।।१।। दातार को अन्य देश का समाचार सुनाकर आहार ग्रहण करना दूत दोष है ।।२।। अष्टांग निमित्त ज्ञान दातार को बताकर आहार ग्रहण करना निमित्त दोष है ।।३।। अपनी जाति, कुल, तपश्चरणादि बतलाकर आहार लेना आजीवक दोष है ।।४।। दातार की अभिरुचि के अनुकल वचन कहकर आहार लेना वनीयक दोष है ।५। दातार को औषधि बताकर आहार का ग्रहण करना चिकित्सा दोष है ।।६।। क्रोध, मान, माया लोभ पूर्वक आहार ग्रहण करना क्रोध, मान, माया लोभदोष हे ।।७-८-९-१०।।

भोजन के पहले दातार की प्रशसा कर आहार ग्रहण करना पूर्वस्तुति दोष है ।।११।। आहार ग्रहण करने के पश्चात् दाता को प्रशसा करना पश्चात् स्तुतिदोष है ।१२।। आकाशगामिनी, जलगामिनी आदि विद्यादातार को बताकर आहार ग्रहण करना विद्या दोष है ।।१३।। सर्पविषधारी विच्छू आदि जीवो के विष दूर करने वाला मत्र बताकर आहार ग्रहण करना मत्र दोष है ।।१४।। शरीर की सुदरता तथा पुष्टता के निमित्त चूर्णादि बताकर आहार ग्रहण करना चूर्ण दोष है ।।१५।। दातार को अवश के वश करने की युक्ति बताकर आहार लेना मूलकर्म दोष है ।।१६।।

१४ आहार सम्बन्धी दोष—जो दोष भोजन के आश्रय लगते है । यथा-यह भोजन योग्य है, अयोग्य है, खाद्य है या अखाद्य है, भोजन मे ऐसी शका का होना शकित दोष है ।।१।। सचिक्कन (चिकने) हाथ या बर्तन मे रक्खे हुए भोजन को ग्रहण करना मृक्षित दोष है ।।२।। सचित्त पात्रादि पर धरा हुआ भोजन ग्रहण करना निक्षिप्त दोष है ।।३।। सचित्त पात्रादि मे ढका हुआ भोजन ग्रहण करना पिहित दोष है ।।४।। दान देने की शीघ्रता से भोजन को न देकर या अपने वस्त्रो को सभालकर आहार देना सव्यवहरण दोष है ।।५।। सूतक आदि दोषयुक्त अशुद्ध आहार ग्रहण करना दायक दोष है ।।६।। सचित मिश्रित आहार ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है ।।७।। अग्नि से परिपूर्ण, नही पका हुआ या जला हुआ अथवा तिल, तदुल, हरड आदि मे स्पर्श, रस, गध, वर्ण बदले बिना जल ग्रहण करना अपरिणत दोष है ।।८।। हरताल, गेरु, खडिया आदिक अप्राशुक, द्रव्य से लिप्त हुए भोजन वा हस्त द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना लिप्त दोष है ।९। दातार द्वारा पात्र के हस्त मे स्थापन किया हुआ आहार जो पाणिपात्र से गिरता हो अथवा अपने पाणिपात्र मे आये हुए आहार को छोड और आहार लेकर ग्रहण करना परित्यजन दोष है ।।१०।। शीतल भोजन या जल मे उष्ण वस्तु अथवा उष्ण भोजन वा जल मे शीतल वस्तु मिलाना सयोजनदोष है ।।११।। प्रमाण से अधिक गृद्धता से भोजन करना अप्रमाण दोष ।।१२।। और अति गृद्धता सहित आहार लेना अगारदोष है ।।१३।। 'यह भोजन प्रकृति विरुद्ध है'—ऐसा सक्लेश या ग्लानि करते हुए आहार लेना धूमदोष है ।।१४।।

इति ४६ दोष वर्णनम् ।।

अपने निमत्त स्वत भोजन तथा उसकी सामग्री तैयार कराना अध कर्म दोष है । यह दोष ४६ दोषो के अतिरिक्त महान् दोष कहलाता है ।।

बत्तीस अन्तराय । अतराय सिद्ध भक्ति होने के पश्चात् माना जाता है । भोजन को जाते समय ऊपर से काकादिक पक्षियों का बीट कर देना ।।१।। गमन समय पग को विष्टा मल से लिप्त हो जाना ।।२।। वमन हो जाना ।।३।। भोजन को गमन करते हुए किसी के

द्वारा मनाकर देना ।।४।। रुधिर तथा पीव आदि का किसी अग में से बह निकलना ।।५।। भोजन के समय अश्रुपात हो जाय अथवा अन्य को अश्रुपात व विलाप करते देखना ।।६।। भोजन को जाते समय यदि घुटते से ऊचे चढना पडे ।।७।। साधु के हाथ घुटने से नीचे स्पर्श हो जाय ।।८।। भोजन के निमित्त नाभि से नीचा माथा करके द्वार मे से निकलना पड़े ।।९।। त्याग की हुई वस्तु भोजन मे आ जाय ।।१०।। भोजन करते हुए अपने उन्मुख किसी प्राणी का वध हो जाय ।।११।। भोजन करते हुए काकादि पक्षी ग्रास ले जाय ।।१२।। भोजन करते हुए पात्र के हस्त मे से ग्रास गिर जाय ।।१३।। किसी प्रकार का त्रस जीव साधु के हाथ में गिरकर प्राण रहित हो जाय ।।१४।। भोजन के समय मृतक पचेन्द्रिय का कलेवर दृश्य पड़ जाय ।।१५।। भोजन के समय किसी प्रकार का उपसर्ग आ जाय ।।१६।। भोजन करते हुए साधु के दोनो पावो के मध्य मे से मेंढक मूषकादि पचेन्द्रिय जीव निकल जाय ।।१७।। दाता के हाथ मे से भोजन का पात्र गिर पडे ।।१८।। भोजन करते समय साधु के शरीर से मल तथा मूत्र निकल जावे ।।२०।। भोजन निमित्त भ्रमण करते हुए शूद्र के घर मे प्रवेश हो जाय ।।२१।। साधु भ्रमण करते हुए मूर्छा खाकर गिर पडे ।।२२।। भोजन करता हुआ साधु रोगवश बैठ जाय ।।२३३।। भ्रमण करते हुए श्वानादि पचेन्द्रिय जीव काट खाय ।।२४।। सिद्ध भक्ति किये पीछे हस्त का भूमि से स्पर्श हो जाय ।।२५।। भोजन के समय कफ थूकादि गिर पड ।।२६।। भोजन के समय साधु के उदर से कृमि निकल आवे ।।२७।। भोजन करते समय साधु के हस्त से किसी परवस्तु का स्पर्श हो जाय ।।२८।।

भोजन करते समय कोई दुष्ट, साधु को या किसी अन्य को खड्ग से मारे या हत्या करे तो भोजन छोड देना चाहिए ।।२९।। भोजन के निमित्त जाते समय आग लग जाये या आग लगने की खबर सुने तो आहार छोड दे ।।३०।। भोजन करते समय साधु के चरण से किसी वस्तु का स्पर्श हो जाये तो भोजन छोड देना चाहिये ।।३१।। भोजन करते समय भूमि पर पडी हुई वस्तु को हाथ से छू ले या उठा ले तो अतराय हो जाता है ।।३२।। इन ३२ अनराय के अतिरिक्त चाण्डाल आदि से स्पर्श हो या किसी का कलह हो या इष्ट शिष्यादिक का या अन्य प्रधान पुरुषो के मरण की सूचना सुन ले तो अतराय माना जाता है ।

चौदह मल दोष

नख, बाल, प्राण रहित शरीर, अस्थि, कण, (जौ गेहू आदि का तुष) राध, त्वचा बीज, रक्त, मास, सचित्त फल, कद, सचित्ताचित फल और मूल इस प्रकार ये चौदह मल दोष है । इस प्रकार अतराय के छयालीस दोष का वर्णन किया गया है ।

।। इति छयालीस दोष वर्णनम् ।।

अब चौथी आदान निक्षेपण समिति का वर्णन करते है :—

रखी हुई वस्तु को ग्रहण करने को आदान कहते है और ग्रहण की हुई वस्तु के धारण करने को निक्षेपण कहते है। जिससे किसी जीव को बाधा न पहुचे इसी प्रकार ज्ञान के उपकरण शास्त्र, सयम के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमडलु तथा सस्तर आदि को यत्नाचार पूर्वक उठाने धरने को आदान निक्षेपण समिति कहते है।

पाचवी प्रतिष्ठापन समिति

जीव जन्तु रहित तथा एकान्त स्थान मे अर्थात जहाँ असयमी पुरुषों का प्रचार न हो, अचित्त अर्थात-हरित काय आदि रहित, शहर से दूर, गुप्त जगह, बिल छिद्र आदि से रहित, जीवरोध से रहित अथवा जहा किसी का आना जाना न हो ऐसे निर्जन स्थान पर मल मूत्र आदि का त्याग करना प्रतिष्ठापन समिति है। इस प्रकार ये पाच प्रकार की समिति है।

।। पचेंद्रिय निरोधम् ।।

सपरस रसना नासिका, नयन श्रोत्र कोरोध।
षट आवशि मंजन तजन, शयन भूमि को शोध

अर्थ – स्पर्शन आदि पचेंद्रिय विषयो मे राग द्वेष रहित हो जाना पचेंद्रिय निरोध कहा जाता है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

स्पर्शन इन्द्रिय निरोध - चेतन पदार्थ स्त्री पुत्र आदि, अचेतन पदार्थ शय्या आदि, स्पर्शन इन्द्रियो के विषय भूत कठोर, कोमल, शीत, उष्ण सचिक्कन और रूक्ष पदार्थो मे राग द्वेष न करना स्पर्शन इन्द्रिय निरोध है।

रसना इन्द्रिय निरोध—अनशन, पान, खाद्य स्वाद्य—ये चार प्रकार का आहार और दूध, दही, घी, नमक, शक्कर, तेल आदि ये छ रस है और तीखे, कडवे, कषायले, खट्टे, मीठे, पचरस रूप इष्ट अनिष्ट आहार मे राग द्वेष न करना सो रसन इन्द्रिय निरोध है।

घ्राणेन्द्रिय निरोध—सुख दु ख के कारण रसरूप सुगन्धित दुर्गन्धित पदार्थों में राग द्वेष नही करना यह घ्राण इन्द्रिय निरोध है।

चक्षु इन्द्रिय निरोध—कुरुप, सुहावने, भय उत्पन्न करने वाले, राग द्वेष को उत्पन्न करने वाले पदार्थों का तथा रक्त, पीत, हरित, स्वेत आदि रगो को देखकर राग द्वेष न करना चक्षु इन्द्रिय निरोध है।

श्रोत्रेन्द्रिय निरोध—चेतन स्त्री, पुरुष, पशु आदि और अचेतन मेघ, बिजली आदि और मिश्रित तबला सारगी आदि से उत्पन्न शुभ प्रशसा निन्दा आदि के शब्द सुनकर राग, द्वेष नही करना ये श्रोत्र इन्द्रिय निरोध है।

॥अथ षट् आवश्यकं॥

अवश्य करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहते है। ये छ: प्रकार की है—

सामयिक, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग—इस प्रकार ये छ: आवश्यक त्रियाये है। इनके स्वरुप का वर्णन आचार्य के छत्तीस गुणो में आचुके है तो भी यहा केवल दिग्दर्शन मात्र इनका वर्णन किया जाता है—

परद्रव्यो मे राग, द्वेप रहित होकर साम्य भाव रखना सामयिक है।१। चौवीस तीर्थकरो में से किसी एक तीर्थकर का स्तवन करना वन्दना है।२। चौवीस तीर्थकरो की स्तुति करना स्तवन है।३। अतीत कालमें अशुभ परिणाम किये हुए दोषों का परित्याग करना प्रतिक्रमण है।४। वाचना, पृच्छना आदि पाच प्रकार शास्त्रों का अध्ययन अथवा आत्म चिंतन करना स्वाध्याय है।५। शरीर से ममत्व रहित होकर आत्मा में लीन होना कायोत्सर्ग है।६। इस प्रकार ये षड्—आवश्यक है।

अब शेप सात नियम गुणो को कहते है—

(१) अस्नान गुण—जल तथा मल-युक्त शरीर होने पर भी स्नान नही करने को जल सिचन आदि शरीर सस्कार नही करने को अस्नान गुण कहते हैं। परन्तु साधु को शूद्र के स्पर्श हो जाने पर तथा दीर्घ शका, लघु शका को जाने के पश्चात् षड् आवश्यक शुद्धि के निमित्त शुद्धता करना आवश्यक है।

(२) भूमि शयन गुण—जीवादि रहित प्राशुक भूमि मे अथवा सस्तर रहित जिससे सयम का घात न हो ऐसे चटाई, लकडी के पटडे तथा शिला आदि सरतर पर एकान्त स्थान मे औधे अथवा सीध रहित एक करवट मे दड अथवा धनुप के समान शयन करने को भूमि शयन गुण कहते है।

अब आगे पॉच नियम गुण कहते है—

दोहा—वस्त्र त्याग कचलोच कर, लघु भोजन इक बार।
मुखते दातन ना करे, ठाडे लेय आहार॥

अर्थ—(३) वस्त्र त्याग गुण—मुनि धर्म के विराधक कपास, रेशम, सन के टाट आदि वनस्पति के वस्त्रो तथा मृगादिक से उत्पन्न मृगछाल आदि चर्म तथा वृक्षो के पत्र, छाल आदिक से शरीर को आच्छादित न करना और न तत्सम्बन्धित मन, वचन, काय आदि से राग करना वस्त्र त्याग गुण है।

(४) केश लोच गुण—अपने हाथ से सिर, दाढी, मूछों के केशो का, उत्कृष्ट दो मास में, मध्यम तीन मास मे, जघन्य चार मास में लोच करना चौथा केशलोच गुण है।

(५) एक भुक्ति गुण—तीन घडी दिन चढने के बाद, तीन घडी दिन शेष रहने के पहले, मध्य में दो तीन मुहूर्त काल के भीतर ही भीतर दिन में केवल एक बार ही अल्प आहार लेना एक भुक्ति गुण कहलाता है।

(६) अदन्त धोवन गुण—इन्द्रिय संयम की रक्षा और वीतरागता को प्रकट करने के निमित्त हाथ की अंगुली से, नख से वा दातौन के द्वारा दांतों का धोवन न करना अदन्त धोवन गुण है

(७) एक स्थिति भोजन—दीवार आदि के आसरे के बिना, दोनों पांवों में चार अंगुल का अन्तर रखकर ४६ दोष, बत्तीस अन्तराय, चौदह मल दोष टाल कर पाणिपात्र में आहार लेने को एक स्थित भोजन कहते हैं।

उपर्युक्त अट्ठाईस मूल गुणों को समुचित रूप से पालन करने से आत्मा के चौरासी लाख गुणों की उत्पत्ति होती है।

उसका वर्णन इस प्रकार है—

हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, और तृष्णा—पांच पाप, क्रोध, मान माया, लोभ ये चार कषाय, मन, वचन, काय की तीन दुष्टता, मिथ्या दर्शन, प्रमाद, पैशुन्य अज्ञान, भय, रति, अरति, जुगुप्सा, इन्द्रियों का निग्रह इन २१ दोषों का त्याग करना और अतिचार, अनाचार, अतिक्रमण और व्यतिक्रमण ऐसे चार प्रकार से पृथ्वी कायिक आदि १० के परस्पर संयोग रूप (१००) सौ, की हिंसा का त्याग, दस, अब्रह्म के कारणों का त्याग १०, आलोचना दोषों का त्याग १०, प्रायश्चित्त के भेदों से परस्पर गुणों से (२१ × ४ × १०० × १० × १० × १० = ८४०००००) उपर्युक्त प्रकार दोषों के अभाव से आत्मा में अहिंसा के चौरासी लाख उत्तर गुणों की प्राप्ति होती है।

अतिचार, अनाचार, अतिक्रमण, व्यतिक्रम के लक्षण—

श्लोक - अति क्रमो मानस शुद्धि हानि, व्यतिक्रमोयोविषयाभिलाष।
तथाति चारकरणालसत्व, भंगोह्यनाचारमिहव्रतानि॥

अर्थ—मन की शुद्धता में हानि होना अतिक्रम है।

विषयों की अभिलाषा को व्यतिक्रम कहते हैं।

व्रत के आचरण में शिथिलता होना अतिचार है। सर्वथा व्रत का भंग होना अनाचार है। रत्नत्रयात्मक आत्मस्वरूप साधने में तत्पर और बाह्य में शास्त्रोक्त दिगम्बर वेषधारी, अठाईस मूल गुणों के साधक साधु मेरी रक्षा करो।

कैसे हैं वे साधु? जिनके आत्मध्यान के बल से अनेक प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती

है इस अपेक्षा से उनको ऋद्धि भी कहते है। उन ऋद्धियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

बुद्धि, ऋद्धि, औषधि ऋद्धि, क्षेत्र ऋद्धि, बल ऋद्धि, तप ऋद्धि, रस ऋद्धि, निक्रिया ऋद्धि और क्रिया ऋद्धि—ये आठ ऋद्धिया है। इनमें पहली बुद्धि ऋद्धि के अठारह प्रकार है—

(१) केवल ऋद्धि केवल ज्ञान व केवल दर्शन होना जिससे त्रिकालवर्ती सर्वरूपी अरूपी द्रव्यों के गुण के समस्त गुण, पर्याय को जानना तथा देखना।

(२) मन पर्याय ऋद्धि—यह ऋद्धि ऋजुमति, तथा विपुलमति दो प्रकार की है। पर के मन मे स्थिति पदार्थ को किसी की बिना सहायता से जान लेना मन पर्यय ऋद्धि है।

(३) अवधि ऋद्धि यह ऋद्धि देशावधि, सर्वावधि, परमावधि, नाम से तीन प्रकार की है त्रिकालगोचररूपी पदार्थों को देश काल की मर्यादा लिए जान लेना अवधि ऋद्धि है।

(४) वीर्य बुद्धि ऋद्धि—किसी ग्रन्थ के एक श्लोक को ग्रहण करके सम्पूर्ण ग्रन्थ का ज्ञान होना।

(५) कोष्ट बुद्धि ऋद्धि—जिस प्रकार कोठे मे नाना प्रकार की वस्तुए रखी रहती है और आवश्यकता होने पर अलग-अलग वस्तु निकाल कर देते है इसी प्रकार मुनीश्वर जो कुछ पढे अथवा सुने, वह भिन्न-भिन्न याद रहे, एक वार्ता का अक्षर की दूसरी वार्ता में न मिले उसको कोष्ठ बुद्धि ऋद्धि अथवा कोष्ठस्थाधान्योपम् ऋद्धि कहते है।

(६) सम्भिन्न स्रोत ऋद्धि बारह योजन लम्बे, नौ योजन चौडे क्षेत्र के मनुष्य पशुओ का शब्द एकत्र एक काल में भिन्न भिन्न श्रवण करना।

(७) पदानुसारिणीक ऋद्धि—आदि मध्यान्त के एक-एक पद से ही समस्त ग्रन्थ का कठाग्र हो जाना।

(८) दूरी स्पर्शन ऋद्धि—आठ प्रकार के स्पर्श का ज्ञान पवन के स्पर्श होने से हो जाना।

(९) दूरी रसन सिद्धि—मनुष्य क्षेत्र के रसो का स्वाद जान लेना।

(१०) दूरी गध ऋद्धि—बहुत दूर के सुगन्ध, दुर्गन्ध का जानना।

(११) दूरावलोकन ऋद्धि—प्रत्येक पदार्थ को दूर से देखना तथा जानना।

(१२) दूरी श्रवण ऋद्धि—सात प्रकार के स्वर और पाँच प्रकार की वादित्र ध्वनि को दूर से देखना तथा जानना।

सप्तस्वर नाम—(१) ऋषभ (मनुष्य शब्द) (२) रिषाद (मेघ गर्जना) (३)

गन्धार (बकरी की बोली (४) खरज (बिलाई की बोली) (५) मध्यम (उपरोक्त चारों बोली एक साथ) (६) धैवत (हाथी की चिघाड) (७) पचम (कोयल की बोली ये सात स्वर है।)

पच वादित्र– (१) चर्म (मृदग आदि) (२) फूंक (बांसुरी आदि) (३) तात तार (बीणा आदि) (४) ताल (मजीरा आदि) (५) जल लहर (पानी का शब्द) ये पच प्रकार वादित्र है।

(१३) दस पूर्व ऋद्धि—जिसमे दस पूर्व का ज्ञान होवे।

(१४) चौदह पूर्व ऋद्धि—जिससे चौदह पूर्व का ज्ञान होवे।

(१५) इन्द्रियदमन ऋद्धि – जिसके द्वारा चोर इन्द्रियों को दमन कर तपश्चरण करे।

(१६) वाद बुद्धि ऋद्धि—दूसरे को वाद मे जीतना।

(१७ प्रज्ञा ऋद्धि– तत्वार्थ अथवा पदार्थो के भेद को बिना शास्त्र को पढे स्वय जान लेना।

निमित्तक बुद्धि ऋद्धि इसके आठ भेद है—पशु-पक्षियो की भाषा सुनकर उस भाषा से शुभाशुभ फल को जानना, सो स्वर भेद है ॥१॥ ग्रह नक्षत्रादिक को देखकर शुभा-शुभ को जानना सो अन्तरिक्ष है ॥२॥ पृथ्वी कम्पनादि लक्षणो को जानकर शुभाशुभ फल को बताना अगभूत है ॥३॥

वैद्यक, सामुद्रिक आदि से मनुष्य तथा चौपायों का शुभाशुभ जानना सो मड है॥४॥

वस्त्र, शस्त्र, पशु, पक्षी और अग्नि आदि से शुभाशुभ जानना चिह्न है ॥५॥

तिल, मस्सा, लहसन आदि अग के चिह्नो क देखकर उनके शुभाशुभ को जानना सो व्यजन है ॥६॥

श्री वत्स, शख, चक्रादि चिह्न को देखकर शुभाशुभ जो जानना सो लक्षण है ॥७॥

स्वप्न से शुभाशुभ जानना सो स्वप्न चिन्ह है ॥८॥

ये आठारह भेद बुद्धि ऋद्धि के है।

दूसरी औषध ऋद्धि आठ प्रकार की है—

(१) विष्टा ऋद्धि—मुनि की विष्ठा रोगी के शरीर से लग जाए तो सर्व रोगो का नाश होना।

(२) मल ऋद्धि—मुनि का कान नाक आदि का मल रोगी के लग जाए तो सर्व रोगो का नाश होना।

(३) आम्र ऋद्धि—रोगी या दरिद्री को मुनि महाराज के शरीर का स्पर्श हो जाए तो रोग वा दरिद्रता जाती रहे।

(४) उज्जवल ऋद्धि—मुनि के शरीर का पसेव दरिद्री अथवा रोगी के लग जाए तो दरिद्रता और रोग जाता रहे।

(५) क्षुल्लक ऋद्धि—दरिद्री वा रोगी मनुष्य के मुनि का मूत्र, कफ, थूक लग जावे तो दरिद्रता व रोग जाता रहे।

(६) सर्वौषधि ऋद्धि—मुनि के शरीर का स्पर्श कर जो पवन आवे, उसके लगते ही रोगी का सर्व रोग नाश होवे।

(७) दृष्टि विष ऋद्धि—किसी को किसी साप ने काटा हो अथवा किसी ने विष खा लिया हो तो मुनि के देखते ही निर्विष हो जावे।

(८) विष नाशन ऋद्धि—मुनि को भोजन में कोई बिष दे दे तो बाधा न करे।

तीसरी क्षेत्र ऋद्धि है उसके दो भेद होते है—

(१) अछिन्न ऋद्धि—मुनि जिसके घर में आहार ले तो उस दिन भोजन अटूट हो जाये।

(२) अवच्छिन्न ऋद्धि—मुनि जिस चौके में आहार ले उसमें चक्रवर्ती की सेना अलग बैठ कर भोजन करे तो भी कमो न होए।

चौथी बल ऋद्धि के तीन प्रकार हैं।—

(१) मनोबल ऋद्धि—जिसके बल से द्वादशाग वाणी का अतर्मुहूर्त में पाठ कर लिया जाए।

(२) वचन बल ऋद्धि—जिसके बल से द्वादशाग वाणी का अंतर्मुहूर्त में वचन द्वारा पाठ कर लिया जाए।

(३) काय बल ऋद्धि—द्वादशाग वाणी का पाठ अतर्मूहूर्त मे काय द्वारा कर लेना अथवा पहाड समान भारी बोझ को उठा लेना।

पाचवी तप ऋद्धि सात प्रकार की है—

(१) घोर ऋद्धि—श्मशान आदि भयानक स्थानो में नि शक ध्यान लगा कर परीषह सह लेना।

(२) महत् ऋद्धि—निर्विघ्न १०८ व्रत का क्रम पूर्वक पालन करना और उपवास करना।

(३) उग्र तप ऋद्धि—एक ,दो अथवा तीन दिन तथा पक्ष मासादिक का उपवास प्रारम्भ कर मरणासन्न होने पर भी विचलित नही होना।

(४) दीप्ति ऋद्धि—घोर तप करने से भी देह की कान्ति न घटना।

(५) तप ऋद्धि—जो वस्तु ग्रहण की जाए अथवा पान की जाए उसका मल, मूत्र, मांस कुछ भी न बने। जिस प्रकार अग्नि मे गिरने से सब पदार्थ भस्म हो जाते है उसी प्रकार भोजन का मल मूत्र आदि रूप मे परिणमन न होना।

(६) घोर गुण ऋद्धि—रोग आदि के होने पर भी अनशन आदि व्रत का अतिचार रहित पालन करना।

(७) घोर ब्रह्मचर्य ऋद्धि—ऐसा ब्रह्मचर्य धारण करना कि जिससे स्वप्न में भी चित्त चलायमान न हो।

छठी रस ऋद्धि के छ भेद हैं—

(१) पयस्त्रवा ऋद्धि—मुनि जिस ग्रहस्थ के घर भोजन करे तो उनके पाणि पात्र में रुक्षभोजन भी क्षीर रस रूप मे परिणमन हो जाए और उस दिन समस्त रसोई दुग्धमय हो जाए।

(२) घृतस्त्रवा ऋद्धि—मुनि जिस ग्रहस्थ के घर भोजन करे तो उस दिन समस्त रुक्ष भोजन भी घृत सहित हो जाए।

(३) मिष्टास्त्रव ऋद्धि—मुनि जिस ग्रहस्थ के घर भोजन करे तो उस दिन रसोई मिष्टरस हो जाये।

(४) अमृतस्त्रवा ऋद्धि—मुनि जिस ग्रहस्थ के घर भोजन करे उस दिन रसोई अमृतमय हो जाए।

सातवो विक्रिया ऋद्धि ग्यारह प्रकार की होती है

(१) अणिमा ऋद्धि—जिसके बल से अपना शरीर छोटा कर सकते है।

(२) महिमा ऋद्धि—जिससे पर्वत समान दीर्घ शरीर धारण कर सकते है।

(३) लघिमा ऋद्धि—जिसके बल से आक वृक्ष के तूल समान हलका शरीर धारण कर सकते है।

(४) गरिमा ऋद्धि—जिसके बल से पर्वत के समान भारी शरीर धारण कर सकते है।

(५) प्राप्ति ऋद्धि—जिससे पृथ्वी पर बैठे हुए मेरु आदि को पादांगुष्ठ से स्पर्श कर सकते है।

(६) प्राकाम्य ऋद्धि—जिससे समुद्र, सरोवर आदि के जल में पृथ्वी पर गमन करने के समान गमन करे।

(७) ईश्वरत्व ऋद्धि—जिससे अपनी इच्छानुसार वैभव धारण कर सकते है।

(८) वशित्व ऋद्धि—जिससे मनुष्य, पशु आदि को इच्छानुसार वश में कर सकते हैं।

(९) अप्रतिघात ऋद्धि—जिससे पर्वत, कोट आदि को भेदकर अनिरुद्ध आकाशवत् चले जावे।

(१०) अन्तर्ध्यान ऋद्धि—जिससे अन्य मनुष्यों से दृष्टि अगोचर होकर स्वय सब मनुष्यों को देख सकते है।

(११) कामरूपित्व ऋद्धि -जिससे पशु, पक्षी आदि का रूप इच्छानुसार बना सकते है।

आठवी क्रिया ऋद्धि के दो मूल भेद और दश उत्तर भेद है। दो मूल भेद—(१) चारण ऋद्धि (२) आकाशगामिनी ऋद्धि।

चारण ऋद्धि आठ प्रकार की है—

(१) जल चारण ऋद्धि—जिससे भूमि, वायु और जल पर गमन कर सकते है।

(२) जघाचारण ऋद्धि—जिससे पृथ्वी से चार अगुल ऊपर चल सकते हैं।

(३) पुष्प चारण ऋद्धि—जिससे पुष्पो पर पाँव रखते हुए गमन करे परन्तु फिर भी फूल न टूटे।

(४) फल चारण ऋद्धि—जिससे फलो पर पैर रखकर चलने पर भी फल न टूटे।

(५) पत्र चारण ऋद्धि—जिससे पत्तो पर पैर रखकर चलने पर भी पत्र न टूटे।

(६) शयन चारण ऋद्धि—जिससे कोमल तन्तु वाली बेल पर पैर रखकर चलने पर भी बेल न टूटे।

(७) तन्तुचारण ऋद्धि —जिसमे मकड़ी के तन्तु पर पैर रखकर चलने पर भी तन्तु न टूटे।

(८) अग्निशिखा चारण ऋद्धि —जिससे अग्नि शिखा पर पैर रखकर चलने पर भी पैर न जले।

आकाशगामिनी ऋद्धि दो प्रकार है—

(१) पद्मासन ऋद्धि—जिससे पद्मासन बैठे हुए आकाश में गमन कर सकते हैं।

(२) कायोत्सर्ग ऋद्धि—जिससे खडे हुए आकाश मे जा सकते हैं।

आठ प्रकार की चारण ऋद्धि और दो प्रकार आकाशगामिनी ऋद्धि—इस प्रकार क्रिया ऋद्धि के दश भेद है।

इति साधु गुण वर्णन समाप्त

अब अन्त मे पंच परमेष्ठी की स्तुति कर प्रथम अधिकार समाप्त करेगे।

कैसे है अर्हन्त भगवान ? जो गृहावस्था को छोडकर, मुनिव्रत धारण कर, कर्मों की निर्जरा कर उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय आदि चार कर्मों का नाश कर अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूपी अन्तरग लक्ष्मी और समवशरण आदि बाह्य लक्ष्मी को प्राप्त कर परमौदारिक शरीर से भव्य जीवों को निज उपदेशामृत की वर्षा कर ससार भ्रमण से प्राप्त हुई सतप्तता को शात करते है अर्थात् उससे छुटा देते है। ऐसे अर्हंत भगवान को मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

कैसे है सिद्ध भगवान ? जो कर्मरहित सम्यक्त्वादि अष्ट गुण मडित, जन्म, जरा, मरण रहित अविनाशी, निष्कल परमात्मा लोक के शिखर मे स्थित है उनको मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

कैसे है आचार्य महाराज ? जो द्वादशाग रूप श्रुतसागर के पारगामी स्वपर कल्याण के कर्त्ता स्वय पचाचार रूप का पालन करते है और सघ समूह को करवाते है उन आचार्य को मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

कैसे है उपाध्याय परमेष्ठी ? ग्यारह अग और चौदह पूर्व के पाठी पच्चीस गुण के धारक, मोक्ष मार्ग के उपदेशक उपाध्याय को निजात्म तत्व की प्राप्ति के लिए बारम्बार नमस्कार हो।

कैसे है साधु परमेष्ठी ? ससारी विषय कषायो से विरक्त, निर्ग्रंथ मुद्रा के धारी मोक्ष मार्ग का साधन करने मे तत्पर, अनशनादि व्रत करके कर्मो की सवर व निर्जरा के कर्त्ता ऐसे साधु परमेष्ठी मुझे मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का उपाय बताएँ।

इति पच परमेष्ठी गुण का वर्णन करने वाला प्रथम अधिकार सम्पूर्ण हुआ।

।। अथ रत्नत्रय नामक द्वितीयोऽधिकार ।।

ससारी जीवो की दु खमय दशा को देखकर परम उपकारी, परम पूज्य तीर्थंकर भगवान ने अपार ससार से विरक्त होकर ग्रहस्थ अवस्था को छोडकर मुनि पद धारण करके शुभाशुभ कर्मों को जीतकर परम शुक्ल ध्यान के बल से चार घातिया कर्मो का नाश करके

अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्तवीर्य इन चार अनन्त चतुष्ट्य से युक्त परमौदारिक शरीर मे रहकर ससारी जीवो को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया जिसमें मोक्ष व मोक्ष के कारण तथा ससार और ससार के कारण और स्वरूप को सम्यक् प्रकार से दर्शाया और मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मा के निज स्वभाव सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान सिद्ध करने के लिए कर्म जनित विभावों को छोड़कर निज स्वभाव मे प्रवृत होने के लिए सम्यक् चारित्र धारण करने का उपदेश दिया। अनादि काल से सेवन किए हुए गृहोत, अगृहीत मिथ्यात्व स्वरूप रोग को एकदम दूर करने की शक्ति सर्वसाधारण मनुष्य म नही है इसीलिए जैसे बहुत काल पर्यन्त सेवन करते हुए अफीम के व्यसनी मनुष्य का एकदम व्यसन को छोडने मे असमर्थ जानकर क्रम क्रम से छोड़ने की परिपाटी बताई जाती है उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान ने निज दिव्य ध्वनि के द्वारा ससार रोग से मुक्त होने के लिए ससारी जीवो का मुनि और श्रावक धम ऐसे दो श्रेणियो का उपदेश दिया। पूण सुखी होने का यत्न तो यद्यपि मुनि पद ही ग्रहण करने से होता है परन्तु जब तक ऐसा न हो सके, जब तक उस शक्ति को धारण करने में असमर्थता हो तब तक गृहस्थाश्रम मे रहकर मनुष्य यथाशक्ति, यथाक्रम, सम्यक् प्रकार और रुचिपूर्वक अभ्यास करते रहने से, व्रत की वृद्धि होने से मुनिव्रत धारण करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है अत यहाँ प्रथम अणुव्रत रूप गृहस्थ धर्म का वर्णन करते है।

प्रथम सम्यक् दर्शन का वर्णन करते है, क्योकि सम्यकत्व रूपी दृढ़ नीव के बिना चारित्र रूपी महल नही बन सकता जैसे कहा भी है कि—

श्लोक—मदिराणामधिष्ठान, तरुणा सुदृढ़ जडम् ।
यथा मूल ब्रतादीना, सम्यकत्वमुदित तथा ।।

अर्थ —जिस तरह मकानो की नीव जब तक दृढ़ न हो तब तक मकान चिरकाल पर्यंत नही ठहर सकता तथा वृक्षो के सुदृढ रहने का मूल कारण जड है, उसी तरह कितने भी व्रत नियमादि धारण किए जाए पर जब तक सम्यकत्व न होगा तब तक वे अक के बिना शून्य (बिंदी) लिखने वत् निष्फल हैं। अतएव व्रतादिको का मूल कारण सम्यकत्व को समझ कर प्रथम उसी के धारण करने में प्रयत्नशील होना चाहिए। इसी कारण आचार्यों ने कहा है—'सम्म धम्म मूलो'। अर्थात् सम्यक्त्व धर्म की जड है जिसके प्रभाव से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को द्रव्यलिगी मुनि से भी श्रेष्ठ कहा है क्योकि यद्यपि द्रव्यलिगी मुनि व्रतादि धारण करता है तथापि सम्यक्त्व रहित होने से मोक्षमार्गी नही है और गृहस्थ चारित्र रहित है तो भी सम्यक्त्व सहित होने से मोक्षमार्गी कहा है।

सम्यग्दर्शन प्रकरण. सम्यग्दर्शन स्वरूप—

जीवादी सद्दहण सम्मतं रूपमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्क, णाण सम्म खु हो दि सदि जम्हि ।।

अर्थ--जीवादिक तत्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है वह आत्मा का स्वरूप अर्थात् आत्मा का खास स्वभाव है और उसके होने पर ज्ञान दुरभिनिवेश रहित होकर सम्यग्ज्ञान रूप हो जाता है जिसका श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है।

वह तत्त्व क्या वस्तु है ? अपने स्वभाव को छोड़कर पर स्वभाव को ग्रहण नही करना और सदा निज स्वभाव में रहना तत्त्व है और वह तत्त्व जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, सात होते है। अब इनका सक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है।

प्रथम जीव तत्त्व वर्णन

जीव शब्द के कहने से निश्चय रूप से उस वस्तु से प्रयोजन है जो ज्ञान, दर्शन (देखना, जानना) लक्षण से सयुक्त असख्यात प्रदेशी है क्योंकि ज्ञान रूपी गुण जीव के ही पास है अन्य किसी के पास नही। जिस वस्तु मे जीव नही होता उसे जड़ कहते हैं। जड़ मे देखने व जानने की शक्ति नही होती, यह शक्ति जीव के ही पास है। जीव त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य पर्यायो को जानने मे समर्थ है तथापि अनादि काल से द्रव्य कर्म के सयोग से राग, द्वेष, वश परिणमन करता हुआ विभावरूप हो रहा है इसीलिए इसमे स्वभाव, विभाव रूप नौ प्रकार की परिणति पाई जाने के कारण श्रीमन्नेमिचन्द्राचार्य ने इसका नौ प्रकार से वर्णन किया है। वे नव अधिकार इस प्रकार हैं :—

गाथा—जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता ससारत्थो, सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

अर्थ—जीवत्व, उपयोगत्व, अमूर्त्तित्व, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, सदेहपरिमाणत्व, ससारत्व, सिद्धत्व और उर्ध्वगतित्व--इस प्रकार जीव के ज्ञान कराने वाले नौ अधिकार है।

महापुराण का श्लोक इस प्रकार है—

चेतना लक्षणो जीवः सोऽनादिनिधन स्थिति।
ज्ञाता दृष्टा च कर्त्ता च, भोक्ता देह प्रमाणकः॥
गुणवान्कर्मनिर्मुक्ता, वूर्ध्वब्रज्यास्वभावकः।
परिणतोपसहार, विसर्पाभ्या प्रदीपवत्॥

इन श्लोको का तात्पर्य भी ऊपर की गाथा के अनुसार है इसीलिए अर्थ नही लिखा है। अब पृथक-पृथक अधिकारो का वर्णन करते है।

प्रथम जीवाधिकार :—

यथार्थ मे जिसके एक चेतना ही प्राण है और व्यवहार से इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छवास ये चार प्राण लेकर तीनो कालो में जीवन धारण करे वह जीव है। इन प्राणों

के दश विशेष भेद हैं यथा—स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाच इन्द्रियां, मन, वचन, काय तीन बल, और आयु व श्वासोच्छवास इन दश प्राणो से ही यह जीव अनादिकाल से जीता है। प्रत्येक जीव के कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दश प्राण होते है। एकेन्द्रिय जीवों के चार प्राण अर्थात् स्पर्शन, इन्द्रिय, शरीर का बल, आयु और श्वासोच्छ्वास होते हैं। दो इन्द्रिय जीवो के पूर्वोक्त चार प्राणों से रसना इन्द्रिय और बल ये दो प्राण अधिक होते है अर्थात् उनके छः प्राण होते हैं। तीन इन्द्रिय वाले जीवों के पूर्वोक्त छ. प्राण और एक घ्राण इन्द्रिय ये सात प्राण होते है। चार इन्द्रिय वाले जीवों के पूर्वोक्त सात प्राण और एक चक्षु इन्द्रिय ये आठ प्राण होते है। पचेन्द्रिय जीवो के पूर्वोक्त आठ प्राण और श्रोत्र इन्द्रिय ये नव प्राण होते है। इन्हे मन बल रहित होने से असैनी पंचेन्द्रिय कहते है और जिनके पूर्वोक्त नव प्राण मन बल सहित हो अर्थात् समस्त दश प्राण हो उन्हे सैनो पचेन्द्रिय कहते है ।

द्वितीय उपयोग अधिकार का वर्णन

निश्चय नय से शुद्ध चैतन्य भाव ही जीव का लक्षण है और व्यवहार नय से चार प्रकार का दर्शन और आठ प्रकार का ज्ञान जीव का लक्षण है। चार प्रकार के दर्शन ये हैं—चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। सुमति, सुश्रुति, सुअवधि, कुमति, कुश्रुति, कुअवधि, मन. पर्यय और केवलज्ञान ये आठ प्रकार का ज्ञान है। नेत्र इन्द्रिय से सामान्य रूप से देखना चक्षु दर्शन है। नेत्र इन्द्रिय बिना चार इन्द्रिय और मन से द्रव्य को सामान्य रूप से देखना अचक्षु दर्शन है। पचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना मूर्त्तिक पदार्थ को सामान्य रूप से प्रत्यक्ष देखना अवधि दर्शन है। समस्त मूर्त्तिक अमूर्त्तिक पदार्थों को केवल ज्ञान से सामान्य रूप से प्रत्यक्ष देखना केवल दर्शन है।

पाचो इन्द्रियो और मन के द्वारा पदार्थ को जानना मतिज्ञान है।

मतिज्ञान पूर्वक जाने पदार्थ से सम्बन्धित अन्य पदार्थों को जानना श्रुतज्ञान है।

पंचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना मूर्त्तिक पदार्थ को एक देश प्रत्यक्ष जानना अवधिज्ञान है।

मति, श्रुति और अवधि ये तीनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि के जब होते है तब कुमति, कुश्रुति और कुअवधि कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुति, अवधि ही कहलाते है।

किसी जीव के मन में चितवन किए हुए पदार्थ को प्रत्यक्ष जानना मन.पयय ज्ञान है। यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि मनुष्य के ही हो सकता है अन्य किसी के नहीं।

समस्त मूर्त्तिक, अमूर्त्तिक द्रव्य गुण पर्याय को प्रत्यक्ष जानना केवलज्ञान है। ऐसा केवलज्ञान सबसे बड़ा है।

तृतीय अमूर्तिक अधिकार

निश्चयनय से जीव स्पर्श, रस, गध, वर्ण इन चार गुणो से रहित होने से अमूर्तिक हैं। परन्तु व्यवहारनय से कर्मबध (शरीरादि) से सहित होने के कारण जीव मूर्तिक भी कहा जाता है।

चतुर्थ कर्ता अधिकार

व्यवहारनय से जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय इन चार घातिया कर्मों का तथा आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघातिया—ऐसे आठ कर्मों का कर्त्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध चेतन परिणाम रागादिक भावकर्मों का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्यभावो का अर्थात् शुद्ध ज्ञान व दर्शन का ही कर्त्ता है।

पांचवां भोक्ता अधिकार

व्यवहारनय से यह जीव अपने शुभाशुभ परिणामो द्वारा बाधे हुए ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक कर्मों के सुख दु ख स्वरूप फल का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से विषय, कषाय, दया, समता आदि अपने भावो का भोक्ता है और शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्य भावो का ही भोक्ता है।

छठा स्वदेहपरिमाणत्व अधिकार—

शुद्ध निश्चयनय से तो प्रत्येक जीव लोक के बराबर असख्यात् प्रदेश वाला है। अर्थात् लोकाकाश के प्रदेश जितनी सख्या मे है उतने ही प्रदेश प्रत्येक जीव के है परन्तु व्यवहारनय से नाम कर्म के उदय से जैसा छोटा-बड़ा वह शरीर धारण करता है उसी के आकार के उसके-आत्म प्रदेश सकोच विस्तार रूप हो जाते है। जैसे दीपक का प्रकाश जब मकान छोटा होता है तो भी सारे मकान मे फैला हुआ होता है और यदि उस ही दीपक को बड़े मकान में रख दिया जाए तो भी सारे मकान मे प्रकाश विस्तृत हो जाता है उसी प्रकार यह जीव जब हाथी के शरीर मे जाता है तो हाथी के शरीर का प्रमाण हो जाता है और वही जीव जब किसी छोटी वस्तु का शरीर धारण करता है तो सकुचित होकर उतना ही छोटा हो जाता है। इसी प्रकार बालक की देह मे जीव बालक के शरीर के बराबर होता है और ज्यो-ज्यो शरीर बढ़ता जाता है त्यो-त्यो जीव भी विस्तृत होता जाता है परन्तु केवल समुद्घात अवस्था मे आत्म-प्रदेश शरीर के बाहर निकलते है। कषाय आदि सात कारणो के उपस्थित होने पर मूल शरीर को न छोड़कर आत्म प्रदेशो के बाहर निकलने को समुद्घात कहते है। वे सात है—

(१) कषाय (२) वेदना (३) मारणांतिक (४) आहारक (५) वैक्रियिक (६) तैजस (७) कर्माण। जहाँ असह्य पीड़ा में जीवप्रदेश घबराहट से शरीर के बाहर निकले और औषधि स्पर्श कर फिर शरीर में आवे सो वेदना समुद्घात है।

जहाँ किसी शत्रु के मारने से क्रोधवश जीव प्रदेश सर्व ओर को देह से बाहर निकले सो कषाय समुद्घात है। मरण समय आत्म-प्रदेशो का शरीर के बाहर एक ही दिशा को निकलना सो मारणातिक समुद्घात है।

जब मुनि को किसी पदार्थ में सदेह उत्पन्न होता है तब जो प्रमत्त गुण स्थानवर्त्ती ऋद्धिधारी महामुनि के दशम द्वार (मस्तक) से एक हाथ प्रमाण वाले रसादिक धातु और सहनन से रहित समचतुरस्रसस्थान सयुक्त चन्द्रकान्ति के समान श्वेत पुतलाकार आत्मप्रदेश निकल, जहाँ केवलज्ञान के धारी स्थित हो वहाँ जाकर पदार्थ का निश्चयकर अन्तर्मुहूर्त मे उलटा आकर शरीर में प्रवेश करता है और वह एक ही ओर को निकलता है वह आहारक समुद्घातहै। देव, नारकी व मनुष्यो के आत्म प्रदेश कारण से विक्रिया करने को अपने अग से आत्म प्रदेशो का बाहर निकलना विक्रिया समुद्घात है।

मुनि के द्वारा जब दुष्टो द्वारा किया हुआ अनिष्ट, उपद्रव आदि देखकर क्रोध सहा न जावे तब बाए कधे से आत्मप्रदेश रक्तवर्ण पुतलाकार निकल मुनि ने जिस बात को अनिष्ट समझा था उस सहित १२ योजन प्रमाण के समस्त जीव पुद्गला को भस्म करता है और फिर उलटा आकर मुनि को भी भस्म कर आप भी भस्म हो जाता है। सूचना—किसी स्थान पर ऐसा भी लिखा है कि मुनि के बाएँ कधे से आत्मप्रदेश पुतलाकार रूप मे निकल १२ योजन लम्बे, नव योजन चौडे क्षेत्र को मुनि सहित भस्म कर देते है वह अशुभ तैजस समुद्घात है। लोक में किसी प्रकार की दुर्भिक्षादि व्याधि देखकर करुणावश मुनि के दाये कधे से मनुष्य के आकार समान श्वेत वर्ण आत्मप्रदेशो का पुतला निकलकर अपनी शक्ति से बारह योजन प्रमाण क्षेत्र के जीवो की व्याधि दुर्भिक्षादि को दूरकर फिर उलटा आकर शरीर मेप्रवेश करता है। वह शुभ तैजस है। ऐसे दो प्रकार तैजस समुद्घात है।

तेरहवं गुण स्थान में जब केवली भगवान की आयु थोडी रह जाती है और कुछ ससार भ्रमण शेष रहता है तब मुनि दडक पार करते है तब प्रथम समय मे दड रूप आत्मा के प्रदेश निकले दूसरे में कपाट रूप हो जाएँ, तीसरे मे प्रतर रूप चौथे मे लोक पूर्ण हो जाएँ, फिर पाँचवे मे सकुचित होकर प्रतर रूप हो जाएँ, छठे मे कपाट रूप, सातवं मे केवली शरीर मे प्रवेश कर शरीर प्रमाण आत्मा के प्रदेश हो जाते है। इन कारणो के उपस्थित होने पर ही चैतन्य शरीर से बाहर निकलता है। इनके सिवाय आत्मा देह प्रमाण ही रहता है और निष्कर्म अवस्था (सिद्धावस्था) मे चरम शरीर से किंचित् न्यून आकार प्रमाण आत्म-प्रदेश रहते है।

विशेष—जो महामुनि उत्कृष्ट रूप से आयु के छह मास अवशेष रहने पर केवल ज्ञानी होते हैं उनके तो नियम से केवल समुद्घात होता है और जो आयु के षट् मास से अधिक अवशिष्ट रहने पर केवल ज्ञानी होते है उनके यदि अत मे आयु की स्थिति अतर्मुहूर्त शेष रह जाए और वेदनीय, नाम तथा गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति विशेष हो तो उनके उक्त तीनो कर्मों की स्थिति आयुकर्म के समान करने के लिए नियम से समुद्घात होता है जिससे आत्म-प्रदेशो के विस्तरित होने से वेदनीय आदि तीनो कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे किसी गीले वस्त्र को यदि फैला दिया जाता है तो उसमें से जल परमाणु शीघ्र ही क्षय होकर अल्प समय मे ही सूख जाते है उसी प्रकार आत्मा के प्रदेश केवल समुद्घात के समय दड कपाट आदि रूप विस्तृत होने से वेदनीय तीनो कर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते है। जिन केवलियो के खडे हुए समुद्घात होता है उनको प्रथम समय मे आत्मा के प्रदेश वातवलयो की मोटाई को छोड कर चौदह राज् लम्बे और द्वादश अगुल परिमाण मोटे घन रूप दडाकार निकलते है और यदि बैठे हुए समुद्घात होता है तो अपने शरीर मे तिगुने मोटे और वातवलयो की बहुलताहीन चौदह राजू लम्बे दडरूप आत्म-प्रदेश होते है। दूसरे समय मे दडाकार को तजकर यदि केवली पूर्व मुख स्थित हो तो दक्षिणोत्तर और उत्तरमुख हो तो पूर्व पश्चिम खडे हुए समुद्घात करने वालो के द्वारा दस अगुल परिमित और बैठे हुओ के अपने शरीर से तिगुने मोटे कपाट रूप आत्म-प्रदेश होते है।

तीसरे समय मे आत्मा के प्रदेश वातवलय बिना समस्त लोक मे प्रतररूप और चौथे समय मे वातवलयो सहित ३४३ राजू प्रमाण लोक में घन रूप आत्मा के प्रदेश व्याप्त होकर लोकपूर्ण होते है। पश्चात् पाचवे समय मे सकुचित होकर प्रतर रूप, छठे मे कपाट रूप, सातवे मे दड रूप आठवे मे मूल शरीर प्रमाण हो जाना है।

सातवाँ ससारस्थ अधिकार

जब तक यह जीव कर्मो के वशीभूत होकर नाना प्रकार जन्म मरण करते हुए ससार में भ्रमण करता रहता है तब तक ससारी है। ससारी जीवो के मुख्यत. दो भेद है—स्थावर और त्रस। स्थावर पॉच प्रकार के है —

(१) पृथ्वीकायिक (२) जलकायिक (३) अग्निकायिक (४) वायुकायिक (५) वनस्पतिकायिक।

त्रस जीव चार प्रकार के है—दो इन्द्रिय लट, शख आदिक, तीन इन्द्रिय पिपीलिका (चीटी), खटमल, बिच्छू आदि चतु इन्द्रिय भ्रमर, मक्खी आदि। पचेन्द्रिय के दो भेद है—समनस्क और अमनस्क। पशु, पक्षी, देव नारकी मनुष्य आदि पचेन्द्रिय है। जिनको अपने हित-अहित अथवा गुण-दोष आदि का विचार हो उनको समनस्क पचेन्द्रिय और जो विचार

शून्य हो उनको अमनस्क पंचेन्द्रिय कहते हैं और बाकी के सर्वजीव अमनस्क ही जानने चाहिए। जिनमें से एकेन्द्रिय जीव बादर तथा सूक्ष्म दो प्रकार के हैं। जो पृथ्वी आदि से रुक जाएँ अथवा दूसरों को रोके उन्हें बादर और पृथ्वी आदि से स्वय न रुकें और न दूसरे पदार्थों को रोकें उनको सूक्ष्म कहते हैं और ये एकेन्द्रिय आदि से लेकर सर्व ही जीव पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से दो प्रकार के होते हैं।

(१) आहार (२) शरीर (३) इन्द्रिय (४) श्वासोच्छ्वास (५) भाषा और (६) मन ये छ: पर्याप्ति हैं। इनमे से एकेन्द्रिय के आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्ति होती है। सैनी पचेन्द्रिय के छहो पर्याप्ति होती है। पर्याप्ति सहित जीव को पर्याप्त कहते है और जिस जीव के उत्पन्न होने पर जब तक उपर्युक्त चार या पाच या छ: पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक उसे अपर्याप्त जीव कहते है।

सिद्धत्व अधिकार

यदि सामान्यत. देखा जाए तो अष्ट कर्मों के नाश होने से जीव निजात्मीक, निराकुलित सुख को प्राप्त होकर चरम शरीर से किंचित न्यून आकार लिए लोक के अग्रभाग मे जाकर स्थित हो जाता है और अनत काल पर्यत इसी सुखी अवस्था मे रहता है ऐसे सिद्ध हो जाने पर जीव सिद्ध कहलाता है। एक एक सिद्ध की उत्कृष्ट अवगाहना मे अनन्त सिद्ध विराजमान होते है, परन्तु प्रत्येक सिद्ध महाराज की आत्मा पृथक् रहती है अन्य सिद्धो से मिलकर एकीभाव नही होती। वहाँ सिद्ध महाराज समुद्रवत् स्थिर है अर्थात् उनके प्रदेश चलायमान नही होते है परन्तु समुद्र लहरवत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य उनकी आत्मा मे भी समय-समय परिवर्तन होता रहता है और शून्य स्वभाव अर्थात् अभावरूप नही है एक सत्ता लिए स्थित है। यदि विशेष रूप से देखा जाए तो अष्ट कर्मों के अभाव से सम्यक्त्वादि अष्ट गुण उत्पन्न होते है जो अनादिकाल से कर्मों से आच्छादित हो रहे थे यथा —मोहनीय के अभाव से सम्यक्त्व ज्ञानवरणी के अभाव से केवलज्ञान, दर्शनावरणी के अभाव से अनन्त दर्शन, अतराय के अभाव से अनन्तवीर्य, नामकर्म के अभाव से सूक्ष्मत्व, आयु के अभाव से अवगाहनत्व, गोत्रकर्म के अभाव से अगुरुलघुत्व, वेदनीय के अभाव से अव्याबाध गुण सिद्धों के उत्पन्न होते हैं।

ऊर्ध्वगतित्व अधिकार

जीव चार प्रकार के कर्म बंध के सर्वथा अभाव होने से वक्रता रहित सीधापन वर्जित, अग्नि की शिखावत् ऊर्ध्वगमन कर एक ही समय में सिद्ध क्षेत्र में जा पहुचता है, और जब तक कर्म रहित होता है तब तक मृत्यु होने पर नवीन शरीर धारण करने के लिए

आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान इन चार विदिशाओं को न जाकर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर चारो दिशाओं मे तथा ऊपर नीचे को, इस प्रकार छ दिशाओं में श्रेणीबद्ध गमन करता है। ससारी जीव की गति जैसे तीर चलता है वैसी भी होती है। इसमे एक समय लगता है। यह गति मुक्त और ससारी दोनो को होती है और एक मोड खाकर भी होती है जैसे पानी को हाथ से अलग कर देने मे एक मोड़ा होता है। इसमे काल के दो समय लगता है और दो मोड लिए भी होती है जैसे हल, इसके तीन समय लगते है और तीन मोडा लिए भी होती है जैसे गौ का मूतना, इसमे चार समय लगते है। यह मोड वाली तीन प्रकार की गति ससारी जीव के होता है। विग्रह गति मे जीव एक या दो या तीन समय विना आहार के रहता है और इससे अधिक रहकर फिर अवश्य नो कर्म वर्गणा रूप आहार ग्रहण कर लेता है। साराश यह है कि जब तक वह जीव स्वाभाविक शुद्ध चैतन्य केवल ज्ञान को प्राप्त न करे तब तक अनादि कर्म सयोग से अनेक शरीर रूप और मतिज्ञान आदि विकल ज्ञान रूप रहता है।

अथ अजीव तत्त्व वर्णन

इस प्रकार जीव तत्त्व का कथन करने के पश्चात् दूसरे अजीव तत्त्व का वर्णन करते हैं। चेतना रहित अर्थात् अपने अथवा दूसरे के देखने जानने की शक्ति रहित को अजीव कहते हैं। वह अजीव जिनागम मे पाँच प्रकार के कहे गये है।

यथा—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

यह लोक सर्वत्र षट् द्रव्यो से भरा हुआ है। वह छ द्रव्य ऊपर कहे हुए पाँच प्रकार के अजीव और एक जीव द्रव्य है। इन पाँच द्रव्यो मे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल अमूर्तिक और पुद्गल द्रव्य रूपादि गुण सयुक्त होने से मूर्तिक है। इसमें शब्द, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत आदि पर्यायें होती है। इसकी स्वाभाविक पर्याय परमाणु और स्वभाव गुण दो अविरोधी स्पर्श रस, वर्ण, गध ऐसे पाँच है जो परमाणु मे होते है। पुद्गल की वैभाविक पर्याय स्कध और वैभाविक गुण स्पर्श से स्पर्शान्तर, रस से रसातर आदि बीस है तथा पुद्गल द्रव्य सख्यात, असख्यात, अनन्त प्रदेशी मूर्त्तिक परतत्र क्रियावान् है। शरीर, मन, वचन, श्वास, निश्वास से जीव द्रव्य का उपकार करता है। भावार्थ—आहार, वर्गणादि पाँच तरह के पुद्गल समूहो से शरीरादि बनते है तथा सुख दुख और जीना-मरना ये उपकार भी पुद्गलो के है क्योकि सुख दुख, जीना, मरना भी कर्म रूप पुद्गलो के कारण से होता है।

पुद्गल वर्गणा छ प्रकार की है—

(१) स्थूल स्थूल—जो खड-खड होकर सहज मे न मिले ऐसे दृढ पदार्थ जैसे पत्थर

मिट्टी, लकड़ी आदि।

(२) स्थूल—जो खड करने पर बिना किसी चीज की सहायता के वैसे हो मिल जाए जैसे जल, तैल, दुग्ध आदि।

(३) स्थूल सूक्ष्म—जो देखने में बहुत मालूम हों परन्तु पकडने में न आवे जैसे चांदनी, धूप, छाया आदि।

(४) सूक्ष्म स्थूल—जो नेत्रों से दृष्टिगोचर न होकर अन्य इन्द्रियों से जाने जावें जसे शब्द, सुगन्ध दुर्गध आदि। ये नेत्रो के द्वारा देखने में नही आते परन्तु अन्य इन्द्रियो द्वारा साक्षात् प्रगट होते है। कर्म वर्गणा अनेक प्रकार की है। यह इन्द्रियों को भी प्रतीत नही होती। इनसे बधा हुआ यह आत्मा अनादि काल से ससार में भ्रमण कर रहा है।

(५) सूक्ष्म—अनेक भाँति की कर्म वर्गणा जो इन्द्रिय ज्ञान गोचर नही होती जिनसे बधा हुआ यह आत्मा अनादि काल से ससार मे भ्रमण कर रहा है।

(६) सूक्ष्म सूक्ष्म—सबसे छोटा पुद्गल परमाणु जिसका फिर विभाग न हो सके।

यह पुदगल द्रव्य लाक के भीतर ही है। परमाणु नित्य और स्कध परमाणु नाशवान है। भेद और परमाणु सघात मिलकर स्कध रूप होता है। स्निग्ध और रूक्ष गुण से बध होता है। यदि गुणहीन हो अथवा दोनो में समान हो अथवा एक तीन से कितने ही गुण अधिक परिच्छेद हो तो बध नही होता। तात्पर्य यह है कि बध तब ही होता है जब एक मे दूसरे से दो गुण अधिक हो जैसे चार गुण स्निग्ध वाले के साथ पाँच, सात, नौ अधिक स्निग्ध वा रुक्ष वाले के साथ ही बँध होगा इसी प्रकार समस्त बधो मे दो-दो गुण अधिक वाल का ही बध होता है। इस नियम के अनुसार एक गुण वाले और तीन गुण वाले का भी बंध होना चाहिए किन्तु वह नही होता क्योंकि यह नियम है कि 'न जघन्य गुणनातु' अर्थात् जघन्य गुण सहित परमाणुओ में बध नही होता है। अतएव एक गुण वाले का तीन गुण वाले के साथ बध नही होता। किन्तु तीन गुण वाले का पाच गुण वाले के साथ बध हो सकता है क्योंकि तीन गुण वाला जघन्य गुण वाला नही है। एक गुण वाले को ही जघन्य गुण वाला कहते है। और बध अवस्था में अल्प गुण के स्कध अधिक गुण वाले स्कध रूप हो जाते हैं। यह पुद्गल द्रव्य का सक्षेप मे वर्णन किया है।

धर्म द्रव्य वर्णन

यह धर्म द्रव्य गमन करते हुए पुद्गल और जीवो को उदासीन रूप से सहकारी होता है। धर्म द्रव्य के बिना जीव या पुद्गल चल नही सकता है। परन्तु धर्म द्रव्य किसी स्थिर वस्तु को बलपूर्वक भी नही चलाता है पानी मछलियो के चलने मे सहकारी होता है

किन्तु प्रेरक नहीं होता । यह द्रव्य असख्यात प्रदेशी, नित्य, अविनाशी, विभाव पर्याय रहित, निष्क्रिय तिल में तैलवत समस्त लोकाकाश में व्याप्त है ।

अधर्म द्रव्य वर्णन

यह अधर्म द्रव्य पुद्गल और जीवों को स्थित होते हुए उदासीन रूप से सहायता देता है जैसे मार्ग मे चलने वाला पथिक वृक्ष को छाया में बैठ जाता है परन्तु वह चलते हुए मनुष्य को प्रेरक होकर नही ठहराता है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य स्थिर होने की प्रेरणा नही करता है । यह द्रव्य भी असख्यान, प्रदेशी, अविनाशी, निष्क्रिय, अमूर्त्तिक है और तीन लोक में सर्वत्र व्याप्त है ।

आकाश द्रव्य वर्णन

यह आकाश द्रव्य जीवादि पाच तत्वो को अवकाश दान देने वाला, जड़, अरूपी, अनन्तप्रदेशी एक है इसमे भी स्वभाव पर्याय होती है विभाव पर्याय नही होती । जितने आकाश मे धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य स्थित हैं वह लोकाकाश है और जहाँ ये एक भी नही है केवल आकाश ही आकाश है वह अलोकाकाश है ।

काल द्रव्य वर्णन

यह काल द्रव्य वर्तना लक्षण युक्त है । प्रत्येक द्रव्य का परिवर्तन करने वाला अर्थात् पर्याय से पर्यायातर होने मे उदासीन रूप से सहकारी होता है जिस प्रकार कुम्हार के चाक के फिरने मे चाक के नीचे की कीली कारण है यद्यपि फिरने की शक्ति चाक मे है, चाक ही फिरता है परन्तु वह विना नीचे की कीली के फिर नही सकता, इसी प्रकार जीव, पुद्गल आदि समस्त पदार्थ जो अपने आप परिणमन होते रहते है उनके परिणमन में काल निमित्त कारण है । व्यवहार नय से इसकी पर्याय समय, पल, घटिका ,मुहूर्त और दिन,सप्ताह, पक्ष, मास, अयन वर्षादि है वह निश्चय काल की पर्याय है । नवीन से पुराना, पुराने से नवीन करना काल द्रव्य का ही उपकार है । समय काल की पर्याय का सबसे छोटा अश है । इसी के समूह से आवली, घटिका आदि व्यवहार काल का प्रमाण होता है । यह द्रव्य अविनाशी, अमूर्तिक और जड है इसके अणु लोकाकाश के प्रदेशो के बराबर असख्यात है क्योंकि लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर काल द्रव्य का एक-एक अणु रत्नो की राशि के समान भरा है । रत्नो की राशि का उदारण देने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार रत्न-राशि एकत्रित होने पर भी उनमें प्रत्येक रत्न पृथक-पृथक रहता है उसी प्रकार काल के अणु पृथक-पृथक है वे मिलकर एकत्र नही हों सकते, एक प्रदेशी है । इस कारण काल को काय सज्ञा नही दी जा सकती । काल को छोडकर शेष पाच द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, पुद्गल,

आकाश व जीव को अस्तिकाय कहते हैं। इसमें स्वभाव पर्याय होती है विभाव पर्याय नही होती।

इति उपरोक्त छः द्रव्यो में से चार द्रव्य वर्णन समाप्त हुआ।

धर्म, अधर्म, आकाश और काल उदासीन स्वभाव रूप और स्थिर रहते है और बाकी के दो द्रव्य-जीव और पुद्गल मे ही लोकाकाश मे भ्रमण करने की शक्ति है इससे इन दोनों को क्रियावान् कहते हैं शेष चार द्रव्य निष्क्रिय होते है।

अजीव तत्त्व वर्णन समाप्त हुआ।

इनमें जीव-अजीव दो तत्त्वो के अतिरिक्त शेष पाच तत्त्वो की उत्पत्ति जीव और अजीव (पुद्गल) के सयोग तथा वियोग की विशेषता से है। जीव पुद्गल का संयोग रहना, ससार और जीव व पुद्गल का अत्यत वियोग हो जाना मोक्ष है। इसी कारण मोक्षमार्ग में ये सप्त तत्व अति ही कार्यकारी है। ये आत्मा के स्वभाव व विभाव बताने के लिए दीपक के समान है। इसलिए सबसे पहले हमको जानना चाहिए क्योंकि इनके जाने बिना दृढ़ विश्वास नही हो सकता और विश्वास बिना कर्तव्य और अकर्त्तव्य की यथार्थ प्रवृति नही हो सकती। इन सप्त तत्त्वों को जानने का मुख्य प्रयोजन यही है जिससे आत्मा के स्वभाव विभाव का श्रद्धान ऐसा हो जाए कि आस्त्रव के द्वारा बध होता है और बध जीव, अजीव का ससर्ग कर दु ख पाता है और सवर से आस्त्रव थकता है तथा निर्जरा से क्रमश: बध छूटता है। कर्म के सर्वथा अभाव होने से जीव को मोक्ष होता है, इससे ये दोनों मोक्ष रूप कार्य के कारण है। इसमे से अजीव, आस्त्रव बध हेय अर्थात त्यागने योग्य है और जीव, सवर निर्जरा और मोक्ष ये उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है और मोक्ष होने पर संवर, निर्जरा भी हेय है। आस्त्रव, सवर और निर्जरा कारण है, बंध और मोक्ष कार्य हैं इन सातो तत्वो मे पाप, पुण्य मिलाने से नव पदार्थ हो जाते है इस प्रकार इन सबका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है और तत्त्वो के ज्ञान बिना श्रद्धान होना असभव है। इसी कारण साक्षात् आत्म श्रद्धान कराने वाले सप्त तत्त्वो के वर्णन में से दो तत्त्वो का पूर्व वर्णन कर शेष पाच तत्त्वो का वर्णन करते है।

आस्त्रव तत्त्व वर्णन

जीवो की मिथ्यात्व, अविरत कषायादि भावो से युक्त मन, वचन काय की प्रवृति होने से तथा उनके अभाव मे पूर्व बद्ध कर्म के उदय होने से, केवल योगो द्वारा आत्म प्रदेशों के चचल होने से आत्मा के बद्ध होने के लिए पुद्गल परमाणुओ का सन्मुख होना द्रव्यास्त्रव और आत्मा के जिन भावों से पुद्गल द्रव्य कर्म रूप होते है उन भावो को भावास्त्रव कहते हैं। इस भावास्त्रव के (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय (४) प्रमाद (५) योग

ये पांच भेद हैं। जीवादि तत्त्व का अन्यथा श्रद्धान करना मिथ्यात्व है। इसके दो भेद हैं (१) ग्रहीत मिथ्यात्व और (२) अग्रहीत मिथ्यात्व। पर के उपदेश के बिना पूर्वोपार्जित मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो अतत्त्व श्रद्धान हो उसे अग्रहीत मिथ्यात्व कहते है। ग्रहीत मिथ्यात्व के (१) एकात मिथ्यात्व (२) विपरीत मिथ्यात्व (३) सशय मिथ्यात्व (४) विनय मिथ्यात्व और (५) अज्ञानिक मिथ्यात्व ऐसे पाच भेद है।

पदार्थो मे अनेक धर्म होते है उनमें से सबका अभाव कर एक ही धर्म को मान केवल उसी का श्रद्धान करना उसे एकात मिथ्यात्व कहते है।

(२) सग्रथ निर्ग्रन्थ है, केवली ग्रासाहारी है, स्त्री को मोक्ष होता है इस प्रकार विपरीत रुचि को विपरीत मिथ्यात्व कहते है।

(३) अनेक मतो के तत्त्वो को सुनकर रत्नत्रय मोक्ष मार्ग है या नही तथा धर्म, अहिसा लक्षण है या नही इत्यादि सदेह रूप श्रद्धान को सशय मिथ्यात्व कहते है।

(४) समस्त देव, कुदेव, धर्म, अधर्म, शास्त्र, कुशास्त्र इन सबको एक सा समझना या सच्चे तत्त्वो को और झूठे तत्त्वो को एक सी महत्त्व की दृष्टि से देखना, मानना वैनायिक मिथ्यात्व है।

(५) देव, कुदेव, धर्म, कुधर्म, शास्त्र, कुशास्त्र, तत्त्व, कुतत्त्व तथा वक्ता, कुवक्तादि ससार तथा मोक्ष के कारणा मे हिताहित की परीक्षा रहित श्रद्धान करना अज्ञानिक मिथ्यात्व है।

षट्काय के जीवो की अरक्षा तथा इन्द्रिय और मन की विषयो मे प्रवृत्ति के न रोकने को अविरत कहते है। वह बारह प्रकार है—

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र तथा मन इनको वश में न करना इनके विषयो में सदैव लोलुपी बने रहना तथा पृथ्वी कायिक, अपकायिक, तेजकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक तथा द्वीद्रियादि त्रसकाय वाले जीवो की रक्षा करना सो अविरति है। जो आत्मगुण घातकर कर्लंशित करे सो कषाय है। इसके चार भेद है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारो में से प्रत्येक के शक्ति की अपेक्षा के तीव्रतर, तीव्र, मन्द और मन्दतर ऐसे चार भेद है। ऐसे कषाय के क्रोध, मान, माया लोभ, १६ भेद और हास्य, रति, अरति आदि नौ कषाय के नव भेद, इस प्रकार सब मिलाकर इसके २५ भेद है। चार अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय अनन्त ससार का कारण मिथ्यात्व तथा सप्तव्यसनादि अन्याय रूप क्रियाओं मे प्रवृत्ति कराने वाला और आत्मा स्वरूपाचरण चारित्र का घातक है। चार प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, यह कषाय आत्मा के देश चारित्र का घातक है अर्थात श्रावक के व्रत इसके उदय होते हुए रचमात्र भी नही होते तथापि

अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से सम्यक्त्व होने पर अन्याय रूप विषयों में प्रवृत्ति नही होती है। चार प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय आत्मा के सकल चारित्र के घातक हैं अर्थात इसके होते हुए पच महाव्रत नही होते हैं। यह कषाय भेद हैं। इस कारण क्षयोपशम के अनुसार श्रावक व्रत हो सकते हैं। चार सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ यह कषाय, आत्मा के यथाख्यात चारित्र के घातक हैं अर्थात् यह कषाय अति मन्द होने के कारण संयम के साथ उदय होते हुए भी संयम का घात नही करता है केवल इसका उदय यथाख्यात चारित्र का ही घातक है।

नौ कषाय के नौ भेद :—

(१) हास्य—जिसके उदय होने से हँसी उत्पन्न हो।

(२) रति—जिसके उदय होने के विषयो में आसक्तता हो।

(३) अरति—जिसके उदय होने से पदार्थों में अप्रीति उत्पन्न हो।

(४) शोक—जिसके उदय होने से चित्त मे खेद उत्पन्न हो।

(५) भय—जिसके उदय से चित्त में उद्वेग हो।

(६) जुगुप्सा—जिससे पदार्थों में ग्लानि रूप भाव हो।

(७) पु वेद—जिसके उदय से स्त्री से रमने की इच्छा हो।

(८) स्त्रीवेद—जिसके उदय से पुरुष से रमने की इच्छा हो।

(९) नपु सक वेद—जिसके उदय होते ही स्त्री-पुरुष दोनों से रमने के भाव हों।

इस प्रकार कषाय के समस्त पच्चीस भेद होते है ?

निरतिचारपूर्वक चारित्र पालने में निरुत्साही व मन्दोद्यमी होने को प्रमाद कहते हैं। इसके पन्द्रह भेद होते हैं—स्त्रीकथा, राजकथा, भोजनकथा, और देशकथा ये चार विकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रिय, स्नेह और निद्रा—ऐसे पन्द्रह प्रकार प्रमाद है।

स्त्रियो के अग, हाव, भाव, वस्त्र व आभूषण आदि का वर्णन करना, उसके नेत्र कमल समान है, कटि सिंह समान है अतः वह बहुत सुन्दर रूपवान है इत्यादि वर्णन करना स्त्रीकथा है।

अमुक राजा कायर है, हमारा राजा शूर है, अमुक राज्य में घोडे तथा हाथी बहुत अच्छे होते है, अमुक राज्य में सेना बहुत है इत्यादि वर्णन करना राजकथा है।

लड्डू, बरफी आदि पदार्थ खाने में अच्छे होते हैं, अमुक मनुष्य बहुत प्रीति से

भक्षण करता है, मुझको भी ये अच्छे लगते है और अमुक मिष्ठान अमुक देश में बहुत अच्छा बनता है, उसको मैं भी मगाकर खाऊँगा, इस प्रकार खाने-पीने की कथा को भुक्तकथा वा भोजनकथा कहते है।

दक्षिण देश मे अन्न की उपज अधिक होती है, वहां के निवासी भी अधिक विलासी हैं, पूर्व देश में अनेक प्रकार के वस्त्र, गुड, शक्कर, चावल आदि होते है, उत्तर देश के पुरुष शूर होते है, वहाँ गेहूँ अधिकतर उत्पन्न होते है, कुमकुम, दाख, दाड़िम आदि सुगमता से मिलते है, पश्चिम देश मे कोमल वस्त्र होते है, वहाँ जल निर्मल और स्वच्छ होता है इत्यादि देशो का वर्णन करना सो देशकथा है।

इस प्रकार ये चार विकथाएं है। यदि ये ही कथाएँ राग-द्वेषरहित धर्मकथा के रूप से केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ दिखलाने के लिए कही जाएँ तो विकथा नही कही जा सकती।

कषाय के चार भेद —

(१) अपने और पर के घात करने के परिणाम तथा पर के अपकार करने रूप भाव अथवा क्रूर भाव क्रोध है।

(२) जाति, कुल, ऐश्वर्यादि से उद्धत रूप तथा अन्य से नम्रीभूत न होने रूप परिणाम मान है।

(३) अन्य के ठगने निमित्त कुटिलता रूप माया है।

(४) अपने उपकारक द्रव्यो मे अभिलाषा रूप भाव लोभ है।

ऐसे चार कषाय है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाचो इन्द्रियो के विषयो मे स्वच्छन्द रूप से प्रवृत्ति और स्नेह के वशीभूत होकर—यह मेरा है, मै इसका स्वामी हूँ—इत्यादि दुराग्रह को स्नेह वा प्रणय अथवा मोह कहते है। जो खाये हुए अन्न के परिपाक होने मे कारण है अथवा मद, खेद आदि दूर करने के लिए जो सोना है उसे निद्रा कहते है। ऐसे पन्द्रह प्रमाद का वर्णन किया।

योग—मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो के चचल होने को योग कहते है। वे योग पन्द्रह, प्रकार के है—चार मनोयोग, चार वचन योग और सात काययोग अब इनका वर्णन करते है--

(१) मन की सत्यरूप प्रवृत्ति सत्य मनोयोग है। (२) मन की असत्यरूप प्रवृत्ति असत्य मनोयोग है। (३) मन की सत्यासत्य मिश्ररूप प्रवृत्ति उभय मनोयोग है। (४) मन की असत्य-सत्य के विकल्प रहित प्रवृत्ति अनुभव मनोयोग है। (५) वचन की सत्यरूप

प्रवृत्ति सत्यवचन योग है। (६) वचन की असत्यरूप प्रवृति असत्यवचन योग है। (७) वचन की सत्यासत्य मिश्ररूप प्रवृत्ति मिश्र वचन योग है। (८) वचन की सत्य-असत्य के बिकल्प रहित प्रवृत्ति अनुभव वचन योग है। (९) औदारिक शरीर की प्रवृत्ति औदारिक काय योग है। (१०) औदारिक मिश्र काय योग की प्रवृत्ति औदारिक मिश्र काययोग है। (११) वैक्रियिक शरीर की प्रवृति वैक्रियिक काययोग है। (१२) वैक्रियिक मिश्र काययोग की प्रवृत्ति वैक्रियिक मिश्र काययोग है। (१३) आहारक शरीर की प्रवृत्ति आहारक काय-योग है। (१४) आहारक मिश्र काययोग की प्रवृत्ति आहारक मिश्र काययोग है। (१५) कार्माण शरीर की प्रवृत्ति कार्माण काययोग है।

जब मन, वचन, काय के तीव्र काषाय रूप होते है तब पापास्त्रव होता है और जब मद कषाय रूप होते है। तब पुण्यास्त्रव होता है। कषाय सहित जीव के स्थिति लिए हुए ससार का कारण रूप जो आस्रव होता है इसे सापरायिक आस्रव कहते है और जब कषाय रहित पूर्वबद्ध कर्मानुसार योगो की क्रिया से स्थिति रहित आस्रव होता है उसे ईर्यापथिक आस्रव कहते है। सापरायिक आस्रव में प्रकृति बध, स्थित बध और अनुभाग बंध ऐसे चारो प्रकार का बध होता है ये आस्रव समस्त ससारी जीवों के होता है। ईर्यापथिक आस्रव में केवल प्रकृति बध और प्रदेश बध ऐसे दो ही प्रकार का बंध होता है। ये आस्रव उपरात कषाय क्षीण कषाय तथा सयोग केवली नामक गुणस्थान वालो के होता है और अयोग केवली नामक चौदहवे गुणस्थान मे मन, वचन, काय के योगों का अभाव होने से आस्रव का अभाव है ये सामान्य आस्रव के भेद है।

अब ज्ञानावरणादि आठ कर्मो के आस्त्रव होने के विशेष—२ कारण कहते है।

(१) यदि कोई धर्मात्मा मोक्ष मार्ग के कारण भूत तत्व ज्ञान की कथनी कर रहा हो परन्तु उसको श्रवण कर ईर्ष्या भाव से न सराहना तथा चुप हो जाना; इस प्रकार के भाव को प्रदोष कहते है।

(२) शास्त्र ज्ञाता जानकर कोई तत्वार्थ धर्म का स्वरूप पूछे तो उस विषय को जानते हुए भी "मै इस विषय को नही जानता" ऐसा कह कर उसको न बताना निह्नव भाव है।

(३) यह पढ कर मेरे समान विद्वान हो जाएगा। इस ईर्ष्या से किसी को न पढ़ाना मात्सर्य भाव है।

(४) किसी के विद्याभ्यास में विघ्न कर देना पाठशाला पुस्तकादि का विच्छेद कर देना अथवा जिस कार्य से विद्या की वृद्धि होती हो उसमें विघ्न कर देना अतराय है।

(५) पर प्रकाशित ज्ञान को रोक देना आसादन तथा आच्छादन भाव है।

(६) प्रशस्त ज्ञान को दूषण लगा देना उपघात है ।

यदि ये छ : कारण ज्ञान के विषय में हो तो ज्ञानावरण कर्मों का और दर्शन के विषय में हों तो दर्शनावरण कर्मों का आस्रव होता है । यद्यपि आस्रव प्रत्येक समय आयु कर्म के अतिरिक्त सातों कर्मों का होता है तथापि स्थिति बध और अनुभाग बध की अपेक्षा से ये विशेष कारण कहे गए है । अर्थात् ऐसे—२ भावों से इन - इन ज्ञानावरणादि प्रकृतियो में स्थिति अनुभाग अधिक-अधिक पडते है और शेष प्रकृतियो मे कम-कम पडते है जैसे शुभ-योग से पुण्य प्रकृतियो मे स्थिति अनुभाग अधिक पडता है और पाप प्रकृतियो में कम पड़ता है और जब अशुभयोग होता है तब पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाव अधिक और पुण्य प्रकृतियों में कम पड़ता है ।

अथ असाता वेदनीय कर्म के कारण :—

(१) पीड़ा रूप परिणाम दु ख है ।

(२) अपने उपकारक द्रव्य के वियोग होने पर परिणाम मलिन करना, चिता करना, खेदरूप होना सो शोक है ।

(३) निद्य कार्य-जनित अपनी अपकीर्ति सुनकर पश्चाताप करना ताप है ।

(४) ताप होने के कारण अश्रुपात सहित विलाप करना, रुदन करना आक्रन्दन है ।

(५) आयु, बल इन्द्रियादि प्राणो का वियोग करना बध है ।

(६) अश्रुपात सहित ऐसा विलाप करना कि जिससे सुनने वाले के चित्त मे दया, उत्पन्न हो जाय सो परिदेवन है ।

इनको स्वय करने से अन्य को कराने से तथा दोनो को एक साथ उत्पन्न करने से असाता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

अथ असाता वेदनीय कर्म के मुख्य कारण —

भूत अर्थात् सामान्य प्राणी और वृत्ति अर्थात् अहिसादि व्रतों के धारण करने वाले श्रावकादि को पर पीडा देखकर ऐसे परिणाम होना मानो यह दु:ख हम को ही हो रहे है, उनको दत्त चित्त होकर दूर करने का प्रयत्न करना भूतवृत्यनुकम्पा है। अपने और पर के उपकार के लिए औषधि आहारादि चार प्रकार के पदार्थो का देना दान है । दुष्ट कर्मों के नाश करने में राग सहित सयम को तथा धर्मानुराग सहित सयम अणुव्रत ग्रहण करने को सराग सयम कहते है । अपने अभिप्राय रहित पराधीनता से यथा कारागादि के भोगोपभोग का अवरोध होना अकाम निर्जरा और तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ, मिथ्या दृष्टियो का अज्ञान-पूर्वक तप करना, मन, वचन, काय के योगो का शुभ रहना, क्रोध का अभाव कर क्षमा भाव

करना, लोभ का निराकरण कर उत्तम शौच धारण करना—इन छह प्रकार के भावों से साता वेदनीय कर्म का आस्रव होता है।

दर्शन मोहनीय के आस्रव के विशेष कारण :—

(१) चार घातिया कर्म रहित, अनन्त चतुष्टयसंयुक्त केवली भगवान के क्षुधा, तृषा, आहार, निहार आदि असम्भव दोषों का कहना केवली का अवर्णवाद है।

(२) आप्तोक्त अहिसा धर्मोपदेशी शास्त्र में मद्य, मास, मधु तथा रात्रि-भोजन आदि का ग्रहण कहा है इत्यादि दोष लगाना शास्त्र का अवर्णवाद है।

(३) परिग्रह वर्जित निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियो के सघ को निर्लज्ज आदि दोष लगाना मुनि सघ का अवर्णवाद है।

(४) हिसा रहित दयामयि जैन धर्म के सेवन करने वाले परभव मे नीच गति को प्राप्त होते है इत्यादि दोष लगाना धर्म का अवर्णवाद है।

(५) चार प्रकार के देवो को मासभक्षी, सुरापानी तथा सप्त धातु मय मानुषी शरीर से काम सेवन करने वाला बताना देवावर्णवाद है।

उपर्युक्त इन भावों से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के कारण कषायों के उदय होने से तीव्र परिणाम होना और इसी कारण वचन भी कठोर निकालना शरीर से दुष्टाचरण करना इनसे चरित्र मोहनीय के कषाय वेदनीय कर्म का आस्रव होता है। तथा नौ कषाय का आस्रव इस भाँति जानाना चाहिए —

(१) दीन दु:खी की हसी तथा वृथा प्रलाप करने से हास्य का आस्रव होता है।

(२) योग्य काम को नही रोककर दीन दु:खी की बाधा दूर करने से रति का आस्रव होता है।

(३) दुष्ट क्रिया में उत्साह करने तथा कुसंगति से अरति का आस्रव होता है।

(४) स्वयं रज के करने से तथा दूसरों के कराने से तथा दूसरों को शोकयुक्त देखकर प्रसन्न होने से शोक का आस्रव होता है।

(५) आप भययुक्त रहने, दूसरे को भय कराने तथा भययुक्त देखकर निर्दयी होकर हर्षित होने से भय का आस्रव होता है।

(६) आत्मज्ञानी, शरीर संस्कार रहित तपस्वियो की निन्दा करने से तथा उनके शरीर को देखकर घृणा उत्पन्न करने से जुगुप्सा का आस्रव होता है।

(७) काम की अति तीव्रता से पर स्त्री का रागपूर्वक आदर करने तथा स्त्रियों के समान हाव, भाव, आलिगन आदि करने से स्त्रीवेद का आस्रव होता है।

(८) स्त्री सेवन में अल्प राग करने अर्थात् अपनी ही स्त्री में सन्तोष रखने से तथा बार-बार संस्कार जो गध, पुष्पमाला, आभरण आदि से अनादर करने मे निष्कपट रहने से पुरुषवेद का आस्रव होता है।

(९) चार कषायो की तीव्रता से तथा गुह्येन्द्रिय के छेदन करने से, स्त्री पुरुष के काम सेवन के अगो को छोड़कर अनग मेवन करने से, ब्रह्मचारियो को व्रत से चलायमान करने से, महाव्रतियो को व्रत से डिगाने से नपुंसकवेद का आस्रव होता है।

अथ आयु कर्म के आस्रव के विशेष कारण —

बहुत आरम्भ करना और परिग्रह में बहुत ममत्व करना नरकायु के आस्रव के कारण है अर्थात् जो जीव पृथ्वी, वस्त्र, आभूषण आदि अपने उपकारक पदार्थो का बहुत संग्रह करने को तीव्र इच्छा से अन्याय, चोरी, मायाचार, असत्य भाषण आदि जिस उपाय से वे प्राप्त हों चाहे दूसरे का सर्वस्व जाता रहे हमें तो लाभ हो जाए ऐसे सोचने वाले मनुष्यो के अवश्य नरकायु का आस्रव होता है। दुष्ट विचारो का करने वाला दुराग्रही, निर्दयी, मद्य माँस के सेवन में लपटी अनतानुवन्धी कषायो सहित, हिसक, क्रूर परिणामी, कृत्य, अकृत्य, का विचार न करने वाला, बहुत परिग्रह और आरम्भ करने वाला इत्यादि कृष्ण लेश्या के धारक तथा रौद्र ध्यानी मनुष्यो को भी नरकायु का ही आस्रव कहा है।

बहुत मायाचार करना तिर्यच आयु के आस्रव का कारण है। अन्य के ठगने के निमित्त कुटिलता करना, माया और उसका आचरण करने वाला मायाचारी कहलाता है। शोक, भय, मत्सरता, ईर्ष्या, पर निन्दा करने मे तत्पर, सदा अपनी प्रशसा करने वाला, अहकाररूप ग्रह से घिरा हुआ, दूसरे के यश का नाश करने वाला, इत्यादि कापोत लेश्या के धारण करने वाले तथा चेतन अथवा अचेतन, प्रिय वस्तु के वियोग होने पर शोक, करना, अनिष्ट चेतन व अचेतन पदार्थ के सयोग होने से चित्त कलुषित रखना, योगी होने पर उपाय को न करने से सदैव चिन्ता मे मग्न रहना, और मरण पश्चात् आगामी भोगो-उपभोगो की प्राप्ति मे चित्त की इच्छा बनाये रखना, ऐसे आर्तध्यानी मनुष्य भी तिर्यच आयु के आस्रव करने वाले होते है।

थोड़ा आरम्भ, थोडा परिग्रह, कोमल परिणाम और सरल स्वभाव से मनुष्य आयु का आस्रव होता है तथा सबको समान देखने वाला हितकारी प्रिय, मिष्टभाषण, दानशूर, दयालु, सत्कार्मों मे निपुण विनयवान, दान, पूजा, सज्जन पुरुषो का प्रेमी, निष्कपट, आदि शुभ भाव, शुभ व्यवहार से प्राणी मनुष्य आयु का आस्रव करते है।

दिग्व्रत, देशव्रत आदिव्रत, सप्तशील तथा अहिसा आदि पचाणुव्रतों को धारण न करने वाले के शुभ-अशुभ भाव और व्यवहार के अनुसार चारो गतियो का आस्रव होता है और सरल स्वभाव आरम्भ परिग्रह रहित के शील व्रत रहित होने पर भी देव आयु का आस्रव होता है । जैसे—भोग भूमि मे उत्पन्न होने वाले स्वर्ग ही जाते है और सराग सयम सयमासयम, अकाम निर्जरा और बाल तप ये भी देव आयु के आस्रव के कारण है । सराग संयम (राग सहित सयम) सयमासयम (त्रस हिंसा के त्याग रूप संयम और स्थावर हिंसा के अत्यागरूप सयम) से अर्थात् सम्यक्त्व सहित अणुव्रत आदि द्वादश व्रतों के पालन करने से स्वर्गीय देव आयु का आस्रव होता है और अकाय निर्जरा अर्थात् परवश, भूख, प्यास, ताड़न, मारन, दुर्वचन सहना, दीर्घकाल पर्यत, रोग आदि कष्ट भोगना और उसी अवस्था में मन्द कषाय रूप परिणाम रखना तथा अज्ञान तप अर्थात् आत्मज्ञान रहित भावना की शुद्धता न पहचानकर तप करना इनसे भवनत्रिक देवआयु का अथवा स्वर्ग में नीच देव आयु का आस्रव होता है । जो जीव सम्यग्दृष्टि होते है उनके नियम को भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव आयु वर्जित कल्पवासी देव आयु का ही आस्रव होता है ।

नाम कर्म के आस्रव के कारण :—

मन, वचन, काय की कुटिलता अथवा मिथ्या सम्वाद के परिणाम, अशुभ नाम के आस्रव के कारण है जैसे झूठी शपथ खाना, मद करना, दूसरो को कुरूप अथवा बुरे अगो-पाग वाला देखकर नकल चिढ़ाना तथा देखकर प्रसन्न होना इत्यादि तथा इससे विपरीत मन वचन काय की सरलता, विसवाद के परिणाम का अभाव, शुभ नाम कर्म के आस्रव का कारण है जैसे धर्मात्मा पुरुषो को देखकर प्रसन्न होना, दूसरे को रूपवान तथा सुन्दर अगोपांग सहित देखकर द्वेष भाव न करना, प्रमाद न करना इत्यादि और षोडश कारण भावना के धारण करने से तीर्थकर नाम कर्म प्रकृति का आस्रव होता है ।

षोडश कारण भावना :—

(१) पच्चीस दोष (शंकाकाक्षा आदि आठ दोष, आठ मद, छः अनायतन और तीन मूढता) रहित निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना दर्शन विशुद्धि भावना है ।

(२) दर्शन ज्ञान, चारित्र में तथा दर्शन, ज्ञान चारित्र के धारकों में तथा देव, शास्त्र गुरु और धर्म में प्रत्यक्ष रूप से निरभिमानी होकर सविनय प्रणाम करना, आदर सत्कार और उच्चासन देना विनय सम्पन्नता है ।

(३) अहिसा आदि अणुव्रत और दिग्विरति आदि सप्तशीलो का निरतिचार पालन करना शीलव्रतेष्वनतीचारता भावना है ।

(४) सदैव ज्ञान में उपयोग लगाना अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना है ।

(५) ससार के दुखो से डरते रहना सवेग भावना है।

(६) शक्ति समान दान देना शक्तितस्त्याग है।

(७) शक्ति के अनुसार तप करना तप भावना है।

(८) मुनियो का उपसर्ग मिटाना साधु समाधि है।

(९) रोगी मुनियो की सेवा करना वैयावृत्य है।

(१०) अरहन्त भगवान की भक्ति करना और उनके गुणो का चितवन करना अर्हद्भक्ति है।

(११) स्वय पचाचार पालन करने वाले तथा मुनि समूह को पालन करवाने वाले सघाधिपति आचार्य के गुणो में अनुराग करना आचार्य भक्ति है।

(१२) ग्यारह अग और चौदह पूर्व के ज्ञाता, एवम् पच्चीस गुण के धारक उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है।

(१३) अहिसा धर्म के प्ररूपक वीतरागोक्त शास्त्र के गुणो में अनुराग करना प्रवचन भक्ति है।

(१४) सामायिक, वन्दना, स्तवन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छ आवश्यकों में हानि न करके इनको समय पर करना षडावश्यकापरिहाणि भावना है।

(१५) स्यादवाद विद्या का अध्ययन कर अज्ञान रूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अन्य मतावलम्बियो को आश्चर्य मे डालने वाले मोक्षमार्ग का प्रभाव बढाना मार्ग प्रभावना है।

(१६) साधर्मी जनों से निष्कपट समीचीन भाव सहित गोवत्ससम् अटूट प्रीति करना प्रवचनवात्सलत्व है।

इस प्रकार ये सोलह भावना तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण हैं।

गोत्र कर्म के आस्रव के कारण :—

अपने गुण तथा दूसरे के दोष अभिमान तथा ईर्षा से प्रगट करना तथा अपने अवगुण और दूसरे के गुणो का आच्छादन करना, निर्दोष को दोष लगाना, अपनी जाति, कुल, रूप, बल, ऐश्वर्य, विद्यादि का गर्व करना, दूसरे के विद्यमान गुण देखकर उसकी निन्दा करना, हंसी करना तथा उसे मानी बताना, देव, गुरु, धर्म तथा अपने से वृद्धजनो का आदर, विनय सत्कार नही करना ये सब नीच गोत्र के आस्रव के कारण है।

नीच गोत्र के आस्रवो के विपरीत कारण अर्थात् अपनी निदा, पर की प्रशंसा करना, पराए गुण व अपने अवगुण प्रगट करना, अपने गुण व पर के अवगुण ढाकना, अभिमान

न करना, अपने से वृद्धों की विनय करना, जाति, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, विद्यादि गर्व के कारण होते हुए मद नही करना ये ऊंचे गोत्र कर्म के आस्रव के कारण हैं।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण—

कोई दान देता हो अथवा दान देने की इच्छा करता हो उसमें विघ्न कर ने से दान अन्तराय का, किसी को लाभ होते देखकर उसमें विघ्न करने से लाभ अन्तराय का, दूसरे के उपभोग या भोग मे आने योग्य सामग्री के प्राप्त होने में विघ्न करने से भोगोपभोग अन्तराय का, किसी के बल वीर्य में विघ्न डालने से वीर्यांतराय कर्म का आस्त्रव होता है।

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के शुभाशुभ आस्त्रव होने के प्रधान-प्रधान कारणों का वर्णन किया।

अथ बंध तत्त्व का वर्णन—

जो आत्मा के राग, द्वेष आदि अशुद्ध परिणाम कर्मरूप पुद्गल परमाणुओ को आत्मा के प्रदेश से बचने के कारण हो उनको भाव बध कहते है और वही कर्मरूप पुद्गल जब आत्मा के प्रदेशो से एक क्षेत्रावगाही होते है उसे द्रव्य बध कहते है। वह बध चार प्रकार का होता है—(१) प्रदेश बध (२) प्रकृति बध (३) स्थिति बंध (४) अनुभाग बध।

(१) आत्मा के मन, वचन, काय की क्रिया से कर्मरूप पुद्गल परमाणुओ का आत्मा के प्रदेशो से एक क्षेत्रावगाह रूप होना प्रदेश बध है।

(२) कर्म वर्गणाओ में पृथक-पृथक आत्मागुण के घात करने को प्रकृति बध कहते है।

(३) जितने काल तक कर्म वर्गणा सत्ता में रहे, रस देकर निर्जरित हो उस काल की मर्यादा को स्थित बध कहते है।

(४) तीव्र, मद रस देने की जो कर्मों की शक्ति है उसे अनुभाग बध कहते है।

प्रदेश बंध वर्णन—

आत्मा के मन, वचन, काय रूप योग विशेषो के द्वारा ज्ञानारवणादि अष्ट कर्मों के होने योग्य कर्म वर्गणाओ का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होना प्रदेश बध है। सर्व संसारी जीवो के प्रत्येक समय में अभव्य राशि से अनन्तगुणा और सिद्ध राशि से अनन्तवे भाग ऐसे मध्य के अनन्तानन्त प्रमाण को लिए हुए कार्माण वर्गणाओं का बन्ध होता है। इन प्रत्येक समय में अष्ट कर्मो का भिन्न-भिन्न न्यूनादिक विभाग होता है वह इस प्रकार का है—सबसे अधिक वेदनीय का, क्योंकि वेदनीय कर्म सुख-दुख का कारण है इसीलिए इसकी निर्जरा बहुत होती है, इससे किंचित् न्यून मोहनीय का है, उससे किंचित् न्यून

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीनों का बराबर-बराबर भाग इनसे किंचित् न्यून नाम और गोत्र दोनो का बराबर-बराबर और सबसे कम आयुकर्म का विभाग होना है। प्रत्येक समय में बंधी हुई कार्माण वर्गणाओ में सात कर्म रूप बंटवारा और आयु बध के योग त्रिभाग के अन्तर्मुहूर्त काल मे आठ कर्म रूप बंटवारा होता है जैसे एक बार ही खाया हुआ एक ग्रास रूप मे अन्न, रक्त, रस, मासादि सप्तधातु रूप में परिणमन हो जाता है।

प्रकृति बंध का वर्णन—

प्रकृति नाम स्वभाव का है जैसे नीम की प्रकृति कटु, गन्ने की मीठी, नीबू खट्टी, ऐसे ही कर्मों के विभाग मे आई हुई वर्गणाओ मे उसी उसी स्वभाव वाली प्रकृति का पड़ जाना प्रकृति बध है जैसे ज्ञानावरण की प्रकृति ज्ञान रोकने की, दर्शनावरण की प्रकृति दर्शन रोकने की, वेदनीय की सुख-दुःख जानने की मोहनीय की, भ्रम उपजाने की, अन्तराय की विघ्न करने की, आयु की भव मे रखने की, गोत्र की ऊँच-नीच करने की, नाम कर्म की अनेक योनियो मे नाना प्रकार शरीर रचने की प्रकृति होती है। ये अष्ट कर्मों की सामान्य प्रकृति बध का स्वरूप वर्णन किया। अव विशेप तथा अन्तर प्रकृतियो के बध तत्त्वों का स्वरूप कहते है।

प्रथम कर्म ज्ञानावरनी की पाच प्रकृतियाँ है—

(१) आवरण नाम परदे वा ढकने का है जो मन और इन्द्रियो से उत्पन्न मतिज्ञान का आवरण करे वह मतिज्ञानावरण है।

(२) जो मन जनित अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक ज्ञान का आच्छादन करे वह श्रुत-ज्ञानावरण है।

(३) जो देशावधि, परमावधि, सर्वावधि इन तीनो भेद रूप अवधिज्ञान का आवरण करे वह अवधिज्ञानावरण है।

(४) ऋजुमति, विपुलमति भेद रूप जो मनःपर्यय ज्ञान का आवरण करे वह मनः-पर्यय ज्ञानावरण है।

(५) सर्व द्रव्यवर्ती, त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायो के जानने वाले केवलज्ञान का आवरण करे वह केवल ज्ञानावरण है।

ये पाच प्रकृतियाँ आत्मा की ज्ञान शक्ति को रोकती है। दूसरी मूल प्रकृति दर्शनावरण की है उसकी उत्तर प्रकृति नौ है—

(१) जो नेत्र जनित दर्शन को रोके अर्थात् जिसके उदय से नेत्र रहित एकेन्द्रिय तथा विकलत्रय अथवा पचेन्द्रि शरीर प्राप्त हो तो नेत्रान्ध वा न्यून दृष्टि हो वह चक्षुदर्शना-वरण है।

(२) जिसके उदय होने से नेत्र रहित त्वचा, जिह्वा, घ्राण, श्रोत्र जनित स्पर्श, रस, गन्ध का दर्शन न हो, वह अचक्षु दर्शनावरण है।

(३) विषय और इन्द्रियों के योग से सामान्य सत्तामात्र के ज्ञान को दर्शन कहते है उसके उदय से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, की मर्यादा के अवधि ज्ञान से पहले होने वाला सामान्य दर्शन न हो वह अवधि दर्शनावरण है।

(४) केवलज्ञान के साथ होने वाले सामान्य अवलोकन का जो आवरण करे वह केवल दर्शनावरण प्रकृति है।

(५) जो सामान्य रूप से अचेत कर पदार्थों के देखने को रोकती है वह निद्रा दर्शनावरण प्रकृति है।

(६) जो अधिक अचेत कर पदार्थों के सामान्य अवलोकन को रोकती है वह निद्रा, निद्रा दर्शनावरण प्रकृति है।

(७) जिसके उदय से बार-बार निद्रा आती है और कुछ चेत सहित श्रम, मद आदि के कारण बैठे-बैठे शरीर मे निद्रा का आवेश हो वा जो पंचेन्द्रियो के व्यापार का निरोध कर पदार्थो के देखने को रोकती है वह प्रचला दर्शनावरण प्रकृति है।

(८) जो एक निद्रा पूर्ण न हो और दूसरी गहरी निद्रा का आवेश हो जाये, मुख से राल बहने लग जाए, नेत्र गात्र चलायमान हो जाये, सुई आदि तीक्ष्ण पदार्थों के लगने से भी चेत न हो उसे प्रचला प्रचला दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

(९) जिस निद्रा के आने से मनुष्य चैतन्य सा होकर अनेक रौद्र कर्म कर लेता है और अचेत हो जाता है अथवा सचेत होने पर उसे कुछ भी स्मरण नही रहता कि मैने अचेत अवस्था में क्या-क्या काम कर डाले तब उसको स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म प्रकृति कहते है।

पदार्थों के सामान्य अवलोकन को रोकने वाले दर्शनावरण कर्म के ऐसे नौ भेद हैं।

तीसरी मूल प्रकृति वेदनीय कर्म के दो भेद है—(१) साता वेदनीय (२) असाता वेदनीय।

जिसके उदय से जीव की इच्छा के अनुकूल शारीरिक, मानसिक सुख के कारण पदार्थों की प्राप्ति हो उसे साता वेदनीय कहते है और जिसके उदय से दुख.दायक जीव की इच्छा के प्रतिकूल अन्य पदार्थों की प्राप्ति हो उसे असाता वेदनीय कहते है।

चौथी मूल प्रकृति मोहनीय है। उसके दो भेद है—(१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय है।

इनमें से दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व अर्थात् मिश्र मोहनीय ये तीन और चारित्र मोहनीय के अकषाय मोहनीय और कषाय मोहनीय ये दो भेद हैं।

अकषाय मोहनीय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद और नपु सकवेद ऐसे नौ प्रकार का है और कषाय मोहनीय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और सज्वलनानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ ऐसे सोलह प्रकार का है।

इसके उदय से सर्वज्ञ भाषित मार्ग में अर्थात् जीवादि तत्वो में जिसके श्रद्धान के कारण देव, शात्र, गुरु मे पराङ्मुखता तथा अरुचि हो और अतत्वो में श्रद्धान हो उसे मिथ्यात्व कहते है। उसके उदय से सम्यक्त्व नाममात्र को भी नही होता है। जब शुभ परिणाम के उदय से मिथ्यात्व प्रकृति का अनुभाग न्यून हो जाता है तब सम्यग् मिथ्यात्व के उदय से कुछ-कुछ भाव सम्यग् श्रद्धान रूप अन्तर्मुहूर्त को होते है अर्थात् जिसको न तो सम्यक्त्व रूप कह सकते है और न मिथ्यात्व रूप, उसे सम्यक् मिथ्यात्व कहते है और जिसके उदय से सम्यक्त्व का मूलघात तो न हो परन्तु चल, मल, अगाढ इन तीनो दोषो का सहभाव रहे उसे सम्यक्त्व प्रकृति कहते है। इन मिथ्यात्व प्रकृतियो के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

चरित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृति आचरण कहते है।

चारित्र के बिगाडने से चारित्र मोहनीय अथवा कषायो को प्रकट करने से कषाय मोहनीय कहाती है। इनमे से चार अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ मिथ्यात्व के साथ मिलकर सम्यक् श्रद्धान को बिगाड़ते हैं। इनके उदय से जीव, राज विरुद्ध, लोक विरुद्ध, धर्म विरुद्ध, अन्याय रूप क्रिया तथा सप्त व्वसन आदि पापो को निरर्गल सेवन करता है। इनका उदाहरण पाषाण रेखावत् क्रोध, पाषाण स्तभवत् मान, बाँस की जडवत् माया, घु घची के वर्णवत् लोभ होता है। अप्रत्याख्यानवरण क्रोध, मान, माया, लोभ श्रावक के अणुव्रतो को नही होने देते और न्यायपूर्वक विषयो मे अति लोलुपता कराते हैं। इनका उदाहरण—हल रेखावत् क्रोध, अस्थिस्तभवत् मान, मीटे के सीगवत् माया और मजीठ के रगवत् लोभ है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इनके उदय से जीव महाव्रत धारण नही कर सकता है। क्षयोपशम के अनुसार देशव्रत धारण कर सकता है। इनका उदाहरण—

धूल तथा बालू रेखावत् क्रोध, काष्ठ स्तम्भवत् मान, हिरण शृंगवत् माया, कुसुम वर्णवत् लोभ है।

सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये यथाख्यात चारित्र के घातक हैं अर्थात् इनके उदय से चारित्र में कुछ शिथिलभाव रहते है। इनके उदाहरण जल रेखावत् क्रोध, बैंत के स्वन्त्रवत्मान गौ शृगवत् माया और हल्दी के रगवत् लोभ कहा है।

ऐसे ये सोलह कषाय प्रवल है और हास्यादिक नव कषाय मंद है पर ये भी शुद्ध चारित्र में मल लगाने वाले है।

(१) जिसके उदय से हास्यरूप भाव हो उसे हास्य प्रकृति कहते हैं।

(२) जिसके उदय से इष्ट भोगोपभोग वस्तु का इष्टजनों में प्रेमरूप भाव हो वह रति है।

(३) जिसके उदय से इष्ट पदार्थों के वियोग में अथवा अनिष्ट पदार्थों के सयोग मे आर्तरूप भाव हो वह अरति है।

(४) जिसके उदय से चित्त में खेद वा उद्वेग उत्पन्न हो वह शोक है।

(५) जिसके उदय से परिग्रह प्राणों के नाश का वा रोग का, चोर का आकस्मात् अग्नि, जल, दुष्ट, जतु आदि का डर हो वह भय है।

(६) जिसके उदय से ग्लानिरूप भाव हो वह जुगुप्सा है।

(७) जिसके उदय से स्त्री से रमने की इक्छा हो और स्वभाव निष्कपट हो वह पुरुषवेद है।

(८) जिसके उदय से पुरुष से रमने की इच्छा हो वह स्त्रीवेद है।

(९) जिसके उदय से स्त्री पुरुष दोनो से रमण करने के भाव हो वह नपुंसक वेद है।

चौथी मूल प्रकृति आयु है उसके चार वेद है—(१) नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

(१) जिसके उदय से नरक में नारकी के शरीर को धारण कर स्थिति काल पर्यंत रहना होता है वह नरकायु है।

(२) जिसके उदय से एकेन्द्रिय वृक्ष आदि से लेकर पचेन्द्रिय पशुपक्षी पर्यन्त तिर्यंच शरीर में रहना होता है वह तिर्यच आयु है।

(३) जिसके उदय से देव शरीर धारण कर स्थिति काल पर्यन्त रहना पड़े वह देवायु है।

(४) जिसके उदय से मनुष्य शरीर धारण कर स्थिति काल पर्यंत रहना होता है वह मनुष्यायु है।

पाचवी मूल प्रकृति नाम कर्म है। इसकी ९३ प्रकृति है। जिसके उदय से यह जीव पूर्वभव से भवान्तर प्रतिगमन करता है वह गति नाम कर्म है। वह चार प्रकार है—

जिसके उदय गे आत्मा नरक मे जावे उसको नरक गति नाम कर्म, जिसके उदय से तिर्यच योनि मे जाये उमे तिर्यच गति नाम कर्म, जिसके उदय से मनुष्य भव मे जाए उसे मनुष्य गति नाम कर्म और जिसके उदय से देव पर्याय को प्राप्त हो उमे देव गति नाम कर्म कहते है।

उक्त नरकादि गतियो में जो अविरुद्ध सदृश धर्मों मे आत्मा को एक रूप करता है उसे जाति नाम कर्म कहते है। वह पांच प्रकार है —

जिसके उदय से आत्मा पृथ्वी अप, तेज, वायु, बनस्पति आदि स्थावर योनि पाते हैं उसे एकेन्द्रिय जाति नाम कर्म, जिसके उदय मे त्रस योनि मे स्पर्शन, रसना दो इन्द्रिय, काय और वचन दो बल श्वासोच्छवास् और आयु इस प्रकार छ प्राण होने है उसे द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म, जिसके उदय से नाशिका एव उपरोक्त छ प्राण होने है उसे त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म, जिसके उदय मे चक्षु एव उपरोक्त सात प्राण हों उमे चतुरिन्द्रिय नाम कर्म जिसके उदय से श्रोत आठ प्राण हो अर्थात् मन रहित नौ प्राण हो उसे असज्ञो पचेन्द्रिय नाम कर्म और जिसके उदय से नव प्राण मन सहित हो उसे सज्ञी पचेन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते है।

जिसके उदय से शरीर की रचना होती है उसे शरीर नाम कर्म कहते है। यह शरीर नामकर्म पाच प्रकार का है—

१. औदारिक शरीर २ वैक्रियक शरीर ३ आहारक शरीर, ४. तैजस शरीर और ५. कार्माण शरीर।

१ जिसके उदय से स्थावर (पृथ्वी, अप, तेज, वायु वनस्पति) पाच, विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय) सम्मूर्च्छन (अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की विशेपता से तीन लोक में भरे हुए चारो ओर के पुद्गल परमाणुओ से माता पिता के रज ओर वीर्य के सयोग के बिना उत्पन्न होने वाले शरीर) गर्भज (माता पिता के शोणित शुक्र के उत्पन्न होने वाले शरीर) जीवो के स्थूल अर्थात् इन्द्रियो से देखने योग्य शरीर की रचना हो उसे औदारिक शरीर कहते है।

२. जिसके उदय से उत्पाद स्थान से पुद्गल वर्गणा ग्रहणकर अनेक प्रकार की

समचतुरस्र संस्थान
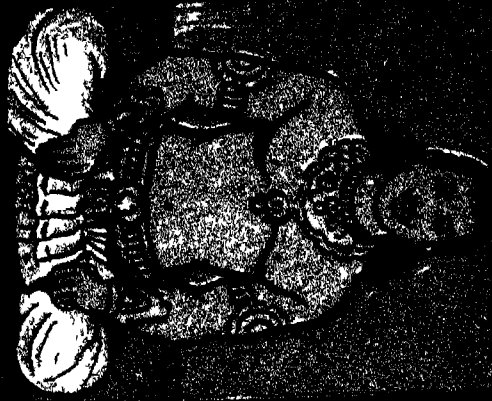
न्यग्रोध परिमंडल संस्थान
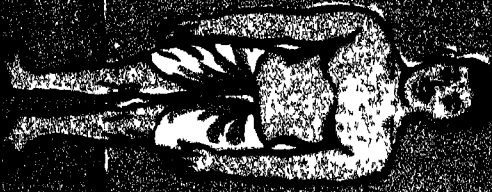
स्वाति संस्थान

विक्रिया शक्ति वाला देव नारियों का शरीर उत्पन्न हो उसको वैक्रियिक शरीर कहते है।

(३) जिसके उदय से छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनियों के सूक्ष्म विषय के निर्णय के लिए जो आहारक शरीर की रचना हो उसे आहारक शरीर कहते है।

(४) जिनके उदय से उपागरहित तेजस शरीर की रचना हो उसे तेजस शरीर कहते है।

(५) जिसके उदय से अगोपागो का भेद प्रगट हो उसको अगोपाग कर्म कहते है। मस्तक, पीठ, छाती, का पंजर, बाहु उदय जाघ हाथ और पाँव ये अग और इनकी छोटी शाखा उगली, नाक, कान आदि उपाग है। यह अगोपाग नामकर्म तीन प्रकार का है—

(१) औदारिक शरीरागोपाग (२) वैक्रियिक शरीरागोपाग (३) आहारक शरीरा-गोपाग। इस प्रकार के शरीर के ही अगोपाग होते है। जिससे अगोपाग की ठीक-ठीक रचना हो उसे निर्माण कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरो के परमाणु परस्पर सवन्ध को प्राप्त हो उसको बधन नामकर्म कहते है। बधन नाम कर्म इस प्रकार का है (१) औदारिक बधन (२) वैक्रियिक बधन (३) आहारक बधन (४) तेजस बधन और (५) कार्माण बधन। जिस-जिस प्रकार का शरीर होता है उसमे उसी प्रकार के बधन होते है।

पाच प्रकार की सघात प्रकृति है। सघात नाम मास के लेशन का है जैसे गारे मे ईंट मिली रहती है लेस न होने से बिखरती नही वैसे ही मास के सघात से हाड़ चिपके रहते है अर्थात् जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीरो से परमाणु छिद्ररहित एकता को प्राप्त हो वह सघात-(१) औदारिक सघात (२) वैक्रियक सघात (३) आहारक सघात (४) तेजस सघात और (५) कार्माण सघात ऐसे पाच प्रकार है। जिस प्रकार का शरीर है उसमें उसी प्रकार सघात होता है।

जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति हो उसे सस्थान नामकर्म कहते हैं। वह छह प्रकार का है :—

(१) जिसके उदय से सर्वअंग यथोचित सुन्दर शोभायमान हो वह समचतुरस्त्र-सस्थान है।

जिसके उदय के नाभि से नीचे के अग छोटे और उपर के बडे हों जैसे बह वृक्ष वह सोन्यग्रोधपरिमडल सस्थान है।

(३) जिसके उदय से नीचे का भाग स्थूल और लम्बा हो और ऊपर का कद छोटा हो वह स्वाति सस्थान है।

(४) जिसके उदय से शरीर कुबडा हो' पीठ मे कूबड हो और छाती में गढ़ा हो जिससे झुककर चले वह कुब्जक संस्थान है।

(५) जिसके उदय से बौना शरीर हो वह वामन सस्थान है।

(६) जिसके उदय से सर्व अगोपाग छोटे बड़े बेडोल हों वह हुड़क सथान है।

जिस कर्म के उदय से हाड़ो के बधन में विशेषता हो उसे सहनन नाम कर्म कहते हैं। वह छ. प्रकार का है —(१) वज्रवृषभनाराच सहनन (२) वज्रनारायण सहनन (३) नाराच सहनन (४) अर्धनाराच सहनन (५) कीलक सहनन और (६) असप्राप्तासृपाटिका संहनन।

नशो के हाडों के बधने का नाम वृषभ है। नाराच नाम कीलने का है और सहनन नाम हाड़ो के समूह का है अत· जिस कर्म क उदय से वृषभ (वेष्टन) नाराच (कील) और सहनन (अस्थिपजर) ये तीनो वज्रवत् अभेद्य हो वह वज्रवृषभ नाराच संहनन है।

(२) जिस कर्म के उदय से नाराच सघनन तो बज्र मे हो और बृषभ सामान्य हो वह बज्र नाराच सहनन है।

(३) जिसके उदय से हाड तथा सधियाँ कीलित हो परन्तु बज्रमय न हों और बज्रमय वेष्टन भी न हो वह नाराच सहनन नामकर्म है।

(४) जिसके उदय से हाणो की सधियाँ अर्द्धकीलित हो अर्थात् एक तरफ से कीलित हों दूसरी तरफ न हो वह अर्द्धनाराच सहनन नाम कर्म है।

(५) जिसके उदय से हाथ परस्पर कीलित हों वह कीलक सहनन नाम कर्म है।

(६) जिसके उदय से हाडो की सधियाँ तो कीलित नही होती परन्तु नस स्नायु और मास से बधी हो वह असप्राप्तासृपाटिका सहनन है।

जिस कर्म के उदय से शरीर में स्पर्श हो उसे स्पर्श नामकर्म कहते हे। यह आठ प्रकार का हैं :—

(१) कर्कश स्पर्श नामकर्म '—जिसके उदय से कठोर शरीर प्राप्त हो।

(२) मृदु स्पर्श नामकर्म :—जिसके उदय से कोमल शरीर प्राप्त हो।
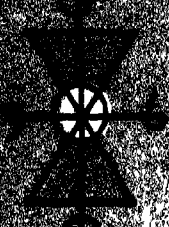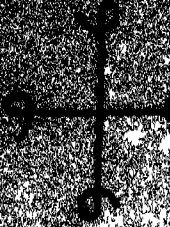
(३) गुरु स्पर्शनाम कर्म . · जिसके उदय से भारी शरीर प्राप्त हो।

(४) लघु स्पर्श नामकर्म —जिसके उदय से हलका शरीर प्राप्त हो।

(५) स्निग्ध स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से चिकना शरीर प्राप्त हो।

(६) रुक्ष स्पर्श नामकर्म—जिसके उदय से खुरदरा शरीर प्राप्त हो।

छहों संहनन के आकार

वज्र नाराच संहनन
नाराच संहनन
वज्र वृषभ नाराच
वृषभ नाराच
नाराच
अर्धनाराच संहनन
कीलक संहनन
स्फाटिक संहनन
अर्ध नाराच
कीलक
स्फाटिक

(७) शीत स्पर्श नामकर्म – जिसके उदय से शीतल शरीर प्राप्त हो।

(८) उष्ण स्पर्श नामकर्म –जिसके उदय से उष्ण शरीर प्राप्त हो।

यह आठ प्रकार का स्पर्श कहा।

जिसके उदय से शरीर में रस (स्वाद) उत्पन्न हो उसे रस नाम कर्म कहते है। यह कर्म पाच प्रचार का है :—

(१) तिक्त रस नामकर्म– जिसके उदय के चरपरा शरीर प्राप्त हो।

(२) कटुरस नामकर्म—जिसके उदय से कड़ुआ शरीर प्राप्त हो।

(३) कषाय रस नामकर्म—जिसके उदय से कषायला शरीर प्राप्त हो।

(४) आम्ल रस नामकर्म—जिसके उदय से खट्टा शरीर प्राप्त हो।

(५) मधुर रस नामकर्म—जिसके उदय से मीठा रस प्राप्त हो।

ये पाँच रस नामकर्म—प्रकृति हैं।

जिसके उदय से शरीर में गंध हो वह गंध नामकर्म है। यह दो प्रकार का है—एक सुगध नामकर्म—जिसके उदय से सुगन्धित शरीर प्राप्त हो और दूसरा दुर्गन्ध नाम कर्म जिसके उदय से दुर्गधित शरीर प्राप्त हो।

जिसके उदय से शरीर मे वर्ण उत्पन्न हो वह वर्ण नाम प्रकृति है। यह पांच प्रकार की है :—

(१) शुकल वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से श्वेत शरीर प्राप्त हो।

(२) कृष्ण वर्ण नामकर्म—जिसके उदय े श्याम शरीर प्राप्त हो।

(३) पीत वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से पीला शरीर प्राप्त हो।

(४) नील वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से नीला शरीर प्राप्त हो।

(५) रक्त वर्ण नामकर्म—जिसके उदय से लाल शरीर प्राप्त हो।

जिस कर्म के उदय से आत्मा के प्रदेश मरण के पीछे और नवीन शरीर धारण करने के पहले मार्ग मे पूर्व शरीराकार रहे वह विग्रहगति नामकर्म हो वह चार प्रकार का हैं—

(१) नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य नामकर्म—जिस समय जीव मनुष्य या तिर्यच शरीर को त्याग कर नरक गति जाने को सन्मुख होता है उस समय मार्ग में जिसके उदय से आत्मा के प्रदेश पूर्व शरीराकार रहे उसे नरकगति प्रायोग्यानुपूर्व्य कहते है।

(२) देव गति प्रायोग्यानुपूर्व्यं नाम कर्म—जिस समय जीव मनुष्य या तिर्यंच शरीर को त्याग कर देव गति में जाने को सम्मुख होता है उस समय मार्ग में जिसके उदय से आत्मा के प्रदेश पूर्व शरीरकार रहे उसे देव गति प्रायोग्यानुपूर्व्य कहते हैं।

(३) मनुष्य गत्यानुपूर्वी नामकर्म—जब देव शरीर वा नारक शरीर को छोड़ वा मनुष्य शरीर अथवा तिर्यंच शरीर को छोड़कर मनुष्य गति को जाता है तब मार्ग में मनुष्य गत्यानुपूर्वी प्रकृति का उदय होता है।

(४) तिर्यंच गत्यानुपूर्वी—जब तिर्यंचगति को जाता है तब तिर्यंच गत्यानुपूर्वी प्रकृति का उदय होता है। इस कर्म का उदय जघन्य काल एक समय, मध्यम दो समय और उत्कृष्ट तीन समय मात्र है।

जिस कर्म के उदय से शरीर लोहे के गोले की तरह भारी और आक तूल की तरह हलका न हो उसे अगरुलघु नामकर्म कहते है।

जिसके उदय से अपने शरीर के (बड़े सीग, बडा पेट, कस्तूरी का बैना आदि) अवयव अपना ही घात करने वाले हो उसे उपघात नामकर्म कहते है।

जिसके उदय से तीक्ष्ण नख व सीग, बिच्छू वा ततैये के डक आदि अगोपाग, पर के घात करने वाले होते हो उसे परघात नाम कर्म कहते है।

जिसके उदय से आतापमय शरीर होता है उसे आताप नामकर्म कहते है जैसे सूर्य के विमान में पृथ्वीकायिक जीव मणि स्वरूप होते हैं। उद्योत प्रकृति के उदय से आताप रहित प्रकाश रूप शरीर होता है जैसे चन्द्रमा के विमान में पृथ्वीकायिक जीव मणिस्वरूप होते हैं।

जिस कर्म के उदय से शरीर में श्वासोच्छवास हो उसको उच्छवास नामकर्म कहते है।

जिस कर्म के उदय से आकाश मे गति हो उसे विहायोगति नामकर्म कहते है। यह दो प्रकार है —

जो हाथी की गति के समान सुन्दर गति का कारण होता है उसे प्रशस्त विहायोगति नामकर्म कहते है और जो ऊँट, गर्दभ आदि की गति के समान असुन्दर गति का कारण होता है। उसे अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से एक शरीर का भोक्ता एक ही जीव होता है उसे प्रत्येक नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से पृथ्वी, अप तेज आदि एकेन्द्रिय शरीर प्राप्त हो उसे स्थावर नाम-कर्म कहते हैं।

जिसके उदय से आत्मा द्विन्द्रियादि शरीर धारण करता है उसे त्रस नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से दूसरे जीव अपने को स्नेह दृष्टिसे अवलोकन करे उसे सुभग नामकर्म कहते है।

जिस कर्म के उदय से रूप आदि गुण युक्त होने पर भी दूसरों की दृष्टि में निंद्य प्रतीत हो वह दुर्भग नामकर्म है।

जिसके उदय से मनोहर, सुन्दर स्वर हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से एक शरीर के अनेक जीव स्वामी हो उसे साधारण नामकर्म कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से बुरा असुहावना स्वर हो उसे दु:स्वर नामकर्म कहते है।

जिसके उदय से शरीर के अगोपाग सुन्दर हो उसे शुभ नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से मस्तक आदि अवयव रमणीक न हो उसे अशुभ नामकर्म कहते हैं।

जिसके उदय से अग्नि, जल, पर्वत, दुर्ग, पृथ्वी, वज्रपटल आदि को भेदकर निकल जाने वाला सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो उसे सूक्ष्म शरीर नामकर्म कहते है।

जिसके उदय से स्वय रुकने तथा अन्य को रोकने वाला स्थूल शरीर प्राप्त हो उसे बादर शरीर नामकर्म कहते है।

जिसके उदय से जिस पर्याय में जाए उसके अनुसार आहार आदि की पूर्ण प्राप्ति होना वह पर्याप्ति नामकर्म है। वह छह प्रकार का है —

(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) प्राणापान पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति और (६) मन: पर्याप्ति।

एकेन्द्रिय जीवो के भाषा और मन को छोड़कर चार द्विन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पचेन्द्रिय जीवो के भाषा सहित पाच और सैनी पचेन्द्रिय के छहों पर्याप्ति होती है।

जिसके उदय से जीव को पूर्ण शरीर प्राप्त न होने से पूर्व ही मरण को प्राप्त हो वह अपर्याप्ति नामकर्म है।

जिसके उदय से धातु, उपधातु अपने-अपने स्थान में स्थिर रहे वह स्थिर नामकर्म

है और जिस कर्म के उदय से शरीर में धातु-उपधातु स्थिर न रहे वह अस्थिर नामकर्म है।

जिसके उदय से कान्ति सहित शरीर हो वह आदेय और कान्ति रहित शरीर हो तो वह अनादेय नामकर्म है।

जिसके उदय से ससार में जीव की प्रशसा हो वह यशस्कीर्ति और जिसके उदय से अवगुण प्रगट हों वह अयशस्कीर्ति नामकर्म है।

जिसके उदय से समवशरण लक्ष्मी का धारक तीर्थंकर पद के लक्षणयुक्त शरीर हो वह तीर्थंकरत्त्व नाम कर्म है।

इसप्रकार नामकर्म की मुख्य बयालीस प्रकृति हैं और इनके अवातर भेदों को जोड़ने से सब तिरानवे हो जाती है।

गोत्र कर्म :—

जिस कर्म के उदय से सतान के क्रम से चलेआए जीव के सदाचरण निषिद्धाचरण रूप ऊंच-नीच गोत्र में जन्म हो वह गोत्रकर्म है और वह उच्च गोत्र और नीच गोत्र के भेद से दो प्रकार का है। जिसके उदय से उत्तम चरित्र वाले लोक पूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्च कुलों में जन्म हो उसे उच्च गोत्रकर्म और जिसके उदय से निषिद्धाचरण वाले निंद्य, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुःखो से आकुलित कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्रकर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म :—

अब अन्तराय कर्म की पाच प्रकृतियां कहते हैं :—

(१) दानातराय— जिस कर्म के उदय से या तो दान देने की शक्ति ही न हो और यदि हो तो दान देने का यत्न करते हुए भी किसी विघ्न से दान न देसके वह दानातराय है।

(२) लाभातराय—जिसके उदय से वाछित इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए भी लाभ न हो।

(३) भोगातराय—जिसके उदय से या तो भोग्य पदार्थ प्राप्त न हों और यदि प्राप्त हो तो रोग आदि के होने से भोग न सके वह भोगातराय है।

(४) उपभोगातराय—जिसके उदय से या तो उपभोग्य पदार्थ ही न मिले और यदि मिले तो किसो विघ्न से भोग न सके। गंध, अतर, पुष्पमाला, ताबूल, भोजन, पान आदि जो एक ही बार भोगने में आए वे भोग है और शय्या, आसन, स्त्री, आभरण, घोडा, गाड़ी आदि जो बार-बार भोगने मे आए वे उपभोग है।

(५) वीर्यातराय—जिसके उदय से पौरुषहीन, निर्बल चित्त हो, वे जप, तप, व्रत

आदि कुछ भी न कर सके वह वीर्यान्तराय है।

अब बन्ध पदार्थ से अन्तर्भूत पुण्य बन्ध और पाप बध भी है इसीलिए उनमे से पहले पुण्य प्रकृतियों के कहते हैं। साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र ये पुण्य रूप हैं। वे इस प्रकार हैं :—(१) साता वेदनीय (२) तिर्यंच आयु (३) मनुष्य आयु (४) देव आयु (५) उच्च गोत्र ये पाँच और नाम कर्म की तरेसठ मनुष्य गति (१) देव गति (२) पचेन्द्रिय जाति (३) निर्माण (४) समचतुरस्त्र सस्थान (५) वज्र वृषभनाराच सहनन (६) मनुष्य गत्यानुपूर्वी (७) देव गत्यानुपूर्वी (८) अगुरु लघु (९) परघात (१०) उच्छवास (११) आतप (१२) उद्योत् (१३) प्रशस्त विहायोगति (१४) प्रत्येक शरीर (१५) त्रस (१६) सुभग (१७) सुस्वर (१८) शुभ (१९) बादर (२०) पर्याप्ति (२१) स्थिर (२२) आदेय (२३) यशस्कीर्ति (२४) तीर्थकरत्व (२५) और पाँच शरीर (२६-३०) तीन अगोपाग (३१-३३) पाच बधन (३४-३८) पाच संघात (३९-४३) आठ प्रशस्त स्पर्श (४४-५१) पाच प्रशस्त रस (५२-५६) दोगंध (५७-५८) चार प्रशस्त वर्ण (५९-६३) उक्त (६८) प्रकृतियो मे से शेष कर्म प्रकृतियाँ पाप रूप है।

स्थिति बंध वर्णन—

कषाय की तीव्रता मन्दता के अनुसार जितने काल तक कर्म वर्गणा सत्ता में रहे, फल देकर उनकी निर्जरा हो उस समय की मर्यादा पडने को स्थिति बध कहते है। स्थिति बध दो प्रकार का है—(१) जघन्य स्थिति बध और (२) उत्कृष्ट स्थिति बंध।

इसमे उत्कृष्ट स्थिति ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय और वेदनीय की बीस कोडा कोडी सागर है। इस उत्कृष्ट स्थिति का बध मिथ्या दृष्टि सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवो के होता है।

नाम कर्म और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडा कोडी सागर की मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर की तथा आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की हो सकती है।

अब कर्मों की जघन्य स्थिति कहते है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय और आयु इन पाच कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त (जो दो घड़ी के भीतर-भीतर हो उसे अन्तर्मुहूर्त कहते) है। नामकर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठमुहूर्त और वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है।

इस प्रकार स्थिति बंध का वर्णन किया।

अनुभाग बंध वर्णन—

कषायों की तीव्र मंदता के अनुसार कर्म वर्गणाओं में जो फलदायक तीव्र मन्द शक्ति का उत्पन्न होना है वह अनुभाग बध है। वह फल दान शक्ति कर्मों की मूल प्रकृति तथा उत्तर प्रकृति तथा उत्तरप्रकृतियों के नामानुसार ही होती है जैसे ज्ञानावरण का फल ज्ञान का आच्छादन करना, दर्शनावरण का फल दर्शन का आवरण करना है इसी प्रकार मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतियो मे जैसा जिसका नाम है वैसी ही फ़ल शक्ति जाननी चाहिए।

इन प्रकृतियों में बंध उदय आदि ये दस अवस्थाऐ होती है—

छप्पय—

जीवकरम मिली बध देय रस तास उदै मति,
उद्दीरना उपाय रहे जब लो सता गनि,
उत्कर सरन थिति बढे घटे अपकरसन कहियत,
सकरमन पर रूप उदीरन बिन उप सम मत सक्रमण,
उदीरन बिन निधत घट बढ उदरन सक्रमन,
यदु बिना निकाचित वध दस भिन्न पद जानि मन।

अर्थात्—

(१) राग द्वेष, मिथ्यात्व आदि परिणामो से जो पुदगल द्रव्य का ज्ञानावरण आदि रूप होकर आत्मा के प्रदेशो से परस्पर सबन्ध होना है वह बध है।

(२) अपनी स्थिति पूरी करके कर्मो का फल देने के सन्मुख प्राप्त होना उदय है।

(३) तप आदि निमित्तो से स्थिति पूरी किए बिना अपकर्षण के बल से कर्मों का उदयावली काल मे प्राप्त करना उदीरणा है।

(४) बधकाल से स्थिति काल पर्यंत जब तक उदय, उदीर्णादि दूसरे भेद का प्रवर्त्तन न हो उस अवस्था का नाम सत्ता है।

(५) कर्मों के निमित्त से कर्मों की स्थिति व अनुभाग का बढना उत्कर्षण है।

(६) स्थिति व अनुभाग का कम हो जाना अपकर्षण है।

(७) आयु कर्म के बिना शेष सात कर्मों की किसी एक बध रूप प्रकृति का दूसरो प्रकृति मे परिणमन हो जाना सक्रमण है।

(८) कर्मों का उदय व उदीरणा रहित सत्ता में स्थिर रहना उपशम है।

(९) जो कर्म सक्रमण व उदयावलि में प्राप्त न हो वह निधत है।

(१०) जिस कर्म की उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण चारो ही

अवस्थायें न हों वह निकांचितकरण (अवस्था) है।

इस प्रकार बध की दस अवस्था जिनेन्द्र भगवान ने कही है इस प्रकार बध तत्व का वर्णन किया आगे संवर तत्व का वर्णन करते हैं।

संवर तत्व का वर्णन—

आस्त्रवों का निरोध करना संवर है। वह द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। कर्मास्त्रव के निरोध करने को कारण भूत व्रत और समित्यादि के पालन रूप में परिणाम हो जाना भाव सवर है। कर्मवर्गणाओं का आगमन रुकना द्रव्य सवर है। यह नीति है कि जिस कारण से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है उस कारण के अभाव में उस कार्य की उत्पत्ति का भी अभाव हो जाता है। इसलिए इस जीव के जो ससार परिभ्रमण के कारण हैं, मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योगो के द्वारा आस्त्रव होकर बध होता है, उस आस्त्रव को रोकने के लिए सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व का देशव्रत तथा महाव्रत धारण करने से अविरत रूप भावो का निरालसी तथा ध्यानी होने से प्रमादों का यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति से कषायों का मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के निरोध से योगो का संवर करना प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है। इसी संवर को प्राप्त करने के लिए आचार्यों ने ये कारण बतलाये है— पाच व्रत, पच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परीषह, पाच प्रकार का चारित्र, यह छ: सवर के लिए कारण है।

तीन गुप्ति—

(१) मनोयोग का रोकना मनोगुप्ति है।

(२) बचनयोग का रोकना बचनगुप्ति है।

(३) काययोग का रोकना कायगुप्ति है।

पाँच समिति—

(१) जो मार्ग मनुष्यों और तिर्यंचो के गमनागमन से खुंद गया हो, सूर्य के आताप के तप्त हो गया हो, हलादि से जोता गया हो, ऐसे प्रासुक मार्ग से रवि के प्रकाश में आगे को चार हाथ भूमि को भली प्रकार देखकर मद-मद गमन करना, जिससे कोई जीव प्रमाद अर्थात् असावधानी से न विराधा जाए। ऐसे शास्त्र श्रवण, तीर्थ यात्रा तथा आहार विहारादि आवश्यक कार्य के निमित्त गमन करना सम्यगीर्या समिति है।

(२) सर्व प्राणियों के लिए हितकर, कोमल, मिष्ट, सत्य वचन बोलना और लौकिक कर्कश हास्यरूप परात्मनिदा प्रशसक शब्दों का न बोलना सम्यग्भाषा समिति है।

(३) निर्दोष (उदगमादि ४६ दोष रहित) शुद्ध (१४ मल दोष रहित) निरतराय

(३२ अन्तरायरहित) उत्तम श्रावक के घर अपने निमित्त नही किया हुआ एक बार लघु भोजन ग्रहण करना सम्यगेषणा समिति है।

(४) ज्ञान के उपकरण शास्त्र, संयम के उपकरण पीछी, शौच के उपकरण कमडल आदि को नेत्रों से देखकर निर्जंतु भूमि मे यत्न पूर्वक उठाना, रखना, पटकना नही और हाथ पैर देखकर पसारना समेटना आदान निक्षेपण समिति है।

(५) जीव जन्तु रहित उचित प्रासुक भूमि पर मलमूत्र आदि क्षेपण करना सम्यग्उत्सर्ग समिति है।

दस धर्म का वर्णन—

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्जव उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिचन और उत्तम ब्रह्मचर्य, इन दस लक्षणों से आत्मा के स्वभाव की परीक्षा होती है।

उत्तम क्षमा—

दुष्ट लोगो के द्वारा तिरस्कार, हास्य, ताडन, मारण आदि क्रोध की उत्पत्ति के कारण उपस्थित होने पर भी उन्हे दण्ड देने की शक्ति होने पर भी उन पर क्रोध नही करना नहीं मारना, उनके विषय में दुर्विचार भी नही करना, निन्दा तिरस्कार न स्वयं करना न औरो से कराना सुख दुख क्लेश को पूर्व पूर्वोपार्जित कर्मों का फल जानकर समभावो से सहन करना उत्तम क्षमा है।

उत्तम मार्दव धर्म—

अपने रूप, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य आदि का अभिमान नही करना, विद्वत्ता का अभिमान नही करना, धर्मात्मा, व्रती व विद्वानों को देखकर अथवा गुरुजनों को देखकर खड़ा होना तथा नमस्कार करना, उच्च आसन देना, आदर सत्कार करना, उनके सामने खडा होकर नही बोलना, मन, वचन, काय से उनकी आज्ञा का पालन करना, देव, गुरु, शास्त्र का चित्त से आदर करना, उनके गुरुओ का चितवन करना उत्तम मार्दव धर्म है।

उत्तम आर्जव धर्म—

मम, वचन, काय की कुटिलता को त्याग कर परिणाम सरल रखना अर्थात् कभी छल कपट नही करना, जैसा मन में हो वैसा ही वचन के द्वारा प्रकाश मे लाना और जो कुछ प्रकाश मे लाया है तदनुसार ही देह से करना उत्तम आर्जव है।

उत्तम सत्य धर्म—

छल, कपट रहित वचन बोलना, सर्व हितकारी प्रामाणिक मिष्ट कोमल वचन

बोलना, धर्म की हानि या कलक लगाने वाला प्राणियों को संक्लेश दु:ख पहुँचाने वाला वचन न कहना उत्तम सत्य धर्म है।

उत्तम शौच धर्म—

अनीति से दूसरों के धन, सम्पत्ति, गृह आदि पदार्थों को ग्रहण करने की तीव्र अभिलाषा का अभाव और सुकृत की प्राप्ति में सन्तोष कर मलिन आचरण का त्याग करना तथा अतरंग आत्मा से लोभादिक कषायो को दूर कर सदा निर्मल रखना उत्तम शौच धर्म है।

उत्तम सयम धर्म—

इन्द्रियो को विषयो से रोकना सयम है। उत्तम सयम धर्म के दो भेद है। पहल प्राणि सयम और दूसरा इन्द्रिय सयम।

बाह्य पचेन्द्रियो और मन को विषय सेवन से रोकना, दुराचारो से वचना इन्द्रिय सयम है। अन्तरग से छह् काय के जीवो की रक्षा करना प्राणि सयम है।

उत्तम तप धर्म—

सासारिक विषयाभिलाषा रहित होकर अनादि कर्म बध से सच्चिदानन्द स्वरूप निर्मल आत्मा को अनशनादि बारह् प्रकार के तप से तपाकर कर्म मल रहित करना उत्तम तप है।

उत्तम त्याग धर्म—

निश्चय त्याग तो अपनी आत्मा से अनादिकाल से लगे हुए राग, द्वेष, मोहादि परभावो से, जिसके कारण वह सदा भयवान दुखी रहता है, छुटाकर निर्भय कर देना है। व्यवहार मे आहार, औषधि, शास्त्र और अभय, ये चार दान है। व्यवहार में साधु, मुनि आदि गुरुजनो को वा सम्यक्त्ववान व्रती श्रावक को उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्र की वृद्धि के लिए भक्ति भाव से और दुखित, भूखे, अगहीन, हीनदरिद्रियो को कारुणा भाव से भूख-प्यास में आहार पानी देना, रोग अवस्था मे शुद्ध औषधि देना, विद्याभिलाषियों को शास्त्र दान देना, भयभीत जीवो को अभयदान देना उत्तम त्याग हैं।

उत्तम आकिचन्य धर्म—

शुद्ध चैतन्य अमूर्तिक आत्मा से सर्वथा भिन्न स्वरूप पुद्गलमयी रूपी अन्तर्बाह्य चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग तथा शरीर से निर्ममत्व का होना आकिचन्य है।

उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म—

स्पर्श इन्द्रिय के विषय, मैथुन कर्म से सर्वथा परान्मुख होने को व्यवहार ब्रह्मचर्य

और ब्रह्म अर्थात् निजात्मा में रमण करने को निश्चय ब्रह्मचर्य कहते है अर्थात् उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं।

इस प्रकार उक्त दस धर्म मुमुक्षु को धारण करने चाहिए।

द्वादश अनुप्रेक्षा —

जो वैराग्य उत्पन्न करने को माता समान और बारम्बार चिन्तवन करने योग्य हों वह अनुप्रेक्षा कहलाती है। वह बारह है।

(१) अनित्य (२) अशरण (३) ससार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) सँवर (९) निजरा (१०) लोक (११ बोधिदुर्लभ (१२) स्वाख्यातत्व (धर्म)।

इन बारह प्रकार के स्वरूप का वारम्बार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा है।

१ अनित्य अनुप्रेक्षा —

सासारिक पदार्थ देह, धन, सम्पत्ति, घोडा, हाथी, स्त्री, कुटुम्बी, मित्रादि तथा आज्ञा मानने वाले चाकर तथा पचेन्द्रियो के भोग ये सब थोडे-थोडे दिन रहने वाले है और जल के बुलबुले के समान अस्थिर है, अनित्य है, जैसे इन्द्र धनुष देखते ही विलय हो जाता है व बिजली शीघ्र ही चमककर विलय हो जाती है, ऐसा ही इन पदार्थों का सयोग हैं, पुण्य क्षीण होने पर सब चले जाते है। इस प्रकार चिन्तवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है।

२. अशरण अनुप्रेक्षा —

जैसे वन के एकान्त स्थान मे सिंह के द्वारा पकडे हुए मृग की कोई शरण नही होती उसी प्रकार इस ससार मे काल के मुख का ग्रास बने हुए प्राणियो को कोई शरण नही है। इन्द्र धरणेन्द्र, चक्रवर्ती बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, राजा महाराजादिक भी अवधि पूर्ण होने पर काल के गाल मे चले जाते है तो औरो की क्या रक्षा करेगे। जल मे, थल में, नभ में, नरक में, सर्व ससार में कोई भी स्थान शरण योग्य नही है। जितनी चाहे मणि हो, चाहे जितने मन्त्र, यत्र औषधि आदि किए जाये परन्तु कोई भी काल मे नही बचा सकते है। काल से वे ही बचे है जिन्होने आत्म कल्याण करके सब कर्मों से मुक्त हो अविनाशी पद पाया है। वह पद जिस पूज्य धर्म से प्राप्त होता है वह धर्म ही व्यवहार मे शरण है और निश्चय मे यह आत्मा अपने को आप ही शरण रूप है। इस प्रकार चिन्तवन करना अशरण अनुप्रेक्षा है।

३. ससारानुप्रेक्षा —

यह ससार जन्म, जरा, मरण दुःखस्वरूप है। इसमें जीव निरन्तर एक देह मे दूसरे शरीर मे जन्म ले-लेकर चतुर्गति मे दुःख सहन करते है। पृथ्वीकाय योनि सात लाख, जल

काय योनि सात लाख, अग्निकाय योनि सात लाख, पवन काय योनि सात लाख, प्रत्येक वनस्पति काय योनि दस लाख ये सब मिला कर बावन लाख भेद स्थावर एकेन्द्रिय के है। जिन्हे स्पर्शन इद्रिय मात्र का ज्ञान है वे खनन, तपन, शीत, उष्णादि की बाधा से अत्यन्त दु:खी हैं। दो इन्द्रिय योनि दो लाख तीन इन्द्रिय दो लाख, चौ इन्द्रिय दो लाख ये सब छह लाख विकलत्रय योनि है और चार लाख पचेन्द्रिय तिर्यंच योनि है, ऐसे समस्त बासठ लाख तिर्यंच योनि है जो ताड़न मारन, छेदन, भेदन, खनन, तापन बधबंधन, भारारोपण, खान, पान, आदि बिरोध से महादु:खी है नारकी योनि चार लाख जो प्रगटरूप में महा दु:ख रूप ही है। देव योनि चार लाख जो नाम मात्र सुखाभास को ही सुख मानती है, वास्तव में वह भी दु:ख ही है। पराई सेवा अथवा पराया वैभव देखकर जलना आदि महान दु.ख देवो में हैं और चौदह लाख योनि मनुष्य हैं जिनमे कोई दरिद्रता से, कोई रोगो से, कोई सन्तान के न होने से, कोई स्त्री पुत्र आदि के वियोग से कोई शत्रुओ से अत्यन्त दु.खी है अर्थात् प्रत्येक जीव को कोई न कोई दु.ख लगा हुआ है। इसमे कोई भी सुखी नही है। इसप्रकार मनुष्य को इन चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करना पडता है अतः ससार को दु:खमय चितवन कर उसमें रुचि नही करना संसारानुप्रेक्षा है।

४ एकत्वानुप्रेक्षा :—

यह जीव अकेला स्वय ही जन्मता है और स्वय ही मरता है, अकेला ही नरक की वेदना सहता है, तिर्यंच व मनुष्य गति में नाना दु.ख है। अपना पुत्र, अपनी स्त्री कोई भी दु ख के साथी नही हो सकते अर्थात् दु ख नही बटा सकते और न कोई साथ ही आने-जाने वाले है। अपने शुभाशुभ बाधे हुए कर्मो का सुख दु.ख रूप फल स्वय ही भोगना पडता हे। दूसरा कोई साथी नही होता है। फिर किसके प्रेम मे फंसना ? स्वय आत्मकल्याण मे पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। इसप्रकार अपने को नि सहाय एकाकी चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा:—

जब अपनी आत्मा से शरीर ही भिन्न है तो कुटुम्बी, नातेदार, पुत्र, मित्र, घन, धान्य आदि अन्य सब पदार्थ तो प्रत्यक्ष रूप से भिन्न ही हैं जो क्षणभर में किंचित् वैमनस्यता होने पर अपने से बिगड़ जाते है फिर किससे स्नेह करना और वृथा किसके लिए पापोपार्जन करना ? जगत मे सब सबन्ध मतलब का है अत आत्महित करना ही श्रेष्ठ है ऐसा चितवन करते हुए इनसे सबध नही चाहना अन्यत्वअनुप्रेक्षा है।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा :—

यह शरीर अस्थि, मांस, मज्जा, रक्त, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ

है। चर्म की चादर से ढका हुआ सुन्दर दीखता है। जिस शरीर के नव द्वारों से चित्त को घृणाकारी मल-मूत्र आदि अशुचिता बहती है इससे अधिक अपवित्र कौन है। इससे प्रेम करना वृथा है। यदि यह पवित्र है तो आत्मा के सम्बन्ध से ही है। जीव के निकलते ही इसे स्पर्श करने पर स्नान करते हैं तो ऐसे मलिन से क्या प्रेम करना ? इस प्रकार शरीर के स्वरूप का चिंतवन कर राग भाव घटाना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

७. आस्त्रवानुप्रेक्षा :–

मिथ्यात्व अविरत, कषाय और मन वचन काय के योगो द्वारा कर्मों का आस्त्रव होता है और वह ही कर्म बध होकर आत्मा को ससार में परिभ्रमण का कारण होता है। अतएव आस्त्रव के निरोध के लिए उसके मुख्य कारण कषायो को रोकना आस्त्रवानुप्रेक्षा है।

८. सवरानुप्रेक्षा :—

कर्म वर्गणाओ के आगमन में निमित्त रूप मन, वचन, काय के योगो के तथा मिथ्यात्व और कषाय आदि के मद होने से कर्म आस्त्रव का घटना सवर है। सवर से आस्त्रव रुकता है और बध का अभाव होता है और बध के न होने से ससार का अभाव और जीव मुक्त हो जाता है। इस प्रकार संवर के स्वरूप का चितवन करना सवरानुप्रेक्षा है।

९. निर्जरानुप्रेक्षा :—

पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों के उदय के अनुसार इष्ट अनिष्ट सामग्री के समागम होने पर राग-द्वेष रहित साम्य भाव धारण करने से सत्ता मे स्थित कर्मों का स्थित अनुभाग न्यून होकर बिना फल दिये ही कर्म वर्गणाएँ कर्मत्व शक्तिरहित होकर समाप्त होती है। इस प्रकार सवरपूर्वक आत्मा के प्रदेशो से कर्मों का एकोदेश क्षय होना निर्जरा और समस्त कर्मों का अभाव मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार निर्जरा के स्वरूप का बारम्बार चितवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा :—

यह समस्त लोक अनन्तानन्त आकाश के बीचोबीच अनादि निधन तीन सौ तेंतालीस राजू प्रमाण धनाकार है। वास्तव मे तो लोक एकही है। परन्तु व्यवहार में उसके उर्ध्व लोक, मध्य लोक और पाताल लोक ऐसे तीन लोक है। यह लोक उत्तर से दक्षिण को सात राजू लम्बा है और चौदह राजू ऊचा है और पूर्व से पश्चिम को तल मे सात राजू चौड़ा है फिर ऊपर को त्रम से घटकर सात राजू की ऊचाई पर मध्य लोक में एक राजू चौड़ा है और फिर त्रम से बढकर साढेदस राजू की ऊचाई पर चौड़ाई पांच राजू है। फिर क्रम से घटकर अन्त में एक राजू चौडाई है। यह लोक चारो तरफ से (१) घनोदधि बातवलय (२) घन वातवलय (३) तनु वातवलय, इन तीन वातवलयो से घिरा हुआ

आकाश के प्रदेशों में निराधार है। उसमें भरे हुए अक्षमानन्त जीव अनादि काल से अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन को भूलकर इन्द्रिय जनित सुखों को प्राप्त करने के लिए यथार्थ स्वरूप जाने बिना अज्ञान वश मिथ्या मार्ग का सेवन कर नित्य असह्य दुःख सहते हुए चतुर्गति में भ्रमण कर रहे हैं। जीवो के अतिरिक्त पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच द्रव्य और भी इस लोक में स्थित है। इस प्रकार लोक के स्वरूप का चितवन करना लोकानुप्रेक्षा है।

(११) बोधिदुर्लभ भावना:—

साधारण स्थावर काय से प्रत्येक स्थावर काय होना दुर्लभ है फिर क्रमश उत्तरोत्तर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चौइन्द्रिय और असैनी पचेन्द्रिय पशु, भवनत्रिक देव, मलेच्छ शूद्र, स्वर्ग-वासी देव आर्य क्षेत्र में उत्तम कुलीन मनुष्य पर्याय का होना ऊच गोत्र, दीर्घायु समस्त इन्द्रियो की परिपूर्णता, आत्म ज्ञान होने योग्य क्षयोपशम, पवित्र जिनधर्म की प्राप्ति, साधर्मी का सत्सग और बोधि अर्थात् रत्नत्रय का प्राप्त होना अतिशय दुर्लभ है। इस दुर्लभता का बारम्बार चितवन करना बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है।

(१२) धर्मअनुप्रेक्षा:

निश्चय में धर्म वस्तु का स्वभाव है। व्यवहार में रत्नत्रय स्वरूप तीन प्रकार उत्तम क्षमा आदि दश लक्षण रूप दश प्रकार व अहिंसा लक्षण रूप ही धर्म है। आत्मा का शुद्ध निर्मल स्वभाव ही अपना धर्म है। इसकी प्राप्ति के बिना यह जीव अनादिकाल से संसार मे परिभ्रमण करता रहता है। वह धर्म ही ससारसागर से निकाल मोक्षस्थान में पहुंचाने वाला है इस प्रकार से धर्म स्वरूप का चितवन करना धर्म अनुप्रेक्षा है।

इति द्वादशानुप्रेक्षा।

अथ बाईस परीषह वर्णन—

असाता वेदनीय कर्म के निमित्त नाना प्रकार के कष्ट अर्थात् दुःख होने पर भी व्याकुल न होकर उस दुःख और क्लेश को पूर्वोपाजित कर्म का फल समझकर समताभाव से कर्मों की निर्जरा के लिए सहन करना परिषह है। परिषह बाईस प्रकार का है—

(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दशमशक (६), नग्नता, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और, (२२) अदर्शन।

इस प्रकार ये बाईस परीषह हैं।

(१) अनशन उनोदर आदि तप बहुत काल तक करने पर भी निर्दोष, शुद्ध, निरंतराय आहार मिले तो ग्रहण करना और नही मिले तो खेद खिन्न न होकर क्षुधा आदि वेदना को धैर्यपूर्वक सहन कर लेना क्षुधा परीषह विजय है।

(२) मुनि का भोजन दूसरे के आधीन है, इससे प्रकृति के विरुद्ध उष्ण प्रकृति वाले भोजन से अथवा ऋतु के ग्रीष्म आताप से तृषा सताए तो विकल चित्त न होकर शातिरूपी जल से शान्त कर देना वह तृषा परीषह जय है।

(३) ससारी जीव अतरग से विषय-वासना को और वाह्य लोक-लज्जा के वशीभूत होकर नग्न नही रह सकते हैं, नग्न होना बड़ा कठिन कार्य है परन्तु तपस्वी साधु वस्त्र रहित नग्न होकर भी माता की गोद के बालक के समान निर्विकार नग्न रूप से उत्पन्न हुई लोक-लाज को जीतकर निर्भय रहते हैं, निर्भय होकर रहना ही नग्न परीषह जय है।

(४) अनेक प्रकार के देश, काल आदि जनित कष्ट आने पर तथा अत्यन्त क्षुधा, तृषा आदि की बाधा होने पर भी व्याकुलता रहित, शातचित्त रहना वह अरति परिषह जय है।

(५) जिन स्त्रियों के हाव-भाव आदि से महान बडे-२ शूरवीरो का मन भी विकृत हो जाता है यह मुनि उसे जीतते है अतः यह स्त्री परिषह का जीतना है।

(६) चार हाथ प्रमाण भूमि को भली प्रकार से देखकर नगे पाँव मार्ग में गमन करते हुए सूखे तृण, कटक पैरो मे लगने पर भी अथवा छेदने पर प्रथम ग्रहस्थ अवस्था मे भोगे हुए वादन उपवादनो को स्मरण न करना, व्याकुल तथा खेद खिन्न न होना वह चर्या परीषह जय है।

(७) पर्वत की गुफा, शिला तथा वृक्षो के कोटरों में ध्यान करने के निमित्त सकल्प किए हुए आसन से उपसर्ग के कारण आने पर भी तथा मनुष्य चोर, सिह, बाघ, बैरीकृत आक्रमण आदि की व धूप, शीत आदि की बाधा से आसन से न हटना, कायरता तथा व्याकुलता रहित निर्भय स्थिर रहना वह निषद्यापरीषह जय है।

(८) डांस, मक्षिका, मच्छर, बिच्छू आदि तथा जगली जन्तु पक्षी जनित काटने, मारने की पीड़ा को ध्यान मे मग्न रहते हुए शातिपूर्वक खेदरहित सहन करना वह दशमशक परीषहजय है।

(९) पिछली रात्रि में कोमल या कठोर ककंरीली भूमि पर अथवा शिला पर खेद न मानते हुए एक आसन से अल्प निद्रा लेना और पूर्वकाल में कोमल शय्या पर शयन करते थे और महल में सुरक्षित रहते थे ऐसा न सोचना वह शय्या परीषह जय है।

—: दन्समशक परीषह :—

दन्स मसक माखी तन काटैं,
पीडैं बन पखी बहुतरे।
डसैं व्याल विषहारे बिच्छू,
लगे खजूरे आन घनेरे।।
सिंह स्याल सुडाल सतावैं,
रीछ रोझ दुख देंय घनेरे।
ऐसे कष्ट सहे समभावन,
ते मुनिराज हरो अघ मेरे।।

(१०) ग्रीष्म काल में सूर्य के आताप से तपते हुए पर्वतों पर आतापन योग धारण कर गर्मी की बाधा को समभावों से सहन करना वह उष्ण परीषहजय है।

(११) शीतकाल में जलाशयों के निकट ध्यान स्थित होते हुए शीतल पवन वा पाले की असह्य घोर बाधा समभावों से खेद रहित सहन करना शीत परीषहजय है।

(१२) सर्व प्राणियो के हितकारक साधुओ को कोई दुष्ट, अनिष्ट, दुर्वचन चोर, ठग, पाखंडी, लज्जा रहित, मुर्ख बताए तो उसको सुनकर क्षमा तथा शांति ग्रहण करना वह आक्रोश परीषहजय है।

(१३) जहाँ कोई निरपराध ही अपने दुष्ट स्वभाव से मारने लग जाए वा बाध दे तो उस पर रोष नही करना और शातिपूर्वक खेदरहित सहन करना वह बध परीषह का जीतना है।

(१४) चिरकाल पर्यंत घोर तप करते समस्त शरीर शुष्क हो जाने पर निर्दोष, शुद्ध, निरन्तराय, आहार आदि की प्राप्ति न होने पर भी लाभ के समान संतुष्ट रहना अर्थात् भोजन, पान औषध आदि की किसी से इच्छा प्रगट न करना याचना परीषह जय है।

(१५) साधु शास्त्रोक्त नियत समय पर आहार के निमित्त दातार के घर जाकर याचना न करे, नवधा भक्ति सहित निरतराय शुद्ध भोजन मिले तो लेवे नही तो महीनो का अंतर पडने पर भी तप से शिथिल, कायर न होकर उससे पूर्वसचित कर्मों की निर्जरा जान कर साम्यभाव धारण कर खेदयुक्त न होना वह अलाभ परीषह का जीतना है।

(१६) वात, पित्त, कफ आदि की न्यूनाधिकता से उत्पन्न हुई पीड़ा की चिकित्सा की वाछा नहीं करना, रोग जनित पीडा को खेदरहित सह लेना वह रोग परीषह जय है।

(१७) मार्ग मे गमन करते समय तृण, कटक, कंकरो के चुनने पर भी उससे उत्पन्न वेदना को साम्यभाव से सह लेना तथा पाँव में अथवा अन्य अगो मे कांटा फास आदि के लगने पर अपने हाथ से न निकाला और न निकलवाने की इच्छा करना और यदि कोई स्वत· निकाल दे तो उसमें हर्ष नही मानना वह तृण स्पर्श परीषह जीतना है।

(१८) यावज्जीवन स्नान का त्याग करने पर अपने शरीर पर पसेव से भीगे अंगों पर धूल पड़ने से उत्पन्न हुआ ग्लानि का कारण मल को देखकर उसके दूर करने निमित्त स्नान आदि की इच्छा न करना और न ही उसके कारण चित्त में खेद करना वह मल परीषह जीतना है।

(१९) स्वय अत्यन्त और वृद्ध होने से सत्कार के योग्य होते हुए भी कोई आदर, सत्कार, प्रणाम आदि न करे तो चित्त में खेद न करना और मानापमान में समभाव रखना सत्कार पुरस्कार परीषह का जीतना है।

(२०) तर्क, छन्द, कोष, व्याकरण आदि का विशेष ज्ञान होते हुए भी विद्वत्ता का अभिमान न करना प्रज्ञा परीषह जय है।

(२१) घोर तपश्चरण आदि करने पर भी अवधि मनः पर्यय केवल ज्ञान की स्वयं को प्राप्ति नही होती तथा अन्य को अल्पकाल और थोड़े तपश्चरण आदि से ज्ञान की प्राप्ति देखकर खेद खिन्न न होना और तप से शिथिल न होना अज्ञान परीषह जय है।

(२२) बहुत काल पर्यन्त घोर तप करते हुए भी ऋद्धि प्राप्त न हो तो चित्त में ऐसा विकल्प न करना कि शास्त्र मे ऐसा सुना है कि तप के बल से अनेक प्रकार की ऋद्धि प्राप्त होती है। परन्तु मुझे बहुत काल से कठिन-कठिन तप करते हुए भी किसी प्रकार की ऋद्धि प्राप्त नही हुई। कदाचित् यह शास्त्रोक्त वार्त्ता असत्य तो नही है इस प्रकार सदेह न करना अदर्शन परीषह जय है।

इन बाईस परीषह जनित पीड़ा को समभावो से सहन करना भी परम सवर का कारण है। ये सब परीषह किन-२ कर्म कृत कितनी और किन-२ गुणास्थानो में कितनी-२ होती हैं उनका वर्णन करते है :—

इनमें से ज्ञानावरण के उदय से प्रज्ञा, अज्ञान दो और दर्शन मोह के उदय से अदर्शन होती हैं। नग्न, निवद्या, स्त्री, सत्कार, पुरुस्कार, दुर्ववचन याचना, अरति-चारित्र, मोह के उदय से होती है। अलाभ अन्तराय के उदय से होती है और क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण दशमशक, चर्या शय्या, वधवधन, रोग, तृण स्पर्श, मल वेदनीय के उदय से होती है। नवमे गुण स्थान तक बाईस परीषह होती है। परन्तु एक जीव के साथ उन्नीस परीषह तक हो सकती है, क्योंकि शीत उष्ण में से एक काल में एक ही होगी और चर्या शय्या, निषद्या इन तीनो में से एक काल में एक ही होगी। इस प्रकार उन्नीस परिषह ही एक साथ उदय हो सकते है दसवें, ग्यारहवे और बारहवे गुण स्थानो मे ज्ञानावरण, अन्तराय वेदनीय के उदय से जनित चौदह परीषह होती है यथा प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, चर्या, शय्या, बध, रोग, तृण स्पर्श और मल होती है। बारहवे गुणस्थान के अन्त मे शेष तीन घातिया कर्मों का नाश करके सयोग केवली नामक तेरहवे गुण स्थान को प्राप्त होकर ससार के समस्त त्रिकालवर्ती चराचर पदार्थों को युगपत हस्तमलवत् प्रत्यक्ष जानते है। इस गुण स्थान मे चारो घातियाकर्मों के अभाव से केवल वेदनीय कर्म जनित ग्यारह परीषह होती है। परन्तु मोहनीय कर्म के अभाव होने से वेदनीय कर्म का उदय; अग्नि मे जली हुई रस्सी के बल के समान नाम मात्र रहता है परन्तु जोर नही कर सकता है अर्थात यह ग्यारह परीषह केवली भगवान को किसी प्रकार की बाधा नही पहुँचा सकती है इसलिए यह न होने जैसी है।

"आतापन योग"
तपैं पहाड़ ताप तन उपजाति, कांपे पित्त दाह
इत्यादिक गर्मी की बाधा सहैं साधु धीरज नहिं त्यागै ॥
वर्षा योग

पाँच प्रकार का चारित्र धर्म—

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, और यथाख्यात—इस प्रकार पांच प्रकार का चरित्र है। व्रत धारण करना, पच समिति पालन, कषायो का निग्रह, मन, वच, काय, की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग और इन्द्रियों की विजय जिस जीव के हो उसे सयम गुण प्रगट होता है।

सामायिक चारित्र—

सम्पूर्ण सावद्य योगों का भेद रहित त्याग करना सामायिक चारित्र है।

छेदोपस्थापना चारित्र—

प्रमादवश सावद्य कर्म हो जाने से तज्जनित दोष की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित लेकर छेद देना और पुन: आत्मा को व्रत धारणादि सयम रूप क्रिया में प्रवर्तावने को छेदो-पस्थापना चारित्र कहते है।

परिहार विशुद्धि चारित्र—

जीवो की पीडा का परिहार करने से प्रादुर्भूत आत्मा की शुद्धि विशेष को परिहार विशुद्धि चारित्र कहते है।

सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र—

उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी वाले जीव के अति सूक्ष्म कषाय के उदय से सूक्ष्म सापराय नामक दसवे गुणस्थान मे जो चारित्र होता है उसे सूक्ष्म सांपराय चारित्र कहते है।

यथाख्यात चारित्र—

कषायो के सर्वथा अभाव होने से उत्पन्न हुई शुद्धि विशेष को यथाख्यात चारित्र कहते है।

सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र प्रमत्त विरत सज्ञक छठे गुणस्थान से अनिवृतिकरण नामक नवमें गुणस्थान तक होते हैं। परिहार विशुद्धि चारित्र प्रमत्त और अप्रमत्त सज्ञक छठे, सातवे गुणस्थान में होते है। सूक्ष्म सापराय चारित्र सूक्ष्म सांपराय सज्ञक दसवे गुण स्थान मे होता है और यथाख्यात चारित्र उपशात कषाय नामक ग्यारहवे गुणस्थान में से अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान तक होता है। इसमें विशेषता ये है कि ग्यारहवे चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से और ऊपर के तीन गुणस्थानों मे क्षय से यह सयम होता है। इस प्रकार सँवर के होने के मुख्य छः कारणों का वर्णन किया गया हैं।

निर्जरा तत्व का वर्णन—

आत्मा के प्रदेशो से कर्मों का एकोदेश क्षय हो जाना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है।

निर्जरा के दो भेद—

सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा।

सविपाक निर्जरा—

सत्ता स्थित कर्मों का उदय मे आकर एकोदेश क्षय हो जाना सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा सम्पूर्ण ससारी जीवो के अपने आप सदाकाल होती रहती है। यह मोक्ष मे कार्यकारी नही होती क्योकि जैसे-जैसे क्रम पूर्वक पूर्व सचित कर्म वर्गणा उदय काल आने पर अपना फल देकर निर्जरती है, उसी प्रकार नवीन-नवीन कर्म वर्गणाओं का आगमन होकर फिर नूतन कर्म वध होता है। अतः ससार का ही कारण है। जैसे वृक्ष के पके हुए फल भोगने पर वीर्य उपजन शक्ति से नवीन वृक्ष उगाए जाने पर फल देते है। यह परिपाटी क्रमशः चलती रहती है।

अविपाक निर्जरा—

कर्मों का उदय काल के आए बिना ही, बिना फल दिये ही, आत्मा के प्रदेशो से एकोदेश क्षय हो जाना अविपाक निर्जरा है। यह मोक्ष के लिए कारण है क्योकि इसमे नवीन कर्मों का बध नही होता जैसे वृक्ष के ऐसे कच्चे फल जिनमे बीज उगने योग्य न हुए हो और पकने योग्य न हुए हो और कच्चे ही तोडकर भोगे जाए तो आगे के लिए बीज नष्ट हो जाता है जिससे पुन वृक्षोत्पत्ति नष्ट हो जाती है और वृक्ष को मूल से खोद कर भस्मीभूत करे तो वृक्ष और बीज दोनों का अभाव हो जाए, उसी प्रकार घोर परीषह, जीव, तप करके कर्मों को वलात्कार उदय में लाए तो वीर्य नष्ट हो जाता है। वे फिर शुक्ल ध्यान रूपी पावक से मोहनीय आदि कर्म वृक्षो को समूल नष्ट करे तो मोक्ष प्राप्त होता है।

अब अविपाक निर्जरा के कारण बारह प्रकार के तप का वर्णन किया जाता है। यद्यपि तप दस प्रकार के धर्मों के अन्तर्गत है परन्तु सवर पूर्वक निर्जरा का प्रधान कारण होने से इनको भिन्न कहा गया है। सासारिक विषयो की इच्छा रहित होकर आत्मा को तपाना अर्थात् कर्म मल रहित निर्मल करना तप है। अन्तरग और बाह्य के भेद से तप दो प्रकार का है।

बाह्य तप के भेद—

अनशन, अवमौदर्य, व्रत परिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, और काम क्लेश छः प्रकार के बाह्य तप है।

अनशन तप—

ख्याति लाभ की इच्छारहित सयम सिद्धि राग के अभाव, कर्मो के नाश तथा ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि के अर्थ प्रमाद अभाव के लिए एक दिन की मर्यादा रूप चार प्रकार के भोजन का त्याग करना अनशन तप है।

अवमौदर्य तप—

मिष्ट भोजन के लोभ रहित निद्रा के अभाव तथा सयम की सिद्धि के अर्थ व ध्यान की निश्चलतादि के लिए अल्प भोजन करना अवमौदर्य तप है।

व्रत परिसख्यान तप—

आहार लेने को अटपटी प्रतिज्ञा करके चित्त के संकल्प को रोकना-जैसे आज वन में मिलेगा तो लेवेंगे या दो तीन घर से अधिक में न जावेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करके आहार के लिए गमन करना और सकल्प के अनुसार भोजन प्राप्त न होने पर वापिस वन में आकर उपवास धारण कर लेना व्रत परिसख्यान तप है।

रस परित्याग तप—

सयम की सिद्धि और लोलुपता के त्याग के निमित्त घृत, तैल आदि षट् रसों में से एक दो आदि का त्याग करना रस परित्याग तप है।

विविक्तशय्यासन तप—

जीवो की रक्षार्थ प्रासुक क्षेत्र में पर्वत, गुफा, मठ, वन खड आदि एकान्त स्थान में ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान की निश्चलता के लिए शयन व आसन करना विविक्तशय्यासन तप है।

कायक्लेश तप—

शरीर के सुखिया स्वभाव को मिटाने के जिए, कष्ट सहन करने के अभ्यास के लिए साम्यभावपूर्वक, शक्ति के अनुसार ग्रीष्म मे पर्वत पर, वर्षा में वृक्ष के नीचे, शीतकाल में जलाशय के तट पर ध्यान धरना व कठिन-कठिन आसन लगाना कायक्लेश तप है।

यह छः प्रकार का बाह्य तप है, जो प्रगट रूप में देखने में आता है। अब अभ्यतर तपो का वर्णन किया जाता है।

अभ्यन्तर तप के भेद—

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान अभ्यन्तर तप के छः भेद है।

प्रायश्चित तप—

अपने तप, व्रत में लगे हुए दोषो को उनके शुद्ध होने के निमित्त गुरु से स्पष्ट प्रगट कर देना कि मुझको यह दोष लगा है, आलोचना है। दोष दूर होने के लिए प्रार्थना करना अथवा मैंने जो अपराध किए हैं सो निष्फल हो—इस प्रकार कहना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रायश्चित प्रतिक्रमण दोनो का एक साथ करना तदुभय प्रायश्चित तप है।

जिस वस्तु के ग्रहण करने से व जिन कार्य के करने से दोष लगा हो उसका त्याग करा देना विवेक प्रायश्चित तप है।

नियमित समय तक कायोत्सर्ग दड लेना व्युत्सर्ग प्रायश्चित तप है।

अनशन आदि तप करना तप प्रायश्चित है।

दिवस, पक्ष, मासादिक की दीक्षा का घटाना छेदप्रायश्चित है।

नियत समत के लिए सघ से बाहर कर देना परिहार प्रायश्चित तप है।

पिछली समस्त दीक्षा को छेदकर फिर से नवीन दीक्षा देना छेदोपस्थापना प्रायश्चित है।

इस प्रकार प्रायश्चित तप नौ प्रकार का है।

विनय तप—

शकादि दोष रहित तत्वार्थ श्रद्धान करना दर्शन विनय है।

सशय, विपर्यय, अनध्वसायरहित अष्टाग रूप ज्ञानाभ्यास करना ज्ञान विनय है।

विवेक सहित निरतिचार क्रिया धारण करना चारित्र विनय है।

देव, शास्त्र,गुरु तथा तीर्थ आदि का हृदय मे वदना रूप आचरण करना उपचार विनय है।

वैयावृत्य तप—

यह चार प्रकार का विनय तप है। जो शिक्षा, दीक्षा दे वह आचार्य है। जिनागम अध्ययन, अध्यापन कराय वह उपध्याय है। उपवासायिक विशेष तप करे वह तपस्वी है। जो श्रुतज्ञान के अध्ययन करने के अधिकारी हो वह शिष्य है। जिनका शरीर रोगादि से पीडित हो वह ग्लान है। वृद्ध मुनियो का समूह गण है। दीक्षा लेने वाले एक आचार्य के शिष्य कुल है। ऋषि (ऋद्धिधारी), मुनि (अवधि, मन पर्ययज्ञानी), यति (तेरह प्रकार चरित्र पालने मे यत्न करने वाले तथा श्रेणी मांडने वाले), अनागार (शेष सर्व निर्ग्रन्थ साधु) इन चार प्रकार के मुनियो का समूह सघ है। जो बहुत काल के दीक्षित हो उन्हे साधु कहते

हैं। जो लोकमान्य प्रशंसनीय हों वह मोज्ञ हैं।

इन सबका शरीर सम्बन्धी व्याधि तथा दुष्टजनों द्वारा कृत उपसर्गादिक में सेवा टहल करना वैयावृत्य तप है।

स्वाध्याय तप—

विनयवान धर्म के इच्छुक पात्रो को धर्म श्रवण कराना वाचना स्वाध्याय है।

जाने हुए अर्थ को बारम्बार विचारना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

शुद्ध उच्चारण से घोषना आम्नाय स्वाध्याय है।

संशय की निवृत्ति के लिए बहुज्ञानियों से पूछना पृच्छनास्वाध्याय है।

उन्मार्ग को दूर करना और धर्म वृद्धि के लिए उपदेश देना धर्मोपदेश स्वाध्याय है।

इस प्रकार यह पाच प्रकार का स्वाध्याय तप है।

व्युत्सर्ग तप—

धनधान्यादि बाह्य परिग्रह और राग द्वेष मोह आदि अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान तप—

चित्त की वृत्ति को अन्य सब क्रियाओ से खीचकर एक ज्ञेय की तरफ स्थिर करना एकाग्रचिन्तानिरोध वा ध्यान तप है। यह ध्यान उत्तम सहनन वालो के अर्थात् छह सहननों मे से पहले वा वज्र वृषभ नाराच सहनन, वज्रनाराच सहनन और नाराच सहनन के धारक पुरुषो के अतिरिक्त अधिक से अधिक अन्तमुहुर्त पर्यन्त रहता है। फिर दूसरे ज्ञेय पर चला जाता है। यही तीन सहनन ध्यान के कारण है। ये ध्यान आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल के भेद से चार प्रकार का है। इनमे से आर्त, रौद्र ये दो अप्रशस्त, धर्म और शुक्ल ध्यान प्रशस्त है। अब आर्त्तध्यान का लक्षण वर्णन किया जाता है—

जिससे परिणाम दुखरूप हो वह आर्तध्यान है। इसके चार भेद हैं। इष्ट, प्रिय, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी, मित्रादि, चेतन, अचेतन पदार्थों के वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए बारम्बार चिन्तवन करना, चिन्तातुर होना इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

अनिष्ट दुखदाई स्त्री पुत्रादि तथा पशु व खोटे पदार्थ का संयोग होने पर कलुषित परिणाम होना अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान है।

रोगजनित पीडा होने पर अधीर होकर सक्लेशस्वरूप परिणाम होना वेदनाजनित आर्तध्यान है और आगामी काल में भोगोपभोगादि की प्राप्ति के लिए निदान करना और

सदैव इसकी बाधा रूप परिणाम रखना निदानबंध आर्तध्यान है। ये ध्यान मुख्यतया तिर्यंच गति का कारण है। परन्तु सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव होने के पश्चात् (थावर विकलत्रय पशुमेंनहि उपजत सम्यकधारी) इस वाक्य के अनुसार तिर्यंच गति का कारण नही होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान आदि से लेकर पाचवे देशविरत सज्ञकगुणस्थान तक चारो और छठे प्रमत्तसयत नामक गुणस्थान में निदान बधरहित शेष तीन आर्तध्यान होते है। ये ससार की परिपाटी से उत्पन्न भावभ्रमण के कारण स्वत:स्वभाव बिना प्रयत्न होते है। वह त्यागनें योग्य है।

निर्दय भावों का होना रौद्र ध्यान है। यह चार प्रकार का होता है। अपने मन वचन, काय से जीवो की हिसा करने, कराने तथा की हुई में हर्ष मानना हिसानन्द रौद्र, ध्यान है। मिथ्या भाषण करना, कराना व करे हुए मे हर्ष मानना मृषानन्द रौद्र ध्यान है। चोरी करना व की हुई मे आनन्द मानना चौर्यानन्द है। ससारिक सामग्री का बहुत संग्रह करना, कराना व की हुई देखकर हर्ष मानना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है। यह चार प्रकार का रौद्र ध्यान नरक गति का कारण है। परन्तु सम्यक्त्व का सद्भाव होने से (प्रथम नरक बिन षट् भू ज्योतिषवानभवन षड् नारी, थावर विकलत्रय पशु मे नहि उपजत समकितधारी) इस वाक्य के अनुसार मन्द होने से नरक गति के कारण नही होते है। (प्रथम नरक बिन षड् भू) इस पद का अभिप्राय यह है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले जिसने नरक आयु का बन्ध कर लिया हो वह रत्नप्रभ भूमि अर्थात् पहले नरक मे ही जीव जघन्य वा मध्यम स्थिति पर्यन्त ही दुखो को अनुभव करता है उसे वहाँ बहुत दिवस पर्यन्त दुःख सहन नही करने पड़ते यह सम्यक्त्व की महिमा है। यह पचम गुण स्थान तक बिना प्रयत्न स्वत. होते हैं, इसलिए त्यागने योग्य है।

धर्म ध्यान—

आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और सस्थान विचय, यह धर्मध्यान के चार प्रकार हैं। विशेष ज्ञानी उपदेशवक्ता के अभाव से और अपनी बुद्धि की मन्दता से पदार्थ के सूक्ष्म स्वरूप को न जान सके तो ऐसे स्थल पर अरहत शास्त्र रूप भगवान की आज्ञा को प्रमाण मानकर तद्रूप चिन्तवन करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है।

निरन्तर कर्म शत्रुओ के दूर करने और मोक्ष के कारण आस्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष तथा जप, तप, शील, सयम, नियम, व्रतादिक का चिन्तवन करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से जो विपाक अर्थात् फल है उससे जो आत्मा की नाना प्रकार की सुखदुखादि रूप अवस्था होती है उसका निजस्वरूप से भिन्न उपाधिक कर्मजनित विचारते रहना विपाक विचय धर्मध्यान है।

अकृत्रिम लोक और उसके अधः उर्ध्व मध्य विभागों का तथा उसमें स्थित पदार्थों का और पचपरमेष्ठी व निजात्मस्वरूप का चिंतवन करना सस्था विचय धर्मध्यान है। यह ध्यान शुभ और सुगति का कारण चौथे असंयत गुणस्थान से सातवें अप्रमतसयत गुणस्थान तक होता है। इस सस्थान विचय धर्मध्यान के पिंडस्थ,---पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत, चार भेद हैं।

लोक का आकार विचारकर दृष्टि सकोच जम्बूद्वीप का विचार करना, फिर क्रम से भरतक्षेत्र, आर्यखण्ड, फिर निज देश, नगर:गृह, कोठा, फिर अपने पिड का ध्यान कर विचारना पिंडस्थ ध्यान है।

पंचपरमेष्ठी के वाचक पैतीस अक्षरो का, सोलह अक्षरो का, छः अक्षरो का, पाँच अक्षरों का, चार अक्षरो का, दो अक्षरो का, एक अक्षर का, णमो अरिहताण। णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण। णमो उवज्झायाण। णमो लोए सव्वसाहूण (३५) अरहंत सिद्ध अइरिया, उवझाया। साहु (१६)। अरहत सिद्ध अथवा अरहतसिद्धा (६)असि आ उ सा (५),अरहत (४) सिद्ध (२), ॐ (१), तथा गुरु आज्ञानुसार अन्य पदों का आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाए उसको पदस्थ ध्यान कहते हैं।

समवशरण मे चार घातिया कर्म रहित, अनन्त चतुष्टय सयुक्त, सप्तधातु रहित, परमौदारिक शरीर मे स्थित और अष्टादश दोष रहित, गधकुटी में स्फटिकमयी सिहासन के मध्य, अत्यन्त कोमल पवित्र, अनुपम, सहस्त्र दल वाले रक्त कमल की कर्णिका के मध्य में चार अगुल अतरीक्ष शातस्वरूप श्रीजिनेन्द्र भगवान स्थित है। अपने मन मे ऐसा अरहत भगवान का स्वरुप क्रमश मुक्त होने तक विचारना रूपस्थ ध्यान है।

अष्टकर्म और औदारिकादि शरीर रहित अन्तिम शरीर से किंचित न्यून पुरुष के आकार मात्र का धारक लोकाग्र भाग में स्थित अनन्तगुणो के भण्डार से सिद्ध परमात्मा का जो ध्यान है वह रूपातीत ध्यान है।

शुक्लध्यान वर्णन—

यह ध्यान अतीद्रिय कर्त्ता, कर्म, क्रिया तथा ध्यान ध्याता ध्येय के विकल्प रहित होता है। इसमें चित्तवृत्ति स्वस्वरूपाभिमुख होती है। इसके चार भेद है। पृथक वितर्क विचार, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपात्ति, और व्युपरत्त क्रिया निवर्ति! इनमे प्रथम पाया पृथक वितर्क विचार तीनो शुभ सहननो मे और शेष तीन पाए वज्र, वृषम, नाराच सहनन में ही होते है। आदि के दो भेद अंग पूर्व के पाठीश्रुत केवली के होते हैं। आगे के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रिया निवर्ति ये दो शुक्ल ध्यान सयोग केवली और अयोग केवली के होते हैं। ये चारों शद्धोपयोग रूप ध्यान है।

वितर्क विचार तो सत, मन, वचन, काय तीनों योगो में बदलने वाला प्रथम शुक्ल ध्यान है यह श्रुत केवली के होता है। पृथक-२ ध्येय भी वितर्क के आश्रय से बदलते रहते हैं। इसके फल से मोहनीय कर्म शांत होकर एकत्व वितर्क ध्यान की योग्यता होती है। यह अपूर्व करण संज्ञक अष्टम् गुणस्थान से उप-शांत नामक एकादश गुणस्थान तक होता है। इसे प्रथक वितर्क विचार शुक्ल ध्यान कहते है।

घातिया कर्मों के अभाव से श्रुत केवली के अर्थात् विचार रहित मणि दीपकवत् अडोल जो ध्यान होता है उसे एकत्व वितर्क विचार कहते है। तीनो योगो में से किसी योग द्वारा यह क्षीण मोहसंज्ञक बारहवे गुणस्थान के अन्त मे होता है।

जो केवली मन, वचन योग और बादरकाय योग का निरोध होने पर एक सूक्ष्म काय योग में तेरहवे गुणस्थान के अन्त में होता है। उसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति कहते हैं।

जो केवली के मन, वचन, काय तीनो योगो के निरोध हुए योगों के अभाव की अपेक्षा आयोग गुणस्थान मे कहा गया है। उसे व्युपरत क्रिया निर्वति कहते है। ऐसे बारह प्रकार संवर पूर्वक निर्जरा के कारण बाह्याभ्यन्तर तपो का वर्णन समाप्त होता है।

मोक्ष तत्व का वर्णन—

सब कर्मों का अत्यन्त अभाव होने से आत्मा के निजस्वभाव का प्रगट हो जाना मोक्ष है। जिसमें से चार घातिया कर्म तो बारहवे गुणस्थान के अन्त मे दूसरे शुक्लध्यान द्वारा नाश करके अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र ये आत्मा के छहो गुणो को निर्विकार प्रगट कर सयोग केवली नामक तेरहवे गुणस्थान को प्राप्त होकर भव्य जीवो को मोक्ष मार्ग दिखलाते है। तब यह समस्त प्राणियो से पूज्य होने की अपेक्षा अर्हत् तथा शरीर सहित होने की अपेक्षा सकल परमात्मा और अल्पकाल के पीछे नियम से मोक्ष जायेंगे तथा आयु कर्म के उदय से वर्तमान काल मे जीवित है, इसलिए जीवन्मुक्त कहलाते है। इसके पश्चात् अपने गुणस्थान के अन्त मे योग निरोध कर अयोग केवली नामक चौदहवे गुणस्थान को प्राप्त होकर चतुर्थ शुक्लध्यान की पूर्णता से आत्मा चारों अघातिया कर्मों का अभाव कर अपने उर्ध्व गमन स्वभाव से जिस स्थान से कर्मों से मुक्त होता है, उस स्थान से सीधा पवन झकोरो से रहित अग्निशिखावत् उर्ध्वगमन कर एक ही समय में लोक के अग्र भाग में स्थित होकर (पहुँचकर) निकल परमात्मा हो जाता है। यह मुक्त आत्मा आगे अलोकाकाश में धर्म द्रव्य का अभाव होने से लोकाकाश से आगे नही जा सकता इस कारण समस्त मुक्त जीव लोक के शिखर पर विराजमान रहते है। आकार इस शुद्धात्मा का जिस शरीर से मुक्ति को प्राप्य हो जाता है, उस शरीर से कुछ कम, पुरुषाकार रहता है। इस निष्कर्म आत्मा के ज्ञानवरण कर्म के अभाव से अनन्त ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के

अभाव से अनन्तदर्शन, अन्तराय के अभाव से अनन्त वीर्य, दर्शन मोहनीय के अभाव से शुद्ध सम्यक्त्व, चारित्र मोहनीय के अभाव से शुद्ध चारित्र और समस्त घातिया कर्मों के अभाव से अनन्त सुख; इस प्रकार घातिया कर्म के अभाव से आत्मा के छह गुण प्रकट होते है। तथा वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाध, गोत्रकर्म के अभाव से ऊँचनीच अर्थात् अगुरुलघुत्व, नामकर्म के अभाव से अमूर्तित्व अर्थात् सूक्ष्मत्व, आयुकर्म के अभाव से अवगाहनत्व गुण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार मुक्त जीव अष्ट कर्म के अभाव से आत्मीक सम्यक्त्वादि अष्टगुण मंडित हैं। परन्तु निश्चय नय से एक शुद्ध चैतन्य रस का पिंड है। यही ससारी जीव पुरुषार्थ करके इस प्रकार परमात्मा परमैश्वर्य पद को प्राप्त कर मोक्ष धाम मे अविनाशी अनन्त सुख को भोगता हुआ नित्यानन्द सागर में मग्न रहता है और ससार के आवागमन से छूट जाता है। इस आनन्दमय सिद्ध अवस्था को पाने का कारण निश्चय और व्यवहार ऐसे दो भेदरूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र की एकता है। ऐसा जान अनादि काल से सेवन किए हुए विषय कषायो को छोडकर आलस्य दूर कर, साहस करके अपने (सिद्ध) पद की प्राप्ति के लिए भव्य जीवो को इन सात तत्वो का स्वरूप जानकर उन पर दृढ विश्वास करना ही सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व या श्रद्धान कहलाता है। यह श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व का कारण है। इसीलिए व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है। इस सम्यक्त्व को आठ अगसहित और पच्चीस दोष शकाकाक्षा आदि आठ दोष, आठ मद षट् अनायतन और तीन मूढ़ता) रहित निर्मल धारण करना चाहिए।

सम्यक्त्व के आठ अंग नाम—

सम्यक्त्व के नि शकित, निःकाक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये आठ अंग है।

सम्यक्त्व के आठ अगो का स्वरूप—

निश्शकित अग—

शका नाम सशय तथा भय का है। श्री अरहत भगवान कथित परमागम में जो लोकालोक का विवरण तथा पदार्थों का जो स्वरूप वर्णन किया है वह सत्य है या नही अथवा राम रावणादि पूर्वज मनुष्यो का वृतान्त तथा दूरवर्ती मेरु पर्वतादि का कहा है वह सत्य है या असत्य है ऐसा शंकारहित, जिनशासन में खड्ग की धार के समान अचल श्रद्धान करना निश्शंकित अग है।

अब उदाहरणार्थ सम्यग्दर्शन के प्रथम निःशकित अग में प्रसिद्ध होने वाले अजन चोर की कथा लिखते हैं। इस भरत क्षेत्र में मगध देश के मध्य नाना प्रकार की शोभा सहित राजग्रह सज्ञक नगर में उत्कृष्ट धर्माचरण करने वाला, जिनेन्द्र भगवान के चरण सरोज का भ्रमरवत् लोलुपी, श्रावकाचार, मंडित, साधु, मुनि आदि गुणीजनो को चारित्र की वृद्धि के

अर्थ निर्दोष, निर्मल, शुद्ध यथायोग्य समयानुसार चार प्रकार के दान को भक्तिपूर्वक सहर्ष देने वाला तथा दीन-दुखी दरिद्रियो को करुणा पूर्वक दान देने वाला दानी, विचारवान दान, पूजा व्रत उपवासादिक तथा ध्यान स्वाध्यायादि धर्मध्यान में मग्न रहनेवाला एक जिनदत्त नामक सेठ रहता था। सांसारिक विषय भोगों से परान्मुख विरक्त रहनेवाले जिनदत्त सेठ एक दिन चतुर्दशी की अर्द्धरात्रि के समय श्मशानभूमि में कायोत्सर्ग स्थित ध्यान कर रहे थे। उसी समय अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नामक दो देव वहा आये। इनमे से अमितप्रभ जैनधर्म विश्वासी और विद्युत्प्रभअन्य मत विश्वासी था। वे दोनों अपने २ स्थान से एक दूसरे के धर्म की परीक्षा निमित्त निकले। वहां पर उन्होंने प्रथम ही एक पचाग्नि तप करने वाले तापस की परीक्षा की। वह उपसर्ग को न सहनकर अपने ध्यान से तत्काल ही विचलित हो गया। इसके पश्चात् श्मशानभूमि में जिनदत्त सेठ को कायोत्सर्ग स्थित ध्यान करते हुये देखकर अमितप्रभ जैनधर्म का श्रद्धानी देव विद्युत्प्रभ से कहने लगा कि हे मित्र! उत्कृष्ट चारित्र के पालन करनेवाले मोक्ष साधन में तत्पर निर्ग्रन्थ मुद्राधारी जिनधर्म के सच्चे साधुओ की परीक्षा की बात तो अब जाने दो। परन्तु देखो वह गृहस्थ जिसे तुम कायोत्सर्ग ध्यान करते हुये प्रत्यक्ष अवलोकन करते हो। यदि तुम अपने मे कुछ पराक्रम रखते हो तो तुम उसी को ध्यान करते हुये ध्यान से चलायमान कर दो। यदि तुम इसे ध्यान से चलायमान कर दोगे तो हम तुम्हारे कथन को ही निष्पक्ष होकर सत्य स्वीकार कर लेंगे। अमितप्रभ के उत्तेजना युक्त बचन को सुनकर विद्युत्प्रभ ने जिनदत्त पर अत्यन्त दुस्सह और भयकर उपद्रव किया। परन्तु जिनदत्त उसकी की हुई बाधा से रच मात्र भी विचलित न होकर—प्रलयकाल के पवन से अविचलित मेरु पर्वत के समान ज्यों के त्यो स्थित रहे। जब प्रात:काल हुआ तब दोनो अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ देवो ने विक्रिया कृत वेष को छोड़कर अपना असली वेष धारण कर महान् भक्तिपूर्वक विनय सहित भले प्रकार आदर-सत्कार किया और उनकी बहुत प्रशसा कर सतुष्ट चित्त हो जिनदत्त को आकाशगामिनी विद्या प्रदान कर कहा कि हे श्रावकोत्तम! तुमको आज से आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई। तुम पच नमस्कार मत्र की साधना विधि के साथ मन की इच्छानुसार जिसको प्रदान करोगे तो उसको भी सिद्ध होगी। ऐसा जिनदत्त से कहकर अपने स्थान पर चले गये। बिना उद्यम अनायास आकाशगामिनी विद्या को प्राप्त हो जाने से जिनदत्त सेठ अति हर्षित हुआ। एक दिन उसे अकृत्रिम चैत्यालयो के दर्शन करने की इच्छा हुई। वह उसी समय आकाशगामिनी विद्या के प्रभाव से भगवान् के अकृत्रिम चैत्यालयो के दर्शन करने को गया। और पूर्ण भक्तिभाव से स्वर्ग मोक्ष सुख को देनेवाली अष्टद्रव्यो से भगवान की पूजा की। इसी प्रकार अब जिनदत्त नित्य प्रति भगवान् के अकृत्रिम जिनमदिरो के दर्शन करने के लिये जाने लगा। एक दिन वह चैत्यालयो के दर्शन करने को जाने के लिये

तैयार खड़ा हुआ था कि उसी समय एक सोमदत्त नामक माली हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा। कि हे स्वामिन् ! आप नित्य प्रति प्रातःकाल उठकर कहा जाया करते हैं ? तब वह जैनधर्म परायण जिनदत्त सेठ ने उसके वचनों को सुनकर उत्तर दिया कि मुझे दो देवों की कृपादृष्टि से आकाशगामिनी विद्या की प्राप्ति हुई है। सो उसके प्रभाव से सुवर्णमय अकृत्रिम जिनालयो की पूजा करने के लिये नित्य जाया करता हूँ। भगवान् को पूजा महासुख को देनेवाली होती है। सेठ के वचन को सुनकर सोमदत्त पुन जिनदत्त से निवेदन करने लगा कि हे प्रभो ! कृपा करके यह विद्या मुझको भी प्रदान कीजिये जिससे मैं भी अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम सुगधित पुष्पो को लेकर प्रतिदिन अकृत्रिम जिनालयो की पूजा करने को जाया करूँ। और उसके द्वारा अशुभ कर्मों का निराकरण कर शुभ कर्म उपार्जन करूं यदि आप विद्या प्रदान करेंगे तो परम अनुग्रह होगा। तब जिनदत्त ने सोमदत्तकी जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलो की भक्ति और पवित्रता को देखकर उसे संपूर्ण विद्या साधन करने का उपाय बतला दिया। सोमदत्त उससे समस्त विधि सम्यक् प्रकार समझकर विद्यासाधन करने के निमित्त कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की अर्द्धरात्रि के समय श्मशानभूमि में गया। वह भूमि बडी भयकर थी। वहां उसने एक वटवृक्ष की छाया में एकसौ आठ लकडी का एक दर्भ अर्थात् दूब का सीका बाधकर उसके नीचे अनेक भयकर तीखे-तीखे शस्त्र सीधे मुख गाड़कर उनकी पुष्पादिक से पूजा की। इसके पश्चात् वह सीके पर बैठकर पच नमस्कार मत्र जपने लगा। मत्र का जाप प्रमाण समाप्त होने पर जब छीके को काटने का समय हुआ और उसकी दृष्टि नीचे चमचमाती हुई शस्त्र समूह पर पड़ी तब उसको अवलोकन करते ही वह सिह से भयभीत मृगी के समान कांप उठा। तत्पश्चात अपने मन मे विचार करने लगा कि यदि जिनदत्त ने मुझे असत्य कह दिया हो तब तो मेरे प्राण ही चले जायगे। यह विचार कर वह नीचे उतर आया। कुछ समय पश्चात् उसको फिर यह कल्पना हुई कि भला जिनदत्त सेठ को मुझसे क्या लेना-देना है, जो यह असत्य भाषण कर मुझे साक्षात् मृत्यु के मुख में डालेगा। और फिर वह तो जिनधर्म का विश्वासी परम अहिंसा धर्म का पालन करने वाला है। उसके रोम-रोम मे दया भरी हुई है। उसे मेरे प्राणान्त करने से क्या ? इत्यादि विचारों द्वारा मन सन्तुष्ट कर फिर वह सीके पर चढ़ा, परन्तु जैसे ही उसकी दृष्टि नीचे गड़े हुए शस्त्रसमूह पर पड़ी वैसे ही पुनः भयातुर होकर नीचे उतर आया। इसी प्रकार वह संकल्प कर बारम्बार सीके पर चढ़ने-उरतने लगा, लेकिन उसकी हिम्मत सीका काट देने की न हो सकी। सच कहा है कि जिसको स्वर्ग मोक्ष का सुख प्रदान करने वाले श्री जिनेन्द्र देव के वचनों पर विश्वास नही, मन में उन पर निश्चय नही; उनको संसार में किसी प्रकार के साध्य की सिद्धि नही हो सकती। उसी रात को एक ओर तो यह घटना हुई और दूसरी ओर इसी समय माणिक काचन सुन्दरी नामक एक वेश्या ने अपने में अत्याशक्त

और अत्यन्त प्रेम रखनेवाले अंजन नामक चोर से कहा कि हे प्राणवल्लभ ! आज मैंने इसी नगराधीश प्रजापाल महाराज की कनकवती नाम की पटरानी के कंठ में अत्यन्त मनोहर रत्नों का हार देखा है। वह बहुत सुन्दर है। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि उस हार की तुलना करने वाला शायद ही कोई दूसरा हार हो। इसलिये आप उस मनोज्ञ हार को किसी न किसी प्रकार से मुझे लाकर दीजिये तभी आप मेरे भरतार हो सकते हैं, अन्यथा नही। अन्जन चोर माणिक काचन सुन्दरी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा को सुनकर प्रथम तो वह सकुचित हुआ, परन्तु साथ ही उसके प्रेम ने उसको अपने जाल मे फंसाकर हार हरण करने के लिये प्रेरित किया। तब वह अपने जोवन की भी कुछ परवाह न कर हार के निमित्त राजमहल में प्रवेश कर रानी के शयनागार मे जा पहुँचा और धीरे-धीरे अपनी दक्षता से रानी के कठ मे से हार को निकालकर चल दिया। वह सहस्रो कोटपालो (पहरेदारो) की आखो मे धूल डालकर निकल जाता, परन्तु अपने दिव्य प्रकाश से घोर अन्धकार के समूह को दूर करने वाले निर्दयी हार ने उसके प्रयत्न को सफल नही होने दिया। पहरेदार उसके प्रकाश मे अन्जन को हार लेकर जाते हुये जानकर उसे पकड़ने को दौड पडे। अन्जन चोर भी जी छोड़कर बड़ी तेजी से भागा पर आखिर कहा तक भाग सकता था? पहरेदार उसे पकड़ लेना ही चाहते थे। तब उसने एक नवीन युक्ति की। वह हार को पीछे की तरफ फेकर भागा। सिपाही लोग तो उसको उठाने के लिए ठहरे और उधर अन्जन चोर बहुत दूर निकल गया। तब सिपाही बहुत अन्तर हो जाने से तथा उसका पीछा करना साध्य की सिद्धि हो जाने से निष्प्रयोजन जानकर छोड दिये और अपना मार्ग लिया। उधर अन्जन चार भागता २ श्मशान का आर जा निकला, जहाँ जिनदत्त के उपदेश से सोमदत्त विद्या साधन करन क लिय व्यग्रचित हो क्षण भर मे वृक्ष पर चढ़ता और क्षण भर मे उतरता था। उसका यह भयकर उपक्रम देखकर अन्जन ने सामदत्त से पूछा कि तुम यह क्या कर रहे हो? क्या अपन प्राण दे रहे हो, ऐसा कहने पर उसने अन्जन चार से समस्त वृत्तान्त वर्णन कर दिया। सोमदत्त की वार्ताश्रवण कर अन्जन चार बहुत हर्षित हुआ। उसने सोचा कि सिपाही लोग तो मुझे मारने के लिए पीछे आ रहे है और मिलते ही मुझे मार भी डाले, क्योकि मेरा अपराध कोई साधरण अपराध नही है। फिर यदि मरना है तो धर्म के आश्रित ही मरना अच्छा है। ऐसा विचार कर सोमदत्त से कहा, बस ! इतनी सी बात के लिये क्या आप इतने डरते है? अच्छा आप जरा मुझको अपनी तलवार दे दीजिये जिससे मै भी अपनी परीक्षा करूँ। ऐसा कहकर सोमदत्त से खड्ग लेकर वटवृक्ष की शाखा मे बधे हुए सीके पर जा बैठा और सीका काटने के लिये जैसे ही वह तैयार हुआ कि इतने में बतलाये हुये मन्त्र को वह भूल गया। पर उसकी परवाह न करके केवल इस बात पर कि ताण ताण ताण सेठ बचन परमाण। अर्थात् जिनदत्त सेठ ने जो कहा है वही प्रमाण है। ऐसा मन मे निश्चय

अंजन चोर की दिक्षा
चारण ऋद्धि धारी मुनिद्वारा दिक्षा
राजा
रानी
पुत्री
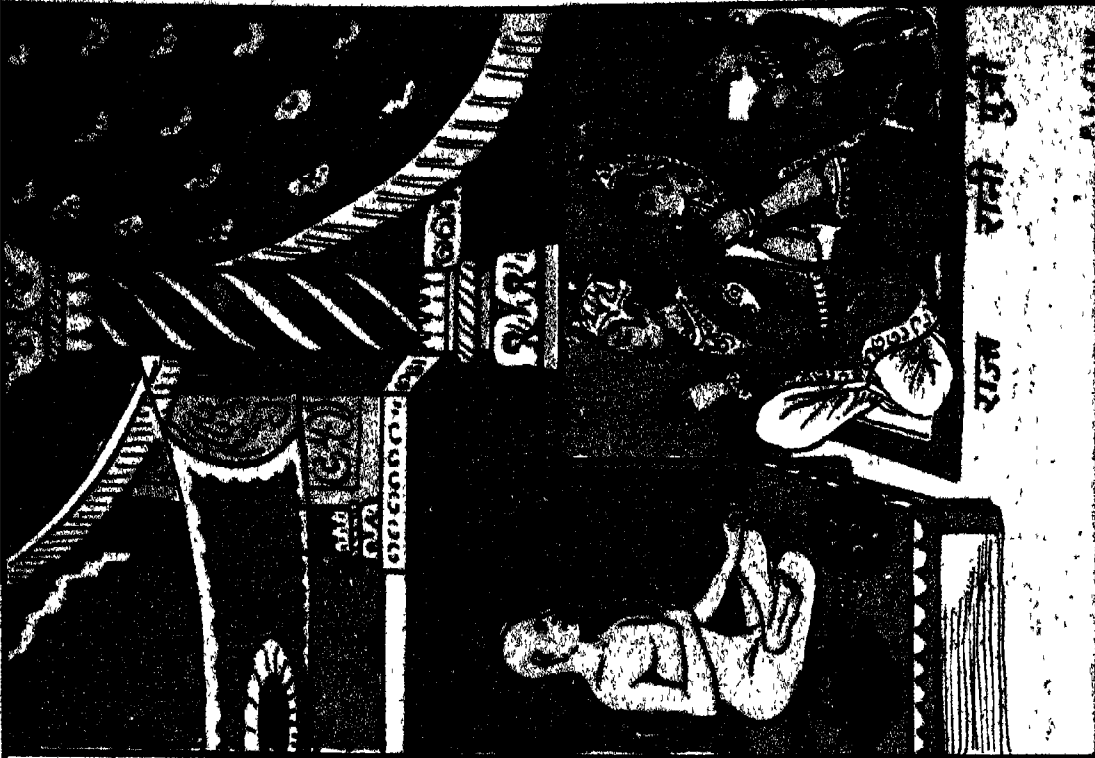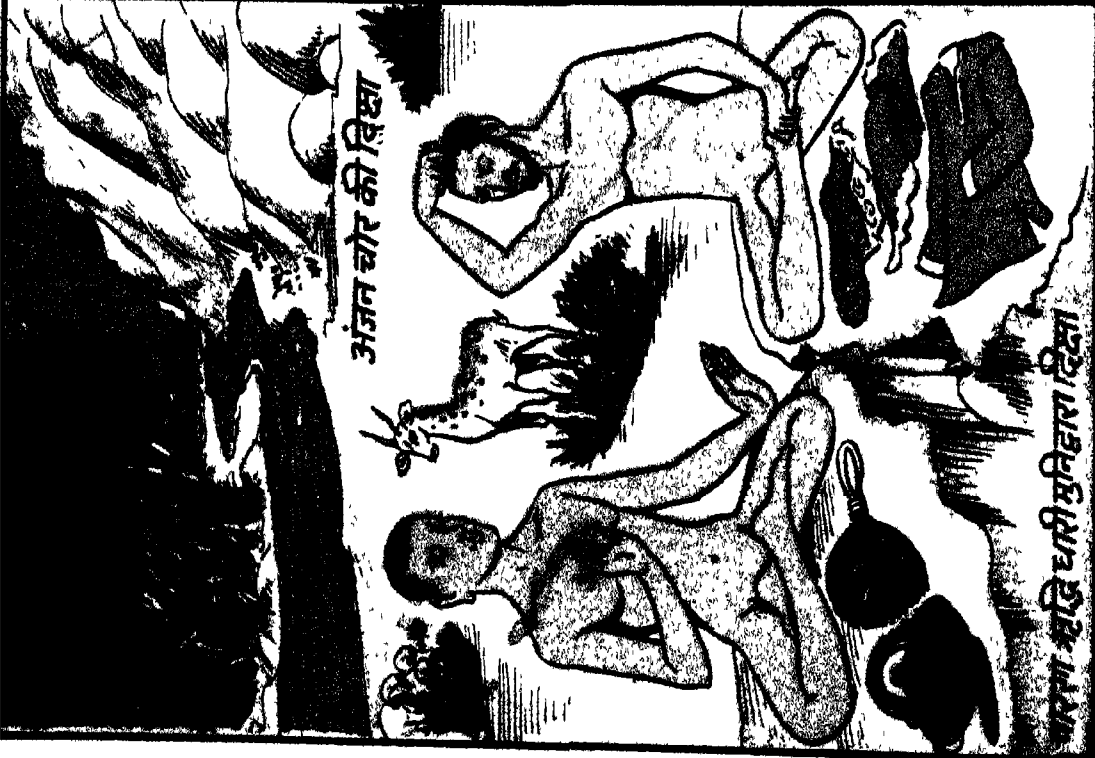
करके निश्शंक भाव से दृढ़ विश्वास करके एक ही झटके में सारे सीके को काट दिया। काटने के साथ ही जब तक नीचे गड़े हुये शस्त्रों तक आता है उसके पूर्व ही आकशगामिनी विद्या प्रकट होकर कहने लगी कि हे देव! आज्ञा कीजिये। मैं उपस्थित हूं। विद्या को अपने सन्मुख अन्जन चोर अवलोकन करके अत्यन्त हर्षित हुआ मानों उसे तीन लोक की सपदा प्राप्त हो गई है। वह विद्या से कहने लगा कि जहां मेरु पर्वत पर जैनधर्म परायण रत्नत्रय-भूषित विचारशील विवेकी धर्मात्मा जिनदत्त सेठ जिनेन्द्र भगवान के युगल चरण कमलो की पूजा कर रहे है वही पर मुझको पहुच दो। उसके कहने के साथ ही आकाशगामिनी विद्या ने क्षण मात्र में ही उसे जिनदत्त के पास पहुंचा दिया। सच है कि जिनधर्म के प्रसाद से तीन लोक मे ऐसा कौन सा अलभ्य पदार्थ है जो न प्राप्त हो सके ? अर्थात् सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते है सेठ के पास पहुचकर अजन ने अत्यत भक्ति और विनय पूर्वक उनको प्रणाम किया और बोला कि हे दया के सागर ! मैने आप की कृपा से अकाशगामिनी विद्या तो प्राप्त की, परन्तु अब आप कृपा करके कोई ऐसा मंत्र बतलाइये जिससे कि मैं इस दुस्तर ससार सागर से पार होकर अष्ट कर्मों के अभाव से अनन्त अविनाशी आत्मिक सुख को प्राप्त हो जाऊँ, अर्थात् सिद्धपद को प्राप्त हो जाऊ। अजन चोर की इस प्रकार वैराग्य सूचक वार्ता श्रवण कर परोपकारी जिनदत्त ने उसे एक चारण ऋद्धिधारक मुनिराज के पास ले जाकर मोक्षपद को प्रदान करनेवाली जिनदीक्षा दिलवा दी। अजन चोर साधु पद का धारी होकर ईर्या समिति पूर्वक धीरे २ गमन करता हुआ कुछ काल में कैलाश पर्वत पर जा पहुचा। वहा पर घोराघोर तपश्चरण कर द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से बारहवे गुणस्थान के अत में ज्ञानावरणादि चारो घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। जिससे त्रैलोक्य द्वारा पूज्य होता हुआ अन्त मे चार अघातिया कर्मों का भी नाश कर अन्जन मुनि-राज ने सदा के लिये अजर, अमर, अनत, अविनाशी आत्मिक लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया।

भावार्थ—अजन मुनि चारो अघातिया कर्मों का अभाव करके ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक ही समय में लोक के अग्रभाग (अन्त) में जाकर अजर, अमर शान्तिरस पूर्ण स्वाधीन आनन्दमय सिद्धपद को प्राप्त किया। सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का पालन कर जब अजन चोर निरजन होकर कर्मों के नाश करने मे समर्थ हुआ इससे भव्य पुरुषों को तो अवश्य निःशकित अग का पालन करना चाहिये।

इति निःशंकितांगेऽजनचोरस्य कथा समाप्तः ॥१॥

अथ द्वितीय निःकांक्षित अंगस्वरूप :—

विषय भोगो की इच्छा करना आकांक्षा तथा बांछा है। ज्ञानी पुरुषों को जब तक सासारिक पदार्थ की चाह है तब तक वे मोक्ष से विमुख है। गले में शिला बाधकर विस्तुत

नदी के पार जाना चाहे तो अवश्य ही डूबेगा। ऐसे ही कांक्षावान् व्रती संसार में ही भ्रमण करेगा। सम्यग्दृष्टि यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से परवश इन्द्रियो से उत्पन्न हुए सुखों का अनुभव करता है और चक्षु रसना आदि इन्द्रियो के रूप रस आदि इष्ट पदार्थों का सेवन करता है, परन्तु वह अपने चित्त में यही समझता है कि अपने को अच्छा लगनेवाले स्त्री आदिक विषय सुख त्याग करने योग्य है। कभी सेवन करने के योग्य नहीं है, क्योंकि इनके सेवन करने से दु:ख देनेवाले अशुभ कर्मों का बध होता है तथा रत्नत्रय रूप उपयोग के द्वारा अपने आत्मा से उत्पन्न हुआ नित्य अविनाशी मोक्ष सुख सदा ग्रहण करने योग्य है। ज्ञानी जीव इस प्रकार का श्रद्धान करता है कि मेरा आत्मा हाथ में दीपक लेकर अंधकूप में गिर रहा है, अतः मुझे बारम्बार धिक्कार है। इस प्रकार अपने आप ही आत्मनिन्दा करता है और व्रतादि शुभाचरण करता हुआ भी उनके उदय जनित शुभफलों की बांछा नही करता, किन्तु उनको शान्त और दु ख से मिले हुए विषमिश्रित मिष्टान्नवत् हेय जानता हुआ आत्म-स्वरूप के साधक जान सासारिक सुख की इच्छा रहित आचरण करता है सो नि·काक्षित अग युक्त है ॥२॥ इस दूसरे नि·काक्षित गुण को प्रकाश करनेवाली अनन्तमती की कथा लिखते हैं।

अथ अनन्तमत्या· कथा—ससार में विख्यात अगदेश की राजधानी चम्पा नगरी थी। उसके राजा बसुवर्द्धन थे और उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। वह सतीत्वगुण भूषित और बड़ी सरलहृदया थी। उनके एक प्रियदत्त नामक पुत्र जिनधर्म पर पूर्ण विश्वास रखनेवाला था। उसकी स्त्री का नाम अगवती था। वह सच्ची पतिभक्तिपरायणा, धर्मात्मा और सुशीला थी। अगवती के एक अनन्तमती नामक पुत्री बहुत सुन्दर, रूपवान् और गुणों की खानि थी। एक समय अष्टान्हिका पर्व पर प्रियदत्त ने धर्मकीर्ति मुनिराज के निकट आठ दिन के लिये ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और साथ ही अपनी प्रियपुत्री अनन्तमती को भी विनोद के वश होकर ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करा दिया। कभी-कभी सत्पुरुषो का विनोद भी सन्मार्ग का [सूचक बन जाया करता है। अनन्तमती के अन्त.करण पर भी प्रियदत्त के दिलाये हुए ब्रह्मचर्य व्रत का ऐसा ही प्रभाव पडा। जब अनन्तमती के विवाह का अवसर आया और उसके लिए आयोजन होने लगा तब अनन्तमती ने अपने पिताजी से सबिनय पूछा कि हे पिताजी! जब आप मुझको ब्रह्मचर्यव्रत दिला चुके है तब फिर यह विवाह का आयोजन आप किस लिये कर रहे है? इसके उत्तर मे प्रियदत्त ने कहा कि पुत्री! मैने तो तुम्हे ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाया था वह केवल मेरा विनोद था। क्या तू उसे सत्य समझ बैठी है? प्रियदत्त के ऐसे वाक्य श्रवण कर अनन्तमती बोली कि हे पिताजी! धर्म और व्रत मे विनोद कैसा, यह मै नही समझी। पुन· प्रियदत्त ने कहा कि मेरे कुल की प्रकाशक प्यारी पुत्री मैने तो तुझे ब्रह्मचर्य व्रत केवल विनोद से दिया था। तू उसे यथार्थ मान
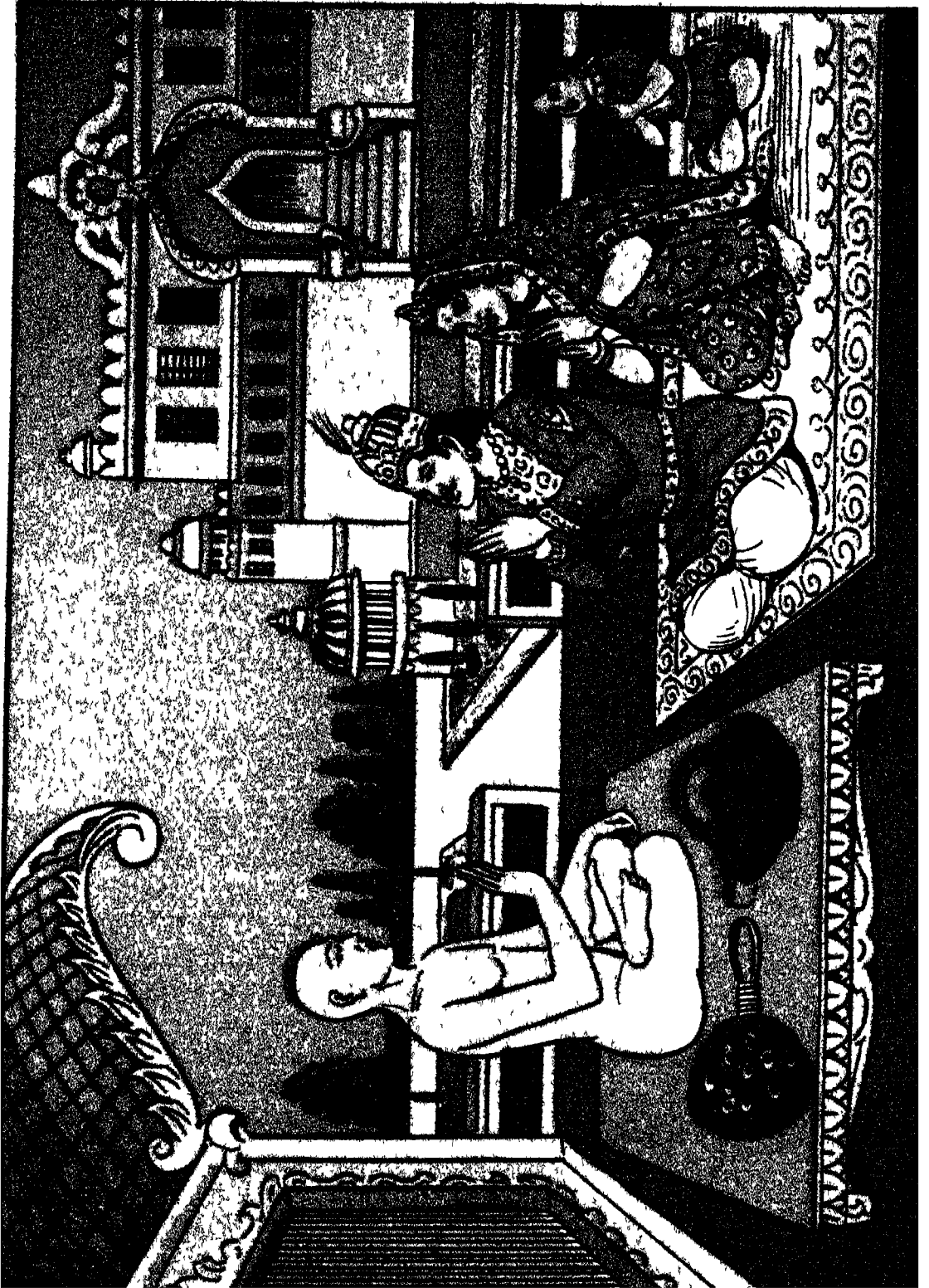
बैठी है तो भी वह आठ दिन के लिये ही था। फिर तू अब व्याह के लिये क्यों इन्कार करती है ? अनन्तमती ने कहा कि पिताजी ! मैं मानती हूं कि आपने अपने भावों से मुझको केवल आठ ही दिन का ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया होगा, परन्तु उस समय आठ दिन के ब्रह्मचर्यव्रत के लिये न तो आपने ही प्रगट किया और न मुनिराज ने ही। तब मैं कैसे समझूं कि वह केवल आठ ही दिन के लिये था। इसलिये अब जैसा भी कुछ हो मैं तो अब जीवन पर्यन्त उसे पालूंगी। अब मैं किसी तरह भी व्याह न कराऊंगी। अनन्तमती की ऐसी वार्ता श्रवण कर प्रियदत्त को निराश हो इसमें अपने को अशक्त जानकर अपने सभी विवाह के आयोजन को समेट लेना पडा। इसके बाद उन्होने अनन्तमती के जीवन को धार्मिक जीवन व्यतीत करने के लिये उसके पठन-पाठन का अच्छा प्रबन्ध कर दिया। अनन्तमती भी पूर्ण रूप से निराकुलित चित्त हो शास्त्रों के अभ्यास मे परिश्रमपूर्वक समय व्यतीत करने लगी। इस समय अनन्तमती पूर्ण यौवन सम्पन्न है। उसने स्वर्गीय देवांगनाओ की सुन्दरता धारण की है। उसके अग-अग से लावण्य रूप सुधा का झरना बह रहा है। उसके अप्रतिम मुख की शोभा को देखकर चन्द्रमा का प्रकाश मन्द पड गया। और नखो के प्रतिबिब के बहाने उसके पावो मे पड़कर अपनी इज्जत बचा लेने के लिये उससे प्रार्थना करता है। उसकी बड़ी-बडी प्रफुल्लित आखों को देखकर कमल बेचारे सकुचित हो ऊपर को भी नही देख सकते। उसके सुन्दर मधुर स्वर को सुनकर कोकिला मारे चिन्ता के काली पडने लगी और सिंहनी उसकी कटि की अनुपमता को देखकर निरभिमानी बन पर्वतो की गुफा में शरम के मारे गुप्त रूप से रहने लगी। वह अपनी दतपक्ति की श्वेतता से कुसुमावली की शोभा को जीतने लगी। इस प्रकार स्वर्गीय सुन्दरियो को भी अलभ्य रूप धारिणी अनन्तमती एक दिन चैत के महीने में विनोदवश अपने बगीचे मे अकेली झूले पर झूल रही थी। उस समय विद्याधरो की दक्षिण श्रेणी के अन्तर्गत किन्नरपुर नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर नगर का अधिपति विद्याधरों का राजा कुण्डल-मण्डित अपनी प्रिया के साथ विमान मे बैठा हुआ इसी मार्ग से जा रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि बाग मे अकेली झूला झूलती हुई अनन्तमती पर पड़ी। उसकी इस अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर कुण्डलमण्डित का हृदय काम के बाणो से घायल हो गया। वह अनन्त-मती की प्राप्ति के बिना अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगा। यद्यपि वह उस बेचारी बालिका को उसी समय उड़ाकर ले जा सकता था, परन्तु साथ में अपनी प्रिया के होने से ऐसा अनर्थ करने के लिये उसका साहस न हो सका।

परन्तु उसे अनन्तमती के बिना कब चैन पड़ सकता था ? इसलिये वह अपने विमान को बहुत शीघ्रता से अपने कुण्डलपुर नगर को लौटा ले गया और वहाँ राजमहल में अपनी प्रिया को छोड़कर उसी समय तीव्रगति से गमन कर अनन्तमती के बगीचे मे आ उप-स्थित हुआ और बड़ी फुर्ती से उस भोली बालिका को बलात् विमान में बिठलाकर चल

दिया। इधर इसकी प्रिया को भी इसके दुष्कर्म का कुछ-कुछ अनुमान लग गया था। इसलिये कुण्डलमण्डित तो उसे घर पर छोडकर आया था, पर वह घर पर न ठहरकर गुप्त रूप से उसके पीछे-पीछे चल पडी थी। जिस समय कुण्डलमण्डित अनन्तमती को लेकर आकाश मार्ग में जा रहा था कि उसकी दृष्टि अपनी प्रिया पर पड़ी। पत्नी को क्रोधावेश से लाल मुख किये हुए देखकर कुण्डलमण्डित के शरीर मे अचानक एक साथ शीतलता पड गई। उसके शरीर को काटो तो खून नही। ऐसी स्थिति में उसने अधिक गोलमाल के होने के भय से बड़ी शीघ्रता के साथ अनन्तमती को एक पर्णलघ्वी नाम की विद्या के आधीन कर उसे एक भयंकर वन में छोड देने की आज्ञा दे दी और स्वय अपनी प्रियपत्नी को साथ लेकर अपने राजभवन का मार्ग लिया और अपनी निर्दोषता का उसके सन्मुख यह प्रमाण दे दिया कि अनन्तमती को न तो विमान मे और न पर्णलघ्वी विद्या को सुपुर्द करते समय ही उसने (पत्नी) देखा। उस भयकर बन में अनन्तमती अति उच्च स्वर से रुदन करने लगी, लेकिन उस भयानक निर्जन अटवी मे उसके रुदन के शब्द को सुनता भी कौन था। वह तो कोसो तक मनुष्य के संचार से रहित थी। दैवयोग से कुछ समय के पश्चात् एक भीलो का राजा शिकार खेलता हुआ उधर आ निकला। रुदन का शब्द सुनकर वह उसके निकट गया और अनन्तमती की स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर वह भी कामबाण के वशीभूत हो गया। अनन्तमती ने अपने मन में विचार किया कि आज मुझको देव ने इसके सुपुर्द करके मेरी रक्षा की है और अब मै अपने पिता के घर पहुचा दी जाऊगी। परन्तु उसकी यह समझ ठीक नही थी, क्योकि उसको तो छुटकारे की जगह दूसरी आपत्ति ने आकर घेर लिया। वह भीलपति अपने महल में ले जाकर बोला कि हे बाले! आज तुमको अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि एक राजा तुम पर मुग्ध होकर तुम्हे अपनी पटरानी बनाना चाहता है। प्रसन्न होकर तुम उसकी प्रार्थना को स्वीकार करो और अपने स्वर्गीय समागम से उसके हृदय मे जलती हुई इच्छारूप कामाग्नि को शमन कर सुखी करो। वह तुमको बनदेवी समझ कर तुम्हारे सम्मुख हाथ जोड़े खडा है अपनी मनोकामना पूर्ण करने के लिये तुमसे वर मागता है। उसकी नम्रता पर ध्यान देकर उसकी आशा पूरी करो। वह बेचारी भोली-भाली अनन्तमती उसकी बातो का क्या उत्तर दे सकती थी? वह अधीर होकर फूट-फूट कर उच्च स्वर के रुदन से आकाश-पाताल को एक करने लगी। पर उसके रुदन को सुनता भी कौन था? वह तो राज्य ही मनुष्य जाति के राक्षसो का था। निर्दयी दुरात्मा भीलपति के हृदय मे कामवासना बसी हुई थी। उसने और भी बहुत प्रार्थना की। विनय अनुनय किया, पर अनतमती के चित्त को अपने पर किंचित् मात्र भी ध्यान दिया हुआ न देखकर उसने दिल मे समझा कि यह नम्रता तथा विनयपूर्वक कहने से वश मे नही आती। अत अब इसको भय दिखलाना चाहिये। इस विचार से अपने साध्य की सिद्धि के लिये उसने अनेक प्रकार का भय दिखलाया। पर अनंतमती ने फिर भी
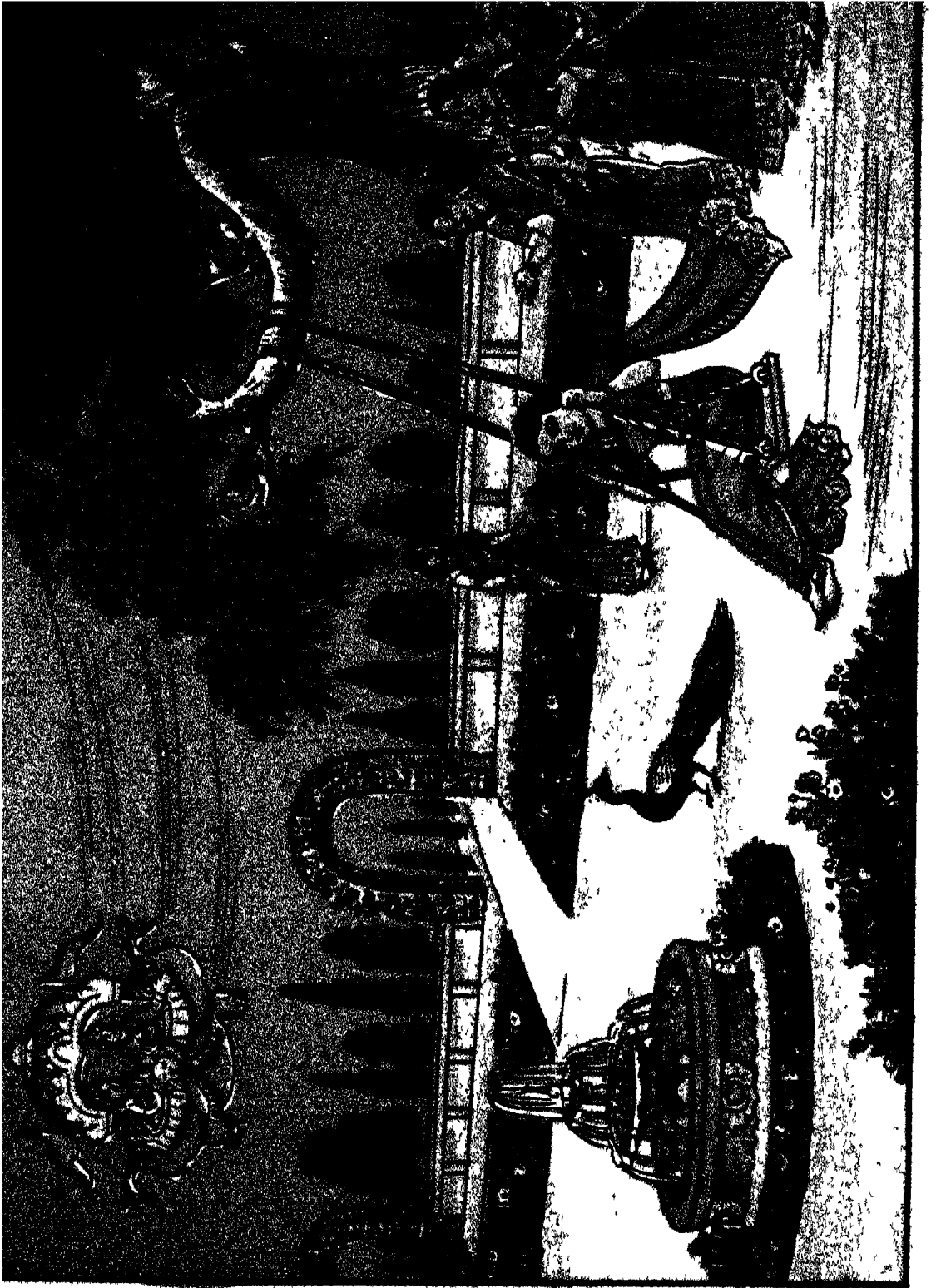
उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया। किन्तु यह सोचकर कि इन नारकियो के सन्मुख रुदन करने से कुछ काम नहीं चलेगा, अतः उसने उसे फटकारना शुरू किया। उसके नेत्रों से क्रोधरूप अग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसका मुख क्रोध के मारे संध्या के बादलो के समान रक्त हो गया। पर इतना होने पर भी उस भीलपति के हृदय में कुछ भी प्रभाव न पड़ा। उसने अनंतमती पर बलात्कार करना चाहा। इतने में उसके पुण्य प्रभाव से नहीं किन्तु अखंड शील के प्रभाव से उसी समय वनदेवी ने प्रगट होकर अनतमती के व्रत की रक्षा की। उस पापी दुरात्मा भीलपति को उसके दुष्टकृत का खूब फल दिया और कहा कि अरे नीच ! तू नही जानता कि यह कौन है ? याद रख यह एक ससार पूज्य महादेवी है। जो इसे तूने सताया तो देख-समझ तेरे जीवन का कुशल नही। यह कहकर वनदेवी अपने स्थान पर चली गई। उसके कहने का भीलपति के हृदय पर बहुत प्रभाव हुआ और पड़ना भी चाहिये था। प्रात:काल होते ही वनदेवी के भय से अनंतमती को पुष्पक नामक सेठ के अधीन कर दिया और उससे कहा कि आप कृपा करके अनंतमती को इसके घर पहुंचा दीजियेगा। पुष्पक सेठ ने उस समय तो अनंतमती को उसके घर पहुंचा देने की प्रतिज्ञा करके भीलराज से ले लिया, लेकिन यह किसको मालूम था कि इसका हृदय भीतर से पापपूर्ण होगा। अनंतमती को पाकर पुष्पक सेठ अपने मन में विचार करने लगा कि मेरे हाथ बिना प्रयास किये हुये अनायास ही यह स्वर्ग सुन्दरी लग गई यदि यह मेरी बात को प्रसन्नता से मान ले तब तो अच्छा है, नही तो यह मेरे पजे से छूटकर कहा जा सकती है ? यह विचार कर उस दुष्टात्मा कपटी ने अनतमती से कहा कि हे स्वर्ग सुन्दरी ! तुमको आज अपना बड़ा भाग्योदय समझना चाहिए जो एक नरपिशाच के हाथ से छूटकर पुण्य पुरुष के अधीन हुई हो। कहा तो यह तुम्हारी अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता और कहा वह भीलाधिपति भीमराक्षस कि जिसके महा-भयानक कुरूप को देखते ही हृदय काप उठता है। मैं तो आज अपने को राजा, महाराजा, तथा चक्रवर्त्यादि देवो से भी अधिक बढकर भाग्यशाली समझता हू जो मुझे अमूल्य स्त्रीरत्न बड़ी सुलभता के साथ प्राप्त हुआ। भला बिना महाभाग्य के कही ऐसा रत्न मिल सकता है ? कभी नही। सुन्दरी ! देखती हो हमारे पास जो अक्षय धन और अनत वैभव है वह सब तुम पर न्यौछावर करने को तैयार हूं और तुम्हारे चरणों का क्रीतदास बनता हूं। मेरी विनयपूर्वक की हुई प्रार्थना को स्वीकार करके मुझे आशा है कि तुम प्रसन्न होकर वचन दोगी और अपने हृदय में मुझे जगह दोगी। इसी प्रकार अपने स्वर्गीय समागम से मेरे जीवन तथा धन वैभव को सफल कर मुझे सुखी करोगी। अनतमती ने तो यह समझा था कि देव ने मेरी रक्षा करने के लिये निर्दयी भीलराज के पंजे से छुटाकर इसके आधीन किया है और अब मैं इस सेठ की कृपा से सुखपूर्वक अपने पिताजी के पास पहुच जाऊगी। पर वह बेचारी पापियों के हृदय की बात क्या जाने ? उसे जो भी मिलता था उसे वह भला ही समझती

थी। यह स्वाभाविक बात है जो मनुष्य जैसा होता है वह दूसरे को भी वैसा ही समझता है। उसे यह नहीं मालूम कि छुटकारा पाने की जगह एक विपत्ति से निकलकर दूसरी विपत्ति के मुख में फंसना पड़ा है। वह बेचारी भोली-भाली अनंतमती उस दुरात्मा सेठ की पाप पूर्ण बातें सुनकर बड़े कोमल शब्दों में कहने लगी कि महाशय जी, आपको देखकर तो मुझे विश्वास हुआ था कि अब मेरे लिये किसी प्रकार का भय नही रहा। मैं निर्विघ्न अपने घर पहुंचा दी जाऊंगी, क्योकि मेरी रक्षा करने के लिये एक दूसरे धर्म के पिता आकर उपस्थित हो चुके हैं, परन्तु मुझको अत्यन्त दुःख के साथ कहना पडता है कि आप जैसे उत्तम पुरुषो के के मुख से क्या ऐसे निंद्य वाक्य प्रकट हो ? जिसे मैने रस्सी समझकर हाथ मे लिया था, मैं नही समझती थी कि वह ऐसा विकराल भयंकर सर्प होगा। क्या यह बाहरी, चमक-दमक और सीधापन केवल संसार को ठगने के लिये और दिखाऊ धर्मातमापने का वेष धारण कर लोगो को धोखा देकर अपने मायाजाल मे फसाने के लिये है ? काक के समान दीठ स्वभाव और कपटी होकर क्या यह वेष हसों मे गणना कराने के लिये है ? यदि ऐसा है तो तुम्हे, तुम्हारे कुल को, तुम्हारे धन-वैभव और जीवन को धिक्कार है। जो मनुष्य ऐसा मायाचार करता है वह मनुष्य नही अपितु पशु, पिशाच और राक्षस है। वह पापी मुख देखने योग्य नही है। उसे जितना भी धिक्कारा जाय थोड़ा ही है। मैं नही जानती थी कि आप भी उन्ही पुरुषो मे से एक होगे। अनतमती ऐसे कुलंक पुरुषो के सन्मुख लाना उचित न समझ क्रोध को शात करके चुप होकर बैठ गई। इसकी जली-भुनी बातो को सुनकर पुष्पक सेठ क्रोध के मारे भीतर दबी हुई अग्नि की तरह दग्ध होने लगा। उसका चेहरा लाल सुर्ख पड गया, आखो से क्रोध के मारे चिनगारिया निकलने लगी और समस्त शरीर कापने लगा। परन्तु तब भी तेजोमयी मूर्ति अनतमती के दिव्य तेज के सन्मुख उससे कुछ न बन पडा। उसने अपने क्रोध का बदला अनतमती से इस प्रकार चुकाया कि उसे अपने नगर मे ले जाकर एक कामसेना नाम की कुट्टनी के हाथ सौप दिया। सच बात तो यह है कि यह सब दोष किसे दिया जा सकता है ? अर्थात् किसी को नही। क्योकि कर्मों की ही ऐसी विचित्र गति है। जो जसा कर्म करता है उसे वैसा ही भोगना पडता है।

यथोक्त—अवश्यह्यनुभोक्तव्यकृत कर्मशुभाशुभम्। अर्थात् जो जैसा शुभाशुभ कर्म करता है उसको तज्जनित शुभाशुभ फल अवश्य भोगना पडता है। फिर इसके लिये कर्मो का फल भोगना कोई नई बात नही है। कामसेना ने भी अनतमती को जितना उससे बना उसने भय और लोभ से पवित्र मार्ग से पतित कर सतीत्व धर्म से भ्रष्ट करना चाहा, पर अनतमती रचमात्र भी नही डिगी। वह सुमेरु पर्वत के समान निश्चल रही। अत मे कमसेना ने अपना अस्त्र उस पर चला हुआ न देखकर उसे सिहराज नामक राजा को सौप दिया। वह दुरात्मा भी अनतमती के मनोहर रूप को देखकर मुग्ध हो गया। उसने भी जितना उससे हो सका
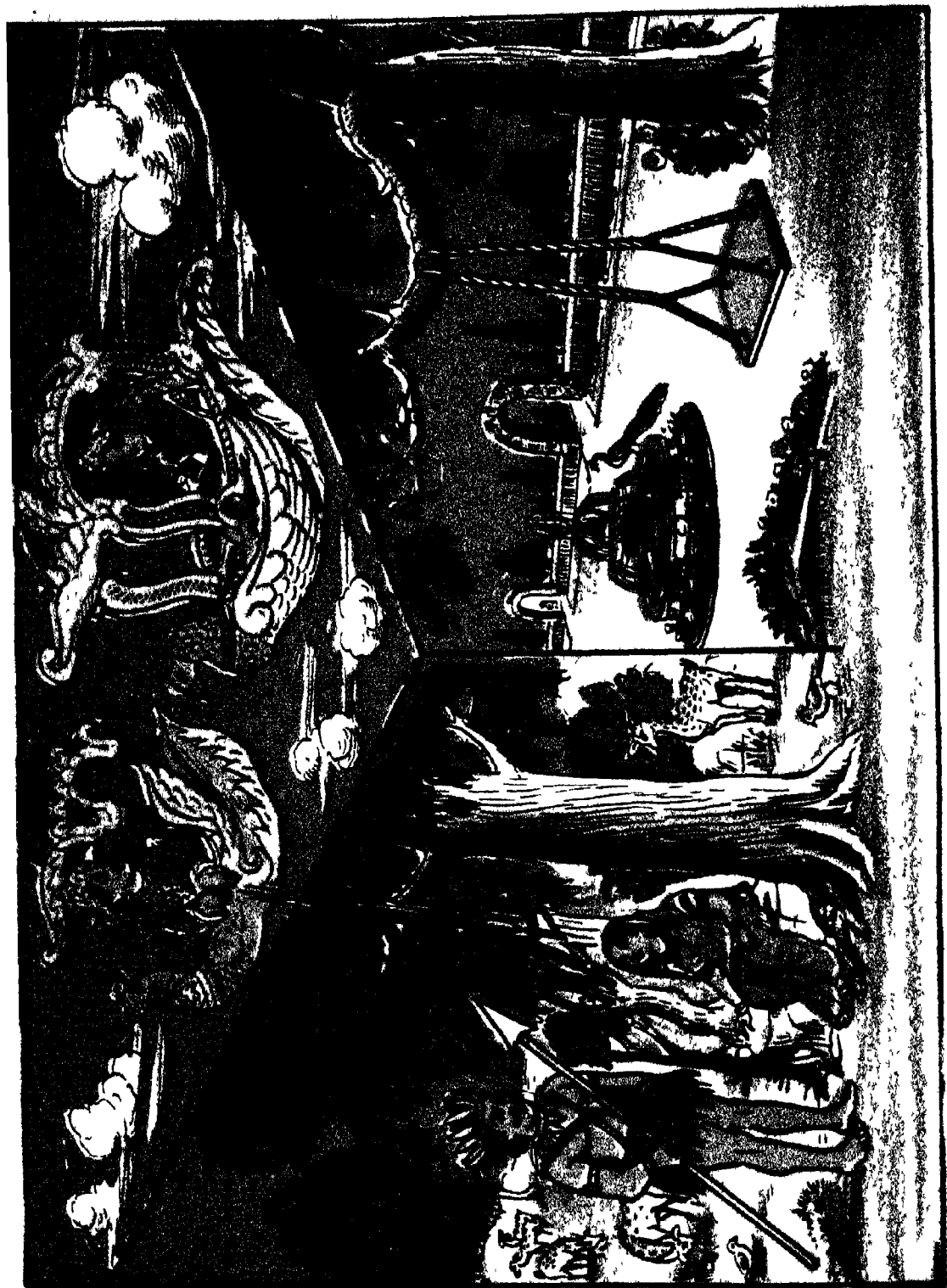
उतना प्रयत्न अनंतमती के चित्ताकर्षण करने को किया, पर अनंतमती ने उसकी ओर ध्यान न देकर उसकोभी फटकार दिया। अन्तमें पापी सिंहराज ने अनतमती पर बलात्कार करनेके लिये ज्यों हीअपना पैर आगे बढ़ाया त्यों ही बनदेवी उपस्थित होकर कहते लगी कि खबरदार इस सतीदेवी का स्पर्श भूलकर भी मत करना नहीं तो समझ लेना तेरे जीवनका कुशल नही। यह कहकर बनदेवी अंतर्हित हो गई। वह देवी को देखते ही भय के मारे चित्रलेखवत् निश्चेष्ट रह गया। कुछ समय के बाद सावधान होकर उसी समय सेवक के द्वारा आज्ञा दी कि इसे भयकर बन में छोड़ आओ। उस निर्जन बन में वह पच परमेष्ठी का स्मरण करती और फल फूलादि से निर्वाह करती हुई अयोध्या जा पहुंची। वहा पर उसे पद्मश्री आर्यिका के दर्शन हुये। आर्यिकाने अनंतमती से उसका परिचय पूछा। उसने अपना सब वृत्तांत सुना दिया। आर्यिकाने उसकी कथा से दु खित होकर उसे एक सत शिरोमणि समझकर अपने पास रख लिया। उधर प्रियदत्त पुत्री के वियोग से दुःखी होकर तीर्थयात्रा के निमित से पुत्री को ढूढ़ने के लिये निकल पड़ा। बहुत सी यात्रा करते-करते वह अयोध्या जा पहुचा। और वही पर स्थित अपने साले जिनदत्त के घर पर ठहरा। उसने अपने बहनोई की आदर सेवा की। पश्चात् स्वस्थता के समाचार पूछने पर प्रियदत्त ने समस्त घटना कह सुनाई। यह सुनकर जिनदत्त बहुत दु खी हुआ। दु ख सभी को हुआ पर कर्म की विचित्रता को देखकर सभी को संतोष करना पड़ा। दूसरे दिन प्रात.काल जिनदत्त तो स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहनकर श्री जिनमदिर में चला गया। इधर इसकी स्त्री भोजन तैयार करपद्मश्री आर्यिका के निकट स्थित बालिका को भोजन करने और चौक पूरने के लिये बुला लाई। यह कन्या चौक पूरकर भोजन करके अपने स्थान पर वापिस चली आई। जब दोनो जिन भगवान् को पूजा कर घर पर आये तब प्रियदत्त चौक को देखते ही अनंतमती का स्मरण कर रो पड़ा और कहा कि 'जिसने यह चौक पूरा है क्या मुझ अभागे को उसके दर्शन होगे ? जिनदत्त अपनी स्त्री से पता पूछकर उसी समय उस बालिका को अपने घर पर बुला लाया। उसे देखते ही प्रियदत्त के नेत्रो से आसू बह निकले। उसका हृदय भर आया और बडे प्रेम के साथ अपनी प्यारी पुत्री को छाती से लगाकर सब बाते पूछनी प्रारम्भ की। उस पर बीती हुई घटनाओ को सुनकर प्रियदत्त बडा दु.खी हुआ। जिनदत्त ने पिता पुत्री के मिलाप हो जाने की खुशी में जिन भगवान् का रथ निकालवाया और बहुत दान किया। प्रियदत्त जब घर चलने को तैयार हुआ तब पुत्री से भी चलने को कहा। वह बोली पिताजी मैंने ससार की लीला बहुत देखी है। अब उसे देख कर मुझे बहुत भय लगना है। इससे मै अब घर नही चलूंगी। अब तो आप मुझे जैन दीक्षा दिलवा दीजिये। पुत्री की बात सुनकर जिनदत्त ने कहा कि हे पुत्री ! जिनदीक्षा पालन करना अत्यन्त कठिन है और तेरा यह शरीर अत्यन्त कोमल है। अतः कुछ दिन घर ही में रहकर अभ्यास कर और धर्मध्यान में समय बिता। पीछे दीक्षा ले लेना। इत्यादि वचनों से रोका, किन्तु उसके रोम

रीम में वैराग्य प्रवेश कर चुका था। इससे वह कब रुकती ? उसी समय मोहजाल तोड़कर पद्मश्री आर्यिका के निकट जाकर जिनदीक्षा ले ली। दीक्षित होकर पक्षमासोंपवासादि दारुण तप करने तथा घोर परीषह सहन करने लगी। अंत में पंचपरमेष्ठी का स्मरण करती हुई सन्यास विधि से मरण कर सहस्रार स्वर्ग में जाकर देव हुई व वहा परनित्य नये रत्नों के स्वर्गीय आभूषण पहनती है। हजारो देव देवागनायें जिसकी सेवा मे रहते हैं उसके ऐश्वर्य का पार नही और न उसके सुख ही की सीमा है। वह सदा श्री जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति पूर्वक पूजा करती है और उनके चरणों मे लीन रहकर बड़ी शाति के साथ अपना समय व्यतीत करती है। 'सच तो यह है कि पुण्य के उदय से क्या-क्या नही होता ? इससे आत्महितेच्छु भव्य पुरुषों को चाहिये कि वे सांसारिक सुख की व्रतादि शुभाचरण करते हुये भी उनके उदयजनित शुभाकर्मों की बाछा नही करनी चाहिये। जिस पुरुष के भोग की अभिलाषा न हो सो नि:काक्षित अंगयुक्त है। देखो अनतमती को उसके पिता ने केवल विनोद वश शीलव्रत दे दिया था। पर उसने उसको बड़ी दृढता के साथ पालन किया। कर्मों के पराधीन सांसारिक सुख की उसने स्वप्न में भी अभिलाषा नही की। उसके प्रभाव से वह स्वर्ग मे जाकर देव हुई। स्वर्ग के सुख का पार नही है। इसलिये भव्य पुरुषो को सम्यग्दर्शन के नि.काक्षित गुण का अवश्यमेव पालन करना चाहिये ।।२।।

इति श्री नि:कांक्षितागे अनंतमती कथा समाप्त ।।

अथ तृतीय निर्विचिकित्सा अंगस्वरूप वर्णन ।।३।।

अपने में उत्तम गुणो से युक्त समझकर व अपने को श्रेष्ठ मानकर दूसरे के प्रति अवज्ञा, तिरस्कार व ग्लानिरूप भाव होना विचिकित्सा या ग्लानि है। यह दोष मिथ्यात्व के उदय से होता है। इसके बाह्य चिह्न इस प्रकार है—किसी दीन, दरिद्री, विकलाग रोगी को देखकर निदा, ग्लानि, तिरस्कार, निरादर व उपहास आदि करना। सम्यग्दृष्टि जीव विचारता है कि कर्मों के उदय की विचित्र गति है। कदाचित् पाप का उदय आ जाय तो क्षण मात्र में धनी से निर्धन, रूपवान् कुरूप, विद्वान् से पागल, कुलवान् से पतित और स्वस्थता से रोगी हो जाते है। इससे वह दूसरो को हीनबुद्धि से नही देखता और ऊपर से अपवित्र शरीर पर ध्यान नही देकर अतरग गुणो को देख ज्ञान चारित्रादि ग्लानियुक्त होते हुए भी जुगुप्सा रहित सेवा सहायता करता है। यही निर्विचिकित्सा गुण है। अब उदाहरणार्थ सम्यग्दर्शन के तीसरे निर्विचिकित्सा अग मे प्रसिद्ध होने वाले उद्दायन राजा की कथा लिखते है। इसी भरत क्षत्र में कच्छ देश के अन्तर्गत रौरवक नामक बहुत सुन्दर नगर था। उस नगर के राजा उद्दायन सम्यग्दृष्टि थे। वे बड़े धर्मात्मा, विचारशील, जिन भगवान् के चरण कमलो के भंवर और सच्चे भक्त थे। आप राजनीति के अच्छे विद्वान्, तेजस्वी और

सहस्रार स्वर्ग
उत्पाद शैया जन्म
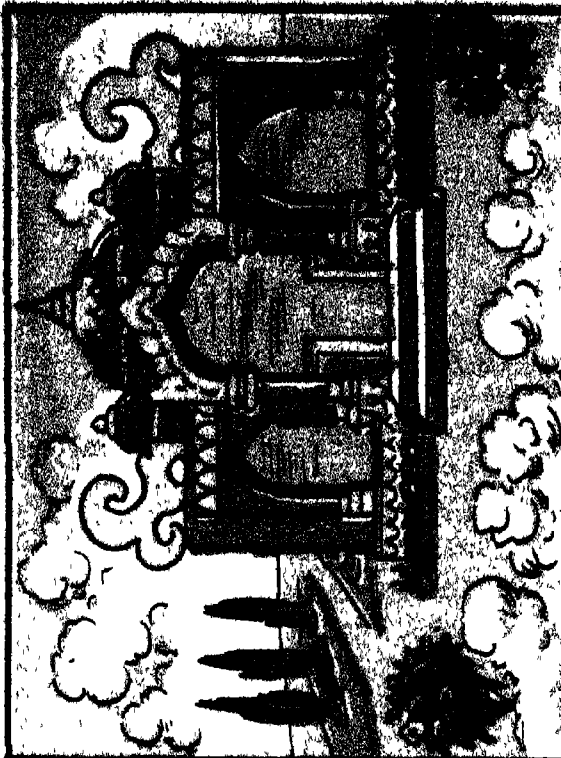
दयालु थे। वे दुराचारियों को उचित दंड देते और प्रजा का नीतिपूर्वक पालन करते थे। इससे प्रजा का उन पर बहुत प्रेम था। और वे भी सदा प्रजा हित मे उद्यत रहा करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। वह भी सती धर्मात्मा और दयालु थी। उनका मन सदा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान परम निर्मल और पवित्र रहता था। वह अपने समय को प्राय: दान, जिनपूजा, व्रत, उपवास, शास्त्रस्वाध्यायादिधर्मध्यान में व्यतीत करती थी। उद्दायन अपने राज्य का शाँति और सुखपूर्वक राज्य करते और अपनी शक्ति के अनुसार जितना बन पड़ता उतना धार्मिक कार्य में समय बिताते थे। कहने का प्रयोजन यह है कि वे सर्वथा सुखी थे। उनको किसी प्रकार की चिन्ता नही थी। अपनी कार्यकुशलता और नीति परायणता से शत्रु रहित हो निष्कटक राज्य करते थे। एक दिन सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र अपने देवो के मध्य सभामंडप में बैठा हुआ धर्मोपदेश कर रहा था कि ससार में सच्चे देव अरहंत भगवान् है, जो कि क्षुधा, तृषा, रोग, शोक, भय विस्मय, जन्म, जरा, मरण, राग द्वेषादि अष्टादश दोष रहित भूत, भविष्यत् वर्तमान का ज्ञाता, सत्यार्थवक्ता और सबके हितोपदेशक ससार के दु खों से हटाने वाला है। सच्चा धर्म, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौचादि दशलक्षण रूप तथा रत्नत्रयरूप है। सच्चे गुरुदेव है जिनके पास परिग्रह नाम मात्र भी न हो। अर्थात् दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अतरग एव चौबीस प्रकार के परि-ग्रह से रहित निरारभी, निरभिलाषी, ज्ञान ध्यान और तप रूपी रत्न के धारक हो वही गुरु प्रशसनीय है और वही सच्ची श्रद्धा है जिससे जीवादिक पदार्थों में रुचि होती है। यही रुचि स्वर्ग मोक्ष सुख को प्रदान करने वाली है। यह रुचि अर्थात् श्रद्धा धर्म मे प्रेम करने से, तीर्थयात्रा करने, जिनभगवान् का रथोत्सव कराने, प्राचीन मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराने, प्रतिष्ठा कराने, प्रतिमा बनवा कर विराजमान करने और अपने साधर्मी भाइयो में गौ वत्सवत् अटूट प्रीति रखने से उत्पन्न होती है। आप लोग ध्यान रखिए कि सम्यग्दर्शन एक वह श्रेष्ठ वस्त्र है जिसकी समानता कोई दूसरा नहीं कर सकता। यही सम्यग्दर्शन नरक, तिर्यंचादि दुर्गतियो का नाश करके स्वर्ग मोक्ष सुख को प्रदान करने वाला है। इससे सर्वो-त्तम रत्न को तुम धारण करो। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का और उसके आठ अ गों का वर्णन करते हुए जब इन्द्र ने निर्विचिकित्सा अ ग के पालन करने वाले रौरवक नगराधिपति उद्दायन राजा की बहुत प्रशसा की तब इन्द्र के मुख से एक मध्य लोक के मनुष्य को प्रशंसा सुनकर वासवका नामक देव उसी समय स्वर्ग से भरत क्षेत्र में आया और उद्दायन राजा की परीक्षा करने के लिए एक कोढ़ी मुनि का मायावी वेष धारणकर भिक्षा के लिए मध्यान्हकाल में उद्दायन के महल गया। उसके शरीर से कोढ़ गल रहा था। उसकी तीव्र वेदना से उसके पैर इधर-उधर पड़ रहे थे। रुधिरस्राव से समस्त शरीर पर मक्खियाँ भिन-भिना रही थी। शरीर की ऐसी विकृत अवस्था होने पर भी जब वह राजद्वार पर पहुचा

और महाराज उद्दायन की उस पर नजर पड़ी तब वे उसी समय सिंहासन से उठकर सन्मुख आए और भक्तिपूर्वक मायावी मुनि का आह्वान किया। इसके पश्चात् सप्तगुण सहित नवधाभक्ति पूर्वक हर्ष सहित राजा ने मुनि को प्रासुक आहार कराया। राजा आहार कर निवृत्त हुए कि इतने मे उस कपटी मुनि ने अपने मायाजाल से महा दुर्गन्धित वमन कर दिया। उसकी असह्य दुर्गन्धि के मारे जितने और लोग पास में खडे थे वे सभी वहां से चलते बने। केवल उद्दायन और उसकी रानी मुनि के शरीर की सम्हाल करने के लिए वही स्थित रहे। रानी मुनि का शरीर साफ करने के लिए उनके पास गई। कपटी मुनि ने उस बेचारी पर भी महा दुर्गन्ध उबान्त कर दी। राजा और रानी ने इसकी कुछ भी परवाह न करके उल्टा इस बात पर पश्चाताप किया कि हमसे मुनि को प्रकृति विरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया ? जिससे मुनि महाराज को हमारे निमित्त इतना कष्ट हुआ। हम लोग बडे पापी व भाग्यहीन है जो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहा निरन्तराय आहार न हो सका। सच है कि हम जैसे पापी अभागे लोगों को मनोवाछित का प्रदान करने वाला चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष प्राप्त नही होता।

उसी तरह सुपात्र के दान का योग भी पापियो को नही मिलता। इस प्रकार अपनी आत्मनिदा कर अपने प्रमाद पर बहुत-बहुत खेद और पश्चाताप करते राजा-रानी ने मुनि का सब शरीर प्रासुख जल से धोकर साफ किया। उनकी इस प्रकार अचल भक्ति को देखकर देव अपनी माया समेटकर बड़ी प्रसन्नता के साथ बोला कि हे राज राजेश्वर ! आपके विचित्र और निर्दोष सम्यक्त्व की तथा निर्विचिकित्सा अग के पालन करने को अपने सभामंडप के मध्य धर्मोपदेश देते हुये सौधर्मेन्द्र ने धर्मप्रेमवश होकर जैसी प्रशसा की थी वैसी अक्षरशः ठीक निकली। ससार में आपही का मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देने वाला है। तुम यथार्थ सम्यग्दृष्टि और महादानी हो। वास्तव मे तुम्ही ने जैन शासन का रहस्य समझा। यदि ऐसा न होता तो तुम्हारे बिना और कौन मुनि की दुर्गन्धित उबान्त को अपने हाथो से साफ करता ? राजन् ! तुम धन्य हो। शायद ही इस भूमंडल पर इस समय आप जैसा सम्यग्दृष्टियो में शिरोमणि कोई होगा। इस प्रकार वासव नामक देव उद्दायन की प्रशसा करता हुआ अपने स्थान पर चला गया। अथानन्तर राजा फिर अपने राज्य का शाति और सुखपूर्वक पालन करते हुये दान, पूजा, व्रत स्वाध्यायादि धार्मिक कार्य में अपना समय व्यतीत करने लगे। इसी तरह आनन्द पूर्वक निर्विघ्न राज्य करते-करते उद्दायन का कुछ और समय व्यतीत हो गया। एक दिन वह अपने महल पर बैठे हुये प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि इतने मे एक बड़ा भारी बादल का टुकडा उनके नेत्रो के सामने से निकला। वह थोड़ी सी दूर पहुचा होगा कि एक प्रबल वायु के वेग ने उसे देखते-देखते नाम शेष कर दिया। क्षण भर मे एक विशाल मेघखड की यह दशा देखकर उद्दायन की आंखे खुल गई।

राजा उद्दायन ने स्वपुत्र को
राजतिलक किया
धनवन्तरि
सेठ जिनदत्त
विश्वानुलोचन
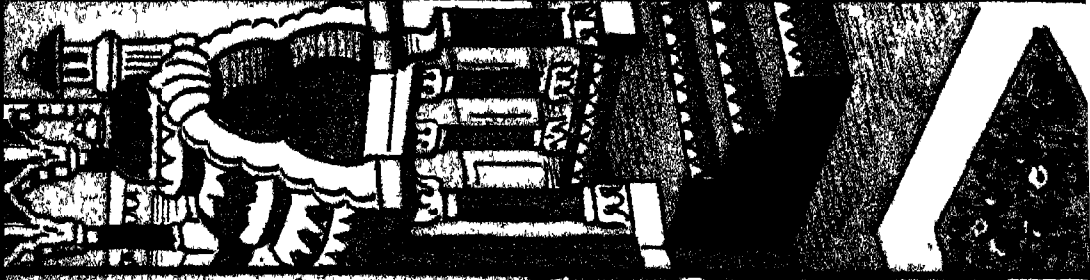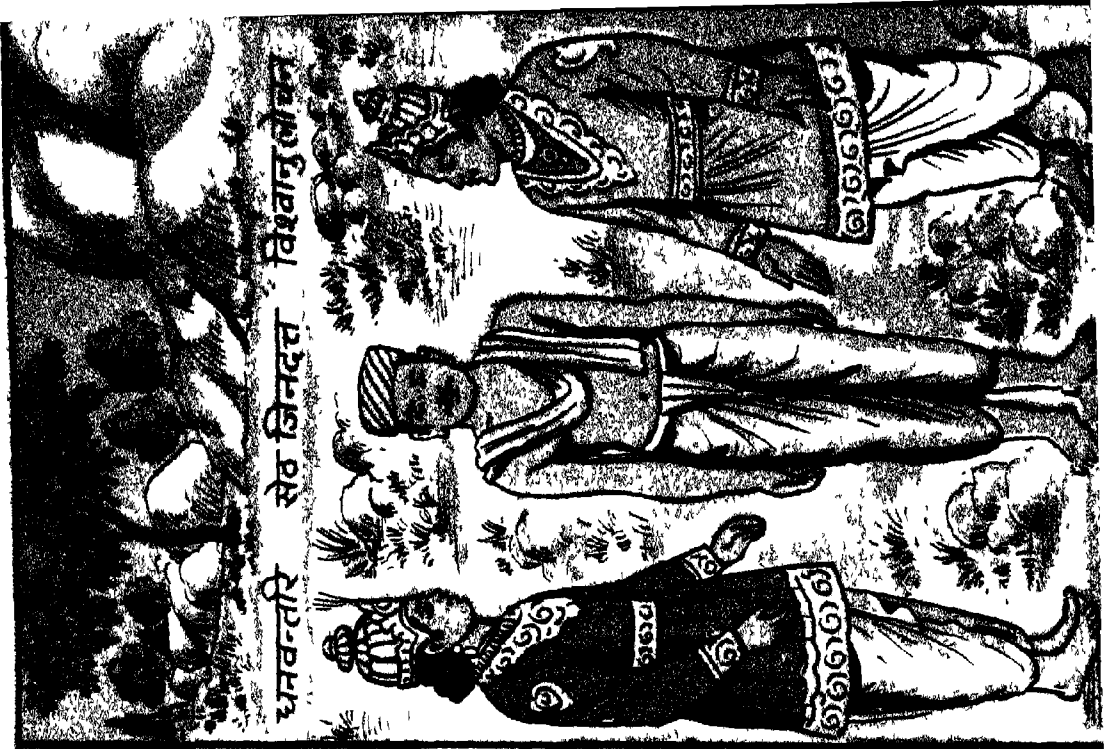
और अब उन्हें सारा संसार ही क्षणिक भासने लगा। प्रयोजन यह है कि उनके हृदय पर वैराग्य ने अपना अधिकार कर लिया। चित्त में विचारने लगे कि स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु, धन, धान्य, दासी, दास, सोना, चांदी आदि जितने चेतन अचेतन पदार्थ हैं वह सब विद्युत् प्रकाशवत् क्षण भर में देखते-देखते नष्ट होने वाले हैं और ससार दुःख का समुद्र है। यह शरीर भी जिसे रात-दिन प्यार किया जाता है वह भी मज्जा, अस्थि, मास तथा रक्तादि अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है। ऐसे अपावन क्षण भंगुर शरीर से कौन बुद्धिमान् प्रेम करेगा ? ये पांच इंद्रियों के विषय ठगों से भी बढ़कर ठग हैं। इनके द्वारा ठगा हुआ प्राणी एक पिशाचिनी की तरह उनके वश होकर अपनी सब सुधि भूल जाता है। ये जैसा नाच नचाते है वैसा ही नाचने लगता है। इस प्रकार संसार शरीर भोगादिक की अनित्यता विचारता हुआ उसी समय महल से उतरकर अपने पुत्र को बुलाया और उसके मस्तक पर राजतिलक करके आप अन्तिम तीर्थंकर महावीर भगवान के समवशरण में पहुंचे और भक्ति पूर्वक भगवान् के चरणारविद की पूजा कर उनके चरणो के निकट ही उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। जिसका इद्र नरेन्द्र चक्रवर्ती आदि सभी आदर करते है। दीक्षित होकर उद्दायन राजा कठिन से कठिन तपश्चरण करते हुये वैराग्य के साथ क्रमशः रत्नत्रय की पूर्णता कर बारहवें गुणस्थान के अंत घातिया कर्मों के अभाव से प्रादुर्भूत लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त कर इद्र धरणेन्द्र चक्रवर्त्यादि द्वारा पूज्य हुये। उसके द्वारा उन्होंने मुक्ति का मार्ग बतलाकर अंत में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अविनाशी, अनंत मोक्षपद को प्राप्त किया। उन स्वर्ग मोक्ष सुख को देने वाले श्री उद्दायन केवली को हम भक्ति पूर्वक बारम्बार नमस्कार और पूजन करते है। वे हमें भी मोक्षपथ मे लगाकर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी प्रदान करें और उनकी रानी सती प्रभावती भी उस समय ही दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करती और अनेक प्रकार की परीषह सहन करती हुई आयु के अत में समाधिमरण कर ब्रह्म स्वर्ग में जाकर देव हुई। जिस प्रकार उद्दायन मुनिराज ने सम्यग्दर्शन के तीसरे निर्विचिकित्सा अग को पालन कर प्रकाशित किया उसी तरह सभी भव्य पुरुषो को भी करना उचित है। वह अनुपम सुख प्रदान करने वाला है।

इति निर्विचिकित्सांगे श्रीमद्दुद्दायनस्य कथा समाप्ता।

अथ अमूढ़ दृष्टि अंग वर्णन प्रारम्भ

अतत्वो मे तत्व श्रद्धान करना मूढदृष्टि है। यह मिथ्यात्व कर्म के उदयवश जिन्होंने गुणदोष के विचार रहित अनेक पदार्थों को धर्मरूप वर्णन किया है और जिनके पूजन तथा नमस्कार करने से जो उभय लौकिक कार्यों की सिद्धि बताई है और उनके निमित्त हिंसा करने में धर्म माना आदि मूढ़दृष्टि अग का धारक इन सबको मिथ्या

जानता और निस्सार तथा अशुभ फल का उत्पादक जान दूर ही से तजता है और इनके धारकों में मन से सम्मत न होना, काया से नही सराहना, वचन से प्रशंसा नही करना यही सम्यक्त्वी का अमूढ़दृष्टि अग के पालन करने में प्रसिद्ध होने वाली रेवती रानी की कथा लिखते हैं।

विजयार्द्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघकूट नामक एक प्रसिद्ध और मनोहर नगर था। उसका स्वामी चन्द्रप्रभ नाम का राजा बड़ा विचारशील और राजनीति का अच्छा विद्वान था। उन्होंने बहुत समय तक शत्रुरहित, निष्कटक, शान्ति और नीतिपूर्वक अपने राज्य की प्रजा का पालन किया। एक दिन वे बैठे हुए थे कि एकाएक उन्हे तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। राजकार्य अपने प्रियपुत्र चन्द्रशेखर के अधीन करके वे तीर्थयात्रा के लिए चल दिए। बहुत से सिद्ध क्षेत्रो और अतिशयक्षेत्रों की यात्रा करते-करते वे दक्षिण मथुरा में आये, वहाँ उनको श्री गुप्ताचार्य के दर्शन हुए। चन्द्रप्रभ ने आचार्य से उपदेश सुना। धर्मोपदेश का उनके चित्त पर बहुत प्रभाव पडा। वे आचार्य महाराज के द्वारा प्रोक्त 'परोपकारोऽत्र महापुण्याय भूतले' अर्थात् परोपकार करना महान् पुण्य का कारण है, यह सुनकर तीर्थयात्रा करने के लिए एक विद्या को अपने अधिकार में रखकर क्षुल्लक बन गये। एक दिन उनकी इच्छा उत्तर मथुरा की यात्रा करने की हुई। जब वे जाने को तत्पर हुए तब उन्होंने अपने गुरु महाराज से पूछा हे दया के समुद्र ! मैं यात्रा करने लिए जा रहा हू। क्या आपको किसी के लिए कुछ समाचार कहना है ? तब गुप्ताचार्य बोले मथुरा मे सूरत नाम के बड़े ज्ञानी और गुणी मुनि महाराज है उन्हे मेरा बार-बार नमस्कार कहना और सम्यग्दृष्टिनी धर्मात्मा रेवती के लिए मेरी धर्मवृद्धि कहना। क्षुल्लक ने फिर पूछा कि महाराज ! इन दो के अतिरिक्त क्या किसी और को कुछ कहना है ? आचार्य महाराज ने कहा नही।

तब क्षुल्लक मन मे बिचारने लगा कि आचार्य महाराजने एकादशाग ज्ञाता भव्यसेन आदि अन्य मुनि तथा सम्यक्तियो के होते हुए उन सब को छोड़कर केवल सूरत मुनि और रेवती के लिए ही नमस्कार किया तथा धर्मवृद्धि दी। इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अस्तु ! जो इसका कारण होगा, वह स्वय मालूम हो जायेगा। व्यर्थ चिता में मग्न होने से क्या लाभ यह सोचकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक वहाँ से चल दिऐ। उत्तर मथुरा पहुच कर उन्होंने सूरत मुनि को गुप्ताचार्य की वन्दना कह सुनाई। उससे सूरत मुनि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने चन्द्रप्रभ के साथ खूब वात्सल्य किया जिससे चन्द्रप्रभ को बहुत खुशी हुई। बहुत ठीक कहा है कि—

'ये कुर्वन्ति वात्सल्य भव्या धर्मानुरागतः।
साधर्मिकेषु तेषा हि सफलं जन्म भूलते।'
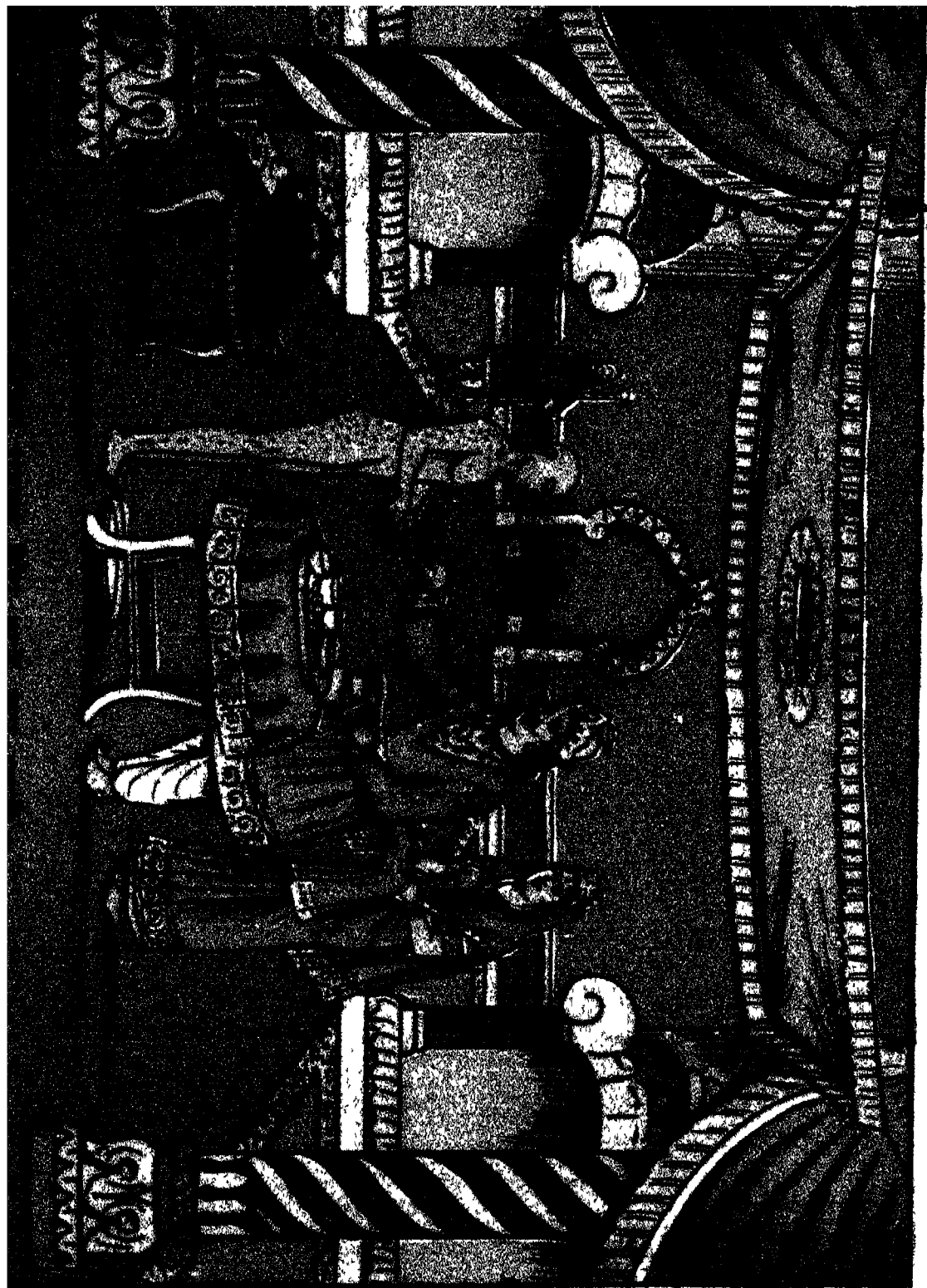
अर्थात् इस पृथ्वी मण्डल पर उन्हीं का मनुष्य जन्म प्राप्त करना सफल और सुख देने वाला है जो धर्मानुराग से साधर्मियों के प्रति समीचीन भावों से वात्सल्य प्रेम करते हैं। इसके अनन्तर क्षुल्लक चन्द्रप्रभ एकादशांग के ज्ञाता, नाममात्र के भव्यसेन मुनि के पास गये। उन्होंने भव्यसेन को सादर नमस्कार किया। पर भव्यसेन मुनि ने अभिमानवश चन्द्रप्रभ को धर्म-वृद्धि तक नही दी। ऐसे अभिमान को धिक्कार है कि जिन अविचारियो के बचनों में भी दरिद्रता है। बहुत ठीक कहा है—

'यत्र वाक्येऽपि दारिद्रय विवेक विकलात्मनि।
प्राघूर्णक क्रिया तत्र स्वप्ने स्यादपि दुर्लभा।'

जिन अविवेकी पुरुषो के आए हुए अतिथि का वाचनिक सत्कात करने में भी दरिद्रता है तो उनसे और सत्कार आदर होना तो स्वप्न मे भी दुर्लभ है। जैन शास्त्रों का ज्ञान सब दोषो से निर्दोष है, उसे प्राप्तकर हृदय पवित्र होना ही चाहिए परन्तु अत्यन्त खेद के साथ कहना पडता है कि उसके प्राप्त होने पर भी मान प्रकट होता है। पर यह शास्त्र का दोष नही, किन्तु यों कहना चाहिए कि—

'सत्य पुण्यविहिनानाममृत च विजायते' अर्थात् पापियों के लिए अमृत भी विष हो जाता है जैसे उत्तम गौदुग्ध सर्प के मुख मे गया हुआ विपरूप ही हो जाता है। जो भी हो, फिर भी यह देखना चाहिए कि इनमें कितना भव्यपना है या केवल नाम मात्र के ही भव्यसेन है, ऐसा विचारकर जब दूसरे दिन प्रात: काल भव्यसेन मुनि कण्डलु को लेकर शौच से निवृत होने के लिए वहिभूमि जाने लगे तब चन्द्रप्रभ क्षुल्लक भी उनके पीछे पीछे हो लिए। आगे चलकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने अपने विद्याबल से भव्यसेन के अग्रभाग की भूमि को कोमल और हरे-हरे तृणो से युक्त कर दिया तब भव्यसेन आगे की भूमि को कोमल तृणाकुरो से अच्छादित देखकर यह विचारने लगे कि जिनागम में तो इनको एकेन्द्रिय जीव कहा है, इनकी हिसा का विशेष पाप नही होता है, यह सोचकर उनकी कुछ परवाह न करते हुए उन पर से निकल गए। आगे चलकर जब वे शौच से निवृत्त हो चुके तो तब शुद्धि के लिए कमण्डलु की ओर देखा तो उसमें जल का एक बूंदु भी नही मिला, वह औंधा पड़ा हुआ था। तब तो इनको बहुत चिता हुई। इतने में ही एकाएक क्षुल्लक जी भी वहाँ आ पहुचे। कमण्डलु का जल यद्यपि क्षुल्लक महाराज ने ही अपनी विद्या के बल से सुखाकर उसे औंधा गिरा दिया था। तथापि वे बड़े आश्चर्य के साथ बोले—मुनिराज आगे चलकर कुछ दूरी पर एक निर्मल जल का सरोवर भरा हुआ है। वही पर जाकर शौच शुद्धि कर लीजिए। भव्यसेन अपने पद के कर्त्तव्य का कुछ भी ध्यान न रखते हुए जैसा क्षुल्लक ने कहा वैसा ही कर लिया। सच बात तो यह है कि—

किं करोति न मूढात्मा कार्यं मिथ्यात्वदूषितः।
न स्यान्मुक्ति प्रद ज्ञान चारित्र दुर्दशामपि।
उदगतो भास्करश्चापि किं घूकस्य सुखायते।
मिथ्यादृष्टे. श्रुत शास्त्र कुमार्गाय प्रवर्तते।
यथा मृष्ट भवेत्कष्ट सुदुग्ध तुम्बिकागतमं।

अर्थात् मूर्ख पुरुष मिथ्यात्व के वश होकर क्या निषिद्ध कार्य नही करते हैं। इन मिथ्यात्वदूषित पुरुषो के ज्ञान और चारित्र मोक्ष का कारण नही होते। जैसे सूर्य का उदय उल्लू को सुख का कारण नही होता। मिथ्या श्रद्धानियो का शास्त्र श्रवण करना, शास्त्राभ्यास करना कुमार्ग मे ही प्रवर्ताने का कारण है जैसे मीठा दूध भी तूंबड़ी के सम्बन्ध से कड़वा हो जाता हैं। इस प्रकार विचारकर चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने भव्यसेन मुनि का आचरण समझ लिया कि ये नाममात्र के जैनी है। वास्तव में इनका जैनधर्म पर श्रद्धान नही। ये मिथ्यात्वी है। उस दिन से चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ने भव्यसेन का नाम अभव्यसेन रखा। सत्य बात है कि दुराचार से क्या-क्या नही होता। इस प्रकार क्षुल्लक चन्द्रप्रभ ने भव्यसेन की परीक्षा कर अब रेवती रानी की परीक्षा करने का विचार किया। दूसरे दिन अपनी विद्या के बल से कमल पर बैठे हुए और वेदो के मन्त्रो का महाध्वनि के साथ उपदेश करते हुए चार मुख वाले ब्रह्म का वेष बनाया। और नगर से पूर्व दिशा की ओर कुछ दूरी पर ठहरा गये। ये हाल सुनकर राजा वरुण तथा भव्यसेन आदि अनेक जन उनके दर्शन के लिए वहाँ गये और ब्रह्माजी को उन्होने नमस्कार किया। उनके चरण स्पर्श कर बहुत प्रसन्न हुए और अपना अहोभाग्य समझने लगे। राजा वरुण ने जाते समय अपनी प्रिया रेवती से भी चतुर्मुख ब्रह्माजी की वन्दना के लिए चलने को कहा था। पर रेवती सम्यक्त्व रत्न से भूषित और जिन भगवान की अनन्य भक्त थी, इसलिए वह नही गयी। उसने राजा से उत्तर में कहा—'महाराज! मोक्ष और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्राप्त कराने वाला सच्चा ब्रह्मा जिनशासन मे आदि जिनेन्द्र कहा गया है। उनके सिवा कोई अन्य ब्रह्मा नही हो सकता और जिस ब्रह्मा की वन्दना के लिए आप जा रहे है वह ब्रह्मा नही किन्तु कोई धूर्त मनुष्यो के चित्तरजन करने के लिए ठगने के निमित्त ब्रह्मा का वेष बनाकर आया है। मै तो कदाचित् नही चलूंगी।'

दूसरे दिन क्षुल्लक ने गरुड़ पर बैठे हुए चतुर्भुज, शख, चक्र, गदा आदि से युक्त और दैत्यो को कपायमान करने वाले खड्ग सहित विष्णु भगवान का वेष बनाकर दक्षिण दिशा मे अपना डेरा जमाया और फिर तीसरे दिन बुद्धिमान क्षुल्लक ने बैल पर बैठे हुए पार्वती के मुख कमल को देखते हुए, शिर पर जटा और अग मे भस्म लगाए हुए, गणपति

युक्त और जिन्हें हजारों देव आ आकर नमस्कार कर रहे है, ऐसे शिव का वेष धारण कर पश्चिम दिशा की तरफ शोभा बढ़ाई।

चौथे दिन उस बुद्धिमान क्षुल्लक ने अपनी विद्या के बल से समवशरण मे सिंहासन पर विराजे हुए आठ प्रातिहार्यों से विभूषित मिथ्यादृष्टियों के अभिमान को नष्ट करने वाले मानस्तंभादि से युक्त निर्ग्रंथमुक्ताधारी और हजारो देव विद्याधर, चक्रवर्ती, राजा, मनुष्यादि आकर जिनके चरणारविंदो को नमस्कार करते हैं, ऐसा ससार श्रेष्ठ तीर्थंकर का भेष बनाकर उत्तर दिशा को अलकृत किया। तीर्थंकर भगवान का आगमन सुनकर सब मनुष्यों को आनन्द हुआ। सब प्रसन्न होते हुए भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करने को गये। राजा वरुण तथा भव्यसेन आदि भी वन्दना करने को गये। तीर्थंकर भगवान के दर्शन करने के लिए भी रेवती रानी को न जाती हुई देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुतो ने उससे वन्दना करने को चलने के लिये आग्रह भी किया पर वह नही गई। कारण कि वह सम्यक्त्व रूपी रत्न से भूषित थी। उसे सर्वज्ञ देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान के भाषण किए हुए वचनो पर पूर्ण तथा दृढ विश्वास था कि तीर्थंकर परमदेव चौबीस ही हाते है और वासुदेव नौ तथा रुद्र ग्यारह होते है, फिर उनकी सख्या का उल्लघन करने वाले ये दसवे वासुदेव, बारहवे रुद्र तथा पचीसवे तीर्थंकर कहाँ से आ सकते है? वे तो अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार जहां उन्हें जाना था, चले गये, फिर ये नवीन रचना कैसी? इनमें न तो कोई सच्चा रुद्र है, न बासुदेव है और तीर्थंकर है, किन्तु कोई मायाबी इन्द्रजालिक अपनी धूर्तता से लोगो को ठगने के लिए अनेक रूप धारण कर लेता है। यह विचारकर रेवती रानी तीर्थंकर वन्दना के लिए भी नही गयी। सच है कही मेरु पर्वत भी वायु से चलायमान हुआ है? कदापि नही। उसी प्रकार रानी रेवती भी सुमेरुवत् निश्चल रही।

इसके बाद क्षुल्लक चन्द्रप्रभ क्षुल्लक ही के वेष में परन्तु अनेक प्रकार की व्याधि से ग्रसित हो मलिन शरीर होकर रेवती रानी की परीक्षा के लिए मध्याह्न काल मे भोजन के निमित्त रेवती के महल मे पहुँचे। आँगन में पहुँचते ही मूर्छा खाकर पृथ्वी पर धड़ाम से गिर पड़े। उनको देखते ही धर्मवत्सला रेवती रानी 'हाय-हाय' शब्द उच्चारण करती हुई उनके पास दौड़ी आयी और बहुत भक्ति तथा विनय-पूर्वक उनको सचेत किया। इसके पश्चात् अपने महल मे ले जाकर बहुत कोमल और पवित्र भावो से हर्ष पूर्वक रानी रेवती ने प्राशुक आहार कराया। सच है जो दयावान होते हैं, उनकी बुद्धि दान देने मे स्वभाव से ही तत्पर रहती है।

चन्द्रप्रभ क्षुल्लक को अब भी सन्तोष न हुआ अत. उन्होने भोजन से निवृत्त होने के पश्चात् ही अपनी माया से असह्य दुर्गंधयुक्त वमन कर दिया। क्षुल्लक की यह दशा देखकर

रानी रेवती को बहुत दुःख हुआ। उसने बहुत पश्चाताप किया कि मुझ पापिन के द्वारा प्रकृतिविरुद्ध न जाने क्या आहार दे दिया गया जिससे इनको इतना कष्ट हुआ। मैं बड़ी अभागिनी हूँ जो ऐसे उत्तम पात्र का हमारे यहाँ निरतराय आहार नही हुआ। इसप्रकार बहुत कुछ पश्चाताप और आत्मनिदा कर अपनी असावधानता को धिक्कारते हुए उसने क्षुल्लक का शरीर पोंछा और किंचित उष्ण जल से धोकर निर्मल किया। क्षुल्लक रेवती की इस प्रकार अचल भक्ति देखकर बहुत प्रसन्नता के साथ बोले—देवो ! ससार में श्रेष्ठ मेरे परम् गुरु महाराज गुप्ताचार्य की धर्म वृद्धि तेरे मन को पवित्र करे जो कि सब सिद्धियों को देने वाली हैं और तुम्हारे नाम से मैने यात्रा मे जहाँ-जहाँ जिन भगवान की पूजा की है वह भी तुम्हे कल्याण को देने वाली हो। हे देवी ! यथार्थ में तुम ही सम्यक्त्वी हो। वास्तव में तुम जैन शासन के रहस्य की ज्ञाता हो। तुमने जिस ससार श्रेष्ठ और ससार समुद्र से पार करने वाले अमूढ़ दृष्टि अग को ग्रहण किया है उसकी मैने अनेक तरह से परीक्षा की, पर उसमे तुमको मेरु के समान अचल पाया। तुम्हारे इस त्रिलोकपूज्य सम्यक्त्व की कौन प्रशसा करने में समर्थ है। अर्थात् कोई नही। आप ही का मनुष्य जन्म पाना सफल है। इस प्रकार उत्तमोत्तम गुणभूषित रानी रेवती की प्रशसा कर उससे सर्ववृत्तान्त वर्णन कर क्षुल्लक अपने स्थान पर चला गया। इसके अनन्तर वरुण नृपति और रेवती रानी अपने राज्य का सुख पूर्वक पालन करते हुए दान पूजादि शुभ कार्य में अपना समय बिताने लगे इसी प्रकार राज्य करते-करते बहुत समय व्यतीत हो गया।

एक दिन राजा को किसी कारण से वैराग्य हो गया और ससार, शरीर भोगादिको से उसे बड़ी घृणा हुई। मैं आज ही मोहमाया का नाशकर अपने हित के लिए तत्पर हो जाऊं यह विचार कर उसी समय अपने शिवकीर्ति नामक पुत्र को राज्य भार सौपकर आप वन की ओर रवाना हुए और उसी समय मुनिराज से दीक्षा ग्रहण कर ली जो कि ससार का हित करने वाली है। दीक्षित होकर उन्होने पचाचार आदि मुनिव्रतो का निरतिचार पालन करते हुए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगे और अन्त में मृत्यु प्राप्त कर समाधिमरण के प्रभाव से वे माहेद्र स्वर्ग मे जाकर देव हुए। जिन भगवान के चरण कमलो की परमभक्त महारानी रेवती भी ससार के सुख को सुखाभास और अनित्य समझकर सब मायाजाल तोड जिनदीक्षा ग्रहण कर अपनी शक्ति अनुसार तपश्चर्या कर आयु के अन्त में ब्रह्म स्वर्ग में जाकर महर्द्धिक देव हुई। हे भव्य पुरुषो ! यदि तुम भी स्वर्ग या मोक्ष सुख को चाहते हो तो जिस तरह श्रीमती रेवती रानी ने मिथ्यात्व छोड अमूढ दृष्टि अंग का प्रकाश किया उसी तरह तुम भी मिथ्यात्व छोड़कर स्वर्ग मोक्ष सुख के देनेवाले अत्यन्त पवित्र और बडे-बडे देव विद्याधर राजा महाराजाओ से भक्तिपूर्वक ग्रहण किये हुए सम्यग्दर्शन का अग सहित निरतिचार पालन करो।

इति श्री अमूढ़दृष्ट्यंगे श्रीमद् रेवती कथा समाप्ता ॥

।। अथ उपगूहन अंग स्वरूप व कथा प्रारम्भ ।।

पवित्र जैन मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थ जनों के द्वारा की गई निन्दा को यथा-योग्य रीति से दूर करना तथा अपने गुण और पराये दोषों को ढकना उपगूहन अंग है। इस सम्यग्दर्शन के पांचवे उपगूहन अंग के पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले जिनेन्द्र भक्त की कथा इस प्रकार है—

नेमिनाथ भगवान के जन्म से पवित्र और दयालु पुरुषों से परिपूर्ण इस भारतवर्ष में सौराष्ट्र नाम का एक देश है। उसके अन्तर्गत पाटलिपुत्र नाम का मनोहर नगर है। जिस समय की यह कथा है उस समय वहाँ के राजा यशोध्वज थे। उसकी रानी का नाम सुसीमा था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके एक पुत्र था। उसका नाम सुवीर था। बेचारी सुसीमा के पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से वह महाव्यसनी और चोर हो गया है। सच तो यह है कि जिन्हें आगे कुयोनियो के दुःख भोगने होते है उनके न तो उत्तम कुल में जन्म लेना काम आता है और न ऐसे पुत्रो से बेचारे माता-पिता को कभी सुख होता है। गौडदेश के अन्तर्गत एक तामलिप्ता नाम की सुन्दर नगरी है इसमें जिनेन्द्र भक्त नाम के एक सेठ रहते थे। उनका जैसा नाम था वैसे ही वे जिनेन्द्र भगवान के भक्त भी थे। वे जिनेन्द्र भक्त सच्चे सम्यग्दृष्टि, उदारात्मा और विचार शील थे। वे अपने श्रावक-धर्म का बराबर पालन करते रहते थे। उन्होंने बडे-बड़े विशाल नवीन जिन मन्दिर बनवाए, बहुत से जीर्ण मन्दिरो का उद्धार किया जिन प्रतिमाएँ बनवाकर उनकी प्रतिष्ठा करवाई। वह चतुर्विध सघ को भक्तिपूर्वक दान देता और वैयावृत्य करता था। सम्यग्दृष्टि शिरोमणि जिनेन्द्रभक्त सेठ का महल सात मजिल था उसकी अन्तिम मजिल अर्थात् सातवीं मंजिल पर एक बहुत ही सुन्दर जिन चैत्यालय में श्री पार्श्वनाथ भगवान की बहुत मनोहर और रत्नमयी प्रतिमा थी। उस पर रत्नो के बने हुए तीन छत्र बड़ी शोभा दे रहे थे। उन छत्रों में से एक पर वैडूर्यमणि नाम का अत्यन्त कांतिमान बहुमूल्य रत्न लगा हुआ था। इस रत्न का वृत्तात राजा यशोध्वज के पुत्र सुवीर ने सुना। उसने अपने साथियो को बुलाकर कहा—सुनिये ! जिनेन्द्रभक्त सेठ के चैत्यालय में प्रतिमा पर लगे हुए छत्रत्रयो में एक वैडूर्यमणि नाम का बहुमूल्य रत्न लगा हुआ है। क्या तुम लोगों मे से कोई उस रत्न को लाने का साहस रखता है ? उनमे से सूर्यक नाम का एक चोर बोला महाराज ! यह तो एक अत्यन्त साधारण बात है। पर यदि वह रत्न इन्द्र के मस्तक पर भी होता तो मैं उसे क्षण भर मे ला सकता था। सच है जो जितने दुराचारी होते है वे उतना ही पाप कर्म भी कर सकते है। सूर्यक के लिए सुवीर की ओर से रत्न लाने की आज्ञा हुई। वहाँ से आकर उसने एक मायावी क्षुल्लक का वेष धारण किया। क्षुल्लक बनकर लोगो को ठगने के लिए वह व्रत उपवासादि करने लगा। उससे उसका शरीर कुछ ही दिनो में बहुत कृश हो गया।

तत्पश्चात् वह अनेक नगरो और ग्रामों में घूमता हुआ और लोगों को अपने कपटी वेष से ठगता हुआ कुछ दिनो में तामलिप्तापुरी आ पहुँचा। जिनेन्द्रभक्त सेठ बड़े धर्मात्मा थे इसलिए धर्मात्माओ को देखकर उन्हे बडी प्रसन्नता होती थी। उन्होने जब इस धूर्त क्षुल्लक के आगमन का समाचार सुना तो उन्हे बहुत प्रसन्नता हुई। वे उसी समय सब गृह कार्य छोड़कर क्षुल्लक महाराज की वदना के लिए गये। तपश्चर्या से उनके क्षीण शरीर को देखकर उनकी उस पर और अधिक श्रद्धा हो गयी। उन्होंने भक्ति के साथ क्षुल्लक को प्रणाम किया और फिर वे इस क्षुल्लक को अपने घर पर ले आए। सच बात तो यह है कि--

'अहो धूर्तस्य धूर्तत्व लक्ष्यते के न भूतले।
यस्य प्रपचतो गाढ विद्वान्सश्चापि वचित.॥'

अर्थात् जिनकी धूर्तता से अच्छे-अच्छे विद्वान भी जब ठगे जाते है तो बेचारे साधारण पुरुषों की क्या मजाल जो वे उनकी धर्तता का पता पा सके।

क्षुल्लक जी ने चैत्यालय मे पहुँचकर जब उस वैडूर्यमणि को देखा तो उनका हृदय आनन्द के मारे बाँसो उछलने लगा। वे उसी प्रकार सतुष्ट हुए जिस प्रकार कोई सुनार अपने पास कोई वस्तु बनवाने के लिए लाए हुए सोने को देखकर सतुप्ट होता है क्योंकि उसकी अभिरुचि सदैव चोरी की ओर ही लगी रहती है। जिनेन्द्र भक्त को उसके मायाचार का कुछ पता नही लगा। इसीलिए उस मायाचारी क्षुल्लक के मना करने पर भी उसे बड़ा धर्मात्मा समझकर उन्होने आग्रहपूर्वक अपने जिनालय की रक्षा करने के लिए उसे नियुक्त कर दिया और आप उससे पूछकर समुद्र-यात्रा करने के लिए चल पडे। जिनेन्द्रभक्त के घर से बाहर होते ही क्षुल्लक महाराज की मनोकामना सिद्ध हो गयी। उसी दिन अर्द्ध रात्रि के समय वह उस तेजस्वी रत्न को कपडो में छिपाकर घर से बाहर हो गया, पर पापियो का पाप कभी नही छिपाता। कहा भी है--

'पापी पाप करोत्यत्र प्रच्छन्नमपि पापतः।
तत्प्रसिद्धं भवत्येव भवभ्रमणदायकः ॥'

अर्थात् पापी लोग बहुत छिपकर भी पाप करते है, पर वह छिपता नही और प्रकट हो ही जाता है और परिणाम मे अनन्तकाल तक दुःख भोगना पडता है। यही कारण था कि रत्न लेकर भागते हुए उसे सिपाहियो ने देख लिया। वे उसे पकडने को दौडे। क्षुल्लक जी दुबले-पतले पहले से ही हो रहे थे, इसीलिए भागने मे अपने को असमर्थ समझ विवश होकर सेठ जिनेन्द्र भक्त ही की शरण मे गये और प्रभो! बचाइये, बचाइये! यह कहते हुए उनके चरणो में गिर पडे।

"चोर भागा जाता है, उसे पकड़ना", ऐसे शब्दो को श्रवण कर जिनेन्द्र भक्त ने

समझ लिया कि यह चोर है, और क्षुल्लक का वेष धारण कर लोगों को ठगता फिरता है। यह जानकर भी दर्शन की निन्दा होने के भय से जिनेन्द्र भक्त ने क्षुल्लक को पकड़ने को आये हुए अपने सिपाहियों से कहा—'आप लोग बडे नासमझ हैं। आपने बहुत बुरा किया जो एक तपस्वी को चोर बताया। रत्न तो ये मेरे कहने से लाए थे। आप नही जानते कि ये बड़े सच्चरित्र साधु है। अस्तु, आगे से ध्यान रखिए।'

जिनेन्द्र भक्त के वचनो को सुनते ही सब सिपाही ठडे पड़ गये और उन्हे नमस्कार कर अपने स्थान पर चले गये। जब सब सिपाही लोग चले गये तब जिनेन्द्र भक्त ने क्षुल्लक जी से रत्न लेकर एकात में कहा—मुझको अत्यन्त दु ख के साथ कहना पड़ता है कि तुम ऐसे पवित्र वेष को धारण कर उसे ऐसे नाच कर्मों से कलकित कर रहे हो। क्या तुम्हे यह उचित है ? स्मरण रखो, जो मनुष्य केवल ससार को ठगने के लिए ऐसा मायाचार करता है, बाहर धर्मात्मा बनने का ढोंग रचता है, लोगो को धोखा देकर अपने मायाजाल में फसाता है, वह मनुष्य तिर्यचादि दुर्गति का पात्र होता है। क्या यह बाहरी चमक दमक और सीधापन केवल दिखावा है। केवल बगुलो की हसो मे गणना कराने के लिए है ? ऐसे अनर्थों से तुम्हे कुगतियो मे अनन्तकाल पर्यंत दु ख भोगने पडेगे। शास्त्रकारो ने पापी पुरुषों के लिए लिखा है—

'ये कृत्वा पातक पापाः पोषयति स्वक भुवि।
त्यक्तवा न्यायक्रमं तेषां महादुःखभवार्णवे॥'

अर्थात् जो पापी लोग न्याय-मार्ग छोडकर पाप के द्वारा अपना निर्वाह करते हैं, वे ससार समुद्र मे अनन्तकाल तक दु ख भोगते हैं। ध्यान रखो कि अनीति से चलने वाले और अत्यन्त तृष्णावान् तुम जैसे पापी लोग बहुत ही शीघ्रता से नाश को प्राप्त हो जाते हैं। तुम्हे उचित है कि तुम बडी कठिनता से प्राप्त हुए इस मनुष्य जन्म को इस प्रकार अनर्थों में न लगाकर कुछ आत्महित करो।' इस प्रकार शिक्षा देकर जिनेन्द्र भक्त सेठ ने अपने स्थान से उसे पृथक कर दिया। इसी प्रकार और भी भव्य पुरुषो को दुर्जनो के मलिन कर्मों से निदा को प्राप्त होने वाले सम्यग्दर्शन की रक्षा करना योग्य है। जिन भगवान का शासन पवित्र है निर्दोष है, उसे जो सदोष बनाने का प्रयत्न करता है, वह मूर्ख है, उन्मत्त है। ऐसा ठीक भी है क्योकि उनको वह निर्दोष, पवित्र जैन धर्म अच्छा जान भी नही पड़ता जैसे पित्तज्वर वाले को अमृत के समान मीठा गोदुग्ध भी कड़वा ही लगता है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के उपगूहन अग का जिनेन्द्र भक्त ने पालन किया, उसी प्रकार अन्य भव्य पुरुषो को भी अवश्य उपगूहन अग का पालन करना चाहिए।

इति उपगूहनाङ्गे जिनेन्द्रभक्तस्य कथा समाप्ता।

॥ अथ स्थितिकरण अंग वर्णन प्रारम्भः ॥

कर्म के उदयवश किसी कारण से स्वयं को या पर को धर्म से शिथिल होते हुए देखे तो उस समय जिस तरह बने उस तरह धर्म मे दृढ़ तथा स्थिर करना स्थितिकरण है। सम्यग्-दृष्टि को उचित है कि चित्त चलायमान होने वाले को धर्मोपदेश देकर दृढ़ करे। निर्धन को को धन, आजीविका देकर, रोगी को औषध देकर भयवान को निर्भय कर धर्म में लगाए। सम्यग्दर्शन के इस स्थितिकरण गुण पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले वारिषेण मुनि की कथा इस प्रकार है—

भगवान के पंचकल्याणकों से पवित्र और संसार श्रेष्ठ वैभव के स्थान भारतवर्ष में मगध नाम का एक देश है। उसके अन्तर्गत राजगृह नाम का एक बहुत सुन्दर और प्रसिद्ध नगर है। उसकी सुन्दता संसार को चकित करने वाली है। नगर निवासियों के पुण्योदय से वहाँ के राजा श्रोणिक बड़े गुणी थे। वह सम्यग्दृष्टि उदार, धर्म प्रेमी और राजनीति के अच्छे विद्वान थे। उनकी महारानी का नाम चेलना था। वह भी सम्यक्त्व रूपी अमूल्य रत्न से भूषित थी। वह बहुत सुन्दर, बुद्धिमती, सती, सरल स्वभाव वाली और विदुषी थी। वह सदा दान देती और जिन भगवान की पूजा करती थी, बड़ी श्रद्धा के साथ उपवास, स्वाध्याय करती थी और पवित्रचित्त थी। उसके वारिषेण नाम का एक पुत्र था। वारिषेण बहुत गुणी श्रावक धर्म प्रतिपालक और धर्मप्रेमी था। एक दिन मगधसुन्दरी नाम की एक वैश्या राजगृह के उपवन में क्रीड़ा करने को आई हुई थी। उसने वहाँ श्रीकीर्ति नामक सेठ के गले में एक बहुत ही सुन्दर रत्नो का हार पडा हुआ देखा। उसे देखते ही मगधसुन्दरी उस हार पर मुग्ध हो गयी। उस हार के प्राप्त किये बिना उसको अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगा। समस्त संसार उसे हारमय दिखाई देने लगा। वह उदास मुख होकर अपने घर पर लौट आयी। जब रात्रि के समय उस का प्रेमी विद्युत चोर उसके घर पर आया, तब वह मगधसुन्दरी का उदास मुख देखकर बड़े प्रेम के साथ पूछने लगा—हे प्रिये ! मै आज तुमको उदासमुख देख रहा हूँ। इसका क्या कारण है, मुझे सत्य-सत्य बताइये क्योकि तुम्हारी यह उदासी मुझे अत्यत दुःखी कर रही है। तब मगधसुन्दरी ने विद्युत् चोर पर कटाक्ष बाण चलाते हुए कहा प्राणवल्लभ ! तुम मुझ पर इतना प्रेम करते हो, पर मुझको तो जान पड़ता है कि यह सब तुम्हारा दिखाऊ प्रेम है और यदि तुम्हारा मुझ पर सच्चा प्रेम है तो श्रीकीर्ति के गले का हार जिसे कि आज मैंने बगीचे मे देखा है, लाकर मुझे दीजिये, जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो। वह हार बहुत ही सुन्दर है। मेरा तो विश्वास है कि वह, अद्वितीय हार एक ही है। आप यदि उसे लाकर दे तभी मै समझूंगी कि आप मुझसे सच्चा प्रेम करते है और तब ही मेरे प्राणवल्लभ होने के अधिकारी हो सकेंगे, अन्यथा नही।

विद्युत् चोर मगधसुन्दरी की ऐसी कठिन प्रतिज्ञा सुनकर पहले तो कुछ हिचका, पर

साथ ही उसके प्रेम ने उसे हार चुराकर लाने को बाध्य किया। उसे अपने जीवन की भी कुछ परवाह न करके इस कठिन कार्य के लिए भी तत्पर होना पड़ा। वह उसे संतोष देकर उसी समय वहाँ से हार चुराने के लिए श्रीकीर्ति सेठ के महल पहुँचा। उसने उनके शयनागार में पहुँचकर उनके गले में से अपनी कार्यकुशलता के साथ हार निकाल लिया। फिर बड़ी शीघ्रता से वहाँ से चलता बना। वह पहरेदारों के मध्य में से साफ निकल जाता पर अपने दिव्य तेज से घोर अन्धकार का नाश करने वाले हार ने उसके परिश्रम पर कुछ भी दृष्टि न देकर उसके प्रयत्न को सफल न होने देने के लिए अपने दिव्य प्रकाश को न रोका। इससे उसे भागते हुए सिपाहियों ने देख लिया और फिर उसे पकड़ने को दौड़े विद्युत चोर भी खूब तीव्रता से भागा और भागता-भागता श्मशान की ओर जा निकला। उस समय वारिषेण वहाँ कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। विद्युत् चोर ने वहाँ ही उचित मौका देखकर अपने पीछे आने वाले सिपाहियों के पंजे से छूटने के लिए उस हार को वारिषेण के आगे डाल दिया और वहाँ से भाग गया। इतने में सिपाही भी वहा आ पहुँचे। वे सिपाही ध्यान में स्थित वारिषेण को हार के पास खड़े देखकर भौच्चके से रह गये। वे उसे उस अवस्था में देखकर हँसे और बोले—वाह ! चाल तो खूब खेली। मानो हम तो कुछ जानते ही नही मुझे धर्मात्मा और ध्यानी जानकर सिपाही छोड जाएगे ऐसा सोच रहे हो पर याद रखिए। हम लोग अपने स्वामी की सच्ची नौकरी करते है। हम तुमको कभी नही छोडेगे।'

यह कह कर वारिषेण को बांधकर राजा श्रेणिक के पास ले गये और कहने लगे—महाराज ! ये हार चुराकर लिये जा रहे थे। अतः हमने इन्हे पकड लिया। यह सुनते ही राजा श्रेणिक के हृदय में क्रोध का आवेश हो गया और उनका चेहरा लाल हो गया। आँखों से क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्होंने सिंह के समान गरज कर कहा—देखो ! इस पापी का नीच कर्म, जो श्मशान मे जाकर ध्यान करता है और लोगो को यह दिखलाकर कि मैं बडा धर्मात्मा और ध्यानी हूँ, ठगता है। धोखा देता है। रे पापी ! कुल कलंक ! देखा मैंने तेरे धर्म का ढोंग। सच कहा है कि दुराचारो मनुष्य लोगों को धोखा देने के लिए क्या अनर्थ नही करते ? जिसको मैं राज्य सिंहासन पर बैठाकर जगत् का अधीश्वर बनाना चाहता था, मैं नही जानता था कि वह ऐसा नीच होगा। इससे बढकर और क्या कष्ट हो सकता है ? अच्छा. जो इतना दुराचारी है, प्रजा को धोखा देकर ठगता है उसे यहाँ से ले जाकर इसका मस्तक छेदन कर दो ! अपने खास पुत्र के लिए ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर सब चित्रलेख से होकर श्रेणिक महाराज की ओर देखने लगे सबकी आंखों में पानी भर आया-पर किसका साहस, जो उनकी आज्ञा का प्रतिवाद कर सके। जल्लाद उसी समय वारिषेण को वध्यभूमि मे ले गये और उसी समय उनमें से एक ने खड्ग निकालकर उनकी गर्दन पर मारा। पर कैसा आश्चर्य ! उनकी गर्दन पर बिल्कुल घाव नहीं हुआ, अपितु वारिषेण को

उल्टा यह जान पड़ा मानों किसी ने उस पर फूलो की माला फेकी हो। जल्लाद लोग देखकर दाँतों तले उंगली दबा गये। वारिषेण के पुण्य ने उस समय उसकी रक्षा की। सच कहा है—

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा।
सुप्त प्रमत्त विषमस्थितं वा रक्षति पुण्यानि पुरास्कृतानि ॥

अर्थात् निर्जन वन, रण, (सग्राम) शत्रु, जल, अग्नि इनके मध्य में, तथा महार्णव के मध्य में, पर्वत के शिखर पर, सुषुप्तावस्था मे, विकराल विषम स्थान मे स्थिति होने पर पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म रक्षा करता है। और धर्मात्मा व पुण्यवान मनुष्यो का कही कष्ट नही होता। उनके पुण्य के प्रभाव से दु ख रूपी सामग्री भी सुख रूप मे परिणित हो जाती है। यथोक्त—

अहो पुण्येन तीव्राग्निर्जलत्वं भूतले, समुद्र स्थलतामेति दुर्विष च सुधायते (१)
शत्रु मित्रत्वमाप्नोति विपत्तिः सम्पदायते
तस्मान्सुखैषिणो भव्यो· पुण्य कुर्वतु निर्मलम्। (२)

अर्थात् पुण्य के उदय से हवन से उत्तेजित ऊपर को उड रहे है स्फुलिंग जिसके, ऐसी तीव्राग्नि भी जल रूप हो जाती है, भयकर विकराल समुद्र स्थलरूप हो जाता है। प्राणो का घातक हलाहल विष अमृत हो जाता है। अपने नाममात्र के उच्चारण को श्रवण करने में असमर्थ ऐसे शत्रु मित्र हो जाते है। दु ख चिता रूपी ज्वालाओ से मन को सतप्त करने वाली विपत्ति सपत्ति के रूप में परिणत हो जाती है। इसलिए जो मनुष्य सुख की इच्छा करते है, उनको पवित्र कार्यों द्वारा पुण्योत्पादन करना चाहिए। जिन भगवान के चरण कमलो की पूजा करना, चतुर्विध दान देना, व्रत उपवास करना, स्वाध्याय करना, परोपकार करना, सब जीवो को अभयदान देना, सदा मायाचार रहित पवित्र चित्त रहना, पचपरमेष्ठी की भक्ति करना, हिसा, झूठ, चोरी आदि पाप कर्मों का न करना, पुण्य उत्पन्न होने के कारण है। वारिषेण की यह आश्चर्यजनिक अवस्था देखकर सब उसकी जयजयकार करने लगे। देवो ने प्रसन्न होकर जय-जय का उच्चारण करते हुए उन पर सुगंधित फूलों की वर्षा की। नगर निवासियो को इस समाचार के सुनने से बडा आनन्द हुआ। सबने एक स्वर मे कहा वारिषेण तुम धन्य हो। वास्तव मे तुम साधु पुरुष हो। तुम्हारा चरित्र बहुत निर्मल है। तुम जिन भगवान के सच्चे सेवक हो। तुम पवित्र और पुरुषोत्तम हो! तुम जैन धर्म के सच्चे पालन करने वाले हो। पुण्यपुरुष! तुम्हारी जितनी प्रशंसा की जाए उतनी थोडी है। सच है, पुण्य के प्रभाव से क्या नही होता?

महाराजा श्रेणिक ने जब इस अलौकिक घटना का वृत्तात सुना तो उनको भी इस अपने बिना विचारे किए हुए कृत्य पर बहुत पश्चाताप हुआ। वे दु खी होकर बोले—

ये कुर्वंति जडात्मान: कार्यं लोकेऽविचार्य च
ते सीदति महतोऽपि मादृशा दुख सागरे।

अर्थात् जो मूर्ख लोग आवेश में आकर बिना बिचारे किसी कार्य को कर बैठते हैं वे फिर बड़े ही क्यों न हो, उनको मेरी तरह से दु.ख सागर में पड़ना पड़ता है। अतएव चाहे कैसा भी काम क्यो न हो, उसको बडे बिचार के साथ करना चाहिए।

श्रेणिक महाराज इस प्रकार बहुत कुछ पश्चाताप करके अपने पुत्र वारिषेण के पास वध्यभूमि में आए। वारिषेण की पुण्यमूर्ति को देखते ही उनका हृदय पुत्र प्रेम से भर आया। उनकी आँखो से अश्रुपात होने लगे। बडे प्रेम के साथ उसने अपने पुत्र को छाती से लगाया और रोते हुए कहने लगे—प्यारे पुत्र! मेरी मूर्खता को क्षमा करो। मैं क्रोध के आवेश में आकर अधा हो गया अर्थात् विचारहीन हो गया था। इसलिए पूर्वापर का कुछ विचार न करके मैने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया। हे पुत्र! पश्चाताप रूपी अग्नि से मेरा हृदय जल रहा है। उसे अपने क्षमा रूपी जल से शान्त कर दो। मं दु:ख रूपी सागर मे डूबा हुआ गोते खा रहा हूँ। मुझे अब कृपा रूपी सहारा देकर निकालो। अपने पूज्य पिता की यह हालत देखकर वारिषेण को बहुत कष्ट हुआ। वह बोला पिता जी! आप यह क्या कहते है? आप अपराधी कैसे? आपने तो अपने कर्त्तव्य का पालन किया है और कर्त्तव्य का पालन करना कोई अपराध नही। न्यायी पुरुषों का यही धर्म है कि चाहे अपना पुत्र हो या भाई तथा कैसा ही स्नेही क्यो न हो, उसको अपराध करने पर अवश्य ही यथा योग्य दण्ड देते है। पक्षपात कदाचित नही करते। जैसे नीतिकार ने कहा है—

दण्डो हि केवलोलोकमिमचामु च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथा दोष शम धृत।

अर्थात् चाहे राजा का शत्रु हो अथवा पुत्र हो, उसके किए हुए दोष के अनुसार दण्ड देना ही राजा को इस लोक और परलोक में रक्षा करता है। मान लीजिए कि यदि आप पुत्र-प्रेम के वश होकर मेरे लिए दण्ड की आज्ञा न देते तो उससे प्रजा क्या समझती? चाहे मैं अपराधी नही भी था, तब भी क्या प्रजा इस बात को देखती? कदापि नही। वह तो यही समझती कि राजा ने अपना पुत्र जानकर छोड़ दिया। पिताजी! आपने बहुत बुद्धिमानी का कार्य किया है। आपकी नीति परायणता को देखकर मेरा हृदय आनन्द समुद्र मे मग्न हो रहा है। आपने आज पवित्र वंश को लाज रख ली। यदि आप ऐसे समय में जरा भी अपने कर्त्तव्य से शिथिल हो जाते तो सदा के लिये कुल को कलक का टीका लग जाता। इसलिए आपको तो प्रसन्न होना चाहिए न कि दु:खी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि मेरा इस समय पाप कर्म का उदय था जो मुझको निरपराधी होते हुए भी अपराधी बनना

पड़ा, परन्तु मुझ इस बात का किंचित भी खेद नहीं क्योंकि—

'अवश्य मेवभोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'

जो जैसा शुभाशुभ कर्म करता है उसको तदनुसार शुभाशुभ फल भी अवश्य भोगना पडता है । फिर मेरे लिए कर्मों का फल भोगना कोई नई बात नही है ।

पुत्र के ऐसे उन्नत और उदार विचार सुनकर श्रेणिक बहुत आनन्दित हुए और सब दुःख को विस्मरण कर कहने लगे—पुत्र ! सत्पुरुषो ने बहुत ठीक लिखा है—

चदन घृष्यमाण च दह्यमानो यथाऽगुरु
न याति विक्रिया साधु. पीडितोऽपि तथाऽपरै ॥

अर्थात् चंदन को कितना भी घिसिये, अगरु को खूब जलाइये, उसने उनका कुछ न बिगड कर उल्टी उनमे से सुगधि निकलती है । उसी प्रकार सत्पुरुषो को दुष्ट लोग कितना भी सतावे, कितना ही कष्ट दे, पर वे उससे कुछ भी विकृत अवस्था को प्राप्त न होकर सदा शान्त रहते है और अपने को कष्ट देने वाले पर प्रत्युपकार ही करते है । वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युत् चोर को बहुत भय हुआ । उसने सोचा कि यदि राजा को मेरा इनके चरणाग्र भूमि मे हार फेकने का वृत्तात मालूम हो जाएगा तो मुझे बहुत कठोर दण्ड देगे । इससे मैं स्वय ही जाकर उनसे सब सत्य-सत्य वृत्तात कह दू जिससे कदाचित मुझको वे क्षमा कर दे । ऐसा विचार कर विद्युत्चोर राजा के सम्मुख उपस्थित होकर हाथ जोड सविनय निवेदन करने लगा—महाराज ! यह सब पाप कर्म मेरा है । पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष है । पापिन वेश्या के मोहजाल मे फसकर यह नीच कृत्य मैंने किया था । पर आज से मैं ऐसा कभी नही करूँगा । मुझे दयाकर क्षमा कीजिए ।

राजा श्रेणिक विद्युत् चोर को अपने नीचकर्म के पश्चाताप से दुखित देखकर अभय-दान देकर अपने प्रिय पुत्र वारिषेण से बोले— पुत्र ! अब राजधानी में चलो । तुम्हारी माता तुम्हारे वियोग से बहुत दुखी हो रही होगी । अपने दर्शन देकर उनके नेत्रो को तृप्त करो । तब सासारिक विषय भोगो से पराङ्मुख वारिषेण अपने पूज्य पिता के इन स्नेह युक्त वचनो को सुनकर बोले—"हे पिता ! मुझको क्षमा कीजिए । मैने ससार की लीला बहुत देख ली । मेरी आत्मा अब उसमे प्रवेश करने के लिए मुझे रोकती है । अतएव आप मुझसे घर पर चलने का आग्रह न करके अब मुझे शीघ्र ही उस अखड अविनाशी चिरस्थायी सच्चा आत्मीक सुख प्राप्त करने की सीढी जिनदीक्षा लेने की आज्ञा दीजिए क्योकि प्रथम तो इस काल में आयु ही बहुत न्यून है और उसमें से बहुत भाग तो पहले ही व्यतीत हो चुका और शेष भी अब पल, घडी, पहर, दिन पक्ष, मासादि करके व्यतीत होता जाता है तथा गया हुआ समय कोटि प्रयत्न करने पर भी वापिस नही आ सकता । इसलिए अब बिलब

करना उचित नहीं हैं। आज्ञा दीजिए, मैं आज ही जिन भगवान् के चरणों का आश्रय ग्रहण करूँगा। सुनिये, अब से मेरा कर्त्तव्य होगा कि मैं सदैव वन में रहकर मुनि मार्ग पर चलता हुआ निर्दोष शुद्ध आहार अपने पाणि पात्र में लूगा। निजात्मध्यान मे लवलीन हो आत्महित करूँगा। मुझे अब यह ससार दु:खमय और केलि के स्तम्भवत् निस्सार मालूम पड़ता है। इसीलिए मैं जानबूझ कर अपने को दु:खों मे फसाना नही चाहता क्योंकि हाथ में दीपक लेकर भी यदि कोई कूप में गिरना चाहे तो उस दीपक से क्या लाभ ? मुझे अक्षरों का ज्ञान है। और ससार की लीला से भी परिचित हू। इतना होते हुए भी यदि मैं इसमें फसा रहू तो मुझ जैसा कौन मूर्ख होगा ? मै आपकी आज्ञा का उल्लघन कर विरोध कर रहा हू अतः मुझे आप क्षमा कीजिए।"

ऐसा कह पिता को नमस्कार कर वारिषेण उसी समय वन की ओर चल दिए और सुखदेव मुनि के पास जाकर उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। तपस्वी बनकर वारिषेण मुनि बड़ी दृढता के साथ मुनियो का चारित्र नियतिचार पालन करते हुए कठिन से कठिन तपश्चर्या करने लगे। वे अनेक देश विदेशों में घूमकर धर्मोपदेश करते हुए एक बार पलाशकूट नामक नगर मे पहुँचे। वहाँ उस नगर मे श्रेणिक का मन्त्री अग्निभूति रहता था। उनके पुत्र का नाम पुष्पडाल था। वह बहुत धर्मात्मा था और दान, पूजा, व्रत आदि शुभ कार्यों में सदैव तत्पर रहता था। वह वारिषेण मुनि को भिक्षार्थ आते हुए देखकर प्रसन्नतापूर्वक उनके सम्मुख आया और भक्तिपूर्वक आह्वनन कर उसने नवधाभक्तिपूर्वक हर्ष के साथ मुनि को प्रासुक भोजन कराया। आहार करके जब वारिषेण मुनि वन में जाने लगे तब पुष्पडाल मन्त्री पुत्र भी कुछ तो भक्ति से, कुछ वाल्यावस्था की मित्रता के सम्बन्ध से और कुछ राजपुत्र के लिहाज से थोड़ी दूर उन्हे पहुँचा आने के लिए अपनी स्त्री से पूछ कर उनके पीछे-पीछे चल दिया। दूर तक जाने की इच्छा न होते हुए भी वह मुनि के साथ-साथ चला गया क्योंकि उसे विश्वास था कि थोडी दूर जाने के पश्चात् वे मुझे लौट जाने के लिए कहेगे ही, पर मुनि ने उससे कुछ नही कहा तो उसकी चिता बढ गई। उसने मुनि को यह समझाने के लिए कि मैं नगर से अधिक दूर आ गया हूं, मुझे घर पर शीघ्र वापिस जाना है, कहने लगा—कुमार ! यह वही सरोवर है जहाँ हम और आप खेला करते थे। यह वही छायादार और उन्नत आम्रवृक्ष है जिसके नीचे आप और हम बाललीला का सुख लेते थे।

इस प्रकार के अपने पूर्व परिचित चिन्हो को बारबार दिखलाकर पुष्पडाल ने मुनि का ध्यान अपने दूर निकल आने की ओर आर्काषित करना चाहा, पर मुनि उसके हृदय की बात जानकर भी उसे लौट जाने को न कह सके क्योंकि उनका वैसा मार्ग नही था। इसके प्रतिकूल उन्होंने पुष्पडाल के कल्याण की इच्छा से उसे खूब वैराग्य का उपदेश दे-देकर जिन-दीक्षा दे दी। पुष्पडाल मुनि हो गया और सयम का पालन करने लगा। वह

शास्त्राभ्यास भी करने लगा परन्तु तब भी उसकी विषय वासना मिटी नही। उसको बार-बार अपनी स्त्री स्मरण आने लगी। आचार्य कहते है कि—

धिक्कामं धिङ् महामोह
धिङ् भोगान्यैस्त्कर्वाचित'।
सन्मार्गोपि स्थितो जन्तु-
न जानाति निज हितम्।

अर्थात् उस काम को, उस मोह को और उन भोगो को धिक्कार है जिनके वश होकर उत्तम मार्ग मे चलने वाले भी अपना हित नही कर पाते। यही हाल पुष्पडाल का हुआ जो मुनि होकर भी अपनी स्त्री को हृदय से न भुला सका। इस प्रकार पुष्पडाल को बारह वर्ष व्यतीत हो गये। उसकी तपचर्या सार्थक होने के लिए गुरु ने उसे तीर्थ यात्रा कर आने की आज्ञा दी और उसके साथ स्वय भी चल दिए।

वे दोनो मुनि तीर्थ यात्रा करते करते एक दिन भगवान महावीर के समवशरण में पहुचे। भगवान को उन्होने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उस समय गधर्व देव भगवान् की भक्ति कर रहे थे। उन्होने काम की निदा मे एक पद्य पढा। वह पद्य यह था—

महल कुचैली दुम्मणी णाहेपवसियण्ण,
कह जीवे सहसणिय धर उब्भते बिरहेण॥

अर्थात् स्त्री चाहे मैली हो, कुचैली, हो, हृदय की मलिन हो पर वह भी अपने पति के प्रवासी होने पर, विदेश मे रहने पर नही जीकर पति वियोग से वन-वन पर्वतो-पर्वतो में मारी फिरती है अर्थात् काम के वश होकर न करने योग्य काम भी कर डालती है।

उक्त पद्य को सुनते ही पुष्पडाल मुनि भी काम से पीडित होकर अपनी स्त्री की प्राप्ति के लिए व्रत से उदासीन होकर अपने नगर की ओर चले गये। वारिषेण मुनि भी उनके हृदय की बात जानकर उनको धर्म में दृढ करने के लिए उनके साथ-साथ चल दिए। शिष्य सहित वारिषेण मुनि भी नगर मे पहुचे। उन्हे देखकर चेलना रानी ने सोचा कि मालूम होता है पुत्र चारित्र से चलायमान हो गया है नही तो इस समय इनके यहाँ आने की क्या आवश्यकता थी? यह विचार कर उनकी परीक्षा के लिए उनके बैठने को एक काष्ठ का और दूसरा रत्न जडित—ऐसे दो सिहासन दिए। वारिषेण मुनि रत्न जड़ित सिहासन पर न बैठकर काष्ठ के सिहासन पर बैठ! सच है सच्चे मुनि ऐसा कार्य नही करते जो आचरण मे सदेहजनक हो। इसके पश्चात वारिषेण मुनि ने अपनी माता का सदेह दूर करने के लिए कहा—माताजी, कुछ समय के लिए मेरी सब स्त्रियो को तो यहाँ बुलावा लीजिए।

महारानी ने वैसा ही किया। वारिषेण की समस्त स्त्रियाँ वस्त्राभूषणो से सुसज्जित

होकर मुनि के सम्मुख उपस्थित होकर उनके चरणारविंदों को नमस्कार कर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगीं। वारिषेण ने अब अपने शिष्य पुष्पडाल मुनि से कहा—देखो ! ये मेरी स्त्रियाँ हैं, यह राज्य है यह सम्पत्ति है, यदि तुम्हें ये अच्छी जान पड़ती है और तुम्हारा ससार से प्रेम है तो इन सबको तुम स्वीकार करो।

वारिषेण की यह आश्चर्य में डाल देने वाली बात सुनकर पुष्पडाल को बड़ा खेद हुआ वह गुरु के चरणों को नमस्कार कर कहने लगा—प्रभो ! आप धन्य हैं। आपने ही लोभरूपी पिशाच को नष्ट कर जिन धर्म का सच्चा सार समझा है। कृपासागर ! वास्तव में मैं तो जन्माध हूँ। इसीलिए तो तप रत्न को प्राप्त करके भी अपनी स्त्री को चित्त से पृथक् नहीं कर सका ! प्रभो ! मुझ पापी ने बारह वर्ष व्यर्थ व्यतीत कर दिये। आत्मा को कष्ट पहुंचाने के अतिरिक्त और कुछ नही किया। स्वामी ! मैं बहुत अपराधी हू। अतएव कृपया प्रायश्चित्त देकर पवित्र कीजिए।

पुष्पडाल के भावो का परिवर्तन और कृतकर्म के पश्चाताप से उनके परिणामों की कोमलता व पवित्रता देखकर वारिषेण मुनिराज बोले धीर ! इतने दुखी न बनिए। पाप कर्मों के उदय से कभी-कभी अच्छे-अच्छे बुद्धिमान भी हतबुद्धि हो जाते है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नही। यह अच्छा हुआ जो तुम अपने मार्ग पर आ गये।

इसके पश्चात उन्होंने पुष्पडाल मुनि को उचित प्रायश्चित देकर फिर उनका धर्म मे स्थितिकरण किया। पुष्पडाल मुनि गुरु महाराज की कृपा से अपने हृदय को शुद्ध कर महावैराग्य परिणामो से कठिन से कठिन तपस्या करने लगे।

इसी प्रकार अज्ञान व मोह से कोई धर्मात्मा धर्म रूपी पर्वत से पतित होता हो तो उसे आलम्बन देकर न गिरने देना ही स्थितिकरण है। जो धर्मज्ञ पुरुष इस पवित्र अग का पालन करते है वे मानो स्वर्ग और मोक्ष सुख को प्रदान करने वाले धर्मवृक्ष को सींचते हैं। शरीर, सपत्ति, कुटुम्ब आदि विनाशीक पदार्थों की रक्षा भी जब समय परक उपकारी हो जाती है तो अनन्त सुख प्रदान करने वाले धर्म की रक्षा से कितना महत्व होगा, यह सहज में ही जाना जा सकता है। अतएव धर्म प्रेमी सज्जनो के लिए उचित है कि दुःखदायी प्रमाद को छोड़कर ससार समुद्र से पार करने वाले धर्म का सेवन करे।

।। इति स्थितिकरणाङ्गे वारिषेण श्रीमुनेः कथा समाप्ता ।।

।। अथ सप्तम वात्सल्यांगस्वरूप व कथा प्रारम्भः ।।

धर्म और धर्मात्माओ मे अन्त.करण से अनुराग करना, भक्ति तथा सेवा करना इन पर किसी प्रकार का उपसर्ग या सकट आने पर अपनी शक्ति भर उसके हटाने का प्रयत्न

करना और निष्कपट गौवत्ससम प्रीति करना वात्सल्यत्व गुण है। सम्यग्दर्शन के सातवें वात्सल्यांग के पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले श्री विष्णुकुमार मुनिराज की कथा उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है—

।। अथ कथारभ ।।

इस ही भरत क्षेत्र मे अवतिदेश के अन्तर्गत उज्जयिनी नाम की एक प्रसिद्ध मनोहर नगरी है। जिस समय की यह कथा है, उस समय वहाँ के राजा श्रीवर्मा थे। वे बड़े धर्मात्मा विचारशील, बुद्धिवान, शास्त्रवेत्ता और नीतिपरायण थे। उनकी महारानी का नाम श्रीमती था। वह भी विदुषी थी और उस समय की स्त्रियो में प्रधान सुन्दरी समझी जाती थी। वह बड़ी दयालु थी और सदैव दीन दु खी दारिद्रियो के दु ख दूर करने मे तत्पर रहती थी।

बलि, वृहस्पति प्रहलाद और नमुचि ये चार श्रीवर्मा के राज्यमत्री थे। ये चारो ही धर्म के कट्टर शत्रु थे। इन पापी मन्त्रियो से युक्त राजा ऐसे मालूम होते थे मानो सर्पों से युक्त चन्दन का वृक्ष हो। एक दिन ज्ञानी अकपनाचार्य देश विदेश मे पर्यटन कर भव्य पुरुषो को धर्मोपदेश रूपी अमृतपान कराते हुए उज्जैनी मे आये। उनके साथ सात सौ मुनियो का बड़ा भारी सघ था। वे नगर के बाहर पवित्र भूमि मे ठहरे। अकम्पनाचार्य को निमित्त ज्ञान से उज्जयनी की स्थिति अनिष्टकर जान पड़ी। इसलिए उन्होने अपने सघ से कह दिया— देखो ! राजा आदि कोई दर्शनार्थ आवे तो उनसे वाद-विवाद न कीजिएगा, अन्यथा सारा संघ कष्ट में पड जाएगा अर्थात् उस पर घोर उपसर्ग होगा। गुरु की आज्ञा मान सभी मुनि मौनपूर्वक ध्यान करने लगे। सच है—

शिष्यास्तेत्र प्रणश्यंते ये कुर्वन्ति गुरोर्वचः।
प्रीतितो विनयोवेता भवन्त्यन्ये कुपुत्रवत् ।।

अर्थात् शिष्य वे ही प्रशसा के पात्र हैं जो विनय और प्रेम के साथ अपने गुरु की आज्ञा पालन करते हैं। इसके विपरीत चलने वाले कुपुत्र के समान निदा के पात्र है।

नगर निवासी अकम्पनाचार्य के आगमन का समाचार सुनकर अष्टद्रव्य ले भक्ति पूर्वक आचार्य की वन्दना के निमित्त जाने लगे। आज एकाएक लोगो के आनन्द की धूमधाम देखकर महल पर बैठे हुए श्रीवर्मा ने अपने मत्रियो से पूछा—ये सब लोग आज ऐसे सजधज कर कहाँ जा रहे है ?

उत्तर में मन्त्रियो ने कहा—महाराज ! सुना जाता है कि अपने नगर मे जैन साधु आए हुए हैं। ये सब उनको पूजने के लिए जाते है।

राजा ने प्रसन्नता से कहा—'तब तो उनके दर्शन के लिए हमको भी चलना चाहिए वे महापुरुष होंगे।'

सोमदत्त मुनि के चरणों में यज्ञदत्ता ने पुत्र को फेंक दिया

यह विचार कर राजा भी मन्त्रियों को साथ लेकर आचार्य महाराज के दर्शन करने गये। उन्हे आत्मलीन ध्यान में देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने क्रम से एक-एक मुनि को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया। सब मुनि अपने आचार्य की आज्ञा के अनुसार मौन रहे। किसी ने भी उनको धर्मवृद्धि न दी। राजा आचार्य की वदना कर वापस चल दिए। लौटते समय मन्त्रियों ने राजा से कहा—'महाराज ! देखा, साधुओ को। बेचारा बोलना तक भी नही जानते। सब नितात मूर्ख हैं। यही तो कारण है कि सब मौन हुए बैठे है।'

इस प्रकार परमशात मुनिराजों की निंदा करते हुए ये मलिनहृदयी मन्त्री राजा के साथ वापिस आ रहे थे कि रास्ते मे इन्हे एक मुनि मिल गये जोकि नगर से आहार करके वन की ओर आ रहे थे। मुनि को देखकर इन पापियो ने उनकी हसी की। वे बोले—महाराज ! देखिए, वह एक बैल और पेट भर कर चला आ रहा है।

मुनि ने मन्त्रियो के निदा वचनो को सुन लिया। सुनकर भी उनका कर्त्तव्य था कि वे शात रह जाते पर वे शात न रह सके। कारण कि वे भोजन के लिए नगर मे चले गये थे इसलिए उन्हे अपने आचार्य महाराज की आज्ञा मालूम न थी। मुनि ने यह सोचकर, कि इनको अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है, मै इसे चूर्ण करूगा, कहा —'तुम व्यर्थ क्यो किसी की निंदा करते हो ? यदि तुम में कुछ विद्याबल है तो मुझसे शास्त्रार्थ करो। फिर तुमको ज्ञात हो जाएगा कि बैल कौन है।'

भला वे भी तो राजा के मन्त्री थे और फिर उनके हृदय में कटुता भरी हुई थी, फिर वे कैसे एक अकिंचन्य साधु के वचनो को सह सकते थे। मुनि से उन्होंने शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। अभिमान मे आकर उस समय उन्होने कह तो दिया पर शास्त्रार्थ हुआ तब उनको भली भाँति ज्ञात हो गया कि शास्त्रार्थ करना बच्चो का सा खेल नही है। एक ही मुनि ने अपने स्याद्वाद के बल से वात की बात मे चारो मन्त्रियो को परास्त कर दिया। सच है एक ही सूर्य समस्त ससार के घोर अन्धकार को नाश करने में समर्थ होता है। श्रुत-सागर मुनि ने विजय लाभ कर अपने आचार्य के पास जाकर मार्ग की सब घटना ज्यो की त्यों कह सुनाई। आचार्य बोले—तुमने बहुत बुरा किया जो उनसे शास्त्रार्थ किया। तुमने अपने हाथो से सारे सघ का घात किया। सघ की अब कुशल नही है। अब जो हुआ सो तो हुआ। अब यदि तुम सारे सघ की जीवन रक्षा चाहते हो तो पीछे जाओ और जहाँ तुम्हारा राज-मन्त्रियों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, वहो कायोतसर्गस्थित होकर ध्यान करो।

अपने आचार्य की आज्ञा को सुनकर श्रुतसागर मुनिराज परिणामों में किंचित् मात्र भी विकलता न लाकर सघ रक्षा के लिए नि:शक हो उसी समय वहाँ से चल दिए। शास्त्रार्थ के स्थान पर आकर वे मेरुवत् निश्चल होकर धैर्यपूर्वक कायोत्सर्ग ध्यान करने लगे। शास्त्रार्थ में मुनि से पराजित चारो मन्त्री अपने हृदय में बहुत लज्जित हुए। अपने मान-भग का बदला

चुकाने का विचार कर मुनि का प्राणांत करने के लिए वे चारो अर्द्ध रात्रि के समय नगर से बाहर निकले। मार्ग में उनको शास्त्रार्थ होने के स्थान पर श्रुतसागर मुनि कायोत्सर्ग ध्यान करते हुए मिले। पहले उन्होने अपना मानभग करने वाले को ही परलोक पहुँचा देना चाहा उन्होंने मुनि का मस्तक छेदन करने को अपना-अपना खड्ग म्यान मे निकाला और उनका काम-तमाम करने के लिए उन्होने एक साथ उन पर वार करना चाहा कि इतने में ही मुनि के पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म के प्रभाव से पुरदेवी ने उपस्थित होकर उन चारो राजमन्त्रियों को तलवार हाथ में उठाए हुए पाषाण के स्तम्भ के समान कर दिया अर्थात् उन्हें खड्ग उठाए हुए ज्यो का त्यो स्थिर कर दिया।

प्रातः काल होते ही सूर्य की किरणो की तरह सारे नगर में मन्त्रियों के इस दुष्ट कर्म का वृत्तांत फैल गया। नगर के सब मनुष्य और राजा भी देखने को आये। सबने उन्हे एक स्वर में धिक्कारा। राजा ने भी उन्हे बहुत धिक्कार कर कहा—'पापियो! जब तुमने मेरे सम्मुख इन निर्दोष और जीव-मात्र का उपकार करने वाले मुनियो की निंदा की थी, तब मैं तुम्हारे विश्वास पर निर्भर रहकर यह समझा था कि सम्भव है मुनि लोग ऐसे ही हो। पर आज मुझे तुम्हारी नीचता का ज्ञान हुआ। तुम इन्ही निर्दोष साधुओं की हत्या करने को आये थे पापियो! तुम्हारा मुह देखना अच्छा नही। तुम्हारे इस घोर कर्म का दण्ड तो यही होना चाहिए, जिसके लिए तुम यहाँ आए थे, पर पापियो! तुम ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए हो और तुम्हारी कितनी ही पीढियाँ मेरे यहाँ मन्त्री पद पर प्रतिष्ठा पा चुकी है। इस कारण तुम सबको प्राणांत करने का दण्ड न देकर अपने नौकरो को आज्ञा देता हूँ कि वे तुम्हे गधों पर बैठाकर मेरे देश की सीमा से बाहर कर दे।'

राजा की आज्ञा का उसी समय पालन हुआ। चारो मन्त्री उसी समय निकाल दिए गये। सच है पापियो की ऐसी दशा होना उचित ही है। धर्म के ऐसे प्रभाव को देखकर लोगो के आनन्द का ठिकाना न रहा। उन्होने हर्षित होकर जय-जय ध्वनि के मारे आकाश-पाताल एक कर दिया। मुनि संघ का उपद्रव टला। सब के स्थिर चित्त हुए। अकंपनाचार्य भी उज्जैनी से विहार कर गये।

हस्तिनापुर नाम का एक शहर है उसके राजा महापद्म और उनकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उसके पद्म और विष्णु नाम के दो पुत्र हुए। एक दिन राजा संसार की दशा पर विचार कर रहे थे। उसकी अनित्यता और निस्सारता देखकर उन्हे बहुत वैराग्य हुआ। उनको संसार दुःखमय दिखाई देने लगा। वे उसी समय अपने बड़े पुत्र विष्णुकुमार के साथ वन में चले गये और श्रुतसागर मुनिराज के पास दोनो ने दीक्षा ग्रहण कर ली। विष्णुकुमार बालपन से ही संसार से विरक्त थे, इसलिए पिता के रोकने पर भी वे दीक्षित हो गए। विष्णुकुमार मुनि बनकर घोर तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनो पश्चात् तपश्चर्या के प्रभाव

से उन्हे विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गयी। पिता के दीक्षित होने पर हस्तिनापुर का राज्य पद्म-राज करने लगे। उन्हे सब सुख प्राप्त होने पर भी एक बात का बड़ा दुःख था। वह यह कि कुम्भपुर का राजा सिंहबल उनको अनेक कष्ट दिया करता था तथा उनके कार्य में बाधा डालता था। सिंहबल के अधिकार में एक बड़ा भारी सुदृढ़ दुर्ग (किला) था इसलिए वह अचानक आकर पद्मराज्य के राज मे उपद्रव फैलाकर अपन दुर्ग में जा छिपता था। इसलिए पद्मराज उसका कुछ उपाय नही कर सकने के कारण बहुत चितातुर रहता था। इसी समय श्री वर्मा के चारो मन्त्री उज्जयिनी से निकल कर कुछ दिनो पश्चात् हस्तिनापुर की ओर आ निकले। उन्हे राजा के इस गुप्त दुःख का भेद लग गया इसलिए वे राजा से मिले और उनको इस दुःख से मुक्त करने का वचन देकर कुछ सेना लेकर सिंहबल पर जा चढे और अपनी बुद्धिमानी से किले को तोड़ सिंहबल को बाँध कर पद्मराज के सम्मुख लाकर उपस्थित कर दिया। पद्मराज ने प्रसन्न होकर उनको मत्रीपद प्रदान किया और कहा कि तुमने मेरा बहुत उपकार किया है, इसलिये मै तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ। यद्यपि उसका प्रतिफल दिया नही जा सकता तथापि तुम को जो रुचिकर हो सो मै देने को तैयार हूँ।

उत्तर में बलि नाम के मन्त्री ने कहा—

महाराज! जब आपकी हम पर कृपा है तो हमको सब कुछ मिल चुका। इस पर भी आग्रह है तो उसे हम अस्वीकार भी नही कर सकते। अभी हमे कुछ आवश्यकता नही है। जब समय होगा तब आपसे प्रार्थना करेंगे।

इसी समय अकपनाचार्य अनेक देशो में विहार करते-करते हस्तिनापुर के उपवन में आकर ठहरे। सब लोग उनके आगमन का समाचार सुनकर हर्षपूर्वक वंदना करने को गये, जब उनके आने का समाचार राज-मत्रियो ने सुना तो उनको उसी समय अपने अपमान का स्मरण हो आया और परस्पर विचारने लगे कि देखो! हमें इन्ही दुष्टो के द्वारा कितना दुःख उठाना पड़ा था अतएव इनसे बदला चुकाने के लिए कोई यत्न करना आवश्यक है पर राजा इनका परम भक्त है। वह अपने होते हुए इन का अनिष्ट कैसे होने देगा। इतने में बलि मन्त्री बोल उठा—इस की आप चिंता न करे। सिंहबल को पकड कर लाने का अपना पुरस्कार राजा से पाना बाकी है। अब हमें उस पुरस्कार के रूप में सात दिन का राज्य ले लेना चाहिए फिर जैसा हम करेंगे वैसा ही होगा।

यह युक्ति सबको सर्वोत्तम जान पडी। बलि मन्त्री उसी समय राजा के पास पहुँचा और बहुत विनय के साथ बोला—महाराज! आप पर हमारा एक पुरस्कार शेष है कृपया अब उसे देकर हमारा उपकार कीजिए।

राजा इनके अन्तरंग कपटको न जानकर उनके ऋण से उऋण होनेके लिए बोला—

अच्छा ! बहुत ठीक, जो तुम्हारी इच्छा हो सो माँगो।

बलि बोला—महाराज ! यदि आप वास्तव में ही हमारी इच्छा पूर्ति चाहते है तो आप हमें सात दिवस के लिए अपना राज्य प्रदान कीजिए।

राजा सुनते ही अवाक् रह गया। उसे किसी बडे भारी अनर्थ की आशका हुई। पर उसे वचनबद्ध होने के कारण स्वराज्य देना ही पडा। राज्य के प्राप्त होते ही उन्होंने परमानन्दित होकर मुनियों के मध्य मे उनके प्राणो के नाश के लिए यज्ञ-मडप की रचना आरम्भ की। उसके चारों ओर काष्ठ रखा गया। सहस्त्रो पशु एकत्र किए गए और यज्ञ आरम्भ हुआ। वेदविद् विद्वान् वेदध्वनि से यज्ञ मडप को गुजाने लगे। बेचारे निरपराध पशुओ की आहूतियाँ दी जाने लगी। थोड़ी ही देर में महादुर्गंधित धूम्र से आकाश परिपूर्ण हो गया उससे सारे मुनिसघ पर भयकर उपसर्ग हुआ। पर जैन साधु का यही मार्ग है कि आए हुए कष्टो को धीरतापूर्वक सहन करे। उन परमशात मुनियो ने मेरुवत् अचल होकर एकाग्रचित्त से परमात्मा का ध्यान करना प्रारम्भ किया। अपने कर्मों का फल जान रागद्वेषरहित साम्य-भावपूर्वक वे उपसर्ग सहन करने लगे।

मिथिला नगरी मे स्थित श्रुतसागर मुनि को निमित्त ज्ञान से यह वृत्तात विदित हुआ। उनके मुख से बहुत खेद के साथ ये वचन निकले—हाय-हाय ! इस समय मुनियो पर बहुत उपसर्ग हो रहा है। उस समय वही पर स्थित पुष्पदत नामक क्षुल्लक पूछने लगे—प्रभो! यह उपसर्ग कहाँ हो रहा है ?

उत्तर में श्रुतसागर मुनि बोले—'हस्तिनापुर मे सात सौ मुनियों का सघ ठहरा हुआ है। उसके सरक्षक अकम्पनाचार्य हैं। उस सारे सघ पर बलि नाम के मन्त्री द्वारा यह उपसर्ग हो रहा है।'

क्षुल्लक ने फिर पूछा 'प्रभो ! कोई ऐसा उपाय भी है जिससे यह उपसर्ग दूर हो।'

मुनि ने कहा—'हाँ, एक उपाय है। श्री विष्णुकुमार मुनि को विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हो गयी है। वे अपनी रिद्धि के बल से उपसर्ग दूर कर सकते है।'

क्षुल्लक पुष्पदन्त जी महाराज क्षण मात्र भी विलम्ब न कर उसी समय विष्णुकुमार मुनिराज के पास पहुँचे और उनको सब वृत्तात कह सुनाया। विष्णुकुमार मुनि को अपने विक्रिया ऋद्धि प्राप्त होने की खबर न थी। जब उनको पुष्पदन्त के द्वारा मालूम हुआ तब उन्होंने परीक्षार्थ अपना हाथ फैलाया। हाथ फैलाते ही उनका हाथ बहुत दूर तक चला गया। तब उन्हे विश्वास हुआ। वे उसी समय हस्तिनापुर आये और अपने भाई से बोले—भाई ! आप किस घोर निद्रा में अचेत हो रहे है। अपने राज्य में तुमने ऐसा घोर अनर्थ क्यो होने दिया ? परमशांत मूर्ति, किसी से राग द्वेष न रखने वाले मुनियो पर ऐसा अत्याचार !

और वह भी तुम जैसे धर्मात्माओं के राज्य में ! भाई, साधुओं का सताना ठीक नहीं। कही उनको किंचित् भी क्रोध आ जाए तो तेरे समस्त राज्य को भस्म कर दे। अतएव जब तक तुम पर आपत्ति आए, उससे पहले ही तुम उसका उपाय करो। अर्थात् इस घोर उपसर्ग की शांति करवा दो।'

उत्तर मे पद्मराज विनीत होकर बोले—'मुनिराज ! मैं क्या करूँ ? मै वचनबद्ध होकर इनको सात दिवस के लिए राज्य प्रदान करने के कारण बिल्कुल विवश हूँ। मुझे क्या मालूम था कि ये ऐसा घोर उपद्रव करेगे। अब मेरा उसमे तर्क करना सूर्य को दीपक दिखाना है। अब तो आप ही विलम्ब न करके शीघ्र ही किसी उपाय से मुनियो का उपसर्ग दूर कीजिए आप सब प्रकार से समर्थ है।'

तब विष्णुकुमार मुनि ने विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से वामन् ब्राह्मण का वेष बनाया और बडी मधुर ध्वनि से वेदमन्त्रो का उच्चारण करते हुए बलि के यज्ञ मडप में पहुँचे। उनके सुन्दर स्वरूप और मधुर वेदोच्चारण को सुनकर बलि बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—'महाराज ! आपने पधार कर मेरे यज्ञ की अपूर्व शोभा बढ़ा दी। मैं बहुत प्रसन्न हुआ। आपकी जो इच्छा हो, सो माँगिए, इस समय मैं सब कुछ देने को तैयार हूँ।'

विष्णुकुमार बोले—मै एक गरीब ब्राह्मण हूँ। जैसी भी स्थित हो, मुझे तो उसी में संतोष है। मुझे किसी पदार्थ की आवश्यकता नही, पर जब आपका इतना आग्रह है तो मैं आपको अप्रसन्न भी नही करना चाहता। मुझे केवल तीन पग पृथ्वी की आवश्यकता है। यदि आप मुझ प्रदान करेगे तो उसमें झोपडी बनाकर स्थान की निराकुलता से वेदाध्ययनादि में अपना समय सुख से व्यतीत कर सकूँगा इस समय मुझको किसी और पदार्थ की इच्छा नही।

विष्णुकुमार की यह तुच्छ याचना सुनकर बलि ने कहा कि 'आपने तो कुछ भी नही माँगा। यदि मेरे वैभव और शक्ति के अनुसार माँगते तो मुझको सतोष होता। अब भी आप अपनी इच्छानुसार माँग सकते है। मै वही देने को तत्पर हूँ।'

विष्णुकुमार बोले—मुझे अधिक की इच्छा नही है। जो कुछ मैंने माँगा, मेरे लिए बहुत है। यदि आपको देना ही है तो और बहुत-से ब्राह्मण मौजूद है उनको दे दीजिए।

बलि ने कहा—अस्तु ! जसी आपकी इच्छा ! आप तीन पग पृथ्वी नाप लीजिए। ऐसा कहकर जल से विष्णुकुमार के प्रति सकल्प छोड दिया। सकल्प छोडते ही उन्होंने पहला पाँव मेरु पर्वत पर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, अब तीसरा पाँव रखने की जगह नही रही, उसे वे कहाँ रक्खे ? उनके इस कार्य से समस्त पृथ्वी काँपने लगी। पर्वत चलायमान हो गये। समुद्रो ने मर्यादा तोड दी। देवों व ग्रहों के समूह मारे आश्चर्य के भौंचक्के से रह गये वे सब विष्णुकुमार के पास आए और बलि को बाँधकर बोले—'प्रभो ! क्षमा कीजिए। यह सब दुष्कर्म इसी पापी का है। यह आपके सम्मुख उपस्थित है।'

बलि ने मुनिराज के चरणो में पडकर अपने अपराध की क्षमा माँगी और अपने कृत कर्म पर बहुत पश्चाताप किया। विष्णुकुमार मुनि द्वारा उपद्रव दूर करने से सब को शांति हुई और चारों मन्त्री तथा प्रजा के सब लोग भक्तिपूर्वक अकम्पनाचार्य की वदना को गए। राजा और मन्त्रियो ने उनके चरणो में अपना मस्तक रखकर अपने अपराध की क्षमा-याचना की और उसी दिन मे मिथ्यात्व मत का त्याग कर अहिंसामय जिनधर्म के उपासक बने। जिस प्रकार जिन भगवान के परम भक्त विष्णुकुमार ने धर्मप्रेम के वश हो मुनियो का उपसर्ग दूर कर वात्सल्य अग का पालन किया और पश्चात् ध्यानाग्नि द्वारा कर्मकाष्ठ को भस्म कर शिवपुर पधारे। उसी प्रकार भव्य पुरुषो को भी अपने और पर के हित के लिए समय-समय पर दूसरो का कष्ट निवारण कर वात्सल्य अग का पालन करना चाहिए।

॥ इति वात्सल्याङ्गे विष्णुकुमारमुनेः कथा समाप्ता ॥

॥ अथ प्रभावनाऽङ्गे वज्रकुमारमुनेः कथा प्रारम्भः ॥

परभव के अज्ञानरूपी अधकार को जिस प्रकार बने उस प्रकार दूर करके जिन-शासन का सर्वसाधारण मे महत्व प्रकट करना और अपनी आत्मा को रत्नत्रय के तेज से उद्योत रूप करना अर्थात् तप, विद्या, रिद्धि, सिद्धि आदि का अतिशय प्रकट करके जैन धर्म का प्रभाव बढाना प्रभावना नाम का आठवाँ अग है। सम्यग्दर्शन के आठवे प्रभावना अग का का पालन करने मे प्रसिद्ध होने वाले वज्रकुमार मुनि की कथा इस प्रकार है—
॥ अथ कथारभः ॥

इस भरत क्षेत्र में एक हस्तिनागपुर नगर है। जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय हस्तिनापुर के राजा बल थे। वे धर्मात्मा और राजनीति के अच्छे वेत्ता थे। उनके मत्री का नाम गरुड था। उसके एक पुत्र था जिसका नाम सोमदत्त था। वह भी शास्त्रविद् और बहुत सुन्दर था।

एक दिन सोमदत्त अपने मामा के यहाँ गया जोकि अहिच्छत्रपुर मे रहता था उसने अपने मामा से विनयपूर्वक कहा—मामा जी! यहाँ के राजा से मिलने की मेरी तीव्र उत्कठा है। कृपाकर आप मेरी उनसे मुलाकात करवा दीजिए।

सुभूति ने अभिमान मे आकर सोमदत्त की मुलाकात राजा से नही करवाई। सोमदत्त को मामा की यह बात बहुत खटकी। अन्त मे वह स्वय ही दुर्मुख महाराजा के पास गया और मामा का अभिमान नष्ट करने के लिए राजा को अपने पाडित्य और प्रतिभाशालिनी बुद्धि का परिचय करवा कर स्वय भी उनका राज्यमत्री बन गया ठीक भी है, सबको अपनी ही शक्ति सुख देने वाली होती है। सुभूति ने अपने भानजे का पाडित्य देखकर अति प्रसन्न हो उससे अपनी यज्ञदत्ता नाम की पुत्री का विवाह कर दिया। दोनो सुख से रहने लगे।

कुछ समय पश्चात यज्ञदत्ता गर्भवती हो गई। समय चातुर्मास का था। यज्ञदत्ता को दोहद उत्पन्न हुआ और उसे आम खाने की प्रबल इच्छा हुई। आमों का समय न होने पर भी सोमदत्त आम ढूढने को वन में पहुँचा। वहाँ एक उपवन में एक आम्रवृक्ष के नीचे एक परमयोगिराज महात्मा बैठे हुए थे। उस वृक्ष में फल लगे हुए थे। फलो को देखकर उसने विचारा कि यह मुनिराज का प्रभाव है नही तो असमय मे आम्र कहाँ ? वह बहुत प्रसन्न हुआ और बहुत से फल तोड़ कर अपनी प्रिया के पास पहुँचा दिए और स्वय मुनिराज को नमस्कार कर उनके निकट बैठ निवेदन करने लगा—महाराज ! ससार में सार क्या है ? इस बात को आपके मुख से सुनने की अति उत्कठा है। कृपा कर कहिए।

मुनि बोले—हे भव्य ! ससार मे सार आत्मा को कुगतियो से बचाकर सुख देने वाला एक धर्म है। उसके दो भेद है—एक मुनिधर्म और दूसरा श्रावकधर्म। मुनियो का धर्म पच महाव्रत, पच समिति, तीन गुप्ति, दशधर्म, रत्नत्रय, द्वादशतप तथा पचेन्द्रियदमन और शेष सप्तगुणो आदि का पालन है और श्रेष्ठ है। श्रावकधर्म अष्ट मूलगुण तथा उत्तर गुणो का पालन करना आदि है। मुनिधर्म का पालन सर्वदेश किया जाता है और श्रावक धर्म का एकदेश। श्रावक धर्म परम्परासे मोक्ष का साधन है और मुनिधर्म साक्षात् मोक्ष का साधन। मुनिधर्म से तद्भव मोक्षगामी होते है, ऐसा नियम नही। इसमें सब बात परिणामो पर निर्भर है। ज्यो-ज्यो परिणामो की विशुद्धता होती जाती है त्यों-त्यों अन्तिम साध्य मोक्ष के निकट मनुष्य पहुँचता जाता है परन्तु मोक्ष होता है मुनिधर्म धारण करने से ही। इस प्रकार श्रावकधर्म, मुनिधर्म तथा उनकी विशेषताएँ जानकर वैराग्यवश हो सोमदत्त ने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली और अपने गुरु से शास्त्राध्ययन कर सर्वशास्त्रो में अच्छी योग्यता प्राप्त करने के पश्चात् विहार करते हुए सोमदत्त मुनिराज नाभिगिरी पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उग्र तपश्चरण और परीषह सहन द्वारा अपनी आत्म शक्ति को बढाने लगे। इधर समय आने पर यज्ञदत्ता के पुत्र उत्पन्न हुआ। वह उसके सौन्दर्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुई।

एक दिन उसे किसी के द्वारा अपने स्वामी के समाचार मालूम हुए। उसने वह समस्त वृतान्त अपने कुटुम्बियों से कहा और उनसे उनके पास चलने का आग्रह कर अपने साथ ले नाभिगिरी पर पहुँची। उस समय सोमदत्त मुनिराज तापस योगध्यान कर रहे थे। यज्ञदत्ता उन्हे मुनिवेष में देखकर क्रोधित होकर बोली रे पापी ! दुष्ट ! यदि तुझे ऐसा ही करना था तो पहले से ही मुझे न व्याहता। जरा बता तो सही, अब मै किसके पास जाकर रहूँ ? और इस बच्चे का पालन-पोषण कौन करे ? मुझसे इसका पालन नही होता। तू ही इसे लेकर पाल।

ऐसा कहकर वह निर्दयी यज्ञदत्ता हिंस्र जीवो से भरे उस पर्वत पर मुनि चरणो में उस बेचारे बालक को पटककर अपने स्थान पर चली गयी। इतने में ही दिवाकर देव नाम

का एक विद्याधर जो कि अपने लघु भ्राता पुरसुन्दर से पराजित होकर उसके देश से निकाल देने के कारण अपनी स्त्री को साथ लेकर तीर्थ यात्रा के लिए चल दिया था, वह इधर आकर निकला। पर्वत पर मुनिराज को देखकर व्योममार्ग से नीचे उतरा।

मुनि राज की वन्दना करते उसकी दृष्टि उस प्रसन्नमुख तेजस्वी बालक पर पड़ी। बालक को भाग्यशाली समझकर उसने गोद मे उठा लिया और उसे अपनी प्रिया को देकर कहने लगा प्रिये! यह कोई बडा पुण्य जीव है। आज अपना जीवन ऐसे पुत्र रत्न की प्राप्ति से अनायास ही कृतार्थ हो गया। उसकी स्त्री भी बच्चे को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। बालक के हाथो वज्र का चिन्ह होने से उसका वज्रकुमार नाम रखा। इसके पश्चात् वे दोनो मुनि को प्रणाम कर बच्चे के साथ लकर अपने घर पर लौट गये।

वह वज्रकुमार विद्याधर के घर पर शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ते हुए अपनी बाल लीलाओ से सबको आनन्द देने लगा। दिवाकर देव के सम्बन्ध से वज्रकुमार का मामा कनकपुरी का राजा विमलबाहन हुआ। अपने मामा के यहा रहकर वज्रकुमार थोडे ही दिनो मे शास्त्राभ्यास कर एक अच्छा विद्वान बन गया। उसकी प्रतिभाशालिनी बुद्धि को देखकर सब आश्चर्य करने लगे।

एक दिन वज्रकुमार ह्रीमन्त पर्वत पर प्रकृति की शोभा देखने को गया हुआ था। वही पर एक विद्याधर की पुत्री पवनवेगा विद्या साध रही थी। विद्या साधते हुए ही एक तृण उसकी आँख मे पडने स उसके चित्त की चचलता के कारण विद्या सिद्ध होने बड़ा बिघ्न उपस्थित हुआ। इतने मे ही वज्रकुमार इधर आ निकला। उसे ध्यान से विचलित देखकर उसने उसकी आँख मे से तिनका निकाल दिया। पवनवेगा स्वस्थ होकर फिर विद्या साधने में तत्पर हो गयी। मत्रयोग पूरा होने पर जब विद्या सिद्ध हो गई, तब वह समस्त उपकार वज्रकुमार का समझकर उसके पास आकर कहने लगी—आपने मेरा जो उपकार किया है उसका बदला मैं एक क्षुद्र बालिका कैसे चुका सकती हूँ? पर यह जीवन आपके लिए समर्पण कर आपके चरणो की दासी बनना चाहती हूँ, मुझे स्वीकार कर कृतार्थ कीजिए। वज्रकुमार ने उसके प्रेमोपहार को सादर ग्रहण किया। दोनो वहा से विदा होकर अपने-अपने स्थान पर चले गये। शुभ दिन मे गरुडवेग ने विधिपूर्वक अपनी पुत्री का बज्रकुमार के साथ पाणिग्रहण कर दिया फिर दोनो दम्पति सानन्द रहने लगे एक दिन वज्रकुमार को मालूम हुआ कि मेरे पिता थे तो एक राजा पर हमारे चाचा ने इनको युद्ध मे पराजय कर देश से निकाल दिया है। इस बात पर उसको अपने चाचा पर बहुत क्रोध आया। वह पिता के रोकने पर भी कुछ सेना और अपनी पत्नी की विद्या को लेकर उसी समय अमरावती पर जा चढ़ा। पुरसुन्दर को इस चढाई का आभास न होने से बात की बात में वह पराजित कर बाँध लिया गया। पीछे राज्य सिहासन दिवाकर देव के अधिकार मे आया। इस वीरता के कारण

वज्रकुमार बहुत प्रसिद्ध हो गया। अच्छे-अच्छे शूरवीर उसका नाम सुनकर भय मानने लगे।

इसी समय दिवाकर देव की प्रिया जयश्री के भी पुत्र उत्पन्न हुआ। वह तब से ही इस चिंता से दु:खी होने लगी कि वज्रकुमार के उपस्थित होते हुए मेरे पुत्र को राज्य कैसे मिलेगा ? मेरे पुत्र को राज्य के मिलने में यह एक कंटक है। इसे किसी तरह उखाड़ फेंकना चाहिए।

यह विचार कर वह मौका देखने लगी। एक दिन वज्रकुमार ने अपनी माता के मुख से किसी को यह कहते सुना कि वज्रकुमार बडा दुष्ट है। देखो ! कहाँ तो यह उत्पन्न हुआ और कहाँ आकर दु:ख दे रहा है।

ऐसा सुनते ही उसका हृदय जलने लगा। फिर एक क्षण भी न रुककर वह उसी समय अपने पिता के पास पहुँचा और कहने लगा—पिताजी ! सत्य बताइये कि मैं किसका पुत्र हूँ, कहाँ उत्पन्न हुआ हूँ और यहाँ क्योकर आया ? मैं जानता हूँ कि मेरे सच्चे पिता तो आप ही है क्योकि आपने मेरा अपने पुत्र से भी अधिक पालन-पोषण किया है। पर तब भी यथार्थ वृतांत जानने की मेरी बडी उत्कठा है, इसलिए कृपया ज्यो का त्यो वृतांत कहकर मेरे अशात हृदय को शान्त कीजिये। यदि आप यथार्थ नही कहेंगे तो मै आज से भोजन नही करूँगा।

दिवाकर देव बोले—पुत्र ! आज तुम्हे कुछ हो तो नही गया है, जो तुम ऐसी बहकी-बहकी बाते कर रहे हो। समझदार होकर भी मुझको कष्ट देने वाली ऐसी बाते करना तुम्हे शोभा नही देता। वज्रकुमार बोला—पिताजी ! मैं यह नही कहता कि मैं आपका पुत्र नही। सच्चे पिता तो आप ही है, परन्तु मुझको तो यथार्थ बात जानने की जिज्ञासा है। अतएव मुझे आप कृपा कर बतला दीजिए।

वज्रकुमार के अत्यधिक आग्रह से दिवाकर देव को उसका पूर्व वृतांत यथार्थ बताना पडा। वज्रकुमार अपना हाल सुनकर बड़ा विरक्त हुआ। वह उसी समय अपने पिता की वन्दना करने को चल पड़ा, तब उसके माता-पिता व कुटुम्बी जन भी साथ गये। सोमदत्त मुनिराज मथुरा के निकट एक गुफा मे ध्यान कर रहे थे। उन्हे देखकर सबको आनन्द हुआ सब बडी भक्ति के साथ मुनि को नमस्कार कर बैठ गये। तब वज्रकुमार ने मुनिराज से कहा—'पूज्यपाद ! आज्ञा दीजिए, जिससे मैं साधु बनकर निजात्म कल्याण करूँ।' वज्रकुमार को एकाएक संसार से विरक्त हुआ जानकर दिवाकर देव कहने लगे—'पुत्र ! तुम ये क्या करते हो ? तप करने का मेरा समय है या तुम्हारा ? तुम अब सब तरह योग्य हो। तुम राजधानी मे जाकर अपना राज-काज सम्भालो।

तब वज्रकुमार बोले—हे पिता ! ये भोग भुजंग के समान है और ससार क्षण-

भंगुर है। मैं घर पर न जाकर अब यही दीक्षा लेकर स्वात्मानुभव करूँगा। यह कहकर दिवाकर देव के रोकने पर भी उसने वस्त्राभूषण त्याग कर उसी समय दीक्षा ग्रहण कर ली। बज्रकुमार मुनि साधु बनकर खूब तपचर्या करने लगे। बज्रकुमार के दीक्षित होने के बाद की कथा इस प्रकार है—

उस समय मथुरा के राजा पूतगध थे। उनकी रानी का नाम था उर्मिला। वह बड़ी धर्मात्मा, सम्यक्त्व रूपी रत्न से भूषित जिन भगवान की परम भक्त थी। वह प्रत्येक अष्टान्हिका में भगवान की पूजा और रथोत्सव बहुत धूमधाम के साथ करती थी। इसी मथुरा नगरी में एक सागरदत्त नाम का सेठ था। उसकी स्त्री का नाम था समुद्रता। उसके पूर्वोपार्जित पाप के उदय से दरिद्रा नाम की पुत्री हुई। उसके पाप के उदय से माता-पिता दरिद्र होकर अन्त में परलोक पधार गये। अब वह बेचारी दरिद्रा दूसरो के उच्छिष्ट भोजन खाकर दिन व्यतीत करने लगी। एक दिन नन्दन और अभिनन्दन नाम के दो मुनि भिक्षा के लिए मथुरा मे आए। दारिद्रा को अन्न का एक-एक झूठा कण खाती हुई देखकर लघु मुनि अभिनन्दन ने नन्दन से कहा मुनिराज ! देखिये, यह बेचारी बालिका कितने कष्ट से जीवन व्यतीत करती है। तब नन्दन मुनि ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—'हा यद्यपि इस समय इसकी दशा अच्छी नही, तथापि इसका पुण्य कर्म बडा प्रबल है, उसी से यह पूतिगध राजा की पटरानी बनेगी।' मुनि ने जब दरिद्रा का भविष्य सुनाया, तब एक भिक्षार्थ आए हुए बौद्ध साधु ने यह भविष्य सुन लिया। जैन ऋषियो के वचनो पर उसका बहुत विश्वास था इसलिए दरिद्रा को अपने स्थना पर ले जाकर उसका पालन करने लगा। दरिद्रा जैसे-जैसे बडी होती गई वैसे ही वैसे यौवन ने भी अपनी कान्ति से उसका सम्मान करना आरम्भ किया अर्थात् वह यौवन सम्पन्न होकर अपने शरीर से सुन्दरता की सुधा धारा बहाने लगी।

एक दिन वह युवती नगर के समीप एक उपवन मे झूले मे झूल रही थी कि इतने में ही कर्मयोग से राजा भी वहाँ आ निकले। एकाएक उनकी दृष्टि झूले पर झूलती हुई दरिद्रा पर पडी। उस स्वर्गीय सुन्दरता को देखकर वह काम के बाणो से बिध गया। उसे दरिद्रा की प्राप्ति के बिना अपना जीवन व्यर्थ प्रतीत होने लगा। वह मोहवश होकर दरिद्रा के निकट जाकर उससे उसका परिचय पूछने लगा। उसने किसी प्रकार का सकोच न करके अपना स्थानादि सब पता बतला दिया। उस बेचारी भोली भाली बालिका को क्या मालूम था कि मुझसे स्वय मथुराधीश ही वर्तालाप कर रहे है। राजा काम के वेग से व्याकुलचित्त होकर किसी प्रकार से अपने महल पर आए। आते ही उन्होने अपने मत्री को श्रीबदक के पास भेजा। मत्री ने पहुँचते ही श्रीबदक से कहा आज तुम्हारा और तुम्हारी पुत्री का बडा भाग्य है जो उसको मथुराधीश अपनी पटरानी बनाना चाहते है। कहो, तुमको स्वीकार है या नही।

श्रीबंदक बोला—यदि महाराज बौद्ध धर्म अगीकार कर लें तो मैं महाराज से दारिद्रा का विवाह करने के लिए प्रस्तुत हूँ।

मंत्री ने यह बात राजा से जाकर निवेदन की। महाराज ने इस बात को स्वीकार कर लिया और दरिद्रा का उनके साथ विवाह हो गया। दरिद्रा मुनिराज के कथनानुसार बडी पटरानी हुई। दरिद्रा इस समय बुद्धदासी के नाम से प्रसिद्ध हो गई। बुद्धदासी पटरानी बनकर बुद्ध धर्म का प्रचार करने में सदा तत्पर रहने लगी।

इसके अनन्तर अष्टान्हिका पर्व आया। उर्विला महारानी ने सदा के लिए नियमानुसार अबकी बार भी उत्सव करना आरम्भ किया। जब रथ निकलने का समय आया तब बुद्धदासी ने राजा से कहा कि 'मेरा रथ पहले निकलना चाहिए, उर्विला का पीछे।' राजा ने बुद्धदासी के प्रेम में अन्धा होकर उर्विला का रथ रुकवा दिया। उर्विला रानी ने अपने चित्त मे बहुत दुःखित होकर प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरा रथ नही निकलेगा, तब तक मुझे भोजन का त्याग है। यह प्रतिज्ञा कर जिस क्षत्रिया नाम की गुफा मे सोमदत्त और वज्रकुमार मुनिराज रहा करते थे, वहाँ पहुँचकर उन दोनों को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके कहने लगी—'हे अज्ञानरूपी अन्धकार के नाश करने वाले सूर्यो! आप ही मेरे शरणागत हैं और मेरे दुःखहर्ता है। इस समय जैन धर्म पर उपसर्ग आ रहा है। उसे नष्ट कर उसकी रक्षा कीजिए।'

इस प्रकार उनसे निवेदन कर अपने रथ के निकलने में अवरोध का कारण वह मुनिराज से कह रही थी कि इतने में ही वज्रकुमार तथा सोमदत्त मुनि की वन्दना करने को दिवाकर देव आदि बहुत से विद्याधर आए। बज्रकुमार मुनि ने उनसे कहा--आप लोग समर्थ हैं और इस समय जैन धर्म पर सकट उपस्थित है। बुद्धदासी ने महारानी उर्विला का रथ रुकवा दिया है। अब आप जाकर यथायोग्य उपाय से इसका रथ निकलवा दीजिए।

वज्रकुमार मुनि की आज्ञा को शिरोधार्य कर सब विद्याधर अपने-अपने विमान पर आरूढ होकर मथुरा आए। प्रथम तो जो धर्मात्मा होते है, वे स्वय ही धर्म प्रभावना करने में तत्पर रहते है, तब इनको तो स्वय मुनिराज ने प्रेरणा दी है, इसलिए सब विद्याधर ने उर्विला रानी के साध्य की सिद्धि के लिए बुद्धदासी को बहुत समझाया और कहा—'जो पुरानी रीति है, वैसे ही कार्य करना अच्छा है।' पर बुद्धदासी तो अभिमान के वशीभूत हो रही थी, इसलिए वह क्यों मानने लगी? विद्याधरो ने अपना कार्य सीधे तरीके से न होता हुआ देखकर बुद्धदासी के नियुक्त किए हुए सिपाहियो से युद्ध कर उनको बात की बात में भाग दिया। तत्पश्चात् बडे समारोह और उत्सव के साथ उर्विला का रथ निकलवा दिया। रथ के निकलने से सबको बडा आनन्द हुआ, इससे, जैन धर्म की बहुत प्रभावना हुई और

सर्वसाधारण पर इस रथोत्सव से जैन धर्म का बहुत प्रभाव पड़ा। बहुतों ने मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यक्त्व को ग्रहण किया। बुद्धदासी और राजा पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी शुद्धान्त.करण से जैन धर्म स्वीकार किया। जिस प्रकार श्री वज्रकुमार मुनिराज ने धर्म प्रेम के वश होकर जैन धर्म की प्रभावना कराई, उसी प्रकार और भव्य पुरुषों को भी ससार का उपकार करने वाली और स्वर्ग मोक्ष सुख को प्रदान करने वाली प्रतिष्ठा, रथोत्सव, जिनयात्रा, चतुर्विधान, जीर्णोद्धार तथा स्याद्वाद विद्यालय आदि द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

धर्म प्रेमी श्री वज्रकुमार मुनि मेरी बुद्धि को नित्य जैन धर्म दृढ करे जिसके द्वारा मैं भी मोक्षमार्ग पर चलकर अपना अन्तिम साध्य अर्थात् मोक्षसुख को प्राप्त कर सकूँ।

इस प्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंगो का प्रत्येक अ ग में प्रसिद्ध होने वाली कथा के सहित स्पष्ट वर्णन किया गया।

अब सम्यक्त्व के २५ मल दोषों का स्वरूप सक्षेप मे इस प्रकार है—

अष्ट दोष नाम—उपर्युक्त सम्यक्त्व के अष्ट अगो से प्रतिकूल शका, काक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष हैं, जो पच्चीस दोषो मे ही गर्भित हैं। अतएव निर्दोष सम्यक्त्व पालन करने के ईच्छुक भव्य जीवों को मन, वचन, काय से इनका त्याग करना चाहिए, क्योकि—

यथोक्त श्री समतभद्राचार्यकृतरत्नकरण्डश्रावकाचारे—

नाङ्गहीनमल छेत्तु दर्शन जन्मसततिम्।
नहि मंत्रोऽक्षरन्यूनो विहन्ति त्रिषवेदनाम्॥

अर्थात् जैसे अक्षर न्यून मत्र (अशुद्ध मत्र) विष की वेदना को दूर नही कर सकता, उसी प्रकार अगरहित सम्यग्दर्शन भी ससारसतति को अर्थात् ससार भ्रमण को नही मिटा सकता अतएव ये अष्ट दोष त्यागने योग्य है।

तीन मूढ़ता

देव मूढता—किसी प्रकार के ससारिक भोगो की प्राप्ति की इच्छा करके राग-द्वेष रूपी मैल से मलिन, अस्त्र-शस्त्र अलकारधारी देवो की भक्ति पूजा करना देव मूढता है।

गुरु मूढता—कुदेवो के सदृश आडम्बर रखने वाले, परिग्रह आरम्भ और हिसादि दोषयुक्त, कामी, क्रोधी, अभिमानी, पाखण्डी, साधु तपस्वियो का आदर, सम्मान, पूजा, भक्ति, आराधना, प्रशसा करना गुरु मूढता है।

लोक मूढता—जिस क्रिया में धर्म नही उसमें अन्य मतावलम्बियो के उपदेश से

तथा देखा-देखी उनमें धर्म समझकर प्रवृत्त होना लोक मूढ़ता है। यथा—गंगा, यमुना आदि नदियों में स्नान करना, देहली पूजना सूर्य तथा चन्द्र को अर्घ देना, सती होना आदि।

षड् अनायतन—कुधर्म, कुगुरु, कुदेव तथा इनके सेवको को धर्म का आयतन समझ कर उनकी स्तुति-पूजा करना षड् अनायतन है। ये षड् अनायतन भी सम्यग्दृष्टि को हेय है।

अष्ट मद—विद्या, प्रतिष्ठा, कुल, जाति, वल, सपत्ति, तप तथा अपने शरीर की सुन्दरता का मद नरके अपने आत्महित को भूल जाना, ये आठ मद दोष है।

सम्यक्त्वी को ये भी अपनी आत्मा से पृथक और क्षणभगुर जानकर इनको छोड़ देना चाहिए क्योंकि ये सब ही कारण पाकर क्षणमात्र में नष्ट हो जाते है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि को कदापि क्षणभंगुर अवस्था का मद नही करना चाहिए। इस प्रकार सम्यक्त्व की निर्मलता के लिए आठ मल दोष, आठ मद दोष, षड् अनायतन, तीन मूढता इस प्रकार २५ दोषो का सर्वथा त्याग करना चाहिए। इन उपर्युक्त २५ दोषो से रहित सम्यक्त्व का अष्टांग सहित जो पालन करता है, वह ही सम्यग्दृष्टि है। यह सम्यग्दर्शन जब किसी जीव के पूर्वजन्म के तत्व विचार के सस्कारो से, वर्तमान मे पर के उपदेश के बिना अपने आप ही उत्पन्न होता है तो निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है तथा जब किसी जीव के वर्तमान पर्याय मे अन्य के उपदेश के द्वारा तत्व विचार करने से उत्पन्न हो तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

इस प्रकार निर्मल सम्यक्त्व के धारण करने से शुद्ध अन्तःकरण वाले यदि चारित्र मोहनीय कर्म के अधीन होने से किंचित् व्रत उपवासादि न कर सके तो भी सम्क्त्व के प्रभाव से नरक, तिर्यच नपुंसक और स्त्रीलिंग को तथा नीच कुल, विकलांग, अल्पायु और दरिद्रता को प्राप्त नही होते है। सारांश यह है कि इस जीव का सम्यक्त्व के समान तीन लोक में सच्चा कल्याण करने वाला कोन मित्र नही और मिथ्यात्वसम शत्रु नही अतएव शंका, कांक्षा, बिचिकित्सा, अन्य दृष्टिप्रशसा, अन्यदृष्टिसस्तव इन पाच अतिचारो को त्याग सम्यक्त्व को निर्दोष धारण करना चाहिए क्योंकि सम्यक्त्व रूपी बीज के बिना बीज और वृक्षवत् ज्ञान और चारित्र के उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल का लगना असम्भव है।

भावार्थ—सम्यक्त्व रूपी बीज को अपने हृदय रूपी भूमि में निर्मल धारण किये बिना ज्ञान की उत्पत्ति, स्थिति, तथा चारित्र की वृद्धि द्वारा मोक्षफल नही लगता। इसके बिना जो हमारा ज्ञान है, वह मिथ्या ज्ञान कहलाता है और व्रतादिक धारण करना कुचारित्र कहा जाता है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर हेयोपादेय का ज्ञान होकर आत्महित के मार्ग में यथार्थ प्रवृत्ति हो सकती है अतएव सबसे पहले सम्यक्त्व की ही धारण करना चाहिए ऐसा प्रत्येक मुमुक्षु का कर्त्तव्य है।

॥ इति श्री सम्यक्त्वविवरण समाप्तम् ॥

।। अथ सम्यग्ज्ञान विवरण प्रारम्भ ।।

सम्यक्त्व रूपी रत्न से अपनी आत्मा को पवित्र करने के पश्चात् स्व तथा पर के गुण अर्थात् धर्मों के प्रकाश करने में सूर्य के समान सम्यग्ज्ञान का आराधन करना चाहिए। यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही जो ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है तथापि लक्षण भेद होने से उसकी भिन्न आराधना करनी चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शन कारण और सम्यग्ज्ञान कार्य है। जैसे दीपक प्रकाश होने का कारण है वैसे ही सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ श्रद्धान सम्यग्ज्ञान होने का कारण है।

सम्यग्ज्ञान स्वरूप गाथा—

संसय विमोह विब्भम विवज्जिय अप्प परसरूवस्स।
ग्रहण सम्मणाण सायारमणेयभेयं च ।।

अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित, आकार सहित अर्थात् विशेष स्वरूप सहित अपने और पर के स्वरूप का जानना सम्यग्ज्ञान है। यद्यपि वास्तव मे वह सम्यज्ञान आत्मा का प्रसिद्ध गुण है जिसके द्वारा ही आत्मा का बोध होता है, वह अखड चैतन्य रूप एक ही प्रकार है, तथापि अनादि काल से ज्ञानावरण कर्म की प्रकृतियों से आवृत होने के कारण अनेक भेद रूप हैं। परन्तु मुख्यतया मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ज्ञान ऐसे पाँच प्रकार हैं।

इनमें से प्रथम के चार ज्ञान तो अपने-अपने आवरण के क्षयोपशम के अनुसार हीनाधिक होते रहते है, इसलिए इनको क्षयोपशमिक ज्ञान कहते है, परन्तु केवलज्ञान केवल ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा अभाव होने से प्रकट होता है अतएव इसको क्षायिक ज्ञान कहते हैं। उपरोक्त पाचो ज्ञानो में से मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यादर्शन के उदय से विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान भी होते है जब सम्यक्त्व के प्रादुर्भूत होने पर सत्यासत्य के निर्णय रूप यथार्थ ज्ञान हो जाता है तब मति श्रुत और अवधि ही समीचीन ज्ञान कहलाते है और ये ही पाँचों ज्ञान प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से दो प्रकार भी होते है। उनमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष है क्योकि ये पाच इन्द्रियो और मन की सहायता से होते है, पर मतिज्ञान को इद्रिय प्रत्यक्ष होने से व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहते है। अवधि और मन· पर्यय ज्ञान किंचित् प्रत्यक्ष है क्योंकि रूपी द्रव्य और मर्यादित क्षेत्र की वार्ता को जानते है। केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष है क्योकि अन्य इन्द्रियादिक की सहायता के बिना अपने स्वच्छ स्वाभाविक ज्ञान से युगपत् समस्त द्रव्यो को उसकी अनन्त पर्यायो सहित जानता है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक प्रत्येक जीव के मति और श्रुत ये दो ज्ञान प्रत्येक अवस्था में रहते है यदि तीन हो तो मति, श्रुत, और अवधि या मति श्रुत और मन. पर्यय ये तीन होते हैं। यदि चार हो तो मति, श्रुत, अवधि और मनः

पर्यय ज्ञान ये चार होते हैं। यदि एक ज्ञान हो तो ज्ञान को खड-खंड करने वाले ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने से एक अखड, स्वच्छ, स्वाभाविक केवलज्ञान होता है। इन पाँचो ज्ञानो का स्वरूप इस प्रकार है -

मतिज्ञान—मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार पाँच इंद्रियो और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मति ज्ञान कहते हैं। बाह्य कारणों की अपेक्षा इसके छह भेद है—

१ स्पार्शन, २ रासन, ३ घ्राणज, ४ चाक्षुष, ५ श्रावण और ६ मानस।

स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श का जानना स्पार्शन, रसना इन्द्रिय से रस का जानना रासन घ्राणेन्द्रिय से सुगन्ध, दुर्गंध का जानना घ्राणज, चक्षुरीद्रिय से रूप का जानना चाक्षुण, कर्णेंद्रिय से शब्द का जानना श्रावण और मन से किसी विषय का मनन करना मानस मतिज्ञान है। स्मृति, सज्ञा, चिता, अभिनिबोध ये भी मतिज्ञान के ही नामातर है अर्थात् ये सब मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही होते है।

श्रुतज्ञान—श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ से सम्बन्ध लिए हुए अन्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते है। श्रुतज्ञान के भी दो भेद है—

अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान—जैसे स्पर्शनेन्द्रिय से अन्य पदार्थ का सम्बन्ध होने पर अधिक शीतल या उष्ण होने से ये मुझे अहितकारी है' ऐसा जो ज्ञान है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते है। यह समनस्क जीवो के मन के आश्रय से स्पष्ट और अमनस्क जीवो के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, इन सज्ञाओ के द्वारा यत्किंचित प्रतिभास रूप होता है।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान—'घट' इस शब्द के दो अक्षरो के पठन तथा श्रवण करने से घट पदार्थ का जानना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह केवल समनस्को के होता है, अमनस्कों के नही। इस अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का विषय केवलज्ञानवत् असीम है अन्तर इतना है कि केवल ज्ञान तो विशद प्रत्यक्ष और श्रुतज्ञान अविशद परोक्ष है।

अवधिज्ञान—अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार पचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए रूपी पदार्थ का स्पष्ट जानना अवधिज्ञान है। वह अवधि दो प्रकार की है—

(१) भवप्रत्यय अवधिज्ञान—जो देव, नारकी तथा छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान के मुख्यतया भव के कारण उत्पन्न हो, उसे भवप्रत्ययावधिक कहते हैं।

(२) क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान—पर्याप्त मनुष्य तथा सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच के सम्यग्दर्शन तथा तपगुणकरि नाभि के ऊपर शख, पद्म, वज्र, स्वास्तिक, कलश

आदि जो शुभ चिह्न होते हैं, उस जगह के आत्म-प्रदेशों में अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान होता है, उसे क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान कहते है यह क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्द्धमान और हीयमान—इस तरह छह प्रकार का होता है।

जो अवधिज्ञान जीव के साथ एक भव से दूसरे भव में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे साथ चला जाए, तथा भव से भवातर व क्षेत्र से क्षेत्रातर मे चला जाए, उसे क्रमश भवानुगामी, क्षेत्रानुगामी और उभयानुगामी कहते है। भव से भवातर में, क्षेत्र से क्षेत्रातर मे साथ न जाए, उसे क्रमश: भवानुगामी क्षेत्रावनुगामी और उभयाननुगामी कहते है। जैसा उपजे वैसा ही बना रहे उसे अवस्थित, हीनाधिक होता रहे उसे अनवस्थित, जो क्रमश घटकर नष्ट हो जाए उसे हीयमान अवधिज्ञान कहते है तथा अवधिज्ञान सामान्यत १ देशावधि, २ परमावधि और ३ सर्वावधि भेद से तीन प्रकार का है। इसमे देशावधि तो भवप्रत्यय, और क्षयोपशमनिमित्तक दोनो रूप होता है और परमावधि व सर्वावधि ये दोनो क्षयोपशमनिमित्तक रूप ही होते है।

मनःपर्ययज्ञान—मन पर्ययज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से पचेन्द्रिय और मन की सहायता बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए जो अन्य के मन मे तिष्ठते हुए सर्वावधि ज्ञान के विषय (अवधिज्ञान के देशावधि आदि तीन भेदो मे मे सर्वावधि का सबसे सूक्ष्म विषय होता है) के अनतवे भाग सूक्ष्मरूपी पदार्थ को स्पष्ट जाने, उसे मन - पर्यय ज्ञान कहते है। इसके भी दो प्रकार है—

(१) ऋजुमति मन पर्यय—मन, वचन, काय की सरलता रूप अन्य के मन में आए हुए पदार्थ को किसी के पूछे या बिना पूछे ही जानने को ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान कहते है।

(२) विपुलमति मन.पर्यय—सरलता तथा वक्ररूप मन, वचन, काय द्वारा चितित, अर्द्धचितित तथा अचितित और ऐसे ही कहे हुए, किए हुए, पर के मन में रहते पदार्थ को किसी के पूछे या बिना पूछे ही जानना विपुलमति मन.पर्यय ज्ञान है।

केवलज्ञान—केवलज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा अभाव होने से अलोकाकाश सहित सम्पूर्ण रूपी, अरूपी पदार्थों का अपना भूत, भविष्यत, वर्तमानकालिक अनन्तानन्त पर्याय सहित समस्त तीन लोक को स्वत इन्द्रिय उद्योतादिक की सहायता बिना ही प्रत्यक्ष जानना केवलज्ञान है। यह ज्ञान परमात्म अवस्था मे होता है।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पाच भेदो का यह सक्षिप्त स्वरूप कहा गया। सम्यग्ज्ञान के उत्पन्न होने का कारण जो श्रुत ज्ञान है, उसका वर्णन सक्षेप मे इस प्रकार है—

श्रुतज्ञान विषय भेद से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग

इस प्रकार से भगवान् की दिव्य ध्वनि के अनुसार श्री गणधर देव ने चार विभागरूप वर्णन किया है। इनमे आत्मज्ञानोत्पत्ति की कारणता होने से इनको वेद कहते हैं। इन चारों का स्वरूप इस प्रकार है—

प्रथमानुयोग—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरित पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधि समाधिनिधानं बोधति बोध: समीचीन. ।।

अर्थात् जिस सम्यग्ज्ञान में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो पुरुषार्थों का कथन है, जिसमें एक प्रधान पुरुष के आश्रय कथा है तथा जिसमे मुख्यतया त्रेसठ शलाका पुरुषों का अर्थात् चौबीस तीर्थकर, बारह चक्रवर्ति, नव बलिभद्र, नव नारायण, नव प्रतिनारायण इन त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित्र है और जो पुण्य का आश्रय करने वाला, बोधि अर्थात् रत्न-त्रय, समाधि अर्थात् ध्यान का निधान (खजाना) है—ऐसे उस प्रथमानुयोगरूपी शास्त्रो के विषय को सम्यग्ज्ञान ही सम्यक् प्रकार जानता है। मनुष्य इस प्रथमानुयोग के अध्ययन, अध्यापन करने से चरित्र के आश्रय पुण्य पाप रूप कार्य और उसके फल को जानकर अशुभ कार्यों से निवृत्त होकर शुभ कार्य में प्रवृत्त होने का प्रयत्न करता है और धर्म का सामान्य स्वरूप समझकर विशेष सूक्ष्म स्वरूप के जानने की अभिलाषा से अन्यान्य अनुयोगो का भी अवलोकन करता है। आरम्भ मे धर्माभिमुख करने में उपयोगी होने से इसका प्रथमानुयोग सार्थक नाम है।

करणानुयोग

लोकालोक विभक्तेर्युगपरिवृते चतुर्गतीनाच ।
आदर्शमिव तथा मतिरवैति करणानुयोग च ।।

अर्थात् उक्त प्रकार का सम्यग्ज्ञान ही लोकालोक विभाग को, युगो के अर्थात् काल के परिवर्तन को, चार गतियो को और लेश्या, कषाय योगादि मे कर्मों की न्यूनाधिकता से उसके परिवर्तन को तथा कर्मों के बध, उदय, सत्ता, क्षय, उपशम, क्षयोपशमादि ऐसे करणा-नुयोग को दर्पण सदृश जानता है। इसका प्रत्येक विषय गणित से सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसका करणानुयोग सार्थक नाम है।

चरणानुयोग—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षागम् ।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ।

अर्थात् उक्त प्रकार का सम्यग्ज्ञान ही गृहस्थ और मुनियो के राग द्वेष की निवृत्ति पूर्वक चारित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारणभूत अगों का वर्णन है जिसमें ऐसे चरणानुयोग शास्त्र को भली प्रकार जानता है। पाप कार्यों के त्यागने से क्रमश आत्म-

परिणाम उज्ज्वल होकर आत्मा शुद्ध अवस्था को प्राप्त हो सकता है। ऐसी आचरण विधि का प्ररूपक होने से इसको चरणानुयोग कहते है।

द्रव्यानुयोग—

जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥

अर्थ—यह द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव अजीव रूप सुतत्वो को तथा संयोग वियोग की विशेषता से उत्पन्न शेष पाँच तत्वो को, पुण्य पाप को और जीवके स्वभाव विभावों को प्रकाशित करता है। इसमें द्रव्यों का विस्तृत वर्णन होने के कारण यह द्रव्यानुयोग कहलाता है।

उक्त प्रकार के चार अनुयोग शास्त्र को सम्यग्ज्ञान ही सम्यक् प्रकार जानता है, अन्य नही, अतएव आत्म-कल्याण के लिए धार्मिक विषय के जानने की उत्कंठा रखने वाले भव्य जीवो को यह सम्यग्ज्ञान इसके अष्टाग सहित पालन करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान के अष्ट अगो के नाम—

ग्रथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधान च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवज्ञानमाराध्यम्।

अर्थात् (१) ज्ञान के शब्दाचार (२) अर्थाचार (३) उभयाचार (४) कालाचार (५) विनयाचार (६) उपधानाचार (७) बहुमानाचार और (८) अनिह्नवाचार ये आठ अग है। पठन-पाठन करने वालो को इनका सदैव पालन करना चाहिए। व्याकरण के अनुसार अक्षर, पद, वाक्यो का उच्चारण कर मूल-मात्र के आगम के पठन-पाठन करने को शब्दाचार या व्यजनाचार कहते है।

शब्द और पूर्ण अर्थ को अवधारण कर आगम का पठन-पाठन करना अर्थाचार कहलाता है।

शुद्ध शब्द और शुद्ध अर्थ सहित सिद्धात के पठन-पाठन करने को उभयाचार व शब्दार्थोभयपूर्ण कहते है।

प्रात. काल, मध्यानकाल, सध्याकाल, अर्द्धरात्रि, ग्रहण, भूकम्प, उल्कापातादि सदोष समय में पठन-पाठन न करके योग्य काल मे श्रुत अध्ययन करना कालाचार व कालाध्ययन है।

गोसर्ग काल अर्थात् दोपहर के दो घडी पहले और प्रात काल के दो घडी पीछे, दोपहर के दो घड़ी पीछे और प्रात काल के घडी पहले इन कालो के सिवाय

दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण तथा भूकम्पादि उत्पातो के समय सिद्धात (जो शास्त्र गणधर देवो के रचे हुए है) अथवा ग्यारह अग दश पूर्वधारियों के रचे हुए हैं तथा श्रुत केवलियों के रचे हुए हैं अथवा प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि के धारण करने वाले योगियों के रचे हुए है। उन ग्रथों का ऐसे समय में अध्ययन, अध्यापन वर्जित है। तीर्थंकरों के पुराण-स्तोत्र, आराधना, तथा चारित्र और धर्म को निरूपण करने वाले ग्रथों का पठन-पाठन वर्जित नही है। वे सदा पढ़ने योग्य है। शुद्ध जल से हस्त-पादादि प्रक्षालन कर पवित्र स्थान में पर्यकासन बैठकर आगमन की स्तुति और नमस्कारादि कर श्रुतभक्ति पूर्वक आगमन का अध्ययन अध्यापन करना, ज्ञान का उत्तम विनयाचार कहलाता है।

धारण सहित आराधना करना अर्थात् स्मरण सहित स्वाध्याय करना, भूलना नही, उपधानाचार है।

ज्ञान का, पुस्तक का और पढाने वाले का तथा विशेष ज्ञानी का बहुत आदर करना, ग्रथ को लाते ले जाते समय उठ खड़ा होना, पीठ न देना, आगम को उच्चासन पर विराजमान करना, अध्ययन करते समय लौकिक वर्ता न करना और अशुचि अग तथा अपवित्र वस्त्रादि का स्पर्श न करना बहुमान-आचार कहलाता है।

जिस शास्त्र, जिस पाठक व गुरु से आगम ज्ञान हुआ हो, उसके नाम व गुण को नही छिपाना तथा लघु शास्त्र या अल्पज्ञानी पाठक का नाम लेने से मेरा महत्व घट जाएगा, इस भय से बडे ग्रथ या बहुज्ञानी अध्यापक का नाम न लेना क्योकि ऐसा करने से मायाचार का दोष आता है, सो अनिह्नवाचार है।

इस प्रकार जो भव्य जीव इन अष्टविध आचारो के रक्षापूर्वक आगम का पठन-पाठन करते हैं, उन्हे ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष होकर सम्पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है, सम्पूर्ण विद्याओ की सिद्धि हो जाती है, वे शीघ्र ही परिशीलन (अभ्यास) रूप नौका के द्वारा ज्ञान सागर मे पारगत हो जाते है, उनकी बुद्धि अतिशय विशाल हो जाती है, हेयाहेय का ज्ञान होकर सन्मार्ग रूप प्रवर्तन करने से अनेक कर्मों का सवर और क्षय हो जाता है और साथ-साथ कीर्ति विवेक आदि उत्तम गुण भी सदा बढते रहते है, इसलिए बुद्धिमान पुरुषो को आलस्य रहित होकर सदैव सम्यग्ज्ञान (जिनागम) का अभ्यास करते रहना चाहिए। ज्ञान की उपासना करने से भव्य जीव भुक्ति और मुक्ति दोनो को प्राप्त कर लेते है क्योंकि शास्त्राभ्यास करते रहने से यह मेरा स्वरूप है यह पर का है, ये पदार्थ हेय है, ये उपादेय है ? इत्यादि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान होता है। जब तक यह पदार्थ भेद अवगत नही होता है, तब तक जीव आत्म स्वरूप को नही जान सकता। जिस समय से आत्मा की स्वपर विवेक होकर हेयोपादेय रूप प्रवृत्ति होने लगती है। तब ही से अशुभ

कर्मों की निर्जरा तथा संवर होने से प्रतिक्षण में शुभ (पुण्य) कर्मों का आस्रव होने लगता है जिसके फल से कल्पवासी व महर्द्धिक देवो में उच्चपद का धारा देव होता है और वहाँ अनेक भोगोपभोगो को भोगकर आयु के अन्त में मनुष्य भव धारण कर परिग्रह त्यागी होकर अपनी ध्यानाग्नि के द्वारा घातिचतुष्ट्य का अभाव करके भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त ज्ञेय पदार्थों को प्रतिभासित करता हुआ अपने धर्मोपदेशामृत रूपी वर्षा से भव्य जीवों के ससार परिभ्रमण से सतप्त चित्त को शात कर वह जीवन्मुक्तात्मा अन्तिम शरीर को छोडकर सदैव के लिए परम अतीद्रिय, अविनाशी, तृष्णा रहित अनत सुख का भोक्ता हो जाता है। इस प्रकार से सम्यग्ज्ञानपूर्वक किया हुआ शास्त्राभ्यास परम्परा से मोक्ष का कारण जानकर प्रत्येक व्यक्ति को निरन्तर आगम का और उसके अनुसार हितोपदेष्टा गुरुओ का भक्ति व श्रद्धा पूर्वक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में भक्ति, पूजा, उपासना तथा गुणानुवाद करते रहना चाहिए जिससे साहस, धैर्य, दृढता तथा गम्भीरता बढती है, बुद्धि निर्मल होती है, ज्ञानानुभव बढता है और दया, क्षमा, सतोष, विनय, वात्सल्य, श्रद्धा, शील, निराकुलता, निष्कपटता आदि अनेकानेक उत्तमोत्तम गुण सदा बढते रहते है, इस लिए भव्यों को सदैव शास्त्राभ्यास करते रहना चाहिए।

॥ इति श्री सम्यग्ज्ञान विवरण समाप्तम् ॥

शुभमस्तु

॥ अथ सम्तक चारित्र वर्णन प्रारम्भ ॥

जिस जीव के सम्यक्त्व के नाश करने वाले मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन सम्यक्त्व घातक दर्शन मोह की तीनो प्रकृतियो के नाश होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से दुरभिनिवेश रहित सम्यग्ज्ञान विद्यमान है तथा जिसके चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हुआ है और जो विषय भोगादिको से परान्मुख दृढ सहनन का धारक और आसन्न भव्य है ऐसा पुरुष तो एकाग्रक हिसादि पाच पापो का पूर्ण रीति से त्याग कर परम दिगम्बर नग्न रूप धारण करके मोक्ष के मार्ग स्वरूप सम्यग्ज्ञान सहित तेरह प्रकार के चारित्र को भली प्रकार धारण कर आत्मस्वरूप मे लीन होता है और जिनके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान विद्यमान है, अनन्तानुवन्धी क्रोध मान, माया, लोभ रूप चारित्र मोहनीय कर्म का अभाव हो गया है ऐसा पुरुष स्वय को प्रिय लगने वाले चक्षु, रसना आदि इन्द्रिय जनित सुखो को निद्य और अनुपसेव्य जानता है और अपनी आत्मा से उत्पन्न नित्य अविनाशी मोक्षसुख के प्राप्त होने की उत्कट इच्छा रखता है तथापि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन सम्बन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ रूप चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय जनित सुख दुःखो का अनुभव करता है क्योंकि अपने समय के अनुसार

आए हुए कर्मों के उदय के फल को अवश्य भोगना पड़ता है ऐसा जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह चारित्र मोहनीय कर्म की अल्पमदता होने से अप्रत्याख्यानावरण का उपशम हुआ होने से तथा शक्ति रहित अथवा हीन सहनन होने के कारण हिंसादि पापों का पूर्ण रूप से त्याग करने की उत्कट लालसा रखता हुआ देशव्रती का अभ्यास करते हुए क्रमपूर्वक राग द्वेष मोहादि को घटाकर पीछे हिंसादि पच पापों का पूर्ण त्याग कर मुनिव्रत धारण करता है और मोक्ष का पात्र बनता है यही राज मार्ग है क्योंकि विषय, कषाय आदि के घटाये बिना मुनिव्रत धारण कर लेना किसी कार्य के न करने वाला व्यर्थ स्वाग मात्र है। इसीलिए सम्यक्त्व प्राप्त होने पर रागद्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक्चारित्र को अवश्य धारण करना चाहिए। जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहा गया है—

आर्या छन्द—मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान.।
रागद्वेषनिवृत्य चरण प्रतिपद्यते साधु.॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय रूप अन्धकार के नाश होने पर जिसको सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से सशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है जिसको ऐसे सम्यग्दृष्टि भव्य पुरुष को राग द्वेष दूर करने के लिए सम्यक् चारित्र धारण करना चाहिए वह चारित्र सकल और विकल रूप से दो प्रकार का है। समस्त प्रकार के परिग्रहो से विरक्त अनागार (साधुओं) का तो मन, बचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना मे पच पापों का सर्वथा त्याग रूप सकल चारित्र है और गृह आदि परिग्रह सहित गृहस्थियो का इन पापो के एक देश त्याग रूप विकल चारित्र है।

अब प्रथम ही मुनि के चारित्र को कथन न करके एकोदेश त्याग रूप गृहस्थ के विकल चारित्र का स्पष्ट और विस्तृत वर्णन किया जाता है क्योंकि मुनि धर्म तो उन लोगों के लिए है जिनके चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो चुका है तथा दृढ़ सहनन के धारक और विषय भोगो से निस्पृही प्राप्त हुये कष्टो के सहन करने को पूर्ण शक्तिवान है। गृहस्थ धर्म उस मुनि धर्म के प्राप्त करने का मार्ग है। जिस प्रकार बहुत काल से आने वाले ज्वर से अशक्त मनुष्य को पहले पीने योग्य पेय पदार्थ और तत्पश्चात् खाद्य पदार्थ सेवन कराए जाते है उसी प्रकार विषय रूपी विषय अन्न के सेवन करने से जो मोह ज्वर उत्पन्न हुआ है और उस मोह ज्वर के सम्बन्ध मे जिसको विषय सेवन करने को लालसा रूप तीव्र तृष्णा प्रगट हुई है ऐसे पुरुष को प्रथम ही योग्य विषयों का सेवन करना और क्रम से छोडना कल्याणकारी होता है। इसका दूसरा दृष्टान्त ये है कि जैसे बहुत समय से किसी नशे का सेवन करने वाले मनुष्य का एकाएक उस व्यसन से छूटना अशक्त जान क्रम क्रम से उसे न्यून सेवन करने का उपदेश दिया जाता है जिसे वह क्रमश. कम करते-करते अन्त मे उसको सर्वथा त्याग करना

ही कल्याणकारी जान, छोड़ देता है उसी प्रकार अनादि काल से सेवन किए हुए पंचेन्द्रिय जनित विषय सुख से छुड़ाने और स्व स्वभाव में प्राप्त होने के लिए एकदम सर्व परिग्रह को छोड़ मुनिधर्म धारण करने की शक्ति सर्व साधारण जीवों में न जान ऐसे हीन पराक्रमी मनुष्यों के लिए जिनेन्द्र भगवान ने गृहस्थाश्रम में रहकर श्रावक व्रतो के धारण करने का उपदेश दिया है क्योकि जिसमे उनको यथाक्रम श्रावक व्रतो के पालन करने से मुनि धर्म धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि प्रथमानुयोग सम्बन्धी पुराण तथा चारित्रादि ग्रथों में सामान्य रूप से साधारण सी प्रतिज्ञा लेने वाले गृहस्थ को भी श्रावक शब्द से स्मरण किया है तथापि चरणानुयोग सम्बन्धी उपासनाध्ययन (श्रावकाचार) ग्रथों मे बहुधा पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ऐसे तीन प्रकार के ही श्रावक कहे है। क्योकि श्रावक के अष्ट मूल गुण और सप्त व्यसनो का त्याग इन तीनो मे हीनाधिक्यता से पाया जाता है। सागार धर्मामृत आदि ग्रथो मे स्पष्ट कहा है कि मद्य त्याग आदि श्रावको के आठ मूलगुण और अहिंसा आदि बारह अणुव्रत उत्तर गुण है। इन्ही बारह व्रतो के विशेष भेद श्रावक की तरेपन क्रिया हैं। इन तरेपन क्रियाओ की पूर्णता भी बारह व्रतों के साथ-साथ पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवी प्रतिमा में हो जाती है।

।। श्रावक की तरेपन क्रियाओं के नाम ।।

गाथा— गुण वच तव सम पडिमा, दाण जलगालण च अणथमिय।
दसणणाण चरित, किरिया तेवन्स सावया भणिया ।।

अर्थ—अष्टमूलगुण, द्वादश व्रत, द्वादशतपा, समता, एकादश प्रतिमा, चतुर्विधदान, जलगालन, अथऊ (व्यालू), दर्शन, ज्ञान और चारित्र इस प्रकार श्रावक की तरेपन क्रियाएँ है। अब पक्ष चर्या, साधन के द्वारा जो श्रावक के पाक्षिक, नैष्ठिक व साधक श्रावक ऐसे तीन भेद कहे हैं उनका पृथक-पृथक वर्णन किया जाता है।

।। अथ पाक्षिक श्रावक वर्णन प्रारम्भ ।।

श्लोक— सम्यग्दृष्टेः सातिचार, मूलाणुव्रतपालक।
अर्चादिनिरतस्त्वगु, पद काक्षीहपाक्षिकः ।।

अर्थात्— सम्यग्दृष्टि अतीचार सहित मूलगुण और अणुव्रत का पालन करने वाला जिन भगवान की पूजा आदि में अनुरागी तथा आगे-आगे अधिक व्रतो के धारण करने की इच्छा रखने वाला पाक्षिक श्रावक कहा जाता है। आशय यह है कि जिसे वीतराग सर्वज्ञ देव के अनुलघ्य शासन द्वारा आत्म कल्याण का मार्ग तथा यथार्थ धर्म का स्वरूप ज्ञात हो जाने से एक देश हिसा के त्याग करने रूप श्रावक धर्म के ग्रहण करने का पक्ष है। अथवा जिसने उस पर आचरण करना प्रारम्भ कर दिया है पर उस धर्म का निर्वाह जिससे यथेष्ट

नहीं होता ऐसे चतुर्थ गुणस्थानी सम्यग्दृष्टि प्रारब्ध देश सयमी को पाक्षिक श्रावक कहते हैं। प्रारब्ध देश संयमी कहने का अभिप्राय यह है कि जिसने देश संयम को पालन करने का प्रारम्भ स्वीकार किया है उसको नैगम नय की अपेक्षा से देश सयमी कहते है। इनके सप्त व्यसन का त्याग तथा अष्ट मूलगुण धारण सातिचार होते हैं। यद्यपि ये निरतिचार पालन का प्रयत्न करते हैं तथापि अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चौकड़ी के उदय से विवश अतीचार लगते है। अब यहाँ शुद्ध सम्यग्दृष्टि पाक्षिक श्रावक के अहिंसा धर्म की रक्षा के निमित्त मद्य विरति आदि आठ मूलगुण और सप्त व्यसन के त्याग का वर्णन किया जाता है।

॥ आठ मूल गुण ॥

जो जीव गृहस्थाश्रम मे रहकर जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करता हुआ देश सयम के धारण करने की उत्कठा रखता है ऐसे गृहस्थ को भाव हिसा और द्रव्य हिंसा को त्याग करने के लिए मद्य, मास, मधु इन तीन मकार तथा बड़ पीपल, ऊमर (गूलर) कठूमर और पाकर इन पाच प्रकार के क्षीर वृक्ष के फलो का अवश्य त्याग कर देना चाहिए। इन ही के त्याग करने को आठ मूल गुण कहते है। इन आठ मूल गुणो को अन्य आचार्यो ने दूसरे प्रकार से भी लिखा हैं।

जैसा कि श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

श्लोक— मद्यमास मधुत्यागैं सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौमूलगुणानाहु गृंहिणा श्रमणोत्तमाः॥

अर्थ—मद्य, मास और मधु के त्याग सहित पाचो अहिंसा अणुव्रतो का पालन करना गृहस्थियो के आठ मूलगुण कहे गये है। ऐसा मुनियो में उत्तम गणधर आदि ने कहा है। इस प्रकार की समन्तभद्राचार्या ने पच उदम्बरों की जगह हिंसादि पच पापो का एक देश त्याग करना कहा है। तथा भगवज्जिनमेनाचार्य ने श्री समतभद्राचार्य के कहे हुए अष्ट मूलगुणों में से मधु के बदले जुए का त्याग कहा है।

श्री आदि पुराण में कहा गया है—

आर्या छन्द— हिसा सत्यस्तेयाद, अब्रह्मपरिग्रहाच्चवादर भेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरति, गृंहिणोऽष्टसयमीमूलगुणा॥

अर्थ—हिसा, झूठ, चोरी अब्रह्म और परिग्रह इन पांच पापो का स्थूल रीति से अर्थात् एक देश त्याग करना तथा जुआ, मद्य, मास का त्याग करना ये श्रावको के अष्ट मूल गुण होते है।

सागार धर्मामृत तथा अन्य ग्रन्थों में श्रावक के अष्ट मूलगुण दूसरे प्रकार से भी कहे हैं। जैसे कहा गया है—

श्लोक—मद्य फल मधुनिशासन, पच फलीविरति पचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति, चक्वचिदष्टमूलगुणाः ॥

अर्थ—मद्य, मास, मधु इन तीन मकार का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, पांच उदबर फलों का त्याग, नित्य त्रिकाल देव वदना करना, दया करने योग्य प्राणियों पर दया करना और जल छानकर पीना अर्थात् काम मे लाना इस प्रकार आठ मूलगुण कहे है। तथा और भी कहा है—

श्लोक—आप्तपचनुतिर्जीव, दया सलिलगालनम्।
त्रिमद्यादि निशाहारो, उदम्बराणाचवर्जनम् ॥
अष्टौमूल गुणानेतान्, केचिदाहुर्मुनीश्वरा.।
तत्पालेनभवत्येष, मूलगुणव्रतान्वित ॥

अर्थ—देव वंदना, जीवो की दया पालना, जल छानना, मद्य, मास, मदिरा का त्याग, रात्रि भोजन त्याग तथा पाच उदम्बर फल का त्याग ये भी आठ मूल गुण हैं। इन सब पूर्वोक्त कई प्रकार से आचार्यों के द्वारा भिन्न कथित मूल गुणों पर जब सामान्यतः विचार किया जाता है तो प्राय सभी आचार्यों का अभिप्राय, अभक्ष्य, अन्याय और परिणामों की निर्दयता को छुडाकर अहिसा व्रत पालन करने के लिए धर्म में लगाने का सबका, एकसा विदित होता है अतएव पाक्षिक को अहिंसा पालन करने के लिए अष्ट मूलगुणो को यावज्जीवन धारण करना चाहिए और इनके साथ ही मद्य, मास, मधु आदि जैसे अनुपसेव्य और हिसामय होने से नवनीत अर्थात् मक्खन के सेवन करने से, रात्रि भोजन करने और बिना छने पानी पीने मे भी बड़ा पाप बध होता है और जीवहिसा का पाप बध लगता है, मास खाने का दोष लगता है इसीलिए इनका भी पाक्षिक को अवश्य त्याग करना चाहिए। इन सब अभिप्रायो को पीछे कहे हुए रात्रि भोजन त्याग, त्रिकाल बदना आदि अष्ट गुणो में मल अन्तर्भूत हो जाने के कारण उन्ही के अनुसार अब यहा पर वर्णन किया जाता है। जसे—

श्लोक—मद्योउदम्बर पचकामिष मधुत्यागा कृषाप्राणिना।
नक्तभुक्ति विमुक्ति राप्तविनुति स्तोय सुवस्त्रस्त्रुत ॥
एष्टौ ते प्रगुणागुणागण धरैरागारिणा कीर्तिता।
एकेनाप्यमुनाबिनायदि भवेद् भूतो नगेहाश्रमी ॥

अर्थ—मद्य का त्याग, पाच उदम्बर फलो का त्याग, मास का त्याग, मधु का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग तथा प्राणियो पर दया करना, देव वन्दना करना और छना हुआ पानी प्रयोग में लाना—ऐसे ये अष्ट मूल गुण श्रावको के लिए गणधर देव ने कहे हैं। यदि इनमे से एक भी गुण कम हो तो उसे गृहस्थ अर्थात् श्रावक नही कह सकते।

मद्यदोष—मद्य के बनाने के लिए महुआ, दाख आदि अनेक पदार्थों को बहुत दिन तक सड़ाकर पीछे यन्त्र के द्वारा उनकी शराब उतारी जाती है। यह महा दुर्गन्धित होती है और इसके बनने में असंख्यात और अनन्त त्रस व स्थावर जीवों की हिंसा होती है। इसके अतिरिक्त इसके पीने से मोहित हुए जीव धर्म कर्म को भूलकर निशक पंच पापों में प्रवृत्ति करते हुए इस भव और परभव दोनो लोकों का सुख नष्ट करते हैं। मद्य के पान करने से मोहित चित्त वाला पुरुष माता, स्त्री, पुत्र, बहिन आदि की सुध-बुध भूलकर निर्लज्ज होकर यद्वा तद्वा बर्ताव करता हुआ, दुर्वचन बोलता हुआ, सेव्य, अनुप-सेव्य से विवेक रहित मांस आदि भक्षण करता हुआ और न पीने योग्य पदार्थो का पान करता हुआ वह अन्त में नरक-गति को प्राप्त होकर अति तीव्र, घोर दु.ख अनन्तकाल पर्यन्त भोगता है। इस प्रकार विचार कर संयम, ज्ञान, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया आदि उत्तम गुणों को अग्नि के कणवत् भस्म करने वाले उभय लोक दुखदायी नरक आदि दुर्गति के कारण मद्य को पीने का आत्म-हितेच्छुक पुरुषो को अवश्य त्याग कर देना चाहिए। चरस, चडू, अफीम, गांजा, भाँग, माजून आदि समस्त मदकारक पदार्थों को मदिरापान के सदृश धर्म, कर्म दोनों से भ्रष्ट करा देने वाला जानकर मद्यपान त्यागी को इनका भी त्याग करना चाहिए।

मांस दोष—यह त्रस जीवो की द्रव्य हिंसा करने से उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति, नाम और दुर्गन्ध से ही चित्त मे महाघृणा उत्पन्न होती है। यह जीवों के रक्त, वीर्य, मज्जा आदि सप्त धातु और उपधातु रूप स्वभाव से ही अपवित्र पदार्थों का समूह है। मांस पिड चाहे कच्चा हो चाहे अग्नि मे पकाया हुआ हो अथवा पक रहा हो उसमें प्रत्येक अवस्था मे उसी जाति के साधारण जीव, प्रत्येक जीव असख्याते अनन्त पैदा होते रहते हैं। ऐसा मॉस सेवी पुरुष उभय लोक में दु.ख पाता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंच परावर्तन रूप दु खमय ससार में अनन्त काल पर्यन्त नरकादि दुर्गतियों मे परिभ्रमण करता हुआ महान दु सह दु ख भोगता है। अतएव मास भक्षण को उभयलोक दु खदायी जानकर अहिंसा धर्म पालन करने वालों को मास भक्षण नही करना चाहिए।

मधुदोष—जिसको मधुमक्खी केतकी, नीम आदि के एक-एक पुष्प के मध्य भाग से रस को चूस-चूसकर लाती है और फिर उसे वमन कर अपने छत्ते से एकत्र कर उसकी रक्षार्थ वही रहती है और जिसमें प्रत्येकसमय समूर्छन जातिके छोटे-छोटे अडे उत्पन्न होते रहते है, भील आदि शहद निकालने वाले निर्दय क्रूर परिणामी नीच जाति के मनुष्य धूम आदि के प्रयोग से मधुमक्षिकाओं को उड़ाकर उन मधुमक्खियों के छत्ते को तोड़कर शेष बची मक्खियों और अडो सहित दाब निचोड़कर निकालते है ऐसे असख्य प्राणियो के समुदाय को विनाश करने से उत्पन्न हुए, लार के समान घणित और मास के समान दोष युक्त महान अपवित्र

मधु का जो मनुष्य एक बिन्दु भी ग्रहण करता है उसे सात ग्राम के भस्म करने से भी अधिक पाप का भागी होना पड़ता है। जैसा कि कहा गया —

श्लोक—ग्राम सप्तक बिदाहि रेफसा, तुल्यतान मधुमक्षिरेफस ।
तुल्य मंजलिजलेन कुत्र चि, निम्नगापति जलं न जायते ।।

अर्थ—सात ग्राम के भस्म करने से जो पाप होता है वह कुछ मधु के सेवन करने से उत्पन्न हुए पाप की समानता नहीं कर सकता क्योकि हाथ की हथेली पर रखा हुआ पानी क्या समुद्र के जल की समानता कर सकता है अर्थात् कभी नही। अतएव मधु को नाना प्रकार के दुर्गतिजनित दुःखो का दाता जानकर अहिसा धर्म पालन करने वालों को इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। जिस प्रकार मधु में समय-प्रतिसमय असख्यात त्रस जीवो की उत्पत्ति होती रहती है उसी प्रकार नवनीत अर्थात् मक्खन में भी दो मुहूर्त के पश्चात अनेक त्रस जीवो का उत्पन्न होना शास्त्र मे कहा है—

श्लोक—यन्मुहूर्तयुगत. पर सदा मूर्छतिप्रचुर जीव राशिभि. ।
तद्‌गिलति नवनीत मात्रये, ते व्रजति खलु कागति मृता ।।

अर्थ—दो मूहूर्त अर्थात् चार घडी के पश्चात् जिसमें अनेक सम्मूर्छन जीव निरन्तर पैदा होते रहते हैं ऐसे नवनीत अर्थात् मक्खन का जो पुरुष सेवन करते है वे अत में दुर्गति के पात्र होते हैं।

इस विषय मे अन्य आचार्यों का ऐसा भी मत है —

श्लोक—अतर्मुहूर्तात्परत. सूक्ष्माजतुराशय ।
यत्र मूर्च्छन्तिनाद्यत नवनीत विवेकिभि: ।।

अर्थ—तैयार होने के अन्तमुहूर्त के पीछे नवनीत अर्थात् मक्खन मे अनेक सूक्ष्म सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते है इसीलिए विवेकी पुरुषो को वह ग्रहण नही करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि धर्मात्मा पुरुषो को मधु आदि तीन मकारवत् नवनीत को सम्मूर्छन जीवो का हिंसामय उत्पत्ति स्थान होने से अभक्ष्य जानकर इसका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

पाच उदम्बर फल नाम —

जो वृक्ष के काठ को फोडकर निकलते है वे उदम्बर फल कहलाते हैं। जैसे—

श्लोक— उदुम्बरवटप्लक्ष, फल्गुपिप्पल जानि च ।
फलानि पच बोध्यान्यु, उदुम्बराख्यानिधीमताम् ।।

अर्थ—बड़, पीपल, ऊमर अर्थात् गूलर, कठूमर या अंजीर और प्लक्ष अर्थात् पाकर इन पांचों वृक्षों के हरे फलों को भक्षण करने वाला पुरुष सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा करता है। इन पाच प्रकार के फलों में स्थूल जीव कितने भरे हुए होते हैं वे तो प्रत्यक्ष ही हिलते, चलते, उड़ते हुए अनेकों दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु उनमें सूक्ष्म जाति के भी अनेक जीव होते हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होते वे केवल शास्त्र रूपी ज्ञान नेत्र से ही जाने जाते हैं। यथोक्त—

श्लोक – अश्चत्थो उदुम्बरप्लक्ष, न्यग्रोधादि फलेश्वपि।
प्रत्यक्षा· प्राणिनः स्थूला:, सूक्ष्माश्चागम गोचरः ॥

जो पुरुष इन फलों को सुखाकर तथा बहुत दिन पड़े रहने से जिनके सब त्रस जीव नष्ट हो गए है ऐसे फलों को भक्षण करता है वह पुरुष उनमें अधिक राग रखने से मुख्यतया भाव हिंसा और गौणतया द्रव्य हिंसा के दोष का भागी होता है। अभिप्राय यह है कि जो इन पाचो वृक्षो के हरित फलो के खाने से द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा दोनों होती थी तो उनके सूखने पर जब त्रस जीव मर गए है तो उनके मृतक कलेवर के उसी में रहने से उसके भक्षण करने से मास दोष और भक्षण करने रूप अति उत्कट इच्छा होने से राग रूपी भाव हिंसा अवश्य होती है। इसीलिए हरे और सूखे दोनों प्रकार के पच उदम्बर फल त्याज्य हैं। जिस प्रकार पच उदम्बर फल हरे और सूखे दोनों प्रकार से त्याज्य हैं उसी प्रकार मद्य, मांस मधु को भी रस सहित और रसरहित दोनों को अभक्ष्य एवं हिंसामय होने से धार्मिक सज्जन पुरुषो को सर्वथा त्यागने योग्य है। इनके अतिरिक्त जिनमें त्रस जीवो की उत्पत्ति होती हो ऐसे सभी फलो का गीली, सूखी दोनों अवस्थाओ में भक्षण करना सर्वथा छोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार सडे, घुने हुए अनाज को भी त्रस जीवों की हिंसामय होने से छोड़ देना चाहिए क्योंकि उसके भक्षण करने से मास भक्षण के समान दोष आता है इसलिए धार्मिक पुरुषों को ये त्याज्य है।

रात्रि भोजन दोष—

जिस प्रकार अहिंसा धर्म पालन करने के लिए धर्मात्मा पुरुष मद्य आदि अष्ट पदार्थों का त्याग करते हैं उसी प्रकार उन्हें निषिद्ध और हिंसा का कारण होने से रात्रि भोजन का भी अवश्य त्याग कर देना चाहिए क्योकि रात्रि में भोजन करने से दिन में भोजन करने की अपेक्षा अधिक जीवों का घात होता है। कारण कि रात्रि को भोजन बनाने में सामान्यतः न दिखने वाले बहुत सूक्ष्म जाति के जीव, घृत, जल, साग, चून आदि में पड जाते हैं तथा तैयार किए हुए भोजन में मिल जाते हैं और वह सब खाने में आते है। उससे बडा पाप बंध होता है। जीव हिंसा का पाप लगता है। मास भक्षण का दोष आता है। इसके अतिरिक्त रात्रि में

भोजन बनाने से, आग जलाने से, बर्तनो के धोने से अन्धकार व थोड़े प्रकाश में न दिखने वाले जल में स्थित जीवों का विध्वंस होता है तथा धोवन का जल जहाँ तहाँ रात्रि में जीव जन्तु न दिख पड़ने के कारण डाल देने से वहाँ की चींटी, मच्छर आदि बहुत से जीवों की हिसा होती है। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु के खाने का त्याग कर रखा है वह भी यदि भोजन में मिल जाए तो रात्रि में उसकी परीक्षा करना असंभव हो जायगा और बिना पहचाने खा ली जाएगी तो प्रतिज्ञा भग का दोष होगा। रात्रि में अच्छी तरह न दिखने के कारण इस अनिवारित हिंसा (पाप) के अतिरिक्त रात्रि भोजन करने वालो की शारीरिक नीरोगता में भी बहुत हानि होती है। जू खाने से जलोदर रोग हो जाता है, मकडी खा जाने से कुष्ट रोग हो जाता है, मक्खी खा जाने से वमन हो जाती है, केश (बाल) खा जाने से स्वर भग हो जाता है, कीड़ी खा जाने से पित्त निकल आता है तथा विषमरी (छिपकली) के विष से आदमी तक मर जाता है। इस प्रकार के अनेक दोपों से कलंकित रात्रि भोजन करने वाला पुरुष इस लोक में अनेक जीवो को हिसा के पाप से अनेक दुर्गतियो मे भ्रमण करता हुआ अनन्त दु ख भोगता है। अनेक दोषो से भरी हुई इस रात्रि मे जब देव कर्म, स्नान, अदान आदि सत्कर्म नही किए जाते हैं तो फिर भोजन करना कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् कभी नही। बसुनदि श्रावकाचार मे स्पष्ट कहा है कि रात्रि में भोजन करने वाला पुरुष किसी भी प्रतिमा का धारी नही हो सकता अतएव धार्मिक पुरुषो को सूर्योदय से एक मुहूर्त दिन चढने पश्चात् सवेरे और एक मुहूर्त सूर्य अस्त से पहले शाम को भोजन कर लेना चाहिए। शेष काल में भोजन करना तथा दिन में अधेरे क्षेत्र (जहाँ पर अधकार रहता हो) व काल (यथा आधी आने के समय) में भोजन न करना चाहिए, ये रात्रि में भोजन करने के समान है। यथा

दिवसस्यमुखेचान्ते, मुक्त्वा द्वे-द्वे सुधार्मिकैः ।
घटिके भोजन कार्यं, श्रावकाचार चचुभि ॥

धर्मात्मा श्रावको को सवेरे और शाम को आरम्भ और अन्त की दो-दो घडी छोडकर भोजन करना चाहिए। इस प्रकार रात्रि भोजन करना उत्तम जाति और धर्म कर्म को दूषित करने वाला तथा दुर्गति एव नाना प्रकार के दुखो का दाता जानकर इसे सर्वथा त्यागने योग्य है। अब रात्रि भोजन के त्याग करने से उत्तम फल को प्राप्त करने वाले प्रीतिकर कुमार की कथा लिखी जाती है —

इस ही भरत क्षेत्र के आर्य खड में एक मगध नाम का देश है। उसमे सुप्रतिष्ठपुर नाम का एक बहुत प्रसिद्ध और सुन्दर नगर था। वह संपति और अनुपम सुन्दरता से स्वर्गपुरी की शोभा को जीतता था। जिस समय का यह उपाख्यान है उस समय इसके राजा जय सेन थे। वे धर्मज्ञ, राजनीति निपुण, न्यायी, यशस्वी, महाबली और प्रजाहितैषी थे और वहाँ

अनेक श्रीमान् श्रेष्ठि (सेठ) निवास करते थे। वहाँ एक धनमित्र नाम का सेठ रहता था। उसकी स्त्री का नाम धनमित्रा था। दोनों ही की जैन धर्म पर अखड प्रीति थी। एक दिन सागर सेन नाम के अवधिज्ञानी मुनि को निर्दोष, शुद्ध यथा विधि नवधा भक्ति सहित प्रासुक आहार देकर इन्होने उनसे पूछा कि हे नाथ ! हमें पुत्र सुख होगा या नही। यदि न हो तो हम व्यर्थ आशा करके अपने दुर्लभ मनुष्य जीवन का ससार की मोह माया मे फसकर दुरुपयोग क्यो करे ? फिर क्यों न हम पापो का नाश करने वाली जिन दीक्षा को ग्रहण कर आत्म कल्याण करे ? मुनि ने इनके प्रश्न के उत्तर में कहा—तुम्हारा अभी दीक्षा ग्रहण करने का समय नही आया है। तुमको अभी कुछ दिन तक और इस गृहवास मे रहना पड़ेगा क्योंकि तुम्हारे एक महाभाग, कुलभूषण, धर्म धुरधर, महातेजस्वी पुत्र रत्न उत्पन्न होगा जो इस मोह जाल को तोडकर जिन दीक्षा ग्रहण करके अनेक प्राणियो का उद्धार करता हुआ शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म काष्ठ को भस्म कर स्वात्मानुभूतिरूपि सच्चे सुख निर्वाण को प्राप्त करेगा। अवधिज्ञानी मुनि की यह भविष्यवाणी सुनकर उस दम्पति को असीम आनन्द हुआ। उस दिन से ये दोनो सेठ-सेठानी अपना समय जिन पूजन, स्तवन, अभिषेक, सत्पात्रदान करुणादान आदि धार्मिक कार्यों मे विशेषता से व्यतीत करने लगे। इस प्रकार आनन्द और उत्सव सहित कुछ समय व्यतीत होने के पश्चात् धनमित्रा ने एक प्रतापी पुत्र रत्न को उत्पन्न किया। मुनि की भविष्यवाणी यथार्थ हुई। पुत्र रत्न के उपलक्ष्य मे सेठ ने बहुत उत्सव किया याचकों को दान दिया। भगवान की नाना प्रकार की पूजा और धर्म प्रभावना कराई। सज्जन, सुहृद इत्यादि पुरुषो का भी यथायोग्य सन्मान किया गया। इसके जन्म से बधु बांधवो को भी बड़ा आनन्द हुआ। अनेक प्रकार मगल गान होने लगे। इस नवजात शिशु को देखकर सबको अत्यन्त प्रीति हुई। इसीलिए इसका नाम प्रीतिकर रख दिया गया। अब ये बालक दिन-प्रतिदिन शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढने लगा। इसकी सुन्दरता इतनी बडी चढ़ी थी कि इसके रूप को देखकर बेचारे कामदेव को भी नीचा मुह कर लेना पडता था और उसकी स्वभाव सिद्ध काति को देखकर लज्जा के मारे बेचारे चन्द्रमा का हृदय काला पड़ गया। तेज से सूर्य की समानता करने वाला, ऐश्वर्यवान, भाग्यशाली, यशस्वी और महाबली था क्योकि वह चरम शरीर का धारी अर्थात् इसी भव से मोक्ष जाने वाला था। जब प्रीतिकर पाच वर्ष का हो गया तब इनके पिता धनमित्र श्रेष्ठि ने इसको अध्ययन कराने के लिए एक सुयोग्य गुरु के आधीन कर दिया। एक तो पहले ही उसकी बुद्धि डाभ की अनी के समान बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरु की कृपा हो गई इससे ये थोड़े ही समय में पढ़ लिखकर अच्छा विद्वान बन गया। कितने ही शास्त्रो मे इसकी अबाध प्रवृति हो गई। गुरु सेवा रूपी नाव द्वारा इसने शास्त्ररूपी समुद्र का प्रायः भाग पार कर लिया। नीतिकार ने बहुत ठीक कहा है—

श्लोक— जले तैल खले गुह्य, पात्र दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्र स्वययाति, विस्तार वस्तु शक्तित ।।

अर्थ—जिस प्रकार जल में तेल, मूर्खों में गुप्त वार्त्ता, सत्पात्र के प्रति दिया हुआ दान मुख्यतया वस्तु की शक्ति की अपेक्षा अल्प भी बहुत्वता को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धि पवित्रात्मा शिष्य के प्रति दिया हुआ शास्त्र ज्ञान बुद्धि की निर्मलता से विस्तृतता को प्राप्त हो जाता है। पूर्ण विद्वान और धनी होकर भी इसे अभिमान का स्पर्श तक भी न हुआ था। वह निरन्तर लोगो को धार्मिक बनाने के प्रयोजन से धर्मोपदेश का श्रवण कराता और लिखाता पढ़ाता था। इसमे गुणो की ही सत्ता देखकर आलस्य, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गुणों ने इसके निकट अपने सजातियो का अभाव देखकर इसके समीप से भी निकलना बद कर दिया था। यह सब से प्रेम करता और सबके सुख दु:ख में सहानुभूति रखता था। इसी कारण इसको सब छोटे बड़े एकचित्त होकर चाहते थे। महाराजा जयसेन भी इसकी सज्जनता, परोपकारिता और उदारशीलता को देखकर बहुत प्रसन्न होते थे और स्वय इसका वस्त्राभूषणो से आदर सत्कार कर इसकी प्रतिष्ठा बढाते थे। यद्यपि प्रीतिकर को धन सम्पदा आदि किसी प्रकार कमी न थी परन्तु तब भी उसने अपने मन मे विचार किया कि कर्त्तव्य शीलो का यह काम नही कि वे बैठे-बैठे अपने पिता व पितामह आदि की संचय की हुई सम्पत्ति पर आनन्द उडाकर आलसी और कर्त्तव्य हीन बने अतएव मुझको वित्तोपार्जन करना चाहिए, कोई यत्न करना चाहिए। यह विचार कर उसने प्रतिज्ञा की जब तक मैं अपने बाहुवल से कुछ द्रव्य सग्रह न कर लूगा तब तक मै अपना विवाह न कराऊँगा। ऐसी प्रतिज्ञाकर अपने माता पिता तथा गुरुजनो को नमस्कार कर उनसे आज्ञा ले विदेश गमन को चल पडा। कितने ही वर्षों तक उसने विदेश में रहकर नीति तथा न्याय पूर्वक बहुत धन सम्पत्ति का उपार्जन किया और साथ में यश भी सपादन किया। अपने घर से आए बहुत दिन हो जाने के कारण अपने माता-पिता उसे स्मरण आने लगे। तब यह वहाँ बहुत दिन ठहरकर अपना सब सामान साथ लेकर अपने घर को वापिस लौट आया। सच है कि पुन्यवान् भाग्यशाली जीवो को लक्ष्मी थोड़े ही प्रयत्न से मिल जाती है। प्रीतिकर अपने माता पिता से मिला। इसके विदेश से आने का समाचार सुनकर समस्त बंधु वर्ग तथा नगर निवासियो को बहुत आनन्द हुआ। महाराजा जयसेन ने प्रीतिकर की पुण्य वाणी और प्रसिद्धि सुनकर इस पर अत्यन्त अनुराग कर अपनी कन्या पृथ्वीसुन्दर और एक अन्य देश से आई हुई वसुन्धरा तथा और अनेक सुन्दर रूपवती राजकुमारियो का इस महा भाग्यशाली श्रेष्ठि पुत्र के साथ विवाह कर दिया और इनके साथ अपना आधा राज्य भी इसे दे दिया। अथानन्तर प्रीतिकर को पुण्योदय से जो राज्य विभूति प्राप्त हुई उसे वह सुखपूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द और उत्सव के साथ बीतने लगे। अनेक प्रकार

के भोगोपभोगों को यथाचित्त सेवन करता हुआ विषय भोगों में अत्यासक्त न होकर निरंतर जिन भगवान का अभिषेक पूजन करता था और शास्त्र स्वाध्याय में समय बिताता था जो स्वर्ग या मोक्ष सुख का देने वाला और अशुभ कर्मों का नाश करने वाला है। वह श्रद्धा, भक्ति आदि सप्त गुणों से युक्त नवधा भक्ति पूर्वक सत्पात्रों को दान देता तथा दीन दरिद्रो अगहीन पुरुषो को करुणापूर्वक दान देता था जो दान इस लोक और परलोक दोनों भवो में महान सुख का कारण हैं। वह जिन मन्दिरों, जिन प्रतिमाओं, तीर्थ क्षेत्र आदि सप्त क्षत्रो की जो शान्ति रूपी धान के उपजाने में कारण है उनकी आवश्यकताओ को अपने धन रूपो जल वर्षा से पूरी करता था और परोपकार करना तो उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। स्वभाव में वह बड़ा कोमल था। विद्वानो से उसे प्रेम था इस कारण लोकिक, पारलौकिक दोनो लोक सम्बन्धी कार्यों में सदा तत्पर रहता और अपनी प्रजा का प्राणों के समान रक्षण करता था। प्रीतिकर इस प्रकार आनन्द और उत्सव के साथ समय बिताने लगा।

एक समय सुप्रतिष्टपुर के सुन्दर उपवन में चारण ऋद्धिधारी ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान के धारक मुनि आए। प्रीतिकर तब बडे वैभव के साथ पुरजन तथा परिजन सहित अत्यानद को प्राप्त होकर मुनि के दर्शनार्थ गया। मुनिराज के चरणों में साष्टाग नमस्कार कर परचात् अष्ट द्रव्य से पूजा की और बड़ी विनती के साथ विनय की 'हे नाथ ! मुझे ससार से पार करने वाले धर्म का उपदेश दीजिये। तब ऋजुमति मुनि ने उसे इस प्रकार सक्षेप मे धर्म का स्वरूप कहा—हे प्रीतिकर धर्म उसे कहते है जो संसार के दु खो से छुड़ाकर उत्तम सुख को प्राप्त करने मे कारण हो। वह धर्म दो प्रकार का है-एक मुनि धर्म दूसरा गृहस्थ धर्म। मुनियो का धर्म सर्व त्याग रूप होता है और गृहस्थ का धर्म एक देश त्याग रूप होता है। मुनि धर्म तो उन लोगो के लिए है जिनकी आत्मा पूर्ण बलवान है, जिनमे प्राप्त हुए कष्टो को सहन करने की पूर्ण शक्ति है और गृहस्थ धर्म मुनि धर्म को प्राप्त करने को सीढी है। जिस प्रकार एक साथ सौ पचास सोढी नही चढी जा सकती उसी प्रकार साधारण लोगो मे एकदम मुनि धर्म धारण करने की शक्ति नही होती अतएव मुनि धर्म प्राप्त करने के लिये उन्हें क्रम-क्रम से अभ्यास रूप ग्यारह प्रतिमाओं का साधन करना चाहिए जिनका मुनियो ने निरूपण किया है। उनके यथाक्रम ठीक-ठीक अभ्यास करने से वे ही देश श्रावक के व्रत ग्यारहवी प्रतिमा में महाव्रत रूप को प्राप्त हो जाते हैं इसीलिए अल्प शक्ति वाले पुरुषो को पहले गृहस्थ धर्म धारण करना पड़ता है। मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म में सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि मुनि धर्म तो साक्षात मोक्ष सुख का कारण है और दूसरा परम्परा मोक्ष सुख का कारण है श्रावक धर्म का मूल कारण है सम्यग्दर्शन का पालन। यहीमोक्षबीज है। इसके प्राप्त किए बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होता ही नही। सम्यग्दर्शन के बिना जो ज्ञान है वह मिथ्या ज्ञान कहलाता है और व्रत आदि

का धारण करना कुचारित्र है अतएव ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन की मुख्यतया उपासनाकी जाती है। इसी अभिप्राय से यद्यपि द्रव्यलिगी मुनि चारित्र धारण करताहै तथापि सम्यक्त्व रहित होने से मोक्षमार्गी नही कहा है क्योकि उसे जीव के स्वभाव विभाव का दृढ़ निश्चय हुए बिना कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति नही हो सकती। इसके जाने बिना और उद्देश्यों के समझे बूझे बिना व्रत आदि धारण करने मे अन्धे की दौड़ के समान अपनी असली स्वाभाविक सुख अवस्था को वह नही पा सकता इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को सबसे पहले सम्यग्दर्शन को इसके आठों अ गो सहित पालना चाहिए। सम्यक्त्व धारण करने के पहले मिथ्यात्व छोडना चाहिए क्योकि मिथ्यात्व ही आत्मा का एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो इस जीवात्मा को अनन्तकाल पर्यन्त इस ससार चक्र में घुमाया करता है। मिथ्यात्व का सक्षिप्त लक्षण है जिन भगवान के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व या धर्म से उल्टा चलना और धर्म से यही उल्टापन दु ख का कारण है इसीलिए आत्म हितेच्छु भव्य पुरषो को मिथ्यात्व के परित्याग पूर्वक शास्त्र अभ्यास द्वारा अपनी बुद्धि को दर्पणवत् निर्मल बनाकर मद्य आदि अष्ट पदार्थों का त्याग कर श्रावक के अहिसा आदि बारह उत्तर गुणो को धारण करना चाहिए। ये मद्य त्याग आदि आठ मूल गुण धारण करने के पीछे धारण किए जाते है और मूल गुणो से उत्कृष्ट है इसीलिए उन्हे उत्तर गुण कहते है। मद्य, मास आदि के त्यागी को रात्रि भोजन का, चर्म पात्र मे रखे हुए हीग, घी, जल, तेल आदि का तथा कन्दमूल, अचार, मुरब्बे तथा मक्खन का भी त्याग कर देना चाहिए क्योंकि इनके खाने से मास त्याग व्रत में दोष आता है। जुआ खेलना, मास भक्षण, मदिरा पान, वेश्या सेवन, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीगमन ये सप्त व्यसन दुर्गति के दुस्सह दु खो का प्राप्त कराने वाले जान सर्वथा त्यागने योग्य है। इनका सेवन कुल, जाति, धन, जन, शरीर, सुख, कीर्ति, मान मर्यादा, आदि सबका नाश करने वाला है। इनमे लवलीन (आसक्त) पुरुषो को इस लोक और परलोक दोनो भवो मे कष्ट उठाना पड़ता है। इन दुर्व्यसनो के सेवन से जिन-जिन व्यक्तियो ने महान दु ख उठाया वे पुराण प्रसिद्ध है। इनके नाम ये है—जुआ खेलने से महाराज युधिष्ठिर ने, मास भक्षण से राजा बक ने, मद्यपान करने से यदुवंशियो ने, वेश्या सेवन करने से चारदत्त सेठ ने, चोरी करने से शिवभूति ब्राह्मण ने, शिकार खेलने से ब्रह्मदत्त अन्तिम चक्रवर्ती ने, और परस्त्री की अभिलाषा करने से रावण ने बड़ी विपत्ति उठाई थी। अतएव इनको दुर्गति एव दु खो का कारण जानकर दूर ही से मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक त्याग कर देना चाहिए। इनके अतिरिक्त जल का छानना, पात्रो को भक्तिपूर्वक दान देना श्रावक का मुख्य कर्त्तव्य है। ऋषियो ने पात्रो के तीन प्रकार बतलाए है—उत्तम पात्र-मुनि, मध्यम पात्र व्रती श्रावक और जघन्य पात्र-अविरत सम्यग्दृष्टि। इनके अतिरिक्त जो दीन, दु खी, रोगी अ गहीन आदि है इनको करुणा बुद्धिपूर्वक दान देना चाहिए। सत्पात्रों को जो थोड़ा भी दान देते हैं उनको उस दान का फल वटबीज

वत् अनन्त गुणा मिलता है। जिन भगवान का अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा करना, रथोत्सव करना, तीर्थयात्रा करना आदि भी श्रावको के मुख्य कर्त्तव्य हैं। ये सब दुर्गति एव दुःखों का नाश कर स्वर्ग या मोक्ष सुख के प्रदान करने वाले है अतएव आत्म-हितेच्छुक धर्मात्माओ को इस प्रकार अपना धार्मिक जीवन बना कर अन्त में भगवान का स्मरण चितवनपूर्वक संन्यास मरण करना चाहिए। यही जीवन की सफलता का सच्चा और सीधा मार्ग है।

इस प्रकार मुनिराज द्वारा यथार्थ धर्म का उपदेश सुनकर बहुत सज्जनों ने मिथ्यात्व का त्याग कर व्रत, नियम आदि ग्रहण किए। जैन धर्म पर उनको खडग से भेदे जल के समान निश्चल श्रद्धा हो गई। प्रीतिकर ने मुनि महाराज को नमस्कार कर पुनः प्रार्थना की हे भगवन् करुणानिधान योगिराज ! कृपा कर मुझे मेरे पूर्वभव का वृतान्त सुनाइए। तब मुनिराज बोले—हे राजा ! सुनो। इसी उपवन मे कुछ समय पहले सागरसेन नाम के मुनि आकर ठहरे थे। उनके आगमन का समाचार सुनकर अत्यानद को प्राप्त हुए उनके दर्शनार्थ प्राय राजा आदि पुरजन बड़े गाजे-बाजे और आनन्द उत्सव के साथ आए थे। वे मुनिराज की पूजा स्तुति कर नगर में वापिस चले गए। तब एक वहा निकटस्थ सियार ने अपने चित्त मे विचार किया कि ये नगर निवासी मनुष्य बडे गाजे-बाजे के साथ किसी मुर्दे को डालकर गए है। अत वह उस मुर्दे को खाने के साहस से आया। उसे आता देखकर मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा भव्य जानकर और यह सोचकर कि चाहे अभी इसके मन में दुर्ध्यान है परन्तु यह दूसरे भव मे व्रतो को धारण कर मोक्ष जाएगा अतएव इसको सबोधित करना आवश्यक है, मुनिराज ने उसे समझाया—हे अज्ञानी पशु ! तुझे मालूम नही कि पाप का परिणाम बहुत ही बुरा होता है। देख, पाप ही के फल से तुझे इस पशु पर्याय में आना पड़ा और फिर भी तू पाप करने से मुह न मोड़कर मृतक कलेवर का मास भक्षण करने के लिए इतना व्यग्र हो रहा है। यह कितने आश्चर्य की बात है। तेरी इस इच्छा को धिक्कार है। प्रिय तुझको उचित है कि तेरा जब तक नरको मे पतन न हो उससे पहले अपने उद्धार का यत्न कर ले। तूने अब तक जिन धर्म को ग्रहण न कर बहुत दुख उठाया पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय है। इसको व्यर्थ न खोकर कुछ आत्म हित की इच्छा यदि रखता है तो तू इस पुण्य पथ पर चलना सीख। सियार की होनहार अच्छी थी या उसकी काल लब्धि आ गई थी यही कारण था कि वह मुनि के उपदेश को सुनकर बहुत शात हो गया। उसने जान लिया कि मुनिराज मेरी अतरंग इच्छा को जान गए। मुनिराज उसको शात चित्त देखकर पुन कहने लगे—'हे प्रिय ! तू और व्रतो को तो धारण नही कर सकता इसलिए तू केवल रात्रि का ही खाना पीना छोड़ दे ! यह व्रत सर्व व्रतो का मूल और सर्व प्रकार के सुखों का देने वाला है।' सियार ने उपकारी मुनिराज के वचनो को सुनकर रात्रि

भोजन त्याग व्रत ग्रहण कर लिया। कुछ दिनो तक तो उसने इसी व्रत को पाला पश्चात मांस भक्षण का भी त्याग कर दिया। उसे जो कुछ न्यून अधिक पवित्र भोजन मिल जाता तो कर लेता-नही तो निराहार ही गुरु का स्मरण चितवन करता हुआ सतोष और साम्य-भाव पूर्वक समय व्यतीत करने लगा। इस वृत्ति से उसका शरीर बहुत कृश हो गया। ऐसी दशा मे एक दिन उसे केवल शुष्क आहार ही खाने को मिला। ग्रीष्म ऋतु का समय था। सियार तब बहुत तृषातुर हुआ वह एक कुएँ पर पानी पीने को गया। भाग्य से कुएँ में पानी भी बहुत नीचे मिला। जब वह पानी पीने की इच्छा से कुएँ में उतरा तो वहा उसे अंधकार ही अ धकार मालूम होने लगा क्योकि वहा सूर्य के प्रकाश का सचार न था इसीलिए सियार ने समझा कि रात हो गई अत वह बिना पानी पिए ही कुए के बाहर आ गया। बाहर आकर जब उसने सूर्य को देखा तो फिर पानी पीने के लिए नीचे उतरा और फिर पूर्ववत् अन्धकार के भ्रम से रात्रि समझकर वापिस लौट आया। इस प्रकार वह कितनी ही बार उतरा चढा पर पानी न पी सका। अन्त में बार-बार उतरने-चढने से वह इतना अशक्त हो गया कि फिर उससे बाहर नही आया गया। तब वह और भी घोर अन्धकार के होने से सूर्य को अस्त हुआ जानकर ससार समुद्र से पार करने वाले अपने गुरु महाराज का चितवन करने लगा। तृषा रूपी अग्नि उसके तन को भस्म किए डालती थी। परन्तु तब भी वह अपने व्रत में बहुत दृढ़ रहा। उसके परिणाम क्लेश रूप आकुल व्याकुल न होकर बडे शात रहे अन्त मे उसी दशा मे वह मरकर कुबेरदत्त और उसकी स्त्री धनमित्रा के तू प्रीतिकर हुआ है, तेरा यही अन्तिम शरीर है। अब तू कर्मो का नाश कर मोक्ष जाएगा इसीलिए सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है कि कष्ट के उपस्थित होने पर व्रतो की धैर्यपूर्वक दृढता से रक्षा करे। इस प्रकार मुनिराज के मुख से प्रीतिकर के पूर्वभव का वृताात सुनकर उपस्थित मंडली के जनो की जिन धर्म पर अचल व पूर्ण श्रद्धा हो गई और बहुत से मनुष्यो ने यथा-शक्ति व्रत धारण किए। प्रीतिकर ने अपने इस पूर्व जन्म के वृतान्त को सुनकर जिन धर्म की बहुत प्रशसा की और अन्त में उन परोपकार के करने वाले मुनिराज के चरण कमलो को भक्ति से नमस्कार कर व्रतो के प्रभाव को हृदय में विचारता हुआ वह अपने घर पर आया। मुनिराज के उपदेश का उस पर बहुत गहरा असर पडा। उसे अब ससार अस्थिर विषय भोग दु खों के देने वाले शरीर अपवित्र वस्तुओ से भरा महा घिनावना और जल के बुदबुदेवत् महा विनाशी, धन, सम्पदा उल्कापातवत् चचल और केवल बाहर से देखने में सुन्दर प्रतीत होने वाली तथा स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि ये सब अपनी आत्मा से पृथक जान पड़ने लगे। उसने सोचा कि ये अपने-अपने स्वार्थ के सगे है। किसी रोग अथवा आपत्ति के आने पर सब दूर चले जाते है। यदि कोई अपना हितकारी है तो यही श्री गुरु है जो निष्प्रयोजन हम लोगों को भवसागर में डूबते हुए हस्तावलम्बन देकर पार लगाते है। सब वस्तुएँ क्षण भंगुर है। जब हमारा रात दिन पालन पोषण किया हुआ शरीर नाश होने

वाला है तो इससे सम्बन्धित पदार्थ भी अवश्य ही नाशवान है इसीलिए अवसर पाकर हाथ से नही देने देना चाहिए और फिर यह समय हाथ नही आयेगा। काल अचानक आकर अपना ग्रास बना लेगा और ये सब विचार यहा के यही रह जायेगे। अतएव अब ससार में भटकाने वाले इस मोह जाल को तोडकर आत्म हित करना उचित है। इस शुभ सकल्प के दृढ़ होते ही प्रीतिकर ने पहले अभिषेक पूर्वक भगवान की सब सुखो को देने वाली पूजा की, खूब दान किया। और दुःखी अनाथ अपाहिजो की सहायता की। अन्त मे वह अपने प्रियकर पुत्र को राज्य देकर अपने बन्धु-बाधवों की सम्मति से योग लेने के लिए विपुलाचल पर भगवान बर्द्धमान के समवसरण मे आया और उन त्रिलोक पूज्य भगवान के पवित्र दर्शन कर उसने भगवान के द्वारा जिन दीक्षा धारण कर ली। इसके पश्चात् अनेक प्रकार की परीषहो को साम्यभाव पूर्वक सहन करते हुए नाना उग्र तपश्चरण करने लगे और अत मे शुक्ल ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मों का नाश करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। उनके केवल ज्ञान को प्रगट हुआ जानकर विद्याधर चक्रवर्ती, स्वर्ग के देव आदि बडे-बड़े महापुरुष उनके दर्शन, पूजन को आने लगे। प्रीतिकर भगवान ने तब ससार ताप को नाश करने वाले पवित्र उपदेशामृत से अनेक जावो का दुःखों से छुटाकर सुखी बनाया। अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाशकर परम पद मोक्ष स्थान को प्राप्त करते हुए। अब वे ससार मे न आकर वही रहेंगे। ऐसे श्री प्रीतिकर स्वामी मुझे शाति प्रदान कर जो एक अत्यन्त अज्ञानी पशु योनि मे जन्मे सियार ने भगवान के पवित्र धर्म का अ शतः व्रत अर्थात् केवल रात्रि भोजन त्याग व्रत स्वीकार कर मनुष्य जन्म प्राप्त किया और उसमें आनन्दपूर्वक सुख भोगकर अन्त मे अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति की तब उसे यदि गृहस्थजन धारण करे तो फिर उन्हे क्यो न उत्तम गति प्राप्त हो अर्थात् अवश्य होगी।

अथ जीव दया प्रकरण :—

सब जीवों को अपने प्राणो के समान जानकर उनको किंचित दु ख या कष्ट देने के परिणाम न रखना किन्तु दु.खी जीवो के दु.ख दूर करने की इच्छा रखना दया है। ऐसा जानकर आत्महितेच्छुक धर्मात्मा पुरुषो को चाहिए कि जिनपूजा, पात्र दान और कुटुम्ब के पालन पोषण आदि के लिए खेती, व्यापार आदि आजीविका के कार्यों मे जीवमात्र पर दया रखते हुए यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करे क्योंकि सदा सब प्राणी अपने-अपने प्राणों की रक्षा चाहते है। जिस प्रकार अपने प्राण अपने को प्रिय है उसी प्रकार एकेंद्रिय से पचेन्द्रिय पर्यन्त सब प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे है। जैसा कि कहा गया है—

श्लोक— प्राणा यथ्यात्मनो भीष्ठा, भूतानामपितेतथा।
आत्मौपम्येन भूताना, दयां कुर्बीतमानवः॥

अर्थ—जिस प्रकार तुम्हें अपने प्राण प्रिय है उसी प्रकार सब जीवों को अपने-अपने प्राणप्रिय हैं। इसीलिए मनुष्योको अपनी आत्माकी तरह सब जीवो पर दया करनी चाहिए। जिस प्रकार अपने पैर मे जरा सा काटा लगने पर भी वे तज्जनित वेदना को सहन नहीं कर सकते उसी प्रकार कीडे, चीटी आदि विकलत्रय तथा पशु मनुष्य आदि कोई भी प्राणधारी दुःख भोगने की इच्छा नही करते और न उसके कष्ट को सह सकते है अतएव जीवो को अपने आत्मा के समान दु खो का अनुभव कर रचमात्र कष्ट न पहु चाना चाहिए। धर्म का मुख्य सार यही है कि अपने को अनिष्ट लगने वाले, आत्मा के प्रतिकूल जो दु ख आदि है उन्हें किसी दूसरे जीव को मत होने दो अर्थात् किसी जीव को दुःख मत दो। सदा सब पर दया करो। यह दया ही धर्म का मूल है। अहिसा परमो धर्म. यह शात्र वाक्य भी है। इसके विषय मे अन्य ग्रन्थो मे भी लिखा हो है—

श्लोक—अहिसा लक्षणो धर्म्मो, ह्यधर्म· प्राणिना वध ।
तस्माद्धर्मार्थिभिर्लोके, कर्त्तव्या प्राणिना दया ॥

अर्थ—जिसमे अहिसा है वह धर्म और जिसमे जीवो का वध है वह अधर्म है। इस कारण धर्माभिलापी पुरुषो को सदा सब जीवो पर दया करनी चाहिए। जिसके हृदय मे दया नही है वह जैन धर्म धारण करने का पात्र नही क्योकि निर्दयी मनुष्य के हृदय मे बीज के बिना वृक्ष की तरह अहिसा लक्षण धर्म की उत्पत्ति, स्थिति और वृद्धि कदापि नही हो सकती ऐसा जानकर निरन्तर जीवमात्र पर दया करना योग्य है दया पालक मे हिसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि का स्वत. त्याग होकर सब गुण आकर निवास करते है।

देव वदना—

सर्वज्ञ, हितोपदेशी परम वीतरागी, शान्तस्वरूप श्री अरिहन्त देवाधिदेव की जीवन्मुक्त साक्षात् अवस्था मे अथवा उसी सकल परमात्मा के स्मरणार्थ और परमात्मा के प्रति आदर सत्कार रूप प्रवर्त्तनके आलम्बन स्वरूप स्थापना, निक्षेप से मित्रो द्वारा प्रतिष्ठित तदाकार प्रतिबिम्व रूप मे विशुद्ध अन्त·करण से अपना भाग्योदय समझ अत्यन्त हर्षित होते हुए दर्शन करने, परमात्मा के गुणों मे अनुराग बढाने परमात्मा का भजन और स्वरूप का चितवन करने रूप देव वन्दना करने से इस जीवात्मा को आगामी दु खो और पापो की निवृत्तिपूर्वक महत् पुण्योपार्जन होता है पुन वीतराग और परम् शान्त मूर्ति के निरन्तर सप्रेम दर्शन आदि करने से सम्यक्त्व की निर्मलता, धर्म मे श्रद्धा और अन्त.करण शुद्ध होता है। इस देव वदना का अन्तिम फल मोक्ष कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जो जीवात्मा गृहस्थ के प्रपच वा ससार के मोह जाल में फसे हुए है उनका आत्मा इतना बलिष्ठ नही होता है कि जो केवल शास्त्रो में परमात्मा का स्वरूप वर्णन सुनकर अर्थात् आगम

द्वारा परमात्मा का स्वरूप जानकर एकाएक बिना किसी चित्र के आलम्बन के परमात्मा के स्वरूप का चित्र अपने हृदय में अकित कर सकें अर्थात् परमात्मा स्वरूप का ध्यान कर सके वे ही इस मूर्ति के द्वारा परमात्मा स्वरूप का कुछ ध्यान और चिंतवन करने में समर्थ हो अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति मे अग्रसर हो जाते है। जिस प्रकार जब कोई चित्रकार चित्र खींचने का अभ्यास करता है तब वह सबसे पहले सुगम और सरल चित्रो को देख देखकर चित्र खीचने का अभ्यास करता है एकदम किसी कठिन और गहन चित्र को नही खीच सकता जब उसको दिन प्रतिदिन का अभ्यास पड जाता है तब वह कठिन और गहन चित्र बनाने के साथ-साथ छोटे को बड़ा और बड़े को छोटा भी बनाने लगता है। जब वह उत्तरोत्तर अभ्यास करते-करते चित्रकारी में पूर्णतया दक्ष हो जाता है तब चित्र नायक के बिना देखे ही केवल उसकी व्यवस्था जानकर उसका साक्षात् चित्र अकित करने लग जाता है। उसी प्रकार यह ससारी जीव भी एकदम निरालम्बन परमात्मा का ध्यान नहीकर सकता इसीलिए वह परमात्मा की ध्यान मुद्रा पर से ही अपना अभ्यास बढाता है। मूर्ति के निरन्तर दर्शन आदि अभ्यास में जब वह ध्यान मुद्रा से परिचित हो जाता है तब शनैः शनैः एकान्त मे स्थित होकर उस मूर्ति का चित्र अपने हृदय पर अकित करने लगता है ऐसा करने से उसका आत्म-बल, मनोबल दिनो दिन वृद्धि को प्राप्त होकर उस मूर्ति के नायक श्री अरिहन्त देवाधिदेव की समवशरण आदि विभूति सहित साक्षात् चित्र को अपने हृदय मे प्रतिकृति करने लगता है इस प्रकार के ध्यान को रूपस्थ ध्यान कहते है और वह ध्यान प्रायः मुनि अवस्था में ही होता है। आत्मीय बल के इतने उन्नत हो जाने की अवस्था मे फिर उसको धातु, पाषाण की मूर्ति पूजन आदि अर्थात् परमात्मा के ध्यान आदि के लिए मूर्ति का आलम्बन लेने की आवश्यकता नही रहती। किन्तु वह रूपस्थ ध्यान के अभ्यास मे परिपक्व होकर विशेष उन्नति कर साक्षात् सिद्धो के चित्र को खीचने लगता है। इस प्रकार ध्यान के बल से वह अपनी आत्मा के कर्म मल को पृथक् करता रहता है और फिर उन्नति के सोपान पर चढ़ता हुआ प्रशस्त शुक्ल ध्यानाग्नि के बल से समस्त कर्मो का क्षय कर देता है और यही प्रकार अपने आत्मत्व को प्राप्त कर लेता है और उस अवस्था को प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओ को अभीष्ट है। अब आत्मस्वरूप की दूसरे शब्दो मे यों कहिए कि परमात्मा स्वरूप की प्राप्ति के लिए परमात्मा की भक्ति, पूजा और उपासना करना हमारा परम कर्त्तव्य है। परमात्मा का ध्यान, परमात्मा के गुणो का चितवन ही हमें अपनी आत्मा का स्मरण कराता है। अपनी भूली हुई निधि की स्मृति करता है। इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा का दर्शन, स्तवन और पूजन करना हमारी आत्मा के लिए आत्मदर्शन का प्रथम सोपान है और इसकी आवश्यकता प्रथमावस्था अर्थात् गृहावस्था ही में होती है यही कारण है कि हमारे आचार्यों ने परमात्मा की पूजा, भक्ति, उपासना करना

गृहस्थों का मुख्य धर्म बताया है। यथा श्री पद्मनंदि आचार्य गृहस्थों के लिए दर्शन, स्तवन और पूजन की अत्यन्त आवश्यकता को प्रकट करते हुए लिखते हैं :-

श्लोक— ये जिनेन्द्र न पश्यति, पूजयंति स्तुवति न।
निष्कल जीवितं तेषा, तेषाधिक् च गृहाश्रमम्॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र भगवान की पूजन दर्शन और स्तवन नही करते है उनका जीवन निष्फल है और उनके गृस्थाश्रम को धिक्कार है। तथा सुभाषितावली में श्री सकलकीर्ति आचार्य ने यहां तक लिखा है—

'पूजा बिना न कुर्येत् भोग सौख्यादिकं कदा।' अर्थात् गृहस्थों को भगवान का पूजन किए बिना कदापि भोग, उपभोग आदि न करना चाहिए। सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करने चाहिए तथा इसी आवश्यकता को प्रगट करते हुए श्री स्वामी कुंद कुंदाचार्य रयणसार में यहा तक लिखते है :—

श्लोक— दाण पूजा भूक्ख, सावयधम्मो णसावया तेणविणा।
झाणज्झयण भुक्ख, जइ धम्मो त विणा सोवि॥

अर्थ--दान देना और पूजन करना यह श्रावक का मुख्य धर्म है। इसके बिना कोई श्रावक नही कहला सकता और ध्यानाध्ययन करना यह मुनि का मुख्य धर्म है। जो इस से रहित है वह मुनि ही नही है।

भावार्थ यह है कि मुनियो के ध्यानाध्ययन की तरह दान देना और पूजन करना ये श्रावकों के मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। इत्यादि उपरोक्त वाक्यों से स्पष्ट विदित होता है कि पूजन करना गृहस्थ का धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है। बिना पूजन के मनुष्य जन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कार का पात्र है। बिना पूजन के कोई गृहस्थ श्रावक का नाम ही नहीं पा सकता। यथा —

श्लोक— आराध्यते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनति धार्मिकै प्रीति रुच्चै,
पात्रेभ्यो दानमापन्निहत जनकृते तच्च कारुण्य बुद्धया।
तत्वाभ्यास स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शन यत्र पूज्य,
तद् गार्हस्थ्य बुधानामितरदिह पुनर्दुखदो मोहपाश॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव की आराधना, गुरु के समीप विनय, धर्मात्मा लोगो पर प्रेम, सत्पात्रों को दान, विपत्ति मे फसे हुए लोगो का करुणा बुद्धि से दुःख दूर करना, तत्वों का अभ्यास, अपने व्रतो में लीन होना और निर्मल सम्यग्दर्शन का होना—ये सब क्रियाए जहा मन, वचन, काय से होती है वही गृहस्थपना बुद्धिमानो को मान्य है और जहा पर ये क्रियाए

श्री सुकोशल मुनिराज को पूर्वभव की
सिंहनी ने भक्षण किया

नहीं हैं यह गृहस्थपना इस लोक और परलोक दोनों में दुःख देने वाला केवल मोह का जाल है अतएव आत्महितेच्छुक सभी प्राणियों को मोक्ष रूपी महा निधि को प्राप्त कराने वाली यह देव वन्दना अर्थात् जिन दर्शन, पूजन आदि अपनी पूर्ण शक्ति एव योग्यता के अनुसार अपना कर्त्तव्य समझकर नित्य अवश्य ही करना चाहिए। पूजन कई प्रकार की होती है। यथा भगवज्जिनसेन आचार्य ने आदि पुराण मे लिखा है—

श्लोक—प्रोक्ता पूज्यार्हतामिज्या, साचतुर्धासदाचर्नम्।
चतुर्मुखमहः कल्प, द्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपिच ।।

अर्थ—अरहंतो की पूजा का नाम इज्या है और वह चार प्रकार की है—नित्यमह, अष्टाह्निकमह, चतुर्मुख और कल्पवृक्ष। इनके अतिरिक्त एक पाचवा ऐंद्रध्वज यज्ञ है जिसको इन्द्र ही करता है। चतुर्मुख आदि पूजा सदा काल नही बन सकती और न ही वर्तमान समय मे सब गृहस्थ जैनियो से इसका अनुष्ठान हो सकता है। अतएव सर्व साधारण जैनियो के लिए नित्य पूजा की ही मुख्यता है अर्थात् सभी नित्य पूजा कर सकते है। नित्य पूजा का मुख्य स्वरूप भगवज्जिनसेनाचार्य ने आदि पुराण में इस प्रकार लिखा है—

श्लोक—तत्र नित्यमहोनाम, शश्वज्जिनगृहं प्रति।
स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा, गधपुष्पा क्षतादिका ।।

अर्थ—प्रत्येक दिन जिन मन्दिर मे अपने घर से गन्ध, अक्षत, पुष्प आदि पूजन की सामग्री ले जाकर प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजा करने को नित्यमह कहते हैं। ऐसा ही धर्म-सग्रह श्रावकाचार में कहा है—

श्लोक—जलाद्यैर्धौतपूतागै, गृहान्नीतैर्जिनालयम्।
यदर्च्यते जिनायुक्तया, नित्य पूजाऽभ्यघायिसा ।।

अर्थ—अविक्त्र शरीर होकर गृहस्थ लोग जो अपने गृह से लाए हुए जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प आदि द्रव्यो से जिन भगवान की पूजन करते है वह नित्य पूजा कही जाती है। पुन :—

श्लोक—देवार्चन गृहेस्वस्य, त्रिसंध्यं देव वदनम्।
मुनि पादार्चन दाने, साऽपि नित्यार्चतामता ।।

अर्थ—अपने घर में जिन भगवान की पूजन करना, तीनो काल देव वन्दना करना तथा दान देने के समय मुनियों के चरणो की पूजन आदि करना ये सब नित्य पूजन के ही भेद हैं अतएव प्रत्येक गृहस्थ को पूजन या दर्शन करने के लिए अपनी शक्ति एव योग्यता के अनुसार अष्ट द्रव्य अवश्यमेव निरन्तर अपने घर से ले जाकर इन्द्र आदि देवो के द्वारा पूज्य परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ देव की प्रतिदिन पूजा करनी चाहिए। प्रकट रहे कि दर्शन के समय

जो जिनेन्द्र देव आदि की स्तुति पूर्वक नाम आदि का उच्चारण करके जिन प्रतिमा के सन्मुख एक दो आदि द्रव्य चढाए जाते हैं सामान्यत: वह भी नित्य पूजन कहलाता है। उपरोक्त कथन का अभिप्राय यह नही है कि बिना द्रव्य के मंदिर जी मे जाना ही निषिद्ध है। जाना निषिद्ध नही है क्योकि यदि किसी समय द्रव्य उपलब्ध न हो तो केवल भाव पूजन भी हो सकता है। तथापि गृहस्थो के लिए द्रव्य से पूजन करने की अधिक मुख्यता है। इस कारण नित्य पूजन का ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया है। पूजन फल प्राप्ति के विषय में पूजन के सकल्प और उद्यममात्र से देवगति को प्राप्त करने वाले एक मेढक की कथा सर्वत्र जैन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। यथा—पुण्यास्रव कोश, महावीर पुराण, धर्मसग्रह श्रावकाचार आदि। अब यहाँ उस कथा का सार लिखा जाता है—

यह भरत क्षेत्र जिसमे हम सब प्राणी निवास कर रहे है जम्बू द्वीप के सुदर्शन मेरु की दक्षिण दिशा मे है। इसमे अनेक तीर्थ करो का जन्म हुआ है अतएव यह महान् व पवित्र है। मगध भारतवर्ष मे एक प्रसिद्ध और धनशाली देश है मानो सारे ससार की लक्ष्मी जैसे यही आकर एकत्रित हो गई हो। यहा के निवासी प्राय: सभी धन सम्पत्ति युक्त, धर्मात्मा, उदार और परोपकारी है। जिस समय का यह उपाख्यान है उस समय मगध देश की राजधानी राजगृह नामक एक वहुत मनोहर नगर था। सब प्रकार के उत्तमोत्तम भोगीय भोग योग्य पदार्थ वहा बड़ी सुलभलता से प्राप्त होते थे। विद्वानो के समूह वहा निवास करते थे। वहा के पुरुष देवो से और स्त्रिया देव बालाओ से कही बढकर सुन्दर थी। स्त्री-पुरुष प्राय: सब ही सम्यक्त्व रूपी भूषण मे अपने को विभूपित किए हुए थे और इसीलिए राजगृह उस समय मध्य लोक का स्वर्ग कहा जाता था। वहा समस्त देश मे बहुधा विशेषतया जैन धर्म का प्रचार था। उसे प्राप्त कर सर्वसाधारण सुख शान्ति का लाभ करते थे। उस समय उसके राजा श्रेणिक थे। श्रेणिक धर्मज्ञ, उदार मन, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी और बड़े विचारशील थे। जैन धर्म और जैन तत्व पर उनको पूर्ण विश्वास था।

भगवान के चरण कमलो की भक्ति उसे इतनी प्रिय थी जितनी भ्रमर को कमलिनी। इनका प्रतिद्वन्दी या कोई शत्रु नही था। वे निर्विघ्न राज्य किया करते थे। सदाचार मे उस समय उनका नाम सबसे ऊँचा था। सत्पुरुषो के लिए वे शीतल चन्द्रमा थे। प्रजा को अपनी सन्तान के समान पालते थे। श्रेणिक के कई रानिया थी। चेलना उन सबमें उन्हे अधिक प्रिय थी। सुन्दरता, गुण और चतुरता मे चेलना का आसन सबसे ऊँचा था। उसे जैन धर्म से, भगवान की पूजा प्रभावना से बहुत ही प्रेम था। कृत्रिम भूषणो द्वारा सिंगार करने को महत्व न देकर उसने अपनी आत्मा को अनमोल सम्यग्दर्शन रूप भूषण से विभूषित किया था। जिनवाणी सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण है और इसी कारण वह सुन्दर है। चेलना मे किसी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की कमी न थी इसीलिए उसकी रूप

सुन्दरता ने और अधिक सौन्दर्य प्राप्त कर लिया था। राजगृही में एक नागदत्त नाम का सेठ रहता था। वह जैनी न था। उसकी स्त्री का नाम भवदत्ता था। नागदत्त बडा मायाचारी था। सदा माया के जाल में वह फसा हुआ रहता था। इस मायाचार के पाप से मरकर वह अपने घर के आंगन की बावडी में मेंढक हुआ। नागदत्त यदि चाहता तो कर्मों का नाश कर मोक्ष चला जाता पर पाप कर वह मनुष्य पर्याय से पशु जन्म में आया और मेंढक हुआ। अतएव भव्य जनों को उचित है कि वे सकट-समय मे पाप कार्य न करे। एक दिन भवदत्ता इस बावड़ी पर जल भरने को आई। उसे देखकर मेंढक को जाति स्मरण हो गया। वह उछल-उछल कर भवदत्ता के कपडों पर चढने लगा। भवदत्ता ने भय के मारे उसे कपडो पर से झिडक दिया। मेढक फिर भी उछल-उछल कर उसके वस्त्रों पर चढने लगा। उसे बार-बार अपने पास आता देखकर भवदत्ता बड़ी चकित हुई और उसे डर भी लगा पर इतना उसे भी विश्वास हो गया कि इस मेंढक का और मेरा पूर्व भव का सम्बन्ध कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिए क्योकि ये मेरे बार-बार झिडकने पर भी फिर-फिर कर आता है। अस्तु किसी मुनिराज का समागम होने पर मै इसका वृतान्त अवश्य पूछूगी। भाग्य से एक दिन अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिराज राजगृही मे आकर ठहरे। भवदत्ता को मेंढक का वृतान्त जानने की अति उत्कठा थी अतएव मुनि आगमन का समाचार सुनते ही वह उनके पास गई। मुनि के युगल चरणो मे सविनय नमस्कार कर प्रार्थना करने लगी—हे प्रभो ! मुझे मेढक का पूर्व भव का वृतान्त जानने की अति उत्कठा है अतः कृपा करके कहिए।

सुव्रत मुनिराज ने तब उससे कहा—जिसका तू हाल पूछने को आई है वह दूसरा कोई न होकर तेरा इसी भव का पति नागदत्त है। वह बहुत माया चारी होने के कारण इस तिर्यच (मेढक) योनि को प्राप्त हुआ है। उन मुनिराज के संतोपजनक वचनो का श्रवणकर भवदत्ता अपने घर पर आ गई। उसने फिर मोहवश हो उस मेंढक को भी अपने यहाँ ला रखा। मेढक वहा आकर बहुत प्रसन्न हुआ। अथानंतर इसी अवसर में वैभार पर्वत पर अतिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान का समवशरण आया। वनमाली ने आकर छहों ऋतु के फल-फूल लाकर राजा को समर्पित किए और विनय पूर्वक निवेदन किया कि स्वामिन् ! जिनके चरण कमलो की इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती, विद्याधर आदि सभी महापुरुष स्तुति पूजा करते है वे महावीर भगवान समवशरण विभूति सहित वैभार पर्वत पर पधारे है जिसके प्रभाव से षट् ऋतुओं के फल-फूल आ गए है। वापी, कूप, सरोवर आदि सरस मिष्ट जल से भरपूर हो गये है। और सब वन, उपवन हरे-भरे दृष्टिगोचर हो रहे है। भगवान के आगमन का आनन्दमय समाचार सुनकर राजा श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए और तत्क्षण ही सिंहासन से उतर कर सात पग चलकर भक्ति भाव से उन्होने भगवान को परोक्ष नमस्कार किया। पश्चात् वनमाली को वस्त्र भूषण रूप पारितोषिक देकर उन्होने नगर निवासी मनुष्यो को इस शुभ समाचार से परिचित करवाने के लिए सारे नगर में आनन्द घोषणा करवा दी।

फिर हर्षोल्लसित होकर महाराजा श्रेणिक बड़े वैभव के साथ आनन्द भेरी बजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्री वीर जिनेन्द्र की पूजा और वन्दना को चले। दूर से ही ससार का हित करने वाले भगवान के समवशरण को देखकर वे उतने ही प्रसन्न हुए जितने मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होते है।

जब समवशरण के निकट पहुचे तब राजा पैदल चलने लगे। भगवान के समवशरण में प्रवेश कर अत्यानन्द को प्राप्त होकर तीन प्रदक्षिणा देकर वीर जिनेन्द्र को साष्टांग नमस्कार किया। पश्चात् उत्तमोत्तम द्रव्यों द्वारा भगवान की पूजा करके अत मे उनके गुणो का गान किया—हे भगवान् दया के सागर। ऋषि महात्मा आपको 'अग्नि' कहते है। क्योंकि आप शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म काष्ट को भस्म कर देने वाले है। आप को मेघ भी कहते है वह इसीलिए कि आप प्राणियों को सतप्त करने वाली दु ख, शोक, चिन्ता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दावानलाग्नि को, अपने धर्मोपदेशामृत रूपी वर्षा से शात कर देते है। आपको सूरज भी कहते हैं वह इसीलिए कि आप अपनी उपदेश रूपी किरणों के द्वारा भव्य जन रूपी कमलों को प्रफुल्लित कर अज्ञान रूपी अन्धकार के नाशक और लोक अलोक के प्रकाशक है और आपको सर्वोत्तम वैद्य भी कहते है वह इसीलिए कि धन्वन्तरि जैसे वैद्य से भी नाश न होने वाली जन्म जरा, मरण रूप व्याधि आपके उपदेशामृतरूप औषधि के सेवन करने से जड मूल से नष्ट हो जाती है। आपको परम हितोपदेष्टा तथा परम हितैषी भी कहते है वह इसीलिए कि आप अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा अनादि काल से अविद्या ग्रसित ससारी जीवो को उनकी आत्मा का स्वरूप और मोक्ष के कारणों वा ससार और संसार के कारणो का स्वरूप भली भाति दरशाते है जिससे अपना हित साधन करने मे उनकी प्रवृति होती है। हे जगदीश! जो सुख आपके पवित्र चरण कमलों की सेवा करने से प्राप्त हो सकता है वह अनेक प्रकार से कठिन से कठिन परिश्रम के द्वारा भी प्राप्त नही हो सकता इसीलिए हे दया के सागर मुझ गरीब, अनाथ को अपने चरणो की पवित्र और मुक्ति का सुख देने वाली भक्ति प्रदान कीजिए। जब तक मै ससार से पार न हो जाऊं।' इस प्रकार बड़ी देर तक श्रेणिक ने भगवान का पवित्र भावों से गुणानुवाद किया। तत्पश्चात् वे गौतम गणधर आदि महर्षियो की नाना प्रकार से स्तुति कर भक्ति पूर्वक प्रणाम कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गए। भगवान के दर्शनो के लिए जिस समय राजा श्रेणिक जा रहे थे उस समय वह मेढक भी जो नागदत्त श्रेष्ठी की बावडी मे रहता था और जिसको अपने पूर्व जन्म की स्त्री भवदत्ता को देखकर जाति स्मरण हो गया था वह भी तब बावड़ी मे से श्री जिनेन्द्र की पूजा के लिए एक कमल की कली को अपने मुख मे दबाए हुए बड़े आनन्द और उल्लास के साथ उछलता और कूदता हुआ नगर के लोगो के साथ समवशरण की ओर चल दिया। मार्ग मे जाता हुआ वह मेढक राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के

नीचे आकर मर गया पर उसके परिणाम त्रिलोक पूज्य महावीर भगवान की पूजा में लगे हुए थे इसीलिए वह पूजा के प्रेम से उत्पन्न होने वाले पुण्य से सौधर्म स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। देखिए कहा तो वह मेंढक और कहा अब वह स्वर्ग का देव। सच है कि जिन भगवान की पूजा के फल से क्या प्राप्त नही होता अर्थात् जिन भगवान की पूजा मे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। एकदम अन्तर्मूहूर्त में वह मेढक का जीव आखो में चकाचौध लाने वाला तेजस्वी और सुन्दर योवनावस्था का धारक देव बन गया। अनेक प्रकार के दिव्य रत्नमयी अलकारों की दीप्ति से उसका शरीर आच्छादित हो रहा था। अति सुन्दर शोभा संयुक्त होने से वह ऐसा मालूम होता था। मानो रत्नराशि वा रत्नशैल बनाया गया हो। उसके सुन्दर बहुमूल्य वस्त्रो की शोभा मनुष्यों के चित्त को चकित करने वाली थी। उसके कठ में अपनी सुगन्ध से दशो दिशाओ को सुगन्धित करने वाले स्वर्गीय कल्प-वृक्ष जनित पुष्पो की माला अद्‌भुत शोभा दे रही थी। उसे अवधिज्ञान से जान पडा कि मुझे जो यह सब सम्पत्ति मिली है और मैं देव हुआ हूँ यह सब भगवान की पूजा की पवित्र भावना का फल है अतएव सबसे पहले मुझे जाकर पतित पावन भगवान की पूजा करनी चाहिए। इस विचार के साथ ही अब वह अपने मुकुट पर मेंढक का चिन्ह बनाकर महावीर भगवान के समवशरण मे आया। भगवान की पूजन करते हुए इस जीव के मुकुट पर मेढक के चिन्ह को अकित देखकर श्रेणिक को बडा आश्चर्य हुआ। तब राजा श्रेणिक ने हाथ जोड़कर गौतम भगवान से विनय पूर्वक पूछा हे प्रभो! सशयरूपी हृदय गत अन्धकार को नाश करने वाले सूरज! मैं इस मेढक के चिन्ह से अकित शेखर नायक देव का विशेष वृतान्त सुनना चाहता हूँ अत कृपा करके कहिए। तब ज्ञान की प्रकाशमान ज्योति रूप गौतम भगवान ने श्रेणिक को नागदत्त के भव से लेकर अद्यावधि पर्यन्त सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर श्रेणिक को तथा अन्य भव्य जनों को बडा आनन्द हुआ। भगवान की पूजा करने मे उनकी बड़ी श्रद्धा हो गई। जिन पूजन का इस प्रकार उत्कृष्ट फल जानकर अन्य भव्य जनो को भी उचित है कि वे सदाचार, सद्विद्या, धन, सम्पत्ति, राज्य, वैभव, स्वर्ग तथा मोक्ष आदि के सुख का कारण जिन भगवान की पूजा आलस्य तथा प्रमाद रहित किया करे क्योंकि 'अब मुझको भी समवशरण मे चलकर वीर जिनेन्द्र की पूजा करनी चाहिए। जब ऐसे सकल्प और उद्यम करने मात्र से जिन पूजन करने वाला राजगृह नगर के सेठ नागदत्त का जीव स्वर्ग में भी पूज्य हुआ तो फिर जो मनुष्य अपने शरीर से अष्ट द्रव्य लेकर तथा वचनो से अनेक प्रकार के शब्द और अर्थो के दोषो से रहित माधुर्य आदि गुण तथा उपमा आदि अलकार सयुक्त गद्य पद्यमय रमणीय काव्यो के द्वारा जल चन्दन आदि सामग्री की स्वाभाविक निर्मलता और सुगन्ध आदि गुणो का वर्णन करते हुए तथा भगवान के गुणानुवाद पूर्वक पवित्र भावो से भगवान की पूजा करते है उसके सुख का तो पूछना ही क्या। थोडे मे ऐसा समझना चाहिए कि जो भव्य जन भक्तिपूर्वक भगवान की प्रतिदिन पूजन किया करते हैं वे सर्वोत्तम सुख वा

मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं तब सांसारिक सुखों की तो बात ही क्या है, वह तो उनको विशेष रूप से मिलता ही है और मिलना भी चाहिए। अतएव भव्यजनो को उचित है कि वे जिन भगवान का अभिषेक, पूजन, स्तवन, ध्यान आदि सत्कर्मों को सदा प्रयत्नशील होकर किया करें।

जलगालन :—

धर्मात्मा पुरुष जिस प्रकार रात्रि भोजन का त्याग करते है उसी प्रकार उन्हे बिना छने पानी का त्याग भी करना चाहिए। क्योकि अनछने पानी में सूक्ष्म त्रस जीव होते है अतएव जीव दया के पालन करने के निमित्त भव्यजनो को उचित है कि स्वच्छ, निर्मल और गाढ़े दुपरता छन्ने से जल को छानकर उपयोग मे लाया करे। छोटे छेद वाले, अधिक बारीक, मैले और पुराने कपडे से जल छानना योग्य नही। जल छानने योग्य वस्त्र का परिमाण सामान्यतया शास्त्रो में छत्तीस अगुल लम्बा और चौबीस अगुल चौडा वर्णन किया है। जैसा कि पीयूष वर्ष श्रावकाचार में कहा है—

श्लोक—षट् त्रिशंदगुल वस्त्र, चतुर्विशति विस्तृन्त।
तद्वस्त्रं द्विगुणी कृत्य, तोय तेन तु गालयेत्॥

अर्थ—छत्तीस अगुल लम्बे और चौबीस अगुल चौडे वस्त्र को दोहरा करके पानी छानना चाहिए। उसको दुपरता करने से चौबीस अगुल लम्बा और अठारह अगुल चौडा होता है। यदि बर्तन का मुख अधिक बडा हो तो बर्तन के मुख से तिगुना कपड़ा लेना चाहिए। जल छानने के पश्चात् बची हुई जिवाणी को रक्षापूर्वक उसी जलाशय में पहुँचाना चाहिए जिस जलस्थान से जल लाया गया हो। अन्य स्थान में जल डालने से स्पर्श, रस, गध और वर्ण की असमानता होने के कारण जीव मर जाते है जिससे जिवाणी डालने का प्रयोजन अहिंसाधर्म पलता है। अतएव उसी जलाशय मे जल पहुचाना चाहिए। यद्यपि जैन धर्म मे जल को छान कर पीने मे अहिसा मुख्य हेतु बताया गया है परन्तु आरोग्य की रक्षा भी एक प्रबल हेतु है क्योकि अनछना पानी पीने से बहुधा मलेरिया, ज्वर आदि दुष्ट रोग उत्पन्न हो जाते है। ऐसी सावधानी के लिये आयुर्वेदिक शास्त्र भी उपदेश करते है। अतएव धर्म हितेच्छुक प्रत्येक पुरुष को उचित है कि शास्त्रोक्त रीति से जल छान कर पिए। जल छानने से एक मूहूर्त्त पश्चात् उसी जल को पुन. छान कर उपयोग मे लाना चाहिए क्योकि एक मुहुर्त्त के पश्चात् त्रस जीव उत्पन्न हो जाने से अनछने जल के समान वह जल हो जाता है। ऐसा सागार धर्मामृत आदि शास्त्रो मे कहा है।

अथानतर जिस आत्महितेच्छु धर्मात्मा भव्य पुरुष ने मद्य, मॉस, मध्वादि को त्याग दिया अर्थात आठ मूल गुण धारण कर लिए हैं, ऐसे पाक्षिक श्रावक को अपनी शक्ति

के अनुसार पाप होने के डर से स्थूल हिंसा, अनृत, स्तेय, कुशील, परिग्रह-इन पाँच पापो का त्याग करने की भावना तथा अभ्यास करना चाहिए, राजा आदि के डर से नहीं क्योंकि यदि राजा आदि के भय से अभ्यास करेगा तो उससे कर्म नष्ट नही होंगे। जिन धर्मात्मा भव्य पुरुषों ने पाँचों पापो के एकदेश हिंसा के त्याग करने रूप आचरण करना प्रारम्भ कर दिया है, उन्होने वेश्या आदि के समान महाअघ कीखान जूआ, खेटक, वेश्या और परस्त्री सेवन का भी त्याग करना चाहिए क्योंकि इन सब में हिंसादि पाप होते हैं। अभिप्राय यह है कि पाक्षिक श्रावक को दुर्गति व दु.खों के कारण और पापों को उत्पन्न करने वाले ऐसे द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, चोरी, खेटक और परस्त्री-इन सातों व्यसनों को त्याग देना चाहिए क्योंकि इनके सेवन करने से वह इस लोक में समाज एव धर्मपद्धति में निन्दनीय होता है और मरने पर दुर्गति में दुस्सह दु ख भोगने पडते हैं। इनमे लवलीन पुरुषों को पच पापों से बचना असभव है अतएव आगे शुद्ध सम्यग्दृष्टि पाक्षिक श्रावक से अहिंसा एकदेश व्रत का पालन करने के लिए इनके त्याग को कहते हुए इनसे विपत्ति उठाने वालो की कथा उदाहरणरूप लिखी जाती है।

सत्य व्यवसन वर्णन .

जहाँ अति अन्याय रूप कार्य को बार-बार मेवन किये विना राजदड, जातिदड, लोकनिन्दा होने पर भी चुनना पडे, वह व्यसन कहलाता है और जहां किसी कारण विशेष से कदाचित् लोक निन्द्य व गृहस्थ धर्म विरुद्ध कार्य बन जाए, वह पाप है। इसी भेद के कारण चोरी और परस्त्री व्यसन को पच पापों में गणना कराकर पुन इनको सप्त व्यसनों में भी गणना की है। अब इनका स्वरूप, इनके सेवन से दु:ख उठाने वाले पुरुषों की कथा सक्षेप से लिखते है—

जिसमें हार-जीत हो, वह जुआ है। जिन पुरुषो को बिना परिश्रम किए हुए द्रव्य के प्राप्त होने की अधिक तृष्णा होती है, ऐसे ही पुरुष विशेषतया जुआ खेलते है। यह जुआ सप्त व्यसनो का मूल और सब पापो की खान है। जुआरी मनुष्य नीच जाति के मनुष्यों के साथ भी स्पर्शनीय, अस्पर्शनीय का विचार न करके राज्य के भय से छिपकर मलिन और शून्यागारो मे जुआ खेलते है। अपने विश्वासपात्र कुटुम्ब जनों से सदा द्वेष रखते है। इस व्यसन के निराकरण सम्बन्धी शिक्षा देने वाले पूज्य और बडे तथा कुटुम्बवर्गियों को अपना शत्रु समझते हैं। चोर तथा जुआरी इनके मित्र होते है। लुच्चे, लफंगे इनके सहायक होते हैं। जुआरी सब झूठों का सरदार होता है। इसके समान कोई झूठा नहीं होता। जीतने पर तो मास भक्षण, मद्यपान, वेश्यासेवन तथा अत्यन्त मांसाशक्त होने पर खेटकादिक निंद्य-कर्म करते है और हार हो जाने पर जब द्रव्य नही रहता, तब चोरी करने को उद्धत होते हैं

तुच्छ धन के लिए पर के बाल-बच्चो के प्राण ग्रहण करने में तत्पर हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक पाप कर्मों को करते हैं। साराश यह है कि जुआ खेलने वालों से कोई दुष्कर्म नहीं बचा रहता। इसी कारण द्यूत व्यसन को सब व्यसनो का उत्पादन मूल (जड) के समान कहा है। इस व्यसनसेवी मनुष्य से न्यायपूर्वक कोई आजीविका सबधी रोजगार-धंधा नही हो सकता। इस व्यसन में फसाकर दूसरो को ठगना ही इनका व्यापार होता है। जुआरी की बात का कोई विश्वास नही करता और न कोई आदर-सत्कार करता है। जुआरी, पुत्र, पुत्री, स्त्री, गृह, क्षेत्रादिक पदार्थों को जुए में हारकर दरिद्री हो उनके वियोग जनित आर्तध्यान के प्रभाव से मरने पर दुर्गति में अनेक प्रकार के दु:स्सह दु ख भोगते हैं। द्यूत व्यसन के विषय मे भूधरदास जी ने कहा है कि—

सकल पाप सकेत आप दाहेत कुलच्छन,
कलह खेत दारिद्र देत दीसत निज अच्छन।
गुणसमे तजससेत केतर विरोकत जैसे,
औगुण निकर समेत केत लखि बुधजन ऐसे।
जुआ समान इहलोक में आन अनीति न पेखिये,
इस विसनराय के खेल को कौतुक कूँ नही देखिए॥

अतएव धर्म, अर्थ, काम-इन पुरुषार्थो से भ्रष्ट करने वाले हिसा, झूठ, चोरी, लोभ, कपट आदि अनर्थों के कारण इस लोभ में सामाजिक एव धर्म पद्धति में निद्य वना देने वाले, मरने परदुर्गति एव महान् दुस्सह दु खो के दाता इस द्यूतव्यसन को सर्वथा त्यागना योग्य है। देखो, पुण्यशाली पाण्डवो ने इस व्यसन के सेवन से अपने राज्य को हार कर कैसे-कैसे दारुण दु:ख भोगे और उन्होने अनेक देशो मे भ्रमण करते हुए कैसी-कैसी कठिन आपदाए भोगी। इस व्यसन के सेवन से जो अनेक भीषण-भीषण दु ख भोगने पडते है, उन सब दु:खो का वर्णन कैसे हो सकता है? तात्पर्य यही है कि यह ससार का वर्द्धक एक प्रधान कारण है। अतएव बुद्धिमानो को इस घोर दु:खकारी क्रिया का दूर ही से त्याग कर देना चाहिए। इस व्यसन के सेवन से दु:ख उठाने वालो में प्रसिद्ध युधिष्ठिर महाराज का उपाख्यान है जिसके दत्तचित्त होकर अध्ययन, अध्यापन तथा श्रवण करने से लोग घोर दु ख जनक अन्याय रूप क्रिया से रुचि हटाकर सुमार्ग के अन्वेषण करने में प्रवृत्त होगे।

द्यूत व्यसन कथा :

भगवान् के जन्म से पवित्र इस ही भरत क्षेत्र आर्यखड मे कुरुजगल देश के अंतर्गत महामनोहर हस्तनागपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। उसके राजा थे—धृत। इनका जन्म कुरुवश में हुआ था। वे धर्मज्ञ, नीतिज्ञ, दानी, प्रजाहितैषी और शीलस्वभाव थे।

इनके तीन रानिया थी। उनके नाम क्रम से अम्बा, बालिका तथा अम्बिका थे। तीनों ही रानियां अपनी-अपनी सुन्दरता में अद्वितीय थी। इन तीनो रानियों के नाम क्रम से धृतराष्ट्र, पाडु, और विदुर नाम के तीन पुत्र हुए। इनमें धृतराष्ट्र की स्त्री का नाम गांधारी था और पाडु के दो स्त्रियाँ थी। उन के नाम थे—कुन्ती तथा मद्री। इनमें से धृतराष्ट्र के तो दुर्योधनादिक पुत्र हुए और पांडु की कुन्ती नाम की स्त्री के युधिष्ठिर, भीम, और अर्जुन तथा मद्री के सहदेव और नकुल पुत्र हुए। कुन्ती का कन्या अवस्था में ही किसी कारण विशेष से, परस्पर ससर्ग हो जाने से कर्ण का प्रसव पहले ही होचुका था। इस प्रकार महाराज्य धृत धन, सपत्ति, राज्य, वैभव, कुटुम्ब, परिवार तथा पुत्र-पौत्रादि से पूर्ण सुखी रहते हुए अपनी प्रजा का नीति-पूर्वक पालन करते थे।

एक बार उन्होने शरद ऋतु में गगन मडल में नाना प्रकार के वर्णों से शोभित बादल को क्षण -मात्र मे ही वायु के वेग से नाम शेष होते देखा अर्थात् देखते-देखते ही बादलो को नष्ट होते देखा तब उन्हे ससार से वैराग्य हुआ। वे विचारने लगे कि ये बादल जिस प्रकार दृष्टिगोचर होते हुए ही नष्ट हो गए उसी प्रकार यह ससार भी तो क्षणभगुर है। इन स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु आदि तथा धन सपत्ति और इन्द्रिय भोगो की ओर आसक्त होकर अपने हित की ओर मैने कभी ध्यान नही दिया। मोह रुपी गहन अन्धकार ने मेरी दोनो आखो को ऐसा अन्धा बना डाला जिससे मुझे अपने कल्याण का मार्ग नही दिखाई दिया इसी से मै अब अपने आत्म-हित के लिए अनादि काल से पीछा करते हुए इन कर्म-शत्रुओ का नाश कर मोक्ष सुख को देने वाली जिन-दिक्षा ग्रहण करू जिसके प्रभाव से मै सच्चा आत्मीक सुख प्राप्त कर सकू।

इस प्रकार स्थिति विचार कर महाराज धृत ने बडे पुत्र धृतराष्ट्र को तो राज्य-भार सौंपा और पाडु को युवराज पद देकर विदुर के साथ-साथ मोक्ष-सुख की साधक जिन दीक्षा धारण कर ली। जिन-दीक्षा का लाभ कुगति में जाने वालो के लिए बहुत कठिन है। इसके बाद धृत मुनि ने तो अनेक दिनो तक कठिन से कठिन तपश्चरण कर शुक्ल ध्यानके बल से केवल ज्ञान को प्राप्त कर अन्त मे शाश्वत अक्षयानंत मोक्ष-लाभ प्राप्त किया।

इधर विदुर मुनिराज देश विदेश में धर्मोपदेश के लिए विहार करने लगे, उधर धृतराष्ट्र पाडु के साथ राज्य का पालन करते सुखपूर्वक अपना समय बिताते थे। एक दिन दोनो भाइयो ने एक भ्रमर को कमल के भीतर मरा हुआ देखा। उसके अवलोकन मात्र से उन्हे बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होने उसी समय अपने राज्य के दो विभाग कर एक भाग दुर्योध-नादिक के लिए और एक भाग युधिष्ठिरादि के लिए सौप दिया और स्वय दोनो भाइयो ने जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। इसके अन्तर कौरव और पाडव परस्पर अनुराग पूर्वक प्रजा का

पालन करते हुए सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने लगे वे काल की गति को नहीं समझते थे। कौरवो के मामा शकुनि ने अपने भानजे दुर्योधनादिक के लिए और पाडु के पुत्र युधिष्ठिरादिक के लिए समान राज्य-भाग की व्यवस्था देखकर अपने मन मे बिचारा कि आधा राज्य तो केवल पांच पांडवों के लिए दिया गया है और आधा राज्य सौ कौरवो के लिए इससे पाडव तो बड़े प्रतापी मालूम होते हैं और कौरवो का प्रताप इनके सम्मुख कुछ भी मालूम नही होता ऐसा विचार कर उसने प्रेमवश होकर कौरवो के कान भरे कि तुम्हें कुछ ध्यान भी है ? कहाँ तो तुम सौ भाइयो के लिए आधा राज्य, जिससे तुम लोगो का वस्त्र-शस्त्रादि का प्रबन्ध भी ठीक-ठीक नही हो सकता और कहाँ इन पांच पाडवों के लिए आधा राज्य जिससे ये लोग कैसे तेजस्वी और धनपूरति दिखाई देते है। ठीक तो यह है कि सब वेषो में धन का ही वेष उत्तम गिना जाता है। तुम स्वय ही यह बात सोचो कि जितना राज्य पाच व्यक्तियों को दिया गया उतना ही सौ व्यक्तियो के लिए देना उचित था क्या ? इस प्रकार शकुनि के प्रतिदिन उत्तेजित करते रहने से कौरवो की प्रकृति मे दुष्टता आ ही गई। पीछे कुछ समय के पश्चात् दुर्योधन ने अपनी बुद्धि सेकल्पना कर एक लाख से युक्त सुन्दर महल बनवाया। उसके पूर्ण होने पर उसने एक दिन नवीन मन्दिर में भोजन करने के लिए पाडवो को निर्मन्त्रित किया। निमत्रण के अनुसार पाचो पाडव अपनी माता कुन्ती सहित आये। आते ही मदिर के अपूर्व शोभा का अलोकन कर बहुत प्रसन्न हुए। दुर्योधन ने इनको बडे आदर-सत्कार के साथ भोजन कराकर इनके सोने का भी वही प्रबन्ध कर दिया जिससे रात्रि को ये सब यहीं शयन करें निद्रा के आने पर पाडवो ने वही शयन किया। उनके शयन करने के कुछ समय पश्चात् ही कौरवो ने अपनी दुष्टता से लाख के सदन में अग्नि लगा दी। लाख के कारण अग्नि ने अपनी भयकरता बहुत शीघ्र ही धारण कर ली। जब लाख तप-तप कर पाडवो के ऊपर गिरने लगी तब वे सब के सब सचेत होकर कौरवो की दुष्टता जानकर बाहर निकलने का मार्ग न देख बहुत चिंतित हुए तब ज्योतिष-शास्त्रज्ञ सहदेव कहने लगे कि हे भ्राताओ, यहाँ पर एक सुरग है। उसके मार्ग से हम सब निकल सकेगे यह सुनते ही भीम ने इधर-उधर दृष्टि दौडाई तो उसको एक शिला दिखाई दी। भीम उसे उठाकर अपने मार्ग को निष्कटक कर कुन्ती सहित पाचो भाई उस मार्ग से निर्विघ्न बाहर निकल गये और इच्छानुसार पृथ्वी पर भ्रमणकरते हुए आनन्द पूर्वक हस्तनापुर पहुँचे। उधर सब लोग कौरवो की दुष्टता जानकर उनकी निन्दा करने लगे। पांडव लोग वहाँ कुछ दिन रहकर देश यात्रा करते हुए पीछे लौटकर भाकदो नगरी मे आ पहुँचे। उसके स्वामी द्रुपत थे उसकी स्त्री का नाम जथावती था। उसके द्रौपती नाम की पुत्री थी। रुप की सुन्दरता में वह प्रसिद्ध थी। जब महाराज द्रुपत ने देखा कि पुत्री युवती हो गयी है। तब उन्हे उसके विवाह की चिन्ता ने चिन्तित किया। फिर उन्होने अपने मत्रियो से परामर्श कर एक शुभ

मुहूर्त में पुत्री का स्वयंवर आरंभ करवाया। देश-देश के राजाओ और महाराजाओं के लिए निमन्त्रण-पत्र भेजा गया। दुर्योधन आदि सभी राजा-महाराजा स्वयंवर मण्डप में उपस्थित हुए। उस समय यह नियम निश्चित किया गया कि जो इस राधावेध को वेधेगा, वही कन्या का स्वामी होगा। दैवयोग से पांडव कुमार भी वहाँ आ गये। इन्हे वे लोग पहचान न सके क्योकि वे अपने वेष को पलट कर कृत्रिम वेष में रहते थे। स्वयवर में आये हुए राजा-महाराजा आदि में से किसी का साहस नही हुआ कि वह राधावेध को वेधे। सबके मुख निष्प्रभ हो गये। तब अर्जुन ने उठकर कहा 'जो मनुष्य इस राधा वेध को वेधेगा, उसे कुलहीन या जातिहीन होने से कन्या के मिलने मे तो कोई सदेह नही होगा। ऐसा यदि सशय न हो तो मैं भी अपने पुरुषार्थ की परीक्षा करूँ। तब राजाओ ने कहा कि 'हमे जाति तथा कुल से कुछ प्रयोजन नही, तुम अपने पुरुषार्थ से इस कर्त्तव्य को पूरा करो।'

तब उनके कहते ही महाबाहु, पराक्रमी अर्जुन ने कटिबद्ध होकर सब राजाओ की उपस्थिति मे ऊपर मुट्ठी और नीचे दृष्टि करके बात की बात में उस राधावेध को वेध दिया। वेध होते ही द्रौपदी ने आकर पाचो पाडवो के मध्य में बुद्धिमान अर्जुन के कठ मे माला डाल दी। इतने में वायु के अधिक वेग से माला टूट जाने से पाँचो पर पुष्प गिर गये। माला के टूटते ही लोगो मे हल्ला मच गया कि द्रौपदी अपने धर्म से भ्रष्ट है। इसने पाँचों को अपना पति बनाया है। पश्चात् राजा लोग भी बिगड़ पडे और कहने लगे—'हम राजाकुमारो के होते हुए क्या ये कगाल भिखारी इस राजपुत्री को परणेगे। इन को मारकर सुन्दरी को इनसे छुडा लेना चाहिए।'

ऐसा कहकर सब युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। इतने में किसी विचारवान् पुरुष ने उनसे कहा—'पहले उनके पास दूत भेजकर कन्या को वापिस लौटाने के लिए कहलाना चाहिए। यदि वे इसे स्वीकार न करे तो युद्ध का समारम्भ है ही।'

तब सबने सहमत होकर अर्जुन के निकट दूत भेजा। दूत ने जाकर कहा—'राजकुमारी ने बड़ी मूर्खता की जो राजाओ को छोड़कर तुम्हे अपना स्वामी बनाया। अब तुम्हे चाहिए कि इस राजकन्या को राजाओ के प्रति दान करके उनके प्रेमभाजन होकर सुखपूर्वक भली प्रकार जीवन-यात्रा करो।' क्रोध के आवेश में हो उत्तर मे अर्जुन ने दूत से कहा—'तुम अभी जाकर अपने स्वामी से कह दो कि हम राजकुमारी को नही देगे। क्या तुमने इस प्रकार कभी किसी को अपनी वल्लभा देते देखा अथवा सुना है। यदि वे लेने का साहस रखते है तो रणक्षेत्र में सम्मुख आकर अपने पराक्रम से हमे पराजित कर ले लेवें। न जाने तुम्हारे स्वामियो में ऐसी दुर्बुद्धि क्यो उत्पन्न हुई है?'

ऐसा कहकर अर्जुन ने दूत को उसी समय वहाँ से निकलवा दिय। दूत ने जाकर

सब समाचार राजा लोगो को ज्यो का त्यो सुना दिया। सुनते ही राजा लोग बहुत बिगड़े और युद्ध के लिए तैयार हो गये। तब महाबली अर्जुन युद्ध भूमि मे वीर लोगों को एकत्रित हुए देख कर उसी समय श्वसुर के साथ अपने भ्राता और द्रौपदी सहित युद्ध के लिए निकल पड़े। दोनो तरफ के योद्धाओ की मुठभेड़ हो गयी। घोर युद्ध होना आरभ हुआ। अर्जुन के द्वारा अपने योद्धाओ को विध्वस होते देखकर दुर्योधन उसी समय अपने भीष्म आदि वीरो को साथ लेकर रण-भूमि मे आ उपस्थित हुए। तब अर्जुन ने भी भीष्म को देखकर विचार किया 'ये तो मेरे पूज्य है। इनका वध मेरे हाथ से कैसे हो सकेगा ?' निदान उसने अपने एक बाण पर नाम लिखकर भीष्म के ऊपर फेंका। बाण उनकी गोद मे जाकर गिरा। तब उन्होने उसे पढ़कर दुर्योधन से कहा—'देखो जानते हो ये लोग पाडव है और ठीक भी है इनके अतिरिक्त इतना पुरुषार्थ और किस का हो सकता है ?'

दुर्योधन ने पूछा—'आपने यह कैसे जाना ? तब गागेय (भीष्म) ने पार्थिव (अर्जुन के नाम का बाण दिखला दिया उसे पढ़ते ही दुर्योधन रही-सही हिम्मत भी हारकर बड़े दु.ख के साथ रथ से नीचे उतर कर माया से अश्रुपात करता हुआ पाडवो के सम्मुख जाकर बाहु पसार कर मिला और गद्गद् स्वर से कहने लगा—'नाथ। मै बड़ा अभागा हूँ। लोकनिदा से मेरा हृदय जला जा रहा है। परन्तु अच्छा हुआ जो आप सब मेरे पुण्योदय से आ गये। न तो मैंने यह जाना था कि यह लाख का घर बना हुआ है और न ही मुझे यह मालूम है कि किस दुष्ट ने उसे जला दिया। परतु फिर भी मुझ निरपराधी को लोगो ने अपराधी ठहराया। मेरा बहुत अपयश हुआ। पर ये नियम है कि शुद्धचित्त के मनुष्यो पर कलक नही लगता। इसी कारण मेरे पुण्योदय से मेरा अपयश मिटाने के लिए आप आ पहुंचे। आपके वियोग रूपी अग्नि से जलता हुआ मेरा हृदय अब शात हुआ है—ऐसा कहकर दोनो पक्ष परस्पर आनदपूर्वक मिले। सब लोगो के चित्त मे बड़ा आनद हुआ। फिर शुभ मुहूर्त मे अर्जुन का विवाह द्रौपदी के साथ हो गया। सब लोग विवाह-कार्य पूर्ण करवा कर अपनी-अपनी राजधानी मे गये और पूर्ववत् प्रीति पूर्वक रहने लगे। कुछ समय पश्चात् फिर उसी शकुनि ने उनके दिन-प्रतिदिन वैभव को बढते हुए देखकर कौरवो पाडवो की परस्पर मैत्री मे बाधा डालना आरभ किया। सच है–दुष्टों का यही स्वभाव होता है कि उन्हे दूसरो को लड़ाये बिना चैन नही पड़ता। निदान शकुनि ने अपनी बुद्धि की चतुरता से उनके स्नेह को तोड़ ही डाला। अब कौरव लोग शकुनि की उत्तेजना से पाडवो में दोष ढूंढने लगे जैसे उत्तम पुरुषो के पीछे शाकिनी लग जाती है। एक दिन युधिष्ठिर के जी में आया कि जूआ खेलना चाहिए। उन्हे यह विचार क्या उपजा, इसे दूसरे शब्दो मे यो कहना चाहिए कि आज से ही उनके भाग्य का चमकता हुआ सितारा (सूर्य) अस्त हो गया। सच कहा है कि—

बुद्धि उत्पद्यते तादृक्, व्यवसायश्च तादृश:
सहायास्तादृशश्चैव यादृशी भवितव्यता ।।

अर्थात्' जैसी भवितव्यता(होनहार)होती है वैसी ही बुद्धि उत्पन्न हो जाती है वैसा ही व्यवसाय (काम) सूझता है। वैसे ही सहायक मिल जाते है।' ठीक यही हाल युधिष्ठिर का हुआ। अत: एक दिन सभा में कौरवो और पाडवो की उपस्थिति मे युधिष्ठिर दुर्योधन के साथ जूआ खेलने लगे। दुर्योधन का पासा पड़ता तो बहुत उत्तम था परतु भीम के हुकार से वह उल्टा हो जाता था। तब दुर्योधन चितातुर होकर विचारने लगा कि भीम मुझे जीतने नही देगा अत इस को किसी आलम्बन से कही भेज देना चाहिए। इतने मे ही उसकी बुद्धि ने उसका साथ दिया। दुर्योधन भीम से कहने लगा—'महाभाग! इस समय मैं तृषा से बहुत व्याकुल हो रहा हूँ। उसका उपाय तुम्हे ही करना चाहिए।'

तब भीम बोला—'आप घबरावे नही। मैं अभी शीतल और सुगधित जल लाता हू।'

दुर्योधन बोला— 'नहीं, नही, मुझे ऐसे जल की आवश्यकता नही। ऐसे जल के लाने वाले तो मेरे यहाँ भी बहुत है।'

भीम ने कहा—'अच्छा तो जैसा जल आपको अभीष्ट है, आज्ञा कीजिए, वैसा ही मैं लाने को प्रस्तुत हूँ।'

दुर्योधन बोला—'गंगा के निकलने वाले हृद में कटिपर्यत प्रवेश कर तुम अपनी गदा से पानी का घात करना और उससे जो पानी के छीटे उडे, उस पानी को मेरे पीने की इच्छा है।'

इस बात को सुनकर यद्यपि भीम की इच्छा जाने की नही थी तथापि उसको लज्जावश जल लाने के लिए जाना पडा। इधर दुर्योधन के मन की चिंता मिटी और उसका जीत का पासा पडने लगा। युधिष्ठिर महाराज ने सर्वप्रथम अपना भडार दूसरी बार देश, तीसरी बार हाथी, चौथी बार घोड़े, पाचवी बार वाहन तथा गौ आदि पशु हारे और अत मे वे द्रौपदी सहित अत.पुर भी हार गये। निदान शेष बचे कुछ वस्त्राभूषणादिक भी सब वे हार गये। इतने में भीम जल लेकर आ गये और दुर्योधन से कहने लगे—'लीजिए, आपकी इच्छानुसार मैं जल ले आया हूँ। इसे पीकर आप अपनी तृषा शात कीजिए।'

दुर्योधन ने कहा—'अब तो मेरी तृषा शांत हो गयी।'

यह सुनकर भीम को बडा आश्चर्य हुआ परन्तु जब युधिष्ठिर को निष्प्रभ देखा तब पूछने लगे—'भाई आप विकलचित्त मालूम होते हैं। इसका क्या कारण है?' तब उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—

"हे भ्राता! सुनबात ठगो गयो या दुष्ट करि।
जीत लियो हम आप, राज पाट घर विभौ सब ।।"

युधिष्ठिर के ऐसे वचन सुनते ही—

"भीम भयो तब विकल अति, मन मे बहु पछताय।
कहै ठगो मैं हूँ सही, दियो जु अन्यत्र पठाय ।।"

निदान भीम को इसका बड़ा दु ख हुआ।

इसी समय दुर्योधन इनको यहाँ से बाहर निकालने के अभिप्राय से कहने लगा—'युधिष्ठिर! तुम जानते हो कि जो लोग अपना गौरव चाहते है उन्हे दूसरे के देश और दूसरे के घर में रहना अच्छा नही लगता क्योकि दूसरो की वसुधरा उनके लिए लघुता का कारण होती है, जैसे सूर्यमण्डल को प्राप्त होकर चद्र प्रभाहीन हो जाता है, अतएव तुमको अपने भ्राताओं सहित शीघ्र ही मेरे देश से चले जाना चाहिए।'

दुर्योधन के वचन रूपी शरो से वेधे हुए युधिष्ठिर अपने भ्राताओ सहित चलने को उठ खड़े हुए। तब द्रौपदी भी उनके पीछे-पीछे चलने को तत्पर हुई। तब दुर्योधन बोला—'द्रौपदी! युधिष्ठिर तुम्हे हार चुके है, इसलिए अब तुम्हे हमारे अत पुर म रहना होगा। परन्तु उसके वचनो पर ध्यान न देकर जब द्रौपदी चलने लगी, तब पापी दुर्योधन ने उसका आचल पकड कर खीच लिया। तब साध्वी द्रौपदी अपने पर सकट आया जान जिनेद्र भगवान के चरण कमलो का स्मरण करने लगी। उसके अप्रतिम शील ने उसको वस्त्रहीन नहीं होने दिया अर्थात् दुर्योधन के आचल पकड़कर खींचने पर भी अपने सतीत्व के प्रभाव से द्रौपदी वैसे ही वस्त्र से ढकी रही। धर्मशील महाराज युधिष्ठिर इस दुष्कृत्य को देखते हुए भी, अपने चित में किंचित् भी विकार को प्राप्त न होकर शात रहे, परन्तु जब मत्रियो से दुर्योधन की ऐसी दुष्टता न सही गयी तब वे धिक्कार कर कहने लगे—'पापी! क्यो इस सती को क्रोधित कर यम के घर का अतिथि बनना चाहता है।'

तब उसने लज्जित होकर द्रौपदी का आचल छोडा। तब वह फिर स्वामी के पीछे चलने लगी। दृढप्रतिज्ञ पाडव द्रौपदी को साथ लेकर धीरे-धीरे नगर से बाहर निकले। तब सब लोग यही कहने लगे देखो—

"राजपुत्र रचि दूत खियाल, हारि विभौ सब गये विहाल।
तात तजो जूआ नरबान, अपयश गेह महा दुखदान ।।"

अथानंतर ये सब द्रौपदी के कारण धीरे-धीरे गमन करते हुए अनेक वन, देश, पुर तथा ग्राम आदि में घूमते हुए फलादिक से क्षुधा निवारण करते हुए साम्यभावपूर्वक सुख

दु:ख भोगते हुए कितने ही वर्षों तक घूमते-घूमते बिराटपुर में आ पहुंचे। वहाँ के राजा का नाम भी विराट ही था। ये सब नाना प्रकार के वेष धारण कर राजा के पास पहुचे।

धरो कलावत रूप युधिष्ठिर ने वहाँ।
भीम रसोईदार बनो सोतो जहाँ।
नट नाटक अर्जुन ज्योतिषि सहदेव है।
नकुल चरावै पशु द्रौपदी मालिन कहै॥

राजा ने इनको सज्जन जानकर प्रसन्न हो इनके वेष के अनुसार ही अपने-अपने काम पर सबको नियुक्त कर दिया। सब लोग राजा के सेवक होकर रहने लगे।

एक दिन महाराजा विराट का साला अपनी भगनी से मिलने आया। अत:पुर में मालिन के वेष मे द्रौपदी को देखकर कामबाण पीड़ित हुआ वह द्रौपदी से प्रतिदिन अपनी बुरी भावना प्रकट करने लगा। सती द्रौपदी लज्जा के मारे नीचा मुख कर लेती थी, परन्तु जब उसकी बुरी वासना को नष्ट न होते देखा, तब उसने एक दिन समस्त वृत्तात भीम को कह सुनाया। तब—

भीम कही सुन द्रौपती, कहियो तू अब जाय।
पुर वाहिर मठ है जहाँ, तहाँ तुम चालो राय॥

दूसरे दिन भीम के कथनानुसार ही द्रौपदी ने कीचक से कह दिया। द्रौपदी की ऐसी इच्छा प्रकट करने पर वह बहुत सतुष्ट हो रात्रि के समय मठ में पहुचा। वहा भीम गुप्त रूप से द्रौपदी के रूप मे बैठा हुआ था। कीचक ने काम से पीडित होकर ज्योंही द्रौपदी रूपी भीम का अपनी भुजाओ से आलिगन किया, त्योंही उसने भी आलिंगन के छल से दोनों भुजाओ के बीच मे उसे पकड़ कर इतनी जोर से दबाया कि वह अचेत हो गया। जब वह सचेत हुआ, तब उसने उस दु ख से वैराग्य पाकर भीम को नमस्कार कर निर्जन वन मे जाकर जिन-दीक्षा ले ली। जब प्रात काल होने पर कीचक के नौकर ने उसे नहीं देखा, तब उन्होने महाराज विराट मे जाकर कहा। उस समय राजा ने यह सोचकर कि कही वह अपने देश में न चला गया हो, एक सेवक को उसके भाइयो के पास समाचार लाने के लिए भेज दिया। उसने जाकर उनके भाइयो से पूछा—'क्या कीचक यहाँ आया है ?' यह सुनकर उसके भाइयो को बडा सदेह हुआ। वे सौ के सौ भाई उस की खोज लगाने के लिए अपनी नगरी से चल पडे। ग्राम, नगर, वन, उपवन आदि मे देखते तथा लोगों से पूछते हुए विराट नगर मे आए। वहा पूछने पर इनसे किसी मनुष्य ने कहा—'मैंने महाराज कीचक और एक मालिन को नगर के बाहर सध्या के समय अमुक मठ में प्रवेश करते हुए देखा था, परन्तु निकलते समय एक मालिन ही दिखाई दी। कीचक को नही देखा'—यह सुनकर उसके

भाइयों को बड़ा क्रोध आया और कहने लगे कि—'हमारे भाई कीचक को उसी दुष्ट मालिन ने मार दिया है, यह हमको पूर्ण निश्चय हो गया है इसलिए अभी उस दुष्टा को अग्नि में भस्म कर परलोक वासी बना देनाचाहिए।'

इसी विचार से वे लोग मालिन रूप द्रोपदी को पकड कर ले आये और चिता बनाकर द्रोपदी को जलाने लगे। इतने में ही उस मालिन के जलाने का समाचार किसी मनुष्य ने भीम को कह सुनाया। यह सुनते ही भीम क्रोधित होकर वहाँ आया जहाँ चिता तैयार की जा रही थी। उसने देखा कि कीचक के भाई द्रौपदी को जलाने के लिए चिता तैयार कर उसको जलाने का प्रयत्न कर रहे है। उसने सती द्रौपदी को चिता पर से उठा लिया और कीचक के भाइयो को उठा कर अग्नि मे होम दिया। उनमे से एक को उसकी जिह्वा काट कर छोड़ दिया। वह जिह्वारहित हुआ नगर में जाकर राजा से अपना अभिप्राय समझाने के लिए कुछ सकेत करने लगा। तब राजा ने कर्मचारियों से कहा—'देखो तो, ये मूक मनुष्य क्या कहता है?'

उत्तर मे भीम बोला—महाराज। यह कहता है कि कीचक के दुःख से उसके सब भाई अग्नि मे जलकर भस्म हो गये। इसको मैंने बचा लिया अत सकेत द्वारा कहता है कि इसने मेरे प्राण बचा लिए।

विराट ने कहा—'ये ठीक कहता है।'

निदान उस मूक को इसी दु ख में अपने स्थान पर चले जाना पडा। उसकी कुछ सुनाई नही हुई। अथाननर पाडव बारह वर्ष सुखपूर्वक विराट नगरी मे व्यतीन कर राजा से विदा लेकर द्वारका पहुचे और वहाँ जाकर वसुदेव से मिले। इनका दु ख दूर हुआ। वहाँ श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा का पाणिग्रहण अर्जु न से हो गया। श्रीकृष्ण चाहते थे कि कौरव और पाडव फिर किसी तरह मिल जाए। इस आशय मे उन्होंने उनका दूत तक बनना स्वीकार कर बहुत कुछ उद्योग किया परन्तु सब निष्फल हुआ। निदान कौरवो और पाडवो की शत्रुता की बात ससार भर मे हो गयी। कुरुक्षेत्र मे दोनों की सेनाओ की मुठभेड होकर बड़ा भारी भीषण सग्राम हुआ। अन्त में कौरवो का सर्वनाश हुआ और जयलक्ष्मी ने पाडवो का दासत्व स्वीकार कर भूमडल पर उनकी पताका फहरा दी।

श्रीकृष्ण पाडवो के सहायक थे। इन्होने पाडवों को बडी भारी सहायता दी थी। कौरवो और पाडवो का युद्ध भारत वर्ष मे प्रसिद्ध है, जो प्राय. महाभारत के नाम से स्मरण किया जाता है। उस समय श्रीकृष्ण ने प्रीतिपूर्वक पाडवो को हस्तिनापुर का राज्य दिया और तत्पश्चात् पाडव इच्छानुसार स्वतन्त्रता से राज्य करने लगे।

देखो। पाडवो ने जूआ खेलने से कैसी-कैसी भयकर आपदाए और दारुण दु ख

सहे उनके अतिरिक्त भी नल प्रभृति कितने ही राजाओं ने इसके खेलने से दुःख भोगे तो सामान्य जनों का क्या कहना ? और सब व्यसनों के लिए तो द्रव्य की अवधि हो सकती है और वे सब धीरे-धीरे उजाड़ते हैं, परन्तु जूए के लिए धन की कोई सीमा नही क्योंकि समस्त राज्य को एक ही दाव पर लगाया जा सकता है। यही नही वस्त्राभूषण तथा स्त्री को भी दाव पर लगाकर एक क्षण भर मे कगाल बन बैठते है। यदि वह दैवयोग से जीत भी जाए तो जीतने पर मद्य पान, मासभक्षण, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन आदि निद्य कर्म कर इस जुए की कृपा से इनकी सहायता पाकर और भी शीघ्र ही अधोगति को प्राप्त हो जाते है।

(कवित)

सात विसन को राजा है यह याते अहित बने सब काम,
हारत चोरी परचित धारत करै पापधन कारण ताम।
अथवा हनत जीव नही डरपै जीते सेवत खोटे धाम,
या सम पाप और नही जग मे जाते परत नीच अति नाम ॥

(सवैया)

आरति अपार करै सॉच सो विचार धरै,
जश सुख धन पुनि प्रभुता विनाश है।
जीति कै तृपत नाहि हारे ना गाठ माहि,
लेत है उधार देत महादुखराश है।
और कौन बात तात कोन इतवार भ्रात,
नारे को नही मुहात मातदून दास है।
जाय गति पति भाय परै अति विपति,
आय ताते खेल चौपड हू महादुख पास है ॥

अतएव बुद्धिमानो को इस पाप व्यसन जूए तथा इसके परिवार रूप चौपड़ शतरज, ताश वा मूठ आदि की शर्त लगाकर खेलने का सर्वथा परित्याग करना चाहिए।

॥ इति द्यूतव्यसन वर्णनम् ॥

॥ अथ मांसव्यसन वर्णन प्रारंभः ॥

इसका वर्णन तीन मकार में हो चुका है तथापि सप्त व्यसनो मे गणना होने के कारण यहाँ भी संक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है। यह जगम जीवो की द्रव्य हिसा करने से उत्पन्न होता है। इसके स्पर्श, आकृति नाम और गध से ही चित्त में घृणा उत्पन्न होती है। इसकी दुर्गंध से ही जब उल्टी हो जाती है, तब उत्तम लोग इसे कैसे ग्रहण करेंगे इसका स्पर्श तक भी महा बुरा है। जब स्त्री रक्त के बहने मात्र से निंद्य और अपवित्र गिनी जाती है, तब रक्त, वीर्य एव मूत्र, पुरीषादि सप्त धातु, सप्त उपधातु रूप स्वभाव से ही महा

अपवित्र पदार्थों के समूह से उत्पन्न हुआ मांस भला कैसे पवित्र हो सकता है ? अर्थात् कदापि नही और फिर मांस पिड चाहे कच्चा हो या पक्का, उसमें प्रत्येक समय अनन्त साधारण निगोद जीवों का समूह सदा उत्पन्न होता रहता है। उसकी कोई अवस्था ऐसी नहीं कि जब इसमें जीव उत्पन्न न होते हो। कहा भी है—

आमा वा पक्का वा खादति य स्पृशति वापिशिनपेशी।
सनिहन्ति सतत, निचित पिड बहुजीव कोटीना।

अथात् जो जीव कच्ची या पकी हुई मास पेशी को अपना मास पुष्ट करने के लिए खाता है अथवा मास खाने के सकल्प से स्पर्श करता है वह पुरुष निरंतर इकट्ठे हुए अनत साधारण जीवों के समूह को नष्ट करता है। जब अपने प्रयत्न के बिना अन्य के मारे हुए अथवा स्वय मरे हुए जीव का मांस स्पर्श करने अथवा भक्षण करने से हिसक होता है तो प्रयत्न पूर्वक प्राणियो का घात कर उसे जो खाता है उस क्रूर कर्म करने वाले हिसक का क्या कहना है ? वह तो महाहिसक है ही। मास भक्षियो के परिणाम सदा नियम करके घातक रहते है। उनके परिणामों मे दया तो गन्ध मात्र भी नही होती। जैसा कि कहा गया है—

श्लोक—ग्रहाशक्तस्य नो विद्या, नो दया मासभोजिन·।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्य, स्त्रीणुस्य न पवित्रता ॥

अर्थ—जिसकी घर मे आसक्ति है, उससे विद्या अध्ययन नही होता, मासभक्षी के हृदय में दया नही होती, जो द्रव्य का सचय करने मे तीव्र लोभी है, वह सत्य वक्ता नही होता और जो स्त्रियो के सुखोपभोग करने मे आसक्त होता है, वह पवित्र नही माना जाता। दया के अतिरिक्त और भी उत्तम गुण प्राय मास भक्षी पुरुषो में से गमन कर जाते है। जैसा कहा भी है—

श्लोक—य तो मासाशिषः पुसो, दमो दानं दयार्द्रता।
सत्यशौचव्रताचारा, न स्युर्विद्यादयोऽपि च ॥१॥

अर्थ – मासभक्षण करनेवाले लोगों के इद्रिय दमन, दान, दया, सत्य, पवित्रता, व्रत, आचार विद्या हिताहितका विचार आदि समस्त गुण नष्ट हो जाते है। इसका खाना भी सामाजिक एवं धर्म पद्धति मे निद्य गिना जाता है। सब लोग उससे वार्तालाप तक करने में घृणा करते हैं। यह दोष परलोक मे भी नरक मे ले जाने का कारण है अतएव बुद्धिमानो को मास भक्षण के परिहार पूर्वक अहिसा धर्म का धारण करना श्रेय है। देखो ! इसी मास-भक्षण के करने से बकु नाम के राजकुमार ने राज्य से अध पतन प्राप्त कर भीषण कष्ट उठाये और अत मे नरक निवास किया। उसके उपाख्यान से मनुष्यो को इस विषय मे बहुत शिक्षा मिलेगी, अतएव पूर्वोक्त आचार्यों के कथनानुसार यहाँ सक्षिप्त विवरण लिखा जाता है—

इस जंबूद्वीप में भरत क्षेत्र के मध्य मनोहर नामक देश के अंतर्गत कुशाग्रह नाम का एक प्रसिद्ध और मनोहर नगर था। उसमें भूपाल नाम का राजा अपनी विदुषी महारानी लक्ष्मी सहित राज्य करता था। सर्वगुण विभूषित महारानी लक्ष्मी और राजा जिन भगवान के परम भक्त थे, परंतु उनका पुत्र बकु अशुभोदय से मास भक्षण करने का बड़ा लोलुपी था। जब प्रतिवर्ष अष्टांह्निका पर्व आता तब महाराज अपने सारे नगर में बड़ा महोत्सव करवाते और यह घोषणा करा देते थे कि मेरे नगर मे कोई मनुष्य जीवघात न करे। यदि कोई करेगा तो उसे राजद्रोही समझ दण्ड दिया जायगा। यह सुनकर नगर निवासी मनुष्यो ने राजाज्ञा के अनुसार सर्वथा हिसा करना छोड़ दिया, मासलोलुपी बकु को बड़ी चिन्ता हुई। वह विचारने लगा कि मुझे मांस भक्षण करने की आदत पड़ गई है। मै बिना मास के कैसे रह सकूँगा? अब क्या करूँ? ऐसी चिता करता हुआ अपने रसोइये के पास जाकर कहने लगा – 'हे मित्र! मेरे भोजन के निमित्त मांस तैयार करो।'

रसोइया यह सुनकर बडी चिना में पडा। वह सोचने लगा कि यदि मै जीवघात करता हूं तो राजाज्ञा के प्रतिकूल होने से राजा नियम करके मुझे प्राण-दण्ड देगा और यदि राजकुमार को मास लाकर देने से इन्कार करता हूँ तो मेरा उद्यम जाता है राजकुमार मुझ पर असतुष्ट हो जाएगे। ऐसा विचार कर रसोइया नगर के बाहर गया और वहाँ किसी मरे हुए बालक को गडा देख उसे निकाल कर वस्त्र में लपेट कर गुप्त रीति से ले आया और मास लोलुपी राजकुमार के लिए उसे ही बनाकर रख दिया। जब राजकुमार भोजन के लिए आया तो उस रसोइये ने प्रथम षड्रस व्यजन परोसकर पीछे वह मास भी परोस दिया। आज के मास को नवीन स्वाद वाला देखकर राजकुमार ने रसोइये से पूछा 'ये किसका मास है? मैने तो अद्य पर्यत कभी ऐसा मास नही खाया था।'

रसोइये ने कहा—'कुमार! यह मास मयूर का है।' राजकुमार ने फिर कहा—'क्या मैने कभी मयूर का मास नही खाया है? वह तो ऐसा स्वादिष्ट नही होता इसमें और मयूर के मास मे तो बहुत भेद है। मै तेरे लिए क्षमा प्रदान करता हुँ। ठीक-ठीक कह ये स्वादिष्ट मास किसका है?'

तब रसोई ने कहा—'कुमार! मैंने पहले आपके भय से यथार्थ नही कहा था, परतु आप क्षमा प्रदान कर चुके है अत: मैं सत्य कहता हूँ। यह मास मनुष्य का है।' सुनकर राजकुमार बोला—'देख! आज से मेरे सतोषार्थ प्रतिदिन ऐसा ही स्वादिष्ट मास लाकर खिलाया कर। इसके लिए जितने द्रव्य की आवश्यकता हो, उतना ही मैं दे दिया करूँगा।'

रसोइये ने सुनकर विचारा कि मै प्रतिदिन मनुष्य का मास कैसे ला सकूँगा? इसकी उसे बडी ही चिन्ता हुई। वह मनुष्य का मास प्राप्त करने का उपाय सोचने लगा। इतने में ही कुबुद्धि ने उसका साथ दिया। मांस के उपलब्ध होने का कोई और उपाय

न देखकर संध्या के समय कुछ अन्धेरा हो जाने पर जहाँ बहुत से बालक खेला करते थे, वहाँ लड्डू आदि मिष्ठान्न लेकर जाने लगा और उनको मिष्ठान्न बाँटने लगा बेचारे बालक इस लोभ के वश से उसके पास नित्य प्रति आने लगे। सच कहा है—कि मोहो में स्वाद का मोह सबसे बलवान है। इस प्रकार जब बालक रसोइये से हिल गये, तब वह जो जो बालक पीछे रहता, उसे ही अवसर पाकर पकड़ कर ले जाता और उसके प्राण हर कर गुप्त रीति से वस्त्र में छिपाकर घर ले आता और राजकुमार को उसके माँस से प्रसन्न करता। उसे ऐसा करते करते बहुत समय व्यतीत हो गया।

इसी समय राजा भूपाल सासारिक विषय भोगो से बिरक्त होकर ससार का सब माया जाल तोड़कर जैनेद्री दीक्षा ले मुनि हो गये और राज्याधिकार वकु को मिल गया। वह स्वच्छन्द होकर राज्य करने लगा। इसी प्रकार बहुत समय व्यतीत होने पर बालको की नित्य-प्रति कमी होने से प्रजा के मनुष्य बहुत घवराये। सबने मिलकर विचारा कि यह बात क्या है ? इस विषय का पता लगाना चाहिए कि ये बच्चे जाते कहाँ है ? बहुत से मनुष्य इस विषय का गुप्त-रीति से अन्वेषण करने लगे।

एक दिन रसोइया पूर्ववत् बालको को मिष्ठान्न देकर ज्योही उनमें से एक बालक को पकड़ कर ले जाने लगा, त्योंही गुप्तचरो ने भाग कर उसे पकड लिया। पकड़ते ही रसोइये ने अधमरे बच्चे को नीचे डाल दिया। बालक को देखते ही लोगो का क्रोध उमड़ आया। उन्होंने उसे खूब मारा और जब उससे पूछा गया, तब उसने यथार्थ वृत्तात कह दिया। राजा की इस अनीति को देखकर सब लोग विस्मित होकर कहने लगे —

अब तो याके ग्राम में, बसवो नाहि लगार।
देत महादुख प्रजा को, भक्षत बालक मार ॥१॥
जब हम बालक ही मरे, प्राणन प्यारे जाहि।
तो जननी अरु तात को, जीव रहैगो काहि ॥२॥
जहाँ बालक तहँ ग्रहस्थई होत सो निहचै जान।
अरु इनही के कारणै जोरत धन अधिकान ॥३॥

फिर जहाँ बालकों का ही नाश होता है, वहाँ हम रह कर क्या करेगे ? निदान सब लोगो ने बिचार कर निश्चय किया कि यह राजा बड़ा ही दुष्ट और पापी है अतः इसे ही देश से निकाल देना चाहिए अतएव प्रात. काल होते ही सब लोगो ने मिलकर बकु को राज्य-सिहासन से उतार कर उसके गोत्रीय पुरुष को राज्य सिहासन पर बैठा दिया। कहा भी है—

जापर कोपे पंच, परमेश्वर हूता सबै।
ताते भोभविरच, कुचलन कबहु न चाहिए ॥१॥

रसोइया बच्चों को मिष्ठान देकर पकड़ता है।

लहैं न फिर सुखतेह, व्यापै अपजश लोक में।
देखो नृपसुत जेह, भूप कियो अन्याय लखि ॥२॥

तदनंतर वह राज्य भ्रष्ट होकर अनेक दुस्सह दुःखों को भोगता हुआ अपनी पाप वासना को न रोकता हुआ नगर के बाहर श्मशान भूमि मे घूमता हुआ मुर्दों का मांस खा-खाकर दिन बिताने लगा। अन्त मे वसुदेव के द्वारा मरण कर सातवे नरक में गया, जहाँ पर अगणित दारुण दु.ख सहने पडते हैं। अतएव इस मास-भक्षण को अति निंद्य एव दुःखो का जन्म-दाता जानकर सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

॥ इति मास व्यसन समाप्तम् ॥

॥ अथ मदिरा व्यसन वर्णन प्रारंभः ॥

यद्यपि इसका वर्णन तीन मकार मे हो चुका है, तथापि सप्त व्यसनो में गणना होने के कारण यहाँ भी सक्षिप्त स्वरुप कहा जाता है।

दोहा—सड उपजे प्राणी अनंत, मद में हिसा भौत।
हिसा ते अघ ऊपजै, अघ ते अति दुख होत ॥१॥
मदिरा पी दुर्बुधि मलिन, लोटै नीच बजार।
मुख मे मूतैं कूकरा, चाटैं बिना विचार ॥२॥
मानुष ह्वै कै मद पिवै, जानै धर्म बलाय।
आख मूद कूवे परै तासो कहा बसाय ॥३॥

इस मदिरा के बनाने के लिए गुड, महुआ दाख तथा बबूल आदि वृक्षों की छाल को बहुत दिनो तक पानी में सडाते है। वह सडकर दुर्गंधित हो जाती है तथा उसमें असख्यात अनन्त त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है पीछे उसको मसलकर यन्त्रो द्वारा अर्क निकालते हैं, वही खीचा हुआ अर्क, मदिरा तथा शराब व सुरा कहलाता है। वह मदिरा क्या है, मानो उसमें उत्पन्न होने वाले असख्यात अनन्त त्रस जीवो के मास का अर्क ही है और इसको प्रायः नीच जाति के मनुष्य ही बनाते है। उस अर्क में कुछ पदार्थों के स्पर्श, रस, गध, वर्ण की तारतम्यता से एक प्रकार का ऐसा नशा उत्पन्न हो जाता है। जिसको पान करने से मनुष्य अपने आप को भूलकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार-रहित हो जाता है। कहा भी है—

श्लोक— चित्ते भ्रांतिर्जायते मद्यपानाद्, भ्राते चित्ते पापचर्य्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गति यान्ति, मूढ़ास्तस्मान्मद्य नैव पेयम् ॥

अर्थात् मद्य के पान करने से चित्त मे भ्राति उत्पन्न हो जाती है और चित्त में भ्राति होने से फिर मनुष्य पाप कर्मों को करता है। पाप करके फिर दुर्गति को प्राप्त हो

जाता है । इस कारण से ही मूढ पुरुषों को तथा विवेकी जनों को शराब पीना योग्य नही है और भी कहा गया है—

श्लोक— मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या, प्रलपिति हि विकल या बुद्धया ।
मातरमपि कामयते, सात्रज्ञ मद्यपानमत: सन् ।।

अर्थात् मद्यपान करने से मदोन्मत्त हुआ पुरुष बेसुध होकर माता-पिता और गुरु को भी मार देता है और विकलबुद्धि करके झूठ भी बोलता है और मद्य पीकर माता, पुत्री, बहिन आदि की सुध भूलकर निर्लज्ज हुआ अनुचित बर्ताव भी करता है । शराबी को जब विशेष नशा हो जाता है, तब व्याकुल होकर चलता-चलता पृथ्वी पर गिर पडता है । अयोग्य बकवाद करने लगता है । जितने सन्निपात के चिन्ह है, वे सब मद्यपान में दिखाई देते है । इस पर एक कवि कहते हैं—

सवैया— कृमि राशि सुवास सराप दहै शुचिता सब छूवत जात सही ।
जिस पान किये सुधि जाए हिये जननी जन जानत नारि यही ।।
मदिरा सम और निषिद्ध कहा यह जानि भले कुल मे न गही,
धिक् है उनको वह जीभ जलो जिन मूढन के मतलीन कही ।।

इसके पीने वालो की जो दुर्गति होती है, वह आँख से नही देखी जा सकती, उसका वर्णन नही किया जा सकता । बहुत लोगो का विचार है कि मदिरा पान करना बल प्रदान करता है और भोजन को पचाने मे बहुत लाभदायक होता है, किन्तु यह विचार युक्तिसगत नही है क्योकि जितने मद्यपानी है उनको मदिरापान करने के पश्चात् कुछ समय के लिए अंगो में पुष्टता मालूम होती है और शरीर मे कुछ बल भी मालूम होता है परन्तु वह आतरिक और असली नही होता इसलिए उनका बल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार क्रोध के आवेश के समय में मनुष्य मे एक प्रकार की शक्ति आ जाती है और वह उस अवस्था में साधारण अवस्था से कुछ विशेष बल का काम कर लेता है, पर नशा या क्रोध हट जाने पर कुछ नही रहता वरन् उस समय असली बल भी कम हो जाता है । उसी प्रकार मद्यपान द्वारा प्राप्त बल की यही दशा है । जिस समय मद्य का नशा उतर जाता है उस समय उनकी हालत जब देखी जाती है तब वे अपने मुख से ही अपनी खराब दशा बताते है कि मेरा शरीर बहुत टूट रहा है, बिना मदिरा पान किये मुझमे कोई काम नही हो सकता है और वह उस वक्त बिलकुल निकम्मा हो बैठता है मद्यपान से मुर्छा, कपन, परिश्रम, भय, भ्रम, क्रोध, काम, अभिमान, नेत्रो के रक्त हो जाने आदि के सिवाय शारीरिक शक्ति भी घटती जाती है और अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है और यह मानसिक एव आत्मिक उन्नति में भी बहुत बाधा डालती है, इसको पानकर मनुष्य आत्मिक उन्नति तो कुछ भी नही कर

सकता है क्योंकि आत्म-ध्यान के लिए मन का वश करना तथा इंद्रियो को उनके विषय से पराङ्मुख करना अत्यावश्यक है, परन्तु यह बात मदिरा के सेवन करने वालो मे नही हो सकती क्योंकि यह मस्तिष्क को मैलाकर वासना तथा इच्छाओ के तृप्त करने की काक्षा को बढ़ाती है। हम लोगो की इच्छाएँ तो पहले से ही प्रबल है और यह उनको और भी अधिक बढ़ाकर उन्नति के बदले अवनति के मार्ग पर गिरा देती है। मद्यपानी का चित्त अचल रूप से पूज्यदेव पर तथा ध्येय के ध्यान करने पर तथा आत्म-विचार पर लगना सर्वथा असभव है और कहा भी है—

यावन्न मद्यमासादि जनस्तावद लोलुप‍।
मुक्ते तस्मिन्तन्मना. स्यातक्व जप. क्व च देवता‍॥

अर्थात् जब तक पुरुष मास और शराब को नही ग्रहण करता है तब तक उसका मन चचल नही होता। जब पुरुष मॉस और मदिरा को खा लेता है तब मन तो चचल हो ही जाता है, फिर देवता का ध्यान और जप उससे कहाँ बनता है अर्थात् नही बनता है। अतएव जो मनुष्य अपने को धार्मिकोन्नति के पथ पर लगाकर मोक्षसुख के प्राप्त होने की कामना रखता है, उसे मद्य-मॉसादि के परिहारपूर्वक अहिसा धर्म का प्रतिपादन करने वाले जिन धर्म को स्वीकार कर आत्म- कल्याण करना चाहिए। देखो! केवल भ्रम से मादक जलमात्र पीने से यादव अति दु.खी और नष्ट-भ्रष्ट हुए, फिर जो जान-बूझकर पीने वाले है, उनकी क्या दशा होगी? अतएव सबको मद्यपान करना सर्वथा ही छोड़ देना श्रेयस्कर है। अब मद्यपान व्यसन के सेवन करने से तीव्र दु ख उठाने वाले यादवो का उपाख्यान कहते है, जिससे उनके दुःखानुभव से सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त हो—

इस जबूद्वीप के मध्य भरत-क्षेत्र में कौशल देश के अतर्गत एक सौरपुर नामक सुन्दर नगर था। वहाँ यदुवशियो मे प्रधान महाराजा समुद्रविजय राज्य करते थे। इनके सबसे छोटे भाई थे—वसुदेव। वे पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। जिस समय मथुरा का राजा कस वसुदेव के साथ अपनी बहन देवकी का विवाह कर अपनी राजधानी मे ले गया था और सुखपूर्वक राज्य कर रहा था, उसी समय किसी कारणवश इसने अपने पिता से रुष्ट होकर उन्हे कारागार में डाल दिया था। इसकी इस अनीति को देखकर कंस के लघुभ्राता अति-मुक्तक विरक्त होकर मुनि हो गये थे। अत: एक दिन वे मुनि अहार के लिए आए। उन्हे आते हुए देखकर कस की प्रधान रानी जीवयशा देवकी का मलिन वस्त्र दिखाकर उनके साथ हास्य करके बोली—'देखो, जिसे तुमने बाल्यावस्था से ही छोड़ रखा है, उसी का यह वस्त्र है।'

वस्त्र देखकर मुनि क्रोधित होकर बोले—'मूर्खे। तू हँसती क्यो है? तुझे तो रोना चाहिए। इसी के गर्भ से प्रसूत बालक के द्वारा तेरे पिता और स्वामी दोनो की मृत्यु होगी।'

यह कहकर मुनिराज अंतराय हो जाने के कारण वन में वापिस लौट आए।

इधर मुनिमुख से यह भवितव्यता सुनकर जीवयशा बहुत दुःखी हुई। इतने में राजा कंस भोजन के लिए महल में आए और अपनी प्रिया को उदास मन देखकर पूछने लगे—'प्रिये ! आज तुम्हारा मुख-कमल कुछ कुम्हलाया हुआ मालूम होता है। क्या तुमको किसी ने दु.ख पहुँचाया है ?' तब दुखीचित्त हो जीवयशा बोली—

"हे नाथ आज मम गेहा, आये अतिमुक्ति मुनेहा।
मैं हसि रतिवस्त्र दिखाया, तब इम वच मुनी कहाया ॥—

कि हे मूर्खे ! तुझे तो शोक करना चाहिए। हँसती क्यो है ? क्योंकि इसके गर्भ से उत्पन्न होने वाले पुत्र के द्वारा तेरे स्वामी और पिता की मृत्यु होगी। बस यही मेरे दुःखी होने का कारण है।" काँता की इस दु खभरी कथा को सुनकर कस भी बडा व्याकुल हुआ। सच है, मृत्यु का भय सबसे बडा होता है। तब कुछ विचारकर कस वसुदेव के घर पर गया। वसुदेव ने कस का आगमन देख यथायोग्य आदर सत्कार किया। कस कपट भाव से वसुदेव की बहुत प्रशसा कर कहने लगा—'आप सब विद्याओं मे मेरे गुरु है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नही, परन्तु मुझे आपसे कुछ माँगना है। यदि आप कृपा करे तो बहुत अच्छा हो।'

वसुदेव बोले—'ऐसा क्यो कहते हो ? क्या कभी मैंने तुम्हारे कहने का निषेध किया है, फिर किसलिए इतना आग्रह करते हो ?'

कंस बोला—'यदि ऐसा है तो मुझे वचन दे दीजिए—ताकि मै प्रार्थना करूँ।'

जब वसुदेव वचन दे चुके तब कस बोला—'आगे मेरी बहन का प्रसूत मेरे घर पर ही हुआ करे। यह आज्ञा दीजिए।'

तब उत्तर में वसुदेव ने कहा—'अस्तु, यह तुम्हारी भगिनी है। इसकी प्रसूति तुम्हारे घर पर होने मे हमारी कोई हानि नही है।' कस अपना अभीष्ट सिद्ध हुआ जान प्रसन्न होकर अपने घर पर चला गया। उसके चले जाने के पश्चात् वसुदेव के किसी हितू ने कस के आग्रह का यथार्थ कारण बता दिया। सुनकर वसुदेव और देवकी बहुत दुःखी हुए। पर बन भी क्या सकता था ? क्योकि वह पहले ही वचन बद्ध हो चुका था, बस यही से कंस और वसुदेव में परस्पर आतरिक वैमनस्यता रहने लगी, परन्तु बाहर से वैसा ही दिखाऊ प्रेम रखते थे जिससे दूसरे उनके वैमनस्य को न जान सके।

अथानतर कुछ समय व्यतीत होने पर देवकी गर्भवती हुई। जब गर्भ सात मास का हो चुका तो कस देवकी को अपने घर ले गया और बडी सावधानी के साथ उसकी रक्षा

करने लगा। नवम् मांस संपूर्ण हो जाने पर देवकी ने युगल पुत्रों को जन्म दिया। तब देवों ने उसके पुत्रों को उठाकर उनके स्थान पर मृतक युगल ला रखा।

जब कंस को देवकी के मृतक युगल पुत्र प्रसूत होने का मालूम हुआ तभी निर्दय कंस ने उन पुत्र-युगलों को जघा पर पैर रखकर चीर दिया। कंस की यह निर्दयता देखकर देवकी और वसुदेव बहुत दु.खी हुए। आगे और भी दूसरे और तीसरे युगलों को निर्दयी कस ने इसी प्रकार मार डाला। कुछ समय बीतने पर जब देवकी के गर्भ में नवें नारायण श्रीकृष्ण ने आकर अवतार लिया तब देवकी को शुभ समाचार के सूचक आठ स्वप्न हुए। उनके फल को जानकर दोनो दम्पत्ति सुखपूर्वक रहने लगे। उधर गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने लगा। यह गर्भ पाच ही महीने का हुआ था कि कस आकर फिर देवकी को अपने घर पर ले गया और प्रतिदिन सावधानी से उनकी रक्षा करने लगा। सातवे महीने में भाद्रपद कृष्णपक्ष की अष्टमी को रात्रि के समय रोहिणी नक्षत्र में शुभ लक्षणो युक्त सुन्दर पुत्र रत्न को देवकी ने उत्पन्न किया। उस समय देवकी ने बड़ी बुद्धिमानी और सावधानी के साथ गुप्तरीति से अपनी अनुचरी को वसुदेव के पास भेजा। अनुचरी ने जाकर कहा—'महाराज! आपके पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ है। किसी प्रकार उसकी रक्षा करिये।' यह सुनते ही वसुदेव प्रसूतिगृह में गये और पुत्र रत्न को लेकर वहा से गुप्त रीति से चल दिये। उनकी रक्षा करने के लिए उनके साथ बलभद्रभी थे ये दोनो बालक को लिए हुए उस प्रतापी पुत्र के प्रभाव से कुशलतापूर्वक यमुना में से लेकर दूसरी पार वृन्दावन पहुँचे। यद्यपि यमुना वर्षा ऋतु होने के कारण किनारो को तोडती हुई बड़े वेग के साथ बह रही थी, परन्तु श्रीकृष्ण के प्रभाव से घुटना तक का जल रह गया वहां एक नन्द नाम का ग्वाला रहता था। उसकी स्त्री का नाम यशोदा था। नद ने इन्हे आते हुए देखकर विचारा कि आज किसलिए पूज्य महात्मा घर पर आये है। उनके निकट आने पर वह बोला—'महाराज! आप किसलिए पधारे है?'

तब वसुदेव ने नद को अपने पर बीती हुई सारी व्यथा कह सुनाई और श्रीकृष्ण को उन्हे रक्षार्थ सोप दिया और कहा कि—देखो, कही कस को मालूम न हो जाए नही तो किये कराये पर पानी फिर जाएगा।'

नद ने कहा—'अस्तु, ऐसा ही होगा। आप किसी प्रकार का सदेह न करे, पर मेरा आपसे यह कहना है कि मेरे यहा आज ही पुत्री उत्पन्न हुई है। आप उसे वहा ले जाकर देवकी को दे दीजिए और इस बालक को मेरे घर पर छोड़कर नि:शक हो जाइये, इससे कंस को किसी तरह मालूम नहीं होगा और पुत्री का प्रसव जानकर वह कोई विघ्न भी उपस्थित नही करेगा। यदि उसने कोई अनुचित कार्य किया भी तो आप ये न समझे कि

मेरी पुत्री की वृथा जान जायेगी। यह बालक जीवित रहा तो मै समझूगा कि मेरे सैकड़ों पुत्रियाँ हैं।'

नद की इस सहानुभूति को देखकर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और अपने पुत्र को रक्षार्थ सौपकर उसकी पुत्री को लेकर शीघ्र ही घर पर आकर देवकी को सौप दिया और आप अपने घर पर चले गये। उधर प्रातः काल होने पर कस की स्त्रियाँ जागी और पुत्री को उत्पन्न हुई जानकर अपने स्वामी से कहने लगी—नाथ! अबकी बार जानकी के पुत्री उत्पन्न हुई है। ये सुनकर कस सोचने लगा कि मेरी मृत्यु इसके द्वारा होगी या इसके पति के द्वारा। यदि इसके पति के द्वारा मेरी मृत्यु होगी तो पहले ही ऐसा उपाय न करूँ जिससे कोई इसे चाहे ही नही। ऐसा विचार कर वह उसी समय प्रसूति- गृह मे पहुँचा और वास्तव मे ही लडकी को देखकर उसको कुरुप बनाने के लिए उसकी नाक काटली और फिर देवकी को दे दी। देवकी कुछ समय पर्यत वहाँ रहकर फिर अपने घर चली गयी। इधर बालक तो ग्वाले नंद के घर दिनो-दिन शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढने लगा और उधर कस के सुख की इति श्री होने के कारण तथा भावी कुल के विनाश के सूचक उत्पात दिनो दिन बढ़ते लगे। तब कस ने किसी विचक्षण बुद्धि निमित्त ज्ञानी को बुलाकर पूछा—मेरे घर मे उत्पात क्यो होते है?

नैमित्तिक ने कहा—'राजन्। आपका कोई शत्रु वन मे वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। उसी के द्वारा आपकी जीवन यात्रा समाप्त होगी। उत्पात होने का यही कारण है।'

यह सुनकर कस मानसिक व्यथा से बहुत दु खित हुआ। उसने अपनी रक्षा का कोई और उपाय न देखकर अपने पूर्व भव के मित्र देवो का आराधन किया। वे प्रत्यक्ष हुए तब उसने उनसे कहा—'अरे मित्रो मेरा शत्रु वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। जिस प्रकार भी बने उसे निर्मूल करो।, उसी समय एक देव उसकी आज्ञानुसार पूतना कावेष धारण कर नद के घर पर पहुचा और अपने स्तनो पर हलाहल विष लगाकर बालक को दुग्ध पिलाने लगा। बच्चे ने उसकी बुरी वासना जान ली और दूध पीने के छल से उसके स्तनो को काट लिया तब कपटवेषी देव चिल्लाकर भागा। दूसरे दिन अन्य देव भी अनेक रूप धारण कर कृष्ण को कष्ट पहुँचाने के लिए आए परन्तु उस भाग्यशाली बालक का वे कुछ भी न कर सके।

देवों ने सब घटना ज्यो की त्यो कस को जा सुनाई। कस सुनकर बहुत चितातुर हुआ। निदान कस ने अपने शत्रु श्री कृष्ण को मारने के लिए यमुना से कमल लाने को 'भेजना, नाग शय्या पर शयन करना सारगधर धनुष को चलाना पाचजन्य शख को बजवाना आदि उपायों द्वारा कृतकार्य होना चाहा, पर बेचारे कस को दैव ने कुछ भी सफलता प्राप्त

नही होने दी। इससे कंस को बड़ा दु.ख हुआ। फिर उसने एक और उपाय सोचा। उसके यहां चाणूर और मुष्टिक नाम के दो पहलवान थे। कस ने उन्हे बुलवाकर एकांत में उनसे पूछा—'क्या तुम लोग शत्रु का कुछ उपाय कर सकोगे ?

उन्होने कहा—'महाराज ! आपकी आज्ञा होनी चाहिए। फिर देखो। शत्रु को यमपुर ही पहुँचा देंगे।'

यह सुनकर कंस ने बहुत ही सतुष्ट होकर मल्लशाला रचवानी आरभ कर दी और नद के पास सेवक को भेजकर कहलवा दिया—'मेरे यहाँ अखाड़े मे पहलवानो की कुश्तियाँ होंगी। तुमको भी अपने ग्वालो सहित सम्मिलित होना चाहिए।'

यह सुनकर बलभद्र ने सब वृत्तात श्रीकृष्ण से कह दिया और उधर वसुदेव ने कस का यह मायाजाल रचा जानकर अपने भाइयो के बुलाने के लिए एक दूत को सौरीपुर भेज दिया। समाचार सुनते ही यादव आ पहुचे। इधर बलदेव और श्रीकृष्ण मल्लवेष धारण कर अपने ग्वालो सहित वृदावन से चलकर मथुरा में आ पहुँचे जहाँ कस ने मल्लशाला रचवा रखी थी। पहुँचते ही श्रीकृष्ण नि.शक होकर लड़नेके लिए मल्लशालाके मध्य बैठ गये। कस ने भयभीत होते हुए अपनी आज्ञा की पूर्ति के लिए चाणूर और मुष्टिक को लडनेके लिए कहा भयभीत होने का कारण यह था कि एक तो वह पहले ही श्रीकृष्ण का पराक्रम सुन-सुनकर चितातुर हो रहा था, दूसरे यादवगण सेना सहित आ पहुँचे थे। चाणूर और श्रीकृष्ण का तथा मुष्टिक और बलदेव का परस्पर कुछ समय तक मल्लयुद्ध होता रहा। अत मे इन दोनो वीरो ने उन दोनो मल्लो को यम का अतिथि बना दिया। तब कस को अपने दुर्जेय मल्लो का मरण देखकर बहुत क्रोध आया और लाल-लाल आँखे कर श्रीकृष्ण से बोला—'क्यो रे दुष्ट ! तूने मेरे मल्लों को प्राणात कर दिया। वे तो बेचारे केवल लीलामात्र ही लड़ रहे थे यदि उन्हे तेरी यह दुष्टता मालूम हो जाती तो वे पहले ही तुझे यमपुर पहुँचा देते। अस्तु। तेरे इस अत्याचार का बदला तुझे अभी दिखा देता हूँ। मालूम होता है तेरा अत समय आ गया है।'

यह कहकर खड्ग लेकर श्रीकृष्ण को मारने के लिए कस सम्मुख आया। श्रीकृष्ण ने कंस को आते हुए देखकर और कुछ न पाकर हाथी को बाधने का खूँटा उखाडा और उसीके द्वारा उसके प्राण हर लिए। कस के मरते ही उसकी सारी सेना भाग गई और सब जगह श्रीकृष्ण की आज्ञा का विस्तार हुआ।

कंस का अग्नि-सस्कार कर अपने नाना उग्रसेन को छुड़ाकर सब यादव-गणा अपने घर आ गये। उधर जब कस राजा के श्वसुर जरासिध को अपनी पुत्री के द्वार अपने जामाता के मरण का समाचार मालूम हुआ तब उसने बडे क्रुद्ध होकर अपने छोटे

भाई अपराजित को बहुत सी सेना साथ देकर यादव-गणों का नाम शेष करने के लिए भेजा दोनों सेनाओं का भीषण युद्ध हुआ। बहुत-से लोग मारे गये। अत में श्रीकृष्ण ने अपराजित को यमपुर पहुँचा दिया। अपराजित के मरते ही, उसकी सेना को जिधर रास्ता मिला, उधर भाग गयी। उधर जरासिध ने अपने भाई का जब मरण सुना तब उसे बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय विपुल मेना लेकर मथुरा पर आक्रमण करने के लिए चल पडा। इधर जब यदुवंशियों ने सुना कि जरासिध बहुत सेना लेकर चढा आ रहा है। तब वे जरासिध से युद्ध करना अनुचित जान उसे दुर्जेय समझकर वहाँ से चल दिए और सौराष्ट्र नगरी के समीप जाकर रहने लगे। जरासिध नगरी को खाली देखकर थोडी दूर और चलकर उनको वहाँ न देखकर भागा हुआ जान नि.शक होकर अपने घरपर वापिस आकर राज्य करने लगा।

तदनतर कुछ समय व्यतीत होने पर राजग्रह के व्यापारी मिलकर व्यापार करने के लिए द्वारकापुरी मे आये। जो कि श्री कृष्ण तथा नेमिनाथ भगवान के रहने के लिए इद्र की आज्ञासे कुवेर के द्वारा निर्माण की गई थी उसको अपनी राजधानी बनाकर श्रीकृष्ण वहाँ निष्कटक राज्य करते थे और वहाँ से वहुत उत्तम उत्तम वस्तुएँ खरीदकर वापिस राजगृह आए तथा उत्तम वस्तुएँ भेंट मे देकर अपने राजा से मिले। जरासिध ने उनसे पूछा—'तुम लोगों ने किन-किन देशों की यात्रा की और अब कहाँ से आ रहे हो ?

उत्तर में व्यापारियो ने कहा—'हम लोग द्वारका गये थे।' जरासिध ने फिर पूछा—'द्वारिका कहाँ है ? उसका स्वामी कौन है ? उसका किस कुल मे जन्म हुआ है ? क्या नाम है ? कितनी सेना और कितना बल है ?

व्यापारियो ने जैसा सुना था वेसा सब वृत्तात कह सुनाया। सुनते ही जरासिध क्रोधाग्नि से भडक उठा और कहने लगा-'पापी यादव पृथ्वी पर अभी तक जीते है। अस्तु मैं उनको अभी यमपुर पहुँचाऊंगा।' जरासिध ने उसी वक्त अपने मत्रियो से परमर्श कर यादवो को आज्ञानुवर्ती होने के लिए अपने बुद्धिशेखर नाम के दूत को उनके पास भेजा। जब उन्होने आधीनता को स्वीकार नही किया तब अपनी विपुल सेना को लेकर युद्ध के लिए चल पड़ा। उधर कृष्ण ने जब सुना कि जरासिध सैन्य-सग्राम के लिए कुरुक्षेत्र मे आ चुका है तब वे भी अपनी सेना लेकर रणभूमि मे आ पहुँचे और दोनो सेनाओ मे बड़ा भारी भीषण युद्ध हुआ। अत मे जरासिध और श्रीकृष्ण की मुठभेड़ हो गयी। जरासिध ने जब शत्रु को दुर्जय समझा तो क्रोधित होकर श्रीकृष्ण को मस्तक शून्य करने के लिए चक्र चलाया तो वह चक्र श्रीकृष्ण की तीन प्रदक्षिणा देकर उन के हाथ मे आ गया। फिर श्रीकृष्ण ने उसी चक्रको जरासिध पर चलाया। चक्र ने जरासिध का मस्तक छेद दिया और फिर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। जरासिध के मरते ही उसकी सेना भी इधर उधर भाग गयी और सब जगह श्रीकृष्ण की

आज्ञा का विस्तार हुआ। श्रीकृष्ण जरासिंघ के पुत्र को राज्य देकर अपने स्थान पर वापस आ गये।

जिस समय का यह कथन है उस समय यादवो की संख्या छप्पन करोड थी। वे ससार भर में प्रसिद्ध हो गये थे। अथानंतर कुछ समय पश्चात् भगवान् नेमिनाथ का विवाह जूनागढ़ के राजा उग्रसेन को राजमती नाम का पुत्री के साथ होना निश्चित् हुआ। थोड़े ही दिनो में नेमिकुमार की बारात जूनागढ़ आ पहुँची। भगवान् तोरण के पास आए ही थे कि इतने में स्वामी ने पशुओ के हृदय द्रावक चिल्लाने का स्वर सुना। उन्होने अपने सारथी से पूछा 'ये पशु क्यो किलकार रहे है और निरपराध पशु क्यो बाँध रखे हैं ?

तब उत्तर में सारथी ने कहा—'महाराज। आपकी बारात मे जो माँसाहारी राजा आए है उनके भोजन के लिए इनको बध करने के निमित्त एकत्रित कर रखा है।'

यह सुनते ही नेमिकुमारके हृदय पर बडी चोट लगी और उसी समय अपने रथ को लौटा दिया और वे विवाह का सारा शृगार तजकर रथ से उतर गिरनार पर्वत पर जा चढ़े और जिनदीक्षा ले ली। उग्र तपश्चरण कर छप्पन दिन के पश्चात् शुक्ल ध्यानाग्नि द्वारा घातिया कर्मो का नाश करके भगवान् केवलज्ञानी हो गये। केवलज्ञान के होते ही इद्र ने आकर गिरनार पर्वत पर बारह सभाओ से सुसज्जित समवशरणकी रचना की। भगवान् को केवलज्ञान होने का समाचार सुनकर द्वारकापुरी से भी श्री कृष्ण तथा द्वारिका के लोग भगवान् के दर्शन करने को आये और उनके साथ बहुतसी स्त्रियाँ भी आयी और भगवान् का उपदेश सुनकर राजमती आदि अनेक स्त्रियो ने आर्यिकाओ के व्रतों की दीक्षा ली। बहुत से भव्यों ने उसी समय मुनि व्रत ग्रहण कर लिए। बहुतो ने अणुव्रत धारण किये। कितनो ने केवल सम्यक्त्व ग्रहण किया। उस समय भगवान से देवकी ने तथा श्री कृष्ण की स्त्रियों ने अपन-अपन अभीष्ट प्रश्न पूछे। भगवान्ने सब का यथार्थ उत्तर दिया। इसके पश्चात् बलदेव ने कुछ भावष्यवार्ता जानने की आकाक्षा से भगवान् से पूछा कि, हे भगवान् ! जो ससार में जन्म लेते है उनका मरण अवश्य होता है और यही आपके शासन मे भी उपदिष्ट है अतएव आप कृपा कर कहिये कि —

द्वारावति को नाश हेतु किम होयगो।
और कौन विधि कृष्ण मरण सो जोयगो ॥
तब बोले भगवान् बलदेव तुम शुभ करि।
सो सुन कारण भूप कहो सब इस घरी ॥

भगवान ने कहा—'बलदेव सुनो—

मद के दोष उपाय द्वीपायन मुनि ते सही।
बारह वरष सोजाय,होसी भसमी द्वारिका ॥१॥
अरु पुनि जरद्कुमार, ताके कर हरि मौत है।
यह निह्चै चित धार तपलेसीसो उवरि है ॥२॥

जिनेंद्र भगवान् के मुखारविंद से ये वचन सुनकर बलदेव ने तत्क्षण ही श्रीकृष्ण के पास जाकर यह वृत्तात कह सुनाया। सुनकर श्रीकृष्ण ने समस्त द्वारकापुरी मे यह घोषणा करवा दी कि जो कोई मनुष्य आज से मदिरापान करेगा वह राजाज्ञा का विद्रोही समझा जाकर उचित दण्ड का पात्र होगा और मदिरा सबधी जितनी सामग्री तथा पात्र जिसके यहाँ उपस्थित है वह आज ही सब ले जाकर नगर के बाहर पर्वत की कदराओ मे फेक आवे और साथ ही यह भी घोषणा करवा दी कि मेरे परिजन तथा पुरजनो मे से जिसकी दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा हो वह ले लेवे। इस समय मै किसी को नही रोकूँगा। यह राजाज्ञा होते ही मदिरा की उत्पादक सामग्री तथा पात्रो को सब लोग कदराओ ने फेक आये। श्रीकृष्ण की आठो स्त्रियो तथा उनके पुत्र और प्रजा के अनेक लोगो ने नि शक होकर जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण की। उधर यह वृत्तात जब जरत्कुमार ने सुना तो वह भी अपने कुटुम्वी जनो को समझाकर घर से निकल कर वन में गुप्त रूप से खेटक का वेष बना कर रहने लगा। जब यह वृत्तात द्वीपायन मुनि को मालूम हुआ तो वह भी द्वारकापुरी को छोडकर अन्य देश मे जाकर रहने लगे। परतु भावी को कौन रोक सकता है ? जैसाकि कहा गया है—

श्लोक.— अवश्यभावि भावाना, प्रतिकरोभवेद्यादि।
तथा दु खैर्न लिप्येन, बलराम युधिष्ठरा, ॥

अर्थात् जो होनहार है वह तो अवश्य होती है। यदि भावी को रोकने का कोई उपाय होता तो राजा नल श्रीरामचन्द्र और राजा युधिष्ठिर दु ख को प्राप्त नही होते।

तदनतर बारह वर्ष मे कुछसमय शेष रहने पर एक समय यादव गण वन क्रीड़ा करने को गये। क्रीडा करते-करते बहुत देर हो गयी तब उन्हे प्यास ने बहुत व्याकुल किया परतु वहाँ जल का कोई पता नही लगा। अन्त मे खोज करते-करते वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ मदिरा निष्पन्न सामग्री डाली गयी थी। वहा वर्षा के होने से उस मादक सामग्री में जल के मिलने से वह गर्त भर गया और वे उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुए। वे उसे जल समझकर पीकर द्वारकापुरी के पथ की ओर चल दिये। मार्ग मे ही उनको बहुत तेज नशा हो गया। वे उन्मत्त होकर नाना प्रकार की निषिद्ध चेष्टाएँ करते हुए द्वारका के पास आए। वहाँ बारह वर्ष व्यतीत हुए जान नगरी को देखने के लिए द्वीपायन मुनि आए हुए थे। उन्हे देखकरइन्हे द्वीपायन मुनि

के द्वारा नगरी के ध्वस होने की बात स्मरण हो आयी। इससे क्रोधित होकर उन्होंने मुनि को असह्य कष्ट दिया। इससे मुनि अत्यंत क्रुद्ध हुए। मुनि के क्रोधित होते ही उनके बांए कधे से अशुभ तैजस का पुतला निकला और उसके द्वारा समस्त द्वारका भस्म हो गयी।

श्रीकृष्ण को जब इस भयकर वृत्तात का ज्ञान हुआ तो वे उसी समय बलदेव सहित अपने माता-पिता को बाहर ले जाने का प्रयत्न करने लगे। परंतु सब द्वारो के कपाट बद हो गये अतएव वे उसमें सफलता प्राप्त न कर सके। श्रीकृष्ण को व्याकुल देखकर किसी देव ने कहा 'कि तुम व्यर्थ ही खेद उठा रहे हो समस्त द्वारका में तुम्हारे और बलदेव के सिवाय और कोई नहो बचेगा।'

यह सुनते ही श्रीकृष्ण समुद्र पर पहुँचे और वहाँ से जल का नाला लाकर अग्नि को शात करने लगे परतु अशुभोदय से वहजल भी तेल रूप होकर दूना-दूना जलने लगा। ठीक ही है जब दैव ही प्रतिकूल हो जाता है तब न तो पाडित्यिताकाम आती है न चतुराई। देवकी और वसुदेव अपना बचना कठिन समझकर सन्यास मरण कर उसके प्रभाव से स्वर्ग में देव हुए। देखते-देखते समस्त द्वारिकाभस्म हो गयी। इसघटना को देखकर श्रीकृष्ण और बलदेव बहुत दु खी हुए और व्याकुलचित्त होकर साश्रुपात रुदन करने लगे। बहुत देर पश्चात् कुछ धैर्य धारण कर दोनों वहाँ से चल दिए। जब वे कौशाबी नगरी के वन मे आए तब श्रीकृष्ण बहुत व्याकुल हुए। उन्होने बहुत तृषातुर होकर बलदेव से जल लाने के लिए कहा। बलदेव उनको एक वृक्ष की छाया मे बैठाकर आप जल लाने के लिए चल दिए परतु वहाँ वन मे जल कहाँ? पर वे खोज करते-करते बहुत दूरचले गये वहाँ उनको एक सरोवर दिखाई दिया। वे वहाँ पहुँचे और कमलपत्रो का पात्र बनाकर उसमें जल लेकर आने लगे। इधर उनके जाते ही श्रीकृष्ण शीतल पवन चलने के कारण वृक्ष के नीचे लेट गये और उन्हे निद्रा भी आ गयी। अकस्मात् दैवयोग से उधर जरत्कुमार आ निकले। श्रीकृष्ण के पाँव में चमकते हुए पद्म को देखकर उनके चित्त में कल्पना उठी कि यह कोई मृग सो रहा है और जो यह चमक रहा है वह उसका नेत्र है। ऐसा विचारकर उन्होने शीघ्रता से बाण चला दिया। बाण के लगते ही श्रीकृष्ण चिल्ला उठे और बोले कि—'मुझ को वन मे अकेले सोते हुए देखकर किस पापी ने बाण मारा है? मुझको मारकर उसने क्या लाभ उठाया?'

रुदन का यह शब्द सुनकर जरत्कुमार दौडे आए। देखा तो श्रीकृष्ण सिसक रहे हैं। उससे यह घटना देखी न गयी और वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुछ देर पीछे सचेत होकर कहने लगा—

हा हा तात कहा भयो, यह दुःखकारण आय।
मैं खल आय रहो तहाँ तौ भी भयो बनाय॥

श्रीकृष्ण जरत्कुमार को पश्चात्ताप करते हुए देखकर क्षमा करके बोले—'भाई ! जो होना था वह तो हो चुका। अब तुम व्यर्थ शोक न करो। मेरे कहने से तुम अभी यहाँ से चले जाओ। बलदेव आ गये तो तुमको मार डालेंगे। तुम ये सब वृत्तांत पाडवो को जाकर कह देना।'

निदान श्रीकृष्ण ने जरत्कुमार को बलदेव के आने से पहले पाडवो के पास भेज दिया और आप परलोकवासी हो गये। इतने मे बलदेव भी जल लेकर आ गये। श्रीकृष्ण को मृत्यु शय्या पर शयन करते देखकर भी मोह के वशीभूत हुए उन्हे रुष्ट हुआ जानकर प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार से विनययुक्त वचन कहते हुए जल पीने का आग्रह करने लगे। कभी उनसे हास्य करते और कभी रोने लग जाते। श्रीकृष्ण के शोक से उनकी पागलों जैसी अवस्था हो गयी। पाडवो को जब जरत्कुमार के द्वारा इस घटना का वृतात विदित हुआ तब वे भी बलदेव के पास आए और उनकी इस अवस्था को देखकर बहुत दुःखी हुए। पांडवो ने बलदेव को बहुत कुछ दिलासा दिया और श्रीकृष्ण के शव का अग्नि-सस्कार करने के लिए कहा, परन्तु बलदेव ने उनके कहने को बिल्कुल नही माना और उल्टे उनसे रुष्ट हो गये। जब देवो के प्रतिबोधन के द्वारा उनकी बुद्धि स्थिर हुई तब उन्होने श्रीकृष्ण के शव का अग्नि सस्कार कर दिया और ससार की लीला से विरक्त होकर भगवान के निकट दीक्षा ग्रहण कर कठिन तपश्चरण करते हुए अत मे समाधिमरण कर स्वर्ग मे देवहुए।

इधर पांडवो ने भी भगवान के समीप जैनेंद्री दीक्षा ग्रहण कर ली, देखो ? यादवो ने केवल अज्ञान के कारण मादक जल का पान किया, उससे जब उनकी ये अवस्था हुई कि अपने कुल सहित सब नष्ट-भ्रष्ट हुए, तब जो जानकर मदिरा का पान करते है, उनकी जाने क्या दशा होगी ? मदिरा पान से दोनो लोक बिगडते है। इसको पीकर जो अपने आपको पवित्र मानते और धर्मानुरागी कहते है, उनकी बुद्धि पर बडा आश्चर्य है क्योकि इसको बनाने के लिए पहले तो महुआ, दाख आदि पदार्थ सड़ाए जाते हैं, जब उसमें दुर्गंध पैदा हो जाती है तब उसमे अत्यन्त सूक्ष्म असंख्यात अनतत्रस जीव उत्पन्न हो जाते है, तब उन्ही का यंत्रो के द्वारा अर्क निकालते है, उसी को मदिरा कहते है और इसको नीच जाति के मनुष्य ही निकालते हैं। फिर जो इसका पान करते है, उनका धर्म कैसे रह सकता है ? कदापि नहीं रह सकता और इसके पान से अविवेकी होकर दुराचरण करता हुआ मनुष्य अन्त में दुर्गति का पात्र होता है। इसमे बहुत से शारीरिक और मानसिक कष्ट भी सहने पड़ते है। मदिरा-पान से ही यादवों का सर्वनाश हुआ, यह प्रसिद्ध हो है। अतएव मदिरा पान को अतिनिंद्य, दुर्गति एव दु खो का दाता जान कर सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यही नही, इसका स्पर्श भी नहीं करना चाहिए ॥

॥ इति मदिरा व्यसन वर्णनम् ॥

द्वारिका भस्म होनेका कारण

॥ अथ वेश्या-व्यसन-वर्णन-प्रारंभः ॥

छंद— धन कारण पापिनि प्रीति करै,
नहिं तोरत नेह जथा तिनको।
लव चाखत नीचन के मुख को,
शुचिता कब जाय छिये तिनको।
मद मांस बजारन खाय सदा,
अंध ले विसनी न करे घिन को।
गनिका संग जे शठ लीन भये,
धिक है धिक् है धिक है तिनको॥

जिस अविवेकिनी ने तीव्र लोभ के वश होकर वेश्यावृत्ति को अंगीकार कर अपने कोमल तन को अपनी प्रतिष्ठा लज्जा को अपने अमूल्य पतिव्रत धर्म को नीच लोगो को बेच दिया है, ऐसी वेश्या का सेवन करना महानिद्य है। यह वेश्या बड़ी ठगनी है। जो एक बार भी इसके पास आ जाता है उसको अपने जाल में फसाने के लिए मीठी-मीठी बाते करती है, फिर दूसरे का विश्वास तो अपने ऊपर करा लेती है परन्तु आप दूसरे के ऊपर विश्वास नही करती है और धन के लोभ से उसको अपने हाव-भाव विलास आदि के द्वारा अपने पर आसक्त कर निरतर द्रव्य हरण का प्रयास करती रहती है। इस पर एक कवि ने कहा है :—

श्लोक दर्शनात् हरते चित्तं, स्पर्शात् हरते बल।
भोगात् हरते वीर्यं, वेश्या साक्षात राक्षसी॥

अर्थः—अर्थात् देखने से मन का हरण करती है, स्पर्श करने से बल को हरती है और कामसेवन करने से वीर्य को अतएव वेश्या साक्षात् राक्षसी है। दूसरे, यह धन की दासी है। किसी पुरुष विशेष की स्त्री नही है क्योकि जब तक मनुष्य के पास धन रहता है तब तक उससे दिखाऊ प्रीति करते हुए सपूर्ण धन को हरकर अपने उस प्रेमी को मृतक के समान छोड़ देती है जैसे कि लक्ष्मी पुण्य क्षीण होने पर पुरुष को छोड़ देती है। द्रव्य को हरना तथा कष्ट आपदा और रोगों को देना ही इसका कार्य है। जो इस वेश्या का सहवास करता है और समागम करता है, यह उन अपने भक्तो को मांस, मदिरा जूआ आदि दुर्व्यंनों में फंसा कर कष्ट आपदा का कोष बनाकर सर्वस्व हरण कर उसके बदले मे उपदश मूत्रकृच्छ आदि रोग रूप पारितोषिक देकर दुर्गति का पात्र बना देती है। यह अपवित्रता की भूमि और विष की बेल है। जैसा कि कहा है—

दृष्टि विषा यह नागनी, देखत विष चढ़ जाए।
जीवन काढ़े प्राण को मरे नरक ले जाए॥१॥

हीन दीन ते लीन ह्वै, लेती अंग मिलाय।
लेती सरवस सपदा, देती रोग लगाय॥ २॥

यह सुयश तथा धर्म-कर्म का मूलोच्छेद करने वाली है। जो लोग वेश्या सेवन में फ़ंस जाते हैं, उनके जाति-पाँति, विचार, प्रतिष्ठा और लज्जा तथा धर्म-कर्म सब नष्ट हो जाते हैं। धर्महीन अविवेकी इस लोक मे निद्य गिने जाते है और परलोक में कुगति को प्राप्त होते हैं। अतएव वेश्या-सगम अति दोषो का स्थान होने से विचारशील पुरुषो के लिए सर्वथा त्यागने योग्य है। देखो। वेश्या-सेवन से सेठ चारुदत्त नाम के पुरुष ने कैसे-कैसे दु ख भोगे? उसके दु खानुभव से सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त हो, इसलिए उसका उपाख्यान कहते हैं—

इस जबूद्वीप के भरत क्षेत्र मे अंग देश के अतर्गत चम्पा नाम की सुन्दर नगरी है। उसके राजा विमलवाहन थे। उनके राज्य मे भानुदत्त नाम का एक सेठ रहता था उसकी स्त्री का नाम देविला था बहुत दिन प्रतीक्षा करने पर बडे ही कष्ट से उसे एक पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम था चारुदत्त। भानुदत्त ने पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में बहुत उत्सव किया, दान दिया, पूजा प्रभावना की। बधु-बाँधवो को बडा आनन्द हुआ। जब चारुदत्त सात वर्ष का हो गया तब इनके पिता ने इसे पढाने के लिए इसके गुरु को सौप दिया। इसकी बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरु की कृपा हो गयी। इससे यह थोडे दिनो में पढ लिख-कर अच्छा विद्वान बन गया। पढने लिखने में इसकी इतनी अधिक रुचि थी कि इसका ये एक प्रकार से व्यसन हो गया था अतएव उसे पढने लिखने के सिवा और कुछ सूझता ही नहीं था।

तदनन्तर इसकी बुद्धिमत्ता पर प्रसन्न होकर चम्पा नगरी के रहने वाले सिद्धार्थ नामक सेठ ने अपनी पुत्री मित्रावती का विवाह चारुदत्त के साथ कर दिया। यद्यपि चारुदत्त ने गृहस्थाश्रम मे प्रवेश किया, तथापि वह अपना समय पढने-लिखने के सिवाय दूसरे किसी काम में व्यतीत नही करता था।

एक दिन उसकी स्त्री अपनी माता के यहाँ गयी। उसने अपनी पुत्री को वस्त्रा भूषण सुगधादि से सुसज्जित देखकर कहा 'प्यारी पुत्री। जैसा मैंने तुझको कल सायकाल भूषणादि से सुसज्जित देखा था वैसे ही अब भी देख रही हू और चदन भी वैसा ही लगा हुआ मालूम होता है। इनका तो रात्रि के समय नियम से परिवर्तन हो जाना चाहिए था। क्या तेरा प्राणप्यारा तुझ से कुपित तो नही है?

सुनकर मित्रावती ने कहा—'माताजी। तुम अपने जामाता का मुझ पर कुपित होना समझती हो। पर यह बात नही है। उनका तो समस्त समय पढने—लिखने में ही

जाता है। इससे मेरा उनसे समागम नहीं होने पाता। अस्तु, हो या न हो, मुझे इस बात की कोई चिंता नहीं।'

पुत्री के वचन सुनते ही सुमित्रा को क्रोध आ गया। वह उसी समय चारुदत्त की माता के पास गयी और कहने लगी—सेठानी! तेरा पुत्र पढ़ा तो बहुत है, परन्तु मेरी दृष्टि में तो अभी मूर्ख ही मालूम होता है जो विवाह हो जाने पर भी स्त्रियों के सम्बन्ध की बात को बिल्कुल नहीं सोचता जानता जिन पर कि सारे ससार की स्थिति निर्भर है। यदि तुमको रात दिन पढ़ाना ही था तो मेरी पुत्री के साथ उसका विवाह करके वृथा ही इसको क्यों कुँए में ढकेली?'

सुमित्रा के क्रोधयुक्त वचन सुनकर देविला ने उसको कोमल वचनो से समझाकर उसे उसके घर भेज दिया और अपने देवर को बुलवाकर समस्त वृतांत समझाकर उसको इसका यत्न करने के लिए कहा। सुनकर रुद्रदत्त ने कहा—'आप इसकी चिता न करे मैं अभी इसका प्रबध करता हूं।'

यह कहकर रुद्रदत्त वहाँ से चल दिया और उसी चम्पापुरी में रहने वाली वसन्त तिलका नामक गणिका के निकट स्थित रूप लावण्य में प्रसिद्ध वसतसेना नामक वेश्या के पास गया और उससे कहने लगा कि—'देखो, मेरे बडे भाई का एक पुत्र है जिसका नाम चारुदत्त है और जिसका विवाह भी हो चुका है परन्तु वह अभी तक यह भी नही जानता की भोग विलासादि क्या है? अतएव तुम कोई ऐसा उपाय करो जिससे वह सब बातें जानकर काम क्रीड़ा की ओर झुक जाए। तुम्हे इसका उचित पारितोषिक दिया जाएगा।' यह कह कर रुद्रदत्त अपने घर पर चला गया और एक महावत को बुलाकर उससे गुप्त रीति से कहा—'देखो, जब हम चारुदत्त को लेकर बाजार में घूमने जावें तब तुम वसतसेना के घर के सामने दो हाथियो को लडा देना जिससे लड़ाई के कारण मार्ग न मिलने से चारुदत्त को विवश होकर उसके घर का आश्रय लेना पडे। तब सहज ही हमारे अभीष्ट की सिद्धि हो जाएगी।'

तदनन्तर एक दिन रुद्रदत्त चारुदत्त को लेकर नगर की शोभा देखने वहाँ आ निकले और महावत ने भी जैसे उसे कहा गया था उस समय वैसा ही किया। हाथियो के लड़ने से जब मार्ग बंद हो गया, तो वह चारुदत्त से बोला—'जब तक हाथियों की लडाई शात न हो जाए तब तक ऊपर चलकर ठहरो।' ऐसा कहकर शीघ्रता से हाथ पकडकर उसे ऊपर ले गया। चारुदत्त उसके मन्दिर की शोभा देखकर चकित-सा रह गया। वेश्या ने इनको बहुत आदर—सत्कार के साथ बैठाया और समय व्यतीत करने के छल से रुद्रदत्त के साथ चौपड़ खेलने बैठ गयी। खेल में रुद्रदत्त ही बार-बार हारने लगा। तब चारुदत्त ने सोचा कि चाचाजी बार-बार क्यों हार रहे है? ऐसा सोचकर कहने लगा 'चाचाजी! लाओ, एक दो बार मैं भी खेलूं जिससे आपकी जीत हो।'

सुनकर वसंततिलका चारुदत्त से कहने लगी हे सेठ के नन्दन। देखो, मैं तो अब वृद्धा हो चुकी हूँ और तुम अभी नवयुवक हो, इसलिए तुम्हारा मेरे साथ खेलना शोभा नहीं देता। तुम्हारा खेलना तो मेरी पुत्री वसन्तसेना के साथ ही शोभा देगा क्योंकि वह भी तुम्हारे जैसी ही नवयौवन सम्पन्न है। तुम अब उसी के साथ खेलना। मैं अभी उसको बुलाये देती हू।' बसत सेना बुलवाई गयी। चारुदत्त उसी के साथ खेलने लगा। खेलते हुए चारुदत्त को तृषा ने सताया। वसत सेना से पहले गुप्त मत्रणा हो ही चुकी थी अत. वह जल में कामोत्पादक नशीली वस्तु मिला लाई और उसे चारुदत्त को पिला दिया। जल के पीने के कुछ समय पश्चात ही कामदेव ने उसे पीडित किया। उसने तब अपने चाचा रुद्रदत्त से अपने घर पर चले जाने के लिए कहा। रुद्रदत्त के घर चले जाने पर आप वसतसेना को एकांत मे ले जाकर उसके साथ उसके सुरत सुख का अनुभव करने लगा। ज्यो-ज्यो यह विषय सेवन करने लगा त्यों-त्यो उसकी कामाग्नि घृत मे अग्नि के समान अधिक होती गयी वह निरन्तर वसतसेना के निकट रहने लगा और बहुत सा धन अपने घर से मगा-मगा कर उसे समर्पित कर दिया।

जब इसके पिता भानुदत्त को यह वृत्तात मालूम हुआ कि पुत्र वेश्या पर आसक्त हो गया है अतएव न तो घर आया है और न घर आने की उसकी इच्छा ही है बहुत सा द्रव्य भी नष्ट कर डाला है।

तब तो इनको बडी चिता हुई। उन्होने अपने एक अनुचर को उसे बुलाने के लिए भेजा, परन्तु चारुदत्त ने आने से इन्कार कर दिया। फिर दूसरी बार उन्होने कहलवाया— तेरे पिता असाध्य रोग, से पीडित है अत: उनका इलाज करवाना चाहिए।' परन्तु वह तब भी नही आया। कुछ दिन के अन्तर से तीसरी बार फिर सेवक को भेजा और कहलवाया— 'तेरे पिता की जीवन यात्रा समाप्त हो, चुकी है, उनका अग्नि-सस्कार तो कर आ। पर वह इस बार भी नही आया और उल्टा कहलवा दिया कि 'हमारे कुटुम्बी जनो से कह देना कि पिताजी के शव का चन्दन आदि सुगधित वस्तुओ से अग्नि सस्कार कर देवे।'

पुत्र के ये वचन सुनकर भानुदत्त ने विचारा कि अब इसका इस दुर्व्यसन से छूटना असभव है। जैसा जिसका कर्म होता है, उसीके अनुसार उसका भविष्य होगा अत मैं भी अपने कर्त्तव्य कर्म से क्यो चूकू ?'

यह सोचकर चारुदत्त के पिता ने जैनेंद्री दीक्षा ग्रहण करली और मुनि होकर विचरने लगे। उधर चारुदत्त की दिनों-दिन बुरी दशा होने लगी। बहुत-सा धन तो पहले ही नष्ट कर चुका था और रहा-सहा अब कर डाला। जब अत मे कुछ भी पास नही रहा तब अपने घर को भी गिरवी रख दिया। अंतिम परिणाम यह हुआ कि उसने अपना सब

कुछ नष्ट कर दिया। उसकी माता तथा स्त्री एक अच्छे धनाढय की ग्रहणी होकर भी अब झोपड़ी में रहने लगी। सच है कर्म का परिपाक बड़ा विचित्र होता है। जब चारूदत्त की निर्धनता का वृत्तांत बसततिलका को मालूम हुआ तब उसनें अपनी पुत्री वसंतसेना को एकांत में ले जाकर कहा "पुत्री! अब चारूदत्त बिल्कुल दरिद्री हो गया है। अतएव तुझको उचित है कि अब इससे प्रेम हटाकर किसी धनिक युवा से प्रेम कर क्यो कि वेश्याओं का यही कर्त्तव्य है कि वे द्रव्य से प्रेम करती है, किसी पुरुष विशेष से नहीं। कामदेव के समान सुन्दर शरीर होने पर भी निर्धन होने के कारण वह उसे छोड़ देती है। अभी तू बालक है। सभव है तुझको यह बात मालूम न हो इसलिए तुझको मैंने इससे परिचित करा दिया है। अब निज कर्त्तव्य का पालन कर।"

वसतसेना अपनी माता के वचनो को सुनकर कहने लगी। "माता जी! यद्यपि आप सत्य कहती है परन्तु मुझमे तो ऐसा अनर्थ नही हो सकेगा। इस जीवन में तो मेरा यही दरिद्री स्वामी होगा। ऐसा मेरा हार्दिक दृढ संकल्प है।"

वसतसेना अपनी माता के बुरे भाव जान कर निरन्तर चारूदत्त के पास रहने लगी। एक दिन अवसर पाकर पापिनी वसंततिलका ने भोजन में कुछ नशीली वस्तु मिला-चारूदत्त और वसतसेना को खिलादी। अत: भोजन करने के थोड़े समय बाद उन दोनों पर निद्रा देवी ने अपना अधिकार कर लिया। निद्रा के अधीन हुआ देख कर वसततिलका नें चारुदत्त को एक कपड़े से बाध कर विष्ठाधाम में डाल दिया। कुछ समय पश्चात वहा एक सुअर आ निकला चारुदत्त के मुख को विष्टायुक्त देखकर वह उसे चाटने लगा। चारुदत नशे में चूर हुआ कहने लगा—"प्यारी वसंतसेने! मुझे इस समय बहुत नीद आ रही है। अभी जरा मुझे सोने दो।" वह बार-बार यही कह रहा था कि इतने मे ही नगर का रक्षक कोतवाल अपने नौकरो सहित ईधर आ निकला। उसने बार-बार इसी आवाज को सुनकर अपने नौकरो से कहा देखो। इस पुरीषागार में कौन बोलता है?

नौकरों ने जव इसे बधा हुआ पड़ा देखा तो पाखाने में से बाहर निकाला और पूछा कि "तू कौन-है और यहा इस पाखाने मे कैसे गिर पड़ा है?" यह सुनकर चारुदत्त की अक्ल कुछ ठिकाने आई तब उसने उस अवस्था का समस्त वृत्तात कह सुनाया। कोतवाल ने इसे बहुत धिक्कारा और इस व्यसन की नन्दा करता हुआ अपने नौकरो सहित चला गया। इधर चारुदत्त वहा से चलकर अपने घर पर गया परन्तु द्वारपालों ने उसे भीतर नही जाने दिया। तब चारुदत्त ने उन नौकरो से कहा कि यह घर तो मेरा है फिर तुम मुझे अन्दर क्यो नहीं जाने देते?" उस पर चारुदत्त से उन लोगों ने कहा—"चारुदत्त। यद्यपि यह घर तेरा ही है, परन्तु अब तो यह हमारे स्वामी के यहाँ धरोहर रूप में रखा हुआ है, इसलिए तेरा इस पर कुछ अधिकार नही है।"

चारुदत्त ने पूछा--"अस्तु, क्या तुम यह जानते हो कि मेरी माता और स्त्री अब कहाँ रहती हैं ?"

यह सुनकर नौकरों ने उनके रहने की झोंपडी बतला दी। चारुदत्त तब अपनी माता के पास गया। चारुदत्त की माता को उसकी यह दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ। यही दशा अपने प्राणप्यारे को देखकर उसकी स्त्री की हुई। माता ने पुत्र को गले लगाया और स्नान कराकर उसको शुद्ध किया। माता ने पुत्र के लिए भोजन तैयार किया। चारुदत्त ने भोजन कर माता से कहा—"माता ! इस समय पैसा पास न होने मे हम लोग बडी दुःख-पूर्ण अवस्था में है। मेरी आकाँक्षा है कि विदेश मे जाकर कुछ धन अर्जित करूँ इस दरिद्रा-वस्था में न मुझे सुख हो सकता है और न तुम्हे, इसलिए तुम मुझे जाने की आज्ञा दो।"

जब इसके मामा को इसके विदेश जाने का वृत्तांत मालूम हुआ तो उसने आकर कहा—'यदि तुम्हारी व्यापार करने की इच्छा हो तो तुम मेरे घर पर, चलो और वहाँ पर यथेच्छित द्रव्य से व्यापार करना।'

परन्तु चारुदत्त ने इसको स्वीकार नही किया। वह बोला—"मामाजी ! अब तो मेरी विदेश जाने की आकाक्षा है।" चारुदत्त के मामा ने फिर उससे विदेश न जाने का आग्रह नही किया। चारुदत्त अपनी माता और धर्मपत्नी को सतुष्ट कर वहाँ से चल दिया। घर से निकलने पर प्रथम तो बेचारे चारुदत्त ने अति प्रयत्न और परिश्रम से कई बार धनो-पार्जन किया परन्तु अशुभोदय मे वह भी तस्करो द्वारा लूटा गया तथा अग्नि द्वारा भस्म हो गया और उसने अनेक कष्ट तथा आपदाएँ भोगी। फिर भी वह स्वर्ग मोक्ष सुख को देने वाली जिनभक्ति, पूजा, दान आदि सत्कर्मों मे प्रवृत्त रहता था। अत मे जब अधिक पुण्य कर्म का उदय आया, तब तो वह देव, विद्याधर, तथा राजा, महाराजाओ द्वारा सम्मा-नित होने लगा। अपनी कीर्ति रूप पताका को उसने अचल रूप से फहरा दिया। बडे-बडे महापुरुषो के द्वारा उसका यशोगान होने लगा। चारुदत्त की प्रसिद्धि तथा परोपकारता से प्रसन्न होकर इसके साथ विद्याधरो ने अपनी सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियो का विवाह बडे वैभव के साथ कर दिया। कुछ वर्षों तक विदेश मे ही अपनी स्त्रियो के साथ सुखोपभोग करते हुए उसने अचल कीर्ति अर्जित की। अपने घर से गये बहुत दिन हो चुके थे इसलिए अपना सब माल असबाब लेकर अपनी प्रियाओ सहित जब वह अपने घर आने लगा तब उसके साथ बहुत से विद्याधर उसे पहुचाने के लिए चम्पानगरी तक आये। महाराजा विमल वाहन ने जब चारुदत्त के विदेशागमन का समाचार सुना तो वे भी अगवानी करने को उसके सम्मुख आए और उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। चारुदत्त भी महाराजा के आगमन का समाचार जानकर बहुत प्रफुल्लित हो स्वय उत्तमोत्तम वस्तुएँ भेट मे देकर मिला। चारुदत्त

की भेंट से महाराजा बहुत प्रसन्न हुए। चारुदत्त कुमार को सुयोग्य समझकर उन्होंने अपना आधा राज्य उसे प्रदान किया। महाराज से मिलने के अनंतर चारुदत्त अपनी दुःखिनी माता और प्राणप्रिया से मिलने को गया। माता बहुत दिनो से बिछुड़े अपने पुत्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुई। चारुदत्त को स्नेह से गले लगाया और शुभाशीष दिया। अपने प्यारे प्राणनाथ को पाकर उसकी प्रिया को भी सुख हुआ।

वसतसेना को जब यह वृत्तात विदित हुआ कि उसकी माता ने चारुदत्त को पुरीषागार में डाल दिया था और वह यहाँ से चला गया था तो उसने भी अपने मन मे यह दृढ़ सकल्प कर लिया कि मेरे इस जीवन का स्वामी चारुदत्त है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी को विकार दृष्टि से नही देखूगी। इसलिए वह भी चारुदत्त का विदेशागमन सुनकर बहुत सतुष्ट हुई और चारुदत्त ने अपनी पूर्वावस्था में जितना धन उसको समर्पित कर दिया था, वह सब अपने साथ लेकर वह चारुदत्त के यहाँ आ गयी। चारुदत्त का अब सब कार्य पूर्ववत् होने लगा। उसे पुण्योदय से जो राजलक्ष्मी प्राप्त हुई, उसे वह सुखपुर्वक भोगने लगा इसके दिन आनद उत्सव के साथ बीतने लगे।

एक दिन अपने महल पर बैठा हुआ वह प्रकृति की शोभा को देख रहा था इतने में ही उसे एक बादल का टुकड़ा देखते-देखते छिन्न-भिन्न होता दिखाई दिया। उसको देखने से इसे ससार लीला भी वैसी ही प्रतीत होने लगी। वह उसी समय ससार से उदासीन हो गया और अपने बडे पुत्र को राज्य देकर बहुत से राजाओ के साथ ससार सागर से उद्धार करने वाली जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् कठोर तपश्चरण कर सर्वार्थसिद्धि में जाकर देव हुआ।

देखो! पहले तो चारुदत्त की क्या अवस्था थी। कैसा उसका वैभव था? परन्तु जबसे वह वेश्या के जाल मे फसा तब से उसकी कैसी दशा होने लगी थी? अत मे उसने कैसे असह्य दुःख भोगे। जब वह परिहारपूर्वक जिनेन्द्रभगवान के चरणारविदो का भक्त हुआ, उनके द्वारा भाषित दयामयी धर्म का सेवन करने लगा तो वही अब स्वर्ग भोक्ता हुआ अतएव भव्य जीवो को उचित है कि चारुदत्त की कथा पर पूर्णतया विचार कर इस धर्म कम, पवित्रता, सत्यता, और दया का मूलोच्छेदन करने वाली वेश्याओ के सेवन का दूर से ही त्याग करे।

(इति वेश्या व्यसन कथन समाप्तम्)

।। अथ खेटक व्यसन-वर्णन-प्रारंभः ।।

अपनी रसना इन्द्रिय की लोलुपता से तथा अपना शौक पूरा करने के लिए अथवा कौतुक निमित्त बेचारे निरपराधी, भयभीत, अरण्यवासी पशु पक्षियों को मारना—इससे

बढ़कर और क्या निष्ठुरता तथा निर्दयता हो सकती है ? देखो, जैसे हमें अपने प्राण प्रिय होते हैं और जरा-सा कॉटा लग जाने से अत्यन्त दुःखी होते है, इसी प्रकार वे भी सुख-दुःख, आनन्द और पीड़ा का अनुभव करते हैं। खाद्य पदार्थ तथा जल के न मिलने से दु.खो होते हैं। चोट लगने से कष्ट पाते है। प्यार करने और भोजन पाने से हर्षित होते है। मनुष्य की तरह खाते है, पीते है, हँसते है. रोते हैं, बोलते है, सोते है, और अन्य कार्य करते हैं। अपने सहवासियों के साथ आनन्द मे मग्न हुए तृणादिक से उदरपूर्ति करते वन में ही आनन्द से दिन व्यतीत करते हैं। ऐसे निरपराधी मृगादिक जीवो को अनेक प्रकार के छलछद्मो द्वारा विश्वास उपजा कर उनके प्राणो का सहार करना अन्याय और निर्दयता है। इस शिकार के व्यसनी मनुष्य का हृदय बडा ही कठोर और निर्दय होता है। जैसा कि कहा गया है—

कानन मे बसैरो सो आनन गरीब जीव, प्रानन सो प्यारो प्रान पू जी जिस यहै है।
कायर सुभाव धरै काहू सो न द्रोह करै, सबही सो डरै दात लिये तृण रहै है॥
काहू सो न रोष पुनि काहू पै न पोष चहै, काहू के परोष पर दोष नाहि कहै है।
नैक स्वाद सारिवे को ऐसे मृग मारिवे को हाहारे कठोर! तेरो कैसे कर बहै है॥

इस शिकार के व्यसनी मनुष्यो का हृदय बडा ही कठोर और निर्दय होता है। बुद्धि उनकी बडी क्रूर होती है और निरतर उनके हृदय मे छलछिद्र और विश्वासघात रूप पाप वासनाएँ जाग्रत रहती है। बहुत से लोग इस व्यसन के सेवन को बडी वीरता का काम बताते है, परन्तु वह केवल उनकी स्वार्थांधता है। वीरो का कर्तव्य है कि निस्सहाय, गरीब, दीन अनाथ जीवो की कष्ट से रक्षा करे, वही सच्चा बलवान् क्षत्रिय है। जो बलवान् होकर इस निद्य, निर्दयी और दुष्ट कृत्य मे अपने बल का प्रयोग करता है वह वीर नही किन्तु धर्म-हीन अविवेकी है। वे इस निर्दय व्यसन के द्वारा इस लोक मे निद्य और दु.खित होते है, व परलोक में कुगति को प्राप्त होते है। देखो! इसी व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त राजा राज्य भ्रष्ट होकर नरक गया। उसके दु खो से परिचित होनें से सर्वसाधारण को शिक्षा प्राप्त हो, अतः उसका उपाख्यान कहते हैं—

इस जम्बूद्वीप मे भरत क्षेत्र के अतर्गत उज्जयिनी नाम की नगरी है। जिस समय का यह उपाख्यान है, उस समय वहा के राजा ब्रह्मदत्त थे। ब्रह्मदत्त को शिकार खेलने में बड़ी रुचि थी। उससे भी अधिक धर्म-सेवन में उसकी अरुचि थी ठीक ही है, 'ऐसे निर्दयी परिणामी का धर्म से कैसा सम्बन्ध ? वह प्रतिदिन शिकार खेलने जाया करता था। जब उसे शिकार मिल जाता तो बहुत प्रसन्न होता और जब नही मिलता तो उससे भी अधिक दु'खी होता। इस प्रकार राज्य करते-करते बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन की बात है कि जब वह शिकार के लिए गया तो उसे किसी वन मे मुनिराज के दर्शन हो गये। मुनिराज जी

एक पाषाण की शिला पर ध्यानारूढ़ स्थित थे। मुनि के प्रभाव से ब्रह्मदत्त को उस दिन शिकार नही मिला और वह अपने घर लौट आया। दूसरे दिन भी वह शिकार खेलने को गया, परन्तु उसे शिकार नही मिला। यह देखकर ब्रह्मदत्त बड़ा क्रोधित हुआ उसने मुनि से बदला लेने के लिए फिर एक दिन यह दारुण कर्म किया कि उधर मुनिराज तो नगर में आहार के लिए गए और इधर ब्रह्मदत्त ने आकर मुनिराज के ध्यान करने की शिला को अग्नि की तरह गरम करवा दिया। मुनिराज भोजन कर नगर से वापिस आए और निःशक हो उसी शिला पर ध्यान करने के लिए बैठ गये। बैठते ही मुनिराज का शरीर जलने लगा। असह्य वेदना होने लगी, परतु मुनिराज निश्चल रूप से घोर उपसर्ग सहते रहे। अन्त में कुछ काल व्यतीत होने पर शुक्ल ध्यानाग्नि से कर्मों का नाश कर अन्तःकृत केवली हो अनतकाल स्थायी अविनश्वर धाम में जा बसे।

इधर सात दिन भी न बीत पाये थे कि इस घोर पाप कर्म के उदय से ब्रह्मदत्त के सारे शरीर में कोढ़ निकल आया। उसे इससे इतनी असह्य पीड़ा हुई कि वह इस पोड़ा से एक जगह बैठ भी नही सकता था और अन्य लोग भी उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। जब उसने देखा कि इस व्याधि की निवृत्ति होना असाध्य है तो उसने अति दुखी हो जीवित ही तन को अग्नि मे भस्म कर डाला और इस आर्तध्यान से मरकर सप्तम नरक मे गया। नरक में उसने तैंतीस सागर पर्यंत छेदन, भेदन, यन्त्रो के द्वारा पिलना और अग्नि में जलना आदि कठिन-कठिन दुख भोगे। वहाँ से निकलकर तिर्यच गतियो में भी अनेक बार जन्म-मरण करता हुआ अन्त में फिर नरक मे गया। वहाँ उसने बहुत दुःख सहे।

कथा तहाँ के दुःख की, को कर सकै बखान।
भुगतै सो जानै सही, कै जाने श्री भगवान॥

अतएव बुद्धिमानों को उचित है कि इस निर्दयी व्यसन को अति निंद्य, दुर्गति एवं दु.खो का दाता जान कर सर्वथा त्याग करे। देखो इस ही व्यसन के कारण ब्रह्मदत्त को नरक के दु.ख भोगने पड़े। उसने उस पाप से कितने-कितने दुःख भोगे, उनको लेखनी से, लिखना भी असभव है।

॥ इति खेटक व्यसन वर्णन समाप्तः॥

॥ अथ चोरी व्यसन वर्णन प्रारंभः॥

बिना दिये किसी की वस्तु लेने को चोरी कहते है। चोरी करने में आसक्त हो जाना चोरी व्यसन है। जिनको इस निंदनीय कर्म को करने का व्यसन पड़ जाता है, वह धन-सपत्ति युक्त होते हुए भी तीव्र लोभ के वशीभूत हो महान् कष्ट आपदा का कारण जानते

हुए भी चोरी करता है। ऐसे पुरुषों का न तो कोई विश्वास करता है और न कोई अपने समीप बैठने देता है। चोर से सब ही जन भयभीत रहते हैं। वह आप भी सदैव भयभीत रहता है। प्रति क्षण प्राण जाने तक का सकट उपस्थित रहता है। धन का हरण करना तो चोर का काम है ही। यदि धन का हरण करते हुए कोई जाग्रत हो जाए और रोके तो चोर प्राणों का भी हरण कर लेता है। पकडा जाए तो आप भी अनेक दु.खों का भागी होता है। शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने पडते है। राजदड, जातिदड के दु.ख भोगकर निंदा का पात्र बनते परभव मे नीच गतियो के दु ख भोगते है। ऐसा जानकर दृढचित्त शुभबुद्धि पुरुषो को उचित है कि दूसरे की भूली हुई अथवा मार्ग मे पडी हुई तथा अपने पास धरोहर रखी हुई वस्तु को दबा लेने की इच्छा न करे और न बहुमूल्य पदार्थ के बदले मे अल्पमूल्य पदार्थ देने की तथा न बहुमूल्य में अल्पमूल्य को मिला कर देने की इच्छा करे क्योकि ये सब चोरी के ही पर्याय है। देखो, इस चोरी के कारण ही शिवभूति पुरोहित कितनी-कितनी आपदाओ को भोगकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। उदाहरणार्थ उसका उपाख्यान प्रस्तुत है जिससे उसके दुःखों से परिचित होने से सर्वसाधारण इन अन्याय रूप असत्क्रियाओ से चित्त को हटाकर सत्क्रिया में प्रवृत्ति करेगे—

इसी भरतक्षेत्र के अतर्गत बनारस नगर मे जयसिह नाम का राजा अपनी विदुषी महारानी जयवती सहित राज्य करता था। उसके नगर में शिवभूति नाम का पुरोहित रहता था। शिवभूति बड़ा सत्यवादी था। उसकी इस सत्यता के कारण वह सत्यघोप के नाम से स्मरण किया जाता था। राजा इसे सत्यवादी समझकर इसका बहुत सम्मान करता था। इसी विश्वास के कारण लोग इसके यहाँ अपनी अमानत धन रख जाया करते थे।

एक दिन पद्मपुर के सेठ धनपाल ने दैवयोग से द्रव्योपार्जन करने के लिए देशातर जाने का विचार किया और वहाँ से चलकर इस बनारस नगर मे आया। चित्त मे विचारने लगा कि अपना धन धरोहर किसके यहाँ रखूँ ? उसने वहाँ के लोगो से पूछा तब निर्णय हुआ कि सत्यघोष नाम का पुरोहित निष्कपट और महासत्वादी है। धनपाल लोगो के कथनानुसार सत्यघोष के पास गया और सविनय निवेदन करके बोला—महाराज। मै आपकी सेवा में इसलिए आया हूँ कि मेरे पास पाँच-पाँच करोड के चार रत्न है। मैं उन्हे वस्त्र में बाँधकर आपको सौप देता हूँ। आप सावधानी से इनकी रक्षा करे। यदि दैवयोग से मुझे कदाचित धनहानि उठानी पडी तो मै इनसे अपनी जीवन लीला सुखपूर्वक व्यतीत कर सकूँगा। धनपाल पुरोहित के पास अपने रत्नो को रखकर विदेश गमन के लिए चला गया। वह बारह वर्ष तक विदेश मे रहा। उसने वहाँ व्यापार के द्वारा बहुत सा धन अर्जित किया। जब वह जहाज से वापस आ रहा था तो दैव के दुर्विपाक से उसका जहाज मार्ग मे फट गया अर्थात टक्कर

खाकर टुकड़े-टुकड़े होगया। उस बेचारे का समस्त धन जहाज के साथ ही डूब गया परंतु उसे एक लकड़ी का टुकडा हाथ लग गया जिससे वह उसके आश्रय से कठिनाइयों को उठाता हुआ समुद्र के तट पर आकर अपने नगर में आ गया। उसने जिनमदिर में जाकर भगवान के दर्शन कर उनका गुणानुवाद किया और मार्ग जनित श्रम की निवृत्ति के लिए दो दिवस पर्यंत वही ठहरा। तीसरे दिन वह पुरोहित महाराजके पास पहुँचा। पुरोहितजी महाराज सेठ को देशात से उल्टा आया जान झट से चल चलकर अपने सभानिवासी मनुष्यों से कहने लगे—'देखो, शकुन के द्वारा जाना जाता है कि आज मुझ को कोई बडा भारी कलक लगेगा।' बेचारे सभास्थित सरल स्वभावी मनुष्यों ने उसके हृदयस्थित कपटको न जानकर कहा—'महाराज! आप तो महासत्यवादी है। भला आपको कैसे कलक लग सकता है।' लोग यह ही कह रहे थे कि इतने में मलिन वस्त्र पहने हुए धनपाल वही आकर उपस्थित हो गया और नमस्कार करने के अनतर अपना समस्त वृत्तात निवेदन कर कहने लगा—"महाराज! आप मेरी अमानत वस्तु दे दीजिए।" कुछ न सुनने की चेष्टा दिखाते हुए सत्यघोष ने कहा—"भाई! दैव की गति विचित्र है। जैसा भाग्य उदय होता है वैसा ही भोगना पडता है। अच्छा, ठहरो, तुम्हे कुछ दान दिये देता हूँ जिससे तुम फिर अपना प्रबन्ध कर लेना।"

पुरोहित का कहना सुनते ही सेठ का रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा और कहने लगा—"महाराज! यह आप क्या कहते है? मुझे तो आप के दान की आवश्यकता नही है। आप तो केवल मुझे मेरे रत्न दीजिए।'

रत्नो का नाम सुनते ही सत्यघोष के कपट-क्रोध का कुछ ठिकाना नही रहा। वह लाल आंखे बनाकर बोला—"देखो, यह कैसा झूठ बोल रहा है। मैंने तुमलोगों से पहले ही कहा था कि मुझको आज का दिन अच्छा नही है। वही होकर रहा।"

तत्रस्थित मनुष्यों ने भी हाँ मे हाँ मिलाकर कहा—"महाराज! बेचारे का सब धन नष्ट हो गया है। उसी के कारण यह विक्षिप्त-सा मालूम होता है क्योंकि धन के नष्ट हो जाने से बुद्धि ठिकाने नही रहती। भ्रम सा हो जाता है।"

बेचारे धनपाल को सभी ने विक्षिप्त ठहराकर घर से बाहर निकलवा दिया। तब धनपाल ने राजा के पास जाकर पुकार करी। अपना सब वृत्तात कह सुनाया। परतु उसका भी कुछ फल नही हुआ। सब उसे ही विक्षिप्त बताने लगे। निदान धनपाल को उसी दुःखी दशा में लौट आना पडा। उसकी कुछ सुनाई नही हुई। वह अपने निर्वाह का कुछ उपाय न देखकर जिनमदिर में जाकर रहने लगा। जो कोई श्रावक उसे बुलाकर ले जाताउन्ही के यहाँ जाकर वह भोजन कर आता और जिनमदिर में ही रहा करता था।

अत में उसने एक युक्ति की। जब अर्द्ध रात्रि होती, तब वह राजा के महल के नीचे

एक वृक्ष पर बैठकर उच्च स्वर से पुकारता—"महाराज ! आप धर्म-अधर्म के जानने वाले हैं। आप को मेरी प्रार्थना पर ध्यान देना चाहिए कि जब मैं समुद्र यात्रा करने को गया था तब पाँच करोड़ की लागत के चार रत्न आपके पुरोहित के पास रख गया था। जब मैं समुद्र यात्रा से लौटकर आने लगा, तो दैव के दुर्विपाक से मेरा जहाज फट गया और मै बड़ी कठिनाई से निकला। अब मै अपने रत्न वापिस मॉगता हूँ तो मुझे देता नही है। उल्टा मुझे विक्षिप्त बताकर प्रसिद्ध कर दिया। आप मुझे मेरे रत्न दिलवा दीजिए।"

इसी तरह प्रतिदिन वह चिल्लाने लगा। ऐसा करते-करते उसे बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन रानी जयवती ने महाराज से कहा—"प्राणनाथ ! यह मनुष्य कौन है जो बहुत दिनों से रत्नो के लिए पुकारता है ?" तब राजा ने कहा—"यह मनुष्य विक्षिप्त हो गया है।" महारानी बोली—'नाथ ! आप इसे विक्षिप्त बताते है यह नही समझ में आता कि इसमें विक्षिप्त होने की बात क्या है ? विक्षिप्त मनुष्य एक ही बात को बहुत दिनो पर्यंत नही कह सकता वरन् अनेक प्रकार के वचन कहता है। मुझे मालूम होता है कि इस बेचारे नि सहाय के न्याय की ओर आपका लक्ष्य ही नही जाता।"

उत्तर मे महाराज बोले—"यदि तुम इसे निर्दोष समझती हो तो तुम ही इसका न्याय करो।

महाराज के वचनो को सुनकर महारानी जयवती ने इसकी परीक्षा का भार अपने ऊपर ले लेना स्वीकार किया और कहा—"महाराज ! आपको इतनी देर यहाँ ही ठहरना होगा।"

राजा ने कहा—"अस्तु, स्वीकार है।"

महारानी ने उनसे चौसर खेलना आरभ कर दिया। इतने में पुरोहित महाराज भी वहाँ पहुँच गये और आशीर्वाद देकर तिथिपत्र पढने लगे। जब वे अपना पाठ पूरा कर चुके तो महारानी ने उनसे भी खेलने के लिए कहा। पुरोहित जी बोले—'महारानी ! मै क्षुद्र पुरुष आपके साथ कैसे खेल सकता हूं ?" महारानी बोली—"आपने ये अच्छा कारण बतलाया। क्या पिता पुत्री के साथ नही खेल सकता?"

महाराज ने भी महारानी के वचनो का समर्थन कर कह दिया—"पुरोहित जी, खेलिए। इसमे क्या दोष है ?"

महाराज के आग्रह से बेचारे पुरोहित को खेलना पडा। खेलते-खेलते महारानी ने अपनी चतुरता से एक चाल चली। वह पुरोहित जी से बोली—'महाराज ! अब ऐसा

कीजिए कि आप मुझे खेल में हरा देंगे तो मै अपनी मुद्रिका आपको दे दूगी और यदि मैंने आपको हरा दिया तो आप अपनी मुद्रिका दे देना।

पुरोहित जी ने लोभवश रानी के इस वचन को स्वीकार कर लिया। अब दोनो वास्तविक हार जीत से खेलने लगे। महारानी ने उनके साथ मे चौसर खेलकर मुद्रिका जीत ली और अपनी दासी को गुप्तरूप से मुद्रिका देकर धनपाल वाले रत्नो के लेने के लिए उनके घर पर भेजा। दासी ने पुरोहित के घर जाकर वह मुद्रिका दिखाकर कहा—"देखो, पुरोहित जी ने यह अपनी मुद्रिका की निशानी देकर कहलवाया है कि इसके देखते ही धनपाल के जो चार रत्न रखे हुए है वे दे देना।" वह बिगड कर बोली—"जा, चली जा यहाँ से। जाकर कह देना मेरे पास कोई रत्न नही है।

दासी चली आई। आकर अपनी स्वामिनी को ज्यो का त्यो सारा वृत्तात कह सुनाया। रानी ने दूसरी बार पुरोहित के गले का हार जीत लिया। उसे दासी को देकर फिर ब्राह्मणी के पास भेजा। दासी फिर पुरोहित की स्त्री के पास गयी और जाकर कहने लगी—"देख! तेरे स्वामी ने अबकी बार हार की निशानी देकर मुझसे कहलवाया है कि मै बडे सकट मे फस गया हूं यदि मुझको जीता देखना चाहती हो तो हार के देखते ही रत्नो को दे देना।" ब्राह्मणी ने अपने पति को सकट मे आया हुआ जानकर शीघ्रता से घर मे से उन्ही चार रत्नो को हार को लाने वाले को दे दिया। महारानी ने उन रत्नो को लेकर खेलना बन्द कर दिया और शिवभूती की जो मुद्रिका तथा गले का हार जीता था वह उसको वापिस देकर कहा—"पुरोहित जी अब समय बहुत होगया है अतएव खेलना बन्द कीजिए।" महारानी के कहने से उसी समय ही खेल बन्द कर दिया गया। तत्पश्चात् रानी जयवती उन रत्नो को अपने स्वामी को गुप्त रीति से देकर वहाँ से विदा हुई। महारानी के चले जाने के अनतर राजा ने शिवभूति से पूछा—"पुरोहित जी! चोरी करने वालों के लिए नीति शास्त्रो मे क्या दण्ड-विधान है?"

सुनते ही सत्यघोष कहने लगा—"महाराज! या तो उसे सूली पर चढ़वाना चाहिए या तीक्ष्ण शस्त्रो द्वारा उसके खड-खड करा देना चाहिए।"

इस पर कुछ न कहकर महाराज ने वे चारो रत्न पुरोहित जी के सामने रख दिए और कहा कि—"पापी, द्विज कुलकलक, कह तो सही, अब इस पाप का तुझे क्या दण्ड देना चाहिए? तूने बेचारे भोले पुरुषो को इस तरह धोखा देकर ठगा है।"

पुरोहित जी रत्नों को देखते ही चित्रलेख के समान निश्चल हो गये। मुख की कांति जाती रही। महाराज फिर बोले—"पुरोहित जी! आपको सूली का सुख तो अभी दिलवा देता, परतु आपने ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है इसलिए इससे आपकी रक्षा करके

कहा जाता है कि मेरे यहा चार मल्ल है। तुम या तो उनमें से प्रत्येक के हाथ की चार चार मुक्को की मार या एक थाल गोबर की भक्षण करो। यदि ये दोनो अस्वीकृत हो तो अपना सर्वस्व मेरे सुपुर्द कर देश छोड़कर चले जाओ।"

निदान उसने अपने लिए दण्ड की योजना सुनकर चार मल्लो द्वारा मुक्कियाँ सहना स्वीकार किया। राजाज्ञा होने पर मल्लो ने घूसे लगाने आरभ किये। घूसों की मार पूरी भी नही हुई थी कि सत्यघोप के प्राण निकल गये। पाप का उचित दड मिल गया। पुरोहित जी आर्तध्यान से मरकर सूर्य की गति मे गये। तदनतर महाराज ने धनपाल को बुलाया। उसकी प्रशसा कर उसके रत्न और वहुत सा परितोषिक देकर धनपाल को उसके घर पर पहुचा दिया। बुद्धिमानों! देखो, चोरी कितनी बुरी आदत है। चोरी के करने से पाप का बन्ध होता है। सब गुण नष्ट हो जाते है। धन का नाश हो जाता है। कुल को कलक लगता है। शारीरिक, मानसिक अनेक कष्ट उठाने पडते है। राजदड, जातिदड के दुख भोग निंदा और कुगति का पात्र बनना पड़ता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"चिता तजैं न चोर रहत चौकायत सारे,
पीटैं धनी विलोक लोक निर्दयि मन मारे।
प्रजापाल करि कोप तोप सों रोप उडावै,
मेरे महादुख पेखि अत नीची गति पावै।
अति विपत मूल चोरी विसन, प्रगट त्रास आवै नजर।
वित्त पर अदत्त अगार, गिन नीतिनिपुन परसे न कर॥"

ऐसा जानकर बुद्धिमान पुरुषों को उचित है कि इस दारुण दुखदाई पाप कर्म का परित्याग कर आत्मा को पूर्ण शाँति देने वाले पवित्र जिन शासन की शरण ग्रहण करें।

॥ इति चोरी व्यसन वर्णन समाप्त: ॥

॥ अथ परस्त्री व्यसन प्रारभः ॥

देव, गुरु, धर्म और पचो की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण की हुई स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो के साथ समागम करने मे आसक्त हो जाना परस्त्री व्यसन कहलाता है। परस्त्री सेवन करने वालो के धर्म, धन, यौवन आदि उत्तम पदार्थ सहज ही नष्ट हो जाते है। लज्जा, मर्यादा, उज्वल सुयश, सत्यता, अचौर्य आदि उत्तम गुण नष्ट होकर राजदड, जातिदड जनित धन हानि और शारीरिक कष्ट को प्राप्त हो निंदा एव परलोक मे नरक आदि कुगतियों के पात्र बनते है। कहा भी है—

कुगति बहन गुण गहन, दहन, दावानल सी है ।
सुजश चंद्र घन घटा, देह कृश करनखड है ।
धन सर सोषण धूप धरम दिन सांझ समानी ।
विपति भुजंग निवास, बांबइ वेद बखानी ।
इहि विधि अनेक औगुण भरी, प्राण हरन फासी प्रवल ।
मत कर कुमित्र यह जानि जिय, परवनिता सो प्रीतिपल ।।

इस पापाचार से होने वाली हानियों का विचार कर बुद्धिमानो को उचित है कि इसका शुद्ध चित्त से सर्वथा परिहार करे । जो परस्त्री ससर्ग का परित्याग कर देते है वे ससार में निर्भय हो जाते हैं । उनकी उज्जवल कीर्ति सब दिशाओ मे विस्तृत हो जाती है । देखो, इसी व्यसन की इच्छा तथा उपाय करने मात्र से त्रिखड का स्वामी रावण मरकर नरक में गया । उसके कुल मे कलक लगा और लोक मे अब तक उसका अपयश चला आता है । अब यहाँ पर उसी के उपाख्यान का वर्णन किया जाता है जिससे उसके तज्जनित दुःखो से परिचित होने से सर्वसाधारण इस अन्याय रूप असत्कर्म का परिहार कर सत्कर्म मे प्रवृत्ति करेगे—

राक्षस द्वीप के अतर्गत लका नाम की नगरी में राक्षसवशीय त्रिखडेश रावण अपनी विदुषी प्रधान महारानी मदोदरी सहित प्रजा का पालन करता था । रावण के कुम्भकर्ण और विभीषण नाम के दो भाई थे और इद्रजीत तथा मेघनाथ आदि बहुत से उसके पुत्र थे । रावण बड़ा प्रतापी, भाग्यशाली और महान् पराक्रमी था । सब राजा-महाराजा उसका आदर करते थे । रावण का बहनोई खरदूषण था उसकी राजधानी अलकारपुर थी । वह भी रावण के समान त्रिखडाधिपति और महाबली था । राक्षसवशी तथा वानरवशी सब इसके आज्ञाकारी थे ।

एक समय कैलाश पर्वत पर जब केवली भगवान की गधकुटी मे विद्याधर आदि सभी धर्मोपदेशामृत का पान करने आये थे । उस समय सब ने धर्मोपदेश श्रवण कर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार व्रत, नियम आदि ग्रहण किये । तब रावण ने भी अपनी सुन्दरता के घमड मे आकर यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि जब तक मुझे परस्त्री न चाहेगी, तब तक मैं बलात्कार से उसके साथ समागम नही करूंगा ।

तदनतर रावण व्रत धारण कर अपने घर पर चला गया और फिर सुखपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा । अब रावण ने जो दूसरे की स्त्री हरी थी, वह कौन थी किसकी स्त्री थी और कैसे हरी थी, ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर इस कथा से सम्बन्ध रखने वाले रामचन्द्र की कथा इस प्रकार है—

कौशल देश के अंतर्गत अयोध्या नाम की नगरी में राजा दशरथ राज्य करते थे ।

इनका जन्म इक्ष्वाकु वंश में हुआ था। ये नीतिज्ञ और बुद्धिमान थे। इनके चार रानियाँ थीं। उनके नाम क्रमशः कौशल्या, सुमित्रा, केकई तथा पराजिता थे। चारो के क्रमशः रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये चार पुत्र हुए। अपने सुशील पुत्रो के साथ महाराज दशरथ आनंद भोगते हुए सुखपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करते थे। बड़े-बड़े राजा महाराजा इनकी आज्ञा के अधीन थे।

एक दिन उन्होने दर्पण मे अपने मुखमडल की शोभा का निरिक्षण करते हुए कानों के पास एक श्वेत केश देखा। इसके देखने मात्र से इनके हृदय मे वैराग्य का अकुर उत्पन्न हो गया। वे विचारने लगे कि 'काल के घर का दूत अब आ पहुँचा है इसलिए इन विषयो से इद्रियो को खीचकर अपने वश करूँ। इन इद्रियजन्य क्षणिक सुखो को मैने बहुत दिन भोगा है। अब इस अतिम अवस्था में मुझको उचित है कि राज्यभार को रामचन्द्र को सौपकर अविनश्वर मोक्ष महल के देनेवाली जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार करूँ।' इसके पश्चात् अपने विचारानुसार राजा दशरथ ने अपने सब कुटुम्बी जनो को बुलाकर उनके समक्ष रामचन्द्र को राज्यभार देना चाहा। जब यह वृत्तांत रानी केकई को मालूम हुआ तो वह उसी समय राजा के पास आई और अश्रुपात करती हुई बोली—"महाराज! मुझ दासी को अकेली छोडकर आप कहाँ जाते हैं? मै भी आप के ही साथ चलूँगी। आपके न होते हुए मुझे पुत्र और राज्य से क्या प्रयोजन? कुलवती विदुषी स्त्रियों को अपने पति के साथ बन में भी क्यों न रहना पड़े, उनके लिए वही सुखस्थल और महलो से भी बढकर सुखदाई है।" दशरथ बोले—"प्रिये! तुम मेरे साथ वन मे चलकर क्या करोगी? तुम यहाँ रहकर अपने पुत्र को सुखी देखते हुए आनदपूर्वक अपने दिन बिताओ।"

यह सुनकर भरत बोल उठा—"पिताजी! मुझे घर मे कुछ प्रयोजन नही है। आपके साथ ही साथ मै भी दीक्षा धारण करूँगा।"

भरत का भी दीक्षा लेना जानकर केकई बोल उठी—"प्राणनाथ! जो आपने मुझे स्वयवर के समय वचन दिया था, वह यदि आपको स्मरण हो तो मुझे देकर मेरी आशा पूर्ण कीजिए।"

उत्तर में दशरथ ने कहा—"प्रिये! यह न समझो कि मै अपने वचन को भूल गया हूँ। मुझे भली प्रकार स्मरण है तुम्हे जो अभीष्ट हो वही माँगो। मै तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा क्योकि सब ऋणो मे वचन ऋण बडा भारी है।"

यह सुन केकई नीचा मुख कर बोली—"प्राणनाथ। यदि आपका आग्रह है तो सुनिये! खेद की बात यह है। इधर तो आप चले और उधर पुत्र भी दीक्षा लेना चाहता है। ऐसी अवस्था मे पति और पुत्र रहित होकर मैं अभागिनी ही अकेली रहकर क्या

करूँगी ? अतएव यदि आप उचित समझते हैं तो भरत को अपना राज्य और राम को वनवास दीजिए ।"

केकई की यह बुरी भावना जानकर राजा दशरथ चिता के मारे चित्रलिखित से हो गये । मुखकमल काँतिविहीन हो गया । वे विचारने लगे कि यदि इस समय भरत को राज्य नही देता तो मेरे वचनों को कलक लगता है और भरत को राज्य दे भी दिया जाय तो कुछ नहीं परन्तु मुझसे यह कैसे कहा जा सकेगा कि रामचन्द्र तुम वनवास सेवन करो, अब यह राज्य भरत को दिया जाएगा । वे इस चिता के मारे मन ही मन बडे दुःखी हो रहे थे कि इतने मे ही श्री रामचन्द्र आ पहुचे और पिताजी के मुख को निष्प्रभ देखकर मन्त्रियों से पूछने लगे—"पिताजी, आज कुछ चितायुक्त क्यो मालूम पडते है ?"

उत्तर मे मन्त्रियों ने चितत होने का समस्त वृत्तांत कह सुनाया । सुनते ही रामचन्द्र बडी धीरता के साथ बोले—"क्या यही छोटी—सी चिंता महाराज के दुःख का कारण है ? इस लघु वार्ता के लिए पिताजी को चितत नही होना चाहिए । मेरी समझ मे तो यही उचित जान पडता है कि पिताजी को अपना वचन पूर्ण करने के लिए माता केकई की अभि-रुचि के अनुकूल भरत को राज्य-तिलक कर देना चाहिए और मेरे लिए जो माता की आज्ञा हुई है उसको में सानन्द पालन करने के लिए तत्पर हूँ । क्या आप नही जानते है कि ससार में वे ही पुत्रपद को प्राप्त हे जो पिता के पूर्ण भक्त और सदैव आज्ञानुवर्ती हों अतएव मैं पिताजी के वचनो को प्राणपण से पूर्ण करने का उद्योग करूँगा ।

इतना कहकर रामचन्द्र ने उसी समय भरत के ललाट पर राज्यतिलक कर दिया और आप पिताजी के चरणो को नमस्कार कर लक्ष्मण भाई को साथ लेकर वहाँ से चल दिये । पुत्र की यह अभूतपूर्व धीरता महाराज दशरथ नही देख सके । पुत्रो के जाते ही मूर्छित हो गये । रामचन्द्र जी वहाँ से चलकर अपनी माता के पास पहुँचे और उन्हे सादर नमस्कार कर माता से सविनय प्रार्थना की कि—'माताजी, हम पिताजी के वचनो का पालन करने के लिए विदेश जाते है । जब हम अपनी कही सुव्यवस्था और सुयोग्य प्रबध कर लेंगे तब हम आपको भी ले जायेंगे । अतएव आप किसी प्रकार का दुःख न करना ।"

इस प्रकार अपनी माता को समझाकर वे दोनो भाई जनकनन्दिनी सीता को को साथ लेकर घर से निकलकर वन की ओर चल दिए । उनको जाते हुए देखकर प्रजा के बहुत से मनुष्य राम-लक्ष्मण के साथ हो लिए । उन्होने उनको बहुत समझाया, और अपने साथ चलने से रोका पर उनको अपने युवराज का अगाध प्रेम वापिस कैसे जाने देता ? रामचन्द्र जी के बहुत रोकने पर भी वे लोग उनके पीछे-पीछे ही चले जाते थे । कुछ दूर चलकर उन्हें एक अंधकारमय भयानक अटवी मिली । वही एक बड़ी भारी और गहरी नदी

बह रही थी। धीर वीर राम और लक्ष्मण तो नदी के पार हो गये, परन्तु और लोगों के लिए यह असभव हो गया। अत में जब उन्हें अपने नदी पार होने का कोई उपाय न सूझा तब उन्हें इनके वियोग रूप दु ख दशा में अपने स्थान को लौट आना पड़ा। इसके अतिरिक्त वे बेचारे और कर भी क्या सकते थे ?

जब भरत ने सब लोगो के साथ रामचन्द्रजी को न आते हुए देखा तो उन्हे बडा दुःख हुआ। वे उसी समय माता के पास जाकर कहने लगे—"माताजी ! मै रामचन्द्र जी के बिना किसी प्रकार भी राज्य का पालन नही कर सकता अतः या तो उन्हे वापिस लाने का यत्न करो नही तो मैं भी वन में जाकर दीक्षा ग्रहण करता हूं। आगे आप जैसा उचित समझो वैसा करो। मुझे जो कहना था, वह कह चुका।"

पुत्र के ऐसे आश्चर्य भरे वचन सुनकर उसे बहुत चिता हुई। वह उसी समय उठी और पुत्र तथा और भी कितने ही सुयोग्य पुरुषों को साथ लेकर रामचन्द्र के पास जा पहुंची। रामचन्द्र अपनी माता का आगमन जानकर कुछ दूर उनके चरणारविंदों को नमस्कार किया। भरत रामचन्द्र जी को देखते ही उनके पांवो पर गिर पड़े और गद्गद् स्वर से अश्रुपात करते हुए बोले—"महाराज ! मुझ पर दया कीजिए। आप चलकर अपना राज्य सम्हालिए। यह राज्य शासन आप ही को शोभा देगा। आप चलकर अपने चरण-कमलो से सिंहासन को शोभित कीजिए। नाथ ! यदि आप अयोध्या की ओर गमन नहीं करेंगे तो यह निश्चय समझ लीजिए कि मैं भी वहाँ नही रहूँगा। आपके बिना मुझे राज्य से कुछ प्रयोजन नही है।"

उत्तर मे रामचन्द्र ने कहा—"भाई, तुम यह मत समझो कि मैने माता से द्वेष करके वन में आना विचारा है किन्तु मुझे तो पिताजी के वचनो का पालन करना है। मे प्राणपन से उनके वचन पूरे करूँगा अतएव मे किसी तरह से पीछे नही लौट सकता। तुम जाओ और बारह वर्ष पर्यन्त प्रजा का पालन करो तब तक मै इधर नही आऊँगा।

रामचन्द्र के ऐसे दृड प्रतिज्ञासूचक वचन सुनकर भरत बहुत दु.खी हुए। उन्होने फिर भी रामचन्द्र से उलटा अयोध्या चलने का बहुत आग्रह किया। भरत का अति आग्रह देख श्री रामचन्द्र ने उत्तर मे कहा कि—"भरत तुम अयोध्या मे जाकर राज्य करो। पिताजी ने तुमको बारह वर्ष राज्य शासन करने की आज्ञा दी है। तुम उनकी आज्ञा का पालन करो। इसका मुझे बडा आनन्द है। इसके अतिरिक्त मैं अपनी तरफ से और भी दो वर्ष के लिए तुम्हे राज्य प्रदान करता हूँ। चौदह वर्ष से पूर्व मै इधर न आने की प्रतिज्ञा करता हूँ। में कदापि उल्टा नहीं लौटूँगा अतएव तुम मुझसे अधिक आग्रह करना छोड़ दो। अधिक कहने से क्या लाभ ?"

अहिल्या उपकार
हनुमानजी भरतजीसे वार्तालाप
रावण सैना

श्री रामचन्द्र के इस उत्तर से भरत यद्यपि बहुत खिन्न हुए परन्तु अंत में जब उन्हें उनके वापिस लौटाने का कोई उपाय न सूझा तब उन्हें उसी दुःखी दशा में रामचन्द्र के चरणो को नमस्कार कर वापिस लौट जाना पड़ा भरत राज्य तो करने लगे पर रामचन्द्र के बिना सदा व्याकुलचित्त रहा करते थे।

भरत के चले जाने के अनन्तर श्री रामचन्द्र भी वहा से चलकर चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे। यहाँ पर कुछ दिन विश्राम करके उन्होने मालव देश की ओर प्रयाण किया और मार्ग में धर्मात्मा वज्रजघ आदि अनेक सत्पुरुषो के कष्ट आपदा निवारण कर रक्षा करते हुए अनेक राजा महाराजाओ की सुन्दर-सुन्दर कन्याओ का लक्ष्मण से पाणिग्रहण कराते तथा वशस्थल गिरि पर श्री देशभूषण–कुलभूषण मुनि पर हो रहे उपसर्ग का निराकरण कर धीरे–धीरे कुछ दूरी पर विश्राम करते बहुत दिन पीछे क्रम से दडकवन मे आ पहुँचें। यह वन भयानक और विषम था। पर ये दोनो धीर वीर भाई जनकनन्दिनी सहित यहाँ ही ठहरे। कुछ दिन चढ चुका था अतएव भोजन सम्बन्धी सामग्री लक्ष्मण ने एकत्रित की। सीता ने कुछ देर पीछे भोजन तैयार कर अपने स्वामी से कहा—"प्राणनाथ! रसोई तैयार है। अब आप पूजन कीजिए। दिन बहुत चढा जाता है।"

सीता के कहे अनुसार श्री रामचन्द्र जिनेन्द्र भगवान का पूजन कर अतिथि सविभाग के लिए सुयोग्य पात्र की प्रतीक्षा करने लगे। इतने मे उनके प्रबल पुण्य से एक मास के उपवास किए हुए मुनिराज वहाँ उपस्थित हुए। रामचन्द्र ने उन मुनि महाराज के दर्शनो द्वारा अपने नेत्रो को पवित्र कर तीन प्रदक्षिणा देकर उनसे निवेदन किया—"महा-राज। अत्र तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ, अन्न–जल शुद्ध है।' इस प्रकार प्रार्थना कर उनके चरण कमलो को धोया और उस पवित्र जल को अपने मस्तक पर लगाया। पश्चात् रामचन्द्र और सीता ने मुनिराज को नवधा–भक्ति पूर्वक आहार करवाया। उसी जगह एक वृक्ष की शाखा पर जटायु नाम का पक्षी बैठा हुआ था। उसने रामचन्द्र की की हुई क्रिया को देखकर विचारा "कि हाय, धिक्कार है मेरे इस जीवन को, जो मुझे पशु पर्याय मिली। धन्य है इस जीवन को, जो इन्हे ऐसे महात्मा की सेवा तथा भक्ति करने का अवसर मिला। ये बड़े पुण्यात्मा और भाग्यशाली है। यदि मैं भी आज मानव पर्याय मे होता तो क्या आज इस सुअवसर को खाली जाने देता हे भगवान्! यदि कभी मुझे भी पुण्य के प्रभाव से मानव पर्याय प्राप्त हो तो मै भी नियम से ऐसे महात्माओ की भक्ति-सेवा करूँगा।

इस प्रकार के पवित्र विचार उसके हृदय रूपी सरोवर में लहरे लेने लगे। मुनिराज भोजन करने के अनतर वहाँ पर बैठे। तब रामचन्द्र ने नमस्कार कर पूछा—"स्वामी! यह स्थान इस प्रकार सूना-सा कैसे हो गया है और इसका नाम दडकवन क्यों पड़ा है ?" तब

मुनिराज बोले—"सुन रामचन्द्र। इस देश के राजा का नाम था—दडक। वह बड़ा तेजस्वी था। सारी पृथ्वी पर उसकी प्रसिद्धि हो रही थी। किसी समय उसके राज्य में बहुत से दिगंबर मुनि आये। पापी दडक ने उनके नग्न रूप को देखकर उनसे बड़ी घ्रणा की और इसी घ्रणा के कारण उसने उन सब मुनियों को घानी में पेल दिया। उनमें से एक मुनि संघ के बाहर रह गये थे अतः जब वे मुनि आये और नगर में प्रवेश करने लगे तो नगर निवासी मनुष्यो ने पूर्व मुनियों का घानी में पेलने का वृत्तान्त कहकर उनसे नगर में न जाने की प्रार्थना की मुनिराज साधुओं पर किये गये ऐसे अत्याचार की बात सुनकर बड़े क्रोधित हुए और क्रोध के आवेश में भरे हुए राजा के पास पहुँचे और बोले—"रे दुष्ट पापी! क्या हमारे निरपराधी संघ को तूने ही मरवाया है। देख। तू अब अपनी जीवन-यात्रा को कैसे सुख से बिताता है?"

इस विषम कोप के साथ ही उनके वामस्कंध से पुरुषाकार एक तेजोमय मूर्ति निकली और देखते-देखते राजा, प्रजा, अश्व आदि सब को भस्म कर साथ ही मुनिराज को भी भस्म कर दिया। राजा ने किये के अनुसार ही फल पाया और नरक में गया। वही नाना प्रकार के दुःख भोगकर नरकायु पूर्ण कर अब जटायु का जीव हुआ है। यह तो इस स्थान के सुनसान होने का कारण है और इसके राजा का नाम दडक होने से इसका दडक वन पड़ा। यह सब मुनि शाप का फल है।"

मुनि के द्वारा अपने पूर्व भव का वृत्तात सुन कर पक्षी को बहुत दुख हुआ। वह मूर्छित होकर शाखा पर से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसे पडा हुआ देखकर सीता को बहुत दया आई। उसने उसी समय उठकर पक्षी के ऊपर ठडा जल छिडका। कुछ समय पीछे उसकी मूर्छा दूर हो गयी। सचेत होकर सरकता-सरकता मुनि के चरणारविदो मे जा पडा और अपनी मातृभाषा में बोला—"स्वामी कृपानाथ मुझ अनाथ, दीन पशु पर भी कुछ कृपा कीजिए जिसमें मै कुछ अपना आत्म-कल्याण कर सकूँ। मेरा चित्त इस ससार दुःख से बहुत भयभीत हो रहा है।" मुनिराज ने जटायु की इस दुःखी दशा को देखकर उसे सम्यक्त्व ग्रहण करने का उपदेश दिया। जटायु ने मुनिराज की आज्ञा प्रमाण सम्यक्त्व ग्रहण कर पंचाणुव्रत ग्रहण किये और जीवहिंसा का परिहार कर धर्म की ओर चित्त को लगाया। तत्पश्चात् मुनिराज भी अपना उपदेश देकर वहाँ से विहार कर गये। सीता को जब यह ज्ञात हुआ कि इस पक्षी ने जीव-हिंसा का त्याग किया है एवं इसकी जीवन रक्षा होना कठिन है तो वह स्वय उसका पालन-पोषण करने लगी।

तदनन्तर सध्या के समय भाई से आज्ञा लेकर लक्ष्मण यह देखने के लिए निकले कि इस वन में कही हिसक जीवो का निवास तो नही है। वे निर्भीक चले जा रहे थे कि इतने में उनके समीप एकाएक सुगध मिश्रित पवन आई। लक्ष्मण भी उसी ओर चल दिये जिस

ओर से सुगन्ध आ रही थी। थोड़ी दूर पर जाकर उन्होंने देखा कि एक गहन बांस के बीहड़ के ऊपर केसर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो से लिप्त तथा अनेक प्रकार के पुष्पो से सजा हुआ चंद्रहास नाम का खड्ग लटका हुआ है। उन्होने कौतुकवश उसे हाथ में ले लिया और उसे चलाना चाहा। उन्हे न तो यह मालूम था कि इस बास के बीहड में कोई ध्यान लगाए हुए बैठा है और न खड्ग की शक्ति का ही परिचय था अत: खड्ग के चलाते ही बास का बीहड़ और उसमें ध्यानावस्थित शबूक कट कर गिर पडा। तत्पश्चात् वह खड्ग उनका ध्वंस कर उल्टा ही लक्ष्मण के हाथ में आ गया। खड्ग लेकर लक्ष्मण वहाँ से चल दिए और अन्य स्थान पर जा ठहरे। शबूक कौन था और किसका पुत्र था उसकी कथा इस प्रकार है—

अलकारपुर नामक नगर के राजा का नाम खरदूषण था और उसकी स्त्री का नाम सूर्पनखा था। यह रावण की बहन थी। इसके शम्बूक नाम का एक पुत्र था। यही शम्बूक उस गहन बास के बीहड़ में चन्द्रहास खड्ग के सिद्ध करने के लिए बारह वर्ष से मंत्रसाधन कर रहा था। उसको गुरु ने मत्रसाधन करने की विधि के साथ-साथ यह भी बतला दिया था कि वारह बर्ष के उपरान्त जब खड्ग प्रादुर्भूत हो तब सात दिन पीछे जिनेद्र भगवान का पूजन करने के पश्चात् उसे ग्रहण करना। खड्ग को आये हुए पूरे सात दिन होने को आये थे कि दैवयोग से लक्ष्मण उधर आ निकले और उनके द्वारा उसका ध्वंस हो गया। लक्ष्मण के खड्ग ले जाने के कुछ समय के अनन्तर उसकी माता सूर्पनखा भी भोजन लेकर आ पहुँची और वन को बिल्कुल साफ देखकर मन में विचारने लगी कि मालूम होता है कि पुत्र ने खड्ग की शक्ति की परीक्षा की है। पुत्र को मन्त्र-सिद्धि हुई जान कर वह बहुत प्रसन्न हुई परन्तु जब नीचे आकर उसको खण्ड-खण्ड होते हुए देखा तो उसे खुशी के बदले महान् दुःख हुआ। परन्तु फिर भी भ्रम से यह समझकर कि कदाचित् पुत्र ने यह अपने मन्त्र की माया फैलाई हो, शीघ्रता से पुत्र के पास आकर कहने लगी—"प्यारे पुत्र, उठो, उठो। क्या तुम्हें मुझसे ही मायाचार उचित था। तू मेरे दुःख की ओर तो जरा देख कि आज बारह वर्ष हो गये, मैंने अपने हृदय के एक टुकड़े को किस दुःखी दशा में छोड़ रखा है। हे पुत्र! अब अपनी माया को छोडकर मुझसे वार्तालाप कर।"

बहुत समय तक सूर्पनखा इसी प्रकार प्रर्थना करती रही, परन्तु पुत्र उसी अवस्था मे पड़ा रहा। अन्त में उसने पुत्र को मरा हुआ समझा। वह निराश होकर पुत्र के विषम वियोग से अधीरतापूर्वक साश्रुपात रुदन करने लगी, छाती कूटने लगी। उसे अपार दुःख हुआ। बहुत समय तक घोर दुःख से अधीर होकर वह विलाप करती रही। अन्त में जब शोक का आवेग कुछ कम हुआ तो उसने विचारा कि अब रोने से ही क्या होगा? अब तो उस दुरात्मा की खोज लगाऊँ जिसने मेरे जीवन अवलम्ब निरपराधी पुत्र का प्राणहरण किया है। उस पापी को भी इसी दशा में पहुँचाऊं जिससे मुझे कुछ संतोष

हो। ऐसा विचार कर वह वहाँ से चलकर देखती-देखतो वहीं आ निकली जहाँ धीर-वीर लक्ष्मण ठहरे हुए थे। उनके हाथ मे खड्ग को देखकर वह यह तो जान गयी कि मेरे पुत्र का प्राणघातक निश्चयपूर्वक यही है पर साथ ही लक्ष्मण की अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता देखकर उसका हृदय उन पर मुग्ध हो गया और काम ने भी इसके हृदय में निवास जमाना आरभ किया अत' कामातुर होकर पुत्र के शोक का विस्मरण कर वह विचारने लगी पुत्र तो अब मर ही चुका, पुन अब जीवित नही हो सकता। अतः इस अपूर्व सुन्दर पुरुष से विरोध करने तथा प्राणहरण कराने का यत्न करने मे क्या लाभ ? सार तो इसमें है कि यह किसी प्रकार से मेरा स्वामी हो जाए तो फिर कहना ही क्या है ? तब ही मेरा जीवन सुखरूप हो सकता है। ऐसा विचारकर उसने उसी समय अपने मायाबल से अपने को सोलह वर्षीय नवयौवन सम्पन्न कुमारी रूप में बदल लिया। सूर्पनखा बालिका बनकर लक्ष्मण के निकट गई और रोने लगी। लक्ष्मण ने उसे रोती हुई देखकर पूछा—"हे बालिके ! तू कौन है ? किस लिए इस सुनसान वन में आई और किस लिए रोती है ?"

बालिका ने उत्तर मे कहा—"मैं छोटी अवस्था से अपने मामा के यहाँ रहती थी। मेरा पालन-पोषण मामा जी ने ही किया है। जब मै बड़ी हुई और मुझको ज्ञात हुआ कि मामा मुझको बुरी नजर से देखने लगे है, तब मैने यह वृत्तात गुप्त रीति से पिताजी के कानो तक पहुँचा दिया। पिताजी मुझको उस समय ही लेने आ गये। उनके साथ अपने घर को जा रही थी कि मार्ग में उनको यहाँ विश्राम करना पडा। कुछ रात्रि शेष रहने पर हम उठकर चले, परंतु खेद है कि चलते-चलते पिताजी तो आगे निकल गये और मै पीछे रह गई। यही मेरा वन में रहने का कारण है। अब न तो मैं घर का मार्ग जानती हूँ और न पिताजी ही लौटकर मुझको लेने आये हैं। आज मेरा बडा भाग्योदय है जो इस निर्जन वन मे आप जैसे महाभाग्य के दर्शन हुए है। सुन्दरस्वरूप। आपके इस कामदेव सदृश रूप पर मेरा हृदय न्यौछावर हुआ जाता है। अत आपसे मेरा निवेदन है कि मुझ अनाथ बालिका को ग्रहण कर मुझको कृतार्थ करे तो बहुत अच्छा हो।"

उत्तर मे लक्ष्मण ने कहा—"तुम कहती हो, वह तो ठीक है परन्तु मैं तुमसे एक बात कहता हूं कि मेरे बडे भाई के उपस्थित होते हुए मै स्वय तुम्हे ग्रहण नही कर सकता। अतएव तुम मेरे बड़े भाई के पास जाकर अपनी प्रार्थना करो। तुम यह न समझो कि मैं ही सुन्दर हूँ किन्तु मेरे भाई मुझसे भी अधिक सुन्दर है तुम्हारी सुन्दरता के योग्य वे ही उचित जान पड़ते है। तुम उन्ही के निकट जाओ।

इस प्रकार लक्ष्मण के कहने पर सूर्पनखा रामचन्द्र के पास पहुँची और कहने लगी—"मुझे आप से कुछ प्रार्थना करनी है। उसे आप ध्यान देकर सुन ले तो आपकी

बहुत कृपा हो। मैंने पहले लक्ष्मण जी से विवाह करने का निवेदन किया था। उन्होंने कहा है कि तुम मेरे बड़े भाई के पास जाकर निवेदन करो। मुझे अभी अवकाश नहीं है। उनके कथनानुसार मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुई हूँ। मुझ अनाथ बालिका पर दया कर पाणि-ग्रहण करके मेरे जीवन को कृतार्थ कीजिए ! आशा है कि आप मुझ अनाथ अबला पर दया कर स्वीकृति वचन प्रदान करेंगे।"

रामचन्द्र ने उस कामातुर सूर्पनखा की वार्ता श्रवण कर उत्तर मे कहा—"हे बाले ! अब तुम मेरे ग्रहण करने योग्य नही रही-हो क्यो कि तुम मेरे छोटे भाई लक्ष्मण से अपने विवाह की आकाक्षा कर चुकी हो अतएव अब तुम लघु भ्रातृ जाया कहलाने योग्य हो। तुम लक्ष्मण के ही पास जाओ और उसीसे अपनी इच्छा पूण करो।"

रामचन्द्र के वचन श्रवण कर सूर्पनखा फिर लक्ष्मण के पास गयी और उनको समस्त वृत्तात कह सुनाया। लक्ष्मण ने फिर उत्तर में कहा—"तुम हमारे बड़े भाई से विवाह की इच्छा प्रकट कर चुकी हो अतएव तुम अब मेरे योग्य भी नही रही क्यो कि यह प्रसिद्ध ही है कि बडे भाई की स्त्री माता के समान होती है अतएव तुम श्री रामचद्र के पास जाकर उनसे ही अपनी इच्छा पूर्ण करो।"

निदान वह काम से पीड़ित होकर कितनी ही बार राम और लक्ष्मण के पास आई और गयी। अत में कपटी बालिका रूप सूर्पनखा की यह दशा देखकर सीता ने उससे कहा—"तू बडी मूर्ख है। जरा अपने आप का भी तो ध्यान कर। जरा बिचार तो कर कि कही काक के ससर्ग से मकान भी काला है।"

सीता के इस कटाक्ष भरे वचन को सुनकर वह कहने लगी कि—"अच्छा ! तुझे काक के ससर्ग से ही मकान काला होता दिखाऊँगी।"

यह कहकर वह चली गयी। जाकर उसने मायाजाल से अपने शरीर को नखो से नोचकर केशो को बखेरे हुए धूल रमाकर अपने पति के पास गमन किया और मुर्छित होकर गिर पडी। खरदूषण ने शीतलोपचार कराकर उसे सचेत किया और उससे पूछा—"प्यारी ! आज यह क्या हुआ ? किस पापी की मृत्यु आई है जिसने तुम्हारी यह दुर्दशा की है ? प्रिये शीघ्र कहो। मुझसे तुम्हारी यह दुर्दशा नही देखी जाती।"

सूर्पनखा बोली—"प्राणनाथ ! मै क्या कहूँ ? मेरी दुःखी दशा को मैं ही जानती हूँ।"

इतना कहकर वह रो पड़ी और छाती कूटने लगी। तब खरदूषण ने उसे बहुत दिलासा दिया और इस आकस्मिक दुःख का कारण पूछा तब सूर्पनखा ने धैर्य धारण कर कहा—"प्राणनाथ ! दण्डक वन में दो मनुष्य और एक स्त्री ठहरे हुए है। उन्होंने मेरे प्राणों से

प्यारे पुत्र को मार डाला और जब मैंने प्यारे पुत्र की यह दशा देखी तो मेरा साहस जाता रहा और मैं पुत्र के मस्तक को गोद में रखकर रो रही थी कि इतने में उन पापियों में से एक ने आकर मुझसे अपनी बुरी बासना प्रकट की। मैंने उसको बहुत धिक्कारा, पर फिर भी उसने मुझसे बलात्कार करना चाहा तब मैं बड़ी कठिनता से आपके पुण्य के प्रसाद से अपने सती धर्म की रक्षा कर आपके पास आ सकी हूं। मैं अपना बड़ा ही पुण्योदय समझती हूँ जो आज उन पापियों के पजे मे आए हुए भी मेरा धर्म सुरक्षित रह सका। प्राणनाथ! बड़े खेद की बात है कि आपके उपस्थित होते हुए भी नीच छुद्र पुरुषों के द्वारा पुत्र का मरण और मेरी ये दशा हो। मुझसे इन रको द्वरा कृत अपमान नही सहा जाता। ऐसे जीवन से तो मरना हजार गुना अच्छा है। मुझे सतोष तो तभी होगा जब मैं उन दुष्टों के मस्तक को ठोकरों से ठुकराते हुए देखूँगी।"

सुनकर उत्तर मे खरदूषण ने कहा—"प्रिये! तुम अब इस चिता को छोड़ो और महल मे जाकर बैठो मै अभी उनको इस दुष्कृत का परिणाम दिखा देता हूँ। इस प्रकार प्रिया को तो धीरज बधाकर महल में भेज दिया और आप सग्राम के लिए तत्पर हो गया और एक दूत के द्वारा ये सब वृत्तात रावण के पास भी कहला भेजा। उधर लक्ष्मण भी राम के पास पहुँचे। राम ने लक्ष्मण से कहा—"लक्ष्मण! तुमने जाना कि ये बालिका का रूप बनाये कौन थी ? मैं तो जहाँ तक समझता हूँ ये कोई राक्षसी थी।"

इस प्रकार दोनो भाई परस्पर वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतने मे खरदूषण प्रचुर सेना सहित युद्ध के लिए आता हुआ दिखाई पड़ा। अस्कमात् ही इतना भारी समारभ देखकर सीता बहुत डरी और राम की गोद मे जा गिरी। रामचन्द्र जी ने भी जब दृष्टि उठाकर देखा तो उन्हें भी कुछ सदेह हुआ। उन्होने धनुष की ओर संकेत करके लक्ष्मण से कहा—"भाई! ये लोग जो आ रहे है, वे छली मालूम होते है। अतएव अब असावधान रहना उचित नही।"

यह सुन कर लक्ष्मण ने कहा—"स्वामी, आप किसी प्रकार की चिता न करें मैं इनको अभी इस कार्य का फल दिखाए देता हू। आप यही स्थित रहे क्योंकि सीता को ऐसी जगह अकेली छोड़ना उचित नही है। एक और प्रार्थना है कि जब तक मै वापिस नही आऊँ तब तक आप यही रहे। कोई आपत्ति आने पर मै सिंहनाद करूँगा तब आप आकर मेरी सहायता करना।"

यह कह कर लक्ष्मण धनुष-बाण ले युद्ध भूमि की ओर चल दिये। युद्ध-भूमि में पहुँचते ही लक्ष्मण ने विद्याधरो की ओर दृष्टि उठाकर उन्हे ललकारा—"हे विद्याधरो! ठहरो, कहाँ जाते हो ? यदि कुछ बीरता रखते हो तो मुझे उसका परिचय दो।"
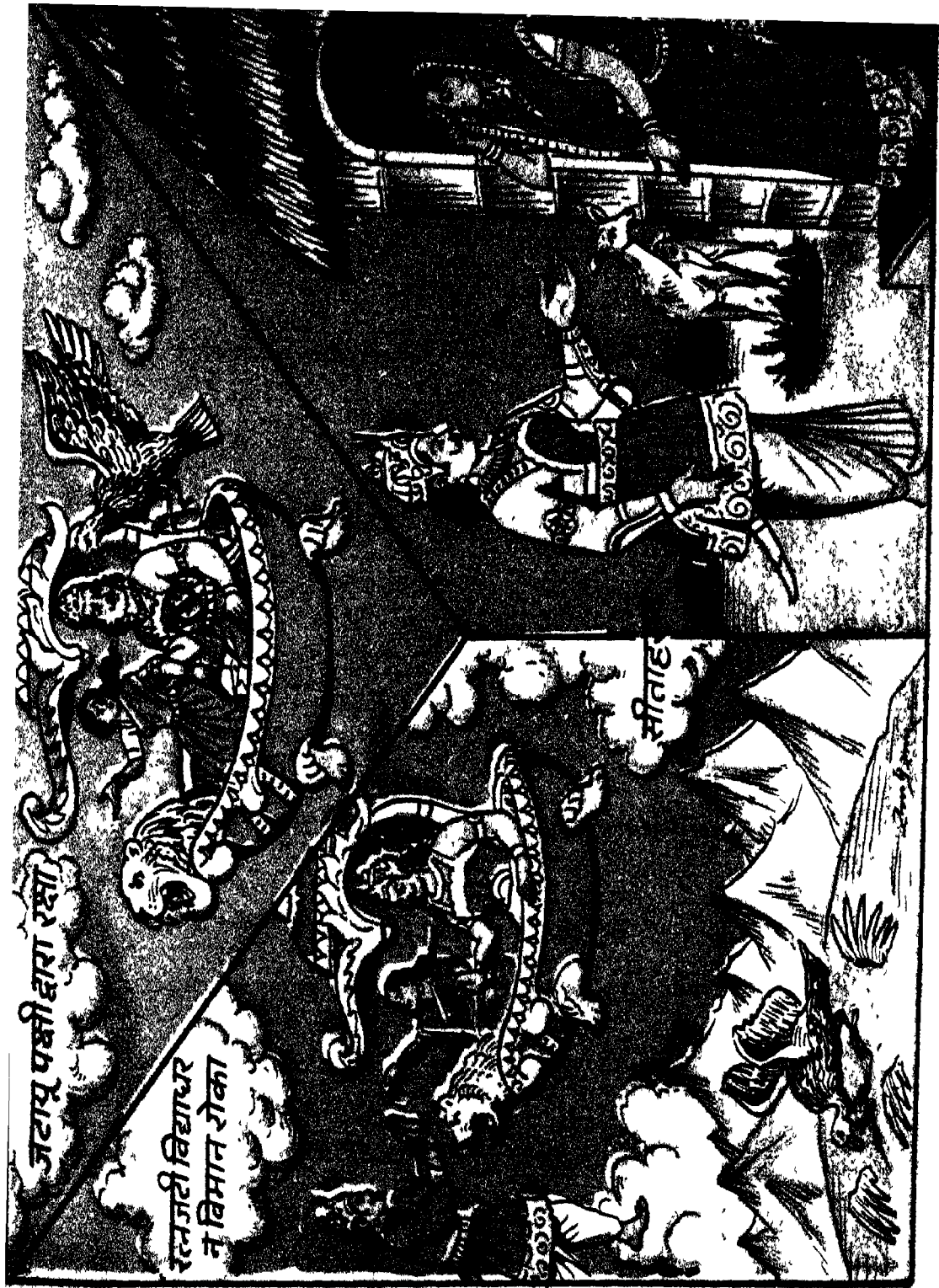
जटायू पक्षी द्वारा रक्षा
रत्नजटी विद्याधर ने विमान रोका
सीताहर

लक्ष्मण का इतना कहना था कि वे सब चारों ओर से इसके ऊपर आक्रमण करने लगे और बाणों की वर्षा करने लगे। यद्यपि ये अकेले ही थे तथापि इनको कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सके। लक्ष्मण ने उद्वेग में आकर ऐसे जोर से बाण चलाए कि पर चक्र के आने वाले बाणों को काटते हुए हजारो योद्धा धाराशायी हो गये। उस सेना में विराधित नाम का एक विद्याधर भी था। उसने लक्ष्मण के इस अलौकिक पराक्रम को देखकर मन में विचारा कि खरदूषण मेरे पिता का वध कर्त्ता मेरा शत्रु है। उस समय तो मुझे शक्ति और सहायताहीन होने से शत्रु की ही सेवा करनी पडी थी, परन्तु अब सुयोग्य अवसर आ मिला है। अब इस महावीर की सहायता से मेरी इच्छा पूर्ण हो जाएगी अतएव इससे मैत्री करनी चाहिए। ऐसा विचार कर वह ससैन्य लक्ष्मण के पास पहुँचा और नमस्कार करके बोला—"महाराज! हे स्वामी, मैं आपकी सेवा करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। पापी दुरात्मा खरदूषण ने मेरे पूज्य पिता का वध कर डाला है। उसके बदले की इच्छा से मैं आपकी सहायता लेने के लिए आया हूँ। आगंतुक को सहायता देना आप जैसे उत्तम पुरुषो का कर्त्तव्य है।" यह सुनकर उत्तर में लक्ष्मण ने कहा—"तुम इसकी चिंता न करो। तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी, परन्तु मुझे एक बात यह पूछनी है कि मुझे धोखा देने तो नही आये हो! यदि तुम धोखा देने भी आए हो तो मुझे इसकी चिंता नही। मै तुम्हारी सहायता करूँगा।"

उत्तर में विराधित ने कहा—"महाराज! मैं शपथ पूर्वक कहता हूँ कि मैं केवल अपने पिता का बदला लेने के अभिप्राय से सहायतार्थ आपके पास आया हूँ और किसी दुष्ट अभिप्राय से नही। महाबाहु! आप तो खरदूषण से युद्ध करें क्योंकि वह महाबली है और शेष सेना के लिए मैं अकेला ही बहुत हूँ।"

ऐसा कह विराधित तो खरदूषण की सेना से युद्ध करने लगा और लक्ष्मण की खरदूषण से मुठभेड़ हो गयी। इधर तो विराधित ने अपने वचन के कथानानुसार खरदूषण की सारी सेना को वश मे कर लिया और उधर लक्ष्मण ने खरदूषण को जीत लिया। जब खरदूषण की पराजय का वृत्तात रावण को मालूम हुआ तो वह उसी समय पुष्पक नामक विमान पर आरूढ होकर खरदूषण की सहायतार्थ वहाँ से चल दिया। जब चलते चलते दंडक वन में आया तो वहाँ पर रामचन्द्र के समीप बैठी हुई सीता की अप्रतिम सुन्दरता को देखकर उसका हृदय काम के बाणो से भेदा गया। उसने कामवेदना से पीड़ित हो सीता को उठा लाने के लिए अनेक उपाय किये परन्तु उसका उपाय कभी भी अभीष्ट सिद्ध नही कर सका। तब अन्त में उसने अपनी विद्या को उसको लाने के लिए भेजा परन्तु विद्या महातेजस्वी-पूज्य मूर्ति रामचन्द्र के आगे कुछ न कर सकी और निष्प्रभ हो वापिस आकर रावण से बोली—"स्वामी! मैं रामचन्द्र के निकट से सीता को लाने में असमर्थ हूँ।"

सुन कर रावण ने कहा—"अस्तु। अब तू ये उपाय बता कि वह कैसे लाई जा सकती है।"

तब विद्या ने कहा—"यदि लक्ष्मण युद्ध में सिहनाद करे तो राम उसकी सहायतार्थ चले जाएंगे तब सीता को ला सकते हो।"

सुनकर रावण ने विद्या से कहा—"तुम यहाँ से थोड़ी दूर जाकर सिहनाद करो। उसे सुनकर रामचन्द्र अपने भाई का किया हुआ सिहनाद समझ वहाँ से सहायतार्थ चले जाएंगे।"

विद्या ने ऐसा ही किया। उसे रामचन्द्र और सीता ने सुन लिया। रामचन्द्र अपने भाई को संकट में आया जान कर जटायु को सीता की रक्षा के लिए छोडकर आप वहाँ से चल दिये। उधर रावण भी यही चाह रहा था अतः रामचन्द्र के जाते ही रावण सीता को बलात्कार उठा ले गया जैसे पक्षी मांसपिड को उठाकर ले जाता है। जटायु अपनी स्वामिनी को ले जाते हुए देखकर रावण को अपने तीखे-तीखे नुकीले नखो से घायल करने लगा। यह देख रावण को बड़ा क्रोध आया और उसने उस बेचारे पक्षी के ऐसा थप्पड मारा कि वह अधमरा होकर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पडा। यह घटना रत्नजटी नाम के विद्याधर ने जाते हुए देखी। उसने आकर रावण से कहा—"हे नीच विद्याधर! बेचारी एक अबला स्त्री को चुराकर कहाँ लिए जाते हो? तुम्हे इस घोर कर्म को करते हुए लज्जा नही आती।" उस बेचारे से सीता का हृदयद्रावक रुदन न सहा गया। वह निरुपाय हो उसे छुड़ाने के लिए युद्ध करने लगा। अपने से एक बहुत छोटे विद्याधर की ऐसी धृष्टता देखकर रावण को बड़ा क्रोध आया। उसने उसकी समस्त विद्याओ का हरण कर बिना पख के पक्षी के समान समुद्र में डाल दिया, परन्तु उसका परम प्रकर्ष पुण्योदय था जिससे वह समुद्र मे एक स्थल पर पडा और उसे एक युक्ति सूझी वह अपने कुछ कपडे एक लकडी से बाधकर ध्वजा के समान उड़ाने लगा जिससे आकाश मार्ग मे आने-जाने वालो की इधर दृष्टि पड़ जाए। उधर पापी निर्दयी रावण ने सती साध्वी सीता पर कुछ भी दया न कर उसे रुदन विलाप करते हुए ले जाकर लका के एक उपवन में बैठा दिया और नित्य प्रति उसको वश मे करने का उपाय सोचने लगा, परन्तु यह कब सभव था कि जिस साध्वी ने अपने प्राणप्यारे के चरण कमलो में अपने मन रूपी भ्रमण को समर्पित कर दिया था वह अब दूसरे की अङ्कशायिनी हो अर्थात् कभी नही अब आगे रामचन्द्र का वृत्तात लिखा जाता है।

जब रामचन्द्र लक्ष्मण के पास पहुँचे तो लक्ष्मण को भली प्रकार देखा और लक्ष्मण ने भी देखते ही कहा—"पूज्य! आप कैसे आए? सीता को अकेली ही कहा छोड़ आए?"

रामचन्द्र ने कहा—"मै तो तुम्हारा सिहनाद सुनकर आया हूँ।" लक्ष्मण ने कहा "मैंने तो सिहनाद किया ही नही किसी दुष्ट ने सीता को ले जाने के लिए दुष्टता की है आप शीघ्र जाइये। कुछ अमगल होने की सभावना है। जब मै इन दुष्ट राक्षसो को वश में कर चुका था तो मुझे सिहनाद करने की क्या अवश्यकता थी ?"

ये सुनते ही रामचन्द्र वापिस लौटे और वहाँ आकर देखा कि सीता वहाँ पर नही है। उन्होंने चारो ओर घूम-घूम कर देखा तो एक स्थान पर अधमरा जटायु पक्षी दिखाई दिया। उसके प्राण कठगत जानकर उन्होने उसे पच नमस्कार मत्र सुनाया जिस मत्र के प्रभाव से वह परम अभ्युदय का धारक देव हुआ। रामचन्द्र सीता के न मिलने के कारण उसके असह्य वियोग से घड़ाम से मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पडे। जब कुछ मंद-मद शीतल पवन का स्पर्श हुआ तब वे सचेत हुए। वे सीता के वियोग से इतने अधीर हुए कि उन्हे अपने स्वरूप का भी बोध नही रहा और पशु तथा पक्षी तो क्या, वे तो वृक्ष और पर्वतो से भी अपनी प्रिया का वृत्तांत पूछने लगे इधर-उधर उन्होने बहुत कुछ खोज की, परन्तु जब कही पता न लगा तब वे पुन. सीता के वियोग रूप वज्र के आघात से मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पडे। इतने मे लक्ष्मण और विराधित भी वहाँ आ पहुँचे। लक्ष्मण अपने बड़े भाई की दशा देखकर जान गए कि सीता निश्चयपूर्वक हरी गई है।

लक्ष्मण ने निकट जाकर भाई की अभिवदना की परन्तु इस समय राम तो अपने आपे मे ही नही थे। लक्ष्मण से कहने लगे—"तू कौन है और क्यो ऐसे विकट अरण्य मे आया है ?" तब लक्ष्मण ने कहा—"पूज्य ! क्या आप भूल गये ? मैं तो वही आपका दास लक्ष्मण हूँ।"

यह सुनकर रामचन्द्र को कुछ स्मृति आई, वे लक्ष्मण से बोले—"भाई ! सीता हरी गयी। उसको कोई पापी उड़ा ले गया।"

यह सुनकर लक्ष्मण भी बहुत दु खी हुए। दोनो मिलकर रुदन करने लगे। विराधित ने इन दोनो को जैसे तैसे समझाकर रोने से रोका। विराधित को भी अपने उपकारकर्ता के उपर अनायास आपत्ति आ जाने से बड़ा दु.ख हुआ। सयोगवश यही पर वानरवशियो का स्वामी सुग्रीव भी विराधित से आ मिला और अपने पर बीती हुई समस्त घटना कह सुनाई। विराधित ने भी उसको रामचन्द्र का सारा वृत्तात कह सुनाया। सुनकर सुग्रीव ने कहा—"विराधित ! यदि तेरे स्वामी मेरा दुःख दूर कर दे तो मै भी उनकी प्रिया का शीघ्र ही पता लगाऊँगा। इस प्रण से मै कभी विचलित नही होऊँगा।"

विराधित ने रामचन्द्र से जाकर कहा—"स्वामी ! वानरवशाधिपति सुग्रीव आपके पास आया है। वह कहता है। कि यदि रामचन्द्र मेरा दु.ख दूर कर देगे तो मै सीता का

सात दिन के भीतर-भीतर पता लगाऊँगा। यदि आपकी आज्ञा हो तो सुग्रीव को ही उपस्थित किया जाए।"

रामचन्द्र की आज्ञा होने पर सुग्रीव को उपस्थित किया गया। रामचन्द्र ने सुग्रीव का यथोचित आदर सत्कार किया और परस्पर कुशल-वार्ता होने के उपरान्त रामचन्द्र ने सुग्रीव से पूछा—"सुग्रीव ! तुम्हे क्या दु.ख है ?"

सुग्रीव ने कहा—"महाराज ! मेरी राजधानी किष्किधा है। मेरी तारा नाम की स्त्री अति सुन्दर और नवयौवना है। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कोई दुष्ट विद्याधर मेरे समान रूप बनाकर मेरे महल मे घुस गया था। मेरी प्रिया ने उसकी चाल-ढाल से यह मेरा खास पति नही है। उसे घर मे नही जाने दिया। तारा के आशय को समझकर उस दुष्ट ने मेरे घर की समस्त गुप्त बाते कह सुनायी। सुनकर मेरी स्त्री ने कहा—"हे दुष्ट दुराशय ! तूने सब बाते तो मेरे स्वामी के समान कह दी परन्तु तुझे चलना तो अभी तक उन जैसा नही आया। उसका इतना कहना था कि उसने मुझे अपने घर पर आता हुआ देखकर मेरी चाल भी सीख ली, परन्तु उस समय मेरी स्त्री ने परम दक्षता की कि मुझको और उसे समानाकृति वाला देखकर महल के पट बद कर लिए। जब मै महल के द्वार पर पहुँचा तो मैंने उस कपटी वेषी सुग्रीव को ललकारा—"पापी ! तू कौन है और किस लिए कपट से ऐसा वेष बनाकर मेरे घर में घुसना चाहता है ?" उत्तर में उसने भी मेरे जैसे ही वाक्य कहे। यह विचित्र लीला देखकर मन्त्रियो ने हम दोनो को ही भीतर जाने से रोका और कहा जब तक इस बात का निर्णय न हो कि वास्तव मे सुग्रीव कौन है तब तक हम किसीको भी भीतर प्रवेश नही करने देगे। हम दोनो नगर से बाहर जगल मे रहने लगे। जब मुझसे अपनी प्रिया का वियोग जनित दु ख सहा नही गया तो मै रावण के निकट गया और अपनी समस्त व्यथा का वर्णन किया। पर उससे भी मेरा उपकार न हो सका। रावण तथा और भी बहुत से विद्याधर और हनुमान आदि इसकी परीक्षा के लिए आए परन्तु किसी से कुछ प्रतिकार न बन सका। अंत में अब सब ओर से निराश होकर आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हूँ। विश्वास तो यही है कि अब इस असीम दु:ख का आपके द्वारा अत हो जाएगा मेरा परम प्रकर्ष पुण्योदय है जो आज आप जैसे महापुरुषो के दर्शन हुए। सुनकर रामचन्द्र ने कहा—"सुग्रीव ! चिता न करो। मै तुम्हे दृढ़ विश्वास के साथ कहता हूँ कि इस बात का ठीक-ठीक पता लगाकर मैं तुम्हारा न्याय करूँगा और तुम्हारी प्रिया तुम्हे दिलवा दूँगा परंतु उसके बाद तुम्हें भी अपना प्रण पूरा करना होगा।"

सुग्रीव ने रामचन्द्र के कहने को स्वीकार किया। इसके बाद सुग्रीव राम-लक्ष्मण को अपनी राजधानी में ले गया और नगर से बाहर उन्हे एक स्थान पर ठहरा दिया, वहाँ पर

कृत्रिम वेषधारी सुग्रीव के पास युद्ध के लिए दूत भेज दिया। वह अपनी प्रचुर सेना लेकर सग्राम के लिए आया और दोनो सुग्रीवों का युद्ध आरंभ हुआ। सच्चा सुग्रीव मायामयी सुग्रीव की गदा के आघात से मूर्छित हो गया। तब उसके कुटुम्बी जनों ने अपने स्थान पर ले जाकर शीतलोपचार किया। मायावी सुग्रीव उसको मरा जानकर आनद मनाता हुआ अपने स्थान पर वापिस लौट गया। जब सुग्रीव सचेत हुआ, तब उसने रामचन्द्र से कहा—" महाराज ! आपने उसे क्यों जाने दिया ?"

उत्तर में रामचन्द्र ने कहा—"सुग्रीव ! क्या कहे ? तुम दोनो एक ही समान थे अतएव तुम्हारा निश्चय न हो सका कही सशय ही सशय में तुम्हारी मृत्यु हो जाती तो बहुत बुरा होता। ऐसा विचारकर उसको छोड़ दिया। अब कुछ चिता नही। उसे फिर बुलवाते— है।"

यह कहकर रामचन्द्र ने पुन. कृत्रिम सुग्रीव को युद्ध के लिए बुलाया। वह फिर भी बड़े साहसपूर्वक सग्राम के लिए युद्धभूमि में आया। इस बार रामचन्द्र के दिव्य तेज को देखकर सादृश्य रूप बना देने वाली कृत्रिम सुग्रीव की बैताली विद्या तत्काल भाग गयी और वह अपने पूर्ववत् रूप मे आ गया। यह देख सबने असली सुग्रीव को पहचान लिया और उसका बहुत सत्कार किया। सुग्रीव अपने पुत्र आदि के साथ अपने घर पर गया और वियोग रूपी अग्नि के द्वारा कृश हुई अपनी प्राणप्रिया से मिला और सुखोपभोग करने लगा। बहुत दिनो से बिछुड़ी हुई अपनी प्राणप्रिया को पाकर विषय भोगो मे ऐसा मग्न हुआ कि रामचन्द्र के साथ की हुई प्रतिज्ञा को भूल गया और छः दिन बीत गये। उधर ज्यो-ज्यो दिन बीतने लगे त्यो-त्यो रामचन्द्र को अधिक दु ख होने लगा। उन्होंने लक्ष्मण से कहा—"भाई, देखो जब मनुष्य पर विपत्ति आती है तब तो अपना कार्य सिद्ध करने के लिए जिस तिस की सेवा शुश्रुषा, प्रण, प्रतिज्ञा करता फिरता है और जब दुःख निवृत्त हो जाता है तब उसे किसी के उपकार प्रतिज्ञा का ध्यान नही रहता। सुग्रीव की बाते। पहले कितनी दृढ़ प्रतिज्ञा करता था और अब अपना काम निकलने पर प्रतिज्ञा को भूल गया।"

सुनकर लक्ष्मण को सुग्रीव की इस स्वार्थ बुद्धि पर बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय सुग्रीव के पास पहुंचे। उन्हे देखते ही सुग्रीव बहुत चितातुर हुआ। आप सिहासन से उठकर नीचे बैठा और लक्ष्मण को उस पर बैठाया। लक्ष्मण ने सुग्रीव से कहा—"सुग्रीव ! क्या तुम्हे यही उचित था कि अपनी सात दिन की प्रतिज्ञा तक को भूल गये ? क्या प्रतिज्ञा पूर्ण करना इसी को कहते है ? जो तुम तो महल में बैठे हुए सुखोपभोग भोगो और हमारे भाई वन में दुःख भोगे। सच है जो स्त्री जन्य सुख मे लीन होते है उन्हें अपने व्रत, नियम, प्रण आदि के भग होने का कुछ भी ध्यान नही रहता।" सुग्रीव ने कहा—"स्वामी ! है तो

आज सातवां ही दिन। यदि मैं समय पूर्ण होने तक यह कार्य न कर दूं तो आप मुझ दोष दीजिएगा।"

इतना कह सुग्रीव लक्ष्मण सहित रामचन्द्र के पास आया और उनके चरणों में पड़कर अपने अपराध की क्षमा मांगी। उसके बाद सुग्रीव ने अपने दक्ष विद्याधरो को सीता का समाचार लाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही विद्याधर चारो ओर गये। उनमे से एक विद्याधर वहाँ भी आ निकला जहाँ रावण के द्वारा विद्याहरण कर समुद्र मे डाल देने वाला रत्नजटी नाम का एक विद्याधर हाथ मे ध्वजा लिए हुए आने जाने वालो को सकेत कर रहा था। उसे सकेत करते देखकर वह नीचे उतरा और रत्नजटी को पहचान कर उसने उससे पूछा कि—"हे मित्र! कहो, तुम यहाँ कैसे आये और कैसे यहा इस दशा में ठहरे हुए हो?"

तब उसने रावणकृत अपने पर बीती हुई सारी घटना कह सुनाई। इसमे उसने अच्छी तरह समझ लिया कि सीता को रावण ही हर ले गया है इसमे कोई सदेह नही है तब वह रत्नजटी को अपने विमान में बैठाकर सुग्रीव के पास लाया और उससे उसका वार्तालाप करवाया। रत्नजटी ने सुग्रीव से समस्त वृत्तात ज्यो का त्यों कह सुनाया। सुग्रीव आनद दायक समाचार सुनकर प्रसन्न होता हुआ उसे साथ लेकर रामचन्द्र के पास पहुँचा और कहा—"महाराज! ये सीताजी का वृत्तात अच्छी तरह जानता है। आप इससे एकात में ले जाकर पूछ लीजिए।" रामचन्द्र ने उसे एकात मे ले जाकर पूछा तब उसने जैसा देखाथा और जैसी अपने पर आपत्ति आई थी वह सब सुनाई। रामचन्द्र ने रावण के इस कृत्य पर उसे परोक्ष मे बहुत धिक्कारा और कहा—"रे नीच कुल कलक! देखूं तेरी वीरता जो पर प्रिया को हरण कर सुख से जीता रह सकेगा।" साथ ही अपने सैनिको को आज्ञा दी कि "सैनिको! सग्राम की तैयारी करो। आज ही हम को सीता को छुडा लाने के लिए रावण पर युद्ध के लिए चढना है।"

सुनकर वीर सैनिको ने उत्तर मे निवेदन किया—"महाराज! वह कोई साधारण पुरुष नही है। अतएव प्रथम यह बात जानना अत्यावश्यक है कि सीता यथार्थ मे वहाँ है या नही? है तो कहाँ, किस स्थान पर है और रावण इस समय किस काम पर लगा हुआ है? यह जानकर ही फिर यथोचित उपाय करना चाहिए।" रामचन्द्र ने उनका कहना स्वीकार किया और प्रथम सब वृत्तात जानने की आज्ञा दी। तब सबने विचारकर निश्चय किया कि इस कार्य के योग्य हनुमान ही है। उसके अतिरिक्त और कोई इस विषय मे इतना दक्ष नही है। यह विचारकर सबने सहमत होकर हनुमान को बुलाया। हनुमान रामचन्द्र के आदेश को पाकर उसी समय उपस्थित होकर परम विनम्रता से रामचन्द्र तथा सुग्रीव आदि से मिला और बोला—"महाराज! कहिये क्या आज्ञा है?"

रामचन्द्र ने उसकी विनम्रता की प्रशंसा करते हुए एकात मे ले जाकर अपनी निशानी के रूप में अपनी मुद्रिका देकर कहा—"कि देखा, इसे जनकनदिनी के आगे रखकर कहना कि रामचन्द्र तुम्हारे वियोग में बहुत दुःखी है। उन्हे रात-दिन चैन नही पड़ता है। वे तुम्हें छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे हैं। तुम चिन्ता न करना।"

इतना कहकर हनुमान को वहाँ से विदा किया। हनुमान रामचन्द्र के चरणों में नमस्कार करके लका की ओर चले गये। मार्ग में भीषण उपद्रवों का निराकरण करते हुए लका में पहुँचे। वहां पहुँच कर वहा के निवासी मनुष्यों से सीता का पता निकाल कर जहाँ सीता ठहराई गयी थी, उसी उपवन में पहुंचे और एक वृक्ष पर चढकर गुप्त रूप से वहाँ का वृत्तांत देखने लगे। उन्होने देखा कि कामी रावण ने अपनी मदोदरी आदि रानियों को सीता के पास भेज रखा है। वे उससे कह रही थी कि—"हे जनकनंदिनी! देख! रावण सर्व गुण विद्याओ का स्वामी, तीन खड का अधिपति तथा सब राजा—महाराजाओं का शासक है। उसके एक से एक सौंदर्य युक्त हजारों रानियां है तथापि वह जी-जान से तुझ पर मुग्ध हो गया है। तुझे अपना अत्यन्त पुण्योदय समझना चाहिए कि जो आज वह तुझे अपनी समस्त प्रियाओ के मध्य प्रधान पटरानी बनाना चाहता है। तू स्वय विचार कर देख कि त्रिखडाधिपति रावण को प्रियतम बनाने से सुख प्राप्त हो सकता है या एक साधारण अल्प भूमि के अधिकारी भूमिगोचरी मनुष्य को बनाने से। हम यह नही चाहती कि तुझे किसी प्रकार का दुःख उठाना पडे। हम तो सब तेरे सुख के लिए ही तुझसे इतना कुछ कह रही है। तुझे तो अपने लिए बडी खुशी का दिन समझना चाहिए जो अपनी एक से एक रूपवान अठारह हजार रानियो को छोडकर विद्याधरो के स्वामी का हृदय तुझ पर न्योछावर हुआ जाता है और जिसमे तुझे आसन भी ऊँचा दिया जाएगा अतएव तू व्यर्थ रोकर अपने चित्त को क्यों कष्ट देती है? रामचन्द्र से तुझे इतना सुख नही मिल सकता जितना रावण को प्रियतम बनाने से उठाएगी।"

इस प्रकार और भी बहुत सी बाते मदोदरी सीता से कहती रही। सीता को मदोदरी के ऐसे लज्जाशून्य वचन सुनकर बहुत क्रोध आया। वह उसे धिक्कार कर बोली—"हे मदोदरी! तेरी तो पतिव्रता स्त्रियों मे बहुत प्रशसा सुनती थी पर ये आज नदी का प्रवाह उल्टा कैसे? तुझे ऐसे निर्लज्ज वचन कहते हुए कुछ तो सकोच होना चाहिए था कि मैं कुलीन और पतिव्रता होकर कैसे अपशब्द बोल रही हूँ। मुझे नही मालूम था कि तेरा ऐसा कुल होगा। तू मुझे अतिशय मूर्ख जान पडती है जो तुझे इतना भी विचार नही आया कि कुलीन कन्याओ का एक ही पति होता है। बस, फिर कभी ऐसे अश्लील वचन मेरे सम्मुख मुख से न निकालना।"

सीता का यह कहना मदोदरी को बहुत बुरा मालूम हुआ। वह क्रोध रूप अग्नि से जलकर अपने मन ही मन में भस्म हो गयी। उसने सीता को दुःख देना चाहा ही था कि इतने में

हनुमान वृक्ष से नीचे उतर मदोदरी आदि रावण की स्त्रियो को उनके किये का फल देकर सीता के पास पहुँचा । जनकनदिनी सीता को सादर नमस्कार कर रामचन्द्र जी की अभिज्ञान (निशानी) रूप मुद्रिका सम्मुख रखकर उसने रामचन्द्र जी का कहा हुआ समस्त वृत्तांत ज्यों का त्यों कह सुनाया । सीता रामचन्द्र जी की मुद्रिका पाकर दरिद्री को खजाने की प्राप्ति के समान अत्यत आनदित हुई । उसने हनुमान से पूछा—"भाई ! यथार्थ सत्य वार्ता कहो ! तुम्हारा नाम क्या है और कहाँ से चले आये हो ?" तब उत्तर में हनुमान ने निवेदन किया कि—"मैं रामचन्द्र का सेवक हूँ । मेरा नाम हनुमान है । सुग्रीव के कहे अनुसार रामचन्द्र ने मुझे आपकी कुशलता का सदेश लाने के लिए भेजा है ।"

सुनकर सीता बहुत खुशी हुई । उसने फिर पूछा—"भाई ! रामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाई कुशल तो है ।"

हनुमान बोला—"तुम कुछ चिता न करो । वे दोनों भाई बहुत अच्छी तरह से किष्किधापुरी मे सेना सहित ठहरे हुए हैं । उनका परम प्रकर्ष पुण्योदय है जो उनके साथ विद्याधरो का अधिपति सुग्रीव भी हो गया है । वे शीघ्र ही विपुल सेना लेकर तुम्हे इस आकस्मिक आपत्ति से छुडाने के लिए आयेगे ।"

इस प्रकार हनुमान ने सीता को बहुत कुछ धैर्य बधाया । सीता जी जब लका में लाई गयी थी तभी से उन्होने आहार-पान नही किया था अत: हनुमान ने उसी समय आहार सामग्री लाकर सीता को आहार कराया और फिर सीता का चित्त प्रसन्न करने के लिए राम सबधी कथा सुनाने लगे । जब मदोदरी को हनुमान ने उसके किये का फल दिया तो वह उसी समय दौडती हुई अश्रुपात करती रावण के पास गयी और हनुमान की सब बात कह सुनायी । सुनकर रावण बड़ा क्रोधित हुआ । उसने अपने वीर सैनिको को आज्ञा दी कि "जाओ तुम अभी उस मूर्ख पशु की खबर लो जो सीता जी के पास बैठा हुआ है ।" वीर सैनिक अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही हनुमान पर चढ कर आये । हनुमान सैनिको को आते हुए देखकर शीघ्रता से आकाश-गमन कर उनसे लडने लगे । बड़े-बडे वृक्ष उखाडकर रावण की सेना को उनसे धाराशायी करने लगे । अनेक योद्धा प्राणरहित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और कितने ही इधर-उधर भाग गये । अन्त में उसने अपने भीषण युद्ध से थोडी ही देर में समस्त राक्षस सेना को हरा दिया और फिर स्वय रावण के पास जाकर उससे बोले—"हे लकाधिपति । तू बडा बुद्धिमान समझा जाता है । तुझे यह मूर्खता कैसे सूझी जो पर स्त्री का हरण कर उससे विषय सुख की इच्छा करता है । क्या तुझे मालूम नही है कि उसका स्वामी रामचन्द्र कैसा महापराक्रमी प्रतापी वीर है और उसका लघु भ्राता लक्ष्मण भी! क्या तू ऐसे वीर की स्त्री को लाकर अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने की इच्छा रखता है ? कदापि नहीं । मुझे तो यह नितांत असभव मालूम होता है ।"

अशोक वाटिका में हनुमानजी का सीता जी से मिलन

प्राप्ति स्थान —जैन साहित्य प्रकाशन ७६८३, शिव नगर, देहली ५.

इस प्रकार हनुमान ने निडर होकर रावण को खूब फटकारा । तब रावण ने क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर अपने नौकरों से कड़क कर कहा —'बड़े आश्चर्य की बात है कि यह एक साधरण मनुष्य सभा में अपशब्द व कटुक शब्दो के द्वारा कितना अपमान कर रहा है और तुम खड़े हुए उसके मुख की ओर देख रहे हो । शीघ्र ही इसका मस्तक छेदन क्यो नही कर देते ? स्वामी की आज्ञा पाते ही सेवकगण हनुमान पर टूट पड़े, परन्तु फिर भी उस महावीर युद्ध-कला-कुशल हनुमान का वे क्या कर सकते थे ? हनुमान झट से आकाश में चले गये और रावण की इस दुष्टता पर क्रोधित हो समस्त लंकापुरी में अग्नि लगा दी । तदनंतर सीता के पास पहुँचे और उनसे कुछ अभिज्ञान रूप वस्तु देने के लिए प्रार्थना की । तब पतिवियोगिनी सीता ने अपना चूडारत्न देकर और रामचन्द्र के लिए कुछ शुभ समाचार कह कर हनुमान को विदा किया । हनुमान जनकनंदिनी को नमस्कार कर उनसे आज्ञा लेकर शीघ्र हो प्रणाम कर सागर लाघ सुग्रीव की राजधानी किष्किधापुरी में राम के निकट आकर उपस्थित हुए ।

हनुमान ने सीता का अभिज्ञान रूप चूड़ारत्न सम्मुख रखकर सीता के कहे हुए सब शुभ समाचार कह सुनाये और भो रामचन्द्र ने सीता सम्बन्धी जो भी वृत्तात पूछा उसका यथोचित उत्तर देकर उनके सतप्त हृदय को शात किया । तदनन्तर जब यह वृत्तांत सुग्रीव आदि को मालूम हुआ तब वह मिलकर विचारने लगे कि अब हमको क्या करना चाहिए ? रावण तीन खंड का स्वामी है । इसी से उसके यहाँ चक्ररत्न भी प्रकट हो गया है जो सब सुखों का कारण और शत्रु-पक्ष का मान-मर्दन करने वाला समझा जाता है । जिसने अपनी भुजाओ के बल से इद्र, वरुण, यम और वैश्रवण आदि बड़े-बड़े प्रतापी राजाओं के अभिमान को नष्ट कर अपने वश मे कर लिया है, पृथ्वी पर कौन ऐसा राजा है जो उसकी आज्ञा का अनादर कर सके ? अर्थात् उसकी आज्ञा को सब राजा-महराजा स्वीकार करते है । जिसके कुम्भकर्ण और विभीषण जैसे महापराक्रमी भाई और इद्रजीत, मेघनाद आदि बहुत से प्रराक्रमी पुत्र है, जो समुद्र से घेरे हुए राक्षस द्वीप के अंतर्गत चारों ओर से विशाल प्राकार से युक्त लका नामक अपनी राजधानी में रहते हुए निराबाध तीन खड का एक छत्र राज्य करता है, ऐसा प्रतापी त्रिखडेश रावण कैसे जीता जा सकेगा ? सीता कैसे लाई जाएगी ? कैसे हम रामचन्द्र को सतुष्ट कर सकेंगे ? हम लोगो ने रामचन्द्र की ओर होते हुए तो कुछ भी नही विचारा, परन्तु देखो, रावण जब ये वृत्तात सुनेगा तो कितना क्रोधित होगा और क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर हमारा अपकार किये बिना कैसे चूकेगा ? हमे अभी ये मालूम नही है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण कितने पराक्रमी वीर है और जब तक इनकी शक्ति का ठीक परिचय न हो जाए तब तक अपनी विजय की आशा भी वृध्या के पुत्र की प्राप्ति की अभिलाषा के समान व्यर्थ है अतएव सबसे प्रथम इनकी शक्ति

का अनुमान करना चाहिए और इसका ठीक निर्णय कोटि शिला के उठाने पर हो सकेगा क्यों कि कोटिशिला वही उठा सकता है जो नारायण हो और वही प्रतिनारायण का मारक होता है। रावण प्रतिनारायण है यह तो निसदेह निश्चित है। अब यदि इनका नारायण होना निश्चित हो जाए तो इसका साथ देने मे हमारी कोई हानि नही, नही तो रावण के द्वारा इनका और हमारा वृथा ही सर्वनाश होगा। विद्याधरो के इस विचार को विराधित ने जाकर रामचन्द्र से कह सुनाया ! यह सुनकर लक्ष्मण ने बड़ी निर्भीकता से कहा –"कि ये लोग क्यो इतनी कायरता दिखलाते हैं ? सब एकत्रित होकर कोटिशिला के पासचले और अपने इस सदेह का निवारण कर ले। मै सबके समक्ष कोटिशिला को उठाकर अपनी शक्ति का परिचय करा दूँगा।"

लक्ष्मण के कथनानुसार वानरवंशी सब एकत्रित होकर शुभ महूर्त में लक्ष्मण के साथ कोटिशिला के समीप गये। वहाँ पहुँचते ही लक्ष्मण ने उस शिला की अष्ट द्रव्यो से पूजन कर फिर उसको तथा वहाँ से निर्वाण होने वाले सिद्धो को नमस्कार कर एक योजन चौडी चौकोर सर्वतोभद्र नाम की शिला को अपने हाथो से जाँघ के ऊपर तक उठा ली। लक्ष्मण की यह अनुपम अतुल वीरता देखकर देवो ने पुष्प-वर्षा की, अनेक प्रकार के बाजे बजाए और उसकी बहुत प्रशसा की उसी दिन मे यह भरत खड मे आठवाँ वसुदेव प्रसिद्ध हुआ। यही रावण के वश का विनाशक और रावण के सुख की इतिश्री करने वाला पुरुषोत्तम है। इस प्रकार देवो के द्वारा जब और विद्याधरो ने लक्ष्मण की प्रशसा सुनी तब उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया कि यह रावण का पूर्ण नाश करेगा। उस समय समस्त विद्याधर और वानरवशियो ने बडी खुशी मनाई। उसके बाद वे दोनो भाईयो की बहुत प्रशसा करते हुए अपने सुन्दर विमान पर उन्हे बैठाकर किष्किन्धापुरी मे ले आए। अब रावण से युद्ध करने का निश्चय किया गया सब विद्याधर अपनी-अपनी सेना इकट्ठी करके रामचन्द्र के दल में आकर मिलने लगे। सुग्रीव आदि भी अपनी-अपनी सेना लेकर आ गये। रामचन्द्र के परम प्रकर्ष पुण्योदय से उस समय विद्याधर और वानरवशियो को असख्य सेनाएँ एकत्रित हो गयी। इतनी अपार सेना को देख रामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए। जब सेना सज धजकर तैयार हो गयी तो उसके चलने के लिए आज्ञा दो गयी। आज्ञा पाते ही सब सैनिक गण अपने-अपने विमानो पर आरुढ होकर समुद्र को उलाघ कर त्रिकूटाचल पर आए। उन्होने राक्षसो की राजधानी लका पुरी चारो ओर से विशाल प्रकार सयुक्त खूब सजी हुई देखी।

लका के देखते ही रामचन्द्र की सेना को अच्छे विजय सूचक शुभ शकुन हुए जिससे राम-लक्ष्मण को अत्यत आनन्द हुआ। जब राम के ससैन्य आने का वृत्तात रावण को विदित हुआ तब उसे बड़ा क्रोध आया, परन्तु वह उनका कुछ नही कर सका।

इसी प्रसंग में एक दिन की बात है कि सीता तो अपनी रक्षा किए हुए धीरता के साथ वन में बैठी हुई थी। रात्रि के समय रावण भी वहीं पर पहुँचा और राक्षस, भूत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी, सर्प, हाथी, सिंह आदि भयंकर जीव-जन्तुओ को गर्जना करते हुए दिखलाये। पानी बरसाया, अग्नि की भयंकर ज्वाला प्रज्वलित की और बड़े-बडे पर्वतो के फूटने जैसा घोर भयकर शब्द किया। इस प्रकार उसने अनेक उपद्रव किये जिनके देखने और सुनने से बड़े-बड़ेवीर पुरुषो के हृदयकाप जाते हैं परन्तु तब भी जनकनदिनी सीता ने अपने अखड शील व्रत को किंचित्त भी म लेन नही होने दिया। उसने इन उपद्रवों से प्राँण रहित हो जाना अच्छा समझा, पर रावण का आश्रय लेना अच्छा नही समझा। उसने अपनी रक्षा की प्रार्थना किसी से नही की। वह नराधम सीता का चित्त विचलित करने के लिए रात भर इसी प्रकार उपद्रव करता रहा परन्तु जनकनन्दिनी के सुमेरु समान अचल चित्त को किंचित् भी चलायमान नहीं कर सका। अंत मे निराश होकर वह वहाँ से वापिस लौट आया। सीता की प्राप्ति न होने पर काम उसे अधिकाधिक अधीर और सतप्त करने लगा, परनु परवश से मन मारकर रहना पड़ा।

जब यह वृत्तान रावण के लघु भ्राता विभीषण को विदित हुआ तब उसे बड़ी करुणा आई। वह उसी समय सीता के निकट आया और बोला—"माता! तुम क्यो रो रही हो ?" तब सीता ने अपनी समग्त दु,खभरी कथा कह सुनाई। सुनकर विभीषण को बड़ा दु ख हुआ। वह वहाँ सीता को धैर्य बधाकर रावण के पास आया और उससे बोला—"हे पूज्य! आप तो स्वय विद्वान् है। यह आप भली प्रकार जानते हैं कि परस्त्री सेवन करने से अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होती है अतएव मै आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप जिसकी स्त्री लाये है उसे उसके सुपुर्द कर दे तो बहुत अच्छा हो। ऐसा करने से हमारे कुल की कीर्ति प्रकट होगी। आप एकाग्रचित्त होकर विचार करें। इसमें हमारी भलाई न होगी वरन् अपयश होगा। हे महाभाग! अन्याय करने से न लाभ हुआ है और न होगा। सुख के लिए धर्म सेवन करना उचित है। धर्म से सीता ही क्या उससे भी कही अच्छी मनोज्ञ सुन्दरी, स्वयमेव धर्मात्मा पुरुष को अपना पति बनाती है। मुझे आशा तथा दृढ विश्वास है कि आप इस बुरी वासना को अपने चित्त से पृथक कर देगे। देखिये। रामचन्द्र यहाँ पहुँचे है। वे अभी राजधानी के बाहर हैं। यदि आप उन्हे सीता को सौंप देगे तो वे वही से प्रसन्न होकर लौट जाएगे और कुछ झगड़ा भी नही होगा अन्यथा वे तो अपनी प्रिया को लेने आए ही हैं अत: उसे लेकर ही जाएगे परतु उस अवस्था मे अधिक हानि होने की संभावना है। अतएव परस्पर द्वेष न बढ़े तथा शांति हो जाए तो बहुत अच्छा हो शांति का एकमात्र उपाय सीता को वापिस दे देना ही है। यही मेरी आपसे प्रार्थना है। आगे आप जो योग्य समझे वही करें।"

विभीषण के समझाने का रावण के हृदय पर उल्टा असर पड़ा। उसे शांति के बदले क्रोध आ गया। वह विभीषण से बोला—"रे पापी, दुष्ट, नीच ! तू मेरा भाई होकर भी मेरा अपवाद करता है और रामचन्द्र जो कि न जाने कौन हैं, उनकी प्रशंसा करता है। तुझे मुख से कहते हुए लज्जा भी नही आती। मैं तेरे समान दुष्ट से इससे अधिक कुछ नही कहना चाहता और न तुझसे सबध ही रखना चाहता हूँ। बस, खबरदार ! अब तूने मुख से कुछ शब्द निकाला तो। तेरी खैर इसी में है कि तू यहाँ से निकल जा। अब तुझे इस पुरी मे रहने का अधिकार नही।"

विभीषण ने रावण के वाक्य सुनकर उत्तर मे और कुछ न कह कर केवल इतना ही कहा कि "अच्छा ! आपकी जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा। मैं भी ऐसी अनीति करने वाले राजा के अधिकार में नही रहना चाहता।"

इतना कह कर अपनी सब सेना को लेकर लका से निकल गया और सुग्रीव से जाकर मिला। उसने अपने आने की यथार्थ वार्ता कह सुनाई। सुनकर सुग्रीव अत्यधिक आनंदित हुआ। उसी समय वह रामचन्द्र के पास जाकर बोला—"महाराज ! विभीषण रावण मे लडकर आया है।"

सुनकर रामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने विभीषण से मिलने की इच्छा प्रकट की। सुग्रीव जाकर विभीषण को बुला लाया। रामचन्द्र और विभीषण की परस्पर कुशल वार्ता हुई। रामचन्द्र ने विभीषण को गले से लगाकर उससे पूछा—"लकाधिराज ! अच्छी तरह तो हो। अब तुम सब चिताओ को छोडो और विश्वास करो कि तुम्हे लका का राज्य दिलाया जाएगा।"

विभीषण ने कहा—"जैसा आप विश्वास दिलाते है वैसा ही होगा क्योकि महात्माओ के वचन कभी झूठे नही होते हैं जैसे बाहर निकला हुआ हाथी दात फिर भीतर नही घुसता।"

रामचन्द्र ने फिर भी यही कहा—"तुम निश्चिंत रहो। सब अच्छा ही होगा।" वानरवशीयो को विभीषण के अपने पक्ष में मिलने से अत्यंत हर्ष हुआ। सच है 'सत्पुरुष के मिल जाने से किसे आनद नही होता।' जब विभीषण के रामचन्द्र से मिल जाने का वृत्तात रावण को मालूम हुआ तब वह भी उसी समय संग्राम के लिए तत्पर हुआ और अपने शूर-वीरों को भी तत्पर होने की आज्ञा दी। स्वामी की आज्ञा पाते ही जितने वीर योद्धा थे, वे सब रावण के निकट आकर उपस्थित हुए। जब रावण ने देखा कि सब वीर लोग इकट्ठे हो गये है तो वह उसी समय अपनी सब सेना साथ लेकर बदीजनो के द्वारा अपना यशोगान सुनता हुआ लंका से युद्ध के लिए चल पडा। उधर रामचन्द्र ने जब सेना का कोलाहल सुनकर यह

जान लिया कि रावण भी सेना लेकर युद्ध भूमि में आ रहा है तब रामचन्द्र ने भी अपने वीरों को युद्ध के लिए तैयार होने की आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही सेना तैयार हुई। तब वे भी सेना लेकर युद्धभूमि में आ पहुँचे। दोनों वीरो ने अपनी-अपनी सेना को युद्ध करने की आज्ञा दी। अपने-अपने स्वामी की आज्ञा पाते ही दोनों ओर के योद्धाओ की मुठभेड़ हो गयी। घोर युद्ध होना आरभ हुआ। हाथी हाथियो के साथ, घोड़े घोड़ों के साथ रथ रथों के साथ और पैदल सेना अपने समान वालो के साथ भयकरता से लड़ने लगी। दोनो सेनाओ में बड़ा भयकर युद्ध हुआ। हाथी हाथियों से घोड़े घोड़ों से रथ रथो से, पैदल सेना पैदल सेनाओ से मारी गयी। इस भीषण युद्ध में राम की सेना ने रावण की सेना को व्याकुल करके भगा दिया। जब रावण ने देखा कि युद्ध से सेना भागी जा रही है तो वह स्वय उठा और अपने भागते हुए वीरों को ललकार कर कहा—"वीरों! यह भागने का समय नही है। ठहरो! इन पामरो को धाराशायी बनाकर विजय श्री प्राप्त करो। वे लोग कायर है जो युद्ध में पीठ दिखाकर भागते है। तुम ऐसे वीर होकर थोड़े से मनुष्यों की सेना से भयभीत होकर भागे जाते हो। क्या इसी का नाम वीरता है? युद्ध में पीठ दिखाकर अपने कुल को कलंकित मत करो वरन् यश-लाभ कर स्वर्ग प्राप्त करो।

यह कहकर वह अपने वीरो को साथ लेकर राम की सेना से आ भिडा। भिड़ते ही उसने अपने पराक्रम का विलक्षण परिचय दिया। उस समय राम की सेना रावण के प्रहार को सहन न कर इधर-उधर भाग निकली। यह देखकर लक्ष्मण को पूछने पर ज्ञात हुआ कि रावण के प्रहार को सहन न करने के कारण सेना भाग रही है, तब उसने अपने वीरो को ललकार कर कहा—"वीरों, भागो मत। तुम्हारा सेनापति अभी आगे होकर रावण के पराक्रम का परिचय कराये देता है। तुम अपनी आँखो से देखोगे कि रावण की क्या दशा होती है?"

यह कहते हुए लक्ष्मण अपने वीरों को साथ लेकर युद्धभूमि में जा पहुँचे। दोनो मानी वीर (रावण और लक्ष्मण) ताल ठोक कर युद्धभूमि में उतर पड़े। मुष्टि प्रहार तथा अस्त्र-शस्त्र से दोनो का घोर युद्ध हुआ। इसमें लक्ष्मण ने रावण को व्याकुल कर दिया और उसके हाथी को गिरा दिया। उस समय रावण अपने हाथी को बेकाम जानकर नीचे उतर पडा और क्रोध के आवेश में आकर लक्ष्मण के ऊपर शक्ति चलाई। शक्ति व्यर्थ न जाकर लक्ष्मण के लगी। उससे वह मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। जब यह वृत्तात रामचन्द्र को मालूम हुआ तब वह लक्ष्मण के पास आये और लक्ष्मण को मूर्छित देखकर स्वयं भी मूर्छित होकर गिर पडे, उनका शीतलोपचार किया गया। तब कुछ समय के बाद वे सचेत हुए। भाई की यह दशा देखकर उनको असह्य दुःख पहुँचा। युद्ध रुकवा दिया गया। रावण से रामचन्द्र ने कहा—"हमारे भाई लक्ष्मण का चित्त अप्रसन्न है, इससे युद्ध बंद कर दिया, जाए।"

राम के कहे अनुसार रावण ने युद्ध बद कर दिया। रावण यह समझकर कि मैं अब सर्वथा विजयी हो गया, मुझे अब किसी का भय नही है, अपनी राजधानी में जाकर सुखपूर्वक रहने लगा। इसी अवसर मे अष्टाह्निका पर्व आ गया। सब धर्म-ध्यान में लग गये। किसी को युद्ध की चिता न रही। उधर राम लक्ष्मण को युद्धभूमि से अपने डेरे पर ले गये। कुटिल रावण के भय से विद्याओ के द्वारा कटक की रक्षा का प्रबध किया गया। रामचन्द्र को तो भाई के शोक मे रोने के अतिरिक्त कुछ भी नही सूझता था। उनकी यह दशा देखकर सुग्रीव आदि को बडी चिता हुई। इससे उसने रक्षा का और भी सख्त प्रबध किया। रामचन्द्र दु खी होकर भामडल से बोले—"तुम अपनी बहिन के पास जाओ और उससे कहो कि तुम्हारे लिए लक्ष्मण ने अपने प्राण दे दिये है और अब उसके साथ-साथ रामचन्द्र भी अग्नि में प्रवेश करेंगे। तुम अपनी कुल की रीति न छोड़ना।"

रामचन्द्र अधीर हो उठे। उनसे वह दु.ख सहा नही गया। वे रोकर कहने लगे—"हाय! मैं बडा ही पापी हूँ जो मुझे असमय मे ही यह यत्रणा भोगनी पडी। प्यारे भाई का मुझसे वियोग हुआ। मुझे इस बात का और भी दु ख है कि मैं विभीषण के सामने असत्यवादी हो जाऊंगा। यह मुझे क्या कहेगा? जो हो, मैं उससे क्षमा चाहता हूँ। भाई विराधित! तुम चिता तैयार करो। भाई लक्ष्मण के साथ मै भी अपनी जीवन लीला पूर्ण करूगा। मैं बिना भाई के क्षण-मात्र भी नही जी सकता। तुम सबसे मै क्षमा चाहता हूँ।"

रामचन्द्र इस प्रकार कह ही रहे थे कि इतने मे एक विद्याधर ने आकर हनुमान से कहा—"मै लक्ष्मण के जीने का उपाय बताता हूं। मेरा कहना सुनो।"

हनुमान ने प्रसन्न होकर उससे पूछा—"तुम जल्दी उपाय बताओ। लक्ष्मण का चित्त बहुत खराब है। विशेष वार्तालाप के लिए समय न मिलने से मै क्षमा मांगता हूँ।" वह बोला—"कि एक बार मुझे भी शक्ति लगी थी तब उसे हटाने के लिए मुझ पर विशल्या का जल छिड़का गया था अब भी जब कभी हमारे यहाँ किसी तरह की महामारी चलती है तब उसी के जल से शाति की जाती है। तुम भी वैसा ही करो।"

सुनकर हनुमान ने कहा—"विशल्या कहाँ रहती है?" विद्याधर कहने लगा—"द्रोण नाम का एक राजा है। वह भरत का मामा है। उसके विशल्या नाम की कन्या है। तुम उसके पास जाओ।"

यह सब वृत्तात हनुमान ने रामचन्द्र से आकर कहा। उत्तर मे रामचन्द्र ने कहा—"हो सके तो शीघ्र ही उद्यम करो। इसमे हमारी क्या हानि?" यह सुनकर इस कार्य को करने के लिए हनुमान और भामडल दोनो वीर उद्यत हुए। वे उसी समय वहाँ से चलकर अयोध्या पहुँचे और अपने पर बीती हुई समस्त घटना भरत को कह सुनाई। सुनकर भरत को रावण की इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। वह रावण से युद्ध करने के लिए अपनी सेना

(हनुमानजी अयोध्यासे राजा द्रोण की पुत्री
विशल्या को रणभूमि में लेजातेहुवे)
पन्नालाल जैन आर्टिस्ट
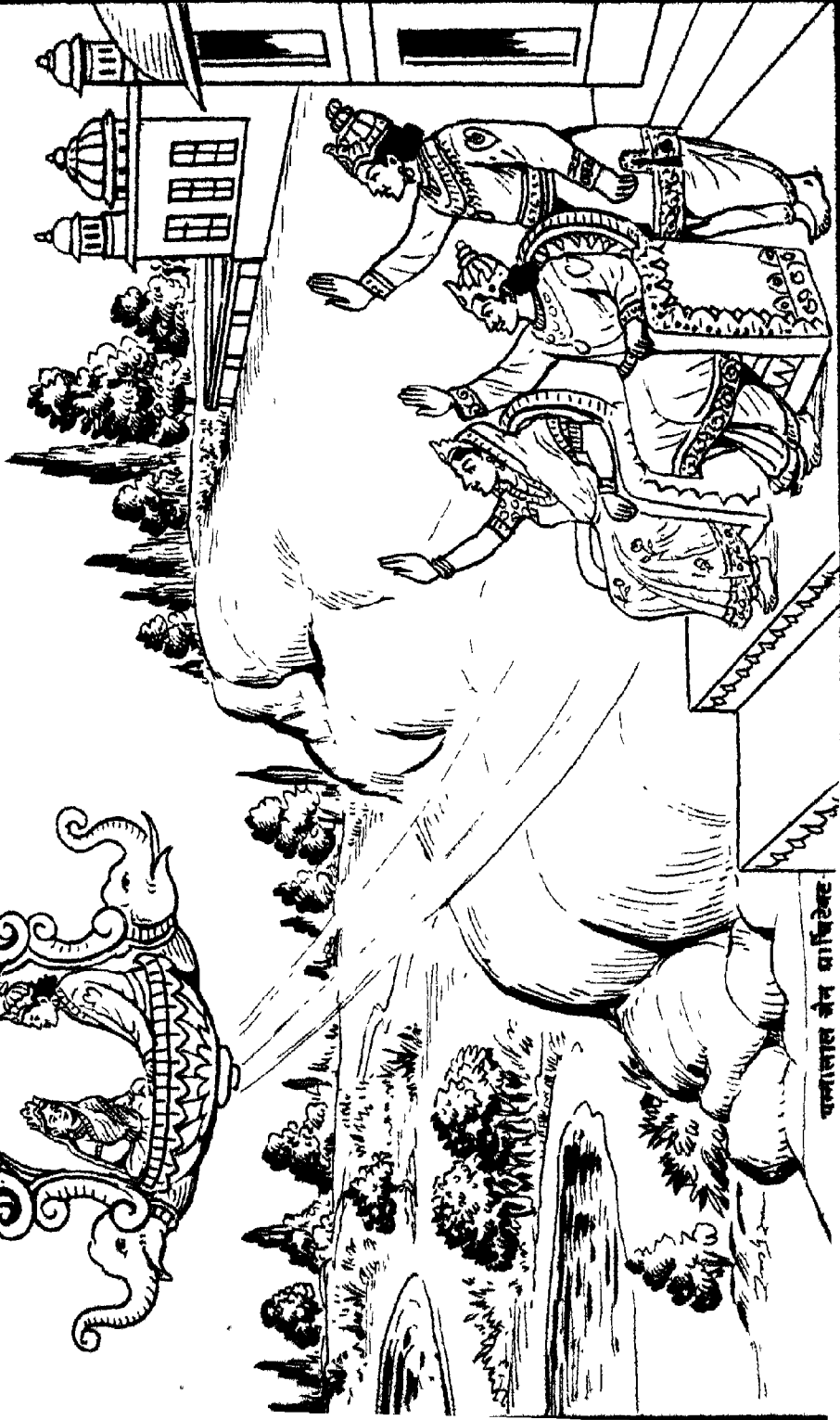
को तैयार होने की आज्ञा देने लगा। तब हनुमान ने उसे समझाकर कहा—"कि युद्ध की आज्ञा करना अभी उचित नही है। प्रथम भ्रातृ-जीवन का उपाय कीजिए। वे तुम्हारे मामा द्रोण की विशल्या नामक पुत्री के स्नान किये हुए जल के सिंचन करने से जीवित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नही। अतएव प्रथम जल लाने का उद्योग कीजिए।"

भरत ने कहा—"अभी रात्री है। सूर्योदय होते ही मैं विशल्या का स्नानोदक ला दूंगा।"

हनुमान ने कहा—"आपने कहा वह तो ठीक है परंतु लक्ष्मण के लिए सूर्योदय होना अच्छा नही है क्योकि जिसके शक्ति लग जाती है, यदि उसका प्रतिकार रात्री में ही कर दिया जाए तो अच्छा है नही तो सूर्योदय होने पर उसका जीना कठिन है। अतएव जहाँ तक हो सके अभी जल लाना उचित है। उठिये, विमान उपस्थित है। मै भी आपके साथ चलता हूँ।"

भरत उठे और विमान में आरुढ़ होकर अपने मामा के यहाँ पहुँचे। सोते हुए राजा द्रोण को उठाया और उससे सब वृत्तान्त कहा। द्रोण ने उसी समय विशल्या को बुलवाया और कहा—"बेटी! लक्ष्मण शक्ति के आघात से मूर्छित पड़ा हुआ है अतः तू अपने शरीर का जल बहुत शीघ्र दे दे, जिससे वह सचेत हो सके।" पिता के वाक्य सुनकर विशल्या ने विनीत होकर उससे पूछा—"पिता जी! लक्ष्मण कौन है?"

उत्तर में द्रोण ने कहा—"बेटी! लक्ष्मण दशरथ की रानी सुमित्रा का पुत्र तथा रामचन्द्र का लघु भ्राता है। रावण ने उस पर शक्ति मारी है अतएव हनुमान तुम्हारे शरीर का गधोदक लेने आया है। उसे बहुत शीघ्र दे दो क्योकि सूर्योदय होना उसके लिए अमंगलकारक है।"

विशल्या ने कहा—"पिताजी! मैं प्रथम आपसे अपनी धृष्टता की क्षमाप्रार्थी होकर निवेदन करती हूँ कि मै लक्ष्मण के गुण सुना करती थी और उसी समय उन पर मुग्ध होकर उन्हे अपना जीवनेश समझ लिया था। आज अवसर है। मै स्वय ही उनके पास जाकर अपना कर्त्तव्य पालन करती हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिए।"

द्रोण ने सुनकर कहा—अस्तु! जैसी इच्छा हो स्वीकार है।"

पिता की आज्ञा पाकर विशल्या विमान मे आरूढ होकर हनुमान के साथ लक्ष्मण के पास जाने के लिए चल दी। वह जैसे-जैसे लक्ष्मण के पास पहुँचने लगी, शक्ति वैसे-वैसे ही शरीर से निकलने लगी। विशल्या के लक्ष्मण के शरीर का स्पर्श करते ही शक्ति शरीर से निकल भागी। लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हुई। तब वह एकदम यह कहता हुआ, मारो-मारो, पकड़ो-पकड़ो रावण चोर भागने न पावे, सचेत हो गया। सबको अत्यन्त हर्ष हुआ। सबने

बड़ा भारी आनन्दोत्सव किया। तदनंतर विशल्या का समस्त वृत्तांत लक्ष्मण को सुनाकर उसका इस महाभाग के साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करा, दिया। उधर रावण अष्टाह्निका पर्व आया जानकर बहुरूपिणी विद्या साधन करने के लिए जिनमदिर में जाकर ध्यान लगाकर अपना अभीष्ट सिद्ध करने लगा। जब यह वृत्तात रामचन्द्र को विदित हुआ तो वे अगद से बोले—"अब अवसर अच्छा है, तुम जाओ और रावण की विद्या-सिद्धि मे विघ्न करो।"

रामचन्द्र की आज्ञा पाते ही अगद अपने साथियों को साथ लेकर जहाँ पर रावण विद्या साधन कर रहा था, वही पर पहुंचा और महान् घोर उपद्रव करने आरभ कर दिये, परन्तु धीर, वीर रावण इन के उपद्रवो को कुछ भी चिंता न कर वैसे ही ध्यान में लगा रहा। तब अंत मे इनको निराश होकर वापिस अपने डेरे पर लौटना पडा। अनुष्ठान समाप्त होने पर रावण को विद्या सिद्ध हो गयी। वह उसके द्वारा अनेक प्रकार के रूप धारण करने लगा। लक्ष्मण जब अच्छे हो गये तब फिर रामचन्द्र ने रावण के पास युद्ध करने के लिए आमत्रण पत्र भेजा। वह उसी समय सेना लेकर रणक्षेत्र में आ उपस्थित हुआ। यह देखकर रामचन्द्र और लक्ष्मण भी अपनी सेना लेकर युद्धभूमि में आ पहुँचे। अपनी-अपनी सेना को लडने की दोनो ने आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही दोनो सेनाओ में परस्पर घोर युद्ध हुआ। लक्ष्मण ने राम से कहा—"पूज्य! आप तो यही ठहरें। मै अभी जाकर पापी रावण को निष्प्राण किये देता हूँ।" लक्ष्मण के कहे अनुसार रामचन्द्र तो बाहर रहे और लक्ष्मण ने युद्ध भूमि मे प्रवेश किया। रावण और लक्ष्मण का बडा भारी युद्ध हुआ। इस बार रावण लक्ष्मण को अपने सम्मुख बहुत देर तक युद्ध करते देखकर बडा क्रोधित हुआ। उसने क्रोधाग्नि से प्रज्वलित होकर लक्ष्मण पर अग्नि बाण चलाया। उसे लक्ष्मण ने मेघबाण से काट दिया। रावण ने सर्पबाण चलाया। लक्ष्मण ने उसे गरुड बाण से काट दिया। रावण ने फिर तामस बाण चलाया। उसे लक्ष्मण ने सूर्य बाण से रोका। रावण दूसरा बाण छोड़ना ही चाहता था कि लक्ष्मण ने बड़ी फुर्ती से अपने अर्द्ध-चंद्र बाण से उसका मस्तक छेदन कर दिया। सिर कटते ही उसने दो मस्तक बनाए। लक्ष्मण ने इस बार दोनो सिर काट डाले। उसने चार सिर बना लिए। तात्पर्य यह है कि जैसे-जैसे रावण सिर बढाता गया, लक्ष्मण वैसे ही सिर काटता गया। यह देखकर रावण को बडा क्रोध आया। उस समय उसने अपूर्व शक्तिवान् लक्ष्मण को साधारण उपायो से पराजित होता न देखकर क्रोधाध हो लक्ष्मण के ऊपर चक्र चलाया, जिसकी हजारो देव सेवा करते रहते है। चक्र लक्ष्मण को कुछ भी हानि न पहुँचाकर उल्टा प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ गया। फिर लक्ष्मण ने उसी चक्र को अपने शत्रु पर चलाया। रावण के समीप पहुँचते ही चक्र उसे धाराशायी करके (मार के) उल्टा लक्ष्मण के हाथ मे आ गया।

रावण के मरते ही सेना में हाहाकार मच गया। अनाथ सेना जिधर मार्ग निकला,

भरत मिलाप

उधर ही भाग निकली ! युद्ध का अंत हुआ। बिभीषण ने भाई का अग्नि संस्कार किया । ससार की यह लीला देखकर इद्रजीत, मेघनाद आदि उसी समय उदासीन होकर तपोवन में चले गये। उन्होंने उसी समय मायाजाल तोड़कर आत्महित का पथ जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी दिन से रामचन्द्र की कीर्ति पताका संसार में फहराने लगी। लक्ष्मण ने चक्ररत्न की पूजा की। विभीषण को लका का राज्य दिया गया। सब राक्षसवशी रामचन्द्र से आकर मिले। भामडल, सुग्रीव, हनुमान और विराधित आदि को राम की विजय का अत्यधिक आनद हुआ। तदनंतर रामचन्द्र जी सीताजी से आकर मिले। सीता ने स्वामी को नमस्कार किया। अपने प्यारे प्राणनाथ को पाकर जनकनदिनी को जो हर्ष हुआ, वह लेखनी से नही लिखा जा सकता, वह अनुभव से ही जाना जा सकता है। बहुत दिन पश्चात् आज दोनों के विरह दु ख की इतिश्री हुई। रामचन्द्र ने सीता को फिर पाकर अपने को कृतार्थ माना। दोनो का सुखद सम्मिलन हुआ। कुछ समय पश्चात् लक्ष्मण भी वही आ पहुँचा और सीता के चरणो मे गिर पडा। सीता ने उसे उठाकर उसके कुशल समाचार पूछे। तब लक्ष्मण ने अपनी सारी कथा कह सुनायी।

रामचन्द्र और सीता के दिन पहले की तरह अब फिर सुख से बीतने लगे। जब रामचन्द्र का सुयश चारो ओर अच्छी तरह फैल गया, तब बहुत से विद्याधर अच्छी-अच्छी वस्तुएँ उनको भेंट कर बडे ही विनय के साथ उनसे मिले और उनकी अधीनता स्वीकार की। इस सुख मे रामचन्द्र के बहुत से दिन आनद और उत्सव के साथ बीत गये। उन्हे समय का कुछ ध्यान नही रहा। रामचन्द्र ने चौदह वर्ष के लिए अयोध्या छोडी थी, आज वह अवधि समाप्त हुई। उन्हे अकस्मात् अपनी जन्म-भूमि की याद आ गयी। तब उन्होंने अच्छा दिन देखकर अयोध्या के लिए गमन किया। तब उनके साथ-साथ विभीषण, सुग्रीव, हनुमान, विराधित आदि बहुत से बडे-बडे राजा इन्हे पहुँचाने के लिए अयोध्यापुरी तक आए। मार्ग में और भी बहुत से देशो को वशवर्त्ती कर दिग्विजयी होते हुए कुछ दिनो पश्चात् अयोध्या में जा पहुँचे।

रामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता के आगमन का शुभ समाचार सुनकर अयोध्यावासियो को बड़ा आनद हुआ। उन्होने अपने महाराज के आगमन की खुशी मे खूब जय-जयकार किया और बहुत आनद व उत्सव मनाया। महाराज भरत ने जब यह सुना कि रामचन्द्र आ गये तो उन्हे बहुत हर्ष हुआ और उनकी अगवानी करने को वे बहुत दूर तक आए और पहले ही पहुँचकर इन्होने दोनो के चरणो की अभिवदना की। रामचन्द्र ने भरत का आलिंगन कर उससे कुशल समाचार पूछे। एक के देखने से दूसरे को परम आनद हुआ। आज रामचन्द्र अयोध्या में प्रवेश करेंगे इसलिए समस्त नगरी खूब सजाई गयी। घर-घर आनद-उत्सव मनाया गया, दान दिया गया, पूजा-प्रभावना की गयी। दरिद्र अपाहिज लोग मनवांछित

सहायता से प्रसन्न किये गये। रामचन्द्र आनंदपूर्वक नगरी की शोभा देखते हुए अपने महल में पहुंचे। पहले अपनी माताओं से मिले। माताओ ने प्रेम विवश होकर पुत्र की आरती उतारी। माताओं को इस समय अपने प्रिय पुत्र को पाकर जो आनद हुआ, उसका पता उन्हीं के हृदय को है। उस आनद की कुछ थोडी प्राप्ति दूसरे उसको हो सकती है जिस पर ऐसा भयानक प्रसग आकर कभी पडा हो। सर्वसाधारण उनके उस आनद का, उस सुख का, थाह नहीं पा सकते। माता अपने बिछुडे पुत्रो को पाकर बहुत आनदित हुई। पुत्रो को गले लगाया और शुभाशीर्वाद दिया। सच है—"जैसा स्नेह पुत्र पर माता को होता है वैसा किसी का नही होता।" उस प्रेम की तुलना किसी दृष्टात या उदाहरण से नही दी जा सकती और जो देते है वे माता के आनद प्रेम को न्यून करने का यत्न करते है। तदनतर रामचन्द्र अपनी प्रजा से प्रेमपूर्वक मिले। सबको बहुत दिन मे बिछुडे हुए अपने महाराज के दर्शन कर बडा आनद हुआ। रामचन्द्र राज्य पालन करने लगे। इस खुशी में रामचन्द्र जी ने मित्र, भाई बधु और विद्याधर आदि जितने अपने प्रेम-पात्र थे, उन्हे बहुत पुरस्कार देकर सतुष्ट किया। रामचन्द्र के शासन से प्रजा भी बहुत सतुष्ट रहने लगी। देखो! रामचन्द्र पर-स्त्री के पाप से रहित थे, इसलिए उनकी कीर्ति सब दिशाओ मे विस्तृत हो गयी और रावण इसी पर-स्त्री के पाप से मरकर नरक गया। उसकी कीर्ति नष्ट हुई। उसके कुल मे कलक लगा और अत में दूसरे के हाथ से उसकी मृत्यु हुई। साराश यह है कि पर स्त्री सेवन से दोनो लोक बिगडते है। हजारो वर्षों का उज्ज्वल सुयश एक क्षण-मात्र मे नष्ट हो जाता है। शरीर रोगो का घर जीर्ण प्राय हो जाता है और फिर बुरी तरह मृत्यु हो जाती है, इसलिए हे बुद्धिमानो! पर-स्त्री से ससर्ग करना छोड दो। जो पर स्त्री के त्यागी है वे ससार मे निर्भीक हो जाते है। उनकी कीर्ति सब जगह फैल जाती है। देखो, यही रावण त्रिखड का स्वामी था। लका जैसी पुण्यपुरी इसकी राजधानी थी और उसके प्रताप से बड़े बडे राजा-महाराजा डरते थे। आज उसी वीर की केवल पर-स्त्री हरण के पाप से यह दशा हुई तो और साधारण पुरुष इस पर-स्त्री-व्यसन से कितना दुःख उठाएँगे, यह अनुभव मे नही आता और कुछ नही तो पर-स्त्री सेवन करने वालो को इस लोक में धनहानि और शारीरिक कष्ट और परलोक मे नरक आदि कुगतियो के दु.ख तो सहने ही पडते है। इसमे किसी तरह का सदेह नही है। वे मनुष्य नही है किंतु नीच है जो दूसरो की स्त्री से अपनी बुरी वासना पूरी करते है। वे झूठा खाने वाले कुत्ते है। भाइयो! पर-स्त्री सेवन सर्वथा निद्य है। इसे छोड कर अपनी स्त्री मे सतोष करो। यही धर्मात्मा होने की पहली सीढ़ी है। इसी प्रकार बहुत-सी कथाएं पर-स्त्री के सबध की है। इन सबका अभिप्राय केवल इस पाप प्रवृत्ति के छुडाने का है। कथा के पढने का यही फल होना चाहिए कि उससे कुछ शिक्षा ली जाए। केवल पढ़ना किसी काम का नही है। वह तो तोते का सा

रटना है। तात्पर्य यह है कि इन पापाचारों से होने वाली हानियों को विचार कर उसके छोड़ने में उद्यमशील बनो।

॥ इति परस्त्री व्यसनम् ॥

॥ इति पाक्षिक श्रावक वर्णन समाप्तः ॥

अथ नैष्ठिक श्रावक वर्णन प्रारम्भ :—

श्लोक—देशयमघ्नकोपादि, क्षयोपशम भावत ।
श्राद्धो दर्शनिकास्कन, नैष्ठिक स्यात्सुलेश्यकः ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ के क्षयोपशम होने से दर्शन प्रतिमा आदि को धारण करने वाला नैष्ठिक श्रावक कहा जाता है। उसके पीत् पद्म और शुक्ल लेश्याओ मे से कोई लेश्या होती है।

भावार्थः—जो धर्मात्मा पाक्षिक श्रावक की क्रियाओ का साधन करके अर्थात् एक देश सयम को पालन करने का अभ्यास करके जिनशासन के अध्ययन द्वारा ससार शरीर भोगोपभोगो से विरक्त होने रूप वैराग्य वृक्ष को बार-बार सिंचन करता हुआ अप्रत्याख्या नावरण कषाय का उपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के अनुसार निरविचार श्रावक धर्म का निर्वाह करने मे तत्पर है उनको नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। नैष्ठिक श्रावक के दार्शनिक आदि ग्यारह भेद है। जिनको ग्यारह प्रतिमा भी कहते है। अब इन ग्यारह प्रतिमाओ के नाम कहते है —

छद—मृष्टया मूलगुणाष्टक वृतभर सामायिकं प्रोषध,
सच्चितात्र दिन व्यवायवनितार भोपधिम्योंमनात् ।
उच्चिष्टादपि भोजनाच्चविरति प्राप्ता क्रमात्प्राग्गुण,
प्रौढ्या दर्शनिकादयः सह भवत्येकादशोपासका ॥

अर्थात्—दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक प्रतिमा, प्रोषध प्रतिमा, सचित्त-त्याग प्रतिमा, रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्य प्रतिमा, आरम्भ त्याग प्रतिमा, परिग्रह विरति प्रतिमा, अनुमति त्याग प्रतिमा और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा इस प्रकार ये ग्यारह प्रतिमा है। ये ग्यारह प्रतिमाएं क्रमश. उत्तरोत्तर चढती हुई अनुक्रम से धारण की जाती है क्योकि इस जीव के अनादिकाल से अनादि कर्म सम्बन्ध के कारण आत्मीक स्वभावो के यथार्थ स्वरूप जाने बिना पचेन्द्रिय जनित विषय वासनाओ का जो अभ्यास हो रहा है तज्जनित असयम एक साथ नही छूट सकता इसीलिए क्रम-क्रम से छोडने की परिपाटी बतलाई गई है इसीलिए ही अगली-अगली प्रतिमाओ में पहली-पहली प्रतिमाओ के गुण

अवश्य ही रहते है और वे उत्तरोत्तर बढते जाते है जैसे व्रत प्रतिमा में सम्यग्दर्शन और मूलगुणो की उत्कृष्टता रहती। सामायिक प्रतिमा में सम्यग्दर्शन मूलगुण और व्रतों की उत्कृष्टता रहती है इसी प्रकार सब प्रतिमाओ मे पहली-पहली प्रतिमाओं के गुण अधिकता से रहते हैं।

यथोक्त—

आर्या छद—श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि खलु येषु।
स्वगुणा· पूर्वगुणै· सह सन्तिष्ठते क्रमविवृद्धा: ।।

अर्थ—भगवान ने श्रावक के ग्यारह स्थान कहे है। उनमें अपने-अपने स्थान के गुण पहली प्रतिमा के गुणों के साथ-साथ क्रम से बढते हुए रहते है। इनमें से तीसरी, पाँचवी, सातवी आदि उच्च कक्षा धारण करने वाले पहली, दूसरी, चौथी, छठी आदि नीचे की सब कक्षाओ के निरतिचार नियम धारण करने से ही वह उच्च कक्षा धारी कहला सकता है। यदि वह पहली, दूसरी, छठी आदि नीचे की सब कक्षाओ मे अतिचार लगाए तो उसके पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाचवी आदि ही प्रतिमा गिनी जाएगी जैसे किसी मनुष्य ने स्व-पर स्त्री सेवन आदि ब्रह्म का सर्वथा त्याग तो कर दिया परन्तु सामायिक, प्रोषध आदि प्रतिमा यथायोग्य पालन न करे तो उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी नही कर सकते क्योकि जिस प्रतिमा मे जिस व्रत के पालन या जिस पाप के निराकरण की प्रतिज्ञा ली जाती है उसका निरतिचार पालन करना ही प्रतिमा कहलाती है अन्यथा केवल कौतुक मात्र है उससे कुछ भी फल नही होता क्योकि नीचे के यथावत् क्रमपूर्वक चरित्र साधन करने से ही विषय कपाय की मदता होने से निजात्मीक सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है जोकि प्रतिमाओ के धारण करने का मुख्य प्रयाजन है। इन दर्शन आदि ग्यारह प्रतिमाओ के धारियो के गृहस्थ, ब्रह्मचारी, भिक्षुक तथा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे भेद दिखलाते है—

श्लोक—षडत्रा गृहिणो ज्ञेया, स्त्रय· स्युब्रह्मचारिण.।
भिक्षुकौ द्वौमतु निर्दिष्टो, तत स्यात्वर्ततोयति ।।

अर्थ—इन ग्यारह प्रतिमाओं मे से पहलो छह प्रतिमाओ को धारण करने वाला गृहस्थ (जघन्य श्रावक) उसके पीछे नवमी तक तीन प्रतिमाओ को धारण करने वाला ब्रह्मचारी (मध्यम श्रावक) और अत की दो प्रतिमाओ को धारण करने वाला भिक्षुक (उत्तम श्रावक) कहलाता है। तथा इनके अनन्तर परिग्रह त्यागी मुनि होता है। अब इन प्रतिमाओ का सक्षिप्त स्वरूप कहा जाता है।

अथ दर्शन प्रतिमा स्वरूप —

आर्या छद—सम्यग्दर्शन शुद्ध, ससार शरीर भोग निर्विण.।
पच गुरु चरण शरणो, दर्शनिकस्तत्वपथगृह्य· ।।

अर्थात्—जो संसार शरीर भोगो से विरक्त शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी केवल पच परमेष्ठी के चरण कमलों का शरण ग्रहण करने वाला सत्यार्थ मार्ग ग्राही तथा तत्व अर्थात् व्रत का मार्ग अर्थात् निवृति रूप अष्टभूत गुण का धारक हो, वह दार्शनिक श्रावक है।

भावार्थ—जो ससार शरीर और भोगोपभोग आदि इष्ट विषयों से विरक्त है। जिसने पाक्षिक श्रावक सम्बन्धी आचार आदि के पालन करने से अपना सम्यग्दर्शन निर्मल कर लिया है तथा अरिहत, सिद्ध आदि पंच परमेष्ठियो के चरण कमलो का ही जिसको आश्रय है अर्थात् जो भारी विपत्ति आने पर भी उसके निवारण करने के लिए शासन देवताओं का आराधन नही करता है और मद्य आदि के निवृति रूप मूल गुणों के अतीचारो का अभाव करके निरतिचार पालन कर आगे को व्रतादि प्रतिमाओ के पालन करने में उत्कठित है और जो अपने पद के अनुसार न्यायपूर्वक आजीविका का करने वाला है वह दर्शन प्रतिमा का धारी दार्शनिक श्रावक है ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है—

श्लोक—पाक्षिकाचार सम्पत्या, निर्मलोकृत दर्शन ।
विरक्तो भव भोगाम्या, मर्हदादि पदार्च्चक. ॥१
मलात्मूलगुणाना, निर्मूलयन्नग्रिमोत्सुक ।
न्याया वार्त्तविपु स्थित्यै, दधद्दर्शनिकोमत ॥२

इन श्लोको का तात्पर्य पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार है।

अथ व्रत प्रतिमा स्वरूप —

आर्या छद—निरतिक्रमणमणुव्रत, पचकमपि शोलसप्तक चापि ।
धारयते नि शल्यो, योऽसौ व्रतिनामतोव्रतिक ॥

अर्थ—जो शल्य रहित होता हुआ सम्यग्दर्शन और मूल गुणो सहित निरतिचार पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत आर चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतो को धारण करे वह व्रती श्रावक है।

भावार्थ—जो पुरुष उपभोग के आश्रय रहने वाले अन्तरग अतीचार और चेष्टा तथा क्रिया के आश्रय रहन वाले बहिरग अतिचारो के रहित निमल अखड सम्यग्दर्शन और मूलगुणो का धारक और शल्य रहित है, शल्य नाम बाण का है जो हृदय के लगे हुए बाण के सामन शरीर और मन को दु ख देने वाला कर्मोदय जनित विकार हो उसे शल्य कहते हैं। शल्य के तीन भेद है—माया, मिथ्यात्व और निदान। मन मे और, वचन मे और तथा कार्य में कुछ और ही करे, ऐसे पापो को गुप्त रखकर दूसरो के दिखाने तथा मान, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, लोभ आदि के अभिप्राय से व्रत धारण करना माया, शल्य है।

धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझने से विपरीत श्रद्धान तथा सदेह रूप श्रद्धान

करके व्रत धारण करने के अभिप्राय को न समझ दूसरों की देखा-देखी या और किसी विशेष अभिप्राय से व्रत धारण करना मिथ्यात्व शल्य है।

तपश्चरण, सयम आदि के साधन द्वारा आगामी काल में विषय भोगो की आकांक्षा अर्थात् इच्छा करना निदान शल्य है।

इन तीन शल्यो से रहित होकर-इष्ट अनिष्ट पदार्थों से राग द्वेष के अभाव और साम्य भाव की प्राप्ति के लिए अतिचार रहित उत्तर गुणो को अर्थात् बारह व्रतों के निर्दोष पालन करने वाले को दूसरी व्रत प्रतिमा का धारी कहते हैं।

बारह व्रतो के नाम इस प्रकार है—

(१) सकल्पी त्रस हिसा का त्याग, (२) स्थूल असत्य का त्याग, (३) स्थूल चोरी का त्याग, (४) स्वदार सतोष, (५) परिग्रह (धन धान्य आदि का) प्रमाण, (६) दसो दिशाओ में गमन क्षेत्र की मर्यादा (७) प्रतिदिन गमन क्षेत्र की अन्तर्मर्यादा, (८) व्यर्थ थावर हिंसा आदि का त्याग, (९) उचित भोगोपभोग का प्रमाण करना (१०) सामायिक (कुछ समय के लिए समस्त जीवो के साम्यभाव धारण कर ध्यानारुढ होना), (११) पर्व तिथियो में उपवास आदि करना (१२) पात्रो को भक्ति पूर्वक चतुर्विध दान देना।

इस प्रकार ये पचाणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत मिलकर श्रावक के १२ व्रत कहलाते है। इन बारह व्रतो को पाच-पाच अतीचार रहित धारण करना व्रत प्रतिमा है। दार्शनिक श्रावक के अष्ट मूल गुण के धारण और सप्त व्यसन त्याग के निरतिचार पालने से जो स्थूलपणे पचाणुव्रतो का पालन होता था वह पचाणुव्रत तो यहा निरतिचार पलते है और शेष तीन गुण व्रत, और चार शिक्षाव्रत खेत की बाड के समान व्रत रूप क्षेत्र की रक्षा करते है।

यथोक्त धर्म सग्रह श्रावकाचारे—

श्लोक— पचाणुव्रत रक्षार्थ, पल्यते शील सप्तकम्।
शस्य वत्क्षेत्र वृद्धयर्थ, क्रियते महती व्रति ॥

अर्थ—इनमें तीन गुणव्रत तो अणुव्रतो का उपकार अर्थात् गृहस्थ के अणुव्रत गुणो की वृद्धि करते है और चार शिक्षाव्रत मुनिव्रत धारणकराने का अभ्यास कराते है व शिक्षा देते है इसीलिए इनको शिक्षाव्रत कहते है। ये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत एव सप्तशील अणुव्रतो को नसैनी की पक्तियो के समान सहायक होकर महाव्रत रूप महल पर पहुंचा देते है यद्यपि व्रती जहाँ तक सभव हो वहाँ तक अतीचार नही लगाते है और उनको अतीचारो से बचाने का प्रयत्न करते है तथापि इनमे विवश अतीचार लगते है क्योकि यदि बारह व्रत, व्रत

प्रतिमा में ही निरतिचार रूप में पालन हो जाएं तो आगेकी सामायिक आदि प्रतिमाएँ निष्फल ही ठहरे क्योंकि सामायिक संज्ञक तीसरी प्रतिमा से उद्दिष्ट त्याग नामक ग्यारहवी प्रतिमा पर्यन्त इन सप्तशीलों के निरितचार पालन करने का ही उपदेश है। यथा-सामायिक प्रतिमा में सामायिक और चौथी प्रतिमा से प्रोषधोपवास निरतिचार होते है इसी प्रकार सब प्रतिमाओं में सप्त शील निरतिचार होने से अणुव्रत महाव्रत की परिणति को पहुँच जाते है अतएव बारह व्रतो का द्वितीय प्रतिमा में ही निरतिचार होना कैसे सभव हो सकता है ?

अथ सामायिक प्रतिमा स्वरूप प्रारम्भः—

आर्या छद—चतुरावर्त्त त्रितयश्चतु. प्रणाम· स्थितो यथाजातः ।
सामयिको द्विनिषद्य, स्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ।।

अर्थात्—जिसके आवर्त्त के चार त्रितय है और तीनो सन्ध्याओ मे जो अभिवन्दना करता है उसे सामायिक सज्ञक तीसरी प्रतिमा का धारी कहते है ।

भावार्थ— प्रभात, मध्यान्द और सायकाल इन तीनों समय उत्कृष्ट छह घडी, मध्यम चार घडी और जघन्य दो घडी योग्यतानुसार नियमपूर्वक नियत समय पर तथा नियत समय तक ध्यान के डिगाने वाले कारणो से रहित निरुपद्रव एकात स्थान में पद्मासन या खड्गासन से इन्द्रियो के व्यापार वा विषयो से विरक्त होते हुए मन, वचन, काय की शुद्धता पूर्वक सामायिक के आदि अन्त में चारो दिशाओ में एक-एक नमस्कार और चारो दिशाओं मे नव णमोकार मत्र अर्थ सहित तीन आवर्ति (दोनों हाथो को अन्जलि जोडकर दाहिने हाथ की ओर से तीन बार फिराना) और एक-एक शिरोनित (दोनो हाथ जोड़ नमस्कार) करे। तत्पश्चात् शरीर से निर्ममत्व होता हुआ स्थिर चित्त करके सामायिक के वन्दना आदि पाठो का पच परमेष्ठी तथा आत्मा के स्वभाव विभावा का चितवन और अपने आत्म स्वरूप मे उपयोग स्थिर करने का अभ्यास करे, इस प्रकार यह सामायिक सज्ञक तीसरी प्रतिमा होती है।

अथ प्रोषध प्रतिमा स्वरूप प्रारम्भः—

आर्या छन्द—पर्वदिनेषु चतुष्पर्वपि, मासे-मासे स्वशक्तिम निग्रह्यः ।
प्रोषधनियमविधायी, प्रणधिपरः प्रोषधानशन ।।

अर्थात्—जो महीने-महीने चारो ही पर्वों के दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर शुभध्यान मे तत्पर होता हुआ आदि अन्त में प्रोषधपूर्वक उपवास करे वह प्रोषधोपवास प्रतिमा का धारी है।

भावार्थ—तीसरी प्रतिमा का धारण करने वाला जब प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी के दिन नियमपूर्वक यथा-शक्ति जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद रूप प्रोषधोपवास (एक बार भोजन

करने को एकाशन कहते हैं सर्वथा भोजन पान का त्याग कर देना उपवास और धारणा तथा पारणे के दिन एकाशन करके बीच के पर्व दिन मे सोलह् पहर सर्वथा चार प्रकार के आहार के त्याग करने को प्रोषधोपवास कहते है) कर समस्त आरम्भ और विषय छोड कषाय की निवृतिपूर्वक धर्मध्यान में सोलह् पहर व्यतीत करता है तब उसे प्रोषधोपवास सज्ञक चतुर्थ प्रतिमा का धारी कहते है।

अथ सचित्त त्याग प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छद—मूल फल शाक शाखा, करीर कद प्रसून बीजानि।
नामानियो अत्तिसोऽय, सचित्त विरतोदयामूर्ति.॥

अर्थ—जो कच्चे मूल फल, शाक, शाखा, करीर(गाठ अथवा खैर) जिमीकद, पुष्प और बीज नही खाता है वह दयामूर्ति सचित्त त्याग प्रतिमा का धारी श्रावक है।

भावार्थ—जब वह दयालु पुरुष श्री जिनेन्द्र देव की आज्ञा और प्राणियों की दया पालते हुए धर्म पालन में तत्पर होता हुआ अति कठिनता से जीती जाने वाली जिह्वा इन्द्रिय को दमन कर कच्चे मूल, फल शाक, शाखा, करीर, कद, पुष्प, बीज, अप्राशुक जल आदि सचित्त(जीव सहित) पदार्थों के भक्षण करने का त्याग कर देता है तब उसे सचित्त त्याग नामक पचम प्रतिमा का धारी कहते है।

अथ दिवा मैथुन व रात्रि मुक्ति त्याग प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छद—अन्न पान खाद्य, लेह्व नारनातियो विभावर्याम्।
स च रात्रिमुक्तिविरत., सत्वेव नुकम्पमानमना॥

अर्थ—जो जीवो पर दया रूप चित्त वाला होता हुआ अन्न(रोटी, दाल, चावल आदि पदार्थ) पान (दधि, जल, शर्बत आदि पदार्थ) खाद्य (कलाकद, मोदक आदि) लेह्य (रबड़ी आदि चाटने योग्य वस्तु) इस प्रकार चार प्रकार के पदार्थो को रात्रि मे ग्रहण नही करता है वह रात्रि मुक्ति त्याग नामक प्रतिमा का धारी है।

भावार्थ—इस प्रतिमा का शास्त्रो मे दो प्रकार से वर्णन किया है। एक तो कारित अनुमोदना से रात्रि भोजन का त्याग और दूसरे दिवा मैथुनका त्याग। यद्यपि रात्रि भोजन का त्याग तो सातिचार प्रथम प्रतिमा मे हो जाता है और प्रचुर आरम्भ जनित त्रस हिसा की अपेक्षा व्रत प्रतिमा मे होता है परन्तु यहाँ पर पुत्र, पौत्र आदि कुटुम्ब तथा अन्य जनो के निमित्त से कारित, अनुमोदना सम्बन्धी जो अतीचार लगते हैं उनके यथावत् त्याग की प्रतिज्ञा होती है और इसके अतिरिक्त इस प्रतिमा वाला मन, वचन, काय, कृत, कारित और अनुमादना से दिवा मैथुन का त्याग कर देता है तब उसे रात्रि मुक्ति त्यागी कहते है।

यथोक्तं—

श्लोक—अन्ये चाहुर्दिवाब्रह्म, चर्यं चानशनं निशि ।
पालयेत्सभवेत्षष्ठः, श्रावको रात्रि भुक्तिकः ।।

अर्थ पूर्वोक्त आशयानुसार है ।

अथ ब्रह्मचर्य प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छद—मलबीजं मलयोनिं, गलन्मल पूतिगन्धिवीभत्स ।
पश्यन्नङमनङ्गा, द्विरमति यो ब्रह्मचारी स ।।

अर्थ—जो मल का बीज भूत, मल को उत्पन्न करने वाले, मल प्रवाही, दुर्गन्धियुक्त, लज्जाजनक अथवा ग्लानियुक्त अग को देखता हुआ काम सेवन से विरक्त होता है वह ब्रह्मचर्य नामक प्रतिमा का धारी ब्रह्मचारी है ।

भावार्थ—रात्रि भुक्ति और दिवा मैथुन त्यागी स्त्री के शरीर को मल का बीजभूत मल को उत्पन्न करने वाला, मल प्रवाही दुर्गन्धियुक्त, लज्जाजनक जानता हुआ स्व-स्त्री तथा पर स्त्री अर्थात् स्त्री-मात्र में मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से कामसेवन तथा काम सम्बन्धी अतिचार त्यागकर ब्रह्मचर्यव्रत में आरुढ होता है तब वह ब्रह्मचर्य सज्ञक सप्तम प्रतिमा का धारी कहा जाता है ।

अथ आरम्भ त्याग प्रतिमा स्वरूप—

आर्या छद—सेवाकृषि वाणिज्य, प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणानिपातहेतोर्यो, सावारम्भविनिवृत्त· ।।

अर्थात्—जो जीव हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापार आदि के आरम्भ से विरक्त होता है वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी है ।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारी जब हिसा से अति भयभीत होकर आरम्भ (जिन क्रियाओ में षट्काय के जीवो की हिसा हो वह आरम्भ है) को परिमाणो में विकलता उत्पन्न करने वाला जानकर हिसा के कारण भूत गृह सम्बन्धी षट्कर्म व कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ मन, वचन, काय से त्याग कर देता है तब उसे आरम्भ सज्ञक अष्टम प्रतिमा का धारी कहते है ।

अथ परिग्रह विरति नाम नवमी प्रतिमा का स्वरूप—

आर्या छंद—बाह्येषु दशषु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्यनिर्ममत्वरत. ।
स्वस्थः सतोषपरः, परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः ।।

अर्थ—जो बाह्य के दश परिग्रहो मे ममता को छोड़कर निर्ममत्व होता हुआ माया

आदि रहित स्थिर और सन्तोष वृत्ति धारण करने मे तत्पर है वह परिचित परिग्रह से विरक्त है ।

भावार्थ—जो आरम्भ त्यागी आत्म हितेच्छुक धार्मिक श्रावक राग, द्वेष आदि आभ्यन्तरिक परिग्रहो की मंदतापूर्वक धन-धान्य आदि दश प्रकार के परिग्रह से ममत्व त्याग अतिप्रयोजनीय शीतोष्ण बाधा दूर करने निमित्त वस्त्र, जल पात्र व भोजनपात्र आदि तुच्छ परिग्रह रखकर शेष सबने ममत्व त्याग गृहस्थाश्रम का भार पुत्र, भाई, भतीजे आदि को सौंपकर क्षमा भावपूर्वक धर्म साधन की आज्ञा लेकर किंचित् कालपर्यन्त गृह में ही निवासकर धर्म सेवन करता है उसे परिग्रह त्याग सज्ञक नवमी प्रतिमा का धारी कहते है ।

अथ अनुमति त्याग प्रतिमा स्वरूप वर्णनम्:—

आर्याछन्द—अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे बैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु तस्य समधीर नुमतिविरत: समन्तव्य. ॥

अर्थ—जिसकी आरम्भ मे तथा परिग्रह मे इस लोक सम्बन्धी कार्यों मे अनुमति नही है वह समान बुद्धि वाला निश्चय करके अनुमति त्याग प्रतिमाका धारी मानने योग्य है ।

भावार्थ—जो परिग्रह त्यागी श्रावक सासारिक आवद्य कर्मविवाह आदि तथा असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि षट् आजीवो कर्मो और चूला, चक्की आदि पचसून सम्बन्धी आरम्भ क्रियाओ के करने की आज्ञा, सम्मति नही देता, अनुमोदना नही करता उसे समान बुद्धि वाला अनुमति त्याग प्रतिमा का धारी कहते है । वह उदासीनता पूर्वक कुटुम्बी जनों से पृथक एकान्त निज स्थान चैत्यालय, मठ, मण्डप तथा धर्मशाला मे निवास कर धर्म सेवन करता हुआ कुटुम्बी अथवा अन्य किसी सद् गृहस्थ के बुला ले जाने पर उनके यहाँ भोजन कर आता है परन्तु पहले मे किसी का निमन्त्रण (न्योता) नही मानता है और अपने अन्तराय कर्म के क्षयोपशम के अनुसार सरस, विरस, खट्टा, नमकीन, मीठा आदि जैसा भोजन प्राप्त हो उसमे उदर पोषण कर सतुष्ट रहता है । इस प्रकार के धर्म सेवन करने वाले गृहस्थ को दशमी प्रतिमा वाला अनुमति त्यागी कहते है ।

अथ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा स्वरूप : –

आर्याछन्द—गृहतो मुनिवनमित्वा, गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।
भैक्ष्याशनस्तपस्य, उत्कृष्ट श्चेलखण्ड धर: ॥

अर्थ—जो घर से मुनिवन को प्राप्त होकर गुरु के निकट व्रत धारण करके तप करता हुआ भिक्षा भोजन करता है वह खण्ड वस्त्र का धारी उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक वा अहिलक (ऐलक) है ।

भावार्थ—जब अनुमति श्रावक चारित्र मोहनीय कर्म के मद से जाने से पचाचार प्राप्ति एवं रत्नत्रय की शुद्धता के निमित्त गृहबास त्याग वन में जाकर गुरु के निकट उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा धारण करता है और अपने लिए किए हुए भोजन, शयन, आसन उपकरण आदि का त्याग कर देता है उसे ग्यारहवीं प्रतिमा वाला उद्दिष्ट त्यागी कहते है। इस प्रतिमा का धारण करने वाला श्रावक मुनि के समान मन, वच, काय, कृत, कारित, अनुमोदना सम्बन्धी दोप रहित भिक्षाचरण पूर्वक याचना रहित निर्दोष शुद्ध आहार गृहस्थी ने जो स्वत. अपने लिए आरम्भ करके बनाया हो उस ही को ग्रहण करता है भोजन के लिए किसी के बुलाने से नही जाता किन्तु भोजन के समय गृहस्थों के घर जाकर उनके आंगन में खडे होकर अपना आगमन जनाकर यदि वे भक्तिपूर्वक आहार करावे तो आहार करता है अन्यथा अति शीघ्र वहा के लौट जाता है और इसी प्रकार से जिस गृहस्थ के भोजन हो जाए वहाँ से लौटकर वन में जा पुन: धर्म सेवन में तत्पर होता है। इस ग्यारहवी प्रतिमा वाले उद्दिष्ट विरत श्रावक के दो भेद होते है—प्रथम क्षुल्लक और दूसरा अहिलक ऐलक। उनमें से पहला क्षुल्लक श्रावक श्वेत कोपीन (लगोटी) और ओढने के लिए एक खण्ड वस्त्र जिससे शिर ढके तो पाव उघडे रहें और पांव ढके तो शिर उघडा रहे और मल मूत्र आदि शारीरिक अशुद्धियो को दूर करने के लिए प्राशुक जल सहित कमन्डलु रखते हैं जल पानार्थ नही तथा जीव दया निमित्त स्थान संशोधन के लिए मयूर पिच्छिका व पढ़न-पाठन के लिए पुस्तक रखते है और दाढी मूछ तथा शिर के बालों को कैंची वा उस्तरे से किसी दूसरे मनुष्य से कटवाते है, काख के बाल बनवाने का निषेध है।

दूसरा ऐलक कोपीन, पीछी और कमन्डलु मात्र रखते है तथा गृहस्थ के द्वारा अपने हाथ में समर्पण किए हुए भोजन को शोधकर खाते है, थाली आदि किसी बर्तन में नहीं यह अपने दाढी मूछ और शिर के वालों का उत्कृष्ट दो मास, मध्यम तीन मास और जघन्य चार मास में लोंच करते है अर्थात् अपने हाथो से उखाड डालते है और आत्म ध्यान में सदैव तत्पर रहते हैं। उद्दिष्ठ त्यागी को शास्त्रो मे मुनि का लघु भ्राता कहा है अतएव हिसा आदि पापो के पूर्ण रूप से त्याग करने रूप परिणामों में आसक्त उत्कृष्ट श्रावक को ग्यारहवी प्रतिमा का अभ्यास कर अन्त में अवश्यमेव मुनिव्रत धारण करने चाहिए। इस प्रकार श्रावक धर्म को पालन करने वाले भव्य जीव यथायोग्य नियम के सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जाकर महर्द्धिक वा इद्रादिक उच्च पदस्थ देव होते है।

यथोक्तं धर्म संग्रह श्रावकाचारे—

श्लोक—एष निष्ठापरो भव्यो, नियमेन सुरालयम्।
गच्छत्य च्युतपर्यंतं, क्रमश: शिवमंदिरम् ॥

अर्थ—इस प्रकार निष्ठा (प्रतिमाओं के पालन) में तत्पर यह भव्यात्मा नियम से अच्युत विमान पर्यंत जाता है और क्रम से मोक्ष को प्राप्त होता है। क्योंकि जिस जीव के देवायु के अतिरिक्त अन्य आयु बन्ध हो जाता है उसके परिणामी में देशव्रत धारण करने की रुचि और अनुष्ठान करने योग्य शुद्धता उत्पन्न होती ही नहीं। इस कारण श्रावक व्रत धारी भव्य जीवों के नियमपूर्वक कल्पवासी देवायु का ही बन्ध होता है अतएव व्रती श्रावक निश्चय से देव पर्याय पा वहाँ से चय मध्य लोक में कांति, प्रताप, वीर्य, कीर्ति, कुल वृद्धि, विजय विभव का अधिपति हो मांडलिक, चक्रवर्त्ती आदि उत्कृष्ट पद पाकर मुनिव्रत धारण कर निष्कर्म होकर अनन्त काल स्थायी मोक्षपद को प्राप्त होते है।

इति एकादश प्रतिमा स्वरुप।

अथ साधक श्रावक वर्णन प्रारम्भः:—

श्लोक—देहाहारे हितत्यागात्, ध्यानशुद्धयात्मशोधनम्।
यो जीविता ते सप्रीतः, साधयत्येष साधकः॥

अर्थ—जो व्रती श्रावक शरीर भोगो से निर्ममत्व होकर चार प्रकार के आहार का त्याग कर मन, वचन, काय की क्रियाओ के निरोध से उत्पन्न हुए आर्द्र रौद्र रहित एकाग्र चिंता निरोध रुप विशुद्धध्यान से मरण के अन्तिम समय मे जो अपने चेतन्य स्वरुप आत्मा को शुद्ध करता है अर्थात् मोह, राग द्वेष को छोडकर जो अपनी आत्मा के ध्यान करने मे तल्लीन है उसको साधक श्रावक कहते है। भावार्थ-जो व्रती श्रावक सल्लेखनामरण करने का उत्साही, विषय कषायो की मदतापूर्वक यथासभव अपनी पदवी अर्थात् समय पालन करने के प्रतिमा आदि स्थानो को सम्यक प्रकार पालन करता है तथा जो श्रावक अनिवार्य उपाय रहित उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष आने पर, बुढापा आने पर वा असाध्य रोग होने पर आत्म कल्याण के लिए सासारिक शरीर भोगो से विरक्त होकर राग, द्वेष सबध और बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह को त्यागकर अर्थात् अपनी आत्मा से पृथक् पर पदार्थों से ममत्व (मोह) त्याग कर शात परिणाम युक्त अपने बल और उत्साह को प्रगट करके ससार के दुःख रूपीसताप को दूर करने वाले अमृत के समान जिन श्रुत के पाठो का पठन, श्रवण करता हुआ बिलकुल क्रम-क्रम से आहार, दुग्ध आदि का त्याग कर, मन, वचन, काय की एकाग्रता से शांत परिणाम युक्त परमात्मा वा स्वात्मा का चितवन करते हुए शरीर रूप गृह का त्याग करता है उसे साधक श्रावक कहते है।

यथोक्त धर्म सग्रह श्रावकाचारे—

श्लोक—सोऽन्ते सन्न्यासमादाय, स्वात्मानं शोधयेद्यदि।
तदा साधनमापन्नः साधकः श्रावको भवेत्॥

अर्थ—जो नैष्ठिक श्रावक मरण समय में सन्यास को ग्रहण करके यदि अपनी आत्मा को शुद्ध करे तो उस समय साधन दशा को प्राप्त होता हुआ श्रावक साधक कहा जाता है ।

इति साधक श्रावक वर्णनम् ।

अथ लोकाधिकारः ।

लोक स्वरूप वर्णनः—

इस अनन्तानन्त आकाश के बीचो बीच अनादि निधन धनोदधि वातवलय घन वातवलय और तनुवातवलय नामक तीन वातवलयो से वेष्ठित (घिरा हुआ) आकाश के प्रदेशों में निराधार लोक स्थित है । वास्तव में तो लोक एक ही है परन्तु व्यवहार में उर्ध्व (ऊपर) का मध्य (बीच का) अध (नीचे का) भेद करके लोक को तीन लोक रूप कहते है । यह लोक नीचे से सात राजू चौडा और सात ही राजू लम्बा है और ऊपर से एक राजू चौडा और सात राजू लम्बा है । मध्य में से कही घटता हुआ, कहीं बढता हुआ जिस प्रकार मनुष्य अपने दोनो हाथ कमर पर रखकर पैर चौडे करके खड़ा हो जाए उस आकृति के सदृश नीचे से ऊपर तक तीनो लोक चौदह राजू ऊचे है । इस का विशेष इस प्रकार जानना कि लोक की मोटाई उत्तर और दक्षिण दिशा मे सर्वत्र सात राजू है । चौडाई पूर्व और पश्चिम दिशा में मूल में सात राजू है फिर ऊपर को क्रमश· घटता-घटता सात राजू की ऊचाई पर मध्य लोक मे एक राजु चौडाई और फिर अनुक्रम से बढता-बढ़ता साढ़े तीन राजू की ऊचाई पर अर्थात् प्रथम सात राजू मिलाकर ये साढे दस राजू की ऊचाई पर ब्रह्म लोक (पाचवा स्वर्ग) के पास पाच राजू चौड़ा है फिर पचम स्वर्ग से क्रमशः घटता-घटता चौदह राजु की ऊँचाई पर अर्थात् अन्त में एक राजू चौड़ा है और उर्ध्व तथा अधोदिशा में ऊॅचाई चौदह राजू है ।

राजू का प्रमाण :—

इस मध्य लोक में (जिसे लोग पृथ्वी कहते है) पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्य के जितने समय होते है उतने ही द्वीप समुद्र एक-दूसरे को वलयाकार घेरे हुए है । इन सबके बीच में जम्बू द्वीप एक लक्ष योजन व्यास लिए गोलाकार है । इसको घेरे हुए लवण समुद्र दो लाख योजन चौडा है । इस प्रकार दुगनी-दुगनी चौड़ाई लिए सब द्वीप समुद्र है । जितना लम्बा क्षेत्र सब द्वीप समुद्रों का दोनों तरफ का हो वह ही राजू का प्रमाण है क्योंकि मध्य लोक एक राजू पूर्व-पश्चिम है । इसको दूसरे प्रकार से ऐसे भी कह सकते हैं कि कोई देव पहले समय एक लाख योजन, दूसरे समय दो लाख योजन गमन करे, इस प्रकार प्रति समय दुगना-दुगना गमन करता हुआ अढाई सागर अर्थात् पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्य के

जितने समय हों उतने समय पर्यन्त बराबर चला जाए तब आधा राजू हो, इसे द्विगुणा करने से जो क्षेत्र हो वही एक राजू का प्रमाण है। इति ॥

घनोदधि वातवलय, घन वातवालय और तनुवातवलय ये तीन वातवलय जैसे वृक्ष के सर्वत्र छाल लिपटी होती है अथवा शरीर के ऊपर सर्वांग चाम होती है ऐसे तीन लोक को तीन वातवलय सर्वत्र वेष्टित किए हुए है। वहाँ घनोदधि वातवालय जल और जल पवन मिश्रित है। दूसरा घन वातवलय अधिक पवन का है और तीसरा तनुवातवलय अल्प पवन का है।

वातवलयों की मोटाई का वर्णन—

लोक के नीचे से लेकर एक राजू की ऊँचाई पर्यन्त तीनो वातवलयो की मोटाई बीस-बीस हजार योजन की है। तीनो की मोटाई जोडकर साठ हजार योजन हुई। इससे ऊपर मध्यलोक पर्यन्त घनोदधि वात सात योजन का, दूसरा घन वात पाच योजन का और तीसरे तनु वातवालय की चार योजन की मोटाई है। ऐसे तीनों वातवलय सोलह योजन के मोटे मध्य लोक पर्यन्त चले आए है और मध्य लोक के पार्श्वभाग मे पहला घनोदधि वातवलय पाच योजन का, दूसरा घन वातवलय चार योजन का, तीसरा तनु वातवलय तीन योजन का ऐसे बारह योजन के मोटे है। मध्यलोक में पचम स्वर्ग पर्यन्त पहला घनोदधि वात-वलय सात योजन दूसरा घन वातवलय पाँच योजन का और तीसरा तनु वातवलय चार योजन का ऐसे तीनो सोलह योजन के मोटे है और पचम स्वर्ग से लोक के ऊपर अन्त पर्यन्त घनोदधि वातवलय पाच योजन का, दूसरा घन वातवलय चार योजन का और तीसरा तनु वातवलय तीन योजन का ऐसे तीनो बारह योजन के मोटे हैं और लोक के शीश पर घनोदधि वात की मोटाई दो कोश की, घन वात की मोटाई एक कोश की और तीसरे तनु वात की मोटाई पौने सोलह सौ धनुष की है। सब लोक को पहले घनोदधि वातवलय ने घेरा है, घनोदधि वातवलय को घन वात ने और घन वात को तनु वात ने घेरा है। ऐसे तीन वातवलयो से वेष्टित अनन्तानन्त आकाश के बीचो-बीच अनादि निधन तीन सौ ततालीस घन राजू प्रमाण पुरुषाकार (जिस प्रकार मनुष्य अपने दोनो हाथ कमर पर रखकर पैर चोड़े करके खड़ा हो जाए उस आकृतिवाला) लोक स्थित है। इस लोक के बिलकुल मध्य चौदह राजू ऊँची, एक राजू चौडी, एक राजू लम्बी चौकोर स्तम्भाकार त्रस नाडी है। इसको त्रस नाडी इस कारण से कहते हैं कि स्थावर जीव तो त्रस नाडी के बाहर भी तीनो लोको में भरे हुए है परन्तु त्रस जीव देव, नारकी, मनुष्य' पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि तथा जलचर मीन, मत्स्य आदि त्रस नाड़ी के बाहर कोई नही है। इसी कारण यह त्रस नाडी कहलाती है और न कोई जीव त्रस नाड़ी से बाहर ही जा सकता है किन्तु उपवाद और मरणान्तिक समुदघात वाले त्रस तथा केवल समुदघात वाले भी त्रस नाली के बाहर कदाचित् रहते हैं। वह इस प्रकार से कि लोक के अन्तिम वातवलय मे स्थित कोई

जीव मरण करके विग्रह गति द्वारा त्रस नाली में त्रस पर्याप्त से उत्पन्न होने वाला है वह जीव जिस समय में मरण करके प्रथम समय में मोडा लेता है उस समय में त्रस पर्याय को धारण करने पर भी त्रसनाली के बाहर रहता है इसीलिए उपवाद की अपेक्षा त्रस जीव त्रस नाड़ी के बाहर रहता है इस प्रकार त्रस नाली में स्थित किसी त्रस ने मारणातिक समुद्घात के द्वारा त्रस नाली के बाहर के प्रदेशो का स्पर्श किया क्योकि उसको मरण करके वही पर उत्पन्न होना है तो उस समय में भी त्रस जीव का अस्तित्व त्रसनाली के बाहर पाया जाता है। इसी प्रकार जब केवली के केवल समुद्घात के द्वारा त्रस नाली के बाह्य प्रदेशो का स्पर्श करते है उस समय मे भी त्रस नाली के बाहर त्रस जीव का सद्भाव पाया जाता है परन्तु इन तीन कारणों के अतिरिक्त त्रस जीव त्रस नाली के बाहर कदापि नही जा सकता। चौदह घन राजू मे त्रस नाली है उसमे नीचे निगोद मे एक राजू मे तथा सर्वार्थ सिद्धि से ऊपर त्रस जीव नही है। बाकी कुछ कम तेरह राजू त्रस नाली में त्रस जीव भरे हुए है और स्थावर भी भरे हुए है और तीन सौ उनतीस घन राजू मे स्थावर लोक है। ऐसे सब तीन सौ तेतालीस घन राजू मे लोक है। एक राजू लबे, एक राजू चौड़े और एक राजू उँचे को घन राजू कहते है। यदि इस लोक के ऐसे-ऐसे खड-खड बनाए जाए तो समस्त तीन सौ तैतालीस खड होते है जैसे सात राजू चौड़ाई नीचे, एक राजू चौडाई मध्यलोक में, दोनो का जोड़ आठ राजू हुआ। इसके आधे चार को सात राजू लम्बाई सात राजू ऊँचाई से गुणा करके—४×७×-७ १९६ घन राजू अध: लोक हुआ। फिर एक राजू मध्य लोक की चौड़ाई मे पाच राजू ब्रह्म स्वर्ग के पास की चौड़ाई जोडी तो छह राजू हुई। इसकी आधी तीन राजू को साढ़े तीन राजू ऊँचाई सात राजू लम्बाई से गुणाकर—३×३½×७—७३½ साढे तिहत्तर राजू हुए। इतना ही घनफल ब्रह्म स्वर्ग से सिद्धशिला तक हुआ तो मध्य लोक से पचम स्वर्ग तक का पचम स्वर्ग से सिद्धालय तक का दोनो घनफल जोड़ कर एक सौ सैतालीस घनफल हुआ। ऐसे १९६+१४७—३४३ सब तीन सो तेतालीस घन राजू हुए।

इति लोकस्वरूप वर्णन।

अथ अधः-लोक विवरण प्रारम्भ.

मेरु के नीचे अधः लोक में क्रमश. एक के नीचे दूसरी, दूसरी के नीचे तीसरी, इसी प्रकार नीचे-नीचे रत्नप्रभा (घर्मा) १, शर्कराप्रभा (वशा) २, वालुकाप्रभा (मेघा) ३, पक प्रभा (अजना) ४, धूमप्रभा (अरिष्टा) ५, तमः प्रभा (मघवी) ६, महातमः प्रभा (माघवी) ७, ऐसे नारकियो के निवास स्थान सात भूमियाँ है। रत्न प्रभा आदि भूमियों के नाम तो गुणो के अनुसार है और घर्मा, वशा आदि रुढ़ि नाम जानने चाहिए। प्रथम नरक रत्नप्रभा वा धर्मा भूमि की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसके तीन भाग है–उनमेंसे सोलह योजन

मोटा पहला खर भाग है उसमें चित्रा, बज्रा, बैडूर्य आदि एक-एक हजार योजन की मोटी सोलह पृथ्वी है। इनमें से ऊपर नीचे की एक-एक हजार योजन की दो पृथ्वी छोड़कर बीच की चौदह हजार योजन मोटी और एक राजू लम्बी-चौड़ी पृथ्वी मे किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, भूत और पिशाच इन सात प्रकार के व्यतर देवों के तथा नागकुमार, विद्युत कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्नि कुमार, वात कुमार, स्तनित कुमार उदधि कुमार, द्वीपकुमार, दिक्कुमार इन नव प्रकार के भवनवासी देवो के निवास स्थान हैं। खरभाग के नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पक भाग है उसमें असुर कुमार और राक्षसो के निवास स्थान है। पाताल लोक में जो सात कोडि बहत्तर लाख अकृत्रिम जिन मन्दिर कहे है उनकी सख्या असुर कुमार नामक देवों के भवन में चौसठ लाख, नागकुमार देवो के भवन में चौरासी लाख, विद्युत् कुमार देवों के भवन मे छिहत्तर लाख, सुपर्ण कुमार देवो के भवन में बहत्तर लाख अग्निकुमार देवो के भवन में छिहत्तर लाख, वातकुमार देवो के भवन में छयाणवे लाख, स्तनित कुमार देवो के भवन मे छिहत्तर लाख जिन मन्दिर है। उदधि कुमार देवो के भवन में छिहत्तर लाख, द्वीप कुमार देवो के भवन मे छिहत्तर लाख और दिक्कुमार देवो के भवनो मे भी छिहत्तर लाख जिन मन्दिर है। इस प्रकार आनन्दकन्द श्री जिनेन्द्र देवाधिदेव के दश प्रकार भवनवासी सज्ञक देवो के भवनो मे समस्त सात कोडि बहत्तर लाख अकृत्रिम जिन चैत्यालय है। उन चैत्यालय स्थित जिन प्रतिमाओं को मन, वचन, काय से मेरा बारम्बार नमस्कार हो।इति। पंक भाग के नीचे अस्सी हजार योजन मोटा अब्बहुल भाग है। उसमें प्रथम नरक है। सर्व नरक पृथ्वियो की भूमि स्थान परलोक की लम्बाई-चौड़ाई के समान लम्बी-चौड़ी है। अब्बहुल भाग मे एक-एक हजार योजन ऊपर-नीचे मोटाई छोड़कर अठहत्तर हजार योजन की मोटाई में तेरह पाथड़े और तीस लाख बिल है। १।

दूसरा नरक सर्कराप्रभा वा बशा की भूमि बत्तीस हजार योजन मोटी है। नीचे-ऊपर एक-एक हजार योजन मोटाई छोडकर तीस हजार योजन की मोटाई में ग्यारह पाथड़े और पच्चीस लाख बिल हैं। २।

तीसरे नरक बालुका प्रभा वा मेघा की भूमि अठाईस हजार योजन मोटी है। ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर छब्बीस हजार योजन की मोटाई में नौ पाथडे और पन्द्रह लाख बिल है। ३।

चौथा नरक पक प्रभा वा अंजना की भूमि चौबीस हजार योजन मोटी है। ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर बाईस हजार योजन मोटाई में सात पाथडे और दश लाख बिल है। ४।

पांचवा नरक धूमप्रभा वा अरिष्टा की भूमि बीस हजार योजन मोटी है। ऊपर

नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर अठारह हजार योजन मोटाई में पांच पाथड़े और तीन लाख बिल हैं। ५।

छठा नरक तमप्रभा वा मघवी की भूमि सोलह हजार योजन मोटी है। ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर चौदह हजार की मोटाई मे तीन पाथड़े और पांच कम एक लाख बिल है। ६।

सातवां नरक महातमप्रभा वा माधवी की भूमि आठ हजार योजन मोटी है। ऊपर नीचे अनुमान से दो-दो हजार योजन मोटाई छोड़कर चार हजार योजन मोटाई में एक पाथडा और पांच बिल है। ७।

पाथड़ों के नाम—

प्रतरव पाथड़ा वह स्थान है जिसमें बिल और उपजने के स्थान होते है जैसे तिमंजले मकान मे तल के उपर तीन छते होती है उसी प्रकार पाथडे जानने चाहिए। छत की मोटाई के सदृश पाथडे की मोटाई जाननी चाहिए। जैसे छत में चूहों के बिल होते हैं वैसे पाथड़ो में नारकियो के बिल जानने चाहिए जैसे छत-छत प्रति अन्तराल है वैसे ही पाथडो में तल ऊपर अन्तराल है। प्रथम नरक में जो तेरह पाथड़े है उनके नाम ये है—(१) सोमतक, (२) निरय, (३) रौरव, (४) भ्रात, (५) उद्भ्रात' (६) सम्भ्रात, (७) असम्भ्रात, (८) विभ्रात, (९) तृस्त, (१०) तृषित, (११) वक्रान्त, (१२) अवक्रान्त और (१३) विष्णत—ये तेरह पाथड़े प्रथम नरक मे है।

दूसरे नरक में (१) तनक, (२) स्तनक, (३) बनक, (४) मनक, (५) खडा, (६) वैखडिका, (७) जिह्वा, (८) जिह्वक, (९) लौकिका, (१०) लोलवत्स, (११) स्तनलोलका नामक ये ग्यारह पाथडे जानने चाहिए।

तीसरे नरक में (१) तप्त, (२) तपित, (३) तपन, (४) तापन, (५) निदाघ, (६) उज्वलित, (७) प्रज्वलित, (८) सज्वलित, (९) सपकुलित नामक ये नव पाथड़े हैं।

चौथे नरक मे (१) अर, (२) मारा, (३) तारा, (४) चर्चा, (५) तमकी, (६) घाग, (७) घण्टा नामक ये सात पाथडे है।

पाचवे नरक में (१) तमका, (२) भ्रमका, (३) रुपका, (४) अक्षेद्रा, (५) तमिका नामक ये पांच पाथड़े है।

छठे नरक में (१) हिम, (२) वर्दलि, (३) तहृश्रका नामक ये तीन पाथड़े है।

सातवे नरक में अप्रतिष्ठित नामक एक ही पथड़ा है।

सातों नरकों में सर्व उन्नचास पाथड़े हुए।

प्रत्येक पाथड़े में बीचो-बीच एक इन्द्रक बिल है। दशो दिशाओ में श्रेणी वद्ध पंक्ति रूप बिल है और सर्वत्र तारागणो के सदृश फैले हुए प्रकीर्णक बिल हैं।

बिलों की संख्या—

प्रत्येक पाथडे में मध्य में इन्द्रक बिल है। उसके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर दिशाओ में और ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल इस क्रम से हैं। प्रथम नरक के प्रथम पाथडे की चारों दिशाओं में उनचास-उनचास और विदिशाओ में अड़तालीस-अड़तालीस है अत चारों दिशाओं के एक सौ छयानवे और विदिशाओ के १९२ हुए। सर्वप्रथम पाथड़े के तीन सौ अट्ठासी श्रेणी वद्ध बिल हुए। आगे क्रम से नीचे-नीचे के प्रत्येक दिशा पाथड़े विदिशा आदि में एक-एक कम होने से दिशा विदिशाओ मे चार-चार ऐसे प्रत्येक मे आठ-आठ कम है यहाँ तक कि उनचासवेपाथड़े में प्रत्येक दिशा में तो एक-एक है परन्तु विदिशाओ मे एक भी नही। इस क्रम से दूसरे पाथडे की दिशाओ मे अड़तालीस, विदिशाओ में सैतालीस ऐसे चारो दिशाओं मे समस्त तीन सौ अस्सी श्रेणी बद्ध बिल है, ऐसे ही तीसरे पाथड़े में तीन सौ बहत्तर, चौथे पाथडे में तीन सौ चौसठ, पाचवे पाथड़े में तीन सौ छप्पन छठे पाथड़े में तीन सौ अडतालीस, सातवें पाथडे में तीन सौ चालीस, आठवें पाथडे मे तीन सौ बत्तीस, नवे पाथडे मे तीन सौ चौबीस, दसवे पाथड़े मे तीन सौ सोलह, ग्यारहवें पाथडे मे तीन सौ आठ, बारहवें पाथड़े मेतीन सौ, तेरहवें पाथडे में दो सौ बाणवें है। ऐसे सर्वप्रथम नरक के पाथड़े मे चार हजार चार सौ चौबीस श्रेणीवद्ध बिल है। दूसरे नरक के प्रथम पाथडे में दो सौ चौरासी, दूसरे पाथड़े मे दो सौछिहत्तर, तीसरे पाथड़े मे दो सौ अडसठ, चौथे पाथड़े मे दो सौ आठ, पाचवे पाथडे मे दो सौ बावन छठे पाथडे मे दो सौ चवालीस, सातवे पाथड़े मे दो सौ छत्तीस, आठवें पाथडे मे दो सौ अठाईस, नवें पाथडे मे दो सौ बीस, दसवे पाथड़े मे दो सौ बारह, ग्यारहवें पाथडे मे दो सौ चार ऐसे दूसरे नरक मे सर्वश्रेणी वद्ध बिल दो हजार छह सौ चरासी है।

तीसरे नरक के प्रथम पाथडे मे सर्व बिल एक सौ छियानवे, दूसरे पाथड़े मे एक सौ अट्ठासी, तीसरे पाथडे मे एक सौ अस्सी, चौथे पाथडे मे एक सौ बहत्तर, पाचवे पाथडे मे एक सौ चौसठ, छठे पाथड़े मे एक सौ छप्पन, सातवे पाथडे मे एक सौ अड़तालीस, आठवे पाथडे मे एक सौ चालीस, नवे पाथडे में एक सौ बत्तीस—ऐसे तीसरे नरक में सर्व श्रेणीवद्ध बिल एक हजार चार सौ छिहत्तर हुए।

चौथे नरक के प्रथम पाथड़े मे सर्व श्रेणी वद्ध बिल एक सौ चौबीस, दूसरे पाथडे मे एक सौ सोलह, तीसरे पाथडे में एक सौ आठ, चौथे पाथड़े मे सौ, पाचवे पाथड़े मे बाणवे, छठे पाथड़े में चौरासी और सातवे पाथडे मे छिहत्तर बिल है ऐसे चौथे नरक मे सर्व श्रेणी वद्ध सात सौ बिल है।

पांचवे नरक के प्रथम पाथड़े में सर्वश्रेणी वद्ध बिल अड़सठ हैं। दूसरे पाथड़े में साठ तीसरे पाथड़े मे बावन, चौथे पाथड़े मे चवालीस और पाचवे मे छत्तीस है अतः पाचवें नरक मे सर्वश्रेणी वद्ध बिल २६० हैं।

छठे नरक के प्रथम पाथडे में सर्बश्रेणी वद्ध बिल अठाइस, दूसरे पाथड़े में बीस और और तीसरे पाथड़े में बारह है। छठे नरक मे सर्वश्रेणी वद्ध बिल साठ हैं।

सातवे नरक मे पाथड़ा एक ही है और बिल श्रेणी वद्ध चारो दिशाओ मे तो चार हैं परन्तु विदिशाओं में नही है। इससे सातवे नरक मे सर्व श्रेणी वद्ध बिल चार ही है।

सातो नरक के सर्वश्रेणी वद्ध बिल नौ हजार छियासठसौ चार जानने चाहिए।

इति बिल संख्या।

आगे सातों नरकों के सर्व बिलों का सक्षेप में विवरण लिखते है

प्रथम नरक से चौथे नरक तक के सर्व बिल और पाचवे नरक के तीन चौथाई बिल महाउष्ण(गर्म) है। पाचवे नरक के एक चौथाई बिल और छठे, सातवे नरको के सर्व बिल महाशीत (महा ठडे) है। प्रथम नरक में तेरह बिल इन्द्रक, चार हजार चार सौ बीस बिल श्रेणी वद्ध और उनतीस लाख पिच्यानवे हजार पाच सौ सडसठ बिल प्रकीर्णक (पंक्ति रहित जहा-तहाँ फैले हुए) है। इद्रक बिल सब सख्यात योजन विस्तार के है। श्रेणी वद्ध सब असख्यात योजन विस्तार के है और प्रकीर्णक सख्यात असख्यात योजन विस्तार के हैं। पाच लाख निन्यानवे हजार नौ सौ सत्तासी प्रकीर्णक और तेरह इद्रक ये छह लाख सख्यात योजन विस्तार के और प्रकीर्णक तेईस लाख पिच्याणवे हजार पांच सौ अस्सी तथा श्रेणी वद्ध चार हजार चार सौ बीस, ये चौबीस लाख बिल असख्यात योजन के विस्तार के है। सर्व तीस लाख बिल है।

दूसरे नरक मे ग्यारह बिल इद्रक, दो हजार छह सौ चौरासी बिल श्रेणी वद्ध और चौबीस लाख सत्ताणवे हजार तीन सौ पाच बिल प्रकीर्णक है उनमें से ग्यारह इन्द्रक और चार लाख निन्याणवे हजार नौ सौ नवासी प्रकीर्णक बिल-ये पाच लाख बिल सब सख्यात योजन विस्तार के है और दो हजार छह सौ चौरासी बिल श्रेणी वद्ध और उन्नीस लाख सत्ताणवे हजार तीन सौ सोलह बिल प्रकीर्णक, ये बीस लाख बिल असख्यात योजन विस्तार के है। सर्व पच्चीस लाख बिल हुए।

तीसरे नरक में नव बिल इद्रक, एक हजार चार सौ छिहत्तर बिल श्रेणी वद्ध और चौदह लाख अट्ठाणबे हजार पांच सौ पन्द्रह बिल प्रकीर्णक है उनमे से नौ इन्द्रक और दो लाख निन्याणवे हजार नौ सौ इक्याणवे बिल प्रकीर्णक—ये तीन लाख तोसख्यात योजन

विस्तार के है और एक हजार चार सौ छिहत्तर बिल श्रेणी वद्ध और ग्यारह लाख अट्ठानवें हजार पांच सौ चौबीस बिल प्रकीर्णक—ये बारह लाख बिल असंख्यात योजन विस्तार के हैं। सब पन्द्रह लाख बिल है।

चौथे नरक मे सात बिल इद्रक, सात सौ बिल श्रेणी वद्ध और नौ लाख निन्याणवें हजार दो सौ तरेसठ बिल प्रकीर्णक है उनमें से सात बिल इन्द्रक और एक लाख निन्याणवें हजार नौ सौ तिराणवे बिल प्रकीर्णक—सब दो लाख तो सख्यात योजन विस्तार के हैं और सात सौ बिल श्रेणी वद्ध और सात लाख निन्याणवें हजार तीन सौ बिल प्रकीर्णक—सब आठ लाख बिल असख्यात योजन विस्तार के है। सब दश लाख बिल है।

पाचवे नरक मे पाच बिल इन्द्रक, दो सौ साठ बिल श्रेणी वद्ध और दो लाख निन्याणवे हजार सात सौ पैंतीस बिल प्रकीर्णक हैं। इनमे से पाँच बिल इद्रक, उनसठ हजार नौ सौ पिच्चाणवे बिल प्रकीर्णक—ये साठ हजार बिल तो सख्यात योजन विस्तार के है और दो सौ साठ बिल श्रेणी वद्ध और दो लाख उनतालीस हजार सात सौ चालीस बिल प्रकीर्णक-सब दो लाख चालीस हजार बिल असख्यात योजन विस्तार के है। सब तीन लाख बिल है।

छठवे नरक में तीन बिल इद्रक साठ बिल श्रेणी वद्ध और निन्याणवे हजार नौ सौ बत्तीस बिल प्रकीर्णक है उनमे से तीन बिल इन्द्रक,उन्नीस हजार नौ सौ छयानवे बिल प्रकीर्णक– सब उन्नीस हजार नौ सौ निन्याणवे बिल तो सख्यात योजन विस्तार के है और साठ बिल श्रेणी वद्ध और उनहत्तर हजार नौ सौ छत्तीस बिल प्रकीर्णक—सर्व उनहत्तर हजार नौ सौ छयानवे बिल असख्यात योजन बिस्तार के है। सर्व निन्याणवे हजार नौ सौ पिच्याणवे है।

सातवे नरक में एक बिल इन्द्रक सख्यात योजन विस्तार का, चार बिल श्रेणी वद्ध असख्यात योजन विस्तार के है। सर्व पाच बिल है।

इन्द्रक बिलों के विस्तार का वर्णनः—

इन्द्रक बिल जो सख्यात योजन विस्तार के कहे गए है उनका विस्तार इस प्रकार है। प्रथम इन्द्रक बिल पैंतालीस लाख योजन है। प्रथम नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार पैंतालीस लाख योजन, दूसरे का चौरासी लाख आठ हजार तीन सौ तेंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, तीसरे का तेतालीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग मे से दो भाग अधिक योजन, चौथे का बयालीस लाख पच्चीस हजार योजन, पांचवे का इकतालीस लाख तेतीस हजार तीन सौ तेंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक, छठे का चालीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन

सातवें का उनतालीस लाख पचास हजार योजन, आठवे का अड़तीस लाख अठावन हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, नवे का सैतीस लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, दसवें का छत्तीस लाख पिचहत्तर हजार योजन, ग्यारहवे का पैंतीस लाख तिरासी हजार तीन सौ तेंतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, बारहवे का चौंतीस लाख इक्याणवे हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, तेरहवे का चौंतीस लाख योजन है। ये प्रथम नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

दूसरे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार तेतीस लाख आठ हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग मे से एक भाग अधिक योजन, दूसरे का बत्तीस लाख सोलह हजार छहसौ छयासठ और एक योजन के तीन में से दो भाग अधिक योजन, तीसरे का इकतीस लाख पच्चीस हजार योजन, चौथे का तीस लाख तेतीस हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, पाचवें का उनतीस लाख इकतालीस हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीसरे भाग में से दो भाग अधिक योजन, छठे का अठाईस लाख पचास हजार योजन, सातवे का सत्ताईस लाख अठावन हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग मे से एक भाग अधिक योजन, आठवें का छब्बीस लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, नवे का पच्चीस लाख पिचहत्तर हजार योजन, दसवे का चौबीस लाख तिरासी हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीसरे भाग मे से एक भाग अधिक योजन, ग्यारहवे का तेईस लाख इक्याणवे हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन—यह दूसरे नरक के इन्द्रक बिलो का विस्तार है।

तीसरे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार तेईस लाख योजन, दूसरे का बाईस लाख, आठ हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, तीसरे का इक्कीस लाख सोलह हजार छह सौ छयासठ और एक योजन के तीन भाग में से दो भाग अधिक योजन, चौथे का बीस लाख पच्चीस हजार योजन, पाचवे का उन्नीस लाख तेतीस हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, छठे का (१८४१६६६$\frac{२}{३}$) योजन, सातवे का (१७५००००) योजन, आठवे का (१६५८३३३$\frac{१}{३}$) योजन, नवे का (१५६६६६६$\frac{२}{३}$)योजन—यह तीसरे नरक के इन्द्रक बिलो का विस्तार है।

चौथे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार (१४७५०००) योजन, दूसरे का (१३८३३३३$\frac{१}{३}$) योजन, तीसरे का (१२९१६६६$\frac{२}{३}$) योजन, चौथे का (१२०००००)

योजन, पाँचवे का (११०८३३३$\frac{१}{३}$) योजन, छठे का (१०६६६६$\frac{२}{३}$) योजन, सातवें का (६२५०००) योजन—यह चौथे नरक के इन्द्रक बिलो का विस्तार है।

पाँचवें नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार (८३३३३३$\frac{१}{३}$) योजन, दूसरे का (७४१६६६$\frac{२}{३}$) योजन, तीसरे का (६५००००) योजन, चौथे का पाच लाख अठावन हजार तीन सौ तेतीस और एक योजन के तीन भाग में से एक भाग अधिक योजन, पाचवे का (४६६६६६$\frac{२}{३}$) योजन,—यह पांचवे नरक के इन्द्रक बिलो का विस्तार है।

छठे नरक के प्रथम इन्द्रक बिल का विस्तार तीन लाख पिचहत्तर योजन, दूसरे का (२८३३३३$\frac{१}{३}$) योजन, तीसरे का (१९१६६६$\frac{२}{३}$) योजन—यह छठे नरक के इन्द्रक बिलों का विस्तार है।

सातवे नरक का इन्द्रक बिल (१०००००) योजन विस्तार का है।

समाप्तोऽय इन्द्रक बिल विस्तार.।

अथ नरक बिलों की ऊँचाई का वर्णनः—

बिलो के भीतर धरती से छत तक की पोलाई को बिलो की ऊँचाई कहते है। प्रथम नरक के इन्द्रक बिल एक कोश, श्रेणी वद्ध $\frac{४}{३}$ कोश प्रकीर्णक $\frac{७}{३}$ कोश ऊंचे है।

दूसरे नरक मे इन्द्रक बिलो की ऊँचाई डेढ कोश, श्रेणी वद्ध बिलो की ऊँचाई दो कोश और प्रकीर्णक बिलो की ऊंचाई साढे तीन कोश है।

तीसरे नरक मे इन्द्रक बिलो की ऊचाई दो कोश, श्रेणी वद्ध बिलो की ऊचाई २$\frac{२}{३}$ कोश और प्रकीर्णक बिलों की ऊँचाई ४$\frac{२}{३}$ कोश है।

चौथे नरक मे इद्रक बिलो की ऊँचाई अढ़ाई कोश, श्रेणी वद्ध कोश बिलो की ऊँचाई ३$\frac{१}{३}$ कोश और प्रकीर्णक बिलो की ऊँचाई ५$\frac{५}{६}$ कोश है।

पाचवे नरक में इन्द्रक बिलो की ऊँचाई तीन कोश, श्रेणी वद्ध बिलों की ऊँचाई चार कोश और प्रकीर्णक बिलो की ऊँचाई सात कोश है।

छठे नरक मे इन्द्रक बिलो की ऊँचाई साढे तीन कोश श्रेणी वद्ध बिलो की ऊँचाई ४$\frac{२}{३}$ कोश और प्रकीर्णक बिलो की ऊँचाई ८$\frac{१}{६}$ कोश है।

सातवे नरक मे इन्द्रक बिलो की ऊँचाई चार कोश, श्रेणी वद्ध बिलो की ऊँचाई ५$\frac{१}{३}$ कोश और प्रकीर्णक बिलो की ऊँचाई ९$\frac{१}{३}$ कोश है। इति।

अथ नरक के पाथड़ों का आयु वर्णन

प्रथम नरक के प्रथम पाथडे मे जघन्य आयु दश हजार वर्ष और उत्कृष्ठ आयु नब्बे हजार वर्ष की है। दूसरे पाथड़े मे नब्बे लाख वर्ष, तीसरे पाथड़े में असख्यात कोड़ि

पूर्व है, चौथे में सागर का दशवां भाग, पांचवे में सागर का पाचवा भाग, छठें में ३/१० सागर, सातवे में २/५ सागर, आठवे मे अर्द्ध सागर, नवे मे ३/५ सागर दशवे में ७/१० सागर, ग्यारहवे में ४/५ सागर, बारहवें मे ९/१० सागर, तेरहवे में एक सागर की आयु है।

दूसरे नरक के प्रथम पाथडे में १ ३/११ सागर, दूसरे में १ ४/११ सागर, तीसरे में १ ६/११ सागर, चौथे में १ ५/११ सागर, पांचवे में १ १०/११ सागर, छठे में २ ३/११ सागर सातवे में २ ३/११ सागर, आठवे मे २ ५/११ सागर, नवे मे २ ७/११ सागर, में २ ६/११ सागर, दशवे में सागर और ग्यारहवे में तीन सागर आयु है।

तीसरे नरक के प्रथम पाथड़े में आयु एक सागर के सौ भाग में मे चार भाग अधिक तीन सागर, २ ९/११ दूसरे में ३ ५/९ सागर, तीसरे में ४ १/३ सागर, चौथे मे ४ ७/९ सागर, पाचवे में ५ २/९ सागर, छठे में ५ २/३ सागर' सातवे में ६ १/९ सागर' आठवे में ६ ५/९ सागर, और नवे मे सात सागर आयु है।

चौथे नरक के प्रथम पाथड़े में आयु ७ ३/७ सागर, दूसरे पाथड़े मे ७ ५/७ सागर, तीसरे पाथडे में ८ ३/७ सागर, चौथे पाथडे में ८ ५/७ सागर, पाचवे पाथडे में ९ ३/७ सागर, छठे पाथडे ९ ४/७ सागर और सातवे पाथड़े में दश सागर आयु है।

पाचवे नरक के प्रथम पाथड़े में आयु ११ २/५ सागर, दूसरे पाथड़े में १२ ४/५ सागर, तीसरे मे १४ ३/५ सागर, चौथे में १५ ३/५ सागर और पाचवे पाथडे मे सतरह सागर आयु है।

छठे नरक के प्रथम पाथडे में आयु १८ २/३ सागर, दूसरे २० १/३ पाथडे सागर और तीसरे पाथडे बाईस सागर आयु है।

सातवें नरक में पाथडा एक ही है इसीलिए तेतीस सागर ही आयु है।

अथ नरक पाथड़ों का काय वर्णन—

प्रथम नरक के प्रथम पाथड़े मे काय तीन हाथ का है। दूसरे पाथड़े में एक धनुष एक हाथ साढे आठ अगुल, तीसरे में एक धनुष तीन हाथ सत्रह अंगुल, चौथे मे दो धनुष दो हाथ डेढ अंगुल, पाचवे में तीन धनुष दश अंगुल, छठे में तीन धनुष दो हाथ साढे अठारह अगुल सातवे में चार धनुष एक हाथ तीन अंगुल, आठवें में चार धनुष तीन हाथ साढे ग्यारह अगुल, नवे मे पाच धनुष एक हाथ बीस अगुल, दसवे में छह धनुष साढ़े चार अगुल, ग्यारहवे मे छह धनुष दो हाथ तेरह अंगुल, बारहवे मे सात धनुष साढे इक्कीस अगुल, तेरहवे में सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल है।

दूसरे नरक के प्रथम पाथडे में काय आठ धनुष दो हाथ २ ३/११ अगुल, दूसरे पाथडे में नौ धनुष २२ ४/११ अगुल, तीसरे में नौ धनुष तीन हाथ १ ६/११ अंगुल, चौथे पाथड़े में दश धनुष दो

हाथ १४$\frac{८}{११}$ अंगुल, पाचवें पाथड़ें में ग्यारह धनुष एक हाथ १०$\frac{१०}{११}$ अंगुल, छठे में बारह धनुष ७$\frac{१}{११}$ अंगुल सातवे में बारह धनुष तीन हाथ ३$\frac{३}{११}$ अंगुल, आठवे में तीन धनुष एक हाथ २३$\frac{५}{११}$ अंगुल, नवे में चौदह धनुष १९$\frac{७}{११}$ अंगुल, दसवे में चौदह धनुष तीन हाथ १५$\frac{९}{११}$ अंगुल, ग्यारहवे में पन्द्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल है।

तीसरे नरक के प्रथम पाथड़े में काय सत्रह धनुष एक हाथ १०$\frac{२}{३}$ अगुल है, दूसरे पाथड़े में उन्नीस धनुष ९$\frac{१}{३}$ अंगुल, तीसरे पाथड़े में बीस धनुष तीन हाथ आठ अगुल, चौथे पाथड़े में बाईस धनुष दो हाथ ६$\frac{२}{३}$ अगुल, पाचवे पाथडे मे चौबीस धनुष एक हाथ ५$\frac{१}{३}$ अगुल, छठे पाथडे में छब्बीस धनुष चार अगुल, सातवे में सत्ताईस धनुष तीन हाथ २$\frac{२}{३}$ अंगुल, आठवे में उनतीस धनुष दो हाथ १$\frac{१}{३}$ अगुल और नवे में इकतीस धनुष एक हाथ काय है।

चौथे नरक के प्रथम पाथडे में काय पैंतीस धनुष दो हाथ २०$\frac{४}{७}$ अगुल है, दूसरे पाथड़े मे चालीस धनुष १७$\frac{१}{७}$ अगुल, तीसरे पाथडे मे चवालीस धनुष दो हाथ।१३$\frac{५}{७}$ अगुल, चौथे में उनचास धनुष १०$\frac{२}{७}$ अगुल, पाचवे मे तरेपन धनुष ६$\frac{६}{७}$ दो हाथ अगुल, छठे में अठावन धनुष ३$\frac{३}{७}$ अगुल और सातवे में बासठ धनुष दो हाथ का काय है।

पाचवे नरक के प्रथम पाथडे मे काय पिचहत्तर धनुष, दूसरे मे सत्तासी धनुप दो हाथ, तीसरे में सौ धनुष, चौथे पाथडे में ११२ धनुष दो हाथ और पाचवे पाथडे मे १२५ धनुष काय है।

छठे नरक के प्रथम पाथडे मे एक सौ छयासठ धनुष दो हाथ सोलह अगुल काय है, दूसरे पाथडे में दो सौ आठ धनुष एक हाथ आठ अंगुल और तीसरे में अढाई सौ धनुष हैं।

सातवे नरक में एक ही पाथड़ा है इससे पाच सौ धनुष ही काय है।

नरकों का विविध प्रकार वर्णन—

नरक बिलों का परस्पर दीवाल अन्तराल जघन्य सख्यात योजन और उत्कृष्ट असंख्यात योजन है उनकी छतों में उष्ट्र मुखाकार वे स्थान है जहाँ से नारकी अतर्मुहूर्त में जन्म धर के अधोमुख हो नरक में गिरते है। उन स्थानो की चौड़ाई एक कोश, दो कोश, तीन कोश से एक योजन, दो योजन और तीन योजन है और ऊँचाई पचगुणी है। नरक में नारकियों को विभगावधि ज्ञान, प्रथम नरक में चार कोश है और नीचे-नीचे आधे-आधे कोश न्यून अर्थात् कम होता चला गया है। यथा—दूसरे मे साढे तीन कोश, तीसरे मे तीन कोश, चौथे मे ढाई कोश, पाचवे दो कोश, छठे मे डेढ़ कोश और सातवे मे एक कोश है। सातो नरकों से निकला हुआ जीव कर्मभूमि मे मनुष्य वा सैनी तिर्यच ही हो सकता है, स्थावर विकलत्रय असैनी पंचेन्द्रीय वा देव नारकी नहीं हो सकता। किसी भी नरक से निकला जीव नारायण, बलभद्र, चक्रवर्त्ती नही हो सकता, चौथे, पाचवे, छठे, सातवे से निकलकर तीर्थंकर

नही हो सकता ; पांचवें, छठे, सातवें से निकलकर चरम शरीर नही हो सकता, छठे, सातवें से निकलकर महाव्रत धारण नही कर सकता, सातवें का निकला अव्रत सम्यग्दृष्टी भी नही होता। नरकों में जाने वालों का नियम-असैनी पचेन्द्रीय लगातार प्रथम नरक में आठबार तक जाता है नवमी बार नही जाता; मुर्ग, नीलकठ, तीतर आदि हिसक पक्षी लगातार दूसरे नरक तक सात बार जाता है; गृद्ध, सियार आदि हिसक पशु तीसरे नरक तक छह बार जाते हैं; सर्प आदि दुष्ट कीड़े चौथे नरक तक लगातार पांच बार जाते हैं, सतह आदि दुष्ट नख वाले पशु पाचवे नरक तक लगातार चार बार जाते है; स्त्री छठे नरक तक लगातार तीन बार तक जा सकती है; मनुष्य और मत्स्य लगातार सातवे नरक तक दो बार जा सकते है यह उत्कृष्ट जाने का नियम है।

नरकों के विविध दु:खों का वर्णन:—

सर्व नरक बिल वज्र समान दृढ है। गोल, चौकोर आदि अनेक आकृति के है। सब नरक अनेक दु खदायक सामग्री से भरे हैं, महा दुर्गन्ध रूप है। वहाँ अनेक प्रकार के दु:ख हैं परन्तु मुख्य दु ख चार प्रकार है-पहला-क्षेत्रीय-शीत, उष्ण दुर्गन्ध आदि का, दूसरा शारीरिक जो रोग आदि शरीर से उपजते है, तीसरा मानसिक-आकुलित भावों का रहना तथा इच्छा का पूर्ण न होना, चौथा असुरकृत लडाना आदि और पांचवा ताडन, मारन, छेदन, भेदन, शूलरोपण आदि पच प्रकार यह दु ख नारकी परस्पर देते हैं। नरक ऐसे दु ख रूप है। वहाँ अधिक आरम्भ परिग्रह की तृष्णा वाले तीव्र विषय कषाय वाले जीव जाते है। नारकी जन्म लेकर शिर के बल से नीचे नरक में गिरकर तीन बार उछलते है। नवीन नारकी को पुराने नारकी नाना प्रकार लडाकर दु ख देते है। तब नवीन नारकी को विभगावधि उपजती है जिससे पूर्व वैर विचारकर रौद्र भाव करके वे भी लड़ते है। असुर कुमार देव वैर बताकर लड़ाते है जिससे नारकी अशुभ विक्रिया से दंती, नखी, शृङ्गी रूप धारण करते हैं और दडं, मुद्गर, खडग, त्रिशूल आदि शस्त्रों से परस्पर आघात करते हैं। जिस प्रकार इस लोक में अज्ञानी पुरुष अनेक मैडे, भैसे और हाथियो को परस्पर लड़ाते है और उनकी हारजीत से आनन्द मानते अथवा तमाशा देखते हैं उसी प्रकार दुष्ट कौतुकी देव अवधिज्ञान के द्वारा उनके पूर्व वैरो का स्मरण कराके परस्पर लड़ते तथा दु खित करते रहते है और स्वय तमाशा देखते हैं। नरको मे घानी में पेलकर, करोंत से चीरकर, मुद्गरो से कूटकर खड़ग से खड खड करके, शूलो की शय्या पर घसीटकर, तप्त कड़ाहों में जलाकर, तप्त धातु दिलाकर, तप्त पूतली चिपटाकर-इत्यादि नाना प्रकार कष्ट देते हैं। नरकों की भूमि महा दुर्गन्धित और कटकमयी है। असिपत्र बन के करोत समान पत्र गिरकर अगों को छिन्न-भिन्न करते है। खान-पान की सामग्री वहां रंच मात्र नही है। दुर्गन्धित, कृमि, पीप मिश्रित क्षार जल भरी

वैतरणी नदी बहती है। नरक मृतिका ऐसी दुर्गन्धित है कि यदि यहाँ आए तो प्रथम पाथडे की मृत्तिका की दुर्गन्ध मे आधा कोश पर्यन्त के जीव मर जाए। आगे-आगे के पाथड़ो की मृत्तिका अधिक-अधिक दुर्गन्धित होने से आधे-आधे कोश के अधिक जीवो को मारे, इतनी वेदना होने पर भी नारकी नरकायु पूर्ण होने पर ही मरते है। शरीर खड-खड हो जाने पर भी पुनः पारेवत् एक हो जाते हैं। तीसरे नरक पर्यन्त असुर कुमार लड़ाते हैं। मरने पर नारकियो के शरीर कपूरवत् उड़ जाते है। जिनको नरक से निकलकर तीर्थंकर होना होता है उनकी नरक वेदना मरण से छह मास पहले ही मिट जाती है। इति

अथ मध्य लोक वर्णन प्रारम्भ—

एक राजू विस्तार वाले इस मध्य लोक मे जम्बू द्वीप आदि तथा लवण समुद्र आदि उत्तम-उत्तम नाम वाले असंख्यात द्वीप और समुद्र है। उन सबके अत्यन्त बीच में एक लक्ष योजन प्रमाण लम्बा, चौड़ा, गोल (थाली के आकार की तरह) जम्बू द्वीप है। इस जम्बू द्वीप के मध्य लक्ष योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसका एक हजार योजन तो पृथ्वी के भीतर मूल है, निन्याणवे हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है। चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है। पृथ्वी मे तो दश हजार योजन चौडा है और ऊपर शिखर मे एक हजार योजन चौडा है। सुमेरू पर्वत और सौधर्म स्वर्ग के बीच में एक वाल का अन्तर है। इस जम्बू द्वीप के बीच में पूर्व और पश्चिम की तरफ लम्बे षट् कुलाचल पर्वत है जिससे जम्बू द्वीप के सात खड हो गए हैं। हिमवान् महाहिमवान, निषिध नील, रुक्मि और शिखरी—ये छह वर्षधर पर्वत तथा षट् कुलाचल कहलाते है। इन्ही के द्वारा जम्बू द्वीप के सात खड हो गए है। उन सात खडो के नाम इस प्रकार है—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत् और ऐरावत् इन्ही को सात क्षेत्र कहते हैं। वहाँ विदेह क्षेत्र में मेरु के उत्तर की तरफ उत्तर कुरु और दक्षिण की तरफ देव कुरु है। विदेह क्षेत्र तक के पर्वत और क्षेत्र उस भरत क्षेत्र से दुगने-दुगने विस्तार वाले हैं। विदेह क्षेत्र से उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वतो और क्षेत्रो के बराबर विस्तार वाले है। भरत क्षेत्र दक्षिण उत्तर में पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भाग मे से छह भाग अर्थात् $\frac{६}{१९}$ योजन अधिक विस्तार वाला है। समस्त विस्तार ५२६$\frac{६}{१९}$ योजन है। जम्बू द्वीप को चारो तरफ खाई की तरह घेरे हुए दो लक्ष योजन चौडा लवण समुद्र है। लवण समुद्र को चारो ओर से घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकी खंड द्वीप है। इस धातकी खड द्वीप में दो सुमेरु पर्वत है और क्षेत्र कुल आदि की रचना सब जम्बू द्वीप से दुगनी-दुगनी है। धातकी खड को चारो तरफ से घेरे हुए आठ लाख योजन चौड़ा कालोदधि नाम का समुद्र है और कालोदधि को घेरे हुए सोलह लाख योजन चौड़ा पुष्कर द्वीप है और पुष्कर द्वीप के बीचो बीच वलयाकार चौडाई पृथ्वी पर एक हजार बाईस योजन, बीच मे सात सौ तेईस योजन ऊपर चार सौ चौबीस योजन, ऊँचे पर सत्रह सौ इक्कीस

योजन और पृथ्वी के भीतर चार सौ सैंतीस योजन जिसकी जड़ है ऐसा मानुषोत्तर नाम का पर्वत है जिससे पुष्कर द्वीप के दो भाग हो गए हैं। पुष्कर द्वीप के पहले के अर्द्ध भाग में जम्बूद्वीप से दुगनी-दुगनी अर्थात् घातकी खंड द्वीप के समान दो-दो भरत आदि क्षेत्रो की रचना है। आगे ऐसी रचना नही है। जम्बू द्वीप, के घातकी खड द्वीप, पुष्कर द्वीप, लवण समुद्र कालोदधि समुद्र इतने क्षेत्र को नरलोक कहते है। इतने ही क्षेत्र में मनुष्य होते हैं। मानुषोत्तर पर्वत से आगे के द्वीप समुद्रो में ऋद्धिधारी मुनि वा विद्याधरों का सर्वथा गमन नहीं है और न उन द्वीपो में मनुष्य होते हैं। पुष्करवर द्वीप के आगे उसके चारो ओर पुष्करवर समुद्र है। उसके आगे वारुणी द्वीप है और उसके चारों तरफ वारुणी समुद्र है। उसके आगे क्षीरवर द्वीप है और उसके चारो तरफ क्षीरवर समुद्र है। उसके आगे घृतवर द्वीप है और उसके चारो तरफ घृतवर समुद्र है। उसके आगे क्षौद्रवर द्वीप है और उसके चारों तरफ क्षौद्रवर समुद्र है। उसके आगे नन्दीश्वर द्वीप है और उसके चारों तरफ नन्दीश्वर समुद्र है। उसके आगे अरुणवर द्वीप है और उसके चारो तरफ अरुणवर समुद्र है। उसके आगे अरुणभासवर द्वीप है और उसके चारो तरफ अरुणभासवर समुद्र है। उसके आगे कु डलवर द्वीप है और उसके चारो तरफ कुन्डलवर समुद्र है। उसके आगे शखवर द्वीप है उसके चारो तरफ शखवर समुद्र है। उसके आगे रुचिकर द्वीप है, उसके चारो ओर रुचिकवर समुद्र है। उसके आगे भुजगवर द्वीप है और उसके चारों तरफ भुजगवर समुद्र है। उसके आगे कुसगवर द्वीप है और उसके चारो तरफ कुसगवर समुद्र है। उसके आगे क्रौंचवर द्वीप है और उसके चारो तरफ क्रौचवर समुद्र है। इसी प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए अन्त के स्वयंम्भूरमण समुद्र पर्यन्त असख्यात् द्वीप और समुद्र है। वे सब जम्बू द्वीप से लेकर स्वय भूरमण समुद्र पर्यन्त द्विगुण-द्विगुण विस्तार वाले जानने चाहिए।

विशेष—यहाँ पर इन द्वीपो में जो चार सौ अट्ठावन अनादि निधन अकृत्रिम जिन भगवान के चैत्यालय हैं उनकी सख्या लिखते है—अढ़ाई द्वीप में पांच मेरु पर्वत हैं वहाँ एक-एक मेरु सम्बन्धी चार-चार वन है। एक-एक वन मे चार-चार जिनमन्दिर हैं अतः वन के सोलह जिनमन्दिर हुए। ऐसे पाचो मेरु के बीस वनो में अस्सी जिनमन्दिर है। एक-एक मेरु पर्वत के पूर्व पश्चिम विदेह क्षेत्रो में सोलह-सोलह वक्षार पर्वत है और प्रत्येक पर्वत पर एक-एक मन्दिर है। इस तरह सर्व वक्षार पर्वतो के ८०, एक-एक मेरु सम्बन्धी चार-चार गजदत पर्वत है, इन पर भी एक-एक चैत्यालय है। इस तरह गज-दतो के बीस एक-एक मेरु सम्बन्धी छह-छह कुलाचल पर्वत हैं। उन पर एक एक मन्दिर होने से तीस मन्दिर उनके है। एक-एक मेरु सम्बन्धी चौतीस-चौतीस वैताढ्य पर्वत हैं। उन पर एक-एक मन्दिर होने से सबके कुल एक सौ सत्तर (१७०) जिन मन्दिर है। एक-एक मेरु सम्बन्धी देवकुरु और उत्तरकुरु नाम की दो-दो भोगभूमि होने से और उन प्रत्येक में

एक-एक मन्दिर होने से दश जिन मन्दिर उनमें है। इक्ष्वाकार पर्वत पर चार, मानुषोत्तर पर्वत पर चार, नदीश्वर द्वीप में एक-एक दिशा सम्बन्धी एक-एक अंजनगिर, चार-चार दधिमुख और आठ-आठ रतिकर पर्वतो पर ऐसे तेरह-तेरह मन्दिर होने से कुल बावन जिन मंदिर चारों दिशाओं में है। रुचिक द्वीप के रुचिक पर्वत पर चार और कुंडलद्वीप के कुडल गिरि पर चार इस तरह अड़सठ जिन मदिर है। (८०+८०+२०+३०+१७० +१०+४+४+५२+४+४=४५८) इन सब चैत्यालयो की मैं बन्दना करता हूँ। ये सब विघ्नो के हरने वाले है।

इति मध्य लोक अकृत्रिम चैत्यालय वर्णन्।

पांच मेरु सम्बन्धी पाच भरत, पाँच ऐरावत, पाच विदेह—इस प्रकार सब मिलाकर पन्द्रह कर्मभूमि है। पाच हैमवत और पाँच हैरण्यवत् इन दश क्षेत्रों मे जघन्य भोग भूमि है। पाच हरि और पाच रम्यक इन दश क्षेत्रो में मध्यम भोग भूमि है। पाच देवकुरु और पाच उत्तर कुरु इन दश क्षेत्रों में उत्तम भोग भूमि है। जहाँ पर असि (शस्त्र धारण) मसि (लिखने का काम) कृषि (खेती) शिल्प (कारीगरी) वाणिज्य (व्यापार-लेन-देन) और सेवा इन षट्कर्मों की प्रवृति हो उसको कर्म भूमि कहते है। जहाँ पर इनकी प्रवृति न हो उसको भोग भूमि कहते है। मनुष्य क्षेत्र से बाहर के समस्त द्वीपो में जघन्य भोग भूमि की सी रचना है किन्तु अन्तिम स्वयभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध में तथा समस्त स्वयभूरमण समुद्र में और चारो कोणों की पृथ्वियो मे भी कर्म भूमि की-सी रचना है। लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र में छयाणवे अतद्वीप है जिनमें कुभोग भूमि की रचना है। वहाँ मनुष्य ही रहते हैं उनमें मनुष्यो की नाना प्रकार की कुत्सित आकृतियाँ है।

कल्पकाल वर्णन—

एक कल्पकाल बीस कोटाकोटी सागर का होता है। जैसे चन्द्रमा की हानि वृद्धि से एक मास में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष ऐसे दो पक्ष होते है वैसे ही एक कल्पकाल के दो भेद होते है—एक उत्सर्पिणी, दूसरा अवसर्पिणी! प्रत्येक काल की स्थिति दश कोड़ा-कोडी सागर की होती है। दोनो की स्थिति के काल को ही कल्पकाल कहते है। उत्सर्पिणी के छह कालों में वृद्धि और अवसर्पिणी के छह कालो मे दिनों-दिन घटती होती जाती है। अवसर्पिणी काल के सुखम-सुखमा, सुखम दु खमा, दु खम सुखमा, दु खमा और दु खमा (अति दु.खमा) ऐसे छह भेद है। इसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी अति दु खमा, दु खमा, दु खम सुखमा, सुखम दु.खमा, सुखमा और सुखमा सुखमा—ये छह भेद है। इनमे से पहला सुखम सुखमा काल चार कोड़ा कोडी सागर का होता है। दूसरा सुखमा तीन कोडा कोड़ी सागर का, तीसरा सुखम दु खमा दो कोड़ा कोड़ी सागर का, चौथा दु खम सुखमा बयालीस हजार

वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर का, पांचवाँ दु:खमा इक्कोस हजार वर्ष का और छठा अति दु:खमा भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। प्रथम सुखमा-सुखमा काल में महान सुख होता है। दूसरे काल में भी सुख होता है परन्तु प्रथम काल जैसा नही उससे कुछ कम होना है। तीसरे सुखम दु:खमा काल में सुख और किंचित् मात्र दु:ख भी होता है। चौथे दु खम सुखमा काल में दु:ख और सुख दोनों होते है, पुण्यवानो को सुख और पुण्यहीनों को दु ख होता है। पाँचवे दु:खमा काल में दु:ख ही रहता है, सुख नही जिस प्रकार सुषुप्त अवस्था में मनुष्य का अपने दु ख का मान नही रहता और वह सुखमय होकर सोता रहता है उसी प्रकार पंचम काल के जीवों को किसी को कुछ दु ख है, किसी को कुछ दु ख है परन्तु जब किसी विषय में वे रत हो जाते है तो अन्त करणगत दु ख को भूलकर अपने को सुखी मानते है। जब उसको पुन: स्मरण होता है तब वह फिर दु ख मानते हैं। अतएव पचम काल में दु ख ही है मुख नही। छठे काल में महान घोर दु ख है। देवलोक और उत्कृष्ट भोगभूमि में सदैव प्रथम सुखम सुखमा काल की, मध्यम भोग भूमि में दूसरे सुखम काल की, जघन्य भोग भूमि में सुखम दु खमा काल की, महाविदेह क्षेत्रों में दु खम सुखमा चौथे काल की और अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप के उत्तरार्द्ध में तथा समस्त स्वमभूरम समुद्र में तथा चारों कोणों की पृथ्वियो मे तथा समुद्रो के मध्य जितने क्षेत्र है उनमें सदैव दु:खमा जो पचम काल है उसकी रीति रहती है नरक में सदा दु खम दु खमा जो छठा काल है सदा उसकी सी रीति रहती है अर्थात् सदा छठा काल प्रवर्त्तमान रहता है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के अतिरिक्त शेष सब क्षेत्रों में एक ही रीति रहती है। केवल आयु, काय आदि बढना, घटना, रीति का पलटना भरत क्षेत्रों और ऐरावत क्षेत्रो में ही होना है अन्यत्र नही क्योंकि इनमें अवसर्पिणी के छठ्ठी उत्सर्पिणीकालों की प्रवृत्ति रहती है यथाजब अवसर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है तो उसमें पहले सुखमा सुखमा काल, फिर दूसरा, तीसरा चौथा, पाचवा और छठा काल प्रवर्त्तता है। छठे के पीछे फिर उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है। और तब उसमें उल्टा परिवर्तन होता है। अर्थात पहले प्रथम दु खमा दु खमा का काल प्रवर्तता है फिर पांचवा चौथा, तीसरा, दूसरा, पहला काल प्रवर्त्तता है। प्रथम के पीछे प्रथम और छठे के पीछे छठा आता है इस प्रकार अवसर्पिणी काल के पीछे उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के पीछे अवसर्पिणी काल आता रहता है। ऐसे काल का परिवर्तन सदैव से चला आता है और सदैव तक चला जाएगा। इस समय भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल प्रवर्तमान है। जब यहां पहला सुखमा सुखमा काल प्रवर्तमान होता है तब यहाँ उत्तम भोगभूमि अर्थात् देव कुरु उत्तर कुरु, के समान रचना व रीति रहती है। इसमें स्त्री और पुरुष दोनों ही युगल पंदा होते हैं और जन्म दिन से सात दिवस पर्यन्त ऊपर को अपना मुख किए हुए पडे रहते हैं। युगलों के उत्पन्न होते ही इनके माता-पिता को छीक या जम्हाई आती है जिससे वो तत्समय

ही प्राणगल हो जाते है और अपने सरल स्वभाविक भावों से मृत्यु लाभ करके ये दानी महात्मा कुछ शेष बचे हुए पुण्य फल से स्वर्ग में जाते है। और वहाँ भी उच्च पदाधिकारी होकर, मनचाहा दिव्य सुख भोगते है। न तो युगल ही अपने माता-पिता का दर्शन करते हैं और न माता-पिता ही अपनी सन्तान का मुखावलोकन करते है। वे युगल जन्म दिन से सात दिन तक तो ऊपर को मुख किए हुए पडे रहते है और अगूठा चूसते रहते है तत्पश्चात् दूसरे सप्ताह में धीरे-धीरे घुटनो के बल चलते है, तीसरे सप्ताह में वे आर्य मधुर भाषण करते तथा इधर-उधर पड़ते हुए अटपटी चाल से चलनें लगते है, चौथे सप्ताह में सात दिन तक भूमि पर स्थिरता से पैर रखते हुए पैर से चलते हैं, तदनन्तर पांचवे सप्ताह मे सात दिन गाना-बजाना आदि चातुर्य कलाओ से तथा लावण्य, सौन्दर्य आदि गुणो से विभूषित हो जाते हैं। तदनन्तर छठे सप्ताह मे सात दिन में ही नव यौवन सम्पन्न होकर अपने इष्ट भोग आदि के भोगने में समर्थ हो जाते है। तत्पश्चात सातवे सप्ताह मे वे सम्यक्त्व के ग्रहण करने योग्य हो जाते हैं। वे शुभ लक्षण परिपूर्ण, उगते सूर्य से समान कान्ति के धारी स्त्री-पुरुषो के युगल तीन पल्य पर्यन्त देवो के समान मनचाहा दिव्य सुख भोगते है। न तो उन्हे किसी प्रकार की बीमारी, शोक, चिन्ता, दरिद्रता आदि के होने वाले कष्ट सताने पाते है और न किसी प्रकार के अपघात से मृत्यु होती है। यहाँ किसी के साथ शत्रुता नही होती। यहाँ न अधिक शीत पडती है और न अधिक गर्मी होती है किन्तु सदैव एक-सी सुन्दर ऋतु रहती है। यहाँ न किसी को सेवा करनी पडती है और न किसी के द्वारा अपमान सहना पडता है। न यहाँ युद्ध होता है न कोई किसी का बैर ही। यहाँ के लोगों के भाव सदा पवित्र और उत्साह रूप रहते है। यहाँ उन्हे कोई खाने-कमाने की चिन्ता नहीं करनी पडती है। पुण्योदय से प्राप्त हुए दश प्रकार के कल्प वृक्षों से मिलने वाले सुखों को भोगते है और तीन पल्य आयु पूर्ण होने पर्यन्त ये इसी तरह निराकुलित सुख से रहते है। वहाँ अशन, पान, शयन, आशन, वस्त्र, आभूषण, सुगध आदि सर्व ही भोग-उपभोग योग्य सामग्री कल्प वृक्षो से उत्पन्न होती है। उन दस कल्प वृक्षो के नाम इस प्रकार हैं :—

श्लोक —मद्यातोद्यविभूषास्त्रग्, ज्योतिर्दीपगुहाङ्गका·।
भोजनामत्र वस्त्राङ्गा, दशधा कल्प पादपा: ।।

अर्थ—मालाग, वादित्राग, भाजनाङ्ग, भूषणाङ्ग, पानाङ्ग, ज्योतिराङ्ग, दीपाग गृहाग, भोजनाङ्ग, और वस्त्राङ्ग, ये दश प्रकार के कल्प वृक्ष है।

नाना प्रकार के फूलो से बनाई हुई उत्कृष्ट और उत्तम सुगन्धित मालाएँ जिससे प्राप्त हों उसे मालाग वृक्ष कहते है।१

तत, वितत, घन, सुषिर आदि बाजे जिससे प्राप्त हो वह वादित्रांग वृक्ष है।२

भोगभूमि में दस प्रकार के कल्प वृक्षों से भोग सामिग्री
गृहांग
भाजनांँग
भोजनांँग
पानांँग
वस्त्रांँग
भूषणांँग
मालांँग
दीपांँग
ज्योतिरांँग
वाद्यांँग
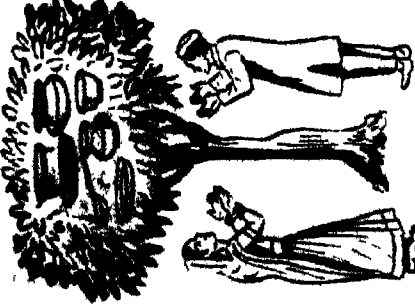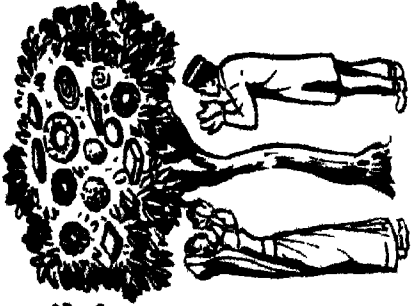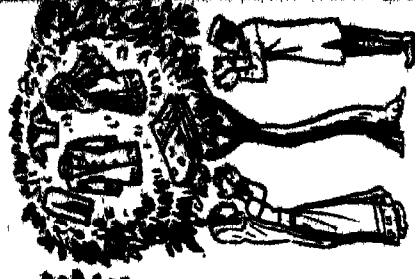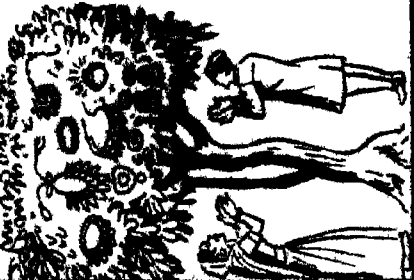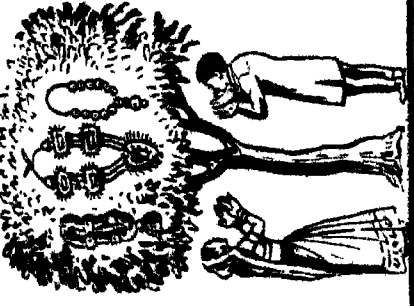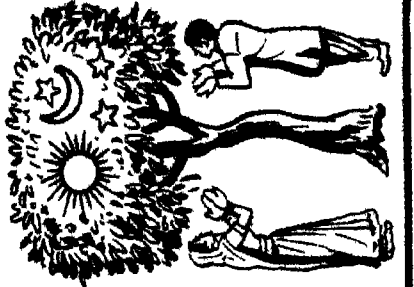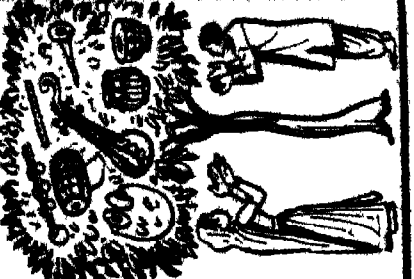
कलश, थाली, कटोरा, गिलास आदि बर्तन देने वाला भाजनांग वृक्ष है ।३।

मुकुट, माला, बाजूबन्द आदि आभरण व भूषण देने वाला भूषणांग वृक्ष है ।४।

रुचिकर और सुगंधित, इन्द्रियां तथा बल की पुष्टि करने वाली तथा जिसके देखने से अभिलाषा पैदा हो ऐसी पीने की वस्तु मद्यांग वृक्ष से मिलती है ।५।

ज्योतिरांग वृक्षों से सूर्य और चन्दमा से भी अधिक प्रकाश होता है ।६।

दीपाग जाति के वृक्षों से घर मे प्रकाश होता है ।७।

गृहाग वृक्ष नाना प्रकार के मकान मिलते है ।८।

जिनसे चार प्रकार, भोजन, प्राप्त हों वह भोजनाग वृक्ष है ।९।

जिससे उत्तमोत्तमरेशमी,सूती, आदि वस्त्र प्राप्त हों उन्हें वस्त्राग वृक्ष कहते हैं ।१०।

ऐसे ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष न तो वनस्पति-काय हैं और न देवाधिष्ठित किन्तु पृथ्वीकाय रूप ही सार वस्तु हैं। इन दश प्रकार के वृक्षों से मनवांछित पदार्थ प्राप्त करके सुख भोगते हुए आयु के अन्त में शुभ भावों से मृत्यु लाभकर शेष बचे पुण्य फल से स्वर्ग में जाते है और वहाँ भी महा वैभवशाली देव होकर दिव्य सुख भोगते है। यह सब उनके उत्तम पात्र दान का फल है। अतएव जो लोग पात्रों को भक्ति से दान देंगे वे भी नियम से ऐसा ही उच्च सुख लाभ करेंगे। यह बात ध्यान में रखकर सत्पुरुषों का कर्त्तव्य है कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करे। यही दान स्वर्ग और मोक्ष सुख का देने वाला है। भोगभूमि में असैनी तिर्यन्च नही होते और वे भी स्त्री पुरुष युगल ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते है। यह उत्कृष्ट भोगभूमि की रचना चार कोड़ा कोड़ी सागर पर्यन्त रहती है। तदनन्तर सुखमा नाम का दूसरा काल प्रवर्तता है उसमें मध्यम भोगभूमि अर्थात् हरि और रम्यक क्षेत्र के समान रचना व रीति होती है। इसमे मनुष्यों की ऊँचाई चार हजार धनुष और दो पल्य की आयु होती है। तब भी निरन्तर दो पल्य तक कल्प वृक्षों से उत्पन्न हुए सुख भोग कर आयु पूर्ण होने पर मृत्यु लाभ कर अपने शेष बचे पुण्य के अनुसार स्वर्ग में देव उत्पन्न होते है। इस काल मे भी युगल ही पैदा होते हैं। यह मध्यम भोगभूमि की रचना तीन कोड़ा कोड़ी सागर पर्यन्त रहती है। तत्पश्चात् तीसरा काल जो सुखमा दुःखमा है, प्रवर्तमान होता है उसमे जघन्य भोगभूमि अर्थात् हैमवत और हैरण्यवत् क्षेत्र के समान रचना व रीति होती है। इसमे मनुष्यो के शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष और एक पल्य की आयु होती है। एक पल्य पर्यन्त बराबर कल्प वृक्ष आदि से उत्पन्न हुए विषयभोगो के सुख भोगते हैं। आयु पूर्ण होने पर मृत्यु लाभ कर अपने शेष बचे पुण्य के अनुसार देव पर्याय मे जाते हैं और वहाँ पुण्यानुसार सुख भोगते है। यह जघन्य भोग भूमि की रचना दो कोड़ा-कोड़ी सागर पर्यन्त

रहती है। इस प्रकार ४+३+२=९ कोडा कोड़ी सागर पर्यन्त भोगभूमि की रचना होतो है।

जब तीसरे काल में पल्य का आठवा भाग शेष रहा तो चौदह कुलकर हुए। उनके नाम ये है—प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमकर, क्षेमधर, सीमंकर, सोमधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान यशस्वान, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित और नाभिराय। ये अपने तीन जन्म के ज्ञाता और कर्म भूमि के व्यवहार के उपदेशक थे।

प्रथम कुलकर के शरीर की ऊँचाई अठारह सो धनुष थी। इनके समय ज्योतिरांग जाति के कल्प वृक्षो की ज्योति मद होने के कारण चन्द्रमा और सूर्य का प्रादुर्भाव देखकर उनके प्रकाश से जो लोग भयभीत हुए थे उनका इन्होने भय निवारण किया। १।

दूसरे कुलकर का शरीर प्रमाण तेरह सौ धनुष था। इन्होंने ज्योतिष जाति के कल्पवृक्षों की ज्योति मद होने से तारागण के विमानो का प्रादुर्भाव देखकर तारागण के प्रकाश से जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। २।

तीसरे कुलकर का शरीर प्रमाण आठ सौ धनुष था। इन्होने सिह, सर्प आदि के क्रूर स्वाभावी होने से जो लोग भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। ३।

चौथे कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ पिचहत्तर धनुष था। इन्होंने अन्धकार से भयभीत हुए लोगो को दीपक प्रज्वलित कराने की शिक्षा से उनका भय निवारण किया। ४।

पाचवे कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ पचास धनुष था। इन्होने कल्पवृक्षो के स्वत्व की मर्यादा बाधी। ५।

छठे कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ पच्चीस धनुष था। इन्होंने अपनी-अपनी नियमित सीमा में शासन करना सिखलाया। ६।

सातवें कुलकर का शरीर प्रमाण सात सौ धनुष था। इन्होने घोड़े, रथ आदि सवारियो पर आरुढ होना सिखलाया। ७।

आठवें कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ पिचहत्तर धनुष था। इन्होने जो लोग अपने पुत्र का मुख देखने से भयभीत हुए थे उनका भय निवारण किया। ८।

नवे कलकर का शरीर प्रमाण छह सौ पचास धनुष था। इन्होने लोगों को पुत्र-पुत्रियो के नामकरण की विधि बतलाई। ९।

दसवें कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ पच्चीस धनुष था। इन्होने लोगो को चन्द्रमा दिखलाकर बच्चो को क्रीड़ा करना सिखालाया। १०।

ग्यारहवे कुलकर का शरीर प्रमाण छह सौ धनुष था। इन्होंने पिता पुत्र के
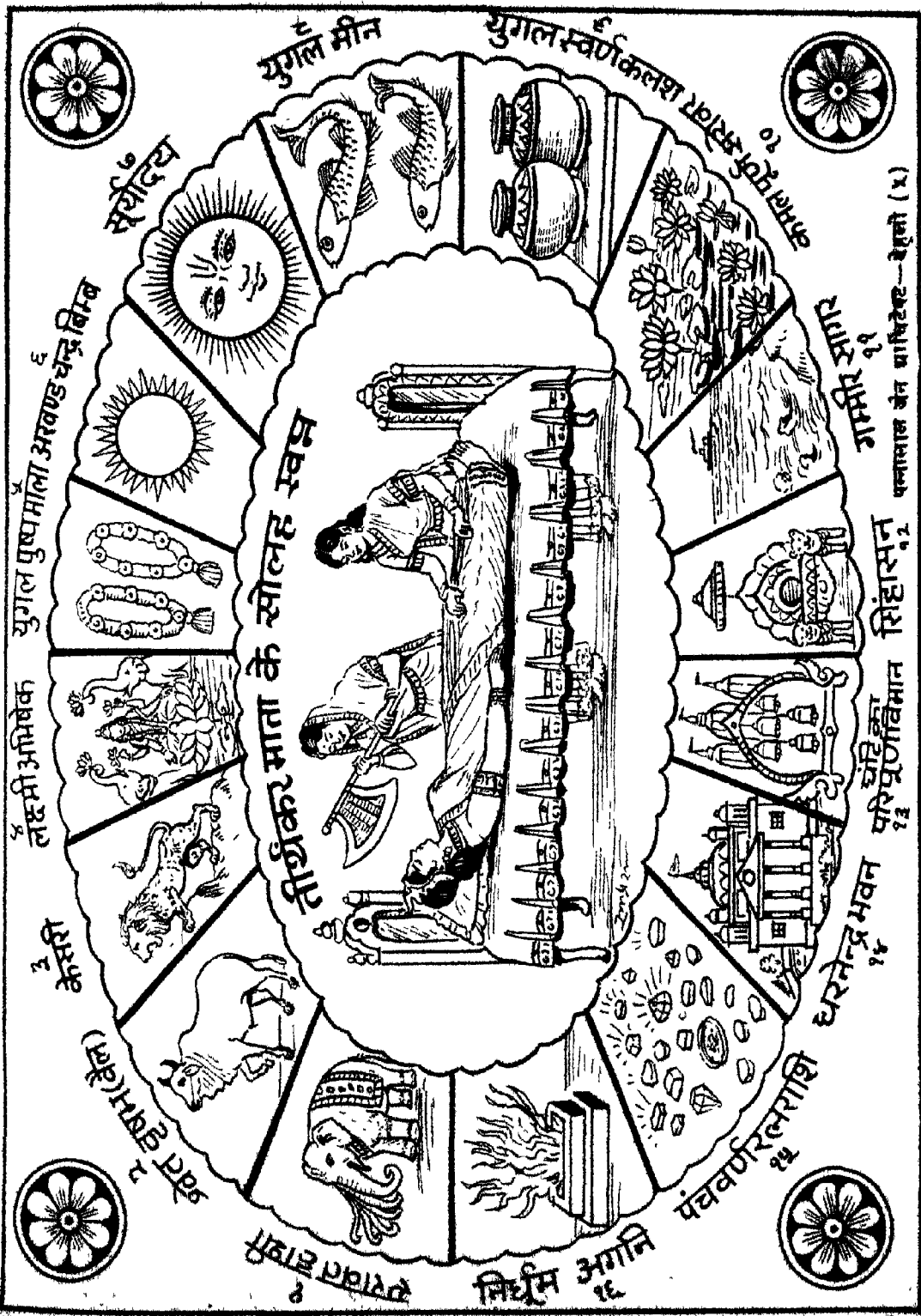
तीर्थंकर माता के सोलह स्वप्न
१ ऐरावत हाथी
२ श्वेत वृषभ (बैल)
३ केसरी
४ लक्ष्मी अभिषेक
५ युगल पुष्पमाला
६ अखण्ड चन्द्र बिम्ब
७ सूर्योदय
८ युगल मीन
९ युगल स्वर्णकलश
१० कमल पूर्ण सरोवर
११ गम्भीर सागर
१२ सिंहासन
१३ घंटिका परिपूर्ण विमान
१४ धरनेन्द्र भवन
१५ पंचवर्ण रत्नराशि
१६ निर्धूम अगनि
पन्नालाल जैन प्राधिटेक्ट—देहली (५)

व्यवहार की शिक्षा दी अर्थात् लोगों को सिखलाया कि यह तुम्हारा पुत्र है, तुम इसके पिता हो। ११।

बारहवें कुलकर का शरीर प्रमाण पांच सौ पिचहत्तर धनुष था। इन्होंने नदी, समुद्र आदि मे नौका और जहाजो के द्वारा पार जाना, तैरना सिखलाया। १२।

तेरहवे कुलकर का शरीर प्रमाण पाच सौ पचास धनुष था। इन्होंने लोगों को गर्भ मल के शुद्ध करने का अर्थात् स्नान आदि कर्म का उपदेश दिया। १३।

चौदहवें कुलकर का शरीर प्रमाण पांच सौ पच्चीस धनुष था। इन्होंने लोगो को नाभि काटने की विधि बतलाई। १४।

इनके समय समस्त कल्पवृक्षों का अभाव हुआ। युगल उत्पत्ति मिटी और वे अकेले ही उत्पन्न हुए। इनकी मन को हरण करने वाली उत्तम पतिव्रता, सरलस्वभावी, विदुषी जैसे चन्द्रमा के रोहिणी, समुद्र के गगा, राजहंस के हसनी इन्द्र के इन्द्राणी है वैसे ही महारानी मरु देवी हुई एक दिन मरु देवी अपने शयनागार मे सुखपूर्वक सोई हुई थी कि उसने जिनेन्द्र के अवतार के सूचक रात्रि के पिछले पहर में अत्यन्त हर्षदायक सोलह स्वप्न देखे। उनके नाम इस प्रकार है—(१) ऐरावत हस्ती, (२) श्वेत वृषभ, (३) केशरी, (४) हस्तिनियो के द्वारा दो कलशो से स्नान करती हुई लक्ष्मी, (५) दो पुष्प मालाएँ, (६) अखण्ड चन्द्र बिम्ब (७) उदय होता हुआ सूर्य, (८) मीन युगल, (९) दो कनकमय कलश, (१०) कमलो से शोभित सरोवर, (११) गम्भीर समुद्र, (१२) सुन्दर सिहासन, (१३) छोट-छोटी घटिकाओं से सुशोभित विमान, (१४) धरणेन्द्र का भवन, (१५) प्रदीप्त पच वर्णों के उत्तमोत्तम रत्नो की राशि और (१६) निर्धूम अग्नि—इस प्रकार सोलह स्वप्न देखे।

तदनन्तर उसने अपने मुख मे प्रवेश करते हुए हाथी को देखा। स्वप्न देखकर मरुदेवी प्रातःकाल सम्बन्धी मगल शब्द श्रवण करके जाग्रत हुई और शौच स्नान आदि प्रभात क्रियाओ से निवृत होकर नाभिराय के समीप राजसभा मे गई। महाराज ने महारानी को अपने बाईं ओर बैठाकर कहा—'देवी आज क्या विचार करके आई हो?' महाराणी बोली—'नाथ! रात्रि के अन्तिम समय मे मैने सोलह स्वप्न देखे हैं। उनका फल आप से पूछने के लिए आई हूँ। यह कहकर मरुदेवी ने अपने रात्रि मे देखे हुए सब स्वप्न कह सुनाए।

महाराज स्वप्नो को सुनकर उनका फल कहने लगे-'देवी! इन स्वप्न से सूचित होता है कि तुम्हारे गर्भ मे तीर्थंकर अवतार लेंगे जिनकी आज्ञा का देवता तक भी सन्मान करते है। उनके अवतार के छह महिने पहले से ही देवता प्रतिदिन अपने घर पर रत्नवर्षा करेंगे।

तुम्हारी संतुष्टि के लिए प्रत्येक स्वप्न का फल पृथक-पृथक कहता हू सो सुनो—

प्रथम हस्ती के देखने से सर्वोच्च माननीय पुत्र होगा ?

वृषभ के देखने से धर्म रुपी धुरी का धारण करने वाला जगतपूज्य होगा ।।२।।

सिंह के देखने से अनन्त बल का धारी होगा । ३ ।

पुष्पमाला देखने से धर्म प्रगट करने वाला होगा । ४ ।

लक्ष्मी अभिषेक हस्तिनियो के द्वारा होता हुआ देखने से उसका इन्द्रों के द्वारा मेरु पर्वत पर अभिषेक होगा । ५ ।

पूर्णमासी का अखड चद्र बिम्ब देखने से वह सब जन सताप हर्त्ता आनन्दकारी होगा । ६ ।

सूर्य के देखने से वह महा प्रतापी होगा । ७ ।

मीन युगल देखने से वह विविध सुख का भोक्ता होगा । ८ ।

कनक कुम्भ युगल देखने से वह विविध निधि भोक्ता होगा । ९ ।

सरोवर के देखने से वह एक हजार आठ शुभ लक्षण सम्पन्न होगा । १० ।

गम्भीर समुद्र के देखने से केवल ज्ञान कारी होगा । ११ ।

सिंहासन के देखने से विपुल राज्य का भोक्ता होगा । १२ ।

स्वर्ग विमान देखने से स्वर्ग से चयकर अवतार लेगा । १३ ।

धरणेन्द्र भवन देखने से अवधिज्ञान सयुक्त होगा । १४ ।

रत्नराशि देखने से गुण निधान होगा । १५ ।

निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्मों का नाश करने वाला होगा । १६ ।

इस प्रकार मरुदेवी त्रैलोक्य नाथ की उत्पत्ति अपने पति से सुनकर परम हर्षित होकर वापिस अपने महल में चली गई । कुछ दिनो पश्चात् आषाढ कृष्ण द्वितीया को सर्वार्थ सिद्धि से चयकर तीन ज्ञान सयुक्त भगवान मरुदेवी के गर्भ मे आ विराजे । देवो के द्वारा उस पूज्य गर्भ की दिनो-दिन वृद्धि होने लगी । उसके भार से मरुदेवी को किसी तरह की पीड़ा न हुई जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब के पड़ने से दपर्ण की किसी तरह हानि नही होती है । गर्भ पूर्ण दिनो का हुआ । तब चैत्र मास कृष्ण पक्ष में नवमी के दिन शुभ मुहूर्त्त में उत्तराषाढ़ नक्षत्र का योग होने पर सौभाग्यवती मरुदेवी ने त्रिभुवन पूज्य पुत्र रत्न का प्रसव किया । पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्द उत्सव होने लगा और नाभिराय ने भी पुत्र जन्म का महा उत्सव किया । त्रैलोक्य के प्राणी हर्षित हुए । इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए और

देवों के बिना बजाए स्वतः स्वभाव सुन्दर-सुन्दर बाजों का मनोहर शब्द होने लगा तब सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से यह जानकर कि इस समय भरत क्षेत्र में तीर्थराज का अवतार हुआ है। उसी समय अपने ऐरावत गजराज पर आरुढ़ होकर वह अपनी इन्द्राणी और देवों सहित बड़े भारी उत्साह और समारोह के साथ अयोध्यापुरी में आया और सभक्ति नगरी की तीन प्रदक्षिणा की। इन्द्र ने अपने विशाल ऐश्वर्य से नगरी को अनेक प्रकार सुशोभित किया और पश्चात् अपनी प्रिया को भगवान के लाने के लिए मरुदेवी के निकट भेजा। इन्द्राणी अपने स्वामी की आज्ञा पाकर प्रसूतिगृह में गई और अपनी दिव्य शक्ति से ठीक मायामयी वैसा ही एक बालक वहाँ स्थापित कर भगवान को उठा लाई। उसने बालक लाकर अपने पति के कर-कमलों में दे दिया। इन्द्र उन्हे ऐरावत हाथी पर बैठाकर बड़े समारोह के साथ सुमेरु पर्वत की ओर चला। ईशान इन्द्र ने छत्र धरे, सनत्कुमार, महेन्द्र चँवर ढुलाने लगे और शेष इन्द्र तथा देव जय-जयकार शब्द करने लगे। किन्नर, गन्धर्व, तुम्बर, नारद आदि मनोहर-मनोहर गान करने लगे, अतः सौधर्म इन्द्र बड़े भारी महोत्सव के साथ सुमेरु पर्वत पर गया। वहाँ से पांडुक वन में जाकर तत्र स्थित पांडुक शिला पर भगवान को पूर्व दिशा मुख विराजमान कर अभिषेक करने को उद्यत हुआ तब सब देव रत्नजड़ित सुवर्णमय एक हजार आठ कलशो को लेकर क्षीर समुद्र पर गए। उन्होने समुद्र से लेकर पर्वत पर्यन्त कलशो की ऐसी सुन्दर श्रेणी बाध दी जो मन को मुग्ध किए देती थी। पश्चात् इन्द्र अपनी इन्द्राणी सहित भगवान का कलशाभिषेक करने लगा। इस समय सुमेरु पर्वत क्षीर समुद्र के स्फटिक से भी धवल और निर्मल जल के अभिषेक से ऐसा मालूम होने लगा मानो चादी का बना हुआ हो जब भगवान का क्षीराभिषेक हो चुका तब दूसरे जल से अभिषेक कर इन्द्रानी ने जिनराज का शरीर पोछा और उनके शरीर में सुगन्धि चन्दन आदि का विलेपन कर अनेक प्रकार सुगन्धित पुष्पो से उनकी पूजा की।

तत्पश्चात् स्वर्गीय दिव्य वस्त्रो और मुकुट, कुन्डल, हार आदि सोलहो आभूषणों से भूषित कर और उनके अगूठे मे अमृत रखकर इन्द्र भगवान की स्तुति करने लगा—'हे नाथ! हे जिनाधीश! यह जगत महान् अज्ञान रूप अ धकार से भरा है उसमें भ्रमण करते हुए भव्य जीवो के मोह तिमिर हरने को तुम सूर्य के समान हो। हे जिन चन्द्र! तुम्हारे वचन रूपी किरण के द्वारा भव्य जीवकुमुद पक्ति के समान प्रफुल्लित हो जाएँगे। इस ससार रूप अटवी में भ्रमण करते हुए जीवो को सन्मार्ग बताने के लिए तुम केवल ज्ञान मय दीपक रूप में प्रगट हुए हो। हे जगन्नाथ! आप तीन भवन के स्वामी है। सब प्राणीयो के नमस्कार के योग्य हैं। इस संसार में आपसे अधिक और कोई पूज्य नही हैं। आप प्रत्यक्ष हस्तरेखावत् लोकालोक के जानने वाले है स्वयभू है, विज्ञाननिधान हैं, अजर हैं, अमर हैं और कर्मों के जीतने वाले है। आपको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। नाथ! आप भक्तजनो के रक्षक

है, दरिद्रता के नाश करने वाले हैं, दु ख दरिद्रता के मिटाने वाले है। आप ही काम धेनु (मनोवांछित फल के देने वाले)हैं। आप काम, क्रोध, मोह, राग, द्वेष आदि कषायों से रहित वीतराग हैं। कर्म रूप वन के भस्म करने को वह्नि है। इच्छित पदार्थों के देने को चिंतामणि हैं। काम रूप सर्प के नाश करने को गरुड़ है। पचेन्द्रियो के विषय रूपी पिशाचिनी के मारने को कटार है। आप अपने आश्रयी जीवो के भय, तृषा, रोग, अरति आदि दु खो को नाशकर शम अर्थात् सुख के करनेवाले है अर्थात् आप शकर है। हे धीर ! आप मोक्षमार्ग की विधि के विधानकर्त्ता है अतएव आप ब्रह्मा है। हे देव ! मैं आपके गुणो का कहाँ तक यशोगान करूँ ? जब देवों के गुरु (वृहस्पति) भी आपके गुणो का पार नही पा सकते तो मेरी तुच्छ बुद्धि कहाँ पार पा सकती है ?' इस प्रकार इन्द्र, भगवान की बहुत देर तक सभक्ति स्तुति करके बारम्बार नमस्कार करता हुआ तत्पश्चात् ऐरावत हाथी पर आरुढ करके अयोध्यापुरी मे वापिस ले आया और अपनी प्रिया के द्वारा मरुदेवी के पास उसी अवस्था में भगवान को पहुँचा दिया। जब मरुदेवी की निद्रा खुली तो पुत्र को दिव्य अलकारो से भूषित देखकर बड़ी आश्चर्यान्वित हुई। तत्पश्चात् इन्द्र, भगवान के माता-पिता का पूजनकर, अपने स्थान पर चला गया। भगवान इन्द्र के द्वारा अ गूठे में रक्खे हुए अमृत का पान करते हुए दिनो-दिन बढ़ने लगे। उनके लिए सुगन्ध विलेपन, वस्त्राभूषण, अशन, पान आदि सर्व सामग्री इन्द्र भेजा करता था। उन नाना प्रकार के दिव्य रत्नमयी अलकारो से विभूषित भगवान का शरीर बहुत सुन्दर मालूम होता था। उनके बहुमूल्य रत्नो से जड़ित वस्त्राभूषणो की शोभा देखते ही बनती थी। उनके वक्ष स्थल पर पड़ी हुई स्वर्गीय कल्प वृक्षो के पुष्पो की सुन्दर मालाएँ शोभा दे रही थी। भगवान इस प्रकार अपनी वय वाले देव कुमारो के साथ क्रीड़ा करते और स्वर्गीय भोगोप-भोगो को भोगतेहुए शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनो-दिन बढने लगे। भगवान जब लावण्य आदि गुणो से सुशोभित तथा नवयौवन सम्पन्न हुए तब नाभिराय ने बडे समारोह के साथ इनका पाणिग्रहण करा दिया।

भगवान ऋषभदेव के दो रानियाँ थी। उनके नाम थे सुनन्दा और नन्दा। सुनन्दा के भरत आदि सौ पुत्र और एक ब्राह्मी कन्या थी और नन्दा के बाहुबलि पुत्र और सुन्दरी नाम की पुत्री थी। इस प्रकार भगवान ऋषभ देव धन, सपत्ति राज, वैभव, कुटुम्ब, परिवार आदि से पूर्ण सुखी होकर प्रजा का नीति के साथ पालन करते हुए तिरासी लाख पूर्व पर्यन्त राज करते रहे तब एक दिन इन्द्र ने अवधिज्ञान से विचार किया कि तीर्थंकर भगवान का सर्व समय पचेन्द्रिय भोगो में व्यतीत हुआ चला जा रहा है और भगवान विरक्त नही हुए, वैराग्य का कोई निमित्त विचारना चाहिए। तब इन्द्र ने एक नीलाजना नाम की अप्सरा को जिसका आयु कर्म बहुत अल्प शेष रहा था, भगवान के समीप नृत्य करने के लिए भेजा अतः भगवान के सन्मुख उस देवी ने आकर लोगों को चकित करने वाला नृत्यगान
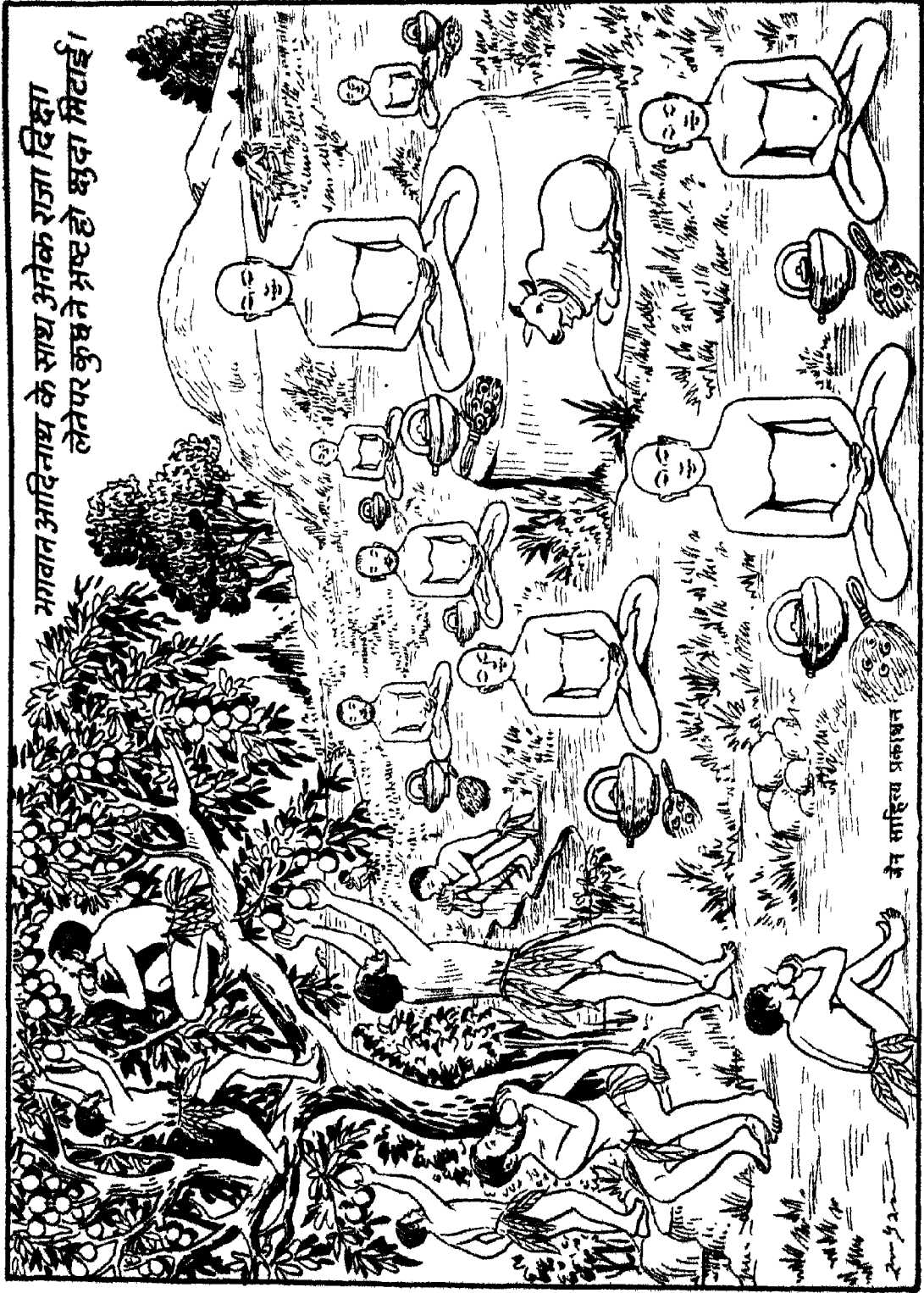
भगवान आदिनाथ के साथ अनेक राजा दिक्षा
लेनेपर कुछने भ्रष्ट हो क्षुदा मिटाई।
जैन साहित्य प्रकाशन

करना आरम्भ किया तब समस्त सभा निवासीजन आश्चर्यान्वित होकर कहने लगे कि-देखो ऐसे अद्भुत नृत्य का देखना इन्द्र को भी दुर्लभ है। जब ऐसे नृत्य करती हुई नीलाजंना अप्सरा का आयु कर्म पूर्ण हो गया तो आत्मा तो परगति गया और शरीर दर्पण के प्रतिबिम्बवत् अदृश्य हो गया अतः इन्द्र ने नृत्य के समय को भंग न होने के कारण उसी समय दूसरी देवांगना रच दी इससे वैसा ही नृत्यगान होता रहा अतः यह परिवर्तन सभा निवासियो में स किसी ने नहीं जाना कि यह वही देवी नृत्य कर रही है अथवा दूसरी परन्तु यह परिवर्तन भगवान ने अवधिज्ञान से तत्समय ही जान लिया कि वह देवी नृत्य तजकर अन्य लोक गई, यह इन्द्र ने नवीन रच दी है। भगवान के चित्त पर-उसकी इस क्षण नश्वरता का बहुत गहरा असर पड़ा। वे विचारने लगे-कि अहो जिस प्रकार ये अप्सरा आँखों के देखते-देखते नष्ट हो गई उसी तरह यह ससार भी क्षण भगुर है। यह पुत्र, पौत्र, स्त्री आदि का जितना समुदाय है वह सब दु.ख को देने वाला है और इन्ही के मोह मे फसकर जीव नाना प्रकार के दु.खो को भोगता है। अत इनसे सम्बन्ध छोड़कर जिन दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए जिससे मै आत्मीक सच्चा सुख प्राप्त कर सकू इस प्रकार ऋषभदेव का मन वैराग्य युक्त जानकर लौकातिक देव आए और भगवान को वैराग्य पर दृढ कर निज स्थान पर चले गए। तदनन्तर इन्द्र आदि देव भगवान को पालकी में बैठाकर उन्हे तिलक नामक उद्यान में ले गए। वहाँ भगवान ने वट वृक्ष के नीचे सब वस्त्राभूषणों का परित्याग करके कैशलौच के अनन्तर सिद्ध भगवान को नमस्कार कर जिनदीक्षा स्वीकार की। भगवान के केशों को इन्द्र ने ले जाकर क्षीर समुद्र में डाल दिया। भगवान की दीक्षा के समय सब देव गण आ गए और भगवान का दीक्षोत्सव करके अपने-अपने स्थान पर चले गए। भगवान के साथ और भी चार हजार राजाओ ने मुनिव्रत का स्वरूप जानकर केवल स्वामी की भक्ति करके नग्नमुद्रा धारण की। भगवान ऋषभदेव तो दीक्षा लेकर षट्मास पर्यन्त निश्चल कायोत्सर्ग मे लीन रहे परन्तु शेष जो कच्छ महाकच्छ आदि चार हजार राजा थे वे जब नग्न मुद्रा धारण कर क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषह सहन करने में असमर्थ हो गए तब कितने ही राजा महाबलवान होने पर भी अशक्त होकर भूमि पर बैठ गए, कितने ही कायोत्सर्ग तजकर क्षुधा की वेदना से महा व्याकुल होकर फल आदि का भक्षण करने लगे, कुछ तृषा के कारण सतप्त चित्त होकर नदी सरोवर आदि का शीतल जलपान करने लगे। उनका ये भ्रष्ट आचरण देखकर उस वन के देवताओं ने उनसे मना किया और कहा—"कि तुम लोग ऐसा मत करो। अरे मूर्खों! यह तुम्हारा दीक्षा ग्रहण किया हुआ दिगम्बर अवस्था का रूप सर्वश्रेष्ठ अरिहत, चक्रवर्ती आदि लोगो के धारण करने योग्य है। तुम्हें इस नग्न जिनमुद्रा को धारण कर जैनेन्द्री दीक्षा को कलकित करना तथा इस निन्दनीय कृत्य का करना योग्य नही। दूसरी बात, ऐसे कृत्य का करना तुम्हे नरक आदि दुर्गति का कारण भी है।"

तब उन्होंने नग्नमुद्रा का परित्याग कर वृक्षों के बक्कल धारण कर लिए। कुछ ने मृगचर्म आदि धारण कर ली । कुछ ने दर्भ आदि धारण की। वन वृक्षों के फलों से वे क्षुधा निवारण करने लगे। सरोवर आदि के शीतल जल से तृषा निवारण करने लगे। कितने ही परस्पर वार्तालाप करने लगे 'कि यह गुरु महावीर वीर किसी कार्य की सिद्धि के लिए योग साधन करने वन में आए है और वाद में वापिस जाकर राजलक्ष्मी का सेवन करेंगे, आज या एक दो दिन में योग का परित्याग कर अपने स्थान पर जाकर राज्य लक्ष्मी अंगीकार करेंगे इससे यदि हम पहले नगर मे चले जाएगे तो ये हमे स्वामी कार्य मे विघ्न डालने वाले और छल करने वाले जानकर हमारा मान भगकर देश से निकाल देगे तब भी तो हमें सम्पदा विहीन होकर बहुत बाधा सहन करनी पड़ेगी अथवा इनके पुत्र भरत चक्रवर्ती राज्य कर रहे हैं वे भी हम पर कोप करेंगे कि ये स्वामी को तजकर चले आए है अत: ये दडं देने योग्य है अत यावत् (जब तक) भगवान ऋषभदेव का योग पूर्ण न हो जाय तावत् (तबतक) हमें भी बाधा सहनी योग्य है। यह भगवान अभी दिन दो दिन मे योग सिद्धि होने पर उल्टे घर जाएंगे तब हम से प्रसन्न होकर हमें प्रतिष्ठा, सत्कार, लाभ आदि से सम्पन्न करेंगे।' इस प्रकार कितनो ही ने अन्त. करण मे व्याकुलता होते हुए भी अपनी आत्मा को दृढ (स्थिर) किया। कितने ही विचलित होकर भस्मी लगाकर जटाधारी हो गए, कितने ही दडधारी हुए इत्यादि उन्होने अनेक भेष धारण किए। उनमे से मारीच ने परिव्राजको में मुख्य होकर परिव्राजक का मार्ग चलाया।

अथानन्तर महाध्यानी ऋषभदेव भगवान ने छह मास पूर्ण होने पर आहार के निमित्त प्रवर्तन किया। उन्होने मन में विचारा कि—अहो! देखो, ये कच्छ महाकच्छ आदि महान वंशोद्भव सयमी मुनि का मार्ग न जानकर क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषह सहन करने में असमर्थ होकर थोड़े ही दिनो मे भ्रष्ट हो गए अत. मुझे मोक्षमार्ग की सिद्धि और काय की स्थिति के निमित्त अब यतियो के आहार का मार्ग दरसाना चाहिए। मोक्षाभिलाषी निर्ग्रन्थ साधुओ को न बिल्कुल काय ही कृश करना और न गरिष्ठ, रस सयुक्त, मिष्ट, स्वादिष्ट भोजन के द्वारा पोषण ही करना चाहिए किन्तु दोष अर्थात् राग आदि दोष अथवा वात, पित्त कफ आदि दोष के नाश के निमित्त उपवास आदि तप करना और प्राण धारण करने के निमित्त शास्त्रोक्त निर्दोष शुद्ध निरतराय आहार लेना चाहिए ऐसा मन मे निश्चय करते हुए आदीश्वर भगवान ने ईर्या समिति पूर्वक आहार के निमित्त विहार किया। मुनि सम्बन्धी क्रिया के आचरणी भगवान मौनपूर्वक विहार करते गए सो पुर, ग्राम आदि में विहार करते हुए प्रजाजन राज्य अवस्थावत् विविध प्रकार के उत्तम-उत्तम पदार्थ उन्हे भेट करते थे परन्तु अब इन्हें भेंट आदि से क्या प्रयोजन था? अन्तराय जानकर वापिस वन मे चले जाते थे। इस प्रकार षट् मास पर्यन्त जब आहार की विधिपूर्वक प्राप्ति न हुई तब वे विहार करते-करते

देव-पंचाश्चर्य
हस्तनापुर
महादानी राजा
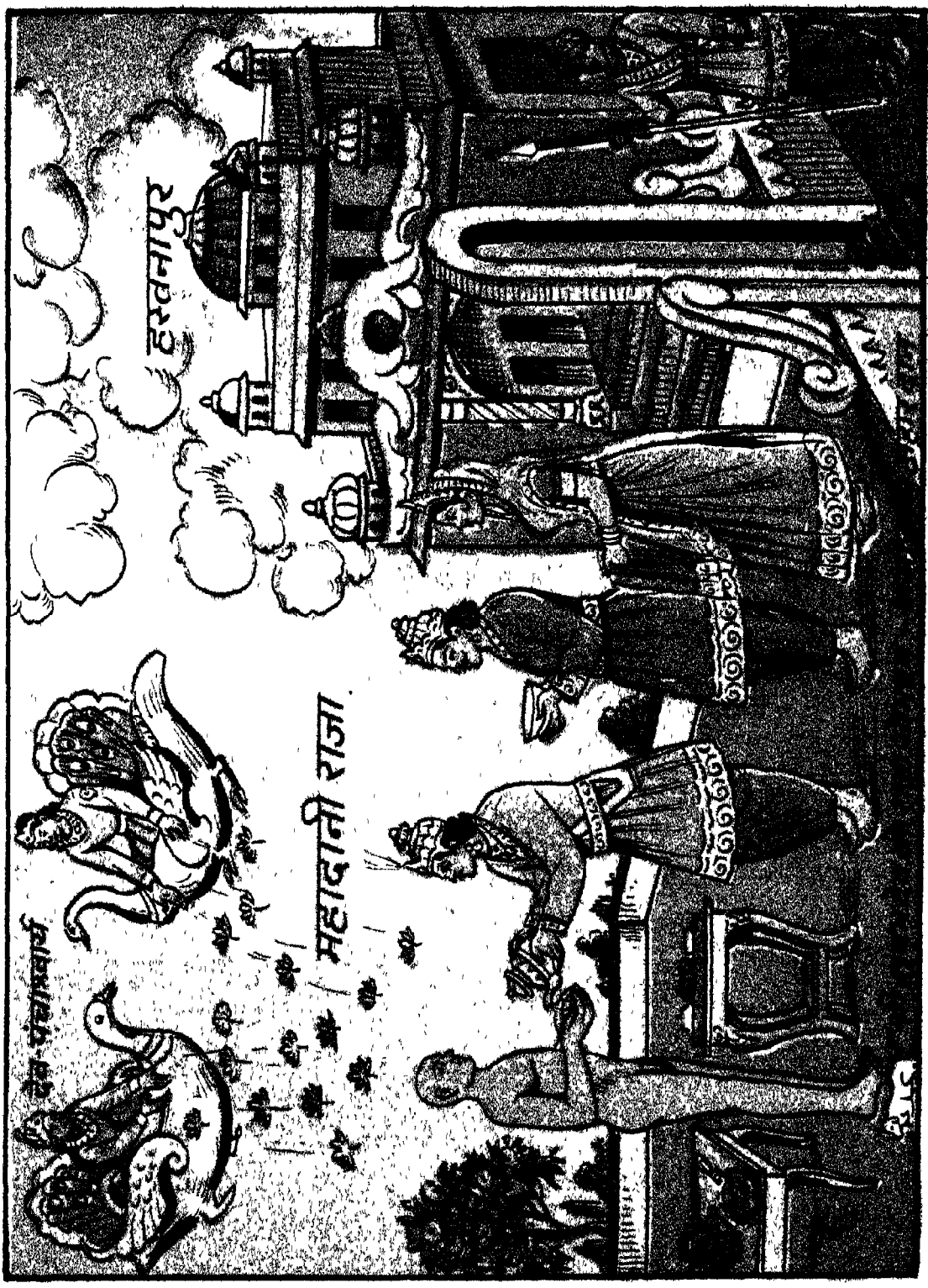
हस्तनागपुर आए। सर्व ही नगर निवासीजन भगवान के दर्शन करके परम आनन्दित हुए। जब भगवान राजद्वार के निकट पहुँचे तब सिद्धांत नामक एक द्वारपाल ने महाराज से जाकर कहा—स्वामी ! आदिनाथ भगवान पृथ्वी को अपने पाँवों से पवित्र करते हुए आहार के लिए आए हैं।' तब सोमप्रभ और श्रेयास राजा अपने पुरोहित, मन्त्री आदि तथा अन्त.पुर सहित उठकर भगवान के सन्मुख गए महा भक्ति सयुक्त राजद्वार के बाहर जाकर भगवान की प्रदक्षिणा करके उन्होंने बारम्बार नमस्कार किया और रत्नपात्र से अर्घ देकर भगवान के चरणारविंद धोए। राजा सोमप्रभ के लघुभ्राता श्रेयास को भगवान के दर्शन के द्वारा अपने प्रथम भव में उसने जो चारण ऋद्धि धारी युगल मुनियो को दान दिया था वह सब विधान ज्यों का त्यों स्मरण हो आया। उस समस्त .विधि से परिचित होकर राजा श्रेयांस ने बड़ी भक्ति से उनको नवधाभक्तिपूर्वक रत्नजड़ित कनकमय भाजन में रखे हुए शीतल मिष्ट प्रासुक ईक्षु रस का आहार कराया। इस पात्रदान के अतिशय से उनके यहाँ स्वर्ग के देवो ने रत्नो की वर्षा की, कल्पवृक्षों के सुगन्धित और सुन्दर पुष्प बरषाये, दुन्दुभि बाजे बजाए। उस समय मद, सुगन्धित, शीतल पवन चली। धन्य है यह पात्र, धन्य है यह दान और धन्य है यह दान का देने वाला श्रेयास इस प्रकार जय-जयकार शब्द हुआ। श्रेयास के दान से आहार देने की विधि प्रगट हुई। श्रेयास राजा देवों में भी प्रशसा के योग्य हुए। सच है सुपात्रों को दिए दान के फल से क्या-क्या नही होता है ? भगवान निरन्तराय निर्दोष शुद्ध आहार लेकर वन मे विहार कर गए। एक हजार वर्ष पर्यन्त महान घोर तपश्चरण कर शुक्ल ध्यानाग्नि से घातिया कर्म रूपी काष्ठ को भस्मकर फाल्गुण कृष्ण एकादशी के दिन प्रात.काल के समय भगवान ने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। केवलज्ञान होते ही इन्द्र ने आकर बारह सभाओ मे सुशोभित समवशरण की रचना की। उन बारह सभा निवासियों का अनुक्रम इस प्रकार है—

काव्य—

पहले कोठे विषै साध तिष्ठे अघ नाशक,
भव्यन को शुभ स्वर्ग मोक्ष मारग परकाशक।
दूजे कल्प सुरी महान मूरत दुति धारक,
जिनवर भक्ति धरत लखे प्रभु पद दुखहारक।१

तीजे वृति का एक श्वेत साड़ी तन धारे,
तथा श्राविका तिष्ठत व्रत युत तिसी मझारे।
चौथे राशि रवि आदि ज्योतिषी सुरी निहारो,
कान्ति युक्त जिन भक्ति भरी मिथ्यात विडारो।२

पंचम कोठे विषै व्यन्तरी कान्ति विराजत,
जिन पद अम्बुज भक्ति धरे आनन्द सुसाजत।
भवनवासिनी छठे विषै मुख पद्म समानो,
जिन चरणाम्बुज सेव करन को भ्रमरी जानो।३
दश प्रकार सुर नागपति सप्तम तिष्ठते,
जिन पद अम्बुज सेव करन को अलि दुतिवते।
अष्टम व्यन्तर देव भक्ति युत अष्ट निहारो,
नवमे द्योतन करत ज्योतिषी पच प्रकारो।४
कलपवासि सुर दशम विषै तिष्टे हरषाई,
राजादिक नर दृष्टि सहित ग्यारम तिष्टाई।
सिह आदि सब पशुदयाव्रत सम्यक मडित,
षट् दुगुण के विषै जान नेहु तुम पडित।५

दोहा— क्रूर पशु भी परस्पर, वैर त्याग तिष्ठत।
यह प्रभु की महिमा अगम, बरनै को बुधिवत॥

इस प्रकार द्वादश सभाओ के मध्य अशोक वृक्ष के समीप रत्नमय सिहासन पर चतुरागुल अन्तरीक्ष ऋषभ देव भगवान विराजे हुए अपनी निरक्षरी दिव्य ध्वनि द्वारा संसार ताप को नाश करने वाले परम पवित्र उपदेशामत से अनेक जीवो को दु:खो मे छुटाकर सुखी बनाते थे। भगवान के चौरासी गणधर हुए जिनके नाम इस प्रकार है—

(१) वृषभसेन, (२) कुम्भ, (३) दृढ़रथ, (४) शतधनु, (५) देवशर्मा (६) देवभाव, (७) नन्दन, (८) सोमदत्त, (९) सूरदत्त, (१०) वायुशर्मा, (११) यशोबाहु (१२) देवाग्नि, (१३) अग्निदेव, (१४) अग्निगुप्त, (१५) मित्राग्नि, (१६) हलभृत, (१७) महीधर, (१८) महेन्द्र, (१९) वसुदेव, (२०) वसु धर, (२१) अचल, (२२) मेरु, (२३) मेरुधन, (२४) मेरुभूति, (२५) सर्वयश, (२६) सर्वयज्ञ, (२७) सर्वगुप्त, (२८) सर्वप्रिय, (२९) सर्वदेव, (३०) सर्वविजय, (३१) विजयगुप्त, (३२) विजयमित्र, (३३) विजयिल, (३४) अपराजित (३५) वसुमित्र, (३६) विश्वसेन, (३७) साधुसेन, (३८) सत्यदेव, (३९) देवसत्य, (४०) सत्यगुप्त, (४१) सत्यमित्र, (४२) निर्मल, (४३) विनीत, (४४) सवर, (४५) मुनिगुप्त, (४६) मुनिदत्त, (४७) मुनियज्ञ, (४८) मुनिदेव, (४९) गुप्तयज्ञ, (५०) मित्रयज्ञ, (५१) स्वयभू, (५२) भगदेव, (५३) भगदत्त, (५४) भगफल्गु, (५५) गुप्तफल्गु, (५६) मित्रफल्गु, (५७) प्रजापति, (५८) सर्वसग, (५९) वरुण, (६०) धनपालक, (६१) मघवान, (६२) तेजोराशि, (६३) महावीर (६४) महारथ, (६५) विशालाक्ष, (६६) महावाल, (६७)

शुचिशाल, (६८) वज्र, (६९) वज्रसार, (७०) चन्द्रचूल, (७१) जय, (७२) महारस, (७३) कच्छ, (७४) महाकच्छ, (७५) नमि, (७६) विनमि, (७७) बल, (७८) अतिबल, (७९) भद्रबल, (८०) नंदी, (८१) महाभाग, (८२) नदिमित्र, (८३) कामदेव, और (८४) अनुपम।

इस सबमें वृषभसेन मुख्य जानने चाहिए। भगवान के चतुर्विध संघ का प्रमाण पृथक्-पृथक् इस प्रकार जानना चाहिए-वादी-१२६५०। चौदह पूर्व के पाठी-४७५०। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि-४१५०। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या-९०००। केवलज्ञानियों की संख्या-२००००। विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या-२०६००। मन पर्ययज्ञानी मुनियों की संख्या-१२७५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या-१२७५०। समयस्त मुनियों की संख्या-८४०००। आर्यिकायों की संख्या-७५००००। मुख्य आर्यिका का नाम ब्राह्मी था। श्रावकों की संख्या—तीन लाख। श्राविकाओं की संख्या—पांच लाख। समवशरण काल-एक लाख पूर्व में १००० वर्ष और चौदह दिन कम। मोक्षजाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा और तब ही भरत चक्रेश्वरो आदि आठ महान पुरुषों को आदिनाथ भगवान के निर्वाणसूचक आठ स्वप्न आए जिनके नाम और चिन्ह इस प्रकार हैं—

(१) जिस दिन आदिनाथ भगवान ने योगो का निरोध किया उसी दिवस की रात्रि मे भरत चक्रवर्ती को ऐसा स्वप्न हुआ कि मानो सुमेरु पर्वत ऊँचा होकर सिद्धक्षेत्र से जाकर लग गया है।

(२) भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को ऐसा स्वप्न हुआ कि स्वर्ग लोक के शिखर से एक महान पवित्र औषधि का वृक्ष आया था और वह जगत निवासी जीवो के जन्म जरा मृत्यु रूप रोगों का नाशकर पुनः उलटा लोक शिखर जाने को उद्यत हुआ है।

(३) भरत चक्रवर्ती के गृहपति रतनशिष्य को ऐसा स्वप्न हुआ कि उर्ध्वलोक से एक कल्पवृक्ष आया था और वह जीवों को मनोवांछित फल देकर पीछे स्वर्गलोक के शिखर जाएगा।

(४) चक्रवर्ती के मुख्य मन्त्री को ऐसा स्वप्न आया कि स्वर्गलोक से जो एक रत्नद्वीप आया था वह जिन्हे रत्न लेने की इच्छा थी उनको अनेक रत्न देकर पीछे उर्ध्वलोक को गमन करेगा।

(५) भरत चक्रवर्ती के सेनापति को ऐसा स्वप्न आया कि एक अनन्तवीर्य का धारी, अद्भुत पराक्रमी मृगराज कैलाश पर्वत रुपी पिंजरे को छेदकर ऊपर जाने का उत्सुक हो उछलने को अभियोगी हुआ है।

(६) जय कुमार के पुत्र अनन्तवीर्य को ऐसा स्वप्न आया कि एक अद्भुत, अनन्त

कला का धारी चन्द्रमा जगत मे उद्योतकर अपने तारागण सहित उर्ध्वलोक को जाने का उद्यमी हुआ है ।

(७) भरत चक्रवर्ती की पटरानी सुभद्रा को ऐसा स्वप्न हुआ कि वृषभदेव की रानियाँ—यशस्वती और सुनन्दा ये दोनो एक स्थान पर बैठी हुई चिन्ता कर रही है ।

(८) काशीदेशाधिपति चित्रागद को ऐसा स्वप्न हुआ कि अद्‌भुत तेज का धारी प्रकाशमान सूर्य पृथ्वी पर उद्योतकर उर्ध्वलोक को जाना चाहता है ।

इस प्रकार आदि धर्मोपदेशक श्री आदिनाथ भगवान के निर्वाण सूचक आठ स्वप्न आठ प्रधान पुरुषो को हुए । इस प्रकार भरत आदि को लेकर सब लोगो ने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही पुरोहित से उनके फल पूछे । पुरोहित ने कहा कि ये सब स्वप्न यही सूचित करते है कि भगवान ऋषभदेव कर्मों को नि शेष कर अनेक मुनियो के साथ-२ मोक्ष पधारेगें । पुरोहित इन सव स्वप्नो का फल कह ही रहा था कि इतने में आनन्द नाम का एक मनुष्य आया और उसने भगवान ऋषभदेव का सब विवरण कहा । उसने कहा कि जिस प्रकार सूर्य के अस्त हो जाने पर सरोवर के सब कमल मुकुलित हो जाते है उसी प्रकार भगवान की दिव्य ध्वनि बन्द हो जाने पर सब सभा हाथ जोडे हुए मुकुलित हो रही है ।

यह समाचार सुनकर वह चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगो के साथ कैलाशपर्वत पर पहुँचे । उसने जाकर भगवान की तीन प्रदक्षिणाये दी, स्तुति की, भक्तिपूर्वक अपने हाथ से महामह नाम की महापूजा की और इसी तरह चौदह दिन तक भगवान की सेवा की । तदनन्तर कैलाश पर्वत पर माघ कृष्ण चौदह को शुभ मुहूर्त और अभिजित नक्षत्र मे भगवान ऋषभदेव ने तीसरे सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति नाम के शुक्ल ध्यान से मन, वचन, काय तीनो योगो का निरोध किया और फिर अन्त के चौदहवें गुणस्थान मे ठहरकर जितनी देर में अ, इ, उ, ऋ, लृ, इन पच ह्रस्व स्वरो का उच्चारण होता है उतने ही समय में चौथे व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम के शुक्ल ध्यान से अघातिया कर्मों का भी नाशकर पर्यंकासन से दस हजार मुनियो के साथ वे परमधाम मोक्ष सिधार गए । वे आदिनाथ स्वामी मुझे तथा भव्यजनों को सम्यग्ज्ञान और शांति प्रदान करे ।

इति श्री आदिनाथ तीर्थकरस्य विवरण समाप्त: ।

अथ श्री अजितनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भ:—

श्री आदिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर पचास लाख कोटि सागर के बाद दूसरे तीर्थंकर श्री अजित नाथ भगवान ने अवतार लिया । इनका पहला भव-वैजयन्त

नामा, दूसरा अनुत्तर विमान। गर्भतिथि आषाढ़ कृष्ण २। जन्म स्थान—अयोध्यापुरी। पिता का नाम श्री जितशत्रु। माता का नाम-विजयसेना देवी। वंश-इक्ष्वाकु। जन्म तिथि माघ शुक्ला १० शरीर का वर्ण सुवर्णसम। चिह्न-गज। शरीर की ऊंचाई—४५० धनुष। आयु प्रमाण बहत्तर लाख पूर्व। कुमार काल—अठारह लाख पूर्व। राज्यकाल-५३ लाख पूर्व और एक पूर्वांग व चोरासी लाख वर्ष। पाणि ग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा-सगर चक्रवर्ती। दीक्षा तिथि-माघ शुक्ल १०। तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम सिद्धार्था। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—सप्तपर्ण वृक्ष। तपोवन—सहस्राम्रवन। वैराग्य का कारण उल्कापात होते देखना। दीक्षा समय अपरान्ह। दीक्षा लेने के कितने दिवस पश्चात् प्रथम पारणा किया— आठ दिवह्। नाम नगर जहां प्रथम पारण किया—अरिष्टपुर (अयोध्या) प्रथम आहारदाता का नाम ब्रह्मदत्त। तपश्चरण का काल-बारह वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष शुक्ल चतुर्थी। केवलज्ञान समय अपरान्ह् काल। केवलज्ञान स्थान मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण-साढे ग्यारह् योजन। गणधर संख्या—नब्बे। मुख्य गणधर का नामसिंहसेन। वादियों की संख्या बारह् हजार चार सौ। चौदह् पूर्व के पाठी तीन हजार सात सौ पचास। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि इक्कीस हजार छह् सौ। मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—बारह हजार पांच सौ। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या बारह् हजार चार सौ। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की संख्या—बीस हजार चार सौ। केवलज्ञानियों की संख्या—बीस हजार। समस्त मुनियों की संख्या एक लाख। आर्यिकाओं की संख्या तीन लाख पचास हजार। मुख्य आर्यिका का नाम फाल्गु। श्रावकों की संख्या—तीन लाख श्राविकाओं की संख्या पांच लाख। समवशरण काल एक लाख पूर्व में एक पूर्वांग और बारह् वर्ष कम। मोक्ष जाने के कितने दिन पहले समवशरण बिघटा-तीस दिन। निर्वाण तिथि चैत्र शुक्ल पंचमी। निर्वाण नक्षत्र—रोहिणी। मोक्ष जाने का समय—पूर्वाह्न। मोक्ष जाने के समय का आसन कायोत्सर्ग। मोक्षस्थान—सम्मेदशिखर सिद्धवरकूट। भगवान के मुक्ति गमन के समय में कितने मुनि साथ मोक्ष गए—१०००। समवशरण से समस्त कितने मुनि मोक्ष गए—सत्तत्तर हजार एक सौ। एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर तक अंतर काल—तीस लाख कोटि सागर।

इति श्री अजितनाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तः।

अथ श्री संभवनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारंभः॥

श्री अजित नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर तीस लाख कोटि सागर बाद श्री संभवनाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव ग्रैवेयक विमान। गर्भ तिथि—फाल्गुन शुक्ल ८। जन्म स्थान—श्रावस्ती (अयोध्या)। पिता का नाम श्री—जितारि। माता

नाम—सुसेना देवी। वश—इक्ष्वाकु।जन्म—तिथिकार्तिक शुक्ल १५। शरीर वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—अश्व। शरीर की ऊँचाई ४०० धनुष। आयु प्रमाण—साठ लाख पूर्व। कुमार काल १५ लाख पूर्व। राज्यकाल—४४ लाख पूर्व और ४ पूर्वांग। पाणिग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—सत्यवीर्य। दीक्षा तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल १५। तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—सिद्धार्थी। भगवान के साथ दीक्षा देने वालो की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—शालमली वृक्ष। तपोवन—सहस्त्राम्रवन (अयोध्या)। वैराग्य का कारण—मेघों का विघटना देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के पश्चात् प्रथम पारण किया—बेला के पश्चात् नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—इष्टपुर (श्रावस्ती)। प्रथम आहार दाता का नाम—सुरेन्द्रदत्ता तपश्चरण काल—१४ वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—कार्तिक कृष्ण ४। केवल—ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहरवन। समवशरण प्रमाण—११ योजन। गणधर सख्या—१०५। मुख्य गणधर का नाम—चारुदत्त। वादियों की संख्या—बारह हजार। चौदह वर्ष के पाठी—२१५०। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—१२९३०००। अवधिज्ञानी मुनियों की सख्या—९६०००। केवलज्ञानियों की संख्या—१५०००। विक्रियारिद्धिधारी मुनियो सख्या—२९९९८। मन.पर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—१२१५० वादित्र ऋद्धिधारी मनियों की संख्या—१२०००। समस्त मुनियो की संख्या—२००००। आर्यिकाओं की संख्या—३३००००। मुख्य आर्यिका का नाम—श्यामा। श्रावकों को सख्या—३०००००। श्राविकाओ की सख्या—५०००००। समवशरण काल एक लाख पूर्व में ४ पूर्वांग चौदह वर्ष कम। मोक्ष जाने के कितने दिन पहले समवशरण विघटा—तीस दिन। निर्माणनिथि—चैत शुक्ल ६। निर्माण नक्षत्र—ज्येष्ठा। मोक्ष जाने का समय अपरान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष—स्थान—सम्मेदशिखर धवल कट। भगवान के मुक्ति गमन समय में कितने मुनि साथ मोक्ष गए—१०००। समवशरण से समस्त कितने मुनि मोक्ष गए—एक लाख सत्तहर हजार एक सौ (१७०१००)

॥ इति श्री सभवनाथ तीर्थकरस्य विवरण समाप्तः ॥

अथ श्री अभिनन्दन नाथ तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भः ॥

श्री सभवनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर दश लाख कोटि सागरबाद अभिनन्दन नाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव—विजय—विमान। जन्म स्थान—विनीता (अयोध्या) पिता का नाम—श्री सबरराय। माता का नाम—सिद्धार्थ देवी। वश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—बैशाख शुक्ल ६। जन्मतिथि—माघ शुक्ल १२। शरीर का वर्ण-सुवर्णसम चिन्ह—कपि (बानर)। शरीर प्रमाण—३५० धनुष। आयु प्रमाण—५० लाख पूर्व। कुमार काल—साढे बारह लाख पूर्व। राज्य काल—३६ लाख पूर्व और पचास

लाख पूर्वांग, पाणिग्रहण किया समकालीन प्रधान राजा का नाम—मित्रभव। दीक्षा तिथि —माघ शुक्ल १२। भगवान के तपकल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—अर्थ-सिद्धा। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की सख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—सरल जाति का वृक्ष। तपोवन सहस्त्राभ्र वन (अयोध्या) वैराग्य का का कारण मेघ विघटना देखना दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के कितने दिन पश्चात् प्रथम पारणा किया—वेला नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—साकेता (सिद्धार्थपुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—इंद्रदत्त। तपश्चरण काल १८ वर्ष। केवल ज्ञानतिथि—पौस शुक्ल १४। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान का स्थान—मनोहर बन। समवशरण का प्रमाण—साढे दश योजन। गणधर सख्या—१०३। मुख्य गणधर का नाम—वज्रनाभि। वादियों की संख्या—११०००। चौदह पूर्व के पाठी—दो हजार पाच सौ आचारांगसूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२३०५०। अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या—६८००। केवल ज्ञानियो की संख्या—१६००। विक्रिया ऋद्धिधारीमुनियो की सख्या—२६००। मनःपर्यय ज्ञानी मुनियो की सख्या—११६५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियो की सख्या—११०००। समस्त मुनियों की सख्या—३०२४००। आर्यिकाओ की सख्या—३३०६००। संख्य अर्जिका का नाम-अजिता। श्रावको की सख्या—तीन लाख। श्राविकाओ की सख्या—पाच लाख। समवशरण काल १ लाख पूर्व मे १२ पूर्वांग और २० वर्ष कम। मोक्ष जाने के एक मास पहले समवशरण विघटा। निर्वाणतिथि-वैशाख शुक्ल ६। निर्वाणनक्षत्र-पुनर्बसु। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्षस्थान—सम्मेद शिखर आनन्दकूट। भगवान के मुक्ति गमन समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त दो लाख अस्सी हजार एक सौ मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में धर्म का विच्छेद नही हुआ अर्थात् इनके निर्वाण गमन से सुमतिनाथ भगवान के जन्म पर्यन्त अखडरीति से धर्म प्रवर्तता रहा ॥ इति ॥

अथ श्री सुमतिनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् ॥

श्री अभिनदन नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनतर नौ—लाख कोटि सागर बाद श्री सुमति नाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव-वैजयन्त विमान। जन्म स्थान साकेता (अयोध्या)। पिता का नाम—श्री मेघ प्रभु। माता का नाम—सुमगलादेवी। वश-इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—श्रावण शुक्ल-२। जन्म तिथि—चैत्र शुक्ल ११। जन्म नक्षत्र—मघा। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—चातक। शरीर प्रमाण—तीन सौ धनुष। आयु प्रमाण —४० लाख पूर्व। कुमार काल—१० लाख पूर्व राज्यकाल—१६ लाख पूर्व और १२ पूर्वांग। पाणिग्रहण किया। समकालोन प्रधानराजा—मित्रवीर्य। दीक्षा तिथि—चैत्र शुक्ल ११। भगवान के तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—अभयकरी। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की सख्या—१०००। दीक्षावृक्ष—प्रियंगुवृक्ष। तपोवन—सहस्राभ्रवन (अयोध्या)

वैराग्य का कारण—मेघों का विघटना देखना। दीक्षासमय—अपरान्ह। दीक्षा से बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—विजयपुर (महापुर)। प्रथम आहारदाता का नाम - पद्मराय। तपश्चरणकाल—२० वर्ष। केवलज्ञान तिथि—चैत्र शुक्ल ११। केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवलज्ञान स्थान—मनोहरवन। समवशरण का प्रमाण—१० योजन। गणधर संख्या—११६। मुख्य गणधर का नाम—चमर। वादियो की संख्या—१००००। चौदह पूर्व के पाठी—२४०००। आचारागसूत्र के पाठी शिष्य मुनि —२५४३५०। अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या – ११०००। केवलज्ञानियो की सख्या-१३०००। विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियो की सख्या—१८४००। मन पर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—१०४५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—१०६००। समस्त मुनियो की सख्या—३०२००।आर्यिकाओ की संख्या—३३००००। मुख्य आर्यिका का नाम—काश्यप। श्रावको की सख्या—तीन लाख श्राविकाओं की सख्या—पाच लाख। समवशरण काल—१ लाख पूर्व मे १६ पूर्वांग और छ मास कम। मोक्ष जाने के एक मास पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—चैत्र शुक्ल११। निर्वाण नक्षत्र—मघा। मोक्ष जाने का समय—पूर्वान्ह मोक्ष जाने के समय का आसन कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर अविचल कूट। भगवान के मुक्ति गमन समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ३०१६०० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में भी धर्म का विच्छेद नही हुआ अर्थात् इनके निर्वाण होने से श्री पद्म प्रभु तीर्थंकर भगवान के जन्म पर्यन्त अखड रीति से धर्म प्रवर्तता रहा।

॥ इति श्री सुमति नाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्त ॥

अथ श्री पद्मप्रभु तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः ॥

श्री सुमति नाथ भगवान निर्वाण होने के अनन्तर नब्बे हजार कोटि सागर बाद श्री पद्मप्रभु भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव ग्रैवेयक विमान। जन्म स्थान-कौशाम्बी (प्रयाग)। पिता का नाम-श्री धरणराय। माता का नाम-सुसीमा देवी। वश-इक्ष्वाकु वश। गर्भ तिथि-माघ कृष्ण ६। जन्म तिथि-कार्तिक कृष्ण १३। जन्म नक्षत्र-चित्रा। शरीर का वर्ण-अरुण वर्ण। चिन्ह-पदम। शरीर प्रमाण-२५० धनुष। आयु प्रमाण-३० लाख पूर्व। कुमार काल- साढे सात लाख पूर्व। राज्यकाल २१ लाख पूर्व और ५८ लाख पूर्वांग। पाणिग्रह किया। दीक्षा तिथि- कार्तिक कृष्ण। दीक्षावृक्ष-प्रियगु वृक्ष। तपोवन (सहस्राम्रवन) कौशाम्बी। वैराग्य का कारण—हाथी के भोजन न करने का समाचार सुनना। दीक्षा समय-अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात प्रथम पारणा किया। प्रथम पारणा करने के नगर का नाम धान्यपुर-"मंगलपुर"। प्रथम आहार दाता का नाम-सोमदत्त। तपश्चरण काल-साढे छ वर्ष। केवल ज्ञान तिथि-चैत्रशुकल १५। केवल ज्ञान समय-अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान-मनोहरवन। समवशरण का प्रमाण-साढ़े नौ योजन।

गणधर संख्या-१११। मुख्यगणधर का नाम-बज्रवली। वादियों की संख्या-६६००। चौदह पूर्व के पाठी-२६६०००। अवधिज्ञानी मुनियों की सख्या-१००००। केवल ज्ञानी मुनियो की संख्या-१२६००। विक्रयाऋद्धिधारी मुनियो की संख्या-१६८००। मन: पर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या-१०३००। बादित्र ऋद्धिधारी मुनियो की सख्या-८०००। समस्त मुनियो की सख्या-३०२०००। आर्यिकाओ की सख्या-४२००००। मुख्य आर्यिका का नाम-रतिसेना। श्रावको की संख्या-तीन लाख। श्रविकाओं की सख्या-पाँच लाख। समवशरण काल-एक लाख पूर्व में बीस पूर्वांग और नौ वर्ष कम। मोक्ष जाने के तीसदिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि-फाल्गुनकृष्ण ४। निर्वाण नक्षत्र-चित्रा। मोक्ष जाने का समय-अपरान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन-कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान-सम्मेदशिखर मोहनकूट। भगवान के मुक्ति गमन समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ३१३६०० मुनि मोक्ष गए। इसके तीर्थ मे भी धर्म का विच्छेद नही हुआ। अर्थात् इनके निर्वाण होने से सुपाश्वनाथ भगवान के जन्मपर्यन्त अखड रीति से धर्म प्रवर्तता रहा था।

॥ इति श्री पद्मप्रभु तीर्थंकरस्य विवरणम् ॥

अथ श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् :—

श्री पद्मप्रभु भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर नब्वै हजार कोटि सागर के बाद श्री सुपार्श्वनाथ भगवान ने जन्म लिया। इनका पहला भव—ग्रैवेयक विमान। जन्म स्थान—वाराणशी (काशी)। पिता का नाम—श्री सुप्रतिष्ट। माता का नाम—पृथ्वी देवी। इक्ष्वाकु वश। गर्भ तिथि—भाद्रपद शुक्ल ६। जन्म तिथि—ज्येष्ठ शुक्ल १२। जन्म नक्षत्र—विशाखा १३। शरीर का वर्ण—हरित। चिन्ह स्वस्तिक। शरीर प्रमाण—२००धनुष। आयु प्रमाण—बीस लाख पूर्व। कुमार काल—५ लाख पूर्व। राज्य काल—१४ लाख पूर्व और २० पूर्वांग। पाणि ग्रहण किया। समकालीन राजा का नाम—धर्मवीर्य। दीक्षा तिथि—ज्येष्ठ शुक्ल १२। भगवान के तप कल्याणक के गमन समय की पालकी का नाम—मनोरमा। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की सख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—शिरीष वृक्ष। तपोवन सहस्त्राभ्र वन (काशी)। वैराग्य का कारण--मेघो का विघटना देखना। दीक्षा समय—अपराह्न। दीक्षा लने के एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहा प्रथम पारणा किया—पाटली खड। प्रथम आहार दाता का नाम—महादत्त। तपश्चरण काल—६ वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—फालगुन कृष्ण ६। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहरवन समवशरण का प्रमाण—६ योजन। गणधर संख्या—६५। मुख्य गणधर का नाम—चमरवली। वादियों की सख्या—८४००। चौदह पूर्व के पाठी—२०३०। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२४४६५०। अवधि ज्ञानी मुनियों की सख्या—६०००। केवल ज्ञानियों की सख्या—११३००। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की सख्या—बारह हजार तीन सौ। मन.पर्यय ज्ञानी

मुनियो की सख्या—६१५०। वादत्रि ऋद्धि धारी मुनियो की संख्या—७६०० समस्त मुनियों की संख्या—३००००० । आर्यिकाओ की सख्या—३३०००० । मुख्य आर्यिका का नाम—सोमा । श्रावको की सख्या—तीन लाख । श्राविकाओ की सख्या—पाच लाख । समवशरण काल—१ लाख पूर्व में २४ पूर्वांग और ३ मास कम । मोक्ष जाने के एक मास पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—फाल्गुन ७ । मोक्ष जाने का समय—पूर्वान्हि । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—प्रभास कूट सम्मेद शिखर । भगवान के मुक्तिगमन के समय १००० मुनि साथ मोक्ष गये । समवशरण से समस्त २३५६०० मुनि मोक्ष गये । इनके तीर्थ में भी धर्म का विच्छेद नही हुआ अर्थात् इनके निर्वाण होने से चन्द्रप्रभ भगवान के जन्म पर्यन्त अखड रीति से धर्मप्रवर्तता रहा ।

इति श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तः ।

अथ श्री चन्द्रप्रभ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री सुपार्श्व नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर नव्वे हजार कोडि सागर के बाद श्री चन्द्रप्रभ भगवान ने अवतार लिया । इनका पहला भव - वैजयन्त विमान । जन्म स्थान । चन्द्रपुरी (काशी) । पिता का नाम—श्री महासेन । माता का नाम—सुलक्षणा देवी । वंश—इक्ष्वाकु, गर्भ तिथि—चैत कृष्ण पचमी । जन्म तिथि—पौष कृष्णा ११ । जन्म नक्षत्र—अनुराधा । शरीर का वर्ण-शुक्ल वर्ण । चिन्ह—चन्द्रमा । शरीर प्रमाण—१५० धनुष । आयु प्रमाण—दस लाख पूर्व । कुमार काल—ढाई लाख पूर्व । राज्य काल—छह लाख पूर्व और ६६ लाख पूर्वांग । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—दानवीर्य । दीक्षा तिथि—पौष कृष्ण ११ । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—मनोहरा । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की सख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—नागवृक्ष । तपोवन—सहस्त्राभ्रवन (चन्द्रपुरी) वैराग्य का कारण—दर्पण में मुख देखना । दीक्षा का समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहा प्रथम पारण किया—सौमसनपुर पद्मखड । प्रथम आहार दाता का नाम—सोमदेव । तपश्चरण काल—तीन वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—फाल्गुन कृष्ण सप्तमी । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण साढे आठ योजन । गणधर सख्या—६३ । मुख्य गणधर का नाम—दडक । वादियों की सख्या—७६०० । चौदह पूर्व के पाठी—२००० । आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२१०४०० । अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या—८००० । केवल ज्ञानियो की सख्या—१०००० विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—१४००० । मन पर्यय ज्ञानी मुनियो की सख्या—८००० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—७६०० । आर्यिकाओं की संख्या—३८०००० । मुख्य आर्यिका का नाम—सुमना । श्रावकों की संख्या - तीन लाख । श्राविकाओं

की संख्या—पांच लाख। समवशरण काल—एकलाख पूर्व में ३८ पूर्वांग और चारमास कम। मोक्ष जाने के तीन दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि-फाल्गुन शुक्ल सप्तमी। निर्वाण नक्षत्र—अनुराधा। मोक्ष जाने का समय—पूर्वान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर ललित कूट। भगवान के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि मोक्ष गए। समवशरण से समस्त दो लाख चौतीस हजार मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में भी धर्म का बिच्छेद नही हुआ अर्थात् इनके मोक्ष गमन से पुष्पदत भगवान के जन्म पर्यन्त अखड रीति से धर्म प्रवर्तता रहा।

इति श्री चन्द्रप्रभु तीर्थंकरस्य विवरण समाप्त ॥

अथ श्री पुष्पदंत तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः--

श्री चन्द्रप्रभ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर नब्बे कोडि सागर के बाद श्री पुष्पदंत भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव—आरणनाम का पन्द्रहवा स्वर्ग। जन्म स्थान—काकदी पिता का नाम—श्री सुग्रीव। माता का नाम—रामा देवी। वश—इक्ष्वाकु। गर्भतिथि—फाल्गुन कृष्ण नवमी। जन्म तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल १। जन्म नक्षत्र—मूल। शरीर का वर्ण—शुक्ल वर्ण। चिन्ह—मगर। शरीरप्रमाण—सौ धनुष। आयु प्रमाण—दो लाख पूर्व कुमार काल—पचास हजार पूर्व। राज्य काल—एक लाख पूर्व और २८ पूर्वांग। पाणिग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—मेघव्रत। दीक्षा तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ला १। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—सूर्यप्रभा। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की सख्या—एक हजार। दीक्षा वृक्ष—शालि वृक्ष। तपोवन पुष्पक वन (काकदी)। वैराग्य का कारण—उल्का पात होते देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहा प्रथम पारणा किया मदर पुर (श्वेत पुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—पुष्पक। तपश्चरण काल—चार वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—कार्तिक शुक्ल २। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—आठ योजन। गणधर सख्या—८८। मुख्य गणधर का नाम—विदर्भ। वादियो की संख्या—६६००। चौदह पूर्व के पाठी—१५००। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—१५५०००। अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या—८४०००। केवल ज्ञानियो की सख्या—७५००। विक्रिया ऋद्धिधारी मुनियो की संख्या—१३०००, मन पर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—७५००। वादित्रऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—७६००। समस्त मुनियो की सख्या—दो लाख। आर्यिकाओं की सख्या—३८००००। मुख्य आर्यिका का नाम—वारुणी। श्रावको की सख्या दो लाख। श्राविकाओं की संख्या—चार लाख। समवशरण काल—तीन मास कम ५०००० पूर्व। मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—भाद्रपद शुक्ला अष्टमी

निर्वाण नक्षत्र—मूल। मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (सुप्रभ कूट) भगवान के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि मोक्ष गए। समवशरण से समस्त १७२६६० मुनि मोक्ष गए। श्री पुष्पदन्त भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर इनके तीर्थ मे नव्वे केवली हुए। पश्चात् पावपल्य पर्यन्त मुनि, अजिका, श्रावक, श्राविका एव चार प्रकार के सघ का असद्भाव होने से धर्म का अभाव रहा। जब शीतल नाथ भगवान प्रगट हुए तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ।

॥ इति ॥

अथ श्री शीतल नाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री पुष्पदन्त भगवान के निर्माण होने के अनन्तर नौ कोडि सागर के बाद श्री शीतल नाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव--अच्युत नामक सोलहवा स्वर्ग। जन्म स्थान —भद्रिका पुरी। पिता का नाम—श्री दृढरथ। माता का नाम सुनन्दा देवी। वश—इक्ष्वाकु। गर्भतिथि—चैत्र कृष्णा अष्टमी। जन्मतिथि—माघ कृष्णा १२। जन्म नक्षत्रपूर्वाषाढ—शरीर का वर्ण सुवर्णसम। चिन्ह श्रीवृक्ष (कल्पवृक्ष) शरीर प्रमाण नव्वे धनुष, आयु प्रमाण एक लाख पूर्व; कुमार काल—२५००० पूर्व। राज्य काल—५०००० पूर्व। परिग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—सीमन्धर। दीक्षातिथि—माघ कृष्ण १२। भगवान के तपकल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—शुक्र प्रभा। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—लाक्ष वृक्ष (पीपल)। तपोवन—सहेतुकवन (भद्रिकापुर)। वैराग्य का कारण—मेघो का विघटना देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—अरिष्टपुर (हस्तिनापुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—पुनर्वसु। तपश्चरण काल—दो वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष कृष्ण चौदश। केवलज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—साढे सात योजन। गणधर सख्या—८१। मुख्य गणधर का नाम—अनागार। वादियो की सख्या—५७००। चौदह पूर्व के पाठी—१४००। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—५६२००। अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या—७२००। केवल ज्ञानियो की सख्या—७०००। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—१२००। मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—७५००। वादित्र ऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—६७००। समस्त मुनियो की सख्या—एक लाख। आर्यिकाओ की सख्या—३८००००। मुख्य आर्यिका का नाम—सुयशा। श्रावकों की सख्या—दो लाख। श्राविकाओ की सख्या—चार लाख। समवशरण काल—दो वर्ष कम २५००० पूर्व। मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्माण तिथि—आश्विन शुक्ल अष्टमी। निर्वाण नक्षत्र—पूर्वाषाढ़।

मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग । मोक्षस्थान—सम्मेद शिखर (कूलवर कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए । समवशरण से समस्त ८०६०० मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में चौरासी केवली हुए । पश्चात् आधापल्य पर्यंत चतुर्विध संघ का असद्भाव होने से धर्म का अभाव रहा । जब श्री श्रेयास नाथ भगवान प्रगट हुए तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ ।

इति ।

अथ श्री श्रेयांस नाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भ.—

श्री शीतल नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर सौ सागर ६६२०००० वर्ष कम एक कोडि सागर के बाद श्री श्रेयांस नाथ भगवान ने अवतार लिया । इनका पहला भव—अच्युत नामक सोलवां स्वर्ग । जन्म स्थान—सिहपुरी (काशी) । पिता नाम—श्री विष्णु राय । माता का नाम—विष्णु श्री । वश—इक्ष्वाकु । गर्भतिथि—ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी जन्म तिथि—फाल्गुन कृष्णा ११ । जन्म नक्षत्र—श्रवण । शरीर का वर्ण—सुवर्ण सम । चिन्ह—गेंडा । शरीर प्रमाण—अस्सी धनुष । आयु प्रमाण—चौरासी लाख वर्ष । कुमार काल—२१ लाख वर्ष । राज्य काल—४२ लाख वर्ष । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—त्रिपृष्ट वासुदेव । दीक्षा तिथि—फाल्गुन कृष्णा ११ । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—विमल प्रभा । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—तिंदुक वृक्ष । तपोवन—मनोहर वन (सिहपुरी) वैराग्य का कारण—वसन्त ऋतु मे परिवर्तन का देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—सिद्धार्थ पुर (मिथुलापुर) । प्रथम आहार दाता का नाम—सुनन्दराय । तपश्चरण काल—दो वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—माघ कृष्णा ३० । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन केवल ज्ञान का समय—अपरान्ह काल । समवशरण का प्रमाण—सात योजन । गणधर सख्या—७७ । मुख्य गणधर का नाम—कुथु । वादियों की सख्या—५००० । चौदह पूर्व के पाठी—१३०० । आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३८४०० । अवधिज्ञानी मुनियों की सख्या—६००० । केवल ज्ञानियों की सख्या—६५०० । विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की सख्या—११००० । मन:पर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—६००० । वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—५००० । समस्त मुनियों की सख्या—८०००० । आर्यिकाओं की सख्या—१२०००० । मुख्य आर्यिका का नाम—धारिणी । श्रावको की सख्या—दो लाख । श्राविकाओं की संख्या—चार लाख । समवशरण काल—दो वर्ष कम २१००००० वर्ष । मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि—श्रावण शुक्ल १५ । निर्वाण नक्षत्र—श्रवण । मोक्ष जाने का समय—पूर्वान्ह । मोक्ष जाने के समय का आसन—

कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (संकल्प कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय एक हजार मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ६५६०० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में बहत्तर केवली हुए। पश्चात् पौण पल्य पर्यन्त चतुर्विध सघ का असद्भाव होने से धर्म का अभाव रहा। जब श्री वासुपूज्य भगवान प्रगटे तब पुन. धर्म का प्रचार हुआ।

इति श्री श्रेयास नाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री वासु पूज्य तीर्थङ्करस्य विवरणम्—

श्री श्रेयाँस नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर चौवन सागर के वाद श्री वासुपूज्य भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव—महाशुक्र नामक दसवा स्वर्ग। जन्म स्थान—चम्पापुर। पिता का नाम—श्री वसुपूज्य। माता का नाम—विजयावती। वंश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—आषाढ कृष्ण ६। जन्म तिथि—फाल्गुन कृष्ण चौदश। जन्म नक्षत्र—शतभिषा। शरीर का वर्ण—अरुण वर्ण, चिन्ह—महिष। शरीर प्रमाण—सत्तर धनुष। आयु प्रमाण—बहत्तर लाख वर्ष। कुमार काल—अठारह लाख वर्ष। राज्यकाल—३६ लाख वर्ष। पाणिग्रहण नही किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—त्रिपृष्ट (वासुदेव)। दीक्षा तिथि—फाल्गुन कृष्ण चोदश। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं को सख्या—६००। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—पुष्प प्रभा। दीक्षावृक्ष—पाडु वृक्ष। तपोवन—क्रोडोद्यान वन (चपापुरी)। वैराग्य का कारण—मेघों को विघटना देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के ७१ दिवस पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—राजग्रहो (महीपुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—नन्द भूप। तपश्चरण काल—एक वर्ष। केवल ज्ञानतिथि—माघ शुक्ल २। केवल ज्ञान समय—पूर्वान्हि काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—साढ़े छह योजन। गणधर सख्या—६६। मुख्य गणधर का नाम—सुधर्म। वादियो की सख्या—४०००। चौदह पूर्व के पाठी—१२००। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३६२००। अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या—५४००। केवल ज्ञानियो की सख्या—६०००। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—१००००। मन. पर्ययज्ञानी मुनियों की सख्या ६५००। वादित्रऋद्धि धारी मुनियों की सख्या—४२००। समस्त मुनियो की संख्या—७२०००। आर्यिकाओ की सख्या—१०६०००। मुख्य आर्यिका का नाम—धरणी। श्रावकों की सख्या—२०००००। श्राविकाओ की सख्या—चार लाख। समवशरण काल—एक वर्ष कम अट्ठारह लाख वर्ष। मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—भाद्रपद शुक्ल चौदश। निर्वाण नक्षत्र—अश्वनी। मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्षस्थान—चम्पापुर (चपाता-लतट) भगवान के मुक्ति गमन के समय में चौरासी मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से

समस्त ५४६०० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में चौवालिस केवली हुए। पश्चात् एक पल्य पर्यन्त चतुर्विध संघ का अभाव होने से धर्म का विच्छेद रहा। जब श्री विमल नाथ भगवान प्रगटे तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ।

इति श्री वासु पूज्य तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री विमलनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः—

श्री वासुपूज्य भगवान के निर्माण होने के अनन्तर तीस सागर के बाद श्री विमल-नाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव—सहस्त्रार नामक बारहवा स्वर्ग। जन्म स्थान—कपिला नगर। पिता का नाम—श्री कृतवर्मा। माता का नाम—श्यामा देवी वश-इक्ष्वाकु। गर्भतिथि—कृष्ण ज्येष्ठ दशमी। जन्म तिथि—माघ शुक्ल ४। जन्म नक्षत्र—उत्तराभाद्र पद; शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—वाराह। शरीर प्रमाण—साठ धनुष। आयु प्रमाण—साठ लाख वर्ष। कुमार काल—पन्द्रह लाख वर्ष। राज्य काल—तीस लाख वर्ष। पाणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—स्वयभू वासुदेव। दीक्षा तिथि—माघ शुक्ल ४। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—देवदत्ता। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की सख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष जबू वृक्ष। तपोवन—सहस्राभ्रवन (कपिला)। वैराग्य का कारण—मेघों का विघटना देखना दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहा प्रथम पारणा किया—राजग्रही (महीपुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—विशाखदत्त, तपश्चरण काल—तीन वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—माघ शुक्ल ६। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण प्रमाण—छह योजन। गणधर सख्या—पचपन। मुख्य गणधर का नाम—नदिराय। वादियों की सख्या—३४००। चौदह पूर्व के पाठी—११००। पाठी शिष्य मुनि—३४५०००। अवधि ज्ञानी मुनियो की सख्या—४८००। केवल ज्ञानियों की सख्या—५५०००। विक्रियाऋद्धि-धारी मुनियो की सख्या—६०००। मनः पर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—५५०००। वादित्रऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—३६००। समस्त मुनियों की सख्या—६८०००। आर्यिकाओ की सख्या—१०३०००। मुख्य आर्यिका का नाम—धरा। श्रावकों की सख्या—२०००००। श्राविकाओं की सख्या—चार लाख। समवशरण काल—तीन वर्ष कम १५००००० लाख वर्ष। मोक्ष जाने से चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—आषाढ़ कृष्णा ६। निर्वाण नक्षत्र—भरणी। मोक्ष जाने का समय—पूर्वान्हि। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (शालकूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय ८६०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ५१३००० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में चालीस केवली गए। पश्चात् पौन पल्य पर्यन्त धर्म का

विच्छेद रहा। जब श्री अनन्त नाथ भगवान प्रगटे तब पुन. धर्म का प्रचार हुआ।

इति श्री विमल नाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्त।

अथ श्री अनन्तनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः :—

श्री विमलनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर नौ सागर के बाद श्री अनन्त-नाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव—अच्युत नामक सोलहवाँ स्वर्ग। जन्म स्थान – अयोध्या। पिता का नाम—श्री सिंह सेन। माता का नाम—सर्वयशादेवी। वश इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—कार्तिक कृष्ण १। जन्म तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण १२। जन्म नक्षत्र-रेवती शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—सेही। शरीर प्रमाण—पचास धनुष। आयु प्रमाण—तीस लाख वर्ष। कुमार काल—७½ लाख वर्ष। राज्य काल—पन्द्रह लाख वर्ष। पाणि-ग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—पुरुषोत्तम (वासुदेव)। दीक्षातिथि-ज्येष्ठ कृष्ण १२। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—सागरदत्ता। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की सख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—पीपल वृक्ष। तपोवन—सहस्त्राभ्रवन (अयोध्या)। वैराग्य का कारण—उल्कापात होते हुए देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक वेला पश्चात् प्रथम पारणा किया नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—द्वारावती (धान्यपुर) प्रथम आहार दाता का नाम—धर्मसिंह। तपश्चरण काल—दो वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—चैत्र कृष्ण ३०। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण प्रमाण—साढे पाँच योजन। गणधर सख्या—पचास। मुख्य गणधर का नाम—जयमुनि। वादियो की सख्या—३२००। चौदह पूर्व के पाठी—१०००। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३६५००। अवधिज्ञानी मुनियो की सख्या—४३००। केवल ज्ञानियो की सख्या—५००। विक्रियाऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—८०००। मन पर्यय ज्ञानी मुनियो की सख्या—५०००। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियो की सख्या—३२००। समस्त मुनियो की सख्या—६०००। आर्यिकाओं की सख्या—१०८०००। मुख्य आर्यिका का नाम—पद्मा। श्रावको की सख्या—दो लाख। श्राविकाओ की संख्या—चार लाख। समवशरण काल—दो वर्ष कम ७५०००० वर्ष। मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—चैत कृष्ण ४। निर्वाण नक्षत्र—रेवती। मोक्ष जाने का समय—अपरान्ह। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (स्वयंभू कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय ७५०७ मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ५१००० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में छत्तीस केवली हुए। पश्चात् चतुर्विध सघ का अभाव होने से आधापल्य पर्यन्त धर्म का विच्छेद रहा जब श्री धर्म नाथ ने अवतार लिया तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ।

इति श्री अनत नाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री धर्मनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः :—

श्री अनन्त नाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर चार सागर के बाद धर्मनाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव-सर्वार्थ सिद्धि। जन्म स्थान—रत्नपुरी। पिता का नाम—श्री भानुराय। माता नाम—सुव्रता देवी। वंश—कुरु। गर्भ तिथि—वैशाख शुक्ल अष्टमी। जन्म तिथि—माघ शुक्ल ३। जन्म नक्षत्र—पुष्य। शरीर वर्ण-सुवर्ण सम चिन्ह—बज्र। शरीर प्रमाण—४५ धनुष। आयु प्रमाण—दस लाख वर्ष। कुमार काल—ढाई लाख वर्ष। राज्य काल—पाँच लाख वर्ष। पाणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—पुंडरीक (वासुदेव)। दीक्षा तिथि—माघ शुक्ल तेरस। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—नागदत्ता। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की सख्या—१०००। दीक्षावृक्ष—दधिपर्णवृक्ष। तपोवन—शालिवन (रत्नपुरी) वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना। दीक्षा का समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—पाटलीपुत्र (पटना)। प्रथम आहार दाता का नाम—धन्यसेन। तपश्चरण काल—एक वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष शुक्ल १५। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—पाँच योजन। गणधर संख्या—४३। मुख्यगणधर का नाम—अरिष्ट। वादियो की सख्या—२८००। चौदह पूर्व के पाठी—नो सौ आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—४०७००। अवधि ज्ञानी मुनियो की सख्या—३६००। केवल ज्ञानियो की सख्या—४५००। विक्रियाऋद्धि धारी—मुनियों की सख्या—७०००। मन:पर्यय ज्ञानी मुनियो की सख्या—४५००। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—२८० समस्त मुनियो की सख्या—६४०००। आर्यिकाओं की सख्या—६२४००। मुख्य आर्यिका का नाम—आर्य शिवा। श्रावकों की सख्या—दो लाख। श्राविकाओं की संख्या—चार लाख। समवशरण काल—एक वर्ष कम २५०००० वर्ष। मोक्ष जाने के चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—ज्येष्ठ शुक्ल ४। निर्वाण नक्षत्र—पुष्य। मोक्ष जाने का समय—रात्रि। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (सुदत्तवर कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय नौ सौ आठ मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ४६७०० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में बत्तीस केवली हुए पश्चात् पाव पल्य पर्यन्त चतुर्विध सघ का अभाव होने से धर्म का विच्छेद रहा। जब श्री शान्तिनाथ भगवान ने अवतार लिया तब पुनः धर्म का प्रचार हुआ।

इति श्री धर्मनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री शान्तिनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः :—

श्री धर्मनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर तीन सागर के बाद श्री शान्ति नाथ भगवान ने अवतार लिया। इनका पहला भव—सर्वार्थ सिद्धि। जन्मस्थान—हस्तिना-पुर। पिता का नाम—श्री विश्वसेन। माता का नाम—ऐरादेवी। वश—कुरु। गर्भ तिथि—भाद्रपद कृष्ण ७। जन्म तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण चौदश। जन्म नक्षत्र—भरणी शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—मृग। शरीर प्रमाण—४० धनुष। आयु प्रमाण—एक लाख वर्ष। कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष। राज्य काल—५०००० हजार वर्ष। पाणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—पुरुषदत्त। दीक्षा तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण चौदश। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—सिद्धार्था। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की सख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—नदिवृक्ष। तपोवन—सहस्त्राम्र-वन (हस्तिनापुर)। वैराग्य का कारण—उल्का पात होने देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह दीक्षा लेने से एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—सौमनसपुर (पद्म खड)। प्रथम आहार दाता का नाम—धर्ममित्र। तपश्चरण काल—एक वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष शुक्ल १०। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—साढे चार योजन। गणधर सख्या—छत्तीस मुख्य गणधर का नाम—चक्रायुध। वादियो की सख्या—२४००। चौदह पूर्व के पाठी—८००। आचारागसूत्र के पाठी शिष्य मुनि—४८८००। अवधि ज्ञानी मुनियो की संख्या—३०००। केवल ज्ञानियो की सख्या—४०००। विक्रियाऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—६०००। मन पर्ययज्ञानी मुनियो की सख्या—४०००। वादित्रऋद्धिधारी मुनियो की संख्या—२४००। समस्त मुनियो की सख्या—६२०००। आर्यिकाओं की संख्या—६०३०० मुख्य आर्यिका का नाम—शुचि। श्रावको की सख्या—दो लाख। श्राविकाओं की सख्या—४०००००। समवशरण काल एक वर्ष कम २५००० वर्ष, मोक्ष गमन से चौदह दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—ज्येष्ठ कृष्ण चौदश। निर्वाण नक्षत्र—भरणी। मोक्ष जाने का समय—रात्रि। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (शान्तिप्रदकूट) भगवान के मुक्ति गमन के समय नौ सौ मुनि मोक्ष गए। समवशरण से समस्त ४८४०० मुनि मोक्ष गए।

इति श्री शान्तिनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री कुंथनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भः :—

श्री शान्तिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर आधा पल्य व्यतीत होने के बाद श्री कुथनाथ भगवान ने सर्वार्थ सिद्धि से चयकर इस पावन भारत वर्ष के हस्तिनापुर नामक नगर मे अवतार लेकर असख्य जीवो को ससार सागर से पार किया। इनके पिता

का नाम—सूर्यप्रभ। माता का नाम—श्रीमती देवी। वंश—कुरु। गर्भ तिथि—श्रावण कृष्ण दशमी। जन्म तिथि—वैशाख शुक्ल एकम्। जन्म नक्षत्र—कृतिका। चिन्ह—बकरा। शरीर प्रमाण—पैंतीस धनुष। आयु प्रमाण—९५ हजार वर्ष। कुमार काल—२३७५० वर्ष। राज्य काल—४७५०० वर्ष। पाणिग्रहण किया। समकालीन प्रधान राजा का नाम—कुनलराय। दीक्षा तिथि—वैशाख शुक्ल एकम्। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—विजया। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—तिलक वृक्ष। तपोवन—सहस्त्राभ्रवन (हस्तिनापुर)। वैराग्य का कारण-उल्कापात होते देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया। मदरपुर (श्वेतपुर)। प्रथम आहार दाता का नाम—अपराजित। तपश्चरण काल—सोलह वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—चैत्र शुक्ल ३। केवल ज्ञान समय - अपरान्ह काल। केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—चार योजन। गणधर संख्या - पैंतीस। मुख्य गणधर का नाम स्वयभू। वादियो की संख्या—२०००। चौदह पूर्व के पाठी—सात सौ। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—४३१५०। अवधि ज्ञानी मुनियो की संख्या—२५००। केवल ज्ञानियो की संख्या—३२००। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियो की संख्या—६१००। मन. पर्यय ज्ञानी मुनियो की संख्या—३३३४। वादित्रऋद्धिधारी मुनियो की संख्या—२०००। समस्त मुनियों की संख्या—६००००। आर्यिकाओ की संख्या—६०३५०। मुख्य आर्यिका का नाम—दामिनि। श्रावको की संख्या—एक लाख। श्राविकाओ की संख्या - तीन लाख। समवशरण काल—२३७३४ वर्ष मोक्ष गमन से तीस दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—वैशाख शुक्ल १। निर्वाण नक्षत्र—कृतिका। मोक्ष जाने का समय—रात्रि। मोक्ष गमन के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (ज्ञानधर कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय ४६८०० मुनि मोक्ष गए। समवशरण से समस्त १००० मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ में चौबीस केवली हुए।

इति श्री कुंथुनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री अरहनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्:—

श्री कुंथुनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर हजार कोटि वर्ष कम पावपल्य व्यतीत होने के बाद श्री अरहनाथ भगवान ने अपराजित विमान से चय कर अपने अवतार से इस वसुधा मंडल को मंडित किया। इनका जन्म स्थान—हस्तिनापुर। पिता का नाम—श्री सुदर्शन। माता का नाम—सुमित्रा देवी। वंश—कुरु। गर्भतिथि—फाल्गुन शुक्ल तीज। जन्म तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल चौदश। जन्म नक्षत्र—रोहिणी। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिन्ह—मत्स्य। शरीर प्रमाण—तीस धनुष। आयु प्रमाण—चौरासी हजार वर्ष। कुमार

काल—इक्कीस हजार वर्ष। राज्यकाल—बयालीस हजार वर्ष। पणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—गोविन्द राय। दीक्षा तिथि—मार्गशीर्ष शुक्ल दशमी। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—वैजयन्ती भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओ की सख्या—१०००; दीक्षा वृक्ष—आम्रवृक्ष। तपोवन—सहस्त्राम्रवन (हस्तीनापुर)। वैराग्य का कारण—उल्का पात होते देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया —हस्तिनापुर। प्रथम आहार दाता का नाम—नद सेन। तपश्चरण काल—ग्यारह वर्ष। केवलज्ञान तिथि—कार्तिक शुक्ल १२। केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल। केवलज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण का प्रमाण—साढे तीन योजन। गणधर सख्या—तीस। मुख्य गणधर का नाम—कु थनाथ। वादियो की सख्या—सोलह सौ। चौदह पूर्व के पाठी —छ: सौ दस। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—३५८३५। अवधि ज्ञानी मुनियो की सख्या—२८००। केवल ज्ञानियो की संख्या—२८००। विक्रिया—ऋद्धि धारी मुनियों की सख्या—४३००। मन पर्यय ज्ञानी मुनियो की सख्या—२५५१। वादित्र ऋद्धि धारी मुनियो की सख्या—सोलह सौ। समस्त मुनियो की सख्या—पचास हजार। आर्यिकाओ की संख्या—६००००। मुख्य आर्यिका का नाम—रक्षिता। श्रावको की सख्या—एक लाख। श्राविकाओं की सख्या—तीन लाख। समवशरण काल—२०६८६ वर्ष। मोक्ष गमन से एक मास पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—चैत्र शुक्ल ११। निर्वाण नक्षत्र—रोहिणी। मोक्ष जाने का समय—अरुणोदय। मोक्ष गमन के समय का आसन - कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (नाटक कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय—३७२०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त एक हजार मुनि मोक्ष गए। पश्चात् इनके तीर्थ में सोलह केवली हुए।

इति श्री अरहनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम्।

अथ श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारम्भ:—

श्री अरहनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर एक कोटि वर्ष व्यतीत होने के बाद मदन विजयी जिनेन्द्र चन्द्र श्री मल्लिनाथ भगवान ने अपराजित विमान से चयकर अपने अवतार से इस भूमडल को परम पवित्र किया। इनका जन्म स्थान—मिथिलापुरी। पिता का नाम—श्री कु भराय। माता का नाम—रक्षिता देवी! वंश—कुरु। गर्भ तिथि —चैत्र सुदी १। जन्म तिथि—मार्गशीष शुक्ल ११। जन्म नक्षत्र—अश्वनी। शरीर का वर्ण —सुवर्णसम। चिन्ह—कलश। शरीर प्रमाण—पच्चीस धनुष। आयु प्रमाण—पचपन हजार वर्ष। कुमार काल—दस हजार वर्ष। राज्यकाल—३६५०० वर्ष। पाणिग्रहण नही किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—सुलूमाराय। दीक्षातिथि—अगहन शुक्ल ११।

भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की सख्या—६०६। दीक्षावृक्ष अशोक वृक्ष। तपोवन—सहस्त्राभ्रवन (मिथिलापुरी)। वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने के एक बेला पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—चक्रपुर। प्रथम आहार दाता का नाम—ऋषभ दत्त। तपश्चरण काल—सोलह वर्ष। केवल ज्ञान तिथि—पौष कृष्णा २। केवल ज्ञान समय—प्रात: काल केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन। समवशरण प्रमाण—तीन योजन। गणधर सख्या—२८। मुख्य गणधर का नाम—विशाखाचार्य। वादियो की सख्या—१४००। चौदह पूर्व के पाठी —५५०। आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२६०००। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या —२२००। केवल ज्ञानियों की संख्या—२०६५०। विक्रिया—ऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—१६००। मन.पर्यय ज्ञानी मुनियों की सख्या—१७५०। वादित्र ऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—१२००। समस्त मुनियो की सख्या—४००००। आर्यिकाओं की सख्या—५५०००। मुख्य आर्यिका का नाम—बन्धुमती। श्रावकों की सख्या-एकलाख। श्राविकाओ की संख्या —तीन लाख। समवशरण काल—१६६८४ वर्ष। मोक्ष जाने से तीस दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—फाल्गुन शुक्ल पचमी। निर्वाण नक्षत्र—अश्वनी। मोक्ष जाने का समय—रात्रि मोक्ष जाने का स्थान—सम्मेद शिखर (शाकूल कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय—२८८०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरणसे समस्त पाँच सौ मुनि मोक्ष गए।

इति श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरस्य विवरण समाप्तम् ॥

अथ श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् :—

श्री मल्लिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर चौवन लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद आनन्द कद जिनेन्द्र चन्द्र श्री मुनिसुव्रत भगवान ने आणत नामक चौदहवे स्वर्ग से चयकर अपने अवतार मे इस अवनि मंडल को विभूषित किया। इनका जन्म स्थान —राजग्रही। पिता का नाम—श्री सुमित्रनाथ। माता का नाम—पद्मवतीदेवी। वंश—हरि गर्भ तिथि—श्रावण कष्ण २। जन्म तिथि—वैशाख कष्ण १०। शरीर का वर्ण—श्याम। जन्म नक्षत्र श्रवण। चिन्ह—कच्छप। शरीर प्रमाण—बीस धनुष। आयु प्रमाण—तीस हजार वष। कुमार काल—साढे सात हजार वर्ष। राज्य काल—१५००० वर्ष। पाणिग्रहण किया। इनके समकालीन प्रधान राजा का नाम—अजितराय। दीक्षा तिथि—वैशाख कृष्ण १०। भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—अपराजिता। भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१०००। दीक्षा वृक्ष—चम्पावृक्ष। तपोवन—नीलगुफा (कुशाग्रपुर)। बैराग्य का कारण—उल्कापात होते हुए देखना। दीक्षा समय—अपरान्ह। दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया। नाम नगर जहाँ प्रथम पारणा किया—मिथिलापुर। प्रथम आहार दाता का नाम—राजादत्त।

तपश्चरण काल—ग्यारह वर्ष । केवल ज्ञान तिथि—वैशाख कृष्ण नवमी । केवल ज्ञान समय —अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण का प्रमाण—ढ़ाई योजन । गणधर संख्या—अट्ठारह । मुख्य गणधर का नाम—मल्लिनाथ । वादियों की सख्या —१२००। चौदह पूर्व के पाठी—पॉच सौ । आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—२१००० । अवधि ज्ञानी मुनियों की सख्या—आठ सौ । केवल ज्ञानियो की सख्या –१८००। विक्रिया ऋद्धि धारी मुनियों की सख्या—२२००। मन:पर्ययज्ञानी मुनियो की सख्या—१५००। वादित्रऋद्धिधारी मुनियो की सख्या—१२००। समस्त मुनियों की सख्या—३००००। आर्यिकाओं की सख्या—५००००। मख्य आर्यिका का नाम—पुष्पमती । श्रावकों की संख्या—एक लाख । श्राविकाओं की संख्या—तीन लाख । समवशरण काल—२४८६ वर्ष । मोक्ष गमन से तीस दिन पहले समवशरण विघटा । निर्वाण तिथि - फाल्गुन कृष्ण १२ । निर्वाण नक्षत्र—श्रवण । मोक्ष जाने का समय –रात्रि । मोक्ष जाने के समय का आसन —कायोत्सर्ग । मोक्ष स्थान—सम्मेद शिखर (निर्जरा कूट) । भगवान के मुक्ति गमन के समय १६२०० मुनि मोक्ष गए । समवशरण से समस्त एक हजार मुनि मोक्ष गए । इनके तीर्थ में बारह केवली हुए ।

इति श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् ।

अथ श्री नमिनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् :—

श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर छह लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद आनन्दकन्द भव्य जन तारक श्री नमिनाथ भगवान ने अपराजित विमान से चयकर अपने अवतार से भारतवर्ष को परम पावन किया । इनका जन्म स्थान—मिथलापुरी । पिता का नाम—श्री विजयरथ । माता का नाम—वप्रा देवी । वश—इक्ष्वाकु । गर्भ तिथि—आश्विन कृष्ण २ । जन्म तिथि—आषाढ कृष्ण १० । शरीर का वर्ण—सुवर्ण सम । चिन्ह—नील कमल । शरीर प्रमाण—पन्द्रह धनुष । आयु प्रमाण—दस हजार वर्ष । कुमार काल—पच्चीस सौ वर्ष । राज्य काल—पॉच हजार वर्ष । पाणिग्रहण किया । समकालीन प्रधान राजा का नाम—विजयराम । दीक्षा तिथि—आषाढ कृष्ण १० । भगवान के तप कल्याणक के गमन के समय की पालकी का नाम—उत्तरकुरु । भगवान के साथ दीक्षा लेने वाले राजाओं की संख्या—१००० । दीक्षा वृक्ष—मौलसिरी । तपोवन—सहस्त्राभ्रवन (मिथलापुर) । वैराग्य का कारण—उल्कापात होते देखना । दीक्षा समय—अपरान्ह । दीक्षा लेने से एक बेला करने के पश्चात् प्रथम पारणा किया । नाम नगर जहॉ प्रथम पारणा किया—राजाग्रही (महीपुर) । प्रथम आहार दाता का नाम – सुनयदत्त । तपश्चरण काल—नौ मास । केवल ज्ञान तिथि—माघ शुक्ल ११ । केवल ज्ञान समय—अपरान्ह काल । केवल ज्ञान स्थान—मनोहर वन । समवशरण प्रमाण—दो योजन । गणधर संख्या—सत्रह । मुख्य गणधर का

नाम—सोमनाथ। वादियों की संख्या—१०००। चौदह पूर्व के पाठी—सात सौ पचास। आचारांगसूत्र के पाठी शिष्य मुनि—१२६००। अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या—१६००। केवल ज्ञानियों की संख्या—१६००। विक्रियाऋद्धिधारी मुनियों की संख्या—१५००। मनःपर्यय ज्ञानी मुनियों की संख्या—१२५०। वादित्रऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—१०००। समस्त मुनियों की संख्या—२००००। आर्यिकाओं की सख्या—४५०००। मुख्य आर्यिका का नाम—अनिला। श्रावको की सख्या एक लाख। श्राविकाओं की संख्या—तीन लाख। समवशरण काल—नव मास कम पच्चीस सौ वर्ष। मोक्ष गमन से तीस दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—वैशाख कृष्ण चौदश। निर्वाण नक्षत्र—अश्वनी। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। मोक्ष स्थान—सम्मेदशिखर (मित्रधर कूट)। भगवान के मुक्ति गमन के समय नौ हजार छह सौ मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त १००० मुनि मोक्ष गए। पश्चात् इनके तीर्थ में आठ केवली हुए।

इति श्री नेमिनाथ तीर्थकरस्य विवरणम्।

अथ श्री नेमिनाथ तीर्थकरस्य विवरणम् :—

श्री नेमिनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर पाँच लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद आनन्द कन्द जितेन्द्र चद्र मदन विजयी श्री नेमिनाथ भगवान ने अपराजित विमान से चयकर अपने अवतार से वसुधा मडल को मडित किया।

अथ श्री नेमिनाथ तीर्थंकरस्य विशेषाख्यानम् :—

यदुवशोद्भवसमुद्र विजय नामक यदुवशियो में प्रधान राजा थे। उनकी प्रधान महारानी का नाम शिवादेवी था। इन्हें धर्म से बडा प्रेम था। दोनों दम्पत्ति सदा बड़े हसमुख और प्रसन्न रहते थे। सुख की इन्हे चाह न थी। पर सुख ही इनका अनुचर बन रहा था। इस प्रकार सुख पूर्वक समय व्यतीत होने पर एक दिन सती शिवादेवी ने अपने शयनागार में आनन्द शयन करते हुए जिनेन्द्र के अवतार के सूचक रात्रि के पश्चिम पहर में गजराज, बृषभ, केशरी आदि सोलह पदार्थ स्वप्न में देखे। पश्चात् अपने मुख में प्रवेश करते हुए हाथी को देखा। इन्हें देखकर वह जाग उठी। प्रात काल होते ही अपने स्वामी के पास गयी और उन्हे रात्रि में देखे हुए स्वप्नो का वृतात ज्यों का त्यो कह सुनाया। सुनकर महाराज समुद्र-विजय उसके फल के सम्बन्ध मे कहने लगे—कि 'प्रिये! स्वप्न तुमने बड़े ही सुन्दर और उत्तम देखे है। इनके देखने से सूचित होता है कि—भव्य जीव रूपी कमल वन को प्रफुल्लित करने वाले तीर्थंकर तुम्हारे गर्भ में अवतार लेंगे। जिसकी आज्ञा का सन्मान देवता तक करते हैं।' अपने पतिदेव द्वारा स्वप्न का फल सुनकर शिवादेवी को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। सच है, पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नही होती। कुछ दिनों पश्चात् त्रिलोक पूज्य गर्भ की दिनोंदिन

वृद्धि होने लगी। जिनके प्रभाव से अवतार होने के छह महीने पहले ही से प्रतिदिन देवता त्रिकाल रत्न वर्षा करते थे। गर्भ पूर्ण दिनो का हुआ। श्रावण मास शुक्ल पक्ष में छठ के दिन शुभ मुहूर्त्त में चित्रा नक्षत्र का योग होने पर सौभाग्यवती शिवादेवी ने शुभ लक्षण सयुक्त श्याम वरण मुन्दर पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर में आनन्दोत्सव होने लगा। उधर सौधर्मेन्द्र अवधि ज्ञान से भारत वर्ष में तीर्थराज का अवतार हुआ जानकर उसी समय ऐरावत गजराज पर आरूढ हो अपनी इन्द्राणी और देवो सहित बड़े महोत्सव के साथ द्वारिकापुरी में आया और सभक्ति नगरी को तीन प्रदक्षिणा की। उसके बाद अपनी प्रिया को भगवान को लाने के लिए राज महल में भेजा। इन्द्राणी प्रसूति गृह में गयी और वहाँ अपनी दिव्य शक्ति से ठीक वैसा ही मायावी बालक रखकर श्री नेमिनाथ को उठा लाई। लाकर उस सुन्दर और तेज पुज बालक को अपने प्राण प्रिय को सौंप दिया। इन्द्र उन्हे ऐरावत हाथी पर बैठाकर बडे समारोह के साथ सुमेरु पर्वत पर ले गया। पाडुक वन मे ले जाकर पाडुक वन की ईशान दिशा में स्थित अर्द्ध चन्द्रमा के आकार से अनेक तीर्थकरो के जन्मभिषेक मे पावन कलधौत वर्ण की धारक पूर्व-पश्चिम में सौ योजन लम्बी, दक्षिणोत्तर पचास योजन चौडी और आठ योजन प्रमाण ऊँची पाडुक नामक शिला पर स्थित रत्न जडित स्वर्णमय सिंहासन के ऊपर पद्मासन युक्त पूर्वमुख आनन्द कद जिनेन्द्र चन्द्र श्री नेमिनाथ भगवान की स्थापना कर क्षीर समुद्र के स्फटिक से भी उज्जल और निर्मल जल से इनका अभिषेक किया। क्षीराभिषेक हो चुकने के पश्चात् केशर चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओ का विलेपन कर स्वर्गीय वस्त्राभूषणो से भगवान को विभूषित किया। उत्तम से उत्तम द्रव्यो से उनकी पूजा की। अन्त मे उन्होने भगवान् के गुणो का निर्मल पवित्र भावो से बहुत काल पर्यन्त गायन किया और पीछे वह उन्हे ऐरावत गजराज पर बैठाकर द्वारकापुरी में वापस ले आया। तथा अपनी प्रिया के द्वारा भगवान को शिवादेवो के निकट पहुँचा दिया। जब शिवादेवी की निन्द्रा खुली और पुत्र को दिव्य वस्त्राभूषणो मे विभूषित देखा तो उसे बडा विस्मय हुआ और साथ ही परमानन्द भी हुआ। इसके पश्चात् इन्द्र, भगवान को पवित्र भक्ति में निमग्न हुआ इस मगलमय समय में ताडव नृत्य करने लगा और भगवान के माता-पिता के गुणो का गायन किया। तदनतर भगवान और उनके माता-पिता के चरणारविंदों को बारम्बार भक्ति से नमस्कार करके देव देवागनाओ सहित अपने स्थान पर चला गया। इन्द्र के चले जाने के पश्चात् समुद्रविजय ने भी बहुत उत्सव किया और दान दिया। पूजा प्रभावना की। बन्धु बान्धवो को परम आनन्द हुआ। भगवान शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनोदिन बढने लगे। सुन्दरता में भी कामदेव को जीतते थे। इनके बल के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या था। जबकि वह चरम शरीर के धारी इसी भव में मोक्ष जाने वाले है। भगवान नेमिनाथ इन्द्र के द्वारा भेजे हुए दिव्य वस्त्राभूषणों का उपयोग करते तथा अपनी
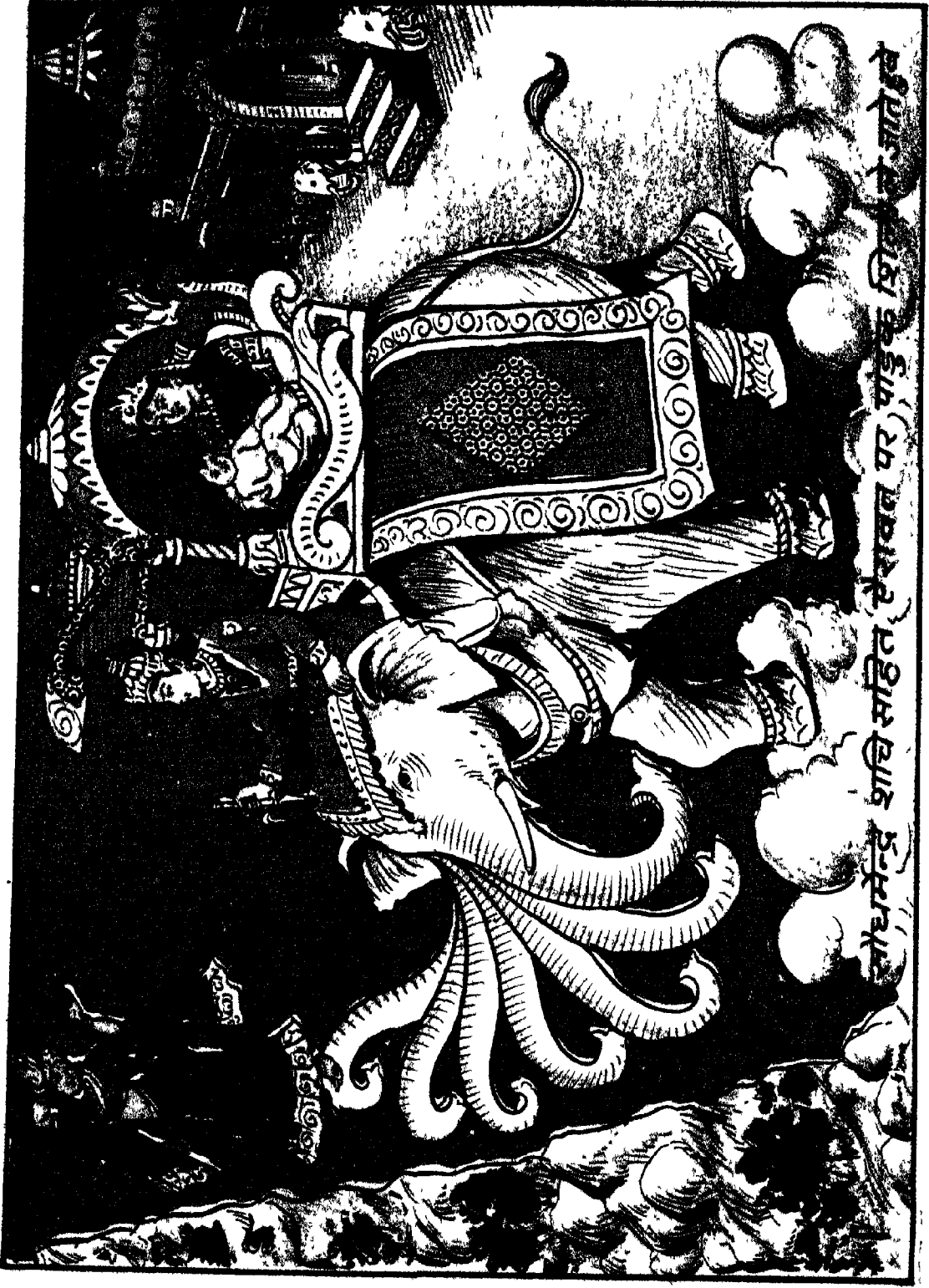
सौधर्मेन्द्र शचि सहित ऐरावत पर पांडुक शिला ले जाते हुवे

समान वय वाले देवकुमारों के साथ माता-पिता के नेत्रों को आनन्द देने वाली बालक्रीड़ा करते हुए दिनोंदिन बढ़ने लगे।

तथाप्युक्तं नेमिनाथ पुराणे :—

काव्यं—

तीन जगत करि पूज्य नेमि सुख से तिष्ठते,
देव इन्द्र सब सुरी युक्त ह्वै आनन्दवते।
स्वर्ग विषै उत्पन्न वस्त्रभूषण नित लाकर,
महा भक्ति मन लाय सेव करहै निसवासर ।।

दोहा :—

तीन काल किंकर भये, प्रीति सहित सेवत।
षट् ऋतु के जो सुख नये, ताकरि हर्ष करत ।।१।।
रत्नन के आंगन विषै, देव कुमारन संग।
नाना विधि क्रीडा करत, सुख से नाथ अभंग ।।२।।
वो क्रीड़ा जगचित्त को, दायक आनन्द भौन।
जो दंपति को आनन्द भयो, ताको वरनै कौन ।।३।।

जिस समय समुद्र विजय और वसुदेव आदि मथुरा में रहते थे उस समय श्री कृष्ण ने अपने मामा कंसराज को मार कर अपने नाना उग्रसैन को बन्दी गृह से छुड़ा दिया था। कंसराज का श्वसुर जरासिंध उस समय एक बड़ा भारी प्रतापी राजा था। उसे अपने जामाता की मृत्यु का संवाद सुनकर बड़ा क्रोध आया। वह उसी समय बड़ी भारी सेना लेकर यादवों से युद्ध करने के लिए चल पड़ा। यदुवंशियों ने जब यह खबर सुनि कि जरासिंध विपुल सेना लेकर चढा आ रहा है तब वे बहुत घबराए। सब मिलकर विचार करने लगे कि जरासिंध से युद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि हमारे में इतनी शक्ति नहीं है जो जरासिंध से सामना कर सके। इसलिए वे दूसरा कोई उपाय न देखकर वहां से चल दिए और सौराष्ट्र देश के समीप द्वारिका में अपना उपनिवेश स्थापित करके रहने लगे। लिखा है कि द्वारिका की रचना को जिन भगवान की भक्ति और श्री कृष्ण के वहां आने से इन्द्र की आज्ञा से देवों ने की थी। नेमिकुमार का जन्म द्वारिका में हुआ। श्री कृष्ण नेमिकुमार के चचेरे भाई थे तथा नेमिकुमार से अवस्था में बड़े थे। कुछ समय में श्री कृष्ण एक प्रतापी राजा हो गए। तथा द्वारिका को अपनी राजधानी बना कर निष्कंटक राज्य करने लगे। श्री कृष्ण का सत्यभामा आदि सोलह हजार राजकुमारियों से विवाह हुआ। इनके साथ श्री कृष्ण के दिन बहुत ही सुख पूर्वक बीतते थे। अथानन्तर शीत ऋतु व्यतीत होने पर वसन्त ऋतु का आगमन

हुआ। सरोवरों का जल स्वच्छ हुआ। कमल विकसित हुए। सरोवरों की शोभा बढ़ने लगी। आम्र के वृक्षों पर प्यारे भौंरे आ गए। कोकिलाओं की सुन्दर कंठध्वनि होने लगी। ऐसे सुखपूर्ण दिनों में श्रीकृष्ण अपने अंतःपुर सहित वन क्रीड़ा करने को गए और श्री नेमिनाथ को भी साथ ले गए। वन में श्री कृष्ण के सेवकों ने पहले ही पहुँच कर केशर और चन्दनादि उत्तम-उत्तम सुगन्धित वस्तुओं से छोटी-छोटी बावड़ी भर दी थी और सुगन्धित वृक्षों के पराग से मिली हुई गुलाल भी बहुतसी पहुँचा दी गई थी। चारों तरफ उत्तम-उत्तम सुगन्धित पुष्पो की बाड़ियाँ लगी हुई थी। जिनके देखते ही स्त्री पुरुषों के चित्त में आनन्द की लहरे उठने लगती थी। श्री कृष्ण नेमिनाथ को लिए हुए वही पहुँचे और जल क्रीडा करने लगे। श्री कृष्ण की बहुत सी स्त्रियाँ उनके ऊपर बार-बार जल फेंकने लगी और भी नाना प्रकार से जैसा उन्हें सूझा वे श्री कृष्ण के साथ कौतुक (खेल) करने लगी। श्री कृष्ण भी जैसी-जैसी उनकी उत्कंठा होती थी उसी प्रकार पूर्ण करते जाते थे। इसी प्रकार बहुत देर तक खेल खिला कर श्री कृष्ण तो जल के बाहर निकल कर कहीं चले गए। तब कृष्ण के जाते ही उन्होंने नेमिनाथ के साथ खेलना आरम्भ किया। वे नाना प्रकार की हसी करने लगी ; केशर डालने लगी, पिचकारियाँ मारने लगी और विवाह न करने पर बडे-बड़े ताने मारने लगी। क्रीड़ा समाप्त हो जाने पर सब स्त्रियाँ जल से बाहर निकली। नेमिनाथ भी बाहर आ गए। अपने गीले वस्त्रो को प्रथक करके सत्यभामा की ओर फेंक कर बोले हमारे वस्त्रों को निचोड़ दो। सत्यभामा यह सुनकर बहुत रुष्ट हुई और बोली—'यह काम अपनी स्त्री से करवाइए। मुझ से यह नही हो सकता। तुम जानते हो—जो सुदर्शन चक्र चला सकता हो, नाग शय्या पर सोने की जिसमे शक्ति हो, जो पाँच्यजन्य शंख पूर सकता हो जो सारग धनुष पर ज्या, चढ़ा सकें वही मुझे आज्ञा दे सकता है न कि तुम। इसीलिए दूसरो का काम मैं नही कर सकती।' सच है मनुष्य अभिमान के वश होकर योग्य, अयोग्य, हित, अहित के विचार से शून्य होकर एक पूज्य पुरुष के शासन की अवज्ञा कर डालता है।

गीता छन्द :—

जो जिनेन्द्र नरेन्द्र इन्द्रन करि सदा पूजत सही,
है जगत के गुरु देव देवन तासु के पद छद ही।
रज शीघ्र बदन करन ते अघ जाल ताप हरत है,
तिनकी करि आज्ञा अनूपम वो तो शर्म करत है॥

दोहा—

बांछा सेवा की सदा, रखत इन्द्र मन लाय।
तिन का कारण पुन्य विन, निधिवत् कैसे पाय॥

अर्थात् जिन-आनन्द कन्द जिनेन्द्र चन्द्र के आज्ञा की इन्द्रादिक देव प्रतीक्षा करते रहते हैं और हाथ जोड़ कर निवेदन करते हैं। पुण्य पुरुष हम आपके दास हैं। हमारे लिए कुछ आज्ञा कीजिए जिससे आज्ञा पालन कर हम अपने जीवन को कृतार्थ करें। ऐसे नेमिनाथ भगवान के शासन की सत्यभामा ने अवज्ञा की जो ठीक भी है क्योंकि जिन भगवान के आदेश पालन करने का सौभाग्य भी तो किसी परम प्रकर्ष पुण्योदयी मनुष्य को प्राप्त होता है साधारण को नही।' सत्यभामा के ऐसे उण्डता से भरे हुए वचन सुन कर नेमिनाथ उसी समय वहाँ से चल पड़े और श्री कृष्ण की युद्धशाला में पहुचे। वहाँ उन्होंने सुदर्शन चक्र को पाँव के अँगूठे से घुमाया। नाग शय्या पर शयन किया। धनुष पर ज्या चढ़ाई और पाँच्य जन्य शख भी उन्होने पूर दिया। धनुष की टकार और शख का नाद होते ही बड़ा भारी कोलाहल मच गया। लोग भयभीत होकर प्रलय काल की कल्पना करने लगे। श्री कृष्ण एक दम घबरा कर बोले—क्या कोई दैत्य तो नही आ गया। तब उनके किसी सेवक ने श्री कृष्ण से कहा—

चौपाई :—

हे स्वामी मुग्धा सतभाम, नही जनै पुरुषारथ नाम।
स्नान तनो पट श्री जिन दियो, ताको नही नीचोरन कियो॥
और गर्व कर कहती भई, हे कुमार तुम सुनिये सही।
धनुष शख अहि शय्या तीन, क्या तुमने साधन कीन॥
जो मैं पोत निचोहूँ एव, इस विधि वच सुन जिन वर देव।
रोष धार सिध करते भए, या विध सेवग ने वच चए॥

सुनते ही श्री कृष्ण उसी समय युद्ध शाला में आए और ऊपर से कुछ हँस कर भाई नेमिनाथ से बोले—'विभो! आपके किंचित क्रोध से बेचारे लोग विह्वल हुए जाते हैं। अतएव केवल स्त्रियो के वचनो पर आपको ऐसा करना उचित नहीं जान पड़ता। आप क्रोध का परित्याग करे। क्योंकि यह उत्तम पुरुषो के लिए आदरणीय नही हैं।' भगवान को सन्तुष्ट कर श्री कृष्ण उनसे मिले। और उन्हे साथ ले अपने घर चले गए। नेमिनाथ के इस अनुपम पराक्रम को देखकर श्री कृष्ण मानसिक व्यथा से बहुत दुखी हुए। तदनतर श्री कृष्ण बलदेव के पास पहुँचे और कहा कि 'नेमिनाथ बड़े बलवान हैं। सम्भव है कि वे कभी भी मेरा राज्य छीन ले। बतलाइये क्या उपाय करना चाहिए। जिससे मेरा राज्य सुरक्षित रह सके।' तब बलदेव ने कहा—'भाई! वे चर्म शरीर के धारी, जगद्गुरु व त्रिलोक पूज्य हैं। उन्हें इस महा अघकारी राज्य सपदा से क्या प्रयोजन। वह तो इसे तुच्छ दृष्टि से देखते है। जहाँ कोई उन्हें हिसा का कारण दिखाई पड़ेगा तो वे तत्काल संसार से विरक्त हो दीक्षा ले लेंगे।' बलदेव के इस प्रकार के वचन सुनकर कृष्ण भी उसी तरह के उपाय के

योजना की चिन्ता में लग गए। अन्त में दूसरा कोई उपाय न देखकर उग्रसेन की नगरी में पहुँचे। उग्रसेन से कुशलवार्त्ता के अनन्तर श्री कृष्ण ने नेमिनाथ के साथ राजीमती के विवाह होने की बात छेड़ी। उग्रसेन ने श्री कृष्ण का कहना स्वीकार कर अपनी पुत्री का विवाह नेमिनाथ से करना निश्चित कर दिया। श्री कृष्ण लग्नादि का निश्चय कर आये और जूनागढ में जीव वध के विषय की भी गुप्त मन्त्रणा कर आये थे। इतने में वर्षा काल आ गया। उन्ही दिनों में नेमिनाथ का विवाह सम्बन्धी कार्य आरम्भ किया गया। सगे सम्बन्धी जन निमन्त्रण पत्र भेज कर बुलवाए गए। आये हुए पाहुनो का भोजनादि से खूब सत्कार किया जाने लगा। थोड़े ही दिनो मे नेमिनाथ की बारात खूब सजधज कर बड़े समारोह और वैभव के साथ जूनागढ म पहुँची वहाँ पर एक संकीर्ण स्थान मे मृगादिक अनेक प्रकार के बहुत से पशु बधे हुए थे और वे बेचारे घोर आपत्ति मे फसकर करुणाजनक शब्द कह रहे थे। उन्हे कष्ट से व्याकुल देखकर नेमिनाथ को बडी दया आई। तब उन्होने अपने सारथी से पूछा—'ये पशु क्यो बिलबिला रहे है और क्यो इकट्ठे किए गए है।' सारथी ने उत्तर मे निवेदन किया—'महाराज ! आपके विवाह में जो मासाहारी राजा पाहुने आए है उनके भोजन के लिए इनका वध किया जाएगा। इसी प्रयोजन मे एकत्रित करके ये यहाँ बाँधे गए है।' सारथी के ये वचन सुनकर अनाथ पशुओं के ऊपर इस प्रकार अत्याचार होने की बातो से भगवान के हृदय पर बड़ी चोट लगी। वे उसी समय लोगो के देखते-देखते रथ को लौटा ले गए। रथ के लौटाते ही लोगो में हाहाकार मच गया। लोगो ने भगवान को रोकने का बहुत कुछ उपाय किया परन्तु वे किसी तरह से न रुके। लोगो ने वापस लौटने का कारण पूछा तो भगवान बोले कि 'एक मेरे सुख के लिए इन हजारो जीवों का घात किया जाएगा। धिक्कार है ऐसे सुख को। मुझे ऐसा सुख नही चाहिए। मै अपने इस इन्द्रिय जनित सुखाभास सुख पर लात मारता हूँ और उस मार्ग को ग्रहण करता हूँ जिस पर चल कर मै ऐसे अगणित जीवो के दुःख निवारण का प्रयत्न कर सकू और अनादि काल से पीछा किए हुए इन आत्म शत्रु कर्मो का विध्वस कर निर्बध अवस्था को प्राप्त होकर निराकुलित, स्वाधीन, वचनातीत, अनन्तकाल स्थाई, निजात्मीक सच्चा सुख लाभ कर सकूं।' इस प्रकार लोगो के प्रति प्रत्युत्तर देकर वे तत्काल ही रथ से उतर पड़े और विवाह का सारा शृ गार शरीर पर से उतारकर अपने बधु जनो से विषय भोगो से परिजनो से, और साथ ही उग्रसेन महाराज की राजकुमारी राजीमती से सम्बन्ध छोड़ कर वहाँ से चल दिए और जूनागढ के निकटस्थ नाना प्रकार के छायादार वृक्षो से सुशोभित गिरनार पर्वत पर जा पहुँचे। उस समय लौकांतिक देव भी अवधिज्ञान से भगवान का दीक्षा समय जानकर तत्काल वहाँ आए तथा भगवान को सभक्ति नमस्कार करने के अनन्तर उनके वैराग्य की प्रशसा कर अपना नियोग पूरा करके निज स्थान पर चले गए। इनके चले जाने के पश्चात्

भगवान नेमनाथ को तोरन पर पशुबन्दी देख वैराग्य होगया सभी कुछ त्याग गिरनार पर्वत जाय दिगम्बर मुनी भये।

दोहा :—

तब ही इन्द्रादिक अमर, खेचरेन्द्र करियुक्त ।
आकर प्रभु के पदन में, जै जै घोषण उक्त ।।

इन्द्रादिक देव आए और भगवान को स्वर्णमयी रत्न जड़ित देव कुरु नामक पालकी में बैठाकर उन्हे गिरनार पर्वत के सहस्त्राभ्रवन में लिवा ले गए। भगवान ने सब वस्त्राभूषणो का परित्याग कर अपने शिर के केशां का लोच किया। केशो को ले जाकर इद्र ने समुद्र में क्षेपण किया। पश्चात् भगवान ने वाह्याभ्यतर परिग्रह का त्याग कर और सिद्ध भगवान को नमस्कार कर अविनश्वर मोक्ष महल के देने वाली जैनेन्द्री दीक्षा स्वीकार कर ली। दीक्षा लेकर भगवान दो दिन तक ध्यान में लीन रहे। तदनन्तर तीसरे दिन अहीरपुर में धनदत्त सेठ के यहाँ भगवान का पारणा हुआ। छप्पन दिन के उपरान्त शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मो का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया। उस दिन आश्विन शुक्ल प्रतिपदा और प्रात: काल का समय था। केवल ज्ञान होते ही इन्द्र ने आकर गिरनार पर्वत पर बारह कोठो से विभूषित दो योजन प्रमाण समवशरण रचा। भगवान द्वादश सभाओं के मध्य सिहासन पर चतुरागुल अन्तरीक्ष विराजे। देवगण उनके ऊपर चमर ढुलाने लगे। भगवान के ग्यारह गणधर हुए। उन सब में मुख्य गणधर का नाम वरदत्त था। समस्त चार प्रकार के संघ की सख्या--८००। चौदह पूर्व के पाठी—चार सौ। वादियो की संख्या—आठ सौ। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि—ग्यारह हजार। अवधि ज्ञानी मुनियो की सख्या—पन्द्रह सौ। केवल ज्ञानियो की सख्या—पन्द्रह सौ। विक्रियाऋद्धिधारी मुनियो की संख्या—ग्यारह सौ। मन पर्यय ज्ञानियो की सख्या—१०००। वादित्रऋद्धिधारी मुनियों की सख्या—आठ सौ। समस्त मुनियो की सख्या—१८०००।आर्यिकाओ की सख्या—४००००। मुख्य आर्यिका का नाम—यज्ञदिना। श्रावकों की सख्या—१०००००। श्राविकाओ की संख्या—तीन लाख। समवशरण काल—५६ दिन कम सात सौ वर्ष। मोक्ष जाने से तोस दिन पहले समवशरण विघटा। निर्वाण तिथि—आषाढ शुक्ल सप्तमी। निर्वाण नक्षत्र—चित्रा मोक्ष जाने का समय—रात्रि। मोक्ष जाने के समय का आसन—कायोत्सर्ग। भगवान के साथ नौ हजार छह सौ मुनि मोक्ष गए। मोक्ष स्थान—गिरनार। समोशरण से समस्त पाँच सौ छप्पन मुनि मोक्ष गए। इनके तीर्थ मे चार केवली और हुए।

इति श्रीद्वाविशतम नेमिनाथ तीर्थकरस्य गर्भागमन से मोक्ष गमन पर्यंत विवरण समाप्तः।

।। शुभमस्तु ।।

अथ श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरस्य विवरण प्रारंभः ।।

श्री नेमनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनंतर ८३७५० वर्ष व्यतीत होने पर आनन्द कद श्री पार्श्वनाथ भगवान ने अवतार लिया। अब यहाँ प्रथम ही भगवान को

ध्यानारूढ़ देखकर संवर नामक ज्योतिषी देव ने अपना शत्रु जानकर जो घोर उपसर्ग किया था उसका कारण सहित संक्षिप्त वृतात इस प्रकार है :—

इसी सुप्रसिद्ध और विशाल जबूद्वीप के भरत क्षेत्र में सुरम्य देश के अन्तर्गत पोदनपुर नामक एक मनोहर नगर था। उस समय वह अपनी श्रेष्ठ सम्पदा और ऐश्वर्य से ऐसा जान पड़ता था, मानो सारे ससार की लक्ष्मी यहाँ आकर एकत्रित हो गई हो। वह सुख देने वाले उपवनो, प्राकृतिक सुन्दर पर्वतों और सरोवरो की शोभा से स्वर्गों के देवो तक का भी मन मुग्ध कर-लेता था। यहाँ के स्त्री पुरुष सुन्दरता में अपनी तुलना में किसी को न देखते थे। यहाँ के सब लोग सुखी थे, भाग्यशाली थे और पुण्यवान थे। जिस समय का ये वर्णन है उस समय उसके राजा अरविंद थे। अरविंद प्रजा के सच्चे हितैषी, नीतिज्ञ और बुद्धिमान थे। इनके यहाँ विश्व भूति नाम का एक विप्रमत्री था। विश्वभूति की स्त्री का नाम अनुंधरी था। अनुधरी के दो पुत्र हुए। उनके नाम कमठ और मरुभूत थे। कमठ तो व्यसनी, कुल को कलंकित करने वाला था। और लघूपुत्र मरुभूत सदाचारी और बुद्धिमान था। इनमे कमठ की स्त्री का नाम वरुणा और मरूभूत की स्त्री का नाम बसुन्धरी था। एक दिन विश्वभूति ने अपने मस्तक मे जरा के दूत श्वेत रोम को देखा उसके देखने मात्र से उन्हें बहुत वैराग्य हुआ। अपने लघू पुत्र मरूभूत को राजा की सेवा मे छोड़कर उन्होने उसी समय सब मायाजाल छोड़ आत्म हित का पथ जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। राजा अरविंद मरूभूत को सौम्य प्रकृिति और आलस्य, ईर्ष्या, मत्सरता आदि दुर्गणो से रहित देखकर उससे बहुत प्रसन्न रहते थे। एक समय राजा अरविंद ने मत्री सहित सेना को लेकर राजा बज्रवीर्य के देश पर चढ़ाई की। उनके पोदनपुर से प्रयाण करते ही कमठ की पोछे से बन आई। उसने अपनी इच्छा का दुरूपयोग करना आरम्भ किया। व्यभिचार की ओर उसकी दृष्टि गई। मरूभूत की स्त्री बसुन्धरी बड़ी खूबसूरत थी। एक दिन उसे बस्त्राभूषणो से सुसज्जित देख लिया। बस फिर क्या था ? देखते ही उसका हृदय काम के बाणों से बिंध गया। एक दिन कमठ बन क्रीड़ा के लिए गया हुआ था कि उसके मुख कमल को चितातुर देखकर उसके मित्र कलहस ने दुराग्रह करके चिन्तातुर होने का कारण पूछा। तब उसने लज्जा त्यागकर अपना अभीष्ठ कह सुनाया। सुनकर कलहस ने उसे शिक्षाप्रद वचनो से बहुत कुछ समझाया पर उस चिकने घढ़े पर शिक्षा रूपी निर्मल जल कहा प्रभाव डाल सकता था ? उल्टा उत्तर में कहा:—

दोहा:—बोला तब पापी कमठ, सुनो मित्र निरधार ।।
जो नहि मिले बसुन्धरी, तो मुझ मरण विचार ।।

कलहंस को मित्र के दुराग्रह पर बाधित होकर इस दुष्कृत के अभियोग में कटिबद्ध होना पडा। कलहस बसुन्धरी के पास पहुंचा और कहा—'बसुन्धरे ! आज कमठ बन में

व्यथा से पीड़ित हैं अतएव तुम जाकर उसकी खबर लो।' वसुन्धरी उसके हृदयगत कपट को न जानकर सरलचित्त से कमठ के पास गई। बस फिर क्या था? उसने उससे बलात्कार कर अपनी नीच मनोवृति की तृप्ति की। कुछ समय के अनन्तर जब राजा विजय लक्ष्मी प्राप्त कर वापिस आए और जब उन्हे कमठ के इस दुराचार का पता लगा, तो उन्होने उसे गधे पर चढ़ाकर नगर से निकाल दिया। कमठ अपमान स्वरूप अग्नि से दहा हुआ भूताचल पर्वत पर जहाँ तापसियो का आश्रम है, वहाँ गया और उनसे दीक्षा लेकर हाथो पर शिला लिए हुए निर्विवेक कायक्लेश जप करने लगा। एक समय मरुभूत को जब कतठ का भूताचल शैल पर तप करने का अनुसधान लगा तो वह मिलने के लिए भाई के पास गया और बोला—'भाई! मेरा अपराध क्षमा करना मैंने तो राजा को बहुत समझाया था पर महाराज ने मेरा कहना न माना और तुम्हे इतना कष्ट दिया।' ऐसा कहता हुआ मरुभूत भाई से क्षमा माँगने को उसके पैरों पर गिर पड़ा। परन्तु उस दुष्कर्मी कमठ ने उसे निर्दोषी होने पर भी क्षमा करने के बदले अपना अपमान कराने वाला समझकर क्रोधाग्नि से जलते हुए उसके मस्तक पर शिला डाल दो। जिससे वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडा और रुधिर धारा बहने लगी। थोडे हो समय के अनन्तर अपने प्राण भी विसर्जन कर दिए और सल्लकी बन मे बज्रघोष नामक हाथी की पर्याय धारण की। उधर जब तापसियो को कमठ की इस दुष्टता का पता लगा तो उन्होने उसे अपने आश्रम से निकाल दिया। तब वह वहाँ से भी,अपमानित होकर भीलो के समुदाय में जा मिला और चोर कर्म करने लगा। एक समय इसी दुष्कृत में पकड़ा गया और उसे अपने कर्तव्य कर्म के फल से मारनपीड़नादि विविध प्रकार के दुःख भोगने पड़े अंत में दुर्ध्यान से मरण कर उसी सल्लकी बन मे कुक्कुट नामक सर्प हुआ। आथनन्तर एक दिन महाराज अरविंद अपने महल पर बैठे हुए प्रकृति की सुन्दरता को देख रहे थे कि इतने में उन्होंने एक बड़ा भारी बादल का टुकडा गगन मडल मे देखा जो बहुत दूर होने से परम सुन्दर प्रतीत होता था। उसकी मनोहरता पर महाराज अरविंद मुग्ध होकर लेखनी व रगो को मंगाकर उसी प्रकार चित्र खीचने के अभियोगी हुए कि इतने मे ही वायु के चलने से बादल छिन्न-भिन्न होकर देखते-देखते न मालूम कहाँ अन्तर्हित हो गया। बादलों की इस क्षण नश्वरता का महाराज अरविद के चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वे विचारने लगे 'कि जिस प्रकार ये बादल आँखो के देखते-देखते नष्ट हो गए उसी प्रकार ये ससार भी तो क्षण भगुर है। यह पुत्र, पौत्र, स्त्री तथा और बधुजनों का जितना समुदाय है वह सब दुख का देने वाला है। और यह शरीर भी तो जिससे हम बहुत प्यार करते है, वह भी व्याधियो से ग्रसित दुःखमय और देखते-देखते नष्ट होने वाला है। इन्ही के मोह में फंसकर यह जीव नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। जिन उत्तम पुरुषों ने अपनी आत्मा को इस मोह जाल

से निकालकर जिन दीक्षा ग्रहण की है वे ही इस दुस्तर ससार समुद्र से पार होकर शिव सुख के भोगने वाले हुए है। मैं कितना मूर्ख हूँ जो अब तक अपने हित को न शोध सका। अतएव अब मुझको उचित है कि पुत्र, बधु तथा धनादि का सम्बन्ध छोडकर आत्म हित का पथ जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करूँ।'। तदनतर अपने विचारानुसार महाराज अरविद ने पुत्र को राज्य भार देकर शिव सुख की साधन जिन दीक्षा ग्रहण कर ली। तत्पश्चात् अरविद मुनिराज बहुत से देशो और नगरो मे भ्रमण कर अनेक भव्यजनो को आत्महित की ओर लगाते हुए सम्मेद शिखर की यात्रा के विचार से विहार करते हुये सघ सहित सल्लकी बन में आकर ठहरे। सध्या का समय होने पर मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर ध्यान करने लगे कि इतने मे ही मरुभूत मत्री का जीव बज्रघोष नामक हाथी भयानक गर्जना करता हुआ सघ की ओर आया। परन्तु साधू मेरु समान स्थिरता से ध्यान करते रहे। पथिक जनो का उसकी घोर गर्जना सुनकर आवागमन बद हो गया। कितने ही जो गज के धक्के से गिर पड़े थे उनका प्राणाँत हो गया। जब वह हाथी अरविद मुनि के पास आया तो उनके हृदयगत श्रीवत्स लक्षण को देखकर उसे जातिस्मरण हो गया। तब वह तत्काल शात चित्त होकर मुनिराज के चरणो मे बारम्बार शीश नमाकर नमस्कार करने लगा। अरविद मुनिराज उसके हृदयगत अभिप्राय को जानकर कहने लगे .—

अज्ञानी पशु ! तुझे मालूम नही कि पाप का परिणाम बहुत बुरा होता है। देख पाप के ही फल मे तुझे इस हाथी पर्याय मे आना पडा। फिर भी तू पाप करने से मुह न मोड़कर अनेक जीवो को खूदता हुआ मदोन्मत्त विहार करता है। यह कितने आश्चर्य की बात है। देख तूने जिन धर्म को न ग्रहण कर आज कितना दुख उठाया। पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय उपस्थित है। अतएव तू आत्म हित का मार्ग ग्रहण कर।' हस्ती की होन हार अच्छी थी या उसको काललब्धि आ गई थी। यही कारण था कि मुनि के उपदेश को सुनकर उसके परिणामो में विलक्षण परिवर्तन हो गया। उसे अपने कृत कर्म पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ। मुनिराज के उपदेशानुसार सम्यक्तपूर्वक उसने व्रत ग्रहण किए। तदनन्तर मुनिराज तो उस गयन्द के लिए अहिसामयी पवित्र जिन शासन का उपदेश देकर विहार कर गए। हाथी अपने ग्रहण किए व्रतो का पूर्णतया पालन करने लगा। उसे जो कुछ थोडा बहुत शुष्क पल्लवादि पवित्र आहार मिल जाता था उसी को खाकर रह जाता था और पंचपरमेष्ठी के चरणो का स्मरण करता रहता था। इस प्रकार कभी खाने को मिलने और कभी न मिलने के कारण वह हाथी बहुत कृश हो गया। ऐसी दशा मे एक दिन उसे बहुत जोर की प्यास लगी। तब वह वेगवती नामक नदी के किनारे पर जलपीने को गया। दुर्भाग्य से वहाँ पर बहुत दलदल हो रही थी। जब वह किनारे पर जलपान करने के अभिप्राय से पहुँचा तो यह उस दलदल मे धस गया। उससे इसने निकलने की कोशिश की पर दलदल

से बाहर न निकल सका कारण कि कभी आहार मिलने और कभी न मिलने से वह पहले ही बहुत अशक्त हो गया था। अंत में अपने को दलदल से निकलने में असमर्थ समझकर वही वह संसार समुद्र से पार करने वाले समाधिमरण को धारण कर पच परमेष्ठी का स्मरण चितन करने लगा। इसी समय इसके पूर्वभव का भ्राता कमठ का जीव मरकर जो इसी वन में कुक्कुंट नामक सर्प हुआ था, इस ओर आ निकला। उसकी जैसे ही इस पर नजर पड़ी वैसे ही उसे अपने पूर्व बैर की याद आ गई। उसने क्रोध से अ धे होकर बज्रघोष हाथी को डस लिया। पर बज्रघोष हाथी ने कुक्कुंट अहिकृत कष्ट को बडी शान्ति के साथ सहकर आयु के अ त में साम्य भाव के फल मे द्वादशम स्वर्ग लोक प्राप्त किया। वहाँ मनचाहा दिव्य सुख भोग सोलह सागर की आयु पूर्ण होने पर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध लोकोत्तमपुर नगर के राजा विद्युत्गति के यहाँ अवतार लिया और अग्निवेग के नाम से ससार मे प्रख्यात हुआ। अग्निवेग पुण्योदय से जो राज्यविभूति प्राप्त हुई उसे सुखपूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द उत्सव के साथ व्यतीत होने लगे। एक दिन पुण्योदय से अग्निवेग मुनिराज के दर्शनार्थ गए। उनकी भक्ति से पूजा स्तुति कर उनसे धर्म का पवित्र उपदेश सुना उपदेश उन्हे बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उस पर बहुत पडा। वह उसी समय ससार और विषय भोगो से विरक्त हो गया और बाह्याभ्यतर परिग्रह का त्यागकर मुनिराज के पास आत्महित की साधक जिन दीक्षा ग्रहण कर ली और महा तप तपने लगे। एक दिन इसी तरह वे हिमगिर की गुफा में ध्यानारुढ हो रहे थे कि इतने मे ही इनसे शत्रुता रखने वाला कमठ का जीव जिसने कि पूर्व भव मे कुक्कुंट नामक अहिपर्याय से बज्रघोष को डसने के पाप के फल मे पचम नर्क में अवतार ले वहाँ छेदन भेदनादि अनेक प्रकार के दुखभोग आयु के अ त मरण कर अजगर पर्याय धारण की वह इस ओर आ निकला और उन्हे ध्यान में खडे हुए देखकर उसे अपने बैरी पर बडा क्रोध आया। अपने बैर का बदला लेने के अभिप्राय से उसने मुनिराज को डस लिया। अग्निवेग मुनिराज ने धैर्य मे विचलित न होकर इस कष्ट को बडी शान्ति के साथ सहा। अत में समाधि से मरण कर पुण्य के फल से षोडशम् स्वर्गलोक प्राप्त किया। तप के प्रभाव से एक अ तर्मुहूर्त्त में आँखो में चकाचौध लाने वाले दिव्य तेजस्वी और अनुपम सौदर्ययुक्त तीन हाथ प्रमाण शरीर और बाईस सागर आयु के धारक देव हुए और कमठ का जीव अजगर पाप के फल से मरण कर धूमप्रभा नामक पाचवी पाताल का निवासी हुआ। अथानतर वह देव आयु के अ त में अच्युत स्वर्ग से चयकर जबूद्वीप के पश्चिम विदेह में पद्मदेश के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध अश्वपुर नामक नगर के राजा बज्रवीरज की राणी विजया के गर्भ में अवतरित हुआ।

एक दिन रानी विजया अपने शयनागार में कोमल शय्या पर सोई हुई थी कि उसे

रात्रि के अन्तिम पहर में मेरु-चन्द्रमा-सूर्य सजलसरोवर और समुद्र ये पाँच बातें स्वप्न में दीख पड़ी। उन्हें देखकर वह जाग उठी और प्रातःकाल होते ही उसने अपने प्राणनाथ से स्वप्नों का वृतान्त ज्यों का त्यो कह सुनाया। सुनकर महाराज बज्रवीरज ने उनके फल के सम्बन्ध मे यो कहा कि 'प्रिये ये स्वप्न तुमने बडे ही सुन्दर देखे है। इनके देखने से सूचित होता है कि तुम्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी और वह सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर प्रजारूपी कमलवन को प्रफुल्लित करने वाला होगा। उसके शासन से प्रजा बहुत सन्तुष्ट होगी।' अपने स्वामी के मुखारविन्द द्वारा स्वप्नों का फल सुनकर विजया रानी को परमानद हुआ। ठीख ही कहा है पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नही होती। आनन्दपूर्वक कुछ दिन बीतने पर विजया रानी ने शुभ लक्षणो से युक्त प्रतापी, सुन्दर पुत्ररत्न प्रसव किया। पुत्र प्राप्ति से दम्पत्ति को आनन्द हुआ। तत्पश्चात् राजा बज्रबीरज ने पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में खूब आनन्द उत्सव किया। दुखी अनाथ याचको को यथेच्छित दान दिया। पूजा प्रभावना की। बधुबांधवो ने बहुत आनन्द मनाया। सच है—कुल दीपक पुत्र की प्राप्ति से कौन खुशी नही मनाता! राजा ने पुत्र का नाम अपने नाम से सबध रखते हुए बज्रनाभि रख दिया। बाल कुमार शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनो दिन बढने लगा। बधु वर्ग रूपी कमल उसे देखकर प्रफुल्लित होते थे। जब उनकी पठन करने के योग्य उमर हुई तब महाराज वज्रवीरज ने अच्छे अच्छे विद्वान अध्यापको को रख कर उन्हें पढाया। इनकी बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी दूसरे इन पर गुरुओ की कृपा हो गई। इससे थोडे ही दिनो मे पढ लिखकर अच्छे धर्मज्ञ और नीति निपुण विद्वान बन गए। कुछ दिनों पश्चात् राजा वज्रबीरज ने पुत्र को यौवन सम्पन्न होते देखकर इनका विवाह समारंभ किया। उसमें उन्होंने खूब द्रव्य व्यय कर बडे वैभव के साथ अनेक सुन्दर राजकुमारियो से उनका विवाह कर दिया। और कुछ समय के अनन्तर इनको राज्याधिकार भी दे दिया गया। बज्रनाभि अब राजा हो गये। प्रजा का शासन ये भी अपने पिता की भाति न्याय नीति पूर्वक प्रेम के साथ करने लगे। कुछ समय के पश्चात् इनके यहाँ परम प्रकर्ष पुण्योदय मे आयुधशाला में चक्ररत्न हो गया जो सब सुखों का कारण माना जाता है। अवशेष रत्न तथा नवनिधि भी इनके यहाँ प्रगट हो गई थी। अतः उन्होंने अनेक देशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया और निष्कटक होकर षट्खड का राज्य करने लगे जिससे बज्रनाभि के नाम से ससार मे प्रख्यात हो गए। एक दिन बज्रनाभि क्षेमंकर चक्रवर्ती मुनिराज के दर्शनार्थ को गए। उनकी भक्ति से पूजा स्तुति कर उनसे धम का पवित्र उपदेश सुना। मुनिराज के वैराग्य पूर्ण उपदेश का उनके हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव पडा। वे उसी समय ससार के विषय भोगो मे विरक्त हो गये और राज्यभार को छोड़कर बहुत से राजाओ के साथ आत्महित की साधक जैनेंद्री दीक्षा ग्रहण कर ली और महातप तपने लगे। एक दिन वन में खड़े कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे कि इसी समय इनसे

जन्मान्तर शत्रुता रखने वाला कमठ का जीव जो कि पहले अजगर की पर्याय को छोड़कर छठे नर्क का वासी हुआ था स्थिति पर्यन्त अनेक प्रकार के कष्ट भोगकर वहा से निकल कर इसी बन में महाविकराल भयानक रूप का धारक भील हुआ और शिकार के लिए धनुष-बाण लेकर भ्रमण करता हुआ इस ओर आ निकला जहाँ मुनिराज ध्यान में निमग्न थे। उसने दिगम्बर मुनिराज को देखकर पूर्व जन्म की शत्रुता के सस्कार वश शिकार मिलने के लिए उन्हे विघ्न रूप समझ कर उनके शरीर को तीरो से बेध दिया। मुनिराज को बडा दुस्सह कष्ट हुआ पर उसे उन्होने बडी धीरता से सहा। सच है—जिनका शरीर से रत्ती भर मोह नही उनके लिए तो कष्ट कोई चीज ही नही। अत में समाधि से मरण कर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिंद्र हुए और वह भील मुनि-हिसा रूपी पाप के फल से सप्तम नरक में गया। सच है—पापियो को कही स्थान नहीं मिलता। एक नर्क ही की उन पर कृपा दृष्टि होती है जो उनको रहने के लिये स्थान प्रदान कर देता है। पश्चात् वह देव मध्यम ग्रैवेयक मे सत्ताईस सागर पर्यन्त उत्तमोत्तम सुख भोग आयुपूर्ण हुए वहाँ से चयकर जबूद्वीप के भरतक्षेत्र में कौशल देश के अन्तर्गत अयोध्या नाम की नगरी में तस्याधिपति इक्ष्वाकु वंशोद्भव राजा वज्रबाहु की रानी प्रभाकरी के गर्भ से आनन्द कुमार नामक राजपुत्र हुआ। बड़े होने पर महाराज ने अपना राज्य का सब भार इनके आधीन कर दिया। अब आनन्दकुमार राज्य सिंहासन को अलकृत करने लगे। ये अभी अपनी प्रजा का शासन प्रेम और नीति के साथ करने लगे। अपनी सतानवत् इनका प्रजा पर प्रेम था। इस कारण प्रजा भी इनके साथ बहुत सतुष्ट रहती थी। इस प्रकार प्रजा का पालन करते हुए इनका बहुत सुख पूर्वक समय बीतता था। एक दिन की बात है कि आनन्द कुमार अपने निकटवर्ती मनुष्यो सहित सभा में बैठे हुए दर्पण में अपने मुखमंडल की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे कि उन्हे एकाएक मस्तक मे एक श्वेत केश दृष्टिगत हुआ। उसके देखते ही क्षणमात्र में उनके हृदय में वैराग्य का अकुर उत्पन्न हो आया। वे विचारने लगे कि काल के घर का दूत अब आ पहुँचा है। अतएव इन विषयों से इन्द्रियो को हटाकर अपने वश में कर लूँ। मै बड़ा मूर्ख हूँ जो आज तक विषयों मे फंसा रहा और कभी अपने आत्महित की ओर मैने ध्यान नही दिया। यह राज्यभार और स्त्री, पुत्र भाई, बधु आदि का स्नेह केवल ससार का बढाने वाला है और इसी के मोह में फसकर यह जीव नाना प्रकार के दुखो को भोगता है। जिन पुरुषो ने इस मोहजाल को तोड़कर अविनश्वर मोक्ष सुख के देने वाली जिन दीक्षा स्वीकार की है वे ही इस ससार सागर से पार होकर निजात्मीक अक्षयानंत शिव सुख के भोक्ता हुए हैं।' इस प्रकार दृढ़ विचार करके महाराज आनन्द कुमार ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्यभार सौंपकर सागरदत्त मुनिराज के निकट मोक्ष सुख की साधक जिन दीक्षा ग्रहण कर ली और अनादिकाल से पीछा करने वाले आत्म शत्रु कर्मों का नाश करने के लिए दुस्सह तपश्चरण

करना आरम्भ किया। तदनन्तरषोडशभावनाओ के द्वारा पूज्य तीर्थकर नाम प्रकृति का बध किया। जिससे आनदकुमार मुनिराज तीर्थकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे। एक दिन ये मुनिराज निर्जन बन में आतापन योग धारण किए हुए थे कि उसी वन में वह जन्मान्तर से शत्रुता रखने वाला कमठ का जीव सप्तम नर्क से निकलकर विकराल-भयकर रूप का धारक पंचानन अर्थात् सिह हुआ, और दैव से प्रेरित हो इस ओर आ निकला। ध्यान में निमग्न मुनिराज को देखते ही इसमें पूर्व शत्रुता के सस्कार जाग्रत हो आए। बस फिर क्या था ? उसने क्रोधाध होकर अपने तीखे-नखो और विकराल नुकीली डाढो से मुनिराज के शरीर को विदीर्ण कर डाला। सच है-- जो पापी होते है वे लोग भयकर से भयकर पाप करने मे किन्चिनमात्र नही हिचकते। चाहे फिर उस पाप के फल से उन्हे जन्म-जन्म मे भी क्यो न कष्ट सहना पडे। मुनिराज को बडा ही कष्ट हुआ। पर उन्होंने इस दुस्सह उपसर्ग का बड़ी स्थिरता और शान्ति से सहकर प्राणो को विसर्जन कर त्रयोदशम् स्वर्ग मे इन्द्र पद प्राप्त किया। अथानतर जबूद्वीप के अन्तर्गत बाराणसी नामक मनोहर नगर था। उसके राजा थे विश्वसेन। इनका जन्म कुरुवश और काश्यप गोत्र में हुआ था। विश्वसेन धर्मज्ञ, नीति निपुण, दानी और सम्यग्दृष्टि थे। उनकी रानी का नाम था---वामदेवी। जो बहुत सुन्दरी, विदुषी और धर्म परायणा थी। इन दोनो दम्पतियो के पुण्योदय से प्राप्त हुई राज्य विभूति को भोगते हुए आनन्द और उत्सव के साथ दिन व्यतीत होते थे जिससे ये काल की गति को भी न जान सके। एक दिन वामादेवी अपने शयनागार में सुख पूर्वक कोमल शय्या पर शयन किये हुए थी कि उन्हे रात्रि के पश्चिम भाग मे तीर्थराज के अवतार सूचक गजराज वृषभ, केशरी आदि सोलह स्वप्न हुए और अन्त मे हाथी को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा। स्वप्न देखकर देवी जागृत हो गई। प्रभात होने पर प्रात काल सबन्धी क्रियाओ से निवृत हो राजसभा मे महाराज विश्वसेन के पास गई। महाराज ने रानी को आते देखकर अपना अर्द्धासन छोड दिया और बाई ओर बैठाकर कहा—प्रिये ! आज क्या विचार कर आई हो ? महारानी बोली—'नाथ ! आज रात्रि के अन्तिम समय सोलह स्वप्न देखे हैं। उनका फल श्रवण करने की इच्छा से आप के पास आई हूँ।' यह कह कर देखे हुए स्वप्न ज्यो के त्यों कह सुनाए। महराज ने सुनकर कहा कि 'ये स्वप्न तुमने बहुत अच्छे देखे हैं। इनका देखना सूचित करता है कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थकर अवतार लेगे। जिनकी आज्ञा का इद्रादिक बड़े बडे देवता तक सम्मान करते है, उन स्वप्नो का उत्तम फल वामादेवी अपने पति के मुख से सुनकर बहुत हर्षित हुई। पश्चात् सखियों के साथ निज मदिर में वापिस चली गई। इद्र की आज्ञा से भेजी हुई रुचिक नामक त्रयोदशम् द्वीप के मध्य स्थित वलयाकार चौरासी हजार योजन उन्नत और इतने ही योजन विस्तार वाले रुचिक संज्ञक पर्वत के शिखर पर कूटो मे निवास करने वाली दिक्कुमारि देवीयाँ आकर जिनमाता की नाना

प्रकार से भक्ति सेवा करने लगी। भगवान वैशाख मास कृष्णपक्ष की दोयज के दिन विशाखा नक्षत्र का योग होने पर आनत नामक त्रयोदशम स्वर्ग को छोडकर वामा देवी के गर्भ में आ विराजे। कुछ दिनो पश्चात् गर्भ धीरे-धीरे बढने लगा। उनके भार से वामादेवी को किसी प्रकार की बाधा नही होती थी जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्ब के पडने से किसी प्रकार की बाधा नही होती है।

दोहा — ज्यों दर्पण प्रतिबिम्ब सों। भारी कहो न जाए।
त्यो जिन पति के गर्भ सों। खेद न जाने माय ।।१।।

अर्थात् गर्भ पूर्ण दिनों का हुआ तब पौष मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन जबकि विशाख नक्षत्र का योग था तब वामादेवी ने नवमे महीने मे शुभ लक्षणो से युक्त त्रिभुवनमहनीय सुन्दर पुत्ररत्न प्रसव किया। पुत्र के उत्पन्न होते ही नगर भर मे आनन्दोत्सव होने लगा। देवो के आसन चलायमान हुए। मुकुट नमने लगे। चतुर्विध देवो के निलयो मे स्वमेव पृथक् प्रकार के वादित्रो का शब्द होने लगा। तब भरत क्षेत्र में तीर्थराज का अवतार जानकर बडे समारोह के साथ स्वर्ग के देवो ने बनारस नगरी में आकर बहुत उत्सव किया। पश्चात् भगवान को ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरु पर्वत पर ले गए और वहाँ जाकर क्षीर समुद्र के स्फटिक से उज्जवल और निर्मल पवित्र जल से भगवान का अभिषेक कराया। न्हवन क्रीडा समाप्त होने पर उन्हें ऐरावत गयंद पर बैठा पूर्व जैसे महोत्सव के साथ बनारस नगरी मे ले आये और प्रसूति गृह मे माता के निकट इन्द्राणी द्वारा विराजमान कराए। तदनन्तर भगवान के माता-पिता की पूजा स्तुति कर उनका यशोगान करते हुए अपने-अपने स्थान पर चले गए। भगवान निजवय प्रमाण देवकुमारो के साथ क्रीडा करते हुए शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह दिनो-दिन बढने लगे। इनका समय देवकुमारो के साथ हसी विनोद करते हुए बहुत सुख से बीतता था। जब भगवान युवावस्था में पदार्पण करते हुए सोलह वर्ष के हुए, तब एक समय सभा में बैठे हुए महाराज विश्वसेन ने अवसर पाकर भगवान से कहा—कि प्रियपुत्र ! अब तुम योग्य अवस्था के हो गए हो। अतएव एक राज्य कन्या से पाणिग्रहण करने की स्वीकारता प्रदान कर हमारी कामना पूर्ण करो जिस प्रकार प्रथम अवतार ऋषभदेव ने नाभिराय की मनोकामना पूर्ण की थी। क्योंकि ऐसा करने से ही कुल की रक्षा हो सकेगी और तुम्हे कुल की रक्षा करनी चाहिए।' यह सुनकर भगवान ने उत्तर मे निवेदन किया—'पिता जी ! आपने जो कहा सो ठीक है परन्तु मैं ऋषभदेव के समान नही। कारण कि उनकी आयु तो ४८ लाख पूर्व की थी और मेरी आयु केवल सौ वर्ष की है। जिसमें भी सोलह वर्ष तो बाल्य अवस्था में ही व्यतीत हो चुके है और तीसवे वर्ष में संयम समय है। अतएव—

दोहा :— अल्पकाल थिति अल्पसुख । अल्प प्रयोजन काज ।
कौन उपद्रव सग्रहै । समझ देख नरराज ।।१।।

सुर नरेद्र लोचन भरे । रहे वदन विलषाय ।
पुत्र व्याह वर्जन वचन । किसे नही दुखदाय ।।२।।

इस प्रकार ससार की विषय वासनाओ से विरक्त चित्त पार्श्वनाथ भगवान निजात्मीक सुख प्राप्त करने की साधन जिन दीक्षा के समय को प्रतीक्षा करते हुए आनन्द पूर्वक दिन व्यतीत करने लगे । वह कथित पूर्व कमठ का जीव मुनि हिसा के पाप के फल मे पचम नर्क मे गया वहाँ उसने सत्रह सागर पर्यन्त छेदनभेदन यंत्रो के द्वारा पिलना आदि कठिन से कठिन दुःख भोगे और वहाँ से निकलकर सत्रह सागर पर्यन्त त्रसस्थावर जीवो की पर्याये धारण की और वहाँ भी बहुत दुःख भोगे । तीन सागर के पश्चात् अबकी बार कुछ पाप का भार हलका हो जाने से यह महीपालपुर के राजा के यहाँ पुत्र हुआ और कुछ समय के अनन्तर योग्य अवस्था होने पर पिता के पद को प्राप्त हो गया अर्थात् राजा हो गया। प्रजा का नीति पूर्वक राज करते हुए कुछ समय बीतने पर इनके एक पुत्री हुई । उसका नाम रखा गया— वामा देवी । जब वह यौवन अवस्था में पदार्पण करने लगी तब महाराज महीपाल ने उसका विवाह महाराज विश्वसेन के साथ कर दिया । चरित्र नायक पार्श्वनाथ भगवान इन्ही के पुत्र हुए थे । इस सम्बन्ध से महीपाल भगवान पार्श्वनाथ के नाना हुए । कुछ समय के उप-रान्त दैव के दुर्विपाक मे महाराज महीपाल की प्रिय पटरानी का देहान्त हो गया । इसके वियोग से इनको बडा खेद हुआ । दुख का उद्वेग बहुत बढा । अत मे वे सहन न कर सके प्रिय पटरानी का असह्य शोक उनके हृदय के मध्य लहरे लेने लगा । कुछ समय पश्चात् किसी तरह हृदय में धैर्य धारण कर एक पल भी फिर वहाँ न ठहरकर घर से निकल पड़े और तापसी भेष धारण कर समस्त अंग में भस्म रमाकर मृग छाला बिछाए हुए बन में पंचाग्नि तप तपने लगे । यहाँ से फिर अनेक देश, नगर, ग्रामों में विहार कर तपस्या करते हुए बनारस नगरी के कानन में आकर ठहरे । इसी अवसर में एक दिन श्री पार्श्वनाथ भगवान अपने सखाओ के साथ बन क्रीडा करने को गए । क्रीडा समाप्त होने पर जब बनारस की ओर आ रहे थे कि उन्हे मार्ग में निज जननी के पिता महीपाल पचाग्नि तप तपते हुए दृष्टिगत हुए । उस समय महीपाल भगवान को निकटवर्ती आए हुए भी विनय प्रणाम करने से रहित देखकर अपने मन मे विचारने लगे कि यह कुमार बड़ा मानी अह-कारी है । जो प्रथम तो मैं जननी पिता हूँ, दूसरे मैं तापसी हूँ, दोनो प्रकार से इनके मेरे प्रति पूज्य भाव होने चाहिए । परन्तु इसमें विनीत नम्रता का लेशमात्र भी नहीं । महीपाल भगवान के विनय प्रणाम न करने से सिर से पाँव तक जल उठे । क्रोध की आग उसके रोम-रोम में प्रवेश कर गई । पर वह उनका कुछ करने-धरने को लाचार थे । अंत में

अपने मन ही मन में क्रोधित हो हाथ में परसी लेकर जलाने के लिए लकड़ी चीरने को तत्पर हुए। तब भगवान ने काष्ठ के मध्य अवधिज्ञान द्वारा सर्प युगल जानकर हित मित प्रिय वाणी से कहा—ओ तापसी ! इस काष्ठ को मत विदारण करो, कारण कि इसमें सर्प सर्पिणी का युगल बैठा हुआ है उसका घात हो जाएगा। परन्तु उसने न माना और उल्टे क्रोधित होकर कहा—"ओ बालक ! क्या।"

चौपाई:— हरिहर ब्रह्मा तुम ही भए। सकल चराचर ज्ञाता ठये।
मनै करत उद्धत अविचार। चीरयो काठ न लाई बार ॥१॥

काष्ठ के चीरते ही तत्र स्थित युगल सर्पों के खड हो गए। तब पुन भगवान ने कहा—'ओ तापसी ! तुम क्यों वृथा गर्व कर रहे हो। मान के वशीभूत होकर बारम्बार कहने पर भी न माना। अब इन निरपराध जीवों की हत्या करके क्या लाभ उठाया ? भला कहो तो सही। इन बेचारो ने तुम्हारा क्या नुकसान किया था ? बडे आश्चर्य की बात है कि मनुष्य होकर भी तुम्हारे मे दया का अकुर तक नही दीख पड़ता।' तब वह तापसी क्रोधित होकर बोला—'ओ कुमार ! देखो ! प्रथम तो मैं तुम्हारी जननी का पिता, दूसरे पचाग्नि तप तपने वाला तापसी। तुम्हे दोनो सबधों से मेरे प्रति पूज्य भाव होकर विनय प्रणाम करना चाहिए था। किन्तु तुम उसके प्रतिकूल मेरा मान खडन कर रहे हो। क्या तुम्हें मालूम नही है कि मैं एक पाद द्वारा खड़े होकर ऊपर बाहें किए हुए क्षुधा, तृषा की वेदना सहता हुआ नित्य पचाग्नि तप साधन करता हूँ और जो कुछ थोड़ा-बहुत शुष्क फल, पत्र आदि आहार मिल जाता है उसी को सन्तोष वृत्ति से ग्रहण कर रह जाता हूँ। फिर भी तुम मेरे इस दुस्सह तपश्चरण को ज्ञान शून्य अज्ञान तप बतलाकर निंदा कर रहे हो।' तब उसे भगवान ने फिर कहा—'ओ तापसी ! देखो ! तुम्हारे पंचाग्नि तप तपने में नित्य प्रति कितने षट्काय के जीवों की हिंसा होती है और जहाँ हिंसा होती है वहाँ नियम कर के पाप का बन्ध होता है और आप यह खूब अच्छी तरह जानते हैं कि—पाप के फल से जीवों को नरकादि दुर्गतियों में ये असह्य कष्ट भोगने पडते हैं। इस कारण तुम्हारा तपश्चरण करना अज्ञान तप है। बिना उद्देश्यों के समझे बूझे व्रतादि धारण करना अंधे की दौड के समान व्यर्थ अथवा अल्प (निरतिशय) पुन्य बन्ध का कारण होता है ज्ञान के बिना अज्ञानी जीव सैकड़ों जन्मों में दुस्सह कायक्लेश तप करके जितने कर्मों का क्षय करते है। उतने कर्मों को ज्ञानी जीव एक क्षण मात्र में नाश कर देते हैं। देखो ! यद्यपि अज्ञानी जीव कायक्लेश तप करके नव ग्रैवेयक पर्यन्त (१६ स्वर्गों) के ऊपर नव ग्रैवेयक विमान हैं यहा तक मिथ्या दृष्टि जा सकता है। आगे नही जाते हैं परन्तु आत्मा के स्वभाव विभाव के ज्ञान श्रद्धान (दृढ़ निश्चय) बिना कर्तव्या-कर्तव्य की यथार्थ प्रवृत्ति न होने से निजात्मीक सुख अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते। अतएव निर्दोष भगवान के द्वारा उपदेशित पवित्र अहिंसामयी जिन

धर्म का आश्रय ग्रहण कर जो धर्म दुखो का नाश कर सुखो का देने वाला है। देखो! जो अष्टादश दोषों से रहित और चराचर के देखने वाले (सर्वज्ञ) है वे देव कहाते हैं। ऐसे निर्दोष देव द्वारा निरुपण किए हुए मोक्षमार्ग ही धर्म कहलाते है। धर्म का सामान्य लक्षण ये है कि—जो "ससार दु खत सत्वान्यो धरत्युत्तमे "सुखे"– ससार के दु खों से छुटकारा पाकर जीवो को उत्तम सुख मे पहुँचा दे वही धर्म है। जो परिग्रह रहित, वीतरागी, तपस्वी मोक्ष साधन मे तत्पर हो और ससार के दु ख से दु खी जीवो को आत्महित के मार्ग पर लगाने में कटिवद्ध हो। वे ही सच्चे गुरु है। इन तीनो पर अचल दृढ विश्वास करने को सम्यग्दर्शन कहते है। ये सम्यग्दर्शन मोक्ष महल पर पहुंचने की प्रथम सीढी है। इनके विना ज्ञान और चारित्र अक के बिना शून्यवत् निष्फल है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही चारित्र का धारण करना कार्यकारी हो अन्यथा व्रतादि धारण करने का प्रयास करना धान्यतुष खडनवत् व्यर्थ है। अतएव उन पुरुषो को जो सुख प्राप्त होने की इच्छा रखते है उन्हे मिथ्यात्व को छोडकर सम्यक्त्व चारित्र धारण करना चाहिए। विश्वास है कि तुम भी अपने हित के लिए इसे ग्रहण करने का यत्न करोगे। इतना कहकर भगवान ने कहा कि—

"मै तुम वचन कहे हितकार। तू अपने उर देख विचार।
भलो लगै सोई कर मित्त। वृथा मलीन करे मत चित्त ॥१॥"

इतना कहकर भगवान वहा से चल दिए और निज राजसभा मे आ विराजे। उधर वह सर्प युगल जो खड-खड हो गये थे वे अभी कुछ जीवित थे। उनकी होनहार अच्छी थी या काललब्धि आ गई थी। यही कारण था कि उन्होने तापसी के प्रति दिया हुआ भगवान का सदुपदेश सुन उसके वचनो पर विश्वास कर मिथ्यात्व के परित्यागपूर्वक जिन धर्म के ध्यान करने मे जी लगाया और इन्ही शुद्ध परिणामो के साथ दोनो ने प्राण विसर्जन कर दिए जिसके प्रभाव से सर्प युगल धरणेन्द्र, पद्मावती हुए। कालान्तर में वह तापसी भी आयु के अन्त मरण कर अज्ञान तप के प्रभाव से सबर नामक ज्योतिषी देव हुआ।

चौपाई— देखो जगत में तप प्रभाव। ज्ञान बिना बाधी सुरआव।
जे नर करे जैन तप सार। तिन्हे कहा दुर्लभ ससार ॥१॥

अथानन्तर श्री पार्श्वनाथ भगवान रोग, शोक, चिता, भय आदि दोषों से रहित राज्य विभूति जनित सुखो को अनुभव करते हुए आनन्द उत्सव के साथ दिन व्यतीत करने लगे। भगवान जब तीस वर्ष के हुए कि इसी अवसर मे एक दिन अयोध्यापति महाराजा जयसेन ने भगवान की अनन्य भक्ति और प्रेम से बाधित होकर उसकी सेवा में उत्तम-उत्तम बहुमूल्य वस्तुएं भट देने के लिए देकर अपने एक दूत को वनारस नगरी में भेजा। दूत बनारस में पहुंचकर द्वारपाल की आज्ञा ले राजसभा मे गया जहाँ भगवान पार्श्वनाथ सुवर्ण-

कमठ के सर्प पर्यायी जीव को जाति स्मर्ण
बज्रघोष हाथी पर्यायी जीव हाथी को डस लिया

मय सिंहासन पर अधिष्ठित थे। भगवान के देखते ही दूत के रोमाच हो आए उसने सानन्द भक्ति पूर्वक उनके चरणारविंदों को बारम्बार नमस्कार किया। पश्चात् अपने स्वामी द्वारा भेजीहुई वस्तुओ को भगवान की भेट करके कहा-पूज्यवाद। मेरे स्वामी अयोध्यापति महाराज जयसेन ने आपकी भक्ति और प्रेम से बाधित होकर आपकी पवित्र सेवा में अपने अनेकानेक विनयप्रणाम के अनन्तर ये उत्तमोत्तम वस्तुएँ भेट के लिए देकर मुझ भेजा है आप इन्हें स्वीकार कर योग्य सेवा से उनके हृदय को पावन कीजिए। भगवान जयसेन की सेवा से बहुत सतुष्ट हुए। कुशल प्रश्न के अनन्तर दूत से पूछा—अच्छा ये बताओ कि अयोध्या कैसी सपतिशाली और सुन्दर नगरी है ? तब दूत विनीत भाव पूर्वक बोला—'महाराज ! अयोध्या कौशल देश के अन्तर्गत नाना प्रकार की सर्वश्रेष्ठ सपदाओ से परिपूर्ण बडे-बड़े ऊँचे विशाल मनोहर गृहो तथा जिन मदिरो से सुशोभित ऐसी सुरम्य जान पडती है कि मानो निराधार स्वर्ग का एक खड टूट कर गिर गया हो। जहा उपवनों और सरोवरों की अनुपम सुन्दरता को देखकर देवों का मन मुग्ध होता है। इनके अतिरिक्त विशेषता यह है कि इसमें अनेक तीर्थकरों का जन्म हुआ है और अनेकानेक मुनि केवल ज्ञान प्राप्त कर परम धाम मोक्ष पधारे है। इसलिए यह महान पवित्र है जिसके दर्शन स्मरण करने से पापो का क्षय होता है।' इस प्रकार दूत के मुख से भगवान ने जब तीर्थकरो के जन्म और मुनिराज के मोक्ष पधारने का वृतान्त सुना, तब ही उन्हे वैराग्य हो आया। वे विचारने लगे कि—'धन्य है कि वे जीव जो इस मोह जाल को तोड़कर आत्महित की साधक जैनेन्द्री दीक्षा के द्वारा अविनश्वर मोक्ष महल के भोक्ता हुए है। मैने भी अद्यावधिससार की लीला से परिचित होते हुए जनसाधारणवत शरीर इन्द्रियो को खूब सतुष्ट किया और कभी अपने हित की ओर ध्यान नही दिया। पर खैर जो हुआ सो हुआ। अब भी मुझे अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए बहुत समय है जिस प्रकार मैने विषय सुख भोगा उसी प्रकार अब कठिन से कठिन तपश्चरण कर इनको विषयो की ओर से हटाकर उन्हे आत्मशक्ति के बढाने में सहायक बनाऊँ। यदि इनकी अब भी उपेक्षा न की गई तो नियम करके ससार भ्रमण करना पडेगा। अतएव अब इन विषयो के जाल से अपने आत्मा को छुटाकर अविनासी सुख के देने वाली जिन दीक्षा ग्रहण कर पचाचार आदि मुनिव्रतो का नरतिचार पालन करूँ।' इस प्रकार सासारिक विषय कषायो से विरक्त होकर भगवान वैराग्योत्पादक बाहर भावना का चितवन करने लगे। तत्समय ही पचम स्वर्ग के अन्त मे रहने वाले लोकान्तिक देवों ने आकर भगवान के वैराग्य की प्रशशाकर अपना नियोग पूरा किया। तदन्तर स्वर्गों के देवो ने आकर भगवान को क्षीरोदधि के जल से भरे हुए सुवर्णमय कलशो से स्नान कराया और चन्दनादि उत्तम सुगधित वस्तुओं का शरीर में विलेपन कर अनेक प्रकार के दिव्य वस्त्राभूषणो से विभूषित किया। तदनन्तर देवो द्वारा लाई हुई विमला नामक पालकी मे भगवान को आरूढ कर पहले तो सात पैड भूमि गोचरी लेकर चले। पश्चात सात ही पैड विद्याधर तदनतर इन्द्रादिक देव-

लेकर उन्हे काशी के अश्वनामक वन में ले गए। भगवान ने वहाँ वटवृक्ष के नीचे सब वस्त्रा-भूषणों का परित्याग कर अपने मस्तक के केशो का लोच किया। उन केशो को ले जाकर इन्द्र ने क्षीर समुद्र में जा क्षेपण किया। पश्चात भगवान के बाह्याभ्यतर परिग्रह का त्याग कर सिद्ध भगवान को नमस्कार करके आत्म हित की साधक पावन जिन दीक्षा स्वीकार की। उनके साथ और भी ६०६ मुकुट बद्ध राजाओ ने जिन दीक्षा को स्वीकार किया। उस दिन पौष कृष्ण ११ और प्रातःकाल का समय था। दीक्षा लेने से तीन दिवस पर्यन्त भगवान ध्यानारूढ रहे। पश्चात् काश्यकृत पुर मे ब्रह्मदत्त राजा के यहाँ निर्दोष निरतराय प्राशुक आहार किया। अनन्तर वन में जाकर पचाचार आदि मुनिव्रतो का निरतिचार पालन करते हुए कठिन से कठिन तपश्चरण करने लगे। न उन्हे शीत की बाधा होती थी और न आतप की। और न क्षुधा तृषा की ही। यदि किंचित होती भी तो वे उसकी कुछ उपेक्षा न रखकर सदा आत्मध्यान में लीन रहते। इस प्रकार शीतोष्मादि जनित बाधा को सहते हुए भगवान योग निरोध कर चार मास पर्यन्त धर्म ध्यान में लीन रहे। एक दिन की बात है कि वे निज तपोवन (जहाँ दीक्षा ली थी उसी वन) मे खड़े हुए ध्यान कर रहे थे कि उसी समय वह कमठ का जीव जो भगवान का नाना होकर आयु के अत में गत प्राण हो सबर नामक ज्योतिषी देव हुआ था, आकाशमार्ग से उधर होकर निकला पर भगवान के प्रभाव से विमान अटक गया अर्थात भगवान के प्रभाव से उनको उल्लंघन कर आगे न जा सका और उन्ही के ऊपर छत्र-वत स्थिर हो गया। अकस्मात बिना कारण विमान को रुका देखकर उसने अवधिज्ञान के बल से जान लिया कि यह वही मेरे पूर्वजन्म का अपमान करने वाला शत्रु है जिसने पचाग्नि तप तपते हुए विनय प्रणाम करने के प्रतिकूल मेरे तप को अज्ञान तप कह कर निन्दा की थी और अब भी मेरे विमान के चलने मे ये ही प्रतिबधक है। यह समझकर उन पर नाना प्रकार के उपद्रव करने आरभ कर दिए। उससे जहाँ तक बन सका उसने उन्हें खूब कष्ट पहुँचाया। अपनी विक्रिया शक्ति से अमावस्या की अर्द्ध रात्रि के समान घोर अधकार करके मूसलोपम-धारा से मेघ वर्षा की। बादलो की गरज और विद्युत की तड़क से भयकर शब्द होने लगे। प्रचड वेग से झंझावात (बरसाती शीतल पवन) चलने लगी। असीम वर्षा के जल से समस्त बन समुद्रवत् जलमय मालूम होने लगा। परन्तु भगवान पार्श्वनाथ उन उपद्रवो से रचमात्र भी विचलित नही हुए। वे जिस प्रकार ध्यान में स्थित थे उसी प्रकार से अजन गिरि के समान स्थित रहे। यह ठीक ही है—यदि प्रचड प्रकाल के लय समान वायु भी क्यो न चले पर क्या वह मेरु पर्वत को चलायमान कर सकती है, कदापि नही। इसके अतिरिक्त उसने और भी अनेक प्रकार के उपद्रव किए। यथा :—

छप्पय— किलकलत वैताल काल कज्जल छविच्छज्जहि।
भौ कराल विकराल भाल मद गल जिमगज्जहि।

मुंड माल गल धरे लाल लोचन निडरहिं जन।
मुख फुलिग फुंकरहिं करहिं निरदय धुनि हन हन।
इस विधि अनेक दुरभेष धर कमठ जीव उपसर्ग किय।
तिहुँ लोक बद जिन चन्द्र प्रतिधूल डाल निज शीश लिय ।।१।

दोहा— इत्यादिक उत्पात सब। वृथा भए अति घोर।
जैसे मानक दीपको। लगैन पवनहु कोर ।।२।।

उनके तप के प्रभाव से जिन भक्त धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ। अवधिबल से भगवान पर उपसर्ग हुआ जान वह तत्काल पद्मावती सहित वहाँ आए, जहा भगवान ध्यानारुढ स्थित थे। धरणेन्द्र ने आकाश से भीषण मेघ वर्षा आते हुए देख भगवान के ऊपर अपना फण मडप छत्रवत् छा लिया जिससे वर्षा कृत बाधा दूर हुई। पद्मावती पूर्वजन्म कृत उपकार का स्मरण कर सभक्ति प्रदक्षिणा दे उनके चरणारविदो को बारम्बार नमस्कार करने लगी। नागराज को आया हुआ जान वह ज्योतिषी देव अपनी माया का सकोच कर व्यग्र चित्त हो भय के मारे तत्काल वहाँ से भाग गया। सच है—बलवान के सामने से भाग जाने मे ही कुशलाता है। अब सब उपद्रव शान्त हो गए। भगवान पार्श्वनाथ ने शुक्ल ध्यान के बल से बारहवे गुण स्थान मे पहुच दूसरे शुक्ल ध्यान के प्रभाव से घातिया कर्मो का अभाव कर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया। भगवान को केवल ज्ञान हुआ जान तत्क्षण इन्द्र ने आकर बारह सभाओ से सुशोभित सवा योजन प्रमाण समवशरण रचा। भगवान द्वादश सभाओ के मध्य चतुरागुल अ तरीक्ष सुवर्णमय सिंहासन पर बिराजे। देवगण उनके ऊपर चमर ढोलने लगे। भगवान के दश गणधर हुए। उन्हे केवलज्ञान प्राप्त किया सुनकर विद्याधर, चक्रवर्ती, राजे, महाराजे, स्वर्ग के देव आदि बड़े-बडे महापुरुष तथा सर्वसाधारण जनसमूह उनके दर्शन-पूजन को आने लगे। भगवान का सभक्ति पूजन-स्तवन कर पश्चात् स्वयभू आदि ग्यारह महर्षियो को नमस्कार कर अपने-अपने स्थान पर बैठ गए। प्रगट रहे कि समवशरण में निरन्तराय आना जाना लगा रहता है। कोई आता है कोई जाता है, कोई धर्मोपदेश श्रवण करता है। भगवान के समवशरण में यह अतिशय है कि समवशरण में रात्रि दिन का भेद ज्ञात नही होता अर्थात् निरन्तर कल्पवृक्षो और भामंडल के प्रभाव से कोटि सूर्य से भी अधिक प्रकाश रहता है। सूर्य का तेज प्रकाश तो सतापकारक होता है परन्तु वह प्रकाश सतापहर्ता है और वहाँ चाहे कितने ही देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आ जावे परन्तु समवशरण में सब समा जाते है। स्थान सकीर्णता कभी नही होती और समवशरण में स्थित प्राणियों को मोह, भय, द्वेष विषयों की अभिलाषा रति विजिगमिषा (दूसरे को नीचा दिखाने की इच्छा) निद्रा, तद्रा (आलस्य) छीक, जम्हाई, रोग, शोक चिंता क्षुधा तृषा आदि कोई भी अकल्याण व विघ्नकारक कारण उपस्थित नही होते हैं। परस्पर

जाति विरोधी जीव भी एक स्थान मे बैठे निश्शंक हो धर्मोपदेश श्रवण करते हैं और भगवान के धर्मोपदेश रूपी अमृत वर्षा के प्यासे युगल कर जोड़े उनके मुख की ओर देखते हुए समय की प्रतीक्षा करने लगे जिस प्रकार मेघो को देखकर चातक वर्षा होने की प्रतीक्षा करता है। तब गणधरो में तिलकसम श्री स्वयंभूगणधर ने सानन्द भक्ति पूर्वक नमस्कार करके भगवान से निवेदन किया 'प्रभो! यह जीव अनादिकाल से जडकर्म के वशीभूत हो अपने-अपने स्वाभाविक भावो को भूलकर चतुर्गति सम्बन्धी घोर दुखो से व्याकुल चित्त इस अपार ससार रूप कानन में सिह से भयभीत मृगी की नाई इतस्तत परिभ्रमण करता फिरता है। सो यह जीव इस ससार मे क्यो दुख भोग रहा है और इस दुख से छूटने का उपाय क्या है? इस बात को आपके श्री मुख से मेरी और उपस्थित मडल के सुनने की बहुत उत्कठा है। कृपा कर कहिए।' तब भगवान गणधर महाराज के प्रश्न के उत्तर में अपनी मेघ के समान निरक्षरी दिव्य ध्वनि द्वारा कहने लगे, मुनेश! ससार के दुःखो का कारण और उससे छूटने का उपाय जो तुमने पूछा सो बहुत अच्छा किया। अब इसी विषय को कहता हूँ समस्त ससारी जीवो को जन्म मरण की परिपाटी का कारण ससार, ससार के कारणो, मोक्ष, मोक्ष के कारणो को न जानकर पचेद्रिय जनित विषय सुखो मे लोलुपता और क्रोध-मान-माया लोभ रूप कषाय व मोह के वशीभूत हो ग्रहीत, अग्रहीत मिथ्यात्व रूप प्रवृत्ति है इसीलिए ये दोष न्यूनाधिक्यता से सभी ससारी जीवो म पाए जाते हैं और इन्ही के वश व नाना प्रकार की शुभाशुभ क्रियाए करते हुए उनके उदयकाल मे तज्जनित सुख दुखो का अनुभव करते हुए विकराल अपार ससार सागर में भ्रमण करते रहते हैं। यद्यपि ससार मे समस्त प्राणी सदाकाल ये चाहते रहते है कि हमको अविनश्वर शाश्वत सुख प्राप्त हो तथा उसके प्राप्त करने के लिए उपाय भी करते रहते हैं परन्तु सच्चे सुख दुख के स्वरूप को भली भाति जानकर दुख के मूल कारण कषाय का अभाव नही करते। अतएव सच्चे निराकुलित सुख से वचित रहकर ससार सागर मे ही भ्रमते रहते है। जिन जीवो के मोहादिकर्मों का तीव्र उदय रहता है वे तो सदा विषमविष समान विषय भोगो मे ही तल्लीनता के कारण आत्मकल्याण से सर्वथा विमुख रहते हैं। उनकी आत्महित की ओर स्वप्न मे भी रुचि नही होती। जिनके कदाचित दैवयोग से मोहादि कर्मों का मद उदय हो जाता है तब उन्हे कुछ आत्म कल्याण की ओर प्रवृत्ति होती है। इतना होने पर भी बहुत से भोले जीव ससार में प्रचलित अनेक मिथ्यामार्गो में फसकर अपने अभीष्ठ फल को प्राप्त नही होते। अतएव मुमुक्षु जनो को उचित है कि प्रथम वीतराग निर्दोष आप्तोपदिष्ट वीतरागता एव विज्ञानता के प्ररुपक शास्त्रो द्वारा तथा तदनुसार प्रवर्तने वाले गुरुओ द्वारा मोक्षमार्ग सम्बन्धी तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करे। ससार, ससार के कारण तथा मोक्ष, मोक्ष के कारणो का यथार्थस्वरूप जान श्रद्धान करके तदनुसार दुरभिनिवेश (सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) रहित जाने और तदनुसार ही कर्मजनित विभावके दूर करने और निज स्वभाव के प्रगट करने के लिए

प्रवृति करे (इसी को रत्नत्रय कहते है।) जब यथार्थ प्रवृति होगी तो परभावराग द्वेषादि का प्रादुर्भाव ही न होगा। जब राग द्वेषादि विकृत परिणाम ही न होगे तब कारण का अभाव होने से पुन: बध कैसा क्योंकि बध तो आत्मा के निज भावो से च्युत होकर राग द्वेषादि स्वभावरूप परिणमन से ही होता है। जब बध के कारण विकृत परिणमन का अभाव हो गया तो पुन: कदापि बध नही होगा। जिस प्रकार जब धान पर से छिलका उतार लिया जाता है तो वह चावल के अनेक प्रयत्न करने पर भी नही आ सकता, उसी प्रकार जीव के भी अनादिकाल से बीज वृक्षवत् विकृत भावो से कर्म बध और कर्म के उदय से विकृत भाव होते चले आए है परन्तु जब छिलका रूपी विकृत भाव आत्मा से पृथक हो जाता है तो फिर चावल रूपी शुद्ध जीव के अ कुरोत्पत्ति रूपी कर्म बध नही होता। इसी रत्नत्रय रूपी अद्भुत रसायन के बल से अनेकानेक भव्यात्मा निर्बन्ध अवस्थाको प्राप्त होकर वचनातीत अक्षयानत स्वाधीन सुख के भोक्ता हुए है, हो रहे है और होगे। यह रत्नत्रय धर्म दो प्रकार है—एक तो निश्चय रूप जो कि ठीक—यथार्थ रूप है। दूसरा व्यवहार रूप—जो निश्चयरूप के प्राप्त होने का कारण है। दूसरे द्रव्यों से आत्मा को पृथक जानकर उसमे रुचि (विश्वास) रखना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। निजात्मस्वरूप को विशेष रूप से जानना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है। निजात्म स्वरूप मे विकल्प रहित तन्मय हो जाना हो सम्यक (निश्चय) चारित्र है। अब इस निश्चय मोक्ष पद के प्राप्त होने का कारण मोक्ष व्यवहार मार्ग कहते है। जीव—अजीव—आस्रव—बध—सवर—निर्जरा और मोक्ष—इन सात तत्वो का जो यथार्थ स्वरूप है उसका उसी रूप श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसको २५ दोष रहित और आठ गुण सहित धारण करना चाहिए। जीवादि पदार्थों के स्वरूप को सशय विपर्यय और अनध्यवसाय रहित यथातथ्य (जैसा का तैसा) जानना सो सम्यग्ज्ञान है। तीसरा रत्न चारित्र सकल अर्थात् महाव्रतरूप साधुधर्म और विकल अर्थात् अणुव्रत रूप ग्रहस्थ धर्म ऐसे दो प्रकार का है। मुनि धर्म तो उन लोगो के लिए है कि जिनकी आत्मा पूर्ण बलिष्ठ और सहनशील है और गृहस्थ धर्म उसके प्राप्त करने की नसैनी है। जिस प्रकार एकदम सो पचास सीढिया नही चढी जा सकती उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति मे इतनी शक्ति नही होती कि एकदम मुनिधर्म ग्रहण कर सके। उसके अभ्यास से क्रमश: बढते हुए उनमे मुनिधर्म के धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाए अतएव उन्हे प्रथम गृहस्थ धर्म धारण करना चाहिए। मुनि का धर्म (चारित्र)। पच महाव्रत ५। पचसमिति ५। और तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार का है और ग्रहस्थ धर्म पाच अणुव्रत ५। तीन गुणव्रत ३। और चार शिक्षाव्रत ४। रूप बारह प्रकार का है। मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म मे सबसे बड़ा भेद यह है कि मुनिधर्म तो साक्षात मोक्ष का कारण है और गृहस्थ धर्म परपरा से। परन्तु ये भी नियम नही है कि समस्त मुनि उसी भव से मोक्ष चले जाते हैं। ये सब भावों पर निर्भर है। ज्यो-ज्यो राग द्वेषादिक प्रभावो की मदता होती जाएगी, त्यों-त्यो अपने स्वभाव की प्राप्ति होकर अन्तिम साध्य मोक्ष के निकट

पहुँचता जाएगा, परन्तु यह भी पूर्णध्यान में रखना चाहिए कि मोक्ष लाभ होगा मुनि धर्म से ही गृहस्थ धर्म से नहीं। इसके अतिरिक्त गणधर देव ने भगवान से तार्थंकर, बलदेव, चक्रवर्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव होने की बात पूछी अर्थात् ये उच्च पद कैसे प्राप्त हो सकते हैं और ऐसे कौन से कर्म हैं कि जिनके द्वारा आत्मा को गहन ससार बन में दुर्गतियों के दुख सहने पड़ते है। भगवान ने सब प्रश्नो का यथोचित सविस्तार वृतॉत कह सुनाया। इस प्रकार भगवान का सदुपदेश सुनकर कितने ही भव्यो ने महाव्रत ग्रहण किए। बहुतों ने अणुव्रत धारण किए। कितनो ने केवल सम्यक्त्व स्वीकार किया और कितनो ने भगवान के पूजन करने की ही प्रतिज्ञा की। कमठ के जीव ज्योतिषी देव ने भी भगवान के धर्मोपदेशामृत का पान कर मिथ्यात्व के परित्यागपूर्वक सम्यक्त्व स्वीकार किया। और भी वहाँ निकटस्थ पचाग्नि तप तपने वाले सात सौ तापसियो ने भगवान के अतिशय से समवशरण में आ मिथ्यात्व तज सम्यक्त्व ग्रहण किया। इस प्रकार अनेक जीवो का उद्धार कर भगवान दूसरे देशों मे विहार कर गए। भगवान के समवशरण मे स्वयभू प्रमुख दशगणधर। चौदह पूर्व के पाठी ३५०। आचाराग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि १०९००। अवधिज्ञानी मुनि १४००। केवलज्ञानी १०००। विक्रिया ऋद्धिधारी मुनि १०००। मन.पर्ययज्ञानी मुनि ५०। वाद विजयी मुनि ६००। इस प्रकार समस्त १६००० मुनि हुए। और छत्तीस हजार अर्जिका, एक लाख श्रावक और पुष्य चूड़ा प्रमुख तीन लाख श्राविकाएँ हुई और असख्यात देव देवागना तथा सख्यात पशु सम्यक्ती हुए। इस प्रकार द्वादश सभा सहित विहार करते भगवान सम्मेद शिखर पर आए। वहाँ एक महीने का योग निरोधकर अयोग गुणस्थान को प्राप्त हो श्रावण शुक्ल ७ की रात्रि के समय कायोत्सर्गासन द्वारा सम्मेद शिखर सुवर्णभद्र कूट से परमधाम मोक्ष पधारे। इनके मुक्ति गमन समय और भी ६२०० मुनि साथ मोक्ष गए। समवशरण से समस्त पाँच सौ छत्तीस मुनि मोक्ष गए।

।। इति श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरस्य विवरणम् ।।

अथ सम्मेद शिखर वर्णन

श्री सम्मेद शिखर पर्वत पर सबसे ऊँची टोक पूर्व दिशा मे श्री चन्द्रप्रभु भगवान की है और पश्चिम दिशा में सबसे ऊँची टोंक श्री पार्श्वनाथ की है। इस पर्वत से बीस तीर्थंकर और असख्यात केवली परमधाम मोक्ष सिधारे हैं। इस पर्वत पर चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस ही टोक है। यद्यपि आदि धर्मोपदेशक श्री आदिनाथ भगवान का निर्वाण क्षेत्र कैलाश पर्वत, श्री वासुपूज्य भगवान का चंपापुरी वन अन्तर्गत चपातालतट, मदनविजयी श्री नेमनाथ भगवान का गिरनार पर्वत, अन्तिम तीर्थंकर सिद्धार्थ नन्दन अर्थात महावीर स्वामी का पावापुर वन अन्तर्गत पद्म सरोवर तट निर्वाण क्षेत्र है और अवशेष बीस तीर्थंकरों

सम्मेदाचल निर्वाण मधुवन पर्वत

जल मंदिर

पार्श्व-नाथ

गौतम स्वामी

शीतल झरना
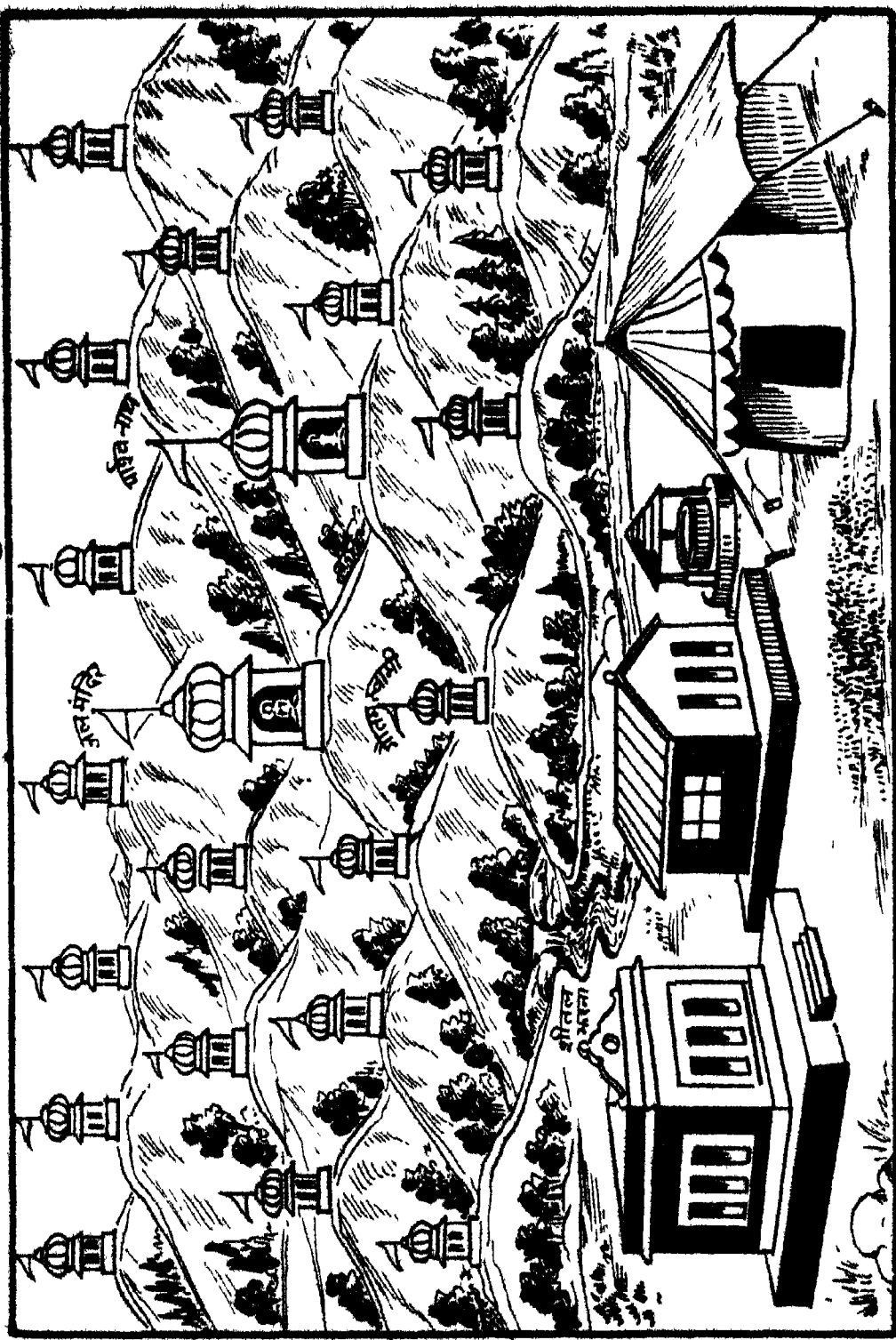
का निर्वाण क्षेत्र सम्मेद शिखर है परन्तु यहां से तीर्थंकर मोक्ष होने पर चौबीस तीर्थंकरों की चौबीस टोंक होने का कारण यह है कि—इस भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नाम के दो काल चन्द्रमा की उन्नति, अवनति के कारण एक मास में दो शुक्ल कृष्ण पक्षवत् प्रवर्तते रहते हैं जिनमें निरन्तर जीवों के शरीर की ऊँचाई और आयु मे न्यूनाधिकता हुआ करती है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की स्थिति पृथक्-पृथक् दस कोड़ाकोड़ी सागर की होती है और दोनो की स्थिति के काल को अर्थात् बीस कोड़ाकोड़ी सागर के समय को एक कल्प काल कहते है अत: जितने अनन्तानन्त कल्पकाल व्यतीत हो चुके हैं उनमे सिवाय इस अवसर्पिणी काल के जो प्रवर्तमान हो रहा है प्रत्येक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल के चौबीसो तीर्थकर इसी पर्वत से मोक्ष गए है। दूसरे प्रलय काल के पश्चात और पर्वतो का यह नियम नही कि जहा पहले था वही बने परन्तु श्री सम्मेद शिखर प्रलय काल के पश्चात् यहीं बनता है और चौबीसो तीर्थकर यहीं से मोक्ष जाते है। इस कारण बीस तीर्थकरों के निर्वाण क्षेत्र वत् उक्त अन्य स्थानों से मोक्ष जाने वाले तीर्थकरो की चार टोक सर्वथा पूज्य और वदनीय है। इस सम्मेद शिखर के सिद्धवर कूट से श्री अजितनाथ, धवलकूट से श्री संभवनाथ आनन्द कूट से अभिनन्दन, अविचल कूट से श्री सुमतिनाथ, मोहन कूट से श्री पद्मप्रभु, प्रभासकूट से श्री सुपार्श्वनाथ, ललितकूट से श्री चन्दप्रभु, सुप्रभकूट से श्री पुष्पदन्त द्युतवर कूट से श्री शीतलनाथ, सकल्प कूट से श्री श्रेयाँसनाथ, शालकूट से श्री विमलनाथ, स्वयभू कूट से श्री अनन्तनाथ, सुदत्तवरकूट से श्री धर्मनाथ, शान्तिप्रद कूट से श्री शातिनाथ, ज्ञानधर कूट से श्री कुथनाथ, नाटककूट से श्री अरहनाथ, शाँकूल कूट से श्री मल्लिनाथ निर्जरा कूट से श्री मुनिसुव्रतनाथ मित्रधर कूट से श्री नमिनाथ और सुवर्णभद्रकूट से श्री पार्श्वनाथ भगवान मोक्ष गए हैं।

। इति सम्मेद शिखर वर्णनम्।

अथ श्री महावीर तीर्थकरस्य विवरण प्रारम्भ —

श्री पार्श्वनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर दो सौ पचास वर्ष व्यतीत होने पर अच्युत नामक सोलहवे स्वर्ग से चयकर भारत वर्ष के सुप्रसिद्ध, मनोहर और विशाल कुडल पुर (यह स्थान मगध देश में पावापुर के समीप कुडलपुर के नाम से प्रसिद्ध है) के अधिपति राजा सिद्धार्थ की प्रियकारिणी (त्रिशला) रानी के गर्भ से अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान ने अवतार लिया। इनका वश—इक्ष्वाकु। गर्भ तिथि—आषाढ शुक्ल ६। जन्मतिथि—चैत्र शुक्ल १३। जन्म नक्षत्र—उत्तरा फाल्गुनि। शरीर का वर्ण—सुवर्णसम। चिह्न—सिह। शरीर प्रमाण—सात हाथ। आयु प्रमाण—बहत्तरवर्ष। समकालीन प्रधान राजा श्रेणिकराय। इन्होंने भी श्रीपार्श्वनाथ भगवान की तरह तीस वर्ष की आयु में कुमारावस्था में ही जातिस्मरण का कारण पाकर ससार से उदासीन हो मार्गशीर्ष कृष्णादशमी को अपराह्न

काल के समय तीन सौ मुकुट बद्ध राजाओं के साथ जिन दीक्षा ले ली। भगवान के गमन समय को पालकी का नाम--चद्रप्रभा। कुडलपुर के मनोहर वन में शालि वृक्ष के नीचे बाह्याभ्यतर परिग्रह का त्याग कर जिन दीक्षा ले ली। दीक्षित हो एक बेला करने के पश्चात कुडलपुर में नकुलराय के यहा प्रथम पारणा किया। तदनतर बारह वर्ष घोर तपस्या करके के जुकूटा नाम की नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दशमी (१०वीं) को अपराह्नकाल घातिचतुष्टय का अभाव करके केवलज्ञान लक्ष्मी प्राप्त करली, उनके केवल ज्ञान रूप दिवाकर के। उदय होने पर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने बारह कोठो से सुशोभित एक योजन प्रमाण समवशरण (समोशरण) नामक सभा की रचना की, भगवान द्वादश सभाओं के मध्य रत्नजडित सुवर्णमय सिहासन पर चतुरागुल अधर विराजे, उस महासभा मे देव, मनुष्य, मुनि, तिर्यच आदि सबका समूह एकत्रित था, तब भी त्रिजगत गुरु वर्द्धमान भगवान की दिव्यध्वनि ६६ दिन तक निसृत नही हुई। यह देखकर जब इन्द्र ने विचार किया, तो उसे विदित हुआ कि गणधर देव का अभाव ही दिव्यध्वनि न होने का कारण है अतएव गणधर देव की शोध के लिए वह इन्द्र गौतम ग्राम को गया, वहाँ एक ब्राह्मणशाला में इन्द्रभूति नाम का पडित अपने पाच सौ शिष्यों के सन्मुख व्याख्यान दे रहा था। इन्द्रभूति अखिल वेदाग शास्त्रो का विद्वान था और विद्या के मद मे चूर हो रहा था। इन्द्र छात्र का वेष धारण करके उस पाठशाला में एक ओर जाकर खडे हो गये और उसके व्याख्यान को सुनने लगे। इन्द्रभूति ने थोडी देर में विराम लेते हुए जब कहा कि "क्यो तुम्हारी समझ में आया' और छात्रवृन्द जब कहने लगे कि "हाँ आया", तब इन्द्र ने नाशिका का अग्रभाग सिकोडकर इस प्रकार से अरुचि प्रकट की कि वह छात्रो की दृष्टि मे आ गई, उन्होने तत्काल ही उस भाव को गुरु महाराज से निवेदन किया। इन्द्रभूति ब्राह्मण इस अपूर्व छात्र से बोला कि 'समस्त शास्त्रो का मै हथेली पर रखे हुए आवले के समान देखता हूँ और अन्याय वादीगणो का दुष्टमद मेरे सन्मुख आते ही नष्ट हो जाता है फिर कहो किस कारण से मेरा व्याख्यान तुम्हे रुचिकर नही हुआ?" इन्द्र ने उत्तर दिया--"यदि आप सम्पूर्ण शास्त्रो का तत्त्व जानते है तो मेरी इस आर्या का अर्थ लगा दीजिए और यह आर्या उसी समय पढके सुनाई--

आर्या--"षड् द्रव्य नव पदार्थ त्रिकाल, पचास्तिकाय षट्कायान्।
विदुषावर सण्वहि, यो जानाति प्रमाण नयैः॥"

इस अश्रुतपूर्व और अत्यन्त विषम अर्थ वाली आर्या को सुनकर इन्द्रभूति कुछ भी नही कह सका, अर्थात कुछ भी नही समझा। यद्यपि आर्या के शब्दो का अर्थ कुछ कठिन नही है अपितु सरल व सुगम है कि जो षट्द्रव्य नव पदार्थ, तीन काल, पचास्तिकाय और छहकायो को प्रमाण नय पूर्वक जानता है वही पुरुष विद्वानो मे श्रेष्ठ है, परन्तु इसमे जिन पदार्थों की सख्या बतलाई है वह किसी भी दर्शन में नही मानी गई है इसीलिए इन्द्रभूति उसका अभिप्राय
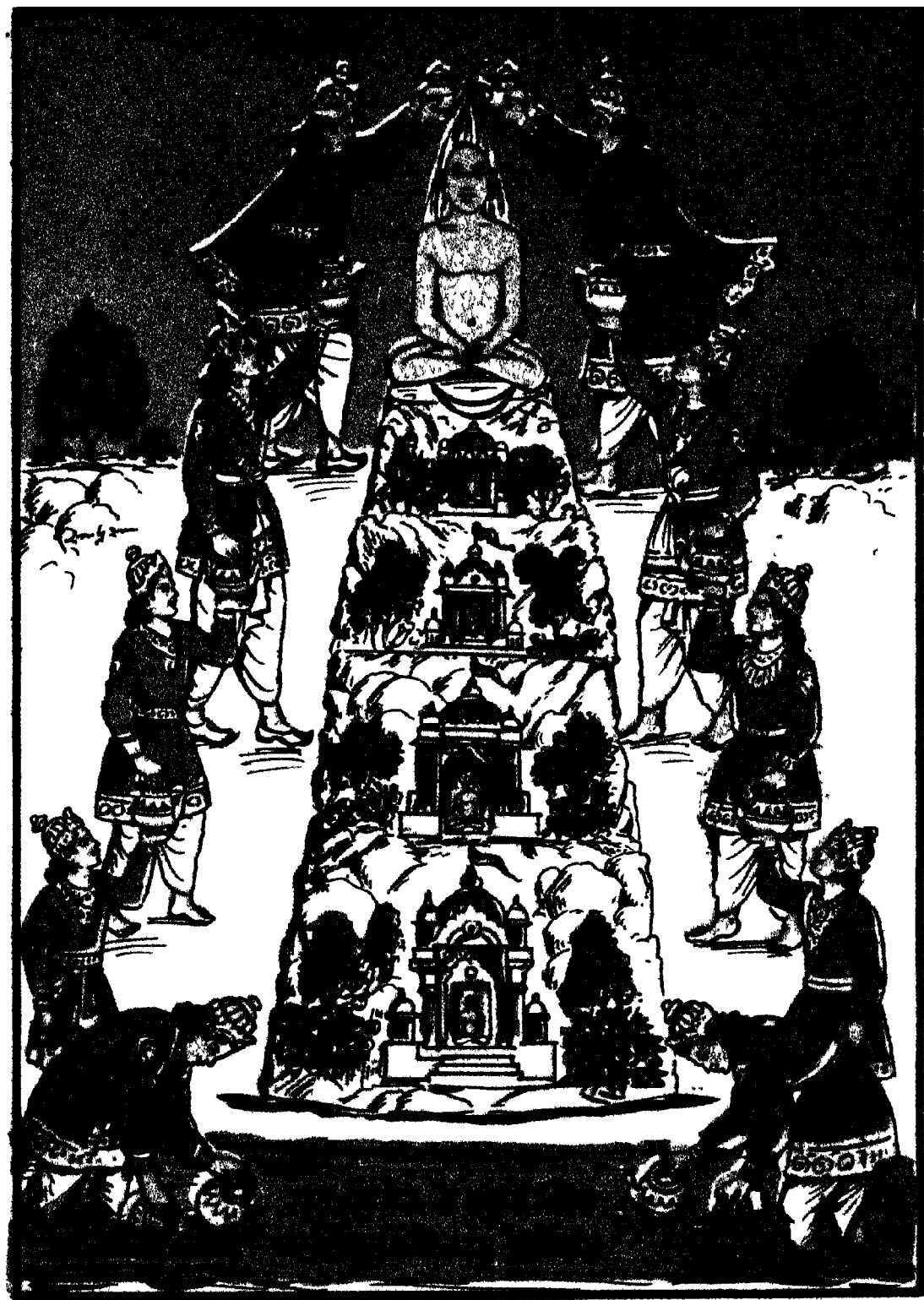
प्रगट न कर सका था। इसीलिए वह बोला "तुम किसके विद्यार्थी हो ?" इन्द्र ने उत्तर दिया—"मै जगद्गुरु श्री वर्द्धमान भट्टारक का छात्र हू।" तब इन्द्रभूति ने कहा "ओह ! क्या तुम उसी सिद्धार्थ नंदन के छात्र हो जो महाइन्द्रजाल विद्या का जानने वाला है और जो लोगों को आकाशमार्ग मे देवो को आते दिखलाता है अच्छा तो मै उसी के साथ शास्त्रार्थ करूगा, तेरे साथ क्या करू । तुम्हारे जैसे छात्रों के साथ विवाद करने से गौरव की हानि होती है। चलो चले उसमे शास्त्रार्थ करने के लिए"—ऐसा कहकर इन्द्रभूति इन्द्र को आगे करके अपने भाई अग्निभूति और वायुभूति के साथ समोशरण की ओर चला। वहाँ पहुचने पर ज्यों ही मानस्तभ के दर्शन हुए त्यो ही उन तीनो का गर्व गलित हो गया, पश्चात् जिनेन्द्र भगवान को देखकर उनके हृदय मे भक्ति का सचार हो गया अतएव उन्होने तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया, स्तुतिपाठ पढा और उसी समय समस्त परिग्रह का त्याग करके जिन दीक्षा ले ली। इन्द्रभूति को तत्काल ही सप्त ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई और अन्त में वे भगवान के चार ज्ञान के धारी प्रथम गणधर हो गए। समोशरण में उन इन्द्रभूति गणधर ने भगवान से 'जीव अस्तिरूप है, अथवा नास्तिरूप है, उसके क्या-क्या लक्षण है, वह कैसा है,'—इत्यादि सात हजार प्रश्न किए। उत्तर मे—जीव अस्तिरूप है, अनादि-निधन है, शुभाशुभ कर्मों का भोक्ता है, प्राप्त हुए शरीर के आकार है, उत्पादव्यय ध्रौव्य लक्षण विशिष्ट है, स्वसवेदन ग्राह्य है, अनादि प्राप्त कर्मों के सबध से नोकर्मरूप पुद्गलो को ग्रहण करता हुआ, छोडता हुआ, भव-भव मे भ्रमण करने वाला और उक्त कर्मों के क्षय होने से मुक्त होने वाला है—इस प्रकार से अनेक भेदो मे जीवादि वस्तुओ का सद्भाव भगवान ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा प्रस्फुटित किया। पश्चात् श्रावण मास की प्रतिपदा को सूर्योदय के समय रौद्र मुहूर्त में जब कि चन्द्रमा अभिजित नक्षत्र पर था, गुरु के तीर्थ की (दिव्य-ध्वनि की अथवा दिव्यध्वनि द्वारा ससार समुद्र मे तिरने के कारण भूत यथार्थ मोक्ष मार्ग के उपदेश) उत्पन्नता हुई। श्रीइन्द्रभूति गणधर ने भगवान की वाणी को तत्वपूर्वक जानकर उसी दिन सायकाल को अग और पूर्वों की रचना युगपत की और फिर उसे अपने सहधर्मी सुधर्मा स्वामी को पढाया। इसके अनन्तर सुधर्माचार्य ने अपने सधर्मी जम्बूस्वामी को और उन्होने अन्य मुनिवरो को वह श्रुत पढाया, अथानन्तर जब भव्य जीव जन्म-जरा-मृत्यु रूप रोग को दूर करने वाले भगवान के धर्मोपदेश रूप अमृत का पान कर परमानद सागर मे निमग्न थे उस समय सुरेश ने खड़े होकर अवधिज्ञान द्वारा भगवान का विहार समय जानकर ये बिनती करी—'हे भगवान् ! हे दया सागर ! आप ससार के पालक हो, प्राणीमात्र के निस्वार्थ बधु हो, दु:खो के नाश करने वाले हो और सब प्रकार सुखो के देने वाले हो अतएव हे जगदीश ! यह विहार समय है सो कृपा करके विहार कर मोहरूपी अधकार से आत्मकल्याण के मार्ग से अज्ञात भव्य जीवों को अपने उपदेश रूपी किरणों से मिथ्यात्व रूपी घोर अधकार को नष्ट कर उनके हृदय में

यथार्थ मोक्ष मार्ग का प्रकाश कीजिए।'—इस प्रकार इन्द्र के द्वारा प्रार्थना करने पर भव्य जीवों के परम प्रकर्ष पुन्योदय से भगवान का अनिच्छक गमन होता हुआ, भगवान जिस मार्ग द्वारा गमन करे उस मार्ग की भूमि को पवनकुमार जाति के देव कटक रहित करते जाते है, और वह एक योजन तक तृण रजादि रहित दर्पणवत् निर्मल हो जाती है। मेघकुमार जाति के देव सुगधित जल के कण मोती के समान बरसाते जाते हैं। पवनकुमार सज्ञक देव मद, सुगधित व शीतल पवन बहाते जाते है, उस मार्ग में भगवान तो समवशरण की ऊँचाई प्रमाण आकाश में गमन करते है और भक्ति से प्रेरित देव उनके चरण कमल के नीचे सुवर्णमयी पन्द्रह-पन्द्रह कमलो की पन्द्रह पंक्ति अर्थात् दो सौ पच्चीस कमलों का समुदाय एक स्थल पर रचते है, उनमे सबसे मध्य के कमल पर चार अंगुल अतर से अतरिक्ष में चरण रखते मनुष्यवत् डग भरते हुए भगवान विहार करते जाते हैं और मुनि, अर्यिका, श्रावक, श्राविकाओ का चार प्रकार का सघ विहार भूमि में होता है, कैसी है वह भूमिकोट—वह सयुक्त वीथी रूप है और देव, विद्याधर, चारण मुनि, सामान्य केवली ये भी आकाश में गमन करते है। भगवान के केवल ज्ञान के अतिशय के प्रभाव से न तो शरीर की छाया पड़ती है औ न नख, केश बढते है और उनका एक मुख होते हुए चारों दिशावर्ती जीवो को चतुर्मुख से दर्शन होते है। भगवान के आगे-आगे सूर्य चन्द्र के प्रकाश को मद करने वाले सहस्त्र और से संयुक्त वलयाकार धर्मचक्र चला जाता है, देव मनुष्यगण जय-जयकार करते चले जाते है,—इत्यादि वैभव से सयुक्त विहार करते भगवान जहाँ जाकर विराजेंगे वहाँ इन्द्र की आज्ञा से प्रथम धनाधिपादिक देव जाकर समोशरण रचना पूर्ववत रचते है तब भगवान विहार कर जाकर विराजते है। इस प्रकार जगत्पूज्य श्री सन्मतिनाथ अनेक निकट भव्यरूपी सस्यो को (धान्य को) धर्मामृतरूपी वर्षा के सिचन से परमानदित करते हुए तीस वर्ष तक अनेक देशो मे विहार करते हुए कमलों के वन से अतिशय शोभायमान पावापुर के उद्यान में पहुचे। भगवान के गण में इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह (११) गणधर वादविजयी मुनि चार सौ (४००), चौदह पूर्व के पाठी तीन सौ, आचारांग सूत्र के पाठी शिष्य मुनि ६६०० अवधिज्ञानी तेरह सौ, केवलज्ञानी ७००, विक्रिया ऋद्धि के धारी ६००, मन: पर्ययज्ञानी पांच सौ (५००) थे।

अथ द्वादश चक्रवर्ती विवरण प्रारम्भ :—

आदि वृषोपदेशक श्री ऋषभ देव के समय मे उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए। उनके शरीर का प्रमाण-५०० धनुष, आयु-चौरासी लाख पूर्व, उसमे कुमारकाल-सत्तर लाख पूर्व, महामंडलेश्वर पदस्थ राज्यकाल-हजार वर्ष पश्चात आयुधशाला में चक्र रतन प्रगट होने के अनन्तर दिग्विजय किया उसका काल-साठ हजार वर्ष, राज्यकाल-एक लाख पूर्व कम छह

लाख पूर्व, संयम काल—अंतर्मुहुर्त्त, पश्चात शुक्ल ध्यान द्वारा घातिचतुष्क का अभावकर लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर किंचित न्यून एक लाख पूर्व पर्यंत केवलज्ञान द्वारा मोहरूप अन्धकार को नष्ट कर अनेक भव्यजनों को आत्म-हित मार्ग पर लगाया और अन्त में अघातिचतुष्क का भी नाश कर परमधाम मोक्ष सिधारे। वे ऋषभदेव के सुत भरतमुनिराज मुझे भी आत्महित मार्ग पर लगावे। द्वितीय सागर नाम के चक्रवर्तिन श्री अजितनाथ भगवान के समय में हुए, इनका शरीर प्रमाण—चार सौ पचास धनुष, आयु प्रमाण-बहत्तर लाख पूर्व था, उसमे पचास हजार लाख पूर्व तक तो वे कुमार और मडलीक रहे। तीस हजार वर्ष पर्यत दिग्विजय किया। उनहत्तर लाख सत्तर हजार-पूर्व, निन्यानवे हजार नौ सौ निन्यानवे-पूर्वाए, तिरासी लाख वर्ष पर्यत राज्य किया और एक लाख पूर्व काल तक संयमी रहे अन्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति कर अनन्त अविनाशी मोक्ष लक्ष्मी के स्वामी हुए। तीसरे मघवान नाम के चक्रवर्ती श्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ भगवान के अन्तराल के अर्थात धर्मनाथ भगवान के निर्वाण होने के अनन्तर और शान्तिनाथ के अवतार से पहले मध्य के समय मे हुए। इनका शरीर प्रमाण ४२½ धनुष, आयु प्रमाण—लाख वर्ष, उसमे कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष, महामंडलेश्वर पद का राज्य काल पच्चीस हजार वर्ष, पश्चात् चक्रलाभ होने के अनन्तर दिग्विजय काल—दस हजार वर्ष, तदनन्तर राज्यकाल—तीन लाख नब्बे हजार वर्ष, सयम काल—पचास हजार वर्ष, पश्चात साम्यभाव से मृत्यु लाभ कर स्वर्ग लोक प्राप्त किया ॥ ३ ॥ चौथे सनत्कुमार नाम के चक्रवर्ति थे, ये भी श्री धर्मनाथ और शान्तिनाथ भगवान के अन्तराल समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण ४१½ धनुष, आयु प्रमाण-तीन लाख वर्ष, उस में कुमार काल—पचास हजार वर्ष, महामडलेश्वर पद पचास हजार वर्ष पश्चात चक्रलाभ होने के अनन्तर दिग्विजय काल—दस हजार वर्ष तदनन्तर राज्यकाल—नब्बे हजार वर्ष, सयम—काल एक लाख वर्ष, तदनतर आयु के अन्त में शाति से मृत्यु लाभ कर स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥४॥ और पाँचवे चक्रवर्ति श्री शाँतिनाथ तीर्थकर हुए। इनका शरीर प्रमाण—४५ धनुष, आयु प्रमाण-एक लाख वर्ष, इसमें कुमारकाल-पच्चीस हजार वर्ष, महामडलेश्वर पद-पच्चीस हजार वर्ष, दिग्विजय काल-आठ सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद-चौबीस हजार दो सौ वर्ष, सयम (तपश्चरण) काल-सोलह वर्ष, तदनतर शुक्ल ध्यान द्वारा घातिया कर्मों का नाशकर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया और देव इन्द्र विद्याधर चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के द्वारा पूजित हो समोशरणादि विभूति सहित अनेक देश, नगर, ग्रामों में बिहार करते हुए संसार ताप को नाश करने वाले परम पवित्र उपदेशामृत से अनेक जीवो को संसार दुख से छुटाकर सुखी बनाया, अन्त में अघातिया कर्मों का भी नाश कर अक्षयानत मोक्ष सुख प्राप्त किया, ये शाँतिनाथ स्वामी मुझे शाँति प्रदान करे ॥ ५ ॥ छठे चक्रवर्ति श्री कुंथनाथ हुए। इनका शरीर प्रमाण-पिचानवे हजार वर्ष इसमें कुमारकाल-तेईस हजार

सातसौ पचास वर्ष महामडलेश्वर पद-पौने चोवीस हजार वर्ष, दिग्विजय काल-छह सौ वर्ष, चक्रवर्ती पद-तेईस हजार डेढ सौ वर्ष, सयम काल सोलह वर्ष। तदनतर घातिया कर्मों के नाश द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त कर सोलह वर्ष कम पौने चौवीस हजार वर्ष पर्यंत केवलज्ञानी होकर अनेक जीवो को धर्मोपदेश देते हुए अन्त में अघातिया कर्मो का भी नाश कर परम धाम पद को सिधारे ।। ६ ।।

सातवे चक्रवर्ती श्री अरहनाथ तीर्थकर हुए, इनका शरीर प्रमाण—३० धनुष, आयु प्रमाण—चौरासी हजार वर्ष, इसमें कुमार काल—२१ हजार वर्ष, महामडलेश्वर पद—२१००० वर्ष, दिग्विजय—चारसौ वर्ष, सयमकाल—सोलह वर्ष, पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त कर सोलह बर्ष कम इक्कीस हजार वर्ष पर्यन्त दुर्गति के दुखो का नाश करने वाले पवित्र जैन धर्म का उपदेश देकर अनेक जीवो को आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और अन्त में अघातिया कर्मों का नाश कर अनन्त काल स्थायी निज आत्मिक सुख को प्राप्त किया ।। ७ ।।

आठवे सुभूम नाम के चक्रवर्ती श्री अरहनाथ और मल्लिनाथ भगवान के अनराल में हुए। इनका शरीर प्रमाण—२८ धनुष, आयु प्रमाण—अडसठ हजार वर्ष, इसमे कुमार काल—पाच हजार वर्ष, दिग्विजय काल—पाच सौ वर्ष, चक्रवर्ति पद—बासठ हजार पांच सौ वर्ष। ये परशुराम के भय से सन्यासियों के आश्रम मे गोप्य रहे, इससे ससार शरीर भोगो से विरक्त नही हुए और इसी अवस्था में आर्त्तध्यान से मरण कर महातम नाम सप्तम पाताल भूमि के निवासी हुए ।। ८ ।। नवमे महापद्म नाम के चक्रवर्ति श्री मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ के अन्तराल मे हुए। इनका शरीर प्रमाण—बाईस धनुष, आयु प्रमाण—तीस हजार वर्ष, उसमे कुमार काल—पाच सौ वर्ष, महामण्डलेश्वर पद—पाँच सौ वर्ष दिग्विजय—तीन सौ वर्ष, चक्रवर्ति पद—अठारह हजार सात सौ वर्ष, सयम काल—दश हजार वर्ष। पश्चात् केवल ज्ञान प्राप्त कर कुछ समय के अनन्तर अघातिया कर्मों का अभाव कर मोक्षगामी हुए ।। ९ ।। दशवे सुषेणनाम के चक्रवर्ति श्री मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ भगवान के अतराल मे हुए। इनका शरीर प्रमाण—वीस धनुष, आयु प्रमाण—छब्बीस हजार वर्ष, उसमे कुमार काल—सवा तीन सौ वर्ष, दिग्विजय—डेढ सौ वर्ष, चक्रवर्ति पद—पच्चीस हजार एक सो पच्चीस वर्ष, सयम काल—साढे तीन सौ वर्ष। पश्चात् केवल ज्ञानी हो अन्त मे अघातिया कर्मो का अभाव कर परमधाम सिधारे। ग्यारहवे जयसेन नाम के चक्रवर्ति श्री नमिनाथ और नेमिनाथ भगवान के अन्तराल मे हुए। इनका शरीर प्रमाण—१४ धनुष, आयु प्रमाण—चौबीस सौ वर्ष, उसमे कुमार काल—सौ वर्ष, दिग्विजय काल—सौ वर्ष, चक्रवर्ति पद—अठारह सौ वर्ष, सयम काल—केवल ज्ञान समय प्रमाण चार सौ वर्ष। अन्त मे अघातिया कर्मों का नाश कर निर्वाण गामी हुए ।। ११ ।। बारहवें ब्रह्मदत्त

नाम के चक्रवर्ति श्रीनेमनाथ और पार्श्वनाथ भगवान के अन्तराल में हुए, इनका शरीर प्रमाण—सात धनुष, आयु प्रमाण—सात सौ वर्ष, इसमें कुमार काल—अठाईस वर्ष। महामडलेश्वरपद—छप्पन वर्ष, दिग्विजय काल—सोलह वर्ष, चक्रवर्ति राज्य काल—छह सौ वर्ष। इस प्रकार सात सौ वर्ष राज्य में ही पूर्ण कर अंत में आर्त्तध्यान से मरण प्राप्त कर सप्तम पाताल धरा पधारे।। १२ ।। इस प्रकार बारह चक्रवर्तियो के आयु का प्रमाण कहा। ये सब चक्रवर्ति षटखड के अधिपति और समान वैभव के धारक होते हैं, उनकी विभूति का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

चौपाई :—

सहस बत्तीस सात सौ देश, धन कन कंचन भरे विशेष।
विपुल बाड बेढे चहु ओर, ते सब गांव छियानवे कोर।। १ ।।
कोट-वोट दरवाजे चार, ऐसे पुर छब्बीस हजार।
जिन को लगे पाच सौ गाम, ते अटब चड़ सहस सुठाम।। २ ।।
पर्वत और नदी के पेट, सोलह सहस कहे वेखेट।
करवट नाम सहस चौबीस, केवल वेढे गिरवर दीस।। ३ ।।
पट्टन अडतालीस हजार, रतन जहा उपजै अतिसार।
एक लाख द्रौणामुख वीर, सहस घाट सागर के तीर।। ४ ।।
गिरि ऊपर सवाहन जान, चौदह सहस मनोहर थान।
अठाईस हजार अशेष, दुर्ग जहा रिपु को न प्रवेश।। ५ ।।
उपसमुद्र के मध्य महान, अन्तर्द्वीप छप्पन परमान।
रत्नाकर छब्बीस हजार, बहुविध सार वस्तू भन्डार।। ६ ।।
रतन कुक्षि सुन्दर सात से, रतनधारा थानक जहाँ लसै।
ये पुर सुवस राजे खरे, जैन धाम साधर्मी जन भरे।। ७ ।।
वरगयद चौरासी लाख, इतने ही रथ आगम साख।
तेज तुरग अठारह कोर, जे पद चले पवन वे जोर।। ८ ।।
पुनि चौरासी कोड प्रमान, पायक सघ महाबलवान।
सहस छियानवे वनिता गेह, तिनको अब विवरण सुन लेह।। ९ ।।
आरजखंड बसे नरईस, तिनकी कन्या सहस बतीस।
इतनी ही अतिरूप रसाल, विद्याधर पुत्री गुणमाल।। १० ।।
फुनि मलेक्ष भूपन की जान, राजकुमारी तावतमान्।
नाटक गण बतीस हजार, चक्री नृप का सुख दातार।। ११ ।।
आदि शरीर आदि सठान, पुब्व कथित तन लक्षण जान।
बहुविध व्यजन सहित मनोग, हेम वरन तन सहज निरोग।। १२ ।।

छहो खंड भूपति बलरास, तिन सो अधिक देह बल जास ।
सहस बत्तीस चरण तल रमे, मुकुट बद्ध राजा नित नमें ॥१३॥
भूप मलेक्ष छोड अभिमान, सहस अठारह माने आन ।
फुनि गन्न बद्ध बखाने देव, सोलह सहस करे नृप सेव ॥१४॥
कोट थाल कंचन निर्मान, लाख कोड हल सहस किसान ।
नाना वरन गऊ कुल भरे, तीन कोट व्रज आगम धरे ॥१५॥
मुख्य सपदा को विरतत, आगे और सुनो मतिवत ।
सिह वाहिनी सेज मनोग, सिहारूढ चक्क वैजोग ॥१६॥
आसन तुग अनुत्तर नाम, मानक जाल जटित अभिराम ।
अनुपमनामा चमर अनूप, गगा तरल तरग सरूप ॥१७॥
विद्युत द्युति मणि कुडल जोट, छिपे और दुति जिनकी ओट ।
कवच अभेद अभेद महान, जामें भिदे न बैरी बान ॥१८॥
बिषमोचनी पादुका होय, पर पद सों विष मूँचे सोय ।
अजितजय रथ महारवन्न, जल पै थलवत् करे गवन्न ॥१९॥
व्रजकाडचक्री नृप चाप, जाहि चढावे नरपति आप ।
वाण अमोघ जबै कर लेत, रण मे सदा विजय कर देत ॥२०॥
विकट वज्र तुडा अभिधान, शत्रु खडनी शक्ति जान ।
सिहाटक बरछी विकराल, रतन दड लागी रिपुकाल ॥२१॥
लोह बाहिनी तीषन छुरी, जिम चमकै चपला दुति भरी ।
ये सब वस्तु जात भूमहि, चक्री छूट और घर नाहि ॥२२॥
आनद भेरी दश अरु दोय, बारह योजन लों धुनि होय ।
बज्र घोष फुनि जिन को नाम, बारह पटह नृपति के धाम ॥२३॥
वस्त्र गभीरावर्त गरीस, शोमन रूख शख चौबीस ।
नाना वरन ध्वजा रमनीय, अडतालीस कोट मितकीय ॥२४॥
इत्यादिक बहु वस्तु अपार, वर्णन करत लगै बहुवार ।
महल तनी रचना असमान, जिनमत कही सु लीजो जान ॥२५॥

—इत्यादि अनेक प्रकार की विभूति सहित चक्रवर्ती होते है। प्रगट रहे कि चक्रवर्ति के छिवानवे हजार रानियाँ होती है, जिनमे चक्रवर्ती तो केवल एक स्त्री से ही सभोग करता है, अवशेष स्त्रियो से चक्रवर्ति की विक्रिया शक्ति से प्रादुर्भूत रानियो की सख्या के समान कृत्रिम पुतले सभोग करते है। वे पुतले चक्रवर्ती की आकृति के समान ही होते हैं, जिससे रानियो को पुतले और चक्रवर्ति मे भेद ज्ञान नही होना है। दूसरे ये भी प्रगट रहे

सिद्ध चक्र की पूजा करना
ॐ
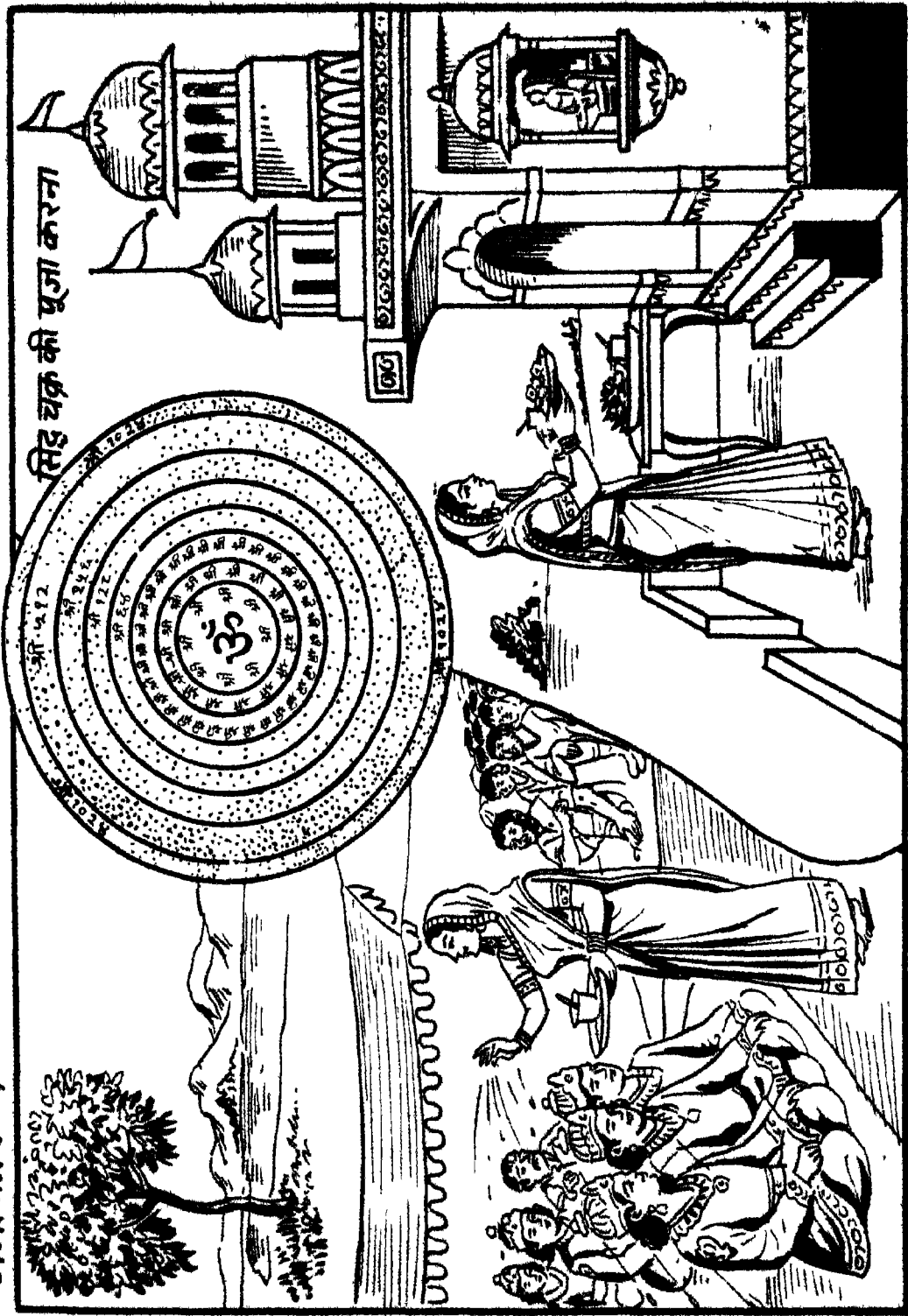
कि चक्रवर्ती के षट् प्रकार की सेना होती है और सामान्य राजाओं के चार प्रकार का होता है। उनके देव विद्याधर नहीं होते हैं। ये छह प्रकार की सेना इस प्रकार होती है—

(१) समस्त दोनों श्रेणी के विद्याधरो की सेना (२) भरत क्षेत्र संबंधी देवों की सेना, (३) पयादो की सेना, (४) रथ सेना चौरासी लाख (५) हाथी सेना चौरासी लाख और (६) घोटक सेना अठारह करोड़। ऐसे सेना सख्या बतलाकर आगे षटखडाधिपति चक्रवर्ति के पुन्य के महात्म्य से जो चौदह रतन होते है उनके नाम और गुण लिखते हैं—

चौपाई :—

प्रथम सुदर्शन चक्रपमछ, छहों खड साधन समरछ।
चडवेग दिढदड दुतीय, जिस बल खुले गुफा गिरकीय ॥१॥
चर्मरतन सो तृतीय निवेद, महाबज्र मय नीर अभेव।
चतुर्थचूडामणि मणिरेन, अधकार नाशक सुख दैन ॥२॥
पंचम रतन काकनी जान, चितामणि जाको अभिधान।
इन दोनो ते गुफा मझार, शशि सूरज लखिए निरधार ॥३॥
सूरज प्रभशुभ क्षत्र महान, सो अति जगमगाय ज्यों भान।
सो नदक अति अधिक प्रचड, डरे देश शत्रु बलवंड ॥४॥
पुनि अजोध सेनापति सूर, जो दिग्विजय करै बलभूर।
बुधि सागर प्रोहित परवीन, बुद्धि निधान विद्यागुणलीन ॥५॥
थपतिभद्रमुख नाम महत, शिल्प कला को विदगुणवत।
कामवृद्धि गृहपति विख्यात, सब ग्रह काज करै दिनरात ॥६॥
व्याल विजय गिर अति अभिराम, तुरग तेज पवनजय नाम।
वनिता नाम समुद्रा कही, चूरै व्रज्रपान सो सही ॥७॥
महादेव बल धारै सोय, जा पटतर तिया और न कोय।
मुख्य रतन ये चौदह जान, और रतन को कौन प्रमाण ॥८॥

दोहा :—

राज अंग चौदह रतन, विविध भांति सुखकार।
जिनकी सुर सेवा करै, पुन्य तरोवर डार ॥९॥
चक्र छत्र असि दंड मणि, चर्मकाकिनी नाम।
सात रतन निरजीव से, चक्रवर्ति के धाम ॥१०॥
सेनापतिग्रहपति थपत, प्रोहित नाम तुरग।
बनिता मिल सातो रतन, ये सजीव सरबग ॥११॥

चक्र छत्र असि दंड ए, उपजे आयुध थान।
चर्म काकिनी मिल रतन, श्री ग्रह उपपति जान ।।१२।।
गज तुरंगतिय तीन ए, रूपाचल पै होत।
चार रतन बाकी विमल, निज पुर लहे उदोत ।।१३।।

अर्थ :—

सुदर्शनचक्र (१), चडवेग नामक दंड (२), चर्मरत्न (३), चूडामणिरत्न (४), काकणी रत्न (५), सूरजप्रभनामक छत्र (६), नदक नामक असिरत्न (७), अजोधनाम सेना पति रत्न (८), बुद्धि सागर नामक—प्रोहित रत्न (९), स्थापितभद्रमुख शिल्पि रत्न (१०) काम वृद्धि गृहपति रत्न (११), विजयार्ध गिरनायक हस्ती रत्न (१२), पवनजय नामक, अश्व (१३), सुभद्रा नामक स्त्री रत्न (१४), इस प्रकार चौदह रतन है इन एक-एक रत्नो की एक-एक हजार देव सेवा करते है। अब इन रत्नो मे क्या-क्या कार्य सिद्धि होती है वह कहते है—

चक्रवर्ती जिस पर अपना शासन करने की अभिलाषा करता है, उसके निकट चक्र के रक्षक देव जाकर चक्रवर्ति की आज्ञा करते है ये चक्ररत्न का कार्य है।१। विजयार्द्ध पर्वत के गुफा के कपाटो का खोलना—ये चडवेग नामक रत्न का कार्य है।२। सेना सहित चक्रवर्ति को प्रयाण करते हुए मार्ग में कही पर नदी सरोवरादिक का अगाध जलाशय आ जाए तो वहाँ पर चर्मरत्न बिछा देने से थल के समान हो जाता है जिससे समस्त कटक पार हो जाता है, ये चर्मरत्न का कार्य है।३। विजयार्धपर्वत की गुफा पचास योजन लम्बी है, इस कारण उसमें महाअंधकार है।

चक्रवर्ति जब उसमे प्रवेश करता है तो चूडामणि के उद्योत से सूर्यवत् प्रकाश हो जाता है, जिससे चक्रवर्ति निःखेद गुफा के पार चला जाता है, ये चूडामणि रत्न का कार्य है।।४।।

चक्रवर्ति जब वृषभाचल पर्वत पर जाता है तब काकणी रतन से उस पर लिखे हुए पूर्व चक्रवर्ति का नाम मिटा कर अपना नाम लिख देता है, और इसके उद्योत से भी गुफा में १२ योजन पर्यंत प्रकाश हो जाता है ये काकणी रत्न का गुण है ।।५।। चक्रवर्ति के कटक पर जब मेघ वर्षा होती है तब छत्र रत्न के छा लेने से मेघ वर्षा कृत बाधा नही होती ये छत्र रत्न का गुण है ।।६।। जिसके तेज के दर्शन मात्र से शत्रुओ का हृदय कांप जाए और अपने तेज से शत्रुओ को आज्ञानुवर्ती करने वाला ऐसा नदक नामक असिरत्न का गुण है।७। ये सात रत्न अचेतन जानने चाहिए।

समस्त आर्य मलेच्छ खड के राजाओ को जीत कर चक्रवर्ति के शासनानुवर्ती चरण

सेवक बनाए ये अजोधनाम सेनापति रत्न का गुण है ॥८॥ चक्रवर्ति की प्रजा को सुख और आनंद की दायक, यश प्रगट करने वाली, शत्रुवशीकारक सम्मति देना—सो बुद्धि सागर प्रोहित रत्न का कार्य है ॥९॥ चक्रवर्ति की इच्छानुसार शासन करते ही तत्क्षण अनेक क्षण के चित्रामादि सयुक्त महा मनोहर महल तैयार करना (बनाना) स्थापित भद्रमुख नामक शिल्पि रत्न का कार्य है।१०। चक्रवर्ती के गृह सम्बन्धी कार्य का सावधानी पूर्वक प्रबन्ध करना रक्षा करना—कामवृद्धि नामक गृहपति रत्न का कार्य है ।११। चक्रवर्ती को मन की इच्छानुसार सुन्दर गति से सवारी देना—विजयार्द्ध गिर नामक हस्ती रत्न का कार्य है।१२। चक्रवर्ती के चित्त को सुखदायक पवन के समान शीघ्रगामी मनोहर गति से सवारी देना पवनजय नामक अश्व रत्न का कार्य है ।१३।

सुकुमार व सुगधित शरीर वाली स्वर्ग की देवागनाओं से अधिक सुन्दर बुद्धिमती चतुर चक्रवर्ती की आज्ञाकारिणी, सती विदुषी अपने कर कमलो से रत्न चूर्ण करने वाला महावलवान चौदहवा सुभद्रा नामक स्त्री रत्न है ।१४।

ये सात रत्न चेतन जानने चाहिए। इस सब चेतन-अचेतन मिलाकर चौदह रत्न हुए। अब इनका उत्पत्ति स्थान लिखते है :—

चक्र, छत्र, असि और दड—ये चार आयुधशाला मे, चरम कांकणी और चूड़ामणि ये तीन श्रीगृह मे हस्ती, घोटक और स्त्री—ये तीन विजयार्ध पर्वत पर और शिल्पि, प्रोहित सेनापति तथा गृहपति—ये चार निज-निज नगरी में उत्पन्न होते है। इस प्रकार चौदह रत्नों का सामान्य स्वरूप कहा।

अब आगे नवनिधियों के नाम और गुण कहते हैं—

चौपाई :—

प्रथम काल निधि शुभ आकार सो अनेक पुस्तक दातार।
महाकाल निधि दूजी कही, याकी महिमा सुनियो सही ॥
असि मसि आदिक साधन जोग, सामग्री सब देय मनोग।
तीजी निधि नैसर्प्प महान, नाना विधि भोजन की खान ॥
पाडुक नाम चतुर्थी होय, सब रस धान समर पै सोय।
पदम पंचमी सुकृती पेत, बंछित बसन निरंतर देत ॥
मानव छठी है निधि जेह, आयुध जात जनम भुवतेह।
सप्तम सुभग पिगला नाम, बहु भूषण आपै अभिराम ॥
शंख निधान आठमी गिनी, सब वाजित्र भूमि का बनी।
सर्व रतन नौमि निधि सार, सो नित सर्व रतन भंडार ॥

दोहा :— ए नवनिधि चक्रश के, शकटाकृति सठान ।
आठ चक्र सयुक्त शुभ, चौषूंटी सब जान ।।
योजन आठ उतग अति, नव योजन विस्तार ।
बाहर मित दीरघ सकल, बसे गगन निरधार ।।
एक-एक के सहस मित, रषवाले जषि देव ।
ए निधि उपजे पुन्य सो, सुखदायक स्वयमेव ।।

इत्यादि अनेक प्रकार की विभूात सयुक्त बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओ पर शासन करते हुए षट्खड का निष्कटक होकर राज्य करते है। उनमे जो तप करते है वे तो स्वर्ग या मोक्ष मे जाते है और जो राज भोग मे ही आसक्त होकर मरण करते है वे अवश्य नरकगामी होते है ।

सूचना:—ये सब नव निधियाँ चक्रवर्ती के पुण्य के प्रभाव से स्वत उत्पन्न होती है। ये सब आठ चक्र सयुक्त, गाडी के आकार चौखूटी, आठ योजन ऊँची, नव योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी आकाश मे निराधार रहती है ।

इस प्रकार वर्तमान काल के बारह चक्रवर्तियो का वर्णन किया ।

आगे नव नारायणों का वर्णन लिखते है :—

ये चक्रवर्ती से अर्द्ध वैभव के धारी होते है। इनके अठारह हजार प्रमाण रानियाँ होती हैं और एक आर्यखड एव दो म्लेच्छ खड—ऐसे तीन खडो का ये निष्कंटक नीतिपूर्वक राज्य करते है। चक्रबर्ती के चक्र तो आयुधशाला में उत्पन्न होता है परन्तु नारायण के यहाँ नही। यह चक्र प्रतिनारायण की आयुधशाला में प्रादुर्भूत होता है। जब इनका विशेष कारण पाकर परस्पर सग्राम होता तब प्रतिनारायण युद्ध के समय नारायण को मारने का और कुछ उपाय न देखकर उस पर चक्र चलाता है परन्तु पुण्य के प्रभाव से चक्र उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ जाता है और पुण्य के विचित्र प्रभाव से उन्ही का आज्ञाकारी हो जाता है। फिर नारायण उसी चक्र को अपने प्रतिनारायण पर चलाता है तो वह उसको धाराशायी करके उल्टा नारायण के हाथ मे आ उपस्थित होता है। इस चक्र रत्न के साथ और भी जो छह रत्न होते है वे भी इन्ही को प्राप्त हो जाते है और इनका ही उन पर स्वामित्व हो जाता है। इस प्रकार नियम से ही प्रतिनारायण की मृत्यु नारायण के द्वारा ही होती है और राज भोग मे ही लवलीन होकर आर्त्तध्यान से मरण करने से प्रतिनारायण और नारायण दोनो नियम से नरकगामी होते है ।

इस वर्तमानकाल मे जो नारायण हुए है उनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) प्रथम नारायण त्रिपृष्ट—ये श्री श्रेयास नाथ भगवान के समय में हुए। इनका

शरीर प्रमाण—अस्सी धनुष। आयु प्रमाण—चौरासी लाख वर्ष। उसमें कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष। दिग्विजय काल—एक हजार वर्ष। त्रिखड राज्य काल—८३ लाख ७४ हजार वर्ष आयु के अंत में आर्त्तध्यान से मरणकर तमप्रभा वा मघवी नामक छठी नरक धरा गए।

(२) दूसरे नारायण द्विपृष्ट—ये श्री वासुपूज्य भगवान के समय मे हुए। इनका शरीर प्रमाण—सत्तर धनुष। आयु प्रमाण बहत्तर लाख वर्ष, उसमे कुमार काल—पच्चीस हजार वर्ष। महामडलेश्वर पद राज्य काल—पच्चीस हजार वर्ष। दिग्विजय काल—सौ वर्ष। अर्द्ध चक्रीपद राज्य काल—इकहत्तर लाख उन्नचास हजार नव सौ वर्ष एव बहत्तर लाख वर्ष आयु के अत मे मरकर छठे नरकगामी हुए।

(३) तीसरे नारायण स्वयभू—ये श्री विमलनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—साठ धनुष। आयु प्रमाण—साठ लाख वर्ष, उसमें कुमार काल—पच्चीस सौ वर्ष। महामडलेश्वर पद राज्य काल—पच्चीस सौ वर्ष दिग्विजय काल—नब्बे वर्ष। त्रिखंड राज्यकाल—५९९४९१० वर्ष एव साठ लाख वर्ष की आयु के अन्त मे मरकर छठे नरकगामी हुए।

(४) चौथे नारायण पुरुषोत्तम—श्री अनन्तनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—पचपन धनुष। आयु प्रमाण—तीस लाख वर्ष, उसमें कुमार काल—सात सौ वर्ष। मडलेश्वर पद राज्य काल—तेरह सौ वर्ष। दिग्विजय काल—अस्सी वर्ष। त्रिखंड राज्यकाल—२९९७९२० वर्ष एव तीस लाख वर्ष की आयु के अन्त मे मरण कर छठे नरकगामी हुए।

(५) पाचवे नारायण पुरुसिह—ये श्री धर्मनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण—चालीस धनुष। आयु प्रमाण—दस लाख वर्ष उसमे कुमार काल—तीन सौ वर्ष। मडलीक पद—सौ वर्ष। दिग्विजय काल—सत्तर वर्ष। चक्री पद—९९९५३० वर्ष एव दस लाख वर्ष की आयु के अन्त मे मरणकर छठे नरकगामी हुए।

(६) छठे नारायण पुडरीक—ये श्री अरहनाथ भगवान से पीछे और श्री मल्लिनाथ भगवान से पहले हुए। इनका शरीर प्रमाण—छब्बीस धनुष। आयु प्रमाण—पैंसठ हजार वर्ष इसमें, कुमार काल—दो सौ पचास वर्ष। दिग्विजय काल—साठ वर्ष। त्रिखड राज्य काल—६४४४० वर्ष एव पैंसठ हजार वर्ष की आयु के अन्त मे मरणकर छठे नरकगामी हुए।

(७) सातवे नारायण पुरुषदत्त—ये श्री मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ भगवान के अन्तराल में हुए। इनका शरीर प्रमाण—बाईस धनुष। आयु प्रमाण—बत्तीस हजार वर्ष, इसमें कुमार काल—दो सौ वर्ष। मडलेश्वर पद राज्य काल—पचास वर्ष। दिग्विजय

काल—पचास वर्ष। तीन खड राज्य काल—३१७०० वर्ष एव बत्तीस हजार वर्ष की आयु के अन्त में मरणकर तीसरे नरकगामी हुए।

(८) आठवे नारायण लक्ष्मण—ये श्री मुनिसुव्रतनाथ और नमिनाथ भगवान के अन्तराल में हुए। इनका शरीर प्रमाण—सोलह धनुष। आयु प्रमाण—बारह हजार वर्ष। कुमार काल—सौ वर्ष। दिग्विजय काल—चालीस वर्ष। अर्द्ध चक्री राज्य काल—ग्यारह हजार आठ सौ साठ वर्ष एव बारह हजार वर्ष की आयु के अन्त मे मरण कर मेघा नामक तीसरे नरकगामी हुए।

(९) नवमें नारायण श्री कृष्ण—ये श्री नेमनाथ भगवान के समय मे हुए। इनका शरीर प्रमाण—दश धनुष आयु प्रमाण एक हजार वर्ष उसमे कुमार काल—सोलह वर्ष। मडलेश्वर राज्य पद—छप्पन वर्ष। दिग्विजय—आठ वर्ष। अर्द्ध चक्री पद राज्य काल—नौ सौ बीस वर्ष एव एक हजार वर्ष शरीर की आयु के अन्त में मरणकर बालुकाप्रभा नामक तीसरे नरकगामी हुए।

ये सब नारायण महविभूति संयुक्त, विद्याधर, भूमिगोचरी तथा बड़े-बड़े राजा महाराजाओ द्वारा माननीय और त्रिखडाधिपति होते है। इनहीके द्वारा निश्चय से प्रतिनारायण की मृत्यु होती है। इस प्रकार वर्तमान काल के नव नारायणो का सक्षिप्त वर्णन समाप्त हुआ।

बलभद्र वर्णन—

आगे इसके ज्येष्ठ भ्राता जो बलभद्र होते है उनका वर्णन लिखते है—

ये भी नव ही होते है। ये सब धर्मज्ञ, उदारमना, परोपकारी, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी, विचारशील और पवित्र हृदयी होते हैं। इनकी दो ही गति होती है—स्वर्ग या मोक्ष। इस वर्तमान काल मे जो नव बलभद्र हुए है उनके नाम इस प्रकार है—

(१) प्रथम बलभद्र विजय—इसका शरीर प्रमाण अस्सी धनुष और आयु प्रमाण सत्तासी लाख वर्ष था।

(२) दूसरे बलभद्र अचल—इनका शरीर प्रमाण सत्तर धनुष और आयु प्रमाण सत्तर लाख वर्ष था।

(३) तीसरे बलभद्र सुधर्म—इनका शरीर प्रमाण साठ धनुष और आयु प्रमाण पैंसठ लाख वर्ष था।

(४) चौथे बलभद्र सुप्रभ—इनका शरीर प्रमाण पचास धनुष और आयु प्रमाण बत्तीस लाख वर्ष था।

(५) पाचवें बलभद्र सुदर्शन—इनका शरीर प्रमाण चालीस धनुष और आयु प्रमाण कुछ अधिक दस लाख वर्ष था।

(६) छठे बलभद्र नंदि—इनका शरीर प्रमाण उनतालिस धनुष और आयु प्रमाण पैंसठ हजार वर्ष था।

(७) सातवे बलभद्र नदिमित्र—इनका शरीर प्रमाण बाईस धनुष और आयु प्रमाण बत्तीस हजार वर्ष था।

(८) आठवे बलभद्र रामचन्द्र—इनका शरीर प्रमाण सोलह धनुष और आयु प्रमाण सत्रह हजार वर्ष था।

ये आठ बलभद्र तो अंतावस्था मे ससार को अस्थिर, विषय भोगो को रोग के समान, सपत्ति को बिजली की तरह चचल, शरीर को मास, मल, रुधिर आदि अपवित्र वस्तुओ से भरा हुआ, दु खों का देने वाला घिनौनी और नाश होने वाला जानकर सबसे उदासीन हो राज्यलक्ष्मी को तृणवत् त्यागकर जिन दीक्षा ले मुनि हो गए और घोर तपश्चरण करने लगे। अन्त मे शुक्ल ध्यान द्वारा घातिया कर्मो का नाश कर लोकालोक का प्रकाशक केवल ज्ञान प्राप्त किया। पश्चात् अघातिया कर्मों का भी नाशकर परम धाम मोक्ष सिधारे।

(९) नवमे बलभद्र बलदेव—इनका शरीर प्रमाण दस धनुष और आयु प्रमाण बारह सौ वर्ष था।

ये भी ससार विषय भोगो से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहणकर दुस्सह तपश्चरण करते हुए आयु के अन्त मे साम्यभाव से मरणकर पचम स्वर्ग में महाऋद्धिधारी देव हुए। वहा से चयकर मोक्षगामी होगे।

अथ प्रतिनारायण वर्णनम्—

अब आगे नारायण के प्रतिपक्षी जो प्रतिनारायण होते है उनका वर्णन लिखते हैं—

प्रतिनारायण नारायण के समान सपदाधारी होते है। इनको नारायण मारकर इनका साधा हुआ तीन खण्ड (एक आर्य खण्ड और दो म्लेच्छ खण्ड) का राज्य आप करते है। बिजयार्ध के उत्तर नही जाते है। इस अवसर्पिणी काल में जो नव प्रतिनारायण हुए है उनके नाम इस प्रकार हैं—

प्रथम प्रतिनारायण अश्वग्रीव—इनका शरीर प्रमाण अस्सी धनुष और आयु प्रमाण चौरासी लाख वर्ष था। १।

दूसरे प्रतिनारायण तारक—इनका शरीर प्रमाण सत्तर धनुष और आयु प्रमाण बहत्तर लाख वर्ष था। २।

तीसरे प्रतिनारायण मेरुक—इनका शरीर प्रमाण साठ धनुष और आयु प्रमाण साठ लाख वर्ष था। ३।

चौथे प्रतिनारायण निशुभ—इनका शरीर प्रमाण पचास धनुष और आयु प्रमाण तीस लाख वर्ष था। ४।

पाचवे प्रतिनारायण मधुकैटभ—इनका शरीर प्रमाण पैतालिस धनुष और आयु प्रमाण दस लाख वर्ष था। ५।

छठे प्रतिनारायण बली—इनका शरीर प्रमाण उनतालीस धनुष और आयु प्रमाण पैसठ हजार वर्ष था। ६।

सातवे प्रतिनारायण प्रहरण—इनका शरीर प्रमाण बाईस धनुष और आयु प्रमाण बत्तीस हजार वर्ष था। ७।

आठवे प्रतिनारायण रावण—इनका शरीर प्रमाण सोलह धनुष और आयु प्रमाण बारह हजार वर्ष था। ८।

नवमे प्रतिनारायण जरासिध—इनका शरीर प्रमाण दस धनुष और आयु प्रमाण एक हजार वर्ष था। ९।

ये नव प्रतिनारायण वर्तमान काल मे हुए है।

अथ नव नारद वर्णनम्

अब आगे इनके समय मे होने वाले नव नारदो का वर्णन लिखते है--

ये सब ब्रह्मचारी और अनेक ऋद्धियो सहित होते है। इनके मान कषाय भी विशेष होता है। कलह अतिप्रिय विशिष्ट होती है। इस कारण दो लोगों को परस्पर भिडा देते हैं। कलह कराने में तो अति चतुर होते है। अपना मान बढ़ाई बहुत चाहते है। जो कोई भी इनका अनादर करता है ये तत्काल ही उसका अनादर करने का प्रत्यन करते है जैसे सत्यभामा का निरादर कराया, सती सीता के रूप की प्रशसा उसके भाई भामडल से करके उसको पारिग्रहण करने पर उद्धत किया। अन्त में भेद खुलने पर अति खेद और सताप हुआ रुक्मणी का विवाह श्रीकृष्ण से काराया। इस प्रकार इनके सैदव कलहप्रिय भाव रहते है। इस कारण ये सब ही नियम से नरकगामी होते है। इस वर्तमान काल में जो नव नारद हुए है उनके नाम इस प्रकार है—

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) रुद्र, (४) महारुद्र, (५) काल, (६) महाकाल, (७) दुर्मुख, (८) नर्कमुख और (९) अधोमुख।

ये नव नारद नव नारायणों के समय में क्रम से पृथक-पृथक हुए हैं। इनका काय-प्रमाण तथा आयु प्रमाण नारायण के समान ही जानना चाहिए।

अथ रुद्र वर्णनम्

अब आगे रुद्रो का वर्णन लिखते है—

कामदेव के वशीभूत होकर मुनि और अर्जिका जब भ्रष्ट हो जाते है तब उनके परस्पर समागम से इनकी उत्पत्ति होती है ये स्वभाव से ही बड़े पराक्रमी होते है और अनेक प्रकार का तपश्चरण आदि करके अनेक विद्या सिद्ध करते हैं। तदनन्तर ये भी कामदेव के वशीभूत हो अपने आचरण से भृष्ट होकर निद्य आचरण करने लगते हैं जिससे आयु के अन्त में मरण कर ये भी नरकगामी ही होते है। इस वर्तमान चौथे काल में जो ग्यारह रुद्र हुए है उनके नाम इस प्रकार है—

पहले रुद्र भीमबली—ये आदिनाथ भगवान के समय में हुए है। इनका शरीर प्रमाण पाच सौ धनुप और आयु प्रमाण तिरासी लाख पूर्व था। १।

दूसरे रुद्र जितशत्रु—ये अजितनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण चार सौ पचास धनुप और आयु प्रमाण इकहत्तर लाख पूर्व था। २।

तीसरे रुद्र रुद्र—ये श्री पुष्पदत्त भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण सौ धनुप और आयु प्रमाण दो लाख पूर्व था। ३।

चौथे रुद्र विश्वानल—ये श्री शीतलनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण नब्बे धनुप और आयु प्रमाण एक लाख पूर्व था। ४।

पाचवे रुद्र सुप्रतिष्ठ—ये श्री श्रेयासनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण अस्सी धनुष और आयु प्रमाण चौरसी लाख वर्ष था। ५।

छठे रुद्र अचल—ये श्री वासुपूज्य भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण सत्तर धनुष और आयु प्रमाण साठ लाख वर्ष था। ६।

सातवे रुद्र पुडरीक—ये श्री विमलनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण साठ धनुष और आयु प्रमाण पचास लाख वर्ष था। ७।

आठवे रुद्र अजितधर—ये श्री अनन्तनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण पचास धनुष और आयु प्रमाण चालीस लाख वर्ष था। ८।

नवें रुद्र श्री अजितनाभि—ये श्री धर्मनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण अठाईस धनुष और आयु प्रमाण बीस लाख वर्ष पूर्व था। ९।

दसवें रुद्र पीठ—ये श्री शातिनाथ भगवान के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण चौबीस धनुष और आयु प्रमाण एक लाख वर्ष था। १०।

ग्यारहवे रुद्र सात्यकी—श्री महावीर स्वामी के समय में हुए। इनका शरीर प्रमाण सात हाथ और आयु प्रमाण उनहत्तर वर्ष था। ११।

ये सर्व रुद्र ग्यारह अ ग और दस पूर्व के पाठी होते है। इस प्रकार अवसर्पिणी काल के ग्यारह रुद्रो का आयु कायादि वर्णन किया।

अथ चतुर्विंशति कामदेव वर्णनम्—

अब आगे चौबीस कामदेवो का वर्णन लिखते है—

इस वर्तमान चौथे काल में जो चौबीस कामदेव हुए है उनके नाम इस प्रकार है—

(१) बाहुबली, (२) अमिततेज, (३) श्रीधर, (४) यशप्रभ, (५) प्रसेनजित, (६) चन्द्रवर्ण,(७) अग्निमुक्ति, (८) सनत्कुमार (चक्रवर्ती), (९) वत्सराज, (१०) कनकप्रभ, ११) सिद्धवर्ण (१२) शातिनाथ (तीर्थंकर), (१३) कु थनाथ (तीर्थंकर), (१४) अरहनाथ (तीर्थंकर (१५) विजयराजा, (१६) श्रीचन्द्र, (१७) राजानल, (१८) हनुमानजी, (१९) बलराजा, (२०) वसुदेव, (२१) प्रद्युम्न, (२२) नागकुमार, (२३) श्रीपाल और, (२४) जम्बूस्वामी —ये चौबीस कामदेव बल, विद्या और रूप मे अत्यन्त श्रेष्ठ होते है। इनके रूप को देखकर सर्व स्त्री पुरुष मोहित हो जाते है।

इस प्रकार चौथेकाल में प्रत्येक चौबीस तीर्थंकर बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण, नव बलभद्र (ये त्रेसठ शलाकापुरुष कहलाते है), नव नारद, ग्यारह रुद्र, चौबीस कामदेव और चौदह कुलंकर—सब मिलाकर एक सौ इक्कीस तो यह और प्रत्येक तीर्थंकर के माता-पिता अर्थात् चौबीस तीर्थंकरो के अडतालीस माता-पिता—ये सर्व एक सौ उनहत्तर १६९ पुण्य पुरुष होते है अर्थात् जितने पुण्यवान् पुरुष हुए है उनमें ये मुख्य गिने जाते हैं। इनमें से कितने तो उसी भव से मोक्ष चले जाते है और कितने कुछ काल ससार में भ्रमण करके मोक्ष चले जाते है अर्थात् ये सर्व ही मोक्षगामी होते है। इनके अतिरिक्त और भी असंख्यात् जीव कर्मों का नाशकर सिद्धगति प्राप्त करते है। इनमे नारायण, प्रतिनारायण बलभद्र और नारद—ये चार तो एक ही समय में उत्पन्न होते है। एक पद के धारक की उपस्थिति में उसी पदवी का धारक दूसरा उत्पन्न नही हो सकता जैसे कि एक तीर्थंकर की स्थिति जब तक रहती है तब तक दूसरे तीर्थंकर की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु प्रतिनारायण की स्थिति में नारायण उत्पन्न हो जाता है। पहले तो प्रतिनारायण अर्द्धचक्री होता है। यावत् प्रतिनारायण अर्द्ध चक्रवर्ती रहता है तावत् नारायण अर्द्धचक्री नही हो सकता। जब संग्राम में वह प्रतिनारायण को मारकर चक्ररत्न पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है और

उसके साधे हुए तीन खडो पर अधिकार कर लेता है तब वह अर्द्धचक्री होता है और प्रत्येक चौथे काल में एक ही पदवी के धारक को दूसरी पदवी भी नही होती है। यद्यपि श्री शांतिनाथ जी, श्री कुंथनाथ जी और श्री अरहनाथ जी—ये तीर्थंकर पदवी के धारक थे और चक्रवर्ती तथा कामदेव पदवी के धारक भी हुए ऐसे तीन-तीन पदवी के धारक हुए परन्तु यह हुंडा अवसर्पिणी काल के प्रभाव से बहुत सी बातें विपरीत होती है जैसे प्रत्येक चौथे काल में चौबीस तीर्थंकर नियम से सम्मेद शिखर से ही मोक्ष जाते है परन्तु अब के हुंडा अवसर्पिणी काल के प्रभाव से श्री आदिनाथ भगवान कैलाशपर्वत से श्री नेमिनाथ जी गिरनार पर्वत से श्री वासुपूज्य जी चपापुरी से और अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर जी पावापुर से परमधाम मोक्ष सिधारे। अवशेष बीस तीर्थंकर श्री सम्मेद शिखर जी से मोक्ष गए।

दूसरी बात यह है कि सब तीर्थंकर चौथे काल में ही उत्पन्न होते हैं परन्तु अब की बार प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव जी चौथेकाल के चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष और साढ़े आठ महीने पहले ही उत्पन्न हो गए थे और चौथेकाल के तीन वर्ष आठ महीने पहले ही मोक्ष चले गए। यह केवल कालदोष से ही ऐसा हुआ नही तो सब चतुर्थ काल मे ही मोक्ष जाते है, तृतीय मे नही।

तीसरे अतुल बल के स्वामी श्री पार्श्वनाथ भगवान को सुरकृत उपसर्ग हुआ—यह भी केवल काल का ही प्रभाव है नही तो त्रिलोकपूज्य और अतुलबल के स्वामी तीर्थंकर भगवान को उपसर्ग कैसा ? इत्यादि हुडा अवसर्पिणी काल के प्रभाव से अनेक प्रतिकूल वार्त्ता होती है। इन्ही प्रतिकूल वार्त्ताओ की शका निवारण करने के लिए यति भूधरदास जी पार्श्व पुराण मे लिखते हैं—

चौपाई:—

अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल, होय अनन्तानन्त विशाल।
भरत तथा ऐरावत माहिं, रहट घटीवत् आवे जाहिं ॥१॥
जब ए असख्यात परमान, बीते जुगम खेत भूथान।
तब हुंडा अवसर्पिणी एक, परे करे विपरीत अनेक ॥२॥
ताकी रीत सुनो मतिवत, सुखम दुखम काल के अ त।
वरषादिक को कारण पाय, विकलत्रय उपजे बहुभाय ॥३॥
कलपवृक्ष विनशे तिहवार, वरतै कर्म भूमि को ब्यौहार।
प्रथम जिनेन्द्र प्रथम चक्रेश, ताहि समय होय इह देश ॥४॥
विजय भग चक्री की होय, थोड़े शिव जाय शिव लोय।
चक्रवर्ती विकलप विस्तरै, ब्रह्मवश की उत्पत्ति करै ॥५॥

पुरुष शलाका चौथे काल, अट्ठावन उपजें गुणमाल ।
नवम आदि सोलह् पर्यन्त, सात तीर्थ में धर्म नशन ॥६॥
ग्यारह् रुद्र जनम जहाँ धरे, नौ कलहप्रिय नारद अवतरे ।
सप्तम ते बीसम गुण वर्ग, चरम जिनेश्वर को उपसर्ग ॥७॥
तीजे चौथे काल मझार, पंचम में दीसे बढवार ।
विविध कुदेव कुलिगी लोग, उत्तम धर्म नाश के जोग ॥८॥
सबर बिलाल भील चडाल, नाहलादि कुल मे विकराल ।
कलकी उपकलकी कलिमाहि, बयालीस ह्वै मिथ्या नाहि ॥९॥
अनावृष्टि अतिवृष्टि विख्यात, भूमि वृद्ध बज्रागन पात ।
ईत भीति इत्यादिक दोष, काल प्रभाव होय दुष कोप ॥१०॥

दोहा—

यो त्रैलोक प्रज्ञिप्त मे, कथन किया बुधराज ।
सो भविजन अब धारियो, सशय मेटन काज ॥

इस प्रकार सक्षेप में चौथेकाल का वर्णन किया ।

चौथे काल के पीछे जो दु खमा काल आता है उसको पचमकाल भी कहते है । इस काल के आने मे पहले ही तीर्थकर आदि मोक्ष को पधार जाते है । इस कलिकाल मे मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति नही रहती और धर्म सम्बन्धी रुचि का भी दिनोदिन ह्रास होता चला जाता है । आयु, काय, बल, विद्या और पराक्रम भी दिनोदिन घटते जाते है । इस काल के प्रारम्भ में मनुष्यो की आयु एक सौ बीस वर्ष उत्कृष्ट होती है और शरीर सात हाथ प्रमाण होता है । इस काल के आदि मे सिद्धार्थ नन्दन भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण होने के अनन्तर बासठ वर्ष तक तो केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय बना रहा, बाद मे केवलज्ञान रूपी दिवाकर के अस्त होने से श्रुतकेवली रूप दिनपति का प्रकाश रहा । तदनन्तर इसका भी अभाव होकर श्री वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पीछे तक अगज्ञान की प्रवृत्ति रही । उपरान्त इस बिकराल काल दोष से वह भी लुप्त हो गई । इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है—इस दु:खम पंचम काल के आगमन से तीन वर्ष साढे आठ महीने पहले ही कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को महावीर स्वामी परमधाम मोक्ष पधारे। भगवान के निर्वाण गमन के साथ ही श्री इन्द्रभूति अर्थात् गौतम गणधर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और वे बारह वर्ष तक विहार करके पचमगति अनन्तकाल स्थाई मोक्ष को प्राप्त हुए । उनके निर्वाण होते ही श्री सुधर्माचार्य को लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञान का उदय हुआ सो उन्होने भी बारह वर्ष विहार कर अन्तिम गति पाई और तत्काल अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी को केवल ज्ञान सूर्य का उदय हुआ । उन्होंने अड़तीस वर्ष विहार करके ससार के ताप से सन्तप्त अनेक

भव्य जीवों को परम पवित्र धर्मोपदेशामृत की वर्षा से शांत कर ससार के दु:खों से छुटाकर सुखी बनाया और अन्त मे मोक्ष महल को प्रयाण किया। इन तीनो मुनियों ने अनुक्रम से केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी प्राप्त कर जब तक बिहार करते हुए धर्म का प्रचार किया तब तक केवलज्ञान रूप दिवाकर का उदय बना रहा परन्तु इनके निर्वाण गमन के पश्चात् ही उसका अस्त हो गया। जम्बू स्वामी के निर्वाण के अनन्तर श्री विष्णु मुनि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के पारगामी श्रुतकेवली (द्वादशांग के धारक) हुए और इसी प्रकार से नदिमित्र अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु—ये चार महामुनि भी अशेष श्रुतसागर के पारगामी हुए। उक्त पाचों श्रुतकेवली सौ वर्ष के अन्तराल में हुए अर्थात् भगवान की मुक्ति के पश्चात् बासठ वर्ष में तीन केवली और तदनन्तर सौ वर्ष के अतराल मे पाच श्रुत केवली हुए। इनके भी परलोक निवास करने पर विशाखदत्त, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजयसेन, बुद्धिमान, गगदेव और धर्मसेन—ये ग्यारह अंग और दस पूर्व के पाठी ग्यारह महात्मा हुए। इतने में १८३ वर्ष का समय व्यतीत हो गया। पश्चात् दो सौ बीस वर्ष मे नक्षत्र, जयपाल, पांडु, द्रुमसेन और कंसाचार्य—ये पांच मुनि ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए। पश्चात् एक सौ अठारह वर्ष में सुभद्र, अभयभद्र, जयबाहु और लोहाचार्य—ये चार मुनिश्वर आचारांग शास्त्र के परम विद्वान हुए। यहां तक अर्थात् श्री वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पीछे तक अंग ज्ञान की प्रवृत्ति रही। तदनन्तर काल दोष से वह भी लुप्त हो गई। लोहाचार्य के पश्चात् विनयधर, श्रीयत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त—ये चार आरातीय मुनि अंग पूर्व देश के अर्थात् अंग पूर्व ज्ञान के कुछ अंश के ज्ञाता हुए और फिर पूर्व देश के पुण्ड्रवर्द्धनपुर मे श्री अर्हद्बलि मुनि अवतीर्ण हुए जो अंग पूर्व देश के भी एक देश के जानने वाले थे, प्रसारणा, धारणा विशुद्धि आदि उत्तम क्रियाओ मे निरन्तर तत्पर रहते थे, अष्टांग निमित्तज्ञान के ज्ञाता थे और मुनि संघ का निग्रह अनुग्रहपूर्वक शासन करने में समर्थ थे। इसके अतिरिक्त वे प्रत्येक पांच वर्ष के अन्त मे सौ योजन क्षेत्र के अन्तर्गत निवास करने वाले मुनियो के समूह को एकत्रित करके युग प्रतिक्रमण कराते थे। एक बार उक्त भगवान अर्हदबलि आचार्य ने युग प्रतिक्रमण के समय मुनिजनों के समूह से पूछा—'क्या सब यति आ गए?' उत्तर में उन मुनियो ने कहा—'भगवान! हम सब अपने-अपने संघ सहित आ गए।' इस वाक्य में अपने-अपने संघ के प्रति मुनियों की निजत्व बुद्धि (पक्ष बुद्धि) प्रकट होती थी अतएव तत्काल ही आचार्य भगवान ने निश्चय कर लिया कि इस कलिकाल में अब आगे यह जैन धर्म भिन्न भिन्न गणों के पक्षपात से ठहर सकेगा, उदासीन भाव से नही अर्थात् आगे के मुनि अपने अपने संघ का, गण का और गच्छ का पक्ष धारण करेंगे। सब को एकरूप समझकर मार्ग की प्रवृत्ति नही कर सकेंगे। इस प्रकार विचार करके उन्होंने जो मुनिगण गुफा में से आए थे उनमें से किसी-किसी की नंदि और किसी-किसी की वीर संज्ञा रखी। जो अशोक वाट से आए थे उनमें से किसी की अपराजित और किसी की देव संज्ञा रखी। जो पंचस्तूपो का

निवास छोड़कर आए थे उसमें से किसी को सेन और किसी-किसी को भद्र बना दिया। जो महाशाल्मली (सैमर) वृक्षों के नीचे से आए थे उनमें से किसी की गणधर और किसी की गुप्त संज्ञा रखी और जो खड केशर (बकुल) वृक्षो के नीचे से आए थे उनमें से किसी की सिह और किसी की चन्द्र सज्ञा रखी।

यथाचोक्तं:—

आया तौ सधि वीरौ प्रगट गिरि गुहा वासतोऽशोक बाटा,
द्देवाश्चान्योपपादिजित इति यति पौसेनभद्राह्वयो च।
पचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर वृषभः शाल्मली वृक्षमूला,
न्निर्यातौ सिह चद्रौ प्रथित गुणगणौ केशरात्खड पूर्वात्॥
अनेक आचार्यों का ऐसा मत है—

श्लोक—

गुहाया वासितो ज्येष्टो, द्वितीयोऽशोक वाटिकात्।
निर्यातोनदि देवाभि, धाना वाद्यानुक्रमात्॥
पचस्तूप्यास्तू सेनाना, वीराणा शाल्मलिद्रुम.।
खड केशर नामाच भद्रः, सघस्य सम्मत॰॥

अर्थ—गुफा से निकलने वाले नदि अशोक वन से निकलने वाले देव, पचस्तूपो से आने वाले सेन, भारी शाल्मलि वृक्ष के नीचे निवास करने वाले वीर और खड केशर वृक्ष के नीचे रहने वाले भद्रसज्ञा से प्रसिद्ध किए गए थे।

इस प्रकार से मुनि जनों के सघ प्रवर्त्तन करने वाले उक्त श्री अर्हदबलि आचार्य के वे सब मुनीन्द्र शिष्य कहलाए। उनके पश्चात् एक श्री माघनदि नामक मुनि पुंगव हुए और वे भी अ ग पूर्व देश का भली भाति प्रकाश करके स्वर्ग लोक को पधारे। तदनन्तर सौराष्ट्र देश के अन्तर्गत गिरनगर के समीप उर्जयत गिर (गिरनार) की चन्द्र नामक गुफा मे निवास करने वाले महातपस्वी श्री धरसेन आचार्य हुए। उन्हे अग्रायणी पूर्व के अन्तर्गत पचम वस्तु के चतुर्थ महाकर्म प्राभृत का ज्ञान था। अपने निर्मल ज्ञान में उन्हें यह आभास हुआ—'कि अब मेरी आयु थोडी ही शेष रह गई है और अब मुझे जो शास्त्र का ज्ञान है वही ससार मे अलम् होगा अर्थात् इससे अधिक शास्त्रज्ञ आगे कोई नही होगा और यदि कोई प्रयत्न नहीं किया जायगा तो श्रुत का विच्छेद हो जाएगा ऐसा विचारकर निपुण मति वाले श्रीधरसेन महर्षि ने देशेन्द्र देश के बेणाकतटाकपुर में निवास करने वाले महामहिमाशाली मुनियो के निकट एक ब्रह्मचारी के द्वारा पत्र भेजा। ब्रह्मचारी ने पत्र ले जाकर उक्त मुनियो

के हाथ में दे दिया। उन्होंने पत्र खोलकर पढ़ा। उसमें यह लिखा हुआ था—स्वस्ति श्री बेणाकतट वासी यतिवरों को उर्जयंत तट निकटस्थ चंद्रगुहा निवासी यतिवर धरसेन गणि अभिवंदना करके यह सूचित करते हैं—"मेरी आयु अत्यंत स्वल्प रह गई है जिससे मेरे हृदयस्थ शास्त्र की व्युच्छित्ति हो जाने की संभावना है अतएव उसकी रक्षा करने के लिए आप लोग दो ऐसे यतीश्वरों को भेज दीजिए जो शास्त्र ज्ञान के ग्रहण व धारण करने में समर्थ और तीक्ष्ण बुद्धि हों।"

सब मुनिगण पत्र को पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए। उनके हृदयगत आशय को भली-भांति समझकर अपने संघ में उन मुनियों ने भी दो बुद्धिशाली मुनियों का अन्वेषण करके तत्काल ही भेज दिया। जिस दिन वे दोनों मुनि उर्जयंत गिरि पर आचार्य के पास पहुँचने वाले थे उसकी पहली रात्रि को भी धरसेन मुनि ने स्वप्न में दो हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर शरीर वाले श्वेत वर्ण के बैलों को अपने चरणों में पड़ते हुए देखा। इस उत्तम स्वप्न को देखने के अनन्तर ज्यों ही वे 'जयतु श्रुतदेवता' अर्थात् सब संदेहों को नाश करने वाली श्रुतदेवी जिनवाणी सदाकाल इस संसार में जयलाभ करे—ऐसा कहते हुए जाग्रत होकर खड़े हुए त्यों ही उन्होंने देखा कि बेणाकतटाकपुर से आए हुए दो मुनि सन्मुख खड़े हुए हैं। उन्होंने आचार्य के चरणारविंदों को नमस्कार कर सभक्ति स्तुति की और अंत में अपने आने का कारण निवेदन किया। तब उन्हें श्री धरसेनाचार्य ने आशीर्वाद दिया—'तुम चिरायु होकर महावीर भगवान के पवित्र शासन की सेवा करो। अज्ञान और विषयों के दास बने हुए संसारी जीवों को ज्ञान दान देकर उन्हें अपने कर्त्तव्य की ओर लगाओ।' इसके पश्चात् यथायोग्य अतिथि-सत्कार कर उन्हें फिर मार्ग परिश्रम शमन करने के लिए तीन दिन तक विश्राम करने दिया। तत्पश्चात् यह विचार कर 'सुपरीक्षा चित्त को शांति देने वाली हो' अर्थात् जिस विषय की भली-भांति परीक्षा कर ली जाती है उसमें फिर किसी प्रकार की शंका नहीं रहती है—उन्होंने उन दोनों को दो विद्याएँ साधन करने के लिए दीं जिसमें से एक विद्या में अक्षर कम थे और दूसरी में अधिक थे। आचार्य की आज्ञानुसार उक्त दोनों मुनि इसी गिरनार पर्वत के एक पवित्र और एकांत भाग में भगवान नेमिनाथ की निर्वाण शिला पर पवित्र और एकाग्रचित्त से विधिपूर्वक विद्यासाधन करने को बैठे। मंत्रसाधन की अवधि पूरी होने पर जो अक्षरहीन विद्या साध रहा था उसके आगे एक आंख काली देवी और अधिक अक्षर वाली विद्या साधने वाले के सन्मुख बड़े दांत वाली देवी आकर खड़ी हो गई। इनके ऐसे असुन्दर रूप को देखकर मुनियों ने सोचा—'देवी का तो ऐसा रूप होता नहीं फिर यह ऐसा क्यों हुआ? ज्ञात होता है कि अवश्य ही हमारी साधना में कोई भूल हुई है।' तब उन्होंने मन्त्र व्याकरण की विधि से न्यूनाधिक वर्णों के क्षेपने और अपचय करने के विधान से मंत्रों को शुद्ध करके फिर जपा। इस बार दो देवियों ने केयूर (भुजा पर

पहनने का आभरण), हार, नुपूर (बिछुवे), कटक (कंकण) और कटिसूत्र (करधानी) से सुसज्जित है दिव्य रूप धारण करके दर्शन दिया और सयक्ष उपस्थित होकर कहा—'कहिए किस कार्य के लिए हमें आज्ञा है ?' यह सुनकर मुनियो ने कहा—'हमारा ऐहिक और पारलौकिक ऐसा कोई भी कार्य नही है जिसे तुम सिद्ध कर सको। हमने तो केवल गुरुदेव की आज्ञा से मन्त्रों की सिद्धि की है।' मुनियों का अभीष्ट सुनकर देविया उसी समय अपने स्थान को चली गई। इस प्रकार से विद्यासाध करके सतुष्ट होकर उन दोनो मुनियों ने गुरुदेव के समीप जाकर अपना समस्त वृतान्त यथातथ्य निवेदन किया। उसे सुनकर श्री धरसेनाचार्य ने उन्हे अतिशय योग्य और अप्रनिम बुद्धिशाली समकफर शुभ तिथि, नक्षत्र और शुभ समय में ग्रथ का व्याख्यान करना प्रारम्भ किया ओर वे मुनि भी आलस्य छोडकर गुरु विनय तथा ज्ञान विनय की पालना करते हुए अध्ययन करने लगे। कुछ दिन के अनन्तर आषाढ शुक्ल ग्यारस को विधिपूर्वक ग्रथ समाप्त हुआ। उस दिन देवों ने प्रसन्न होकर प्रथम मुनि की दंतपक्ति को जो विषम रूप थी कुन्द के पुष्पो सरीखा कर दिया और उनका पुष्पदत ऐसा सार्थक नाम रख दिया। इसी प्रकार से भूत जाति के देवो ने द्वितीय मुनि की तूर्यनाद, जयघोष तथा गध, माल्य, धूप आदि से पूजा करके उनका भी सार्थक नाम भूतपति रख दिया। दूसरे दिन गुरु ने यह साचकर कि—'मेरी मृत्यु का समय निकट है अत. यदि ये मेरे समीप रहेंगे तो दु खी होंगे'—उन दोनो को कुरीश्वर भेज दिया। तब वे नौ दिन चलकर उस नगर मे पहुँच गए। वहाँ आपाढ कृष्ण पचमी को (दक्षिण देश मे पहले शुक्ल पक्ष और पीछे कृष्ण पक्ष आता है) योग ग्रहण करके उन्होने वर्षाकाल समाप्त किया और पश्चात् दक्षिण की ओर विहार किया।

कुछ दिन पश्चात् वे दोनो महात्मा करहाट नगर में पहुचे। वहाँ श्री पुष्पदत मुनि ने अपने जिनपालित नाम भानजे को देखा और उसे जिनदीक्षा देकर वे अपने साथ में लेकर बनवास देश मे जा पहुचे। इधर भूतपति द्रविड देश के मथुरा नगर में पहुच गए। करहाट नगर से ही उक्त दोनो मुनियो का साथ छूट गया। श्री पुष्पदत मुनि ने जिनपालित को पढाने के लिए विचार किया कि कर्म प्रकृति प्राभृत की छह खडो मे उपसहार करके ग्रथ रूप रचना करनी चाहिए और इसीलिए उन्होने प्रथम ही जीवस्थानाधिकार की जिसमें गुणस्थान, जीव समास आदि बीस प्ररुपणाओं का वर्णन है, बहुत उत्तमता के साथ रचना की फिर उस शिष्य को सौ सूत्र पढाकर श्री भूतबलि मुनि के पास उनका अभिप्राय जानने के लिए अर्थात् यह जानने के लिए कि वे इस कार्य के करने मे सहमत है अथवा नही, और यदि है तो जिस रूप में रचना हुई है, उसके विषय मे उनकी क्या सम्मति है—भेज दिया। उसने भूतबलि महर्षि (भूतबलि भूतपति महर्षि का ही अपर नाम था) के समीप जाकर वे प्ररुपणा सूत्र सुना दिए जिन्हे सुनकर उन्होने श्री पुष्पदत मुनि का षठ्खड रूप आगम रचना का अभिप्राय जान

लिया और अब लोग दिनोंदिन अल्पायु और अल्पमति होते जाते है—ऐसा विचार कर उन्होंने स्वय पाच खडो में पूर्व सूत्रों सहित छह हजार श्लोक विशिष्ट द्रव्य प्ररुपणाद्यधिकार की रचना की और उसके पश्चात् महाबंधनामक छठे खंड को तीस हजार सूत्रो में समाप्त किया। पहले पाच खंडों के नाम ये हैं—

(१) जीवस्थान, (२) क्षुल्लकबध, (३) बंधस्वामित्व, (४) भाव वेदना और (५) वर्गणा।

श्री भूतबलि मुनि ने इस प्रकार षट्खडागम की रचना करके उसे असद्भाव स्थापना के द्वारा पुस्तको में आरोपण किया अर्थात लिपिबद्ध किया और उसकी ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को चतुर्विध सघ सहित वेष्टनादि उपकरणों के द्वारा क्रियापूर्वक पूजा की। उसी दिन से यह ज्येष्ठ शुक्ला पचमी संसार में 'श्रुतपंचमी' के नाम से प्रख्यात हो गई। इस दिन श्रुत का अवतार हुआ है इसीलिए अद्यपर्यन्त समस्त जैनी उक्त तिथि को श्रुतपूजा करते हैं।

कुछ दिन के पश्चात् भूतबलि आचार्य ने षट्खड आगम का अध्ययन करके जिन-पालित शिष्य को उक्त पुस्तक देकर श्री पुष्पदत गुरु के समीप भेज दिया। जिनपालित के हाथ में षट्खड आगम देखकर और अपना चिंतवन किया हुआ कार्य पूर्ण हुआ जानकर श्री पुष्पदताचार्य का समस्त शरीर प्रगाढ श्रुतानुराग में तन्मय हो गया और तब अतिशय आनन्दित होकर उन्होने भी चतुर्विध सघ के साथ श्रुत पंचमी को गध, अक्षत, माल्य, वस्त्र, वितान, घटा, ध्वजा आदि द्रव्यों से पूर्ववत् सिद्धान्त ग्रन्थ की महापूजा की।

इस प्रकार षट्खडआगम की उत्पत्ति का वर्णन करके अब कषाय प्राभृत् सूत्रों की उत्पत्ति का कथन करते हैं—बहुत कठिनता से श्रीधरसेनाचार्य के समय में एक श्री गुणधर नाम के आचार्य हुए। उन्हें पाचवें ज्ञान प्रवाद पूर्व के दशम् बरस्तु के तृतीय कषाय प्राभृत् का ज्ञान था। उन्होने भी वर्तमान पुरुषों की शक्ति का विचार करके कषाय प्राभृत आगम को जिसे दोष प्राभृत् भी कहते हैं, एक सौ तिरासी मूलगाथा और तरेपन विवरण रूप गाथाओ में बनाया। फिर पन्द्रह महाधिकारों में विभाजित करके श्री नागहस्ती और आर्य-मक्षु मुनियों के लिए उसका व्याख्यान किया। पश्चात् उक्त दोनों मुनियों के समीप शास्त्र निपुण श्री यतिवृषम नामक मुनि ने दोष प्राभृत के उक्त सूत्रों का अध्ययन करके पीछे उनकी सूत्र रूप चूर्ण वृत्ति छह हजार श्लोक प्रमाण बताई। अनन्तर उन सूत्रों का भली-भाति अध्ययन करके श्री उच्चारणाचार्य ने बाहर हजार श्लोक प्रमाण। उच्चारणवृत्ति नाम की टीका बनाई। इस प्रकार से गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य ने कषाय प्राभृत का गाथा चूर्णि और उच्चारण वृत्ति में उपसहार किया। इस प्रकार से उक्त दोनों कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत सिद्धान्तों का ज्ञान द्रव्य भाव रूप पुस्तकों से (लिखित ताडपत्र वा कागज आदि की पुस्तकों को द्रव्य पुस्तक और उसके कथन को भाव पुस्तक कहते हैं) और

गुरु परम्परा से कुडकुदपुर में ग्रथ परिकर्म (चूलिका सूत्र) के कर्त्ता श्री पद्ममुनि को प्राप्त हुआ सो उन्होंने भी छह खडो में से पहले तीन खडो की बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका रची। कुछ काल बीतने पर श्री श्यामकुड आचार्य ने सम्पूर्ण दोनों आगमो को पढकर केवल एक छठे महाबध खड को छोडकर शेष दोनो ही प्राभृतो की बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका बनाई। इन्ही आचार्य ने प्राकृत, सस्कृत और कर्णाटक भाषा की उत्कृष्ट पद्धति (ग्रन्थ परिशिष्ट) की रचना की।

कालातर मे तार्किक सूर्य श्री समन्तभद्र स्वामी का उदय हुआ। तब उन्होंने भी दोनो प्राभृतो का अध्ययन करके प्रथम पाच खडो की अडतालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका अत्यन्त सुन्दर और सुकोमल सस्कृत भाषा मे बनाई। पीछे उन्होने द्वितीय सिद्धान्त की व्याख्या लिखनी भी प्रारम्भ की थी परन्तु द्रव्यादि शुद्धिकरण प्रयत्नों के अभाव से उनके एक साधर्मी मुनि ने निषेध कर दिया जिसमे वह नही लिखी गई। इस प्रकार व्याख्यान क्रम (टीकादि) से तथा गुरु परम्परा से उक्त दोनो सिद्धान्तो का बोध अतिशय तीक्ष्ण बुद्धिशाली श्री शुभनदि और विनदि मुनि को प्राप्त हुआ। ये दोनो महामुनि भीमरथी और कृष्णमेणा नदियो के मध्य में बसे हुए रमणीय उत्कलिका ग्राम के समीप सुप्रसिद्ध मगणबल्ली ग्राम मे उपस्थित थे। उनके समीप रहकर श्री बप्पदेव गुरु ने दोनो सिद्धान्तो का श्रवण किया और फिर तज्जन्य ज्ञान से उन्होने महाबध खड का छोडकर शेष पाच खडो पर व्याख्या प्रज्ञप्ति नाम की व्याख्या बनाई। उसमे महाबध का सक्षेप भी सम्मिलित कर दिया। पश्चात् कषाय प्राभृत पर प्राकृत भाषा में साठ हजार और केवल महाबध खड पर आठ हजार पाच श्लोक प्रमाण दो व्याख्याये रची। कुछ समय पीछे चित्रकूटपुर निवासी श्रीमान् एलाचार्य सिद्धान्त तत्वों के ज्ञाता हुए। उनके समीप वीरसेनाचार्य ने समस्त' सिद्धान्त का अध्ययन किया और उपरितम (प्रथम के) निबधनादि आठ अधिकारो को लिखा। पश्चात् गुरु भगवान की आज्ञा से चित्रकूट छोडकर वेवाट ग्राम में पहुचे। वहाँ आनतेन्द्र के बनाए हुए जिनमदिर में बठकर उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति देखकर पूर्व के छह खडो मे से उपरितम बधनादिक अठारह अधिकारों में सत्कर्मनाम का ग्रन्थ बनाया और फिर छहो खडो पर बहत्तर हजार श्लोको में सस्कृत प्राकृत भाषा मिश्रित धवल नाम की टीका बनाई। फिर कषाय प्राभृत की चारो विभक्तियो (भेदो) पर जयधवल नाम की बीस हजार श्लोक परिमित टीका लिखकर स्वर्गलोक को पधारे। उनके पश्चात् उनके प्रिय शिष्य श्री जयसेन गुरु ने चालीस हजार श्लोक और बनाकर जयधवल टीका को पूर्ण किया। जयधवल टीका सब मिलाकर साठ हजार श्लोको में पूर्ण हुई। इस प्रकार श्रुतोत्पत्ति का विवरण लिखकर इस विषय को समाप्त करते हैं।

यह स्मरण करने योग्य है कि ये उन्ही परोपकारी महात्माओ के परीश्रम का फल है जो उनके द्वारा निर्मित सिद्धान्त ग्रथो के प्रभाव से आज ससार मे हमारे जैनधर्म का

अस्तित्व पाया जाता है जिनमें से असख्य ग्रंथों का तो अन्यायी राजाओ के शासन काल में तथा अन्याय मतों के विकास समय में प्राय. लोप हो गया। अगणित ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी अब भी ऐसे-ऐसे संस्कृत व प्राकृत भाषा के काव्य कोष व्याकरणादि न्याय तथा तत्व-ज्ञान के प्ररुपक अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ रत्न उपलब्ध होते है जिनके ज्ञाता विद्वान वर्तमान समय में विरले अर्थात् इने-गिने ही पाए जाते है। हमें अपने उन पूर्वज महा परोपकारी ऋषि महर्षियो का कृतज्ञतापूर्वक भक्ति व श्रद्धा के साथ भजन, स्तवन तथा गुणानुवाद करना चाहिए।

भारतवर्ष में एक मान्यखेट नाम का नगर था। उसके राजा शुभतुग थे और उनके मत्री का नाम पुरुषोत्तम था । पुरुषोत्तम की गृहणी पद्मावती थी। उसके दो पुत्र हुए, उनके नाम थे, अकलंक और निकलक। वे दोनो भाई बड़े बुद्धिमान और गुणी थे। एक दिन की बात है कि अष्टान्हिका पर्व की अष्टमी के दिन पुरुषोत्तम और उसकी पत्नी बड़ी विभूति के साथ चित्रगुप्त मुनिराज की वन्दना करने को गए। साथ में दोनो भाई भी गए। मुनिराज की वन्दना करके इनके माता-पिता ने आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिया और साथ मे विनोद वश अपने दोना पुत्रा को भी दिलवा दिया। कभी-कभी सत्पुरुषो का विनोद भी सत्यमार्ग का प्रदर्शक बन जाता है। अकलक ओर निकलक के चित्त पर भी पुरुषोत्तम के दिलवाए गए व्रत का ऐसा ही प्रभाव पड़ा। जब ये दोनो भाई युवावस्था में पदार्पण करने लगे तब कुछ दिनों के पश्चात् पुरुपोत्तम ने अपने पुत्रो के व्याह की आयोजना की तब दोनो भाइयो ने मिलकर अपने पिता से निवेदन किया—'पिता जी ! इतना भारी आयोजन और इतना परिश्रम आप किस लिए कर रहे है ?' अपने भोले-भाले पुत्रो का मधुर सभापण सुनकर पुरुषोत्तम ने कहा—'ये सब आयोजन तुम्हारे व्याह के लिए है।' पिता का उत्तर सुनकर दोनो भाइयो ने फिर कहा—'पिता जी ! अब हमारा व्याह कैसा ? आपने तो हमें ब्रह्मचर्य व्रत दे दिया था।' पिता जी ने कहा—'नही। वह तो केवल विनोद से दिया गया था।' तब उन बुद्धिमान भाइयों ने कहा 'पिता जी ! धर्म और व्रत मे विनोद कैसा, यह हमारी समझ में नही आया। अच्छा आपने विनोद से ही दिया सही तो अब उसके पालन करने भी हमें लज्जा कैसी ? पुरुपोत्तम ने फिर कहा—'अस्तु। जैसा तुम कहते हो वैसा ही सही परन्तु तब तो केवल आठ ही दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत दिया था, न कि आयु पर्यन्त।' तब दोनों भाइयों ने कहा—'पिता जी ! हम मानते है कि आपने अपने भावो से हमें आठ ही दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाया होगा, परन्तु न तो आपने उस समय इसका खुलासा कहा था और न मुनिराज ने ही। तब हम कैसे समझे कि व्रत आठ ही दिन के लिए था। अतएव हम तो अब उसका आजन्म पालन करेगे। ऐसी हमारी दृढ प्रतिज्ञा है। हम सब विवाह नही करेगे। पुत्रो की बातो को सुनकर उनके पिता को बड़ी निराशा हुई

पर वे कर भी क्या सकते थे। यह कहकर दोनों भाइयों ने गृहकार्य से सम्बन्ध छोडकर अपना चित्त शास्त्राभ्यास की ओर लगाया। थोड़े ही दिनो मे ये अच्छे विद्वान बन गए। इनके समय में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार था अतएव उन्हे उसके तत्व को जानने की जिज्ञासा हुई। उस समय मान्यखेट मे ऐसा कोई विद्वान नही था जिससे ये बौद्ध धर्म का अभ्यास करते इसीलिए ये एक अज्ञविद्यार्थी का भेष बनाकर महाबोधि नामक स्थान में बौद्धधर्माचार्य के पास गए। आचार्य ने इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके कहा कि कही ये छली तो नहीं है। जब उन्हे इनकी तरफ से दृढ विश्वास हो गया तब वे और शिष्यो के साथ-साथ उन्हें भी पढ़ाने लगे। ये अन्तरग मे तो पक्के जिनधर्मी और बाहर एक महामूर्ख बनकर स्वख्यं-जन सीखने लगे। निरन्तर बौद्धधर्म श्रवण करते रहने से अकलक देव की बुद्धि बड़ी विलक्षण हो गई। उन्हे एक ही बार के सुनने से कठिन से कठिन बात भी याद होने लगी और निकलक को दो बार के सुनने से अर्थात् अकलक एक सस्थ और निकलक दो सस्थ हो गए। इस प्रकार वहाँ रहते-रहते दोनो भाइयो का बहुत समय बीत गया। एक दिन की बात है कि बौद्ध गुरु अपने शिष्यो को पढ़ा रहे थे उस समय जैनधर्म के सप्तभगी न्याय सिद्धान्त का प्रकरण था। वहाँ कोई ऐसा अशुद्ध पाठ आ गया जो बौद्ध गुरु की समझ मे न आया तब वे अपने व्याख्यान को वही समाप्त कर कुछ समय के लिए बाहर चले आये। अकलक बड़े बुद्धिमान थे वे बौद्ध गुरु के अभिप्राय को समझ गये। इसीलिए उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी के साथ उस पाठ को शुद्ध कर दिया और उसकी खबर किसी को न होने दी। इतने में पीछे बौद्ध गुरु आये उन्होने अपना व्याख्यान आरम्भ किया। जो पाठ अशुद्ध था वह अब देखते ही उनकी समझ में आ गया। वह देखकर उन्हे सन्देह हुआ कि अवश्य इस जगह कोई जिनधर्म रूप समुद्र का बढाने वाला चन्द्रमा है और वह हमारे धर्म को नष्ट करने की इच्छा से बौद्ध भेष धारण करके बौद्ध शास्त्र का अभ्यास कर रहा है। उसको शीघ्र ही खोज लगाकर मरवा डालना चाहिए। इस विचार के साथ बौद्ध गुरु ने सब विद्यार्थियो को शपथ प्रतिज्ञा आदि देकर पूछा पर जैनधर्मी का पता उन्हे नही लगा तब उन्होने जैन प्रतिमा मगाकर उसको लाघ जाने के लिए सबको कहा। सब विद्यार्थी तो लांघ गये पर अब अकलंक की बारी आई। उन्होने अपने कपड़े में से एक सूत का धागा निकाल कर उसे प्रतिमा पर डाल दिया और उसे परिग्रही समझकर वे उसे लाघ गये। यह कार्य इतनी जल्दी किया गया कि किसी को समझ मे न आया। बौद्ध गुरु इस कार्य मे भी जब कृतकार्य न हुए तब उन्होने एक और नवीन युक्ति की। उन्होने बहुत मे काँसी के बरतन एकत्रित करवाये और उन्हें एक बडी भारी गौन मे भरकर वह बहुत गुप्त रीति से विद्यार्थियो के सोने की जगह के पास रखवा दी और विद्यार्थियो की देख-रेख के लिए अपना एक गुप्तचर रख दिया। आधीरात के समय जब सब विद्यार्थी निडर होकर निद्रा देवी की गोद में सुख का अनुभव कर

रहे थे, किसी को कुछ मालूम न था कि हमारे लिए क्या षडयन्त्र रचे जा रहे है। एकाएक बड़ा विकराल शब्द हुआ मानो आकाश में विद्युत्पात हुआ हो। सब विद्यार्थी उस भयंकर शब्द से थरथरा उठे वे अपना जीवन बहुत थोड़े समय के लिए समझकर अपने उपास्य परमात्मा का स्मरण कर उठे और अकलंक निकलक भी पचनमस्कार मत्र का ध्यान करने लगे। पास ही बौद्ध गुरु का गुप्तचर खड़ा हुआ था वह उन्हे बुद्ध भगवान का स्मरण करने की जगह जिन भगवान का स्मरण करते देखकर बौद्ध गुरु के पास ले गया और गुरु से उसने प्रार्थना की—'प्रभो! आज्ञा दीजिये कि इन दोनो धूर्तो का क्या किया जाए। ये ही जैनी है।, यह सुनकर वह दुष्ट बौद्ध गुरु बोला—'इस समय रात बहुत थोड़ी है अतएव इन्हे ले जाकर कारागार में बन्द करा दो। अर्द्धरात्रि व्यतीय हो जाने पर इनको धराशायी बना देना अर्थात् मार डालाना उस गुप्तचर ने इन दोनों भाइयो को ले जाकर कारावास में बन्द करवा दिया। अपने पर एक महाविपत्ति आई हुई देखकर निकलक ने बड़े भाई से कहा—'भैया! हम दोनो ने इतना कष्ट उठा कर तो विद्या प्राप्त की, पर बडे दु:ख की बात है कि उसके द्वारा हम कुछ भी जिनधर्म की सेवा न कर सके और एकाएक हमे मृत्यु का सामना करना पडा।' भाई की दुखभरी बात को सुनकर महाधीर, वीर अकलक ने कहा—'प्रिय भ्राता! तुम बुद्धिमान हो, तुम्हे भय करना उचित नही। घबराओ नही। अब भी हम अपने जीवन की रक्षा कर सकेंगे। देखो मेरे पास यह छत्री है इसके द्वारा अपने को छिपाकर हम लोग यहा से निकल चलते है और शीघ्र ही अपने स्थान पर जा पहुंचते है।' यह विचार कर वे दोनो भाई वहाँ से गुप्तरीति से निकल गये और पवन के सामान तीव्र गति से गमन करने लगे। इधर जब अर्धरात्रि व्यतीत हो चुकी और बौद्ध गुरु की आज्ञानुसार जब इन दोनों भाईयों के मारने का समय आया तब उन्हे पकड लाने के लिए सेवक लोग भेजे गये पर जब वे बन्दीगृह में जाकर उन्हे देखते है तो वहाँ उनका पता ही नही था। उन्हे उनके एकाएक लुप्त हो जाने से बड़ा विस्मय हुआ। पर वे क्या कर सकते थे। उन्हे उनके कही आस-पास ही छुपे रहने का सदेह हुआ उन्होने आस-पास, वन, उपवन, खण्डहर, वापिका, कूप, पर्वत, गुफा, वृक्षों के कोठर आदि सब एकाएक करके ढूंढ डाले। परन्तु उनका कही पता न चला। उन पापियों को तब भी तो सतोष नही हुआ। तब उनके मारने की इच्छा से अश्वारूढ़ होकर उन दुष्टों ने यात्रा की। उनकी दयारूपी बेल क्रोध रूपी दावानलाग्नि से खूब झुलस गई थी इसीलिये उन्हें ऐसा दुष्कर्म करने को बाध्य होना पड़ा। दोनो भाई भागते जाते थे और पीछे फिर-फिर कर देखते जाते थे कि कही किसी ने हमारा पीछा तो नही किया पर उनका सन्देह ठीक निकला। निकलक ने दूर तक देखा तो उसे आकाश में धूल उड़ती हुई दीख पड़ी। उसने बडे भाई से कहा—"भैया हम लोग जितना कुछ करते हैं, वह सब निष्फल हो जाता है। जान पडता है देव ने हम से पूर्ण शत्रुता बांधी है। खेद है कि परम पवित्र जिन शासन की हम लोग कुछ भी सेवा न कर सकें और मृत्यु ने

बीच ही में आकर हमको घर दबाया। भैया। देखो तो पापी लोग हमें मारने के लिए पीछा किये चले आ रहे है। अब रक्षा होना असम्भव है। हाँ, मुझे एक उपाय सूझ पड़ा है और उसे आप करेगे तो जैन धर्म का बडा उपकार होगा। आप बुद्धिमान है एक संस्थ हैं। आपके द्वारा जिन धर्म का खूब प्रकाश होगा। देखते है वह सरोवर है उसमें बहुत से कमल हैं। आप जल्दी जाइये और तालाब मे उतरकर कमलो में अपने को छुपा लीजिये। जाइये, शीघ्रता कीजिये। देरी का काम नही है। शत्रु पास पहुचे आ रहे है आप मेरी चिंता न कीजिये। मैं भी जहाँ तक बन सकेगा जीवन की रक्षा करूँगा और यदि मुझे अपना जीवन भी देना पडे तो मुझे उसकी कुछ उपेक्षा नही जबकि मेरे प्यारे भाई जीवित रहकर पवित्र जिनशासन की भरपूर सेवा करेगे। आप जाइये। मै भी अब यहाँ से भागता हूँ।" अकलक के नेत्रों से भाई की दु.खभरी बात सुनकर अश्रुधारा बहने लगी। उनका हृदय भ्रातृ प्रेम से भर आया। वे भाई से एक अक्षर तक भी न कह सके कि निकलक वहाँ से भाग खडा हुआ। लाचार होकर अकलक को अपने जीवन की नही अपितु पवित्र जिनशासन की रक्षा के लिए कमलो मे छुपना पड़ा, उनके लिए कमलो का आश्रय केवल दिखावा था। वास्तव में तो उन्होने जिसके बराबर ससार का कोई आश्रय नही हो सकता उस जिनशासन का आश्रय लिया था। निकलक भाई से विदा लेकर तेजी से भाग रहा था कि मार्ग मे उसे एक धोबी कपड़े धोता हुआ मिला। धोबी ने आकाश मे धूल की छटा छाई हुई देखकर निकलक से पूछा—"यह क्या हो रहा है और तुम ऐसे जी छोडकर क्यों भागे जा रहे हो ?" निकलक ने कहा—"पीछे शत्रुओं की सेना आ रही है, उसे जो मिलता है उसे ही वह मारती है इसीलिए मैं भागा जा रहा हूँ।" यह सुनते ही धोबी अपने कपडे वगैरह सब छोडकर निकलंक के साथ भाग निकला वे दोनो बहुत भागे पर कहाँ तक भाग सकते थे ? अन्त मे सवारों ने उन्हे आ ही पकड़ा और उसी समय अपनी चमचमाती हुई तलवार से दोनो का मस्तक काटकर उन्हे वे अपने स्वामी के पास ले गए। सच है पवित्र जिनधर्म, अहिंसाधर्म से रहित मिथ्यात्व को अपनाये हुए उन पापी लोगो के लिए ऐसा कौन-सा महापाप बाकी रह जाता है जिसे वे नही करते जिनके हृदय में जीव मात्र को सुख पहुँचाने वाले जिनधर्म का लेश मात्र भी नहीं है उन्हे दूसरो पर दया भी कैसे आ सकती है उधर शत्रु भी अपना काम कर वापिस लौटे और इधर अकलक अपने को सुरक्षित समझ कर सरोवर मे निकले और निडर होकर आगे बढे। वहा से चलते-चलते वे कुछ दिन के अनंतर कलिंग देशातर्गत रत्नसंचय-पुर नामक नगर मे पहुँचे। उस समय वहाँ के राजा हिमशीतल थे। उनकी रानी का नाम मदनसुन्दरी था। वह जिन भगवान की बडी भक्त थी। उसने मोक्ष, स्वर्ग और सुख के देने वाले पवित्र जिनधर्म की प्रभावना के लिए अपने बनवाये हुए जिनमन्दिर में फाल्गुण शुक्ल अष्टमी के दिन से रथयात्रोत्सव का आरम्भ करवाया था। उसमें उसने बहुत द्रव्य व्यय किया

अकलंक-निकलंक
को राज सिपाही मारते हुवे

वहाँ संघश्री नामक बौद्धों का प्रधान आचार्य रहता था। उसे महारानी का कार्य सहन नहीं हुआ। उसने महाराज से कहकर रथयात्रा उत्सव रुकवा दिया और साथ ही वहाँ जिनधर्म का प्रचार न देखकर शास्त्रार्थ के लिए विज्ञापन भी निकाल दिया। महाराज ने अपनी महारानी से कहा—"प्रिये ! जब तक कोई जैन विद्वान बौद्ध गुरू के साथ शास्त्रार्थ करके जिनधर्म का प्रभाव न फैलावेगा तब तक तुम्हारा उत्सव होना कठिन है।" महाराज की बातें सुनकर रानी को बड़ा दुःख हुआ पर वह कर ही क्या सकती थी ? उस समय कौन उसकी आशा पूरी कर सकता था ? वह उसी समय जिन मन्दिर गई और वहाँ मुनियों को नमस्कार करके पूछने लगी—"प्रभो ! बौद्ध गुरु ने मेरा रथयात्रा उत्सव रुकवा दिया है। वह कहता है कि पहले मुझसे शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर लो फिर रथोत्सव करना। बिना ऐसा किये उत्सव न हो सकेगा इसीलिये मैं आपके पास आई हूँ। बतलाईये कि जैन दर्शन का अच्छा विद्वान कौन है जो बौद्ध गुरु को पराजित कर मेरी इच्छा पूर्ण करे।" यह सुनकर मुनि बोले—"इधर आस-पास तो कोई ऐसा विद्वान रही दिखता जो बौद्ध गुरू के सन्मुख शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त कर सके परन्तु मान्यखेट नगर मे ऐसे विद्वान अवश्य है। उनके बुलवाने का आप प्रयत्न करे तो सफलता प्राप्त हो सकती है।" रानी ने कहा —"वाह ! आपने बहुत अच्छी बात कही, सर्प तो शिर के पास फुकार रहा है और आप कहते है कि गरूड अभी दूर है। भला उससे क्या सिद्धि हो सकती है ? अस्तु जान पड़ा कि आप लोग इस महाविपत्ति का सद्य प्रतीकार नही कर सकते दैव को जिनधर्म का पतन कराना ही इष्ट मालूम होता है। जब मेरे पवित्र धर्म की दुर्दशा होगी तब मैं ही जीवित रहकर क्या करूँगी ?" यह कहकर महारानी महल से अपना सम्बन्ध छोड़कर जिन मन्दिर गई और उसने यह दृढ प्रतिज्ञा की कि जब बौद्ध गुरु सघश्री का मिथ्याभिमान चूर्ण होकर मेरा रथोत्सव बडे ठाट बाट के साथ निकलेगा और जिनधर्म की खूब प्रभावना होगी तब ही मै भोजन करूँगी। नही तो वैसे ही निराहार रहकर अपने प्राण विसर्जन करूंगी ! परन्तु अपनी आखों से परम पूज्य व पवित्र जिनशासन की दुर्दशा न देख सकूँगी अर्थात् कभी नही देखूँगी। ऐसा हृदय मे दृढ निश्चय करके मदनसुन्दरी जिनेन्द्र भगवान के सन्मुख कायोत्सर्ग धारण कर एकचित्त हो पचनमस्कार मत्र की आराधना करने लगी। उस समय उसकी ध्यानारूढ़ निश्चल अवस्था ऐसी प्रतीत होती थी मानों सुमेरू पर्वत की चूलिका हो। 'भव्यों को जिन भक्ति का फल अवश्य ही मिलती है'—इस नीति के अनुसार महारानी भी उससे वचित नही रही महारानी के निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती का आसन कंपित हुआ। वह अर्द्धरात्रि के समय आई और महारानी से बोली —"देवी ! जब तुम्हारे हृदय में जिन भगवान के चरण कमल शोभित हैं तब तुम्हे चिंता करने की कोई आवश्यकता नही। उनके प्रसाद से तुम्हारा मनोरथ नियम से पूर्ण होगा। सुनो ! कल प्रातः काल ही भगवान अकलक देव उधर आयेंगे। वे जैन धर्म के बड़े भारी

विद्वान है। वे ही सघश्री का मद चूर्ण कर जैन धर्म की खूब प्रभावना करेंगे और तुम्हारा रथोत्सव कार्य निर्विघ्न समाप्त करेंगे। उन्हे अपने मनोरथ के पूर्ण करने वाले मूर्तिमान शरीर समझो।"—यह कहकर पद्मावती अपने स्थान पर चली गई। देवी की बात सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। प्रात काल होते ही उसने महाभिषेक-पूर्वक पूजा की। तदनन्तर उसने अपने राजकीय प्रतिष्ठित पुरुषो को अकलक देव को ढूढ़ने के लिए चारों ओर दौड़ाया। उनमें जो पूर्व दिशा की ओर गये थे उन्होने एक उपवन मे अशोक वृक्ष के नीचे बहुत से शिष्यो के साथ एक महात्मा को बैठे देखा। उनके किसी एक शिष्य से महात्मा का नाम-धाम पूछकर वे अपनी मालकिन के पास आ गए और सब हाल उन्होंने उससे कह सुनाया। यह सुनकर धर्मवत्सला वह रानी खान-पान आदि सब सामग्री लेकर अपने साधर्मियों के साथ बडे वैभव से महात्मा अकलक के निकट गई। वहाँ पहुँचकर उसने बडे प्रेम और भक्ति से उन्हे प्रणाम किया उनके दर्शन से रानी को अत्यन्त आनन्द हुआ जैसे सूर्य को देखकर कमलिनी को और मुनियो का तत्व ज्ञान देखकर बुद्धि को आनन्द हुआ करता है। तत्पश्चात् रानी ने धर्म-प्रेम वश होकर अकलक देव की चदन, अगर फल, फल, वस्त्रादि से बडी विनय के साथ पूजा की और पुन. प्रणाम कर उनके पास बैठ गई। उसे आशीर्वाद देकर पवित्रात्मा अकलक बोले—"देवी! तुम अच्छी तरह तो हो और सब सघ भी अच्छी तरह है?" महात्मा के वचन को सुनकर रानी की आँखो मे आसू बह निकले। उसका गला भर आया। वह बडी कठिनता से बोली—प्रभो! सघ है तो कुशल पर इस समय उसका घोर अपमान हो रहा है। इसका मुझे बड़ा दु ख है" यह कहकर उसने सघश्री का सब हाल अकलक देव से निवेदन किया। वह सुनकर पवित्र धर्म का अपमान अकलक न सह सके। उन्हे क्रोध आ गया। वे बोले—"वह बराक सघश्री मेरे पवित्र धर्म का अपमान करता है पर वह मेरे सामने है कितना, इसकी उसे खबर नही है। अच्छा उसके अभिमान को देखूगाँ कि वह कितना पाडित्य रखता है। मेरे साथ खास बुद्ध तक तो शास्त्रार्थ करने की हिम्मत नही रखता तब वह बेचारा किस गिनती मे है।" इस तरह रानी को सन्तुष्ट करके अकलक देव ने सघश्री के शास्त्रार्थ के विज्ञापन की स्वीकारता उसके पास भेज दी और आप बड़े उत्सव के साथ जिन मन्दिर में आ पहुँचे। पत्र सघश्री के पास पहुँचा उसे देखकर और लेखन शैली को पढकर उसका चित्त क्षोभित हो उठा। अत मे उसे अपनी वचन पूर्णता करने को शास्त्रार्थ के लिए तैयार होना ही पड़ा। अकलक के आने का समाचार महाराज हिमशीतल के पास पहुँचा। उन्होने उसी समय बड़े आदर के साथ उन्हे राजसभा में बुलवाकर सघश्री के साथ उनका शास्त्रार्थ करवाया, सघश्री उनके साथ शास्त्रार्थ करने को तो तैयार हो गया पर जब उसने अकलक देव के प्रश्नोत्तर करने का पाडित्य देखा और उसने अपनी शक्ति की तुलना की, तब उसे
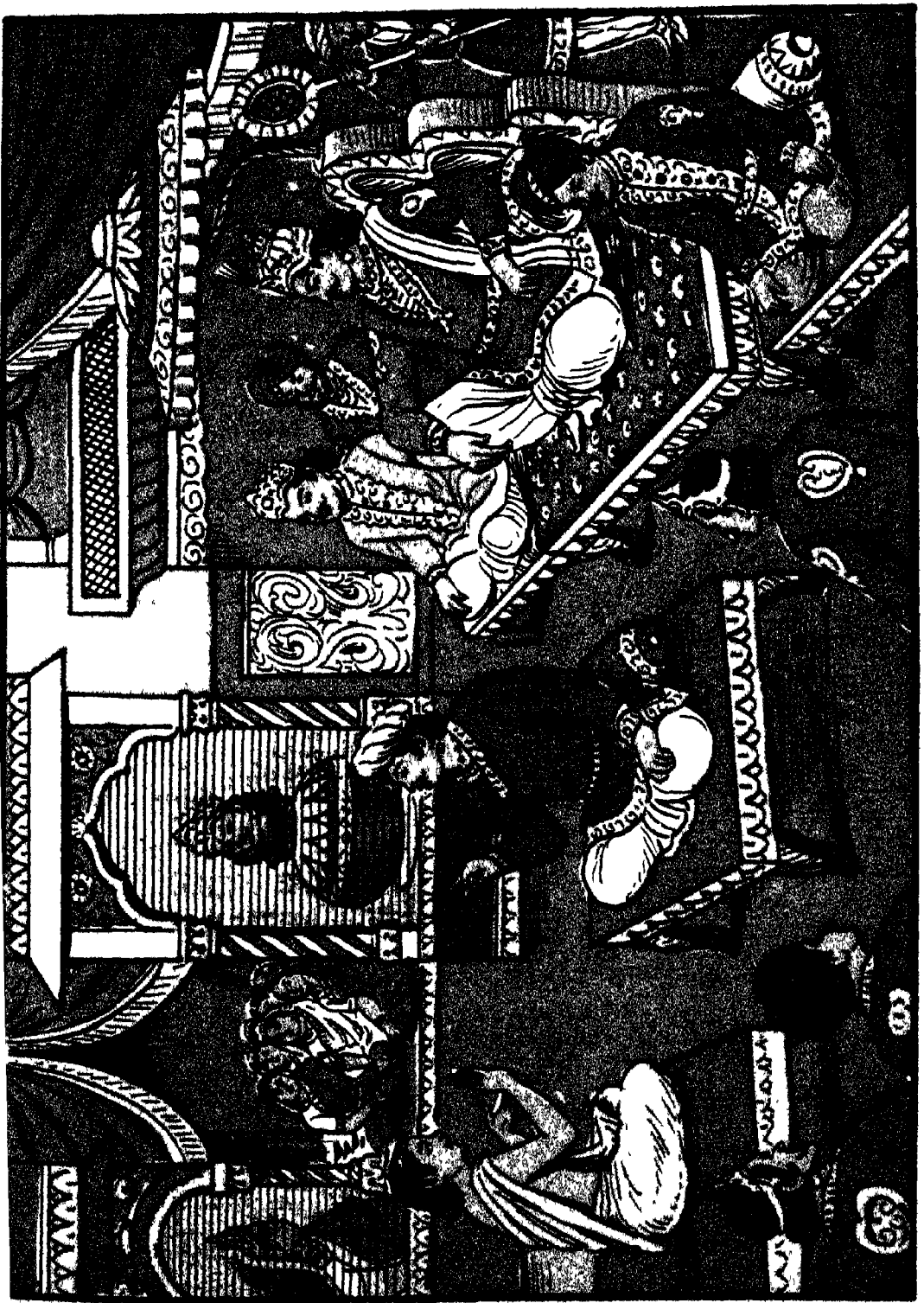
ज्ञात हुआ कि मैं अकलंक के साथ शास्त्रार्थ करने में अशक्त हूँ पर राजसभा में ऐसा कहना भी उसने उचित न समझा क्योंकि उससे उसका अपमान होता। तब उसने एक नवीन युक्ति सोचकर राजा से कहा—"महाराज! यह धार्मिक विषय है इसकी समाप्ति होना कठिन है अतएव मेरी इच्छा है कि यह शास्त्रार्थ सिलसिलेवार तब तक चलना चाहिए जब तक एक पक्ष पूर्ण निरुत्तर न हो जाए" राजा ने अकलक की अनुमति लेकर सघश्री के कथन को मान लिया। उस दिन का शास्त्रार्थ बन्द हुआ। राजसभा भंग हुई। अपने स्थान पर संघश्री ने जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म के विद्वान रहते थे उनको बुलाने अपने शिष्यों को भेजा और स्वय रात्रि के समय अपने धर्म को अधिष्ठात्री देवी की आराधना की। देवी उपस्थित हुई। संघश्री ने उससे कहा—"देखती हो धर्म पर बड़ा सकट उपस्थित हुआ है। उसे दूरकर आपको धर्म की रक्षा करनी होगी। अकलक बडा विद्वान पडित है। उसके साथ शास्त्रार्थ कर विजय प्राप्त करना असम्भव है इसीलिए मैने तुम्हे इतना कष्ट दिया है। यह शास्त्रार्थ मेरे द्वारा तुम्हे करना होगा और अकलक को पराजित कर बौद्ध धर्म की महिमा प्रगट करनी होगी। बोलो क्या कहती हो?" उत्तर मे देवी ने कहा—"हाँ। मैं शास्त्रार्थ करूँगी सही परन्तु खुली सभा मे नही अपितु परदे के भीतर घडे में रहकर" "तथास्तु" कहकर सघश्री ने देवी को विसर्जित किया और आप फिर निद्रा देवी की आराधना में जा लगा। प्रातःकाल होने पर शौच, स्नान, देव पूजन आदि नित्य कर्म से निवृत होकर सघश्री राज सभा में पहुँचा और राजा से बोला—"महाराज! हम आज शास्त्रार्थ परदे के भीतर रहकर करेगे। हम शास्त्रार्थ करते समय किसी का मुख नही देखेगे। आप पूछेगे क्यो! इसका उत्तर अभी न देकर शास्त्रार्थ के अन्त मे दिया जायगा।" राजा सघश्री के कपट जाल को कुछ न समझ सके (उसने जैसा कहा वैसा उन्होने स्वीकार कर उसी समय वहाँ एक परदा डलवा दिया। सघश्री ने उसके भीतर जाकर बुद्ध भगवान की पूजा की और देवी की पूजा कर उसका एक घड़े में आह्वानन किया। धूर्त लोग बहुत कुछ छल-कपट करते है पर अन्त में उसका फल अच्छा न होकर बुरा ही होता है। तदनन्तर घड़े की देवी अपने में जितनी शक्ति थी उसे प्रगट कर अकलक के साथ शास्त्रार्थ करने लगी। इधर अकलक देव भी देवी के प्रतिपादन किये हुए विषय का अपनी भारती द्वारा दिव्य खण्डन और अपने पक्ष का समर्थन तथा विपक्ष का खण्डन करने वाले परम पवित्र अनेकान्त स्याद्वाद मत का समर्थन बडे ही पाडित्य के साथ निडर होकर करने लगे। इस प्रकार शास्त्रार्थ होते होते छ महीने बीत गए पर किसी की विजय न होने पाई। यह देखकर अकलक देव को बड़ी चिन्ता हुई। उसने सोचा कि सघश्री साधारण पढ़ा लिखा और जो पहले ही दिन मेरे सन्मुख थोडी देर भी न ठहर सका था वह आज बराबर छ. महीने से शास्त्रार्थ करता चला आ रहा है। इसका क्या कारण है वह नही जान पडता। उन्हे इसकी चिंता हुई पर वे कर ही क्या सकते थे? एक दिन वे इसी चिता मे डबे हुए थे कि इतने में जिन शासन की अधिष्ठात्री चक्रेश्वरी देवी

आ गई और अकलक देव से बोली--'प्रभो ! आपके साथ शास्त्रार्थ करने को मनुष्य मात्र में शक्ति नही है और बेचारा सघश्री भी तो मनुष्य है तब उसकी क्या मजाल जो आप से शास्त्रार्थ कर सके। पर यहाँ तो बात कुछ और ही है। आपके साथ जो शास्त्रार्थ करता है वह संघश्री नही है किन्तु बुद्ध धर्म की अधिष्ठात्री देवी तारा है। इतने दिनो से वही शास्त्रार्थ कर रही है। सघश्री ने उसकी आराधना कर उसे यहाँ बुलाया है। अतएव कल जब शास्त्रार्थ होने लगे और देवी उस समय जो कुछ प्रतिपादन करे तब आप उससे उसी विषय का फिर से प्रतिपादन करने के लिए कहिये। वह उसे फिर न कह सकेगी तब उसे अवश्य ही नीचा देखना पडेगा"—यह कहकर देवी अपने स्थान पर चली गई। अकलक देव की चिता दूर हुई। वे बडे प्रसन्न हुए। प्रात काल हुआ। अकलक देव अपने नित्य कर्म से मुक्त होकर जिन मन्दिर मे गए। पूर्ण भक्ति भाव से उन्होने भगवान की स्तुति की। तत्पश्चात् वे वहा से सीधे राज सभा में आए उन्होने महाराज शुभ तु ग को सम्बोधन करके कहा— "राजन् ! इतने दिनो तक मैने शास्त्रार्थ किया। उसका यह प्रयोजन नही था कि मै सघश्री को पराजित नही कर सका परन्तु ऐसा करने से मेरा अभिप्राय जिनधर्म के बतलाने का था। वह मैंने बतलाया पर मैं अब इस सवाद का अन्त करना चाहता हूँ। मैंने आज निश्चय कर लिया है कि मै आज इस सवाद की समाप्ति करके ही भोजन करूगाँ"—ऐसा कहकर उन्होने परदे की ओर देखकर कहा--"क्या जैन धर्म के सम्बन्ध मे कुछ और कहना बाकी है या मै शास्त्रार्थ समाप्त करू ?" यह कहकर जैसे ही वे चुप हुए कि परदे की ओर से फिर वक्तव्य आरम्भ हुआ। देवी अपना पक्ष समर्थन कर जैसे ही चुप हुई अकलक देव ने उसी समय कहा—' जो विषय अभी कहा गया है उसे फिर कहो वह मुझे ठीक नही सुनाई पडा।" आज अकलंक देव का नया ही प्रश्न सुनकर देवी का साहस एक साथ ही न जाने कहाँ चला गया। देवता जो कुछ कहते है वह एक ही बार कहते है। उसी बात को वह पुन नही कहते। तारा देवी का भी यही हाल हुआ। वह अकलक देव के प्रश्न का उत्तर न दे सकी अत उसे अपमानित होकर भाग जाना पडा जैसे सूर्योदय से रात्रि भाग जाती है। तत्पश्चात् अकलक देव उठे और परदे को फाडकर उसके भीतर घुस गये वहाँ जिस घडे मे देवी का आह्वान किया गया था वह उन्होंने पाँव की ठोकर से फाड़ डाला। सघश्री सरीखे जिनशासन के शत्रुओ का मिथ्यात्वियो का अभिमान चूर्ण किया। अकलक के इस विजय और जिनधर्म की प्रभावना ने मदनसुन्दरी और सर्वसाधारण को वडा आनन्द हुआ। अकलक ने सब लोगो के सामने जोर देकर कहा—"सज्जनो ! मैने इस धर्मशून्य सघश्री को तो पहले ही दिन पराजित कर दिया था किन्तु इतने दिन जो मैने देवी के साथ शास्त्रार्थ किया वह केवल जिनधर्म का महात्म्य प्रगट करने के लिए और सम्यक्ज्ञान का लोगो के हृदय पर प्रकाश डालने के लिये था' —यह कह कर अकलक देव ने इस श्लोक को पढ़ा—
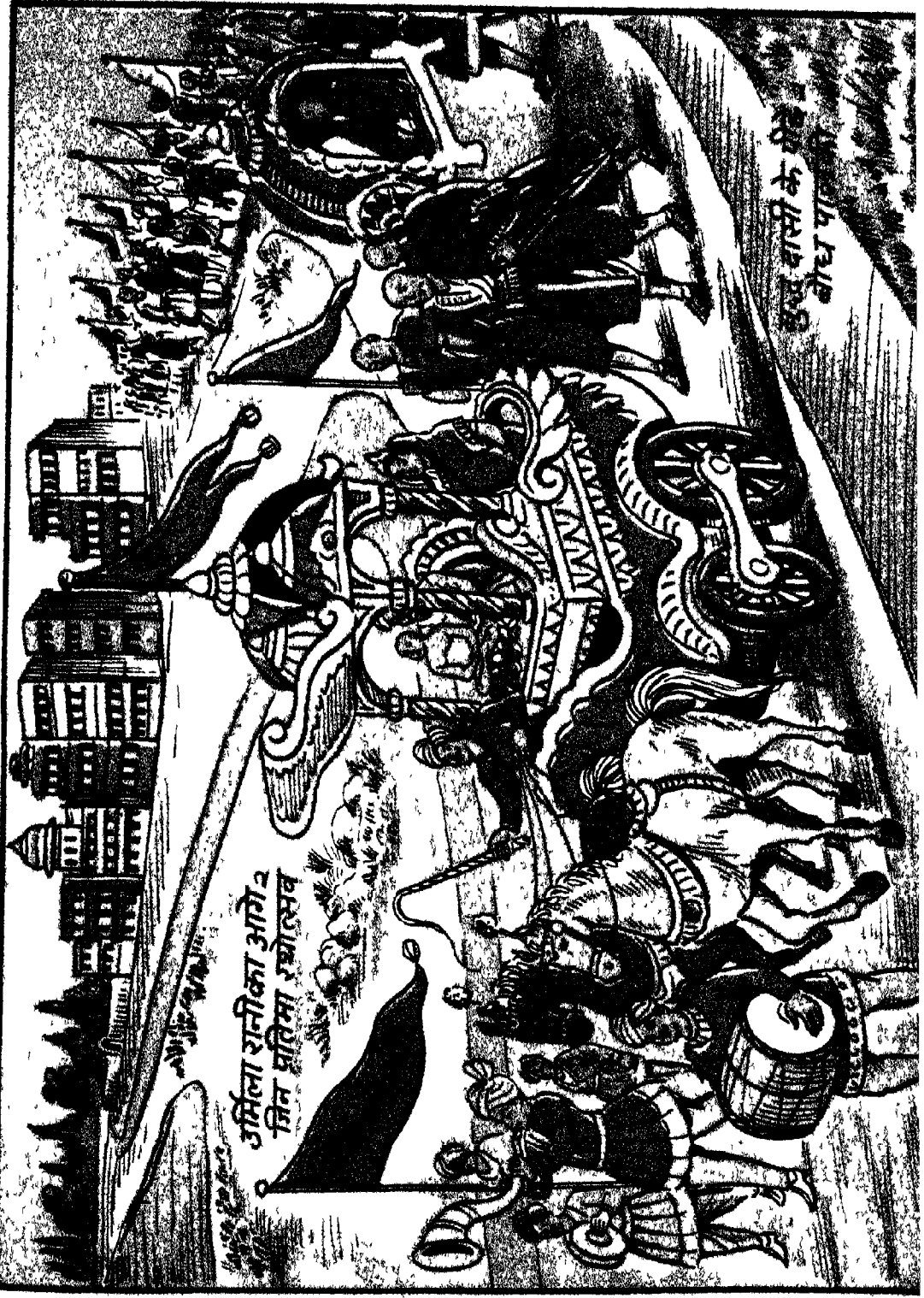
उर्मिला रानीका आगे २
जिन प्रतिमा रथोत्सव
बुद्ध दासी के पीछे २
बौद्ध पालकी

नाहंकार वशीकृते न मनसा, न द्वेषिणा केवलं।
नैरात्म्य प्रतिपद्य नश्यतिजने, कारुण्य बुद्धयामया ।।
राज्ञः श्री हिमशीतलस्य, सदस्य प्रायोविदग्धात्मनो ।
बौद्धोघान्सकलान्विजित्य सुगत., पादेनविस्फालितः ।।

महाराज हिमशीतल की सभा मे मैने सब बौद्ध विद्वानो को पराजित कर सुगत को ठुकराया । यह न तो अभिमान के वश होकर किया गया और न किसी प्रकार के द्वेष भाव से, किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनो पर मुझे बड़ी दया आ गई इसीलिये उनकी दया से बाध्य होकर मुझे ऐसा करना पड़ा । उस दिन से बौद्धों का राजा और प्रजा के द्वारा चारो ओर अपमान होने लगा, किसी की बौद्ध धर्म पर श्रद्धा नही रही, सब उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि बौद्ध लोग यहाँ से भाग कर विदेशो में जा बसे। महाराज हिमशीतल और प्रजा के लाग जिनशासन को प्रभावना देखकर बड़े खुश हुए। सबने मिथ्यात्व मत छाड़कर जिन धर्म स्वीकार किया और अकलक देव का सोने, रत्न आदि अलकारो से खूब आदर सत्कार किया, खूब उनकी प्रशसा की । सच बात है– 'जिन भगवान के पवित्र सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से कौन सत्कार का पात्र नही होता। अकलक देव के प्रभाव से जिन शासन का उपद्र १ टला देखकर महारानी मदन सुन्दरी ने पहले से कई गुणे उत्साह के साथ रथ निकलवाया। रथ बडी सुन्दरता के साथ सजाया गया था उसकी शोभा देखते ही बन पडती थी वह वेशकीमती वस्त्रो से सुशोभित था। छोटी-छोटी घटियाँ उसके चारो ओर लगी हुई थी । उसकी मधुर आवाज एक बडे घटे की आवाज से मिलकर जो कि उन घटियो के बीच में था बड़ी सुन्दर जान पडती थी । उस पर रत्नो और मोतियो की मालाये अपूर्व शोभा दे रही थी। उसके ठीक बीच में रत्नमयी सिंहासन पर जिन भगवान की बहुत सुन्दर प्रतिमा शोभित थी। वह मौलिक, छत्र, चमर भामडल आदि से अलकृत थी । रथ चलता जाता था और उसके आगे आगे भव्य पुरुष बडी शक्ति के साथ जिन भगवान की जय बोलते हुए और भगवान के अनेक प्रकार के पुष्पों की जिनकी सुगन्ध से सब दिशाये सुगन्धित होती थी, वर्षा करते चले जाते थे । चारण लोग भगवान की स्तुति पढ़ते जाते थे। वस्त्र, आभूषणो से सुसज्जित कुल कामिनियाँ सुन्दर-सुन्दर मधुर स्वर से गीत गाती चली जाती थीं। नर्तकियाँ नृत्य करती जाती थी। अनेक प्रकार के बाजो का सुन्दर शब्द दर्शको के मन को अपनी ओर आकर्षित करता था। इन सब शोभाओं से रथ ऐसा जान पडता था मानो पुण्यरूपी रत्नों को उत्पन्न करने को चलने वाला वह एक दूसरा रोहण पर्वत उत्पन्न हुआ है। उस समय जो याचको को दान दिया जाता था, वस्त्राभूषण वितीर्ण किये जाते थे उससे रथ की शोभा एक चलते हुए कल्प वृक्ष की सी जान पड़ती थी। हम रथ की शोभा का कहाँ तक वर्णन करे ? आप इसी से अनुमान कर लीजिये कि जिसकी

शोभा को देखकर ही बहुत से अन्य धर्मी लोगों ने जब सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया तब उसकी सुन्दरता का क्या ठिकाना है ? इत्यादि दर्शनीय वस्तुओं से सजाकर रथ निकाला गया उसे देखकर यही जान पड़ता था मानो महादेवी मदन सुन्दरी की यशोराशि ही चल रही है। वह रथ भव्य पुरुषो के लिए सुख देने वाला था। उस सुन्दर रथ की हम प्रतिदिन भावना करते है। उसका ध्यान करते है। वह हमें सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी प्रदान करे। जिस प्रकार अकलक देव ने सम्यग्ज्ञान की प्रभावना की। उसका महत्त्व सर्व साधारण लोगो के हृदय पर अकित कर दिया उसी प्रकार और-और भव्य पुरुषो को भी उचित है कि वे भी अपने मे जिस तरह बन पडे जिन धर्म की प्रभावना करे। जैन धर्म के प्रति उनका जो कर्त्तव्य है उसे वे पूरा करे।

।। इति ज्ञानोद्योतक श्रीमद अकलंकदेवाख्यानं समाप्तं ।।

अथ श्री कुंदकुंदाचार्य मुनिराख्यान प्रारम्भः—

जम्बूद्वीप के भारत क्षेत्र मे मालव देश के अन्तर्गत बूंदीकोटे के निकटवर्ती वाशुपुर नामक एक नगर था। जिस समय का यह आख्यान है उस समय उसके राजा कुमुदचन्द थे। कुमुदचन्द धर्मज्ञ, नीति परायण, और प्रजा हितैषी थे। उनकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। वह भी बडे सरल स्वभाव की और सुशीला थी। यहां पर विशेष करके श्रीमान् धनाढ्य व्यपारीगण निवास करते थे जिनमें एक कुंद नाम के श्रेष्ठी, अति धनाढ्य, धर्मात्मा और धर्म प्रेमी थे। इनके कुंदलता नाम की सहचारिणी स्त्री थी। दोनो की ही जैन धर्म पर अखड प्रीति थी। हमारे चरित्र नामक की कुंद-कुंद उन्ही के पुण्य के फल थे। उनका जन्म वीर सम्वत् ४६७ विक्रमी सम्वत ५ मे हुआ था। उनके जन्म के उपलक्ष्य मे कुंद श्रेष्ठी ने बहुत उत्सव किया, दान दिया। श्री शातिनाथ स्वामी के मन्दिर में पूजन विधान कराया। यशोध्वजा फहरायी। मन्दिर के शिखर पर सुवर्णमय कलश चढाये और भी अनेक प्रकार की पूजा प्रभावना की। माता-पिता के नाम की सादृश्यता देखकर बधु बाधवो ने इनका नाम कुंद कुंद रख दिया। अपनी वय समान श्रेष्ठी कुमारो के साथ बाल क्रीड़ा करते शुक्ल द्वितीय चन्द्रमा की तरह वे दिनोदिन बढने लगे। जब ये पाँच वर्ष के हुये तब इनके पिता को इन्हे धार्मिक विद्या के अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न हुई क्योकि उस समय विशेष करके आध्यात्मिक विद्या ही सर्वमान्य और उन्नति के शिखर पर थी दूसरे कुन्द श्रेष्ठी स्वतः प्रचुर धनी और प्रतिष्ठित व्यापारी थे इस कारण विशेष आर्थिक इच्छा न होने से व्यापारिक व क्षत्रिय (राजकीय) विद्या पाठन कराना इष्ट न जान कर तत्सामयिक आध्यात्मिक विद्या का प्रतिशेष प्रचार होने से ब्रह्म विद्या का ही पठन कराना रुचि कर हुआ। एक दिन कुंदकुंद कुमार अपने सखाओ सहित विनोद क्रीडा करते तथा प्रकृति की सुन्दरता को देखते हुए निज

नगर के वन में गये। वहाँ एक नग्न दिगम्बर शांत और क्षमावान मुनि दृष्टिगोचर हुए। ये साधारण नियम है कि जहा कोई आचार्य मुनि अथवा साधु आये हो, वहा उनकी वन्दना के लिए आये हुए श्रावक जन भक्ति सहित नमस्कार कर उनकी पूजा करें। इन नियमान्वित वहां बहुत से श्रावक बैठे हुए थे। कितने ही पूजन कर रहे थे। इस प्रकार परम शात मूर्ति मुनिराज को अवलोकन कर उनके मित्र वर्गों के हृदय कमल मुकुलित हो गए परन्तु इस समय कुंदकुंद कुमार के मन की और ही अवस्था हुई। मुनि राज को देखते ही उनके हृदय मे स्फुरण हुआ कि "धन्य है आपको परम शात चित मुनिराज! जिस मनुष्य को जगत में आप जैसे पूज्य होने की इच्छा हो तो उसे निश्चय करके आपके शात, गम्भीर, उदार एव सर्वहितकारी सगुणो का अनुकरण करना चाहिए। ससार में उस समय निजात्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों मे दृष्टि पहुँचाने वाले व्यक्ति तो बहुत थे परन्तु स्वात्म कल्याण साधते हुए पर हित करने वाले आप जैसे व्यक्ति नियम करके विरले ही है अत आपको इस जगत में धन्यवाद है।" ऐसा विचार कर वह कुंद-कुद कुमार अन्य सखाओ के साथ घर न जाकर कितने ही मित्र। सहित जो कि उनकी घर चलने की प्रतीक्षा करते हुए मार्ग में खडे हुए थे उनको साथ लेकर मुनिराज के निकट गये वहाँ मुनिराज का तप, ध्यान तथा भाव से बना हुआ शात और गभीर रूप अवलोकन करने तथा मुनिराज के मुखद्वारा प्रादुर्भूत धर्मोपदेश श्रवण से कुद-कुद कुमार का चित्त विरक्त हो गया। उनके चित्तरूपी सरोवर मे धर्मोपदेश रूपी वायु मे विविक्त कल्पना रूप अनेक प्रकार की तरंग उठने लगी। वे विचारने लगे कि ये सब ससार कदली-गर्भवत् असार है ये जीव अनादि बद्ध जड कर्म के वशीभूत हो माता-पिता, पुत्र, भाई, बधु, धन, धान्य, धरनी आदि जितने भी पदार्थ दृष्टि गोचर होते हैं उनमें से स्वेच्छानुकूल परिणमते पदार्थों में राग और प्रतिकूल परिणमते पदार्थों मे द्वेष कर इन्ही के वश हो नाना प्रकार की शुभाशुभ क्रियाये करते हुये उन क्रियाओं के परिपाक से जन्म-मरण की परिपाटी में पड निज स्वरूप का बिल्कुल विस्मरण कर देते हैं अर्थात् इसे अपने स्वरूप का ध्यान कभी स्वप्न में भी नही आता है। निजात्म स्वरूप की प्राप्ति के साधन प्रथम ता निगोदादिक विकल चतुष्क मनोज्ञान शून्य प्राणियों को तो प्राप्त ही नही होते। रहे जो अवशेष सज्ञी पचेद्रिय, मनुष्य, नारकी और उनमें भी निजात्म स्वरूप के साधन पूर्णतया प्राप्त नही होते। एक मनुष्य भव ही ससार समुद्र का किनारा है जिसे पाकर यदि हम प्रयत्न शील होकर अथाह भव सागर से पार होना चाहें तो अल्प परिश्रम से अपना अभीष्ट निर्वाण पद प्राप्त करते है। इस नर जन्म का पाना ससार में बहुत दुर्लभ है और जिसमें भी सद्धर्म प्राप्ति दुर्लभ है अतएव काकताली न्यायवत् मिले हुए नर जन्म को पाकर विषयों के सेवन में ही बिताया तो फिर अनन्त काल में भी इसका पाना दुर्लभ है जैसे समुद्र में गिरी हुई राई का दाना फिर हाथ लगना कठिन है और यह दुर्लभ सन्मार्ग का साधन सिवाय मनुष्य जन्म

के अन्य देव, नर्क, पशु आदि गतियों में मिल नही सकता अतएव यदि यह अवसर हाथ से निकल गया तो फिर पछतावा रह जायेगा। जैसे कोई अज्ञानी चितामणि को पाकर उसे काग उड़ाने के लिए फेंककर पछताता है इसलिए अपूर्व लब्ध मनुष्य जन्म को पाकर परमात्म स्वरूप में तल्लीन हो रत्नत्रय का आराधन कर इस शरीर से आत्मकल्याण किया जाए तब ही मनुष्य जन्म का पाना सफल है। ये उन मनुष्यों का वक्तव्य बहुत ठीक है। स्वत: इस विचार पर प्रमाण आचरण करनेपर तो माता-पिता को बहुत दुख होगा परन्तु साथ में यह विचार हुआ कि माता-पिता, भाई, बन्धु आदि कौन किसका है जिनका जितना सम्बन्ध है सो सब शरीर के साथ मे है, आत्मा के साथ नही। जो इस भव में मात, पिता, भ्राता होते है वे ही भवान्तर मे पुत्र हो जाते है। जब तक उस शरीर मे आत्मा का अस्तित्व है तब तक इससे सब प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप करते है। जहाँ इस आत्मा का शरीर से वियोग हुआ वहा उसी समय ही सबसे सम्बन्ध एव सगापन छूट जाता है। जिस सुकोमल शरीर को वस्त्र भूषणो से सुसज्जित सुन्दर-सुन्दर व उत्तम-उत्तम स्वादिष्ट पदार्थों से पोपण किया जाता है उस शरीर का भी अन्त मे नाश हो जाता है। अतएव यह सर्व ससार असार है इसलिए विष मिश्रित मिष्ठान्नवत् इन्द्रिय जनित सुखो को परित्याग कर क्रोध, मान, माया, लोभ, रूप निजात्मीक सम्पदा के लूटने वाले सस्कारो को जीतना चाहिए। इसके अतिरिक्त आत्मोन्नति का और कोई दूसरा उत्तम उपाय नही। अस्तु जो हुआ सो हुआ। अब भी मुझे अपने कर्त्तव्य के लिए बहुत समय है। अब मै इन सज्जन परोपकारी मुनिराजो की सत्सगति को कदापि न छोड़ूगा। इस प्रकार दृढ निश्चय करके कुन्दकुन्द कुमार मुनिराज के पास गये। ये मुनिराज अपनी ५६ वर्ष की अवस्था मे अपने गुरु माघनन्दि द्वारा विक्रम सवत् ४० में पट्टाधिकार पाने वाले जिन चन्द्र मुनि थे। कुन्दकुन्द कुमार उनको सभक्ति नमस्कार कर उनके निकट जा बैठे और अवसर पाकर उनसे विनीत भाव से ज्ञानामृत पान करने की जिज्ञासा प्रगट की। इस समय कुन्दकुन्द कुमार की आयु ग्यारह वर्ष की थी। जिनचन्द्र स्वमी ने इनको विनीत और मुमुक्ष जान धर्मोपदेश देना और जिन सिद्धान्त अध्ययन कराना आरम्भ कर दिया। अन्त मे कुन्दकुन्द कुमार ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया और उनके सघ के साथ-साथ ज्ञानामृत पान करते विहार करने लगे। जब इनके माता-पिता को जिनचन्द्र मुनिवर के निकट शिष्यत्व स्वीकार करने का वृतान्त विदित हुआ तब एक बार तो उन्हे अपने प्रिय पुत्र का वियोग दुखकर हुआ परन्तु साथ ही उन्हे एक दृष्टि से हर्ष भी हुआ कि पुत्र सुपथ (आत्म कल्याण) मार्गी ही हुआ है, कुपथ मार्गी नही। इस प्रकार विचार दृष्टि द्वारा अपने मन का स्वत समाधान कर लिया। कुन्दकुन्द कुमार ने थोड़े ही समय मे गुरु द्वारा सिद्धान्त शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया और बहुत ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। गुरु इनकी बुद्धि, विद्वत्ता, तर्क शक्ति और सर्वोपरि इनकी स्वाभाविक

प्रतिभा देखकर बहुत ही संतुष्ट हुए। दूसरे ये सासारिक विषय भोगों से पूर्ण विरक्त थे इसी कारण ये जिनचन्द्राचार्य के शिष्यों में पट्टशिष्य हुए। इनको आचार्य महाराज ने पट्टशिष्याधिकार पूर्ण शास्त्रज्ञ होने से नही किन्तु इनकी सासारिक विषय सुखों से पूर्ण विरक्ति देखकर दिया था। कुन्दकुन्द कुमार ने अपनी तेतीस वर्ष की आयु में गुरु जिनचन्द्राचार्य के पास बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर जिनेन्द्री दीक्षा ग्रहण कर ली। जिनचन्द्राचार्य स्वत. अवधिज्ञानी थे। अपना अन्त काल निकट आया जानकर निजपट्ट शिष्य कुन्दकुन्द मुनि को पट्टाभिषेक पूर्वक पौष वदी अष्टमो वीर निर्वाण सम्वत् ५३६ को,पट्ट परस्थापन कर आप ध्यानस्थ (समाधिस्थ) हो गये। इनका पट्ट उज्जैनी में था। कुन्दकुन्द मुनिराज पट्टाधीश होने के उपरात पट्टाचार्य कहलाए इनके बहुत शिष्य थे। उनमे से मुख्य शिष्य स्थान उमास्वामी को दिया हुआ था। कुन्द-कुन्दाचार्य के अनन्तर ये ही पट्टाधीश हुए थे। जिनचन्द्राचार्य के स्वर्गवास होने के पश्चात् कुन्द-कुन्दाचार्य ने उत्तम प्रकार से अपने पद का कर्तव्य पालन किया। धर्मोपदेश और जिनधर्म के प्रचार के लिए अपने शिष्यो को चारों दिशाओं में भेजा जिन्होने जिनधर्म का पुष्कल प्रसार किया और आप स्वतन्त्र आत्म कल्याण के लिये दुद्धर तपश्चरण करने लगे। आत्मोन्नति के सोपान पर चढते हुए उन्होंने अपनी अनेक कल्पित शकाओं का समाधान स्वत. आत्म निश्चय से किया। उस समय उन्हे शकाओं के समाधान के लिए विशेष श्रम उठाना पडा क्योकि उस समय अ गपूर्व के ज्ञाता मुनियो का तो विल्कुल अभाव था और तत्समय न अवधिज्ञानी मुनियों का ही संघ था अतएव अवशेष हृदयगत शकाओ के निवारण करने के लिए उन्हें कोई साधन न पाकर बडा कष्ट हुआ पर . साथ ही उन्हें एक युक्ति सूझी कि विदेह क्षेत्र में श्री मन्दिर स्वामी शाश्वत केवली हैं, उनके निकट जाकर अपनी स्वतन्त्र शकाओ का निवारण करूँ परन्तु साथ ही यह चिता हुई कि उस क्षेत्र में अपना गमन कैसे हो। किसी विद्याधर के विमान की सहायता बिना वहाँ पहुँचना कठिन व असम्भव था—ऐसा विचार कर वहाँ जाने में निरुपाय हो गुरु के द्वारा कही क्रियाओ के अनुसार पंचमहाव्रतादि का उत्तम रीति से पालन करने लगे। उसके बाद कुछ दिनो के अनतर श्री कुन्द-कुन्दाचार्य अकेले विहार करते-करते बारापुरी के वहिरुद्यान में आकर ठहरे और वहाँ दृढ़ चित्त से पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चार प्रकार के ध्यान करने लगे। ध्यानस्थ समय उन्होने अपने मन में श्री सीमधर स्वामी का समवशरण रचकर त्रिकरण शुद्धि से उनको नमस्कार किया। उसके साथ ही पूर्ण ध्यान की प्राबल्यता से ये चमत्कार हुआ कि विदेह क्षेत्रागत स्थित श्री सीमधर स्वामी ने कुन्द-कुन्दाचार्य को वहाँ से समवशरण मे गभीर नाद से दिव्य ध्वनि द्वारा 'सद्धर्म्मवृद्धिरस्तु' ऐसा आशीर्वाद दिया।

उस समय समवशरण में विदेह क्षेत्र के चक्रवर्ती पद्मरथ बैठे हुये थे। उन्होंने

एकाएक भगवान के द्वारा आशीर्वाद दिया हुआ देखकर विस्मित होकर भगवान से सविनय पूछा—"भो भगवान ! यहाँ कोई इस समय नवीन मनुष्य आया नहीं, फिर आपने किसके वास्ते आशीर्वाद दिया ?" तब भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि से उत्तर दिया—"हे राजन ! इस द्वीप के दक्षिण में भरत क्षेत्र है, वहाँ इस समय विकराल पचम काल प्रवर्त्तमान है। उस क्षेत्र की वारापुरी नगरी के वहिरुद्यान मे स्थित श्री कुन्दकुन्द कुमार मुनिराज ने ध्यानस्थ हो मुझे नमस्कार किया था। वहाँ कलिकाल (पचमकाल) प्रवर्त्तमान होने से अधर्मी, पाखडी, व्यसनी, हिसक आदि दुष्ट मनोवृत्ति वाले व्यक्ति तो बहुत हैं, सयमी जिन धर्मानुयायी मुनि बहुत विरले है, कुलिगी बहुत है। धर्म का दिनो दिन ह्रास होता चला जाता है। अग पूर्व के पाठी व अवधि ज्ञानियो का अभाव है अतएव कुन्दकुन्द मुनिराज ने जब अपनी बहुत सी शकाओ का समाधान कठिन जाना तब उन्हे एक युक्ति सूझी कि विदेह क्षेत्र में शाश्वत केवली है, वहाँ जाकर अपनी शकाओ का समाधान किया जाए परन्तु विमानादिक की सहायता बिना यहाँ आने में अशक्त हो वही ध्यान द्वारा स्मरण कर मुझे नमस्कार किया, उससे मैने उन्हे आशीर्वाद दिया था।" जिस समय कुन्द-कुन्दाचार्य का उपरोक्त वृत्तान्त श्री मन्दिर मुनि पद्मरथ चक्रवर्ति से कह रहे थे उस समय वहा पर श्री कुन्दकुन्द मुनि के पूर्वभव के युगल भ्राता जो कि परम प्रकर्ष पुण्योदय से आयु के अन्तमरण कर उस क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे उपस्थित थे। दोनो भ्राता अपने पूर्व भव के सहोदर कुन्द कुन्द मुनिराज का उक्त वृत्तान्त सुनकर उसी समय वहा से उठकर विमानारूढ हो भरत क्षेत्र में वारापुर के वहिरुद्यान मे आये जहाँ पर कुन्दकुन्दाचार्य तप कर रहे थे। उन्होने मुनि को देखते ही सभक्ति साष्टाग नमस्कार किया। वे उस समय ध्यानारुढ थे दूसरे रात्रि का समय था, इस कारण मुनिराज शात रहे बोले नही। उस समय कुन्दकुन्द मुनिराज के निकट एक गृहस्थ स्थित था। उससे उन्होने कहा—"हम इन मुनिराज के पूर्व भव के बन्धु हैं अत: भ्रातृ प्रेम वश इनसे मिलने और उन्हे विदेह क्षेत्र में ले जाने के लिए आये हैं पर मुनिराज ध्यानस्थ है इसलिए हम जा रहे है" इतना कह वे पुन. विमानारूढ़ हो विदेह क्षेत्र मे चले गये। प्रात काल होने पर जब ये वृतान्त कुन्दकुन्द मुनिराज को विदित हुआ तब उन्होने प्रतिज्ञा की कि जब तक श्री सीमधर स्वामी का साक्षात् दर्शन न होगा तब तक आहार का त्याग है—ऐसा दृढ़ नियम करके पुन पूर्ववत् ध्यानारूढ़ हो गये। फिर विदेह क्षेत्र के मध्य समवशरण में श्री सीमधर स्वामी ने उनके प्रति "सद्धर्म्मवृद्धिरस्तु" ऐसा आशीर्वाद दिया। तब फिर पद्मरथ चक्रवर्ती ने आर्शीवाद प्रदान करने का कारण पूछा तो श्री सीमधर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा कहा—"मैंने जो पूर्व कुन्दकुन्द मुनिराज का वर्णन तुमसे कहा था उसे कुन्दकुन्द के पूर्व भव के भ्राता भी बैठे हुए सुन रहे थे। वे तत्काल ही विमानारूढ़ हो उन्हे लेने के लिए भरत क्षेत्र मे गये। उस समय वे ध्यानस्थ थे

दूसरे रात्रि का समय था अतएव वे मौनालीन रहे। तब वे उन्हें मौन देखकर वहाँ स्थित एक गृहस्थ से अपने आगमन का वृतान्त कहकर पीछे लौट आये। जब ये वृत्तान्त प्रातः काल कुन्दकुन्द मुनिराज को विदित हुआ तब उन्हें सुनकर परम आनन्द हुआ और जब तक उन्हें हमारा दर्शन न हो तब तक भोजन का त्याग है ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा कर पुनः पूर्ववत् ध्यानारूढ़ हो मुझे नमस्कार किया है इससे मैंने उन्ही को आशीर्वाद दिया"—ये वृतान्त सुनकर वहाँ स्थित कुन्दकुन्द मुनिराज के दोनों भाई तत्काल पुनः विमानारूढ हुए और जहाँ कुन्दकुन्द मुनि तप कर रहे थे वहाँ आकर उनको साष्टाग नमस्कार किया। उसके बाद विदेह क्षेत्र में चलने की प्रार्थना की। यह सुनकर मुनिराज को विशेष आनन्द हुआ और विमानरूढ हो विदेह क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। कुन्दकुन्द मुनिराज ने प्रयाण करते समय शौच का उपकरण कमण्डल और दया का उपकरण मयूर पिच्छि को भी साथ ले लिए थे। शीघ्रगति से मयूर पिच्छि मार्ग में किसी स्थान पर गिर पडी। जब उन्हे मालूम हुआ तब विमान को रोककर यत्र तत्र बहुत कुछ अन्वेषण किया पर कही पता न लगा। तब पिच्छि के बिना तो अनुचित क्रिया जानी जाती इस कारण वे मानसरोवर पर गये। वहाँ गिद्धपक्षी की पड़ी हुई कोमल-कोमल पखो की एक पिच्छि बनाई और तदनतर विदेह क्षेत्र की ओर प्रयाण किया। मार्ग मे हरि क्षेत्र, नाभिगिरी, मेरू आदि पर्वतों को उलाघते हुए विदेह क्षेत्र में जाकर अयोध्यापुरी नगरी के उद्यान मे श्री सीमन्धर स्वामी के समवशरण के निकट जा उतरे। उस नगरी के अवलोकन करने के पश्चात् कुन्दकुन्द मुनिराज से उन देवो ने कहा—"इस स्थान पर से देव चौथा काल प्रवंतता रहता है। यहाँ पर कोई प्राणी दुख का नाम भी अनुभव नही करते किंतु सब सुख रूप रहते है। ये अचल क्षेत्र है"—इस प्रकार वहा का सक्षिप्त माहात्म्य वर्णन कर मुनिराज सहित समवशरण के पास गये। कुन्द-कुन्द मुनिराज ईर्यापथ शोधते समवशरण की ओर दृष्टि करते चले तब उन देवों को एक बड़ी भारी चिंता हुई—'इस जगह सर्व मनुष्य पाँच सौ धनुष ऊँची काय वाले हैं और इनका शरीर चार हाथ का है इससे इनकी कहा स्थिति करे ? यदि इन्हे कही बैठा ही दिया तो फिर इन पाँच सौ धनुष कायवाले मनुष्यो मे इनका पता लगना कठिन है'—ऐसा विचार करते हुए उन्हे एक युक्ति सूझी और उसमें वे कृतकृत्य भी हुए, उन्होंने एकदम कुन्दकुन्द मुनिराज को ले जाकर श्री सीमन्धर स्वामी के निकट मुख्यपीठ पर जा स्थित किया। पश्चात कुन्द-कुन्द मुनिराज श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर तीन प्रदक्षिणा करके उनके अग्रभाग में बैठ गये। कुछ समय में अनन्तर विदेह क्षेत्र के सार्वभौम राजा पद्मरथ वहाँ आए और श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर वहाँ महापीठ पर बैठे वामन मूर्ति कुन्दकुन्द मुनिराज को अवलोकन कर उन्हें कोमल कर कमलों द्वारा धीरे से उठाकर हथेली पर बैठाकर श्री सीमन्धर स्वामी से सविनय बोले—"भगवान ! ये अपूर्व दृष्टि वामन मूर्ति कौन है, यह आप कृपाकर

कहिए।" तब शाश्वत तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी ने अपनी दिव्य ध्वनि द्वारा उत्तर दिया—"जिन मुनि के विषय में मैने तुमसे कल वृत्तान्त कहा था तथा जिसको "सद्धर्म्मवृद्धिरस्तु" ऐसा आशीर्वाद दिया था ये वो ही भरत क्षेत्र के वर्तमानकाल के धर्माध्यक्ष कुन्दकुन्द मुनि राज है। इन्हे उनके पूर्व भव के भ्राता दो देवो ने यहाँ लाकर बैठाया है।" पश्चात् कुन्द कुन्द मुनिराज स्वत उठे और जो-जो हृदयगत शकाय थी उन सबको कह सुनाया। तीर्थंकर भगवान ने उन सब शकाओ का ठीक-ठीक समाधान कर दिया। सुनकर उनका सब सन्देह दूर हो गया। कुन्दकुन्द मुनिराज को वहां आठ दिन व्यतीत हो गये थे सो एक दिन सार्वभौम राजा पद्मरथ ने कुन्दकुन्द मुनिराज से आहार लेने के लिए निवेदन किया। सुनकर मुनिराज ने उत्तर मे कहा—"राजन्! हमारा क्षेत्र पृथक है तब हम पर क्षेत्र मे आहार किस प्रकार ले सकते है? ये मुनिक्रिया के अनुचित है।" ये उत्तर सुनकर महाराज पद्मरथ ने उनकी स्तुति करते हुए कहा—"खड्गधारा की अपेक्षा मुनि क्रिया तीक्ष्ण है और उसे आप हार्दिक दृढता से पालन करते है अतएव आप कोटिश धन्यवाद के पात्र है।" वहा पर कुन्दकुन्द मुनिराज ने चार युग और चार अनुयोगो का सर्व वृतान्त जाना। उसके बाद सर्व शका रहित हो विशेष ज्ञान प्राप्त कर कुन्द-कुन्द मुनि पूर्ववत् श्री सीमन्धर स्वामी को नमस्कार कर सबसे सहमत हो भरत क्षेत्र मे आने के लिए उन दोनो देवो के साथ विमानारूढ हुए। गमन करते समय उन मुनि ने उन्हे एक धर्म सिद्धान्त पुस्तक दी। उसे लेकर कुन्दकुन्द मुनि और वे दोनो देव विमानारूढ हो भरत क्षेत्र की ओर आने लगे। आते हुये मार्ग में मेरू पर्वत पर उतरे। वहा अकृत्रिम चैत्यालयस्थ जिन भगवान के दर्शन कर पश्चात् विजयार्ध पर्वत पर दर्शनार्थ गये। वहाँ दर्शन कर कैलाश गिरि सम्मेद शिखर आदि तीर्थ क्षेत्रों के दर्शन करते चले आते थे कि कही मार्ग में मुनि द्वारा प्राप्त वह धर्म सिद्धान्त पुस्तक गिर पडी। मालूम होने पर बहुत कुछ अन्वेषण किया पर कही पता नही लगा। अस्तु वे दोनो देव और मुनि तीनो तत्काल विमानारूढ हो भरत क्षेत्र में आये और वारापुरी के बाह्योद्यान में कुन्दकुन्द मुनिराज को ला विराजमान किया और वहाँ पर उन देवों ने कुन्दकुन्द मुनिराज के ऊपर पुष्प वर्षा करके उनकी पूजा की। पश्चात् मार्ग प्रयाण किया।

विदेह क्षेत्र में जाते हुए मयूर पिच्छिका खो जाने पर गृद्ध पक्षी के पंखों की पिच्छि बनाने से गृद्धपिच्छाचार्य और विदेह में जाने से ये एलाचार्य कहलाये। विदेह क्षेत्र में से श्री कुन्द-कुन्द स्वामी के अनन्तर उनके दर्शनार्थ वारापुरी के राजा कुमुदचन्द्र उनके माता-पिता, कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी और बहुत से श्रावक-श्राविका आदि हजारों मनुष्य आये। पूछने पर उन्होंने विदेह गमन का वृतान्त सुनाकर पश्चात् धर्मोपदेश दिया जिसे सुनकर सब सन्तुष्ट हुये। तत्पश्चात् उन्होंने नगर के बाह्य प्रदेश में रहकर जैन धर्म और मुनि धर्म का

विस्तृत स्वरूप, श्रावक तथा अन्य सर्वसाधारण को समझाया। कितने ही श्रीमान्, और कितने ही सर्वसाधारण मनुष्यों ने इस ससार को असार जानकर मोह जाल तोड इनके निकट दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। उन सबकी सख्या सात सौ थी ये सब कुन्द कुन्दाचार्य के शिष्य कहलाये। बहुत-सी स्त्रियो ने आर्यिकाओं के व्रतों की दीक्षा ली। कितनो ने अणुव्रत ग्रहण किये। इस प्रकार से जिन धर्मोपदेश द्वारा उस नगरी में उन्होंने उत्तम प्रकार से धर्म प्रभावना प्रगट की। नित्य अनशन युक्त तप करके धारणा करने लगे जिससे चारो दिशाओ में प्रख्यात हो गये। पश्चात् श्री कुंदकुंद स्वामी अपने शिष्यो को साथ लेकर धर्मोपदेश और जैनधर्म के प्रचार के लिए विहार करने लगे जिससे वे चारो दिशाओ में प्रख्यात हो गये। उन्होंने बहुधा भारतवर्ष के बहुत से प्रदेशो में विहार करके धर्मोपदेश दिया और बहुतो को आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और दुर्गति के दुःखो का नाश करने के लिये पवित्र जैन धर्म का प्रचार सब ओर किया। इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुये कितने ही स्थानो पर पट्टस्थापना किये जिससे उन प्रान्तों मे सतत धर्मोपदेश मिलने से धर्म अस्खलित रीति से चलता रहे। जैन दर्शन में चार संघ है (१) मूलसघ, (२) सिहसघ (३) नदि सघ और (४) काष्टा सघ। इनमें से काष्टा सघ का तो कुदकुदाचार्य से पूर्ववर्ती होने वाले ऋषभसेनाचार्य ने स्थापन किया था और शेष श्री कुदकुन्द आचार्य ने स्थापित किये। इस प्रकार श्री कुन्द-कुन्दाचार्य अनेक क्षेत्रों में विहार करते हुये उज्जैनी नगरी में आये। वहा उन दिनो श्वेताम्बर मत का बहुत प्रचार था। जब श्री कुन्दकुन्दाचार्य जैसे जिनसिह केशरी ने चौतरफा दिगम्बरी मत का डका बजाया तब बहुत से लोगो के मन मे ऐसी भ्राति उत्पन्न हुई कि दिगम्बर और श्वेताम्बर मत एक है परन्तु श्वेताम्बर बीजरूप होने से पूर्व है और श्वेताम्बर मत के बाद दिगम्बर मत की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार परस्पर लोगो में असतोषजनक चर्चा होने से उसके निर्णय के लिये श्री कुन्दकुदाचार्य के निकट आये और सत्य धर्म की स्थापना तथा मिथ्याधर्म के खण्डन करने के लिये प्रार्थना की। तदन्तर उभय धर्मावलम्बी श्री नेमनाथ भगवान के निर्माण क्षेत्र गिरनार पर्वत पर वाद-विवाद होने का निश्चय कर दिगम्बरी श्री कुन्दकुन्दाचार्य के नेतृत्व मे और श्वेताम्बरी जिनचन्द्राचार्य के नेतृत्व में पर्वत पर पहुचे और पृथक्-पृथक् स्थानो में निवास कर अपने-अपने धर्म का महत्व प्रगट करने लगे। वाद-विवाद का दिवस निश्चित होने पर शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। श्वेताम्बरियो का कथन था कि वस्त्र बिना कदाचित् भी जीव की मुक्ति नही होती और दिगम्बरियो का पक्ष था कि जीव की उत्पत्ति ही नग्नावस्था में होती है और मरण समय में भी जीव नग्नावस्था में जगत का परित्याग करता है इसीलिए दिगम्बर अवस्था ही जीव को कार्यकारी होने से मान्य रूप है। इस प्रकार बहुत काल पर्यन्त वाद-विवाद रहा परन्तु परस्पर एक-दूसरे के पक्ष को कोई भी स्वीकार नही करता था। दिगम्बर मत के प्रधानाचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य

की जैसे अनेक सुविधायें सहाई थी उसी प्रकार श्वेताम्बर सघ के अधिष्ठाता जिनचन्द्र तथा महिचन्द्र की अनेक कुविधाये सहाई थी। विद्या के प्रभाव से परस्पर एक-दूसरे के गहन प्रश्नों का तत्क्षण निवारण कर देने से एकदम हार-जीत का निर्णय होना असम्भव-सा हो गया तब दोनों पक्ष के लोग मन में खेद खिन्न हो गये। तदनतर एक दिवस श्री कुन्द कुन्दाचार्य ने मन में ऐसा दृढ निश्चय किया 'कि आज मै प्रतिपक्षी को यथार्थ निश्चय पर लाये बिना सभा से बाहर नही जाऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके वे सभा मे आये। उनके आते ही श्वेताम्बरी लोगो ने उनका उपहास किया। आशय यह है कि श्वेताम्बरी साधुओ ने एक छोटा सा मत्स्य कमडल में रखकर मुख बन्द करके श्री कुन्द कुन्दाचार्य से पूछा—'इस जलपात्र में क्या है ? तब तत्काल उत्तर दिया—'इसमे कमल पुष्प है'—ऐसे कहकर सबको कमल पुष्प दिखा दिया तब श्वेताम्वरी लोग बहुत लज्जित हुये और कहने लगे—'आज का यह प्रसंग योग्य नही'—ऐसा कहकर वाद आरम्भ हुआ तब श्वेताम्बरियो ने जैनाम्नाय से विरुद्ध वीर, भैरव, कालिका देवी इत्यादि कुदेवो का आह्वान किया और कहा—'श्वेताम्बरी मत प्रथम है कि दिगम्बरी, इस विषय का कोई प्रबल प्रमाण दो'—तब कुन्दकुन्दाचार्य ने मूल-मत्र के द्वारा कुदेवो का आगमन बन्द कर दिया। तब श्वेताम्बर तेज रहित स्तब्ध हो गये। तदनतर कुन्द कुन्दाचार्य दोनो संघो को साथ लेकर गिरनार पर्वत पर गये और वहाँ श्री नेमिनाथ जी के निर्माण क्षेत्र का दर्शन कर विदेह क्षेत्र स्थित शाश्वत तीर्थंकर श्री सीमधर स्वामी का स्मरण किया और पच परमेष्ठि का स्मरण कर उभय सघ के समक्ष इस प्रकार से उच्च स्वर से प्रार्थना की—कि "श्वेताम्बरी धर्म की स्थापना पहले हुई या दिगवरी की। इसके निर्णय के लिए कोई प्रमाण या प्रबल चमत्कार हो" ऐसा कहते ही "दिगम्बरी धर्म की स्थापना प्रथम हुई" ऐसी गम्भीर नाद से थोडी देर तक आकाशवाणी होती रही, तब श्रवण मात्र से ही श्वताम्बरी सघ मदगलित हो वहां से भाग गया। तब दिगम्बर सघ के लोग श्री कुन्दकुन्दाचार्य मुनि को प्रतिष्ठा तथा आदर पूर्वक अपने सघ मे ले गये वहाँ बहुत से श्वेताम्बरियो ने दिगम्बरी धर्म स्वीकार किया और बहुत से लोगो ने मताभिमान के गर्व से दिगम्बरी मत का निषेध किया और गुजरात देश में जाकर श्वेताम्बर मत की पुष्टि की। अस्तु इस प्रकार श्वेताम्बर मत का महत्व खण्डन होने पर दिगम्बरी लोगो ने वहाँ एक जिन मंदिर की स्थापना कर उसकी प्रतिष्ठा श्री कुन्दकुन्दाचार्य के कर कमलो से कराई। तदनतर सर्व लोक श्री कुन्द कुन्दाचार्य के साथ वारापुरी में गये वहा कुन्दकुन्दाचार्य ने एक पट्ट की स्थापना की और वहाँ एक विद्वान शिष्य योजना कर स्वय तत्त्व अनुचितन करते हुये समय व्यतीत करने लगे। इसके सब शिष्यों मे उमास्वामी (जिन्होने तत्वार्थ सूत्र नामक दशाध्यायी ग्र थ रचा है) मुख्य थे। उन्होंने अपनी प्रबल विद्या के गर्व से अपनी उन्नीस वर्ष की आयु मे श्री कुन्द-कुन्दाचार्य से शास्त्रार्थ किया परन्तु पराजित हुये तब निरभिमान

हो श्री कुन्द-कुन्दाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया और पच्चीसवे वर्ष उसने दीक्षा ले मुनि हो गये। श्री कुन्द-कुन्दाचार्य ने अनुप्रेक्षाओं का चितवन करते हुये सन्यास मरण पूर्वक शरीर तज स्वर्ग लोक प्राप्त किया। वीर संवत् ५८७ विक्रम संवत् १०१ और ईस्वी सन् ६३ में स्वर्ग लोक प्राप्त किया। इनके परलोक गमन के अनतन्तर श्री उमास्वामी ही पट्टाधिकारी हुये।

इति श्री कुन्दकुन्दाचार्य चरित्र गुजराती भाषानुवाद ॥

॥ समाप्तम् ॥

इस प्रकार जगत्पूज्य श्री सन्मतिनाथ महावीर स्वामी के निर्वाणान्तर होने वाले केवली, श्रुत केवली, अगपूर्व के ज्ञाता ऋषि, महर्षि व जैन धर्म का भूमडल पर अस्तित्व रखने में कारण भूत ऐसे धरसेन, कुन्द-कुन्दाचार्य व अकलक देव का सक्षिप्त वर्णन किया। अब आगे इस दु खम काल में होने वाले इक्कीस कल्की व इक्कीस उपकल्कियो का वर्णन हैं—

इस विकराल दुःखम काल में प्रत्येक हजार वर्ष की अवधि में इक्कीस कल्की और उनके प्रथम हजार वर्ष पहले अतराल के समय में इक्कीस उपकल्की एव बयालीस धर्मनाशक राजा उत्पन्न होते हैं। चौबीसवे तीर्थंकर के निर्वाणात से छह सौ पाच वर्ष पीछे विक्रम शक (उपनाम शालि वाहन) राजा हुआ जिसका सवत्सर प्रवर्तमान है। पश्चात् तीन सौ तिराणवे वर्ष और सात मास व्यतीत होने पर अनेक राजाओ द्वारा सेवनीय जिनधर्म से बहिर्मुख उन्मार्गचारी चतुर्मुख नामक कल्की हुआ, जिसकी आयु सत्तर वर्ष प्रमाण थी। अहिंसामय सद्धर्म से परान्मुख मिथ्यात्वियो में शिरोमणि होकर चालीस वर्ष परिमित राज्य को भोगते हुए उसने एक समय अपने स्थान मडप में बैठे हुए मत्रिगणों से पूछा—भो मत्रियो ! कहो कि इस समय सर्व मनुष्य मेरे आधीन है अर्थात् वशीभूत है। मेरी आज्ञा से रहित स्वतन्त्र तो कोई नही है ना ?

तब मन्त्रियों ने कहा—'हे नाथ ! इस समय सर्व मनुष्य आपकी आज्ञा का प्रतिपालन करते है, एक जैन दिगम्बर मुनि ही ऐसे है जो आपके शासन-पालन से विहीन है।'

तब कल्की ने कहा—'वह नग्न दिगम्बर मुनि कैसे है, कहाँ रहते हैं और क्या करते हैं ?'

यह सुनकर मत्रीगण प्रधान ने कहा—'महाराज ! वे मुनि वन में वास करते हैं। धन, धान्य, वस्त्र, आभूषण आदि से रहित हैं। समस्त ससार सम्पदा को तृणवत् तुच्छ समझते हैं। यहा तक कि अपने शरीर से भी निष्प्रेय है। भोजन के समय श्रावको के घर

शास्त्रोक्त भिक्षावृत्ति के अनुसार निरन्तराय प्राशुक आहार ग्रहण कर लेते है। वे किसी के शासन में नही रहते केवल जिन शासन के ही प्रतिपालक होते है।' यह सुनकर राजा ने अपने मन्त्रियो से कहा—'मैं उनकी इस स्वतन्त्रता को सहन करने में असमर्थ हू अतएव आज ही से उन निर्ग्रन्थों के पाणिपात्र में दिया हुआ प्रथम ग्रास शुल्क अर्थात् कर रूप में लिया जाया करे।

मन्त्रियो सहित राजा के ऐसा नियम नियत करने पर उनके नियोगी मुनिराजो के आहार के समय ऐसा ही करने लगे। तब मुनिराज भोजन मे अन्तराय जानकर वन मे वापिस लौट गए। तब असुरकुमारो के स्वामी चमरेन्द्र ने इस कल्कीकृत मुनियो के भोजन समय अतराय करना आदि अत्याचार जानकर उसके सहन करने मे असमर्थ होकर कल्की (चतुर्मुख राजा) को मस्तक रहित कर दिया अत· वह अपध्यान से मर कर प्रथम नरक में एक सागर आयु का धारक नारकी हुआ। तदनन्तर कल्की का पुत्र अजितजय असुरेन्द्र के भय से अपनी स्त्री चेलका को साथ लेकर चमरेन्द्र की शरणागत को प्राप्त हुआ और उसका नाना प्रकार से विनय अनुनय किया। जिनधर्म का अतिशय माहात्म्य देखकर अपने हृदय को मिथ्यात्व के परित्यागपूर्वक सम्यक्त्वरूप रत्न से विभूषित किया। इस प्रकार प्रति हजार वर्ष एक कल्की और उनके अवान्तर एक-एक उपकल्की ऐसे इक्कोस हजार वर्ष परिमित पचमकाल मे बीस कल्की और इक्कीस उपकल्कियो के हो चुकने पर पचम काल के अन्त मे सद्धर्म का नारक अन्तिम (इक्कीसवा) जलमथ नामक कल्की होगा। तत्समय चतुर्विध सघ मे से इन्द्रराज नामक आचार्य के शिष्य—१. वीरागद मुनि, २ सर्व श्री आर्यिका, ३ अग्निला नामक श्रावक और ४ फाल्गुसेना श्राविका—इन चारो का सद्भाव रहेगा। इनकी स्थिति साकेता नगरी मे होगी। ये मुनि आदि चारो दु खम काल के तीन वर्प साढ़े आठ महीने अवशेष रहने पर कार्तिक कृष्ण आमावस्या के पूर्वान्हि समय मे स्वाति नक्षत्र का योग होने पर पूर्वोक्त प्रकार से मुनि को पहला ग्रास ग्रहण न करने देने पर तीन दिन का सन्यास धारण कर पहले वीरागद मुनि तत्पश्चात् अग्निला श्रावक, सर्व श्री आर्यिका और फाल्गुसेना नामक श्राविका ये चारो साम्यभाव पूर्वक प्राण विसर्जन कर समीचीन जिनधर्म के प्रभाव से सौधर्म स्वर्ग में जाएगे। वहा मुनिराज तो एक सागर आयु के धारक और अवशेष आर्यिका श्रावक, श्राविका साधिक अल्प आयु के धारक होंगे। उसी दिन के आदि, मध्य, अन्त काल में क्रम से धर्मराजा और अग्नि से भरत क्षेत्र से अभाव होगा। सर्व मनुष्य धर्म, देश, कुल तथा राजनीति मर्यादा रहित हो जाएगे और वस्त्रादि रहित कपिवत् नग्न हुए फल-फूल आदि से क्षुधा शान्त करेंगे क्योकि धर्म के आधारभूत मुनि, श्रावक के अभाव से धर्म का असुरकुमारेन्द्र द्वारा नृपति का घात होने से राजा का और कालदोष के पुद्गल द्रव्य के अतिरुक्षरूप परिणमन होने से अग्नि का लोप हो जाएगा इसीलिए अग्नि द्वारा बने पदार्थों का अभाव होगा जिससे उस समय के जीव फल आदि से क्षुधा शान्त करेंगे। इस काल के

आदि में मनुष्यों का शरीर साढ़े तीन विलस्त और परमायु वीस वर्ष प्रमाण होगी। दिनो-दिन बल, काय, आयु का ह्रास होते रहने से दु.खम काल के अन्त में किंचित् न्यून एक हाथ का शरीर और सोलह वर्ष परमायु रह जाएगी। इस काल मे जो जीव उत्पन्न होंगे वे नरक तथा तिर्यंच गति से ही आएगे और निरन्तर अशुभ कर्म ही करेगे और फिर उन अशुभ क्रियाओ के परिपाक से भविष्य में नरक या तिर्यच गति को ही प्राप्त होगे। कालांतर मे कम वृष्टि तथा अनावृष्ट होने से भूमि रुक्ष और विषम हो जाएगी जिससे भूमि सम्बन्धी उपज नष्ट होगी। तब क्षुधा से पीड़ित हुए मनुष्य मत्स्य आदि जलचर जीवो का आहार कर क्षुधा पूर्ण करेंगे।

इस प्रकार महा दु:खकर दु:खमा दु.खमा काल के व्यतीत होने पर अन्त में पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी आदि को चूर्ण करती हुई सवर्तक नामक पवन अपने तीव्र वेग से स्वक्षेत्र अपेक्षा दिशाओ के अन्तपर्यन्त परिभ्रमण करेगी जिसके प्रभाव से सर्वप्राणी मूच्छित होकर मरण को प्राप्त होगे। उस समय गगा, सिन्धु नदी की वेदी, क्षुद्र बिल और विजयार्ध पर्वत की गुफाओ में उनके निकटवती मनुष्य आदि पवन के भय से स्वत: प्रवेश करेंगे।

तत्पश्चात् उन प्रविष्ट हुए मनुष्य युगल प्रभृति पुष्कल (बहुत से) जीवों को दयावान् विद्याधर अथवा देव निर्विघ्न बाधारहित स्थान मे पहुँचा देंगे जिससे वे अपनी जीवनलीला को सुख से व्यतीत कर सकें। अथानन्तर यहां पर (१) पवन, (२) अत्यन्त शीत, (३) क्षाररस, (४) विष, (५) कठोर अग्नि, (६) रज, (७) धूम (धुआ) इस प्रकार सात रूप परिणमन पुद्गलों की वर्षा सात-सात दिन अर्थात् समस्त (४९) दिन पर्यन्त होगी जिससे अवशेष रहे जीव भी नष्ट हो जाएगे। विष, अग्नि आदि की वर्षा से एक योजन पर्यन्त नीचे की पृथ्वी चूर्ण हो जाएगी। तत्पश्चात् नीचे से और चित्रा नामक समभूमि प्रगट होगी। इस प्रकार दस कोडा कोड़ी सागर की अवधि वाले अवसर्पिणी काल के व्यतीत होने के पश्चात् उत्सर्पिणी के अति दु.खमा नामक काल का प्रारम्भ होता है। उसकी आदि में प्रजा की वृद्धि के लिए जल दुग्ध, घृत, अमृत, रस आदि शातिदायक पदार्थों की सात-सात दिन तक पूर्वोक्त प्रकार से वर्षा होती है जिससे अग्नि आदि जनित आताप व रुक्षता को तजकर पृथ्वी सचिक्कणता धारण करती है। तब बेल, लता, गुल्म, तृण आदि उत्पन्न होते है। धान्य आदि की उत्पत्ति भी होने लगती है। तब गगा, सिन्धु नदियों के तीर बिल आदि में तथा विजयार्ध की गुफाओ में जो जीव पहले चले गए थे वे अब वहाँ से निकलकर पृथ्वी के शीतल सुगध रूप दूत के द्वारा बुलाए हुए भरत क्षेत्र में आकर निवास करते है और फिर क्रम से जीवो के आयु, काल, बल, वीर्य आदि की और प्रजा की वृद्धि होने लगती है।

दु:खमा काल के प्रारम्भ होते हुए मनुष्यो की आयु बीस वर्ष और साढ़े तीन

बिलस्त ऊंचा शरीर होगा। इक्कीस हजार वर्ष परिमित छठे काल (उत्सर्पिणी के प्रथम काल) के व्यतीत होने के अनन्तर पाचवे काल के बीस हजार वर्ष व्यतीत होकर एक हजार वर्ष शेष रह जाने पर प्रकर्ष बुद्धि, बल, वीर्य के धारक अनुक्रम से (१) कनक, (२) कनक प्रभ, (३) कनकराज, (४) कनकध्वज, (५) कनकपु गव (इन पांच का वर्ण सुवर्णसम होगा) (६) नलिन, (७) नलिनप्रभ, (८) नलिन राज, (९) नलिनध्वज, (१०) नलिन पुंगव, (११) पद्म, (१२) पद्म प्रभ, (१३) पद्म राज, (१४) पद्मध्वज, (१५) पद्मम पु गव और (१६) महापद्म ऐसे नामधारक सोलह कुलकर महान् धर्मात्मा, नीति निपुण, प्रजाहितेषी क्षत्रिय आदि कुलो के आचार के प्ररुपक तथा अग्नि के द्वारा अन्न आदि पकाने के विधान के विधेता होंगे। इनके समय मे परस्पर मैत्री, लज्जा, सत्य, दया, समय आदि उत्तम गुणो की प्रवृति और सर्व धान्य, फल, पुष्प आदि और मनुष्य की सनति की वृद्धि होगी। इनमें से प्रथम कुलकर का शरीर कुछ कम चार बिलस्त प्रमाण और अन्तिम कुलकर का सात हाथ परिमित होगा। इस प्रकार पचम (उत्सर्पिणी के दूसरे) काल के समाप्त होने और बयालीस हजार हीन वर्ष एक कोटा कोटी वर्ष परिमित चौथे काल के आरम्भ होने पर जिस प्रकार अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल मे श्री ऋषभ आदि तीर्थकरो ने अवतरित होकर भरत क्षेत्र मे अपने तीर्थ की प्रवृति की उसी प्रकार चतुर्विंशति तीर्थकर आविर्भू त होकर पुन भरत क्षेत्र में अपने तीर्थ की प्रवृत्ति करेगे। उनके नाम इस प्रकार होंगे—

(१) आदि मे श्रेणिक का जीव महापद्म (२) सुपार्श्व का जीव सुरदेव, (३) तीसरे उदकसज्ञक का जीव सुपार्श्व, (४) प्रौष्ठिलाख्य का जीव स्वय प्रभ, (५) कटशु का जीव सर्वात्मभूत, (६) क्षत्रिय का जीव देव पुत्र, (७) श्रेष्ठसज्ञक का जीव कुलपुत्र, (८) शख का जीव उदक, (९) नन्दन का जीव प्रौष्ठिल, (१०) मुनदवाक् का जीव जयकीर्ति, (११) शशाक का जीव मुनिसुव्रत, (१२) सेवक का जीव अरसज्ञक, (१३) प्रेमक का जीव नि·पाप, (१४) सज्ञक का जीव निष्कषाय, (१५) रोचन का जीव विपुल, (१६) वासुदेवाख्य (कृष्ण) का जीव निर्मल, (१७) बलदेव का जीव चित्रगुप्त, (१८) भगलि का जीव समाधि गुप्त, (१७) विगलि का जीव स्वयभूर, (२०) द्वीपायन का जीव अनिवर्तक, (२१) कनक सज्ञक का जीव विजय, (२२) नारदपाद का जीव विमल, (२३) चारुपाद का जीव देवपाल और (२४) सात्यकितनय का जीव अनन्तवीर्य नामक चौबीसवा तीर्थकर होगे। प्रथम तीर्थकर का शरीर सात हाथ ऊँचा और एक सौ सोलह वर्ष की आयु होगी और अन्तिम तीर्थकर का शरीर पाच सौ धनुष उन्नत और एक कोटि पूर्व की आयु होगी।

उनका भी अवसर्पिणी काल के तीर्थकरो के समान चतुर्निकाय के देव, इन्द्र आदि गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणोत्सव करेग। इसी प्रकार समवशरण आदि की रचना की जाएगी। इतना विशेष जरूर होगा कि अवसर्पिणी काल के तीर्थकरो का तो समवशरण

प्रमाण प्रथम तीर्थंकर के समवशरण से चौबीसवे तीर्थंकर तक घटता चला जाता है परन्तु उत्सर्पिणी में इसके प्रतिकूल होता है अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के प्रमाण से चौबीसवे तीर्थंकर के समवशरण तक बढ़ता चला जाएगा। भविष्य में तीर्थंकरों के समयवर्ती जो बारह चक्रवर्ती होगे उनके नाम इस प्रकार है—

(१) भरत, (२) दीर्घदत, (३) मुक्तिदंत, (४) गूढ़दत, (५) श्रीषेण, (६) श्रीभूति, (७) श्रीकात, (८) पद्म, (९) महापद्म, (१०) चित्र वाहन, (११) विमल वाहन, (१२) अरिष्ठसेन—ये बारह चक्रवर्ती पहले चक्रवर्तियो के समान नवनिधि, चौदह रत्न, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ शूरवीर, छयानवे हजार रानियां, सदा सेवा मे तत्पर रहने वाले बत्तीस हजार बडे-बडे राजा और संसार श्रेष्ठ सपत्तियुक्त देव व विद्याधरो द्वारा सेव्य होंगे।

आगामी काल में नारायण के ज्येष्ठ भ्राता जो नव बलभद्र होते हैं उनके नाम इस प्रकार होंगे—

(१) चन्द्र, (२) महाचन्द्र, (३) चन्द्रधर, (४) हरिचन्द्र, (५) सिहचन्द्र, (६) वरचन्द्र, (७) पूर्णचन्द्र, (८) शुभचन्द्र, (९) श्रीचन्द्र—ये नव बलभद्र केशवो द्वारा पूजित होगे।

भविष्य मे (१) नदि, (२) नदिमित्र, (३) नदिषेण, (४) नदिभूति, (५) अचल, (६) महाबल, (७) अतिबल, (८) त्रिपृष्ट और (९) द्विपृष्ट—ये नव नारायण होगे जो पूर्वज केशवो के समान त्रिखडेश होगे और आगामी काल मे इनके प्रतिशत्रु जो प्रतिनारायण होगे उनके नाम होगे—

(१) श्रीकठ, (२) हरिकठ, (३) नीलकठ, (४) अश्वकठ, (५) सुकठ, (६) शिखिकठ, (७) अश्वग्रीव, (८) ऋयग्रीव और (९) मयूरग्रीव। इनका मरण नियम के अनुसार नारायण द्वारा ही होगा।

भविष्य में जो ग्यारह रुद्र होगे उनके नाम इस प्रकार होगे—(१) प्रमद, (२) सम्मद, (३) हरष, (४) प्रकाम, (५) कामद, (६) भव, (७) हरि, (८) मनोभव, (९) भार (१०) काम और (११) अंगज।

इस प्रकार उत्सर्पिणी काल के तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायाण प्रतिनारायण और बलभद्र आदि प्रधान पुरुषों के नामो का वर्णन किया। ये सब अनागत चौथे काल मे उत्पन्न होंगे। पश्चात् तृतीय काल का आरम्भ होगा। तब पुन: क्रम से तीसरे, दूसरे, प्रथम काल में जघन्य मध्यम और उत्तम भोग भूमि की रचना होगी। उन तीनों भोगभूमियों में क्रमश: एक पल्य, दो पल्य तथा तीन पल्य पर्यन्त आयु के धारक होते है तथा कांतियुक्त एक कोश,

दो कोश और तीन कोश ऊँचे और क्रमश सुवर्णसम, इन्दुसम, तथा हरित वर्ण के धारक होते हैं। उन भोगभूमियों में भोजनांग, वस्त्रांग, माल्यांग, ज्योतिषांग, भूणपांग और पानांग आदि दश प्रकार के कल्पवृक्षो से प्राप्त हुए मनोभिलषित अनेक प्रकार के उत्तम-उत्तम भोगों को भोगकर तदनन्तर शेष बचे पुण्य से स्वर्ग में जाकर सुख भोगते है। इस प्रकार उत्सर्पिणी काल के समाप्त होने पर पुन अवसर्पिणी काल प्रारम्भ होगा। ऐसे ही अनादि काल से उत्सर्पिणी के पीछे अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के पीछे उत्सर्पिणी काल का धारा प्रवाह रूप से चक्र चला आ रहा है और ऐसे ही अनादि काल तक चला जाएगा।

इति मध्य लोक वर्णनम्।

अथ उर्ध्व लोक वर्णनम् :—

उर्ध्व लोक के सामान्यत दो भेद है— एक कल्प और दूसरा कल्पातीत। इन दोनो में वैमानिक देव रहते है। अब प्रथम देवो की वैमानिक सज्ञा जानने के लिए इनके प्रकारों का वर्णन करते है—

देवो के मुख्य भेद चार है—भवनवासी, व्यतर, ज्योतिष और वैमानिक। इन वैमानिक पर्यन्त चार प्रकार देवों के क्रम से दस, आठ, पाच और बारह भेद है अर्थात् दस प्रकार के भवनवासी, आठ प्रकार के व्यन्तर, पाच प्रकार के ज्योतिष और बारह प्रकार के वैमानिक देव होते है। जिनमें रहने से विशेष पुण्यवान माने जाएँ उन्हे विमान और उनमें रहने वालों को वैमानिक कहते है। वे स्थान भेद से दो प्रकार के है—एक कल्पोपपन्न, दूसरे कल्पातीत। सौधर्म आदि सोलह स्वर्गों के विमानों मे इन्द्र आदि की कल्पना होती है इस, कारण उनकी कल्प सज्ञा है और उसमे निवास करने वालो को कल्पोपपन्न वा कल्पवासी कहते हैं। इन्ही के बारह भेद है, कल्पातीतो के नही। जिन विमानो मे इन्द्र आदि की कल्पना नही है, ऐसे ग्रैवेक आदि को कल्पातीत कहते है और उसमे निवास करने वालो की अहमिन्द्र सज्ञा है। पूर्वोक्त भवनवासी आदि चार प्रकार के देवो मे (१) इन्द्र (२) अत्येन्द्र (३) लोक पाल, (४) त्रायस्त्रिश, (५) सामानिक, (६) अगरक्षक (७) पारिषद, (८) आनीक, (९) प्रकीर्णक, (१०) आभियोग्य व (११) किल्विषक ऐसे ग्यारह भेद होते है।

अब यहा पर प्रसगवश इन्द्र आदि दश प्रकार के देवो का उदाहरण सहित लक्षण लिखते है—

अन्य देवो मे न पाए जा सकने वाले अणिमा, महिमा आदि गुणो से जो परम ऐश्वर्य को प्राप्त हो उसे इन्द्र कहते है।१।

जो शासन ऐश्वर्य रहित इन्द्र के समान ऐश्वर्य धारण करने वाले हों उन्हें प्रत्येन्द्र कहते है।२।

कोटपाल के समान जो स्वर्ग लोक की रक्षा करने वाले हों उन्हें लोकपाल कहते हैं।३।

इन्द्रो के मन्त्री पुरोहित के समान जो शिक्षा देने वाले हों उन्हे त्रायस्त्रिश कहते हैं।४।

जिनके आज्ञा और ऐश्वर्य रहित स्थान, आयु, परिवार, भोग आदि इन्द्र के समान हों उन्हे सामानिक जाति के देव कहते है। इन्द्र इनको माता पिता व उपाध्याय के समान गिनता है और अन्य देव इनका इन्द्र के समान आदर-सत्कार करते है।५।

जो इन्द्र की सभा में अगरक्षक के समान हाथो मे शस्त्र लिए हुए इन्द्र के पास खड़े रहते हैं उन्हे अंग रक्षक कहते है।६।

इन्द्र की सभा में जो प्रधान हो उन्हे पारिषद कसते है।७।

जो गज, अश्व आदि सात प्रकार की सेना के रूपो को धारण करने वाले देव होते हैं उन्हे आनीक जाति के देव कहते है।८।

प्रजा के समान विमानो मे रहने वाले जो साधारण देव होते हैं उन्हे प्रकीर्णक देव कहते है।९।

जो सेवको के समान इन्द्र आदि की सेवा कर्म करते हैं उन्हे औभियोग्य जाति के देव कहते है।१०।

जो चांडालो के समान नगर के बाहर रहने वाले इन्द्र आदि देवो के सम्मान आदि के अनधिकारी देव होते है उन्हे किल्विषिक जाति के देव कहते है।११।

इस प्रकार प्रत्येक निकाय के देवो में उपरोक्त इन्द्र, सामानिक आदि ग्यारह भेद होते है परन्तु व्यन्तर और ज्योतिष जानि के देवो मे त्रायस्त्रिश और लोकपाल जाति के देव नही होते।

भावार्थ .—व्यतर और ज्योतिषि जाति के देवो में आठ-आठ भेद ही होते है।

अब देवो के प्रकारो में कहे हुए प्रथम भवनवासी देव के दस भेदो को कहते हैं—

भवनवासी देवो के (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुपर्णकुमार, (४) द्वीप-कुमार, (५) उदधि कुमार, (६) विद्युतकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) दिक्कुमार, (९) अग्निकुमार और (१०) वातकुमार ऐसे दस भेद है। इनमें एक-एक कुल में दो-दो इन्द्र हैं। असुर कुमार कुल मे चमर और वैरोचन, नागकुमार कुल में भूतानद और धरणानंद, सुपर्ण कुमार कुल में वेणु और वेणधारी, द्वीपकुमार कुल में पूर्ण और वशिष्ट, उदधि कुमार कुल मे जलप्रभ और जलकात, विद्युत कुमार कुल में घोष और महाघोष, स्तनितकुमार कुल में हरिषेण और हरिवाहन, दिक्कुमार कुल में अमित गति और अमितवाहन, अग्निकुमार कुल में अग्निशिखी और अग्निबाहन, वातकुमार कुल मे वैलभ और प्रभंजन—इस प्रकार भवन-

वासियों के प्रत्येक कुल में दो-दो इन्द्र और प्रत्येक इन्द्र के एक-एक प्रत्येन्द्र होता है। बीस इन्द्र और इतने ही प्रत्येन्द्र-ऐसे भवनवासियो के समस्त चालीस इन्द्र है। असुरकुमार से लेकर वातकुमार पर्यन्त दस प्रकार के भवनवासी देवों के मुकुटों में क्रम से (१) चूडामणि रत्न (२) सर्प, (३) गरुड, (४) गज, (५) मत्स्य, (६) स्वस्तिक (साथिया), (७) बज्र (८) सिंह, (९) कलश और (१०) अश्व-ये दस चिह्न होते है अथवा इनके अतिरिक्त पृथक् पृथक् प्रकार के चैत्य वृक्ष और ध्वजा मे भी इनके चिह्न होते है। इन दशविध भवनवासी देवो के अनुक्रम से (१) अश्वत्थ वृक्ष, (२) सप्तपर्ण वृक्ष, (३) शाल्मली वृक्ष, (४) जबू वृक्ष, (५) चैतस वृक्ष, (६) कदब वृक्ष, (७) प्रियगुवृक्ष, (८) शिरस वृक्ष, (९) पलाश वृक्ष तथा (१०) राजद्रुम अर्थात् किरमाला वृक्ष-ये दस चैत्य वृक्ष होते है। इन प्रत्येक प्रकार के वृक्षो के नीचे मूलभाग मे एक-एक दिशा मे भवनवासी देवो के द्वारा परिपूज्य पर्यकासन जिन चैत्य (प्रतिमा) विराजमान है इसी कारण इनको चैत्यवृक्ष कहते है। इन प्रत्येक प्रतिमाओ के अनुभाग मे एक-एक मानस्तम्भ स्थित है और उन मानस्तभो के ऊपर प्रत्येक दिशा में सात-सात जिन बिम्ब विराजमान है।

अब आगे भवनवासी इन्द्रों के भवनो की सख्या कहते है—पहले एक-एक कुल में जो दो-दो इन्द्र कहे थे उनमे जिनका नाम प्रथम हैं वे दक्षिणेन्द्र और जिनका नाम पीछे है वे उतरेन्द्र जानने चाहिए। दक्षिण दिशस्थ भवनो में रहने वाले इन्द्रो को दक्षिणेन्द्र और उत्तर दिशस्थ भवनों मे रहने वाले इन्द्रो को उत्तरेन्द्र कहते हैं। वहां असुरकुमार कुल के दक्षिणेन्द्र के चौतीस लाख और उत्तरेन्द्र के तीस लाख भवन है। नागकुमार कुल के दक्षिण के चवालीस लाख और उत्तरेन्द्र के चालीस लाख भवन है। सुपर्णकुमार कुल के दक्षिण के अडतालीस लाख और उत्तरेन्द्र के चौतीस लाख भवन हैं। द्वीपकुमार, उदधिकुमार, विद्युतकुमार, स्तनितकुमार, दिक्कुमार और अग्निकुमार इन छह कुलो के प्रत्येक दक्षिणेन्द्र के चालीस-चालीस लाख और उत्तरेन्द्र के छत्तीस-छत्तीस लाख भवन और है वातकुमार कुल के दक्षिणेन्द्र के पाच लाख और उत्तरेन्द्र के छयालीस लाख भवन है।

इस प्रकार दसो कुल के इन्द्रो के समस्त भवन सात करोड बहत्तर लाख है। इन सर्व भवनों में एक-एक चैत्यालय है इस कारण इतने ही चैत्यालय हुए। उन चैत्यालयस्थ जिनबिम्बों को त्रिकरणशुद्धिपूर्वक मेरा नमस्कार हो। वे भवन नाना प्रकार के उत्तमोत्तम पुष्पों की गन्ध से सुगन्धित रत्नमय भूमि व भित्ति का सयुक्त सदैव प्रकाशमान भूमिगृह (तहखाना) की उपमा को धारण करने वाले जघन्य सख्यात कोटि योजन और उत्कृष्ट असख्यात कोटि योजन परिमित विस्तार आयाम वाले अर्थात् चौकोर हैं। तीन सौ योजन बाहुल्य अर्थात् ऊंचाई वाले उन प्रत्येक भवनों के मध्य में सौ-सौ योजन ऊँचा एक पर्वत होता है इसी पर भगवान का चैत्यालय होता है। आगे इन भवनों के स्थान को कहते है कि

ये कहां पर स्थित है—रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है। उसके तीन विभाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। इनमें से सोलह हजार योजन मोटा पहला खरभाग है। उसमें चित्रा, वज्रा, वैडूर्य आदि एक-एक हजार योजन की मोटी सोलह पृथ्वियां हैं। इनमें से एक-एक हजार योजन मोटी एक नीचे की और एक ऊपर की ऐसी दो पृथ्वियों को छोड कर एक-एक राजू लम्बी चौडी शेष चौदह भूमियों में चित्रा पृथ्वी से एक-एक हजार योजन नीचे जाकर (१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) भूत और (७) पिशाच—इन सात प्रकार के व्यन्तर देवों के साथ और दो हजार योजन नीचे जाकर (१) नागकुमार, (२) विद्युत्कुमार, (३) सुपर्णकुमार, (४) अग्निकुमार, (५) वातकुमार, (६) स्तनितकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) द्वीपकुमार और (६) दिक्कुमार इन नव प्रकार के भवनवासी देवो के निवास स्थान है।

खरभाग के नीचे चौरासी हजार योजन मोटा पक भाग है। उनमें असुर कुमार और रासक्षो के स्थान है और पंकभाग के नीचे अस्सी योजन मोटे अब्बहुल भाग मे प्रथम नरक है। उसमे नारकियों के बिल अर्थात् निवासस्थान हैं।

अब भवनवासी इन्द्रो के सामानिक आदि देवों की सख्या कहते हैं—पूर्व आदि दिशाओ के सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक चार लोकपाल तथा तैंतीस त्रायस्त्रिंशद देव ये सब तो इन्द्रो के समान ही होते हैं और सामानिक आदि में विशेषता होती है। चमरेन्द्र के सामानिक देव चौसठ हजार, तनुरक्षक दो लाख छप्पन हजार, अन्त· पारिषद् अठाईस हजार, मध्य पारिषद तीस हजार और बाह्य पारिषद बत्तीस हजार होते हैं। भूतानन्द के सामानिक छप्पन हजार, तनुरक्षक दो लाख छप्पन हजार, अन्तः पारिषद् छह हजार, मध्य पारिषद् आठ हजार और बाह्य पारिषद् दस हजार होते है। अवशेष धरणानन्द प्रमुख प्रभंजन पर्यन्त सत्रह इन्द्रों के प्रत्येक सामानिक पचास-पचास हजार तनुरक्षक दो लाख अन्तः पारिषद् चार हजार, मध्य पारिषद छह हजार और बाह्य पारिषद् आठ हजार होते है। बीसों इन्द्रों की अन्तः पारिषद् समिता, मध्यम पारिषद् चन्द्रा और बाह्य परिषद् यतु—ऐसी संज्ञाओं से युक्त है।

अब आनीक के भेद और आनीक की संख्या कहते हैं—

भैसे, घोडे, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्त्तकी—ये सात प्रकार आनीक अर्थात् सेना है। एक-एक आनीक मे सात-सात कक्ष अर्थात् फौज हैं तथा प्रथम आनीक के प्रथम कक्ष का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवों की सख्या के समान है फिर आगे-आगे के कक्षों में उससे द्विगुणा-द्विगुणा प्रमाण जानना चहिए। जैसे चमरेन्द्र के चौंसठ हजार भैसे प्रथम कक्ष में है और सात कक्ष है तो प्रथम कक्ष के भैसों की संख्या को द्विगुण-द्विगुण करने पर

दूसरे कक्ष में एक लाख अठाईस हजार, तीसरे मे दो लाख छप्पन हजार, चौथे में पाच लाख बारह हजार, पाचवे मे दस लाख चौबीस हजार, छठे मे बीस लाख अड़तालीस हजार और सातवें में चालीस लाख छयाणवे हजार हुए। सातो कक्षों का जोड लगाने पर सब इक्यासी लाख, अठाईस हजार हुए इसी प्रकार इतने-इतने घोटक आदि जानने चाहिए। सातो प्रकार के समस्त आनीक देव पाच करोड, अडसठ लाख, छयाणवे हजार चमरेन्द्र के है। इसी प्रकार वैरोचन आदि के भी यथासम्भव प्रमाण जान लेना चाहिए। असुरकुमारो के तो भैसा आदि सात प्रकार आनीक है परन्तु अवशेष नव कुलेन्द्रो के प्रथम आनीक भैसे की जगह क्रम से (१) नाव, (२)गरुड, (३) हाथी, (४) माछला, (५) ऊंट, (६) सूर, (७) सिघ, (८) पालकी और (९) घोडे जानने चाहिए। अवशेष छह आनीक असुरकुमारो वत् होती है। भवनवासी देव असख्यात है इस कारण शेष भेद जो प्रकीर्णक आदि है वे असख्यात जानने चाहिए।

अब आगे असुरकुमारो की देवागनाओ का प्रमाण कहते है—

असुरकुमारो के इन्द्रो के छप्पन हजार देवागनाएँ है उनमे सोलह हजार वल्लभा, पाच महादेवी और पाच कम चालीस हजार परिवार देवी है। नागकुमार के इन्द्रो के पचास हजार देवॉगनाएँ है उनमे दस हजार वल्लभा, पाच महादेवी और पाच कम चालीस हजार परिवार देवी है। सुपर्ण कुमारो के इन्द्रो के चवालीस हजार देवागनाएं है उनमे चार हजार वल्लभा, पाच महादेवी और पाच कम चालीस हजार परिवार देवी है। अवशेष जो द्वीपकुमार आदि सात प्रकार के भवनवासी देव है उनके बत्तीस-बत्तीस हजार देवॉगनाएँ है उनमे दो-दो हजार वल्लभा, पाच-पांच महादेवी और पाच कम तीस-तीस हजार परिवार देवी हैं। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार —इनकी एक-एक महादेवी (पटरानी) विक्रिया करे तो मूल शरीर सहित आठ हजार देवागना रूप हो जाती है। शेष बचे हुए द्वीपकुमार आदि सात प्रकार के जो देव है यदि उनकी एक ज्येष्ठ देवी विक्रिया करे तो मल शरीर सहित छह हजार देवागना रूप हो जाती है। प्रत्येन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिशत और सामानिक इन चारों के इन्द्र के समान ही देवांगना होती है इस कारण इनकी देवांगनाओं का पृथक् प्रमाण न कहकर पारिषदो की देवगनाओ का प्रमाण कहते है—

चमरेन्द्र के अन्त पारिषदो के अढाई सौ, मध्य पारिषदो के दो सौ और बाह्य पारिषदो के डेढ सौ देवागनाएँ है। वैरोचनेन्द्र के अन्त पारिषदो के तीन सौ मध्यम पारिषदों के अढ़ाई सौ और बाह्य पारिषदो के दो सौ देवागना हैं। नागकुमार कुलेन्द्रो के अन्त पारिषदो के दो सौ, मध्यम पारिषदो के एक सौ आठ और बाह्य पारिषदो के एक सौ चालीस देवागनाएँ है। गरुड़ कुमार कुलेन्द्रो के अन्त. पारिषदो के एक सौ आठ, मध्यम

पारिषदों के एक सौ चालीस और बाह्य पारिषदों के एक सौ बीस देवांगनाएँ है। अवशेष कुलेन्द्रों के अन्त: पारिषदों के एक सौ चालीस, मध्य पारिषदो के एक सौ बीस और बाह्य पारिषदों के सौ देवागनाएँ है। सेना के महत्तर अर्थात प्रधान देवों और अंगरक्षक देवो के सौ-सौ देवागनाएँ है। आनीक जाति के देवो के पचास-पचास देवांगनाएँ और अवशेष निकृष्ट जाति के देवों के बत्तीस-बत्तीस देवागनाएँ है। देवो के न्यून से न्यून बत्तीस देवागनाएँ होती है बत्तीस मे कम नही होती है।

अब आगे भवनवासी देवो की उत्कृष्ट व जघन्य आयु कहते हैं—

असुरकुमारो की एक सागरोपम, नागकुमारो की तीन पल्य सुपर्ण कुमारो की अढ़ाई पल्य, द्वीपकुमारो की दो पल्य और अवशेष छह प्रकार के भवनवासी देवो की डेढ पल्य उत्कृष्ट आयु है। इन सबकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है। इतना विशेष है कि दक्षिणेन्द्र की अपेक्षा उत्तरेन्द्र की आयु किंचित् अधिक होती है। यथा—असरकुमारो मे चमरेन्द्र की आयु एक सागर है तो वैरोचन इन्द्र की किंचित् अधिक एक सागर आयु होती है इसी प्रकार सब इन्द्रो की जानना चाहिए। प्रत्येन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिशत् ओर सामानिक इन चारो की उत्कृष्ट व जघन्य आयु इन्द्र के समान ही होती है। आयु, परिवार, ऋद्धि, विक्रिया आदि मे प्रत्येन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिंशत् और सामानिक ये चारो इन्द्र के समान ही होते है इस कारण छत्र आदि से युक्त होते है।

आगे चमर आदि इन्द्रों की देवांगनाओ की आयु कहते है—चमरेन्द्र की देवांगनाओं की आयु अढाई पल्य, वैरोचनेन्द्र की देवागनाओ की आयु तीन पल्य, नागेन्द्र की देवागनाओं की आयु पल्य का अष्टमाश, गरुडेन्द्र की देवागनाओ की आयु तीन कोटि पूर्व वर्ष प्रमाण और अवशेप इन्द्रो की देवागनाओं की आयु तीन कोटि वर्ष प्रमाण है। चमरेन्द्र के अगरक्षक, सेना प्रधानों की आयु एक पल्य, आनीक सहित वाहनों की आयु अर्द्ध पल्य है। चमरेन्द्र के अंगरक्षक आदि की आयु की अपेक्षा वैरोचनेन्द्र के अगरक्षको आदि की आयु किंचित् अधिक जाननी चाहिए। नागकुमारेन्द्रो के अगरक्षक सेनाप्रधानो की आयु एक कोटि पूर्व वर्ष और आनीक सहित वाहनो की एक लाख वर्ष है। अवशेष सात कुलेन्द्रो के अगरक्षक सेना महन्तरो की आयु एक लाख वर्ष है और आनीक सहित वाहनो की पचास हजार वर्ष है। चमरेन्द्र के अन्त पारिषदो की आयु अढ़ाई पल्य, मध्य पारिपदों की दो पल्य और बाह्य पारिषदों की डेढ़ पल्य है। वैरोचनेन्द्र के अन्त: पारिपदो की आयु तीन पल्य, मध्य पारिषदो की ढ़ाई पल्य और बाह्य पारिषदो की दो पल्य है। नागकुमारेन्द्र के अन्त. पारिषदों की आयु पल्य का अष्टमाश, मध्य पारिपदो की पल्य का षोडशाश और बाह्य पारिषदों की पल्य का बत्तीसवा भाग होती है। गरुड़ कुमारेन्द्रों के अन्त: पारिषदो की आयु तीन कोड़ि पूर्ववर्ष,

मध्य पारिषदो की आयु दो कोड़ि पूर्व वर्ष और बाह्य पारिषदों की एक कोड़ि पूर्व वर्ष है। अवशेष कुलेन्द्रो के अभ्यन्तर पारिषदो की आयु तीन कोटि वर्ष, मध्यम पारिषदो की आयु दो कोटि वर्ष बाह्य पारिषदो की आयु एक कोटि वर्ष जाननी चाहिए। अब आगे असुरकुमार आदि के उच्छवास् और आहार का क्रम कहते है –

असुरकुमारो के एक पक्ष व्यतीत होने पर उच्छवास् और एक हजार वर्ष बीतने पर आहार होता है। नागकुमार, सुपर्णकुमार और द्वीपकुमारो के साढ़े बारह मुहूर्त्त के साढ़े बारहवे भाग के पश्चात् उच्छवास् और दिन के साढे बारहव भाग के पश्चात् आहार होता है। उदधि कुमार, विद्युत कुमार और स्तनित कुमारो के बारह मुहूर्त्त के बारहवे भाग बीतने पर उच्छवास और दिन के बारहवे भाग बीतने पर आहार होता है। दिक्कुमार, अग्नि-कुमार और वातकुमारो के साढे सात मुहुर्त्त के साढे सातवे भाग पर उच्छवास और दिन के सातवे भाग के पश्चात् आहार होता है। आगे इनके शरीर की ऊँचाई कहते है —

असुरकुमारो के शरीर की ऊँचाई पच्चीस धनुष, अवशेष नागकुमार प्रमुख वात-कुमारो पर्यन्त नव प्रकार के भवनवासियो की ऊँचाई दस धनुष होती हैं। व्यन्तर देवो की भी दस धनुष तथा ज्योतिषी देवो की सात धनुष होती है।

इति भवनवासी देव वर्णनम्।

अथ व्यन्तर देव वर्णन प्रारम्भः :—

व्यन्तर देव (१) किन्नर, (२) कि पुरुष, (३) महोरग, (४) गन्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत और (८) पिचास—ऐसे आठ प्रकार के है। अब इन आठो प्रकार के व्यन्तर देवों का क्रम से शरीर का वर्ण कहते है—किन्नरो के शरीर का वर्ण प्रियगुफल के सदृश, किंपुरुषों का धवल महोरगो का श्याम, गन्धर्वो का सुवर्णसम यक्ष राक्षस तथा भूत इन तीनों का श्याम वर्ण और पिशाचो का अति कृष्ण वर्ण है। ये सब देव अडगजा इत्यादि लेप और आभूषणो से युक्त होते हैं।

इन किन्नर आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के क्रमश अशोक, चपा, नागकेशर बुबड़ी, बड़, कठतरु, कुतली और कदम्ब नाम के धारक आठ वृक्ष होते है। इन प्रत्येक चैत्य वृक्षो के मूल भाग मे प्रत्येक दिशा मे चार-चार पल्यकासन जिन प्रतिमा विराजमान है और वे प्रतिभाचार तोरणो से सयुक्त है इसी कारण इन वृक्षो को चैत्य वृक्ष कहते है। उन प्रत्येक प्रतिमाओ के अग्रभाग मे तीन पीठ के ऊपर मानस्तम्भ स्थित है। उन मानस्तम्भो के तीन-तीन कोट है। ये सब मानस्तम्भ मोतियो की माला क्षुद्र घटिका आदि से सुशोभित हैं। आगे इन व्यन्तर देवों के कुल प्रतिभेद कहते है .—किन्नर, किपुरुष महोरग और गन्धर्व-

इन चार कुलो में दस-दस भेद अवातर है। यक्षों में बारह, राक्षसो में सात और पिशाचो में चौदह भेद अवांतर है।

जिस प्रकार यहाँ पर मनुष्यो में क्षत्रिय, वैश्य आदि कुलभेद होकर फिर क्षत्रिय कुल में इक्ष्वाकुवश, सोमवंश आदि प्रभेद होते हैं उसी प्रकार व्यन्तरों में जानने चाहिए। व्यन्तरों के प्रत्येक कुल में दो—दो इन्द्र है। अब आगे व्यन्तरो के अस्सी भेदों के नाम व इन्द्रों के नाम कहते हैं —

किन्नर जाति के व्यन्तरो के (१) किपुरुष, (२) किन्नर, (३) हृदयंगम, (४)-रूपपाली, (५) किन्नर-किन्नर, (६) अनिदित, (७) मनोरम, (८) किन्नरोत्तम (९) रति-प्रिय और (१०) ज्येष्ठ ऐसे दस भेद हैं। इन किन्नरो में किपुरुष और किन्नर दो इन्द्र हैं। इनमें किपुरुष के अवतंसा और केतुमती और किन्नर के रतिषेण और रतिप्रिया नाम की दो-दो बल्लभिका देवागनाएँ है।

किंपुरुष जाति के व्यन्तरो के (१) पुरुष, (२) पुरुषोत्तम, (३) सत्य पुरुष, (४) महापुरुष, (५) पुरुषप्रभ, (६) अतिपुरुष, (७) मरु, (८) मरुदेव, (९) मरुप्रभ और (१०) यशस्वान्—ऐसे दस भेद हैं। किंपुरुषो के सत्पुरुष और महापुरुष नामक दो इन्द्र हैं। इनमें सत्पुरुष के रोहिणी और नवमी और महापुरुष के ह्री और पुष्पवती नाम की दो-दो वल्ल-भिका देवागनाएँ है। प्रत्येक वल्लभिका देवागना एक-एक हजार परिवार देवियों से युक्त है।

महोरग जाति व्यन्तरो के (१) भुजग, (२) भुजगशाली, (३) महाकाय, (४) अति-काय, (५) स्कधशाली, (६) मनोहर, (७) अरुनिजव, (८)महेश्वर्य, (९) गम्भीर और (१०) प्रियदर्शी ऐसे दस भेद है। इनके महाकाय और अतिकाय दो इन्द्र है। महाकाय के भोग और भोगवती एव अतिकाय के पुष्पगधी और अनदिता नाम की दो-दो बल्लभिका देवांगनाएं।

गन्धर्वजाति के व्यन्तरो के (१) हा हा, (२) हू हू, (३) नारद, (४) तुम्बर, (५)कदब, (६) वासव, (७) महास्वर, (८) गीतरति, (९) गीतयशो और (१०) दैवत ऐसे दस भेद हैं। इनके गीतरती व गीतयशा नामक दो इन्द्र है। गीतरति के सरस्वती और स्वरसेना एव गीतयशा के नदनी और प्रियदर्शिना नाम की दो-दो वल्लभिका देवगनाए है।

यक्ष जाति के व्यन्तरो के (१) माणिभद्र, (२) पूर्णभद्र, (३) शैलभद्र,(४) मनोभद्र,(५) भद्रक, (६) सुभद्र, (७) सर्वभद्र, (८) मानुष, (९) धनपाल, (१०) सुरूप, (११) यक्षोत्तम, और (१२) मनोहर ऐसे बारह भेद है। इनके माणिभद्र और पूर्णभद्र नाम के दो इन्द्र हैं। माणिभद्र के कुन्दा और बहुपुत्रा एवं पूर्णभद्र के तारा और उत्तमादेवी नाम की दो-दो वल्लभिका देवांगनाए है।

राक्षस जाति के व्यन्तरों के (१) भीम, (२) महाभीम, (३) विघ्न विनायक, (४) उदक, (५) राक्षस, (६) राक्षस-राक्षस और (७) ब्रह्म राक्षस ये सात भेद है। इनके भीम और महाभीम ये दो इन्द्र है। भीम के पद्मा और वसुमित्रा एव महाभीम के रत्नाढ्या और और कनकप्रभा नाम की देवी है।

भूत जाति के व्यन्तर देवो के (१) स्वरूप, (२) प्रतिरूप, (३) पुरुषोत्तम, (४) प्रतिभूत (५) महाभूत, (६) प्रतिच्छिन्न और (७) आकाशभूत—ये सात भेद है। इनके स्वरूप और प्रतिरूप नामक दो इन्द्र है स्वरूप के रूपवती और बहुरूपा और प्रतिरूप के सुसीमा और सुमुखा देवी है।

पिशाच जाति के व्यन्तर देवो के (१) कूष्माड, (२) रक्ष, (३) यक्ष, (४) सम्मोह, (५) तारक, (६) अशुचि, (७) काल, (८) महाकाल, (९) शुचि, (१०) सतालक, (११) देह, (१२) महादेह, (१३) तूनीक और (१४) प्रवचन—ऐसे चौदह भेद है। इनके काल और महाकाल नाम के दो इन्द्र है। काल के कमला और कमलप्रभा एव महाकाल के उत्पला और सुदर्शना नामक दो दो वल्लभा देवियां है।

इस प्रकार व्यन्तरो के आठ कुलों के सोलह इन्द्र और प्रत्येक इन्द्र के एक-एक प्रत्येन्द्र ऐसे भवनवासियो के सर्व बत्तीस इन्द्र होते है। प्रत्येक इन्द्र के दो-दो गणिका महत्तरी हैं जिस प्रकार यहा वेश्या नृत्यकारिणी होती है उसी प्रकार उनके जो नत्यकारिणी है उन्हें गणिका और उनमें जो प्रधान हो उन्हे गणिका महत्तरी कहते हैं। उन सोलह इन्द्र सम्बन्धी बत्तीस गणिका महत्तरियों के नाम क्रम से ये है—(१) मधुरा, (२) मधुरालापा। (३) सुखरा, (४) मृदुभाषिणी २। (५) पुरुषप्रिया, (६) पुंकाता ३। (७) सौमा, (८) पुंदर्शिनी ४। (९) भोगा, (१०) भोगवती ५। (११) भुजगा, (१२) भुजगप्रिया ६। (१३) सुघोषा, (१४) विमला ७। (१५) सुमरा, (१६) अनिदिता ८। (१७) सुभद्रा, (१८) (१९) मालिनी, (२०) पद्ममालिनी १०। (२१) सर्व्वरी, (२२) सर्व्व-सेना ११। (२३) रुद्रा, (२४) रुद्रदर्शना १२। (२५) भूतकाता, (२६) भूता १३। (२७) भूतदत्ता, (२८) महाभुजा १४। (२९) अन्ना, (३०) कराला १५। (३१) सुरसा और (३२) सुदर्शना १६।

इस प्रकार क्रम से प्रत्येक इन्द्र के दो-दो गणिका महत्तरी होती है। इन सबकी आयु आधा-आधा पल्य प्रमाण होती है।

आगे इन्द्रो के सामानिक आदि की सख्या कहते है :—

व्यन्तर जाति के प्रत्येक देवेन्द्रो के सामानिक चार हजार, अगरक्षक सोलह हजार, अतः पारिषद् आठ सौ, मध्य पारिषद् एक हजार और वाह्य पारिषद् एक हजार दो सौ होते

है। व्यन्तर जाति के देवों के गज, घोटक, पियादा, रथ, गंधर्व, नृर्त्तकी और वृषभ ये सात प्रकार की आनीक अर्थात् सेना है। इन गज आदि सप्तधा आनीको के क्रम से सुज्येष्ठ, सुग्रीव, विमल, मरुदेव, श्रीदाम, दामश्री और विशाल —ये सात देव महत्तर अर्थात् प्रधान जानने चाहिए। प्रत्येक आनीक में सात-सात कक्ष अर्थात् फौज है उनमें प्रथम आनीक के प्रथम कक्ष का प्रमाण अठाईस हजार है फिर आगे के कक्षा मे उससे द्विगुण-द्विगुण प्रमाण जानना चाहिए जैसे कि पुरुषेन्द्र के अटाईस हजार हाथी प्रथम कक्ष मे है और सात कक्ष है तो प्रथम कक्ष के हाथियो की सख्या को द्विगुणा करने पर दूसरे कक्ष मे छप्पन हजार, तीसरे में एक लाख बारह हजार, चौथे मे दो लाख चौबीस हजार, पाचवे में चार लाख अड़तालीस हजार, छठे में आठ लाख छयानबे हजार और सातवे मे सत्रह लाख बाणवे हजार हुए। सातो कक्षो का जोड लगाने पर सब पैंतीस लाख छप्पन हजार हुए इसी प्रकार इतने-इतने घोटक आदि जानने चाहिए। सातो प्रकार के समस्त आनीको का प्रमाण दो करोड, अडतालीस लाख, बाणवे हजार हुआ। सब व्यन्तरेन्द्रो के समान अनीक है इस कारण सब व्यन्तरेन्द्रो के इतना ही प्रमाण है और प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषक आदि असख्यात है।

आगे व्यन्तरेन्द्रों के जहा पर नगर है उन द्वीपो के नाम कहते है—

(१) अन्जनक, (२) बज्रधातुक, (३) सुवर्ण, (४) मनः शिलक, (५) बज्र, (६) रजत, (७) हिगुल और (८) हरिताल—इन आठो द्वीपो मे क्रम से किन्नर आदि अष्टविध व्यन्तरो के नगर हैं। यथा—अ जनक द्वीप में किन्नरो के नगर है वहाँ जिस इन्द्र का नाम पहले कहा है उसके नगर दक्षिण में और जिसका नाम पीछे कहा है उनके नगर उत्तर में जानने चाहिए। प्रत्येक व्यतरेन्द्र के पाच-पाच नगर है। व्यन्तरेन्द्र के नाम से तो मध्य के नगर का नाम जानना चाहिए और उसके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, दिशाओ मे इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभा, कान्त, आवर्त और मध्य का योग करने पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशस्थ नगरो के नाम जानने चाहिए। यथा—किन्नर नाम के इन्द्र के पाच नगर है तो मध्य के नगर का नाम किन्नरपुर और पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशाओ के नगरो के नाम क्रम से किन्नरप्रभ, किन्नर-कात, किन्नरावर्त और किन्नर मध्य जानने चाहिए। इसी प्रकार समस्त इन्द्रो के नगरो नाम जानने चाहिए। ये सब नगर समभूमियो के ऊपर जम्बूद्वीप के समान (लक्ष योजन व्यास वाले) साढे सैंतीस योजन ऊँचे, भूमि में साढे बारह योजन चौड़े, और ऊपरोपरि क्रमशः न्यून होकर ऊपर अढ़ाई योजन चौडे प्राकार अर्थात् कोट सयुक्त है। उन कोटो के साढे बासठ योजन ऊँचे और सवा इक्तीस योजन चौड़े द्वार अर्थात् दरवाजे है और उन द्वारो पर पिचहत्तर योजन ऊँचा प्रासाद है जिसे सुधर्मा नामक सभा कहते है क्योंकि उसी प्रासाद के मध्य में साढे बारह योजन लम्बी, साढ़े छह योजन चौड़ी और नव योजन ऊँची सुधर्मान ामक सभा है इसकी अधिष्ठान भूमि एक कोश मोटी है। इस सुधर्मा नामक सभा के द्वार का उदय

(ऊँचाई) दो योजन और व्यास (चौडाई) एक योजन जाननी चाहिए । इसी प्रकार नगर, प्राकार, द्वार आदि का प्रमाण दक्षिणेन्द्रो के समान ही उत्तरेन्द्रो का जानना चाहिए । उन नगरों के दो-दो हजार योजन परे चारो दिशाओ मे एक लाख योजन लम्बे, और पचास हजार योजन चौड़े बन खण्ड अर्थात् बाग है । प्रत्येक इन्द्र की गणिका महत्तरियो के नगर अपने इन्द्रों के पुरों के पार्श्वभाग मे चौरासी हजार योजन लम्बे और इतने ही चौडे है । अवशेष व्यन्तरों के स्थान नगर अनेक द्वीप समुद्रों में होते है । आगे कुल अपेक्षा निलय भेद कहते है रत्नप्रभा पृथ्वी के खर भाग मे भूतो के चौदह हजार भवन है और पकभाग में राक्षसो के सोलह हजार भवन है । व्यन्तरो के भवनवत् इनके भी भवन भूमि की मोटाई मे जानने चाहिए । अवशेष जो वान व्यन्तर देव है उनके स्थान भूमि पर होते है ।

आगे नीचौपपादादिवान् व्यन्तर देवो का विशेष वृतात लिखते हैं—पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र में नीचौपपाद व्यन्तर देव है उनके उपर दस-दस हजार हाथ ऊँचे क्षेत्र में क्रम से (१) दिग्वासी, (२) अन्तरनिवासी और (३) कूष्मांड जानने चाहिए तथा बीस-बीस हजार हाथ क्षेत्र केअन्तराल से क्रमश उपरोपरि (१) उत्पन्न, (२) अन्युत्पन्न, (३) प्रमाण, (४) गध, (५) महागध, (६) भुजग, (७) प्रीनिक और (८) आकर्षोत्पन्न—नामक व्यन्तर देव जानने चाहिए । आगे इन नीचोपपादिको की क्रम से आयु कहते है—

नीचोपपादो की दस हजार दिग्वासिको की बीस हजार, भवनवासियो की तीस हजार, कूष्माडो की चालीस हजार, उत्पन्नो की बीस हजार, अनुत्पन्नो की साठ हजार, प्रमाणों की सत्तर हजार, गधो की अस्सी हजार महागधो की चौरासी हजार, भुजगो की पल्य का अष्टमाश, प्रीतिकों की पल्य का चतुर्थांश, आकाशोत्पन्ना की अर्द्ध पल्य प्रमाण आयु है ।

व्यन्तरो के निलय अर्थात् स्थान तीन प्रकार के है—(१) भवनपुर, (२) आवास और (३) भवन । उनमें से द्वीप वा समुद्रो मे भवनपुर, द्रह, पर्वत तथा वृक्षो में आवास और चित्रा पृथ्वी मे भवन होते है । आगे इनका स्वरूप कहते है—जो पृथ्वी से ऊँचे स्थान मे हो वे आवास, जो पृथ्वी की बाहुल्यता में हों वे भवन और जो मध्य लोक की समभूमि पर हो उन्हे भवनपुर कहते है । चित्रा और बज्रा पृथ्वी की मध्य सन्धि से लेकर समस्त तिर्यक् लोक के विस्तार और उदय परिमित समस्त क्षेत्र में व्यन्तर देव अपने अपने योग्य स्थान, भवन, भवनपुर वा आवासो में निवास करते है । कितने ही व्यन्तर देवो के भवन, कितनो के भवन और भवनपुर दोनों और कितनो के भवन, भवनपुर और आवास तीनों ही होते है तथा भवनवासियो में असुर, कुमारो के बिना अन्य कुल वाले देवो के भवन, भवनपुर और आवास ये तीनों प्रकार के निलय होते है ऐसा श्रीत्रिलोकसर में व्यन्तराधिकारान्तर्गत् गाथा दो सौ छयाणव में कहा है ।

व्यन्तर देवों के उत्कृष्ट भवनों का विस्तार बारह हजार योजन, उदय तीन सौ योजन और जघन्य भवनो का विस्तार पच्चीस योजन और उदय पौण योजन जानना चाहिए। उन प्रत्येक भवनो के मध्य अपने-अपने भवन के उदय से तृतीय भाग परिमित ऊँचे कूट है जिन पर जिनभगवान के मदिर बने हुए हैं वलयादि आकार रूप जो व्यन्तरों के पुर है उनका उत्कृष्ट विस्तार लक्ष योजन और जघन्य विस्तार एक याजन है। वलयादि आकार रूप जो आवास है उनका विस्तार दो सौ अधिक बारह हजार योजन और जघन्य विस्तार पौन योजन है। भवन आवासादिको में कोटद्वार, नृत्यशाला, गृह आदि सब होते है। यहाँ जसे भूमि में तहखाने होते है वैसे वहा भवन, जैसे नगर होते है वैसे भवनपुर और जसे नगरो से पृथक् स्थानो मे मदिर होते है वैसे आवास होते है। इन सब व्यन्तर देवो के किंचित् अधिक पांच दिन बीतने पर आहार और किंचित् अधिक पाच मुहूर्त बीतने पर उच्छ्वास होता है।

इति व्यन्तर देव वर्णन समाप्त.।

अथ ज्योतिष देव वर्णन प्रारम्भः—

जम्बूद्वीप के मध्म विदेह क्षेत्र के मध्य प्रदेश में एक लाख योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है जिसमें से एक हजार योजन भूमि में और निन्याणवे हजार योजन भूमि के ऊपर है। उस मेरु के भूगत अर्थात् मूल पृथ्वी के ऊपर भद्रशाल वन है। उस भद्रशाल वन के तल से सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई पर नव सौ योजन के उदय पर्यन्त विस्तार में घनोदधि वातवलय का स्पर्श करते हुए ज्योतिष देव स्थित है।

भावार्थ—अध· उर्ध्व अपेक्षा सात सौ नब्बे योजन की ऊँचाई पर एक सौ दस योजन के बाहुल्य में और पूर्व पश्चिम की अपेक्षा विस्तार में घनोदधि वातवलय पर्यन्त ज्योतिष देव स्तिथ हैं। वे ज्योतिष देव चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे—इस तरह पाच प्रकार है। अब आगे इनका पृथक्-पृथक् स्थित व अन्तराल कहते है—चित्रा पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊपर क्रमश प्रकीर्णक तारे हैं। प्रकीर्णकों से दस योजन ऊपर सूर्य, सूय से अस्सी योजन ऊपर शशि अर्थात् चन्द्रमा, चन्द्रमा से चार योजन ऊपर ऋक्ष अर्थात् नक्षत्र है। नक्षत्रो से चार योजन ऊपर बुध है। बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र है। शुक्र से तीन योजन गुरु अर्थात् बृहस्पति है। गुरु से तीन योजन ऊपर अंगार अर्थात् मगल है। मगल से तीन योजन ऊपर मगदति अर्थात् शनिश्चर है। यह अठासी है। अत· उनमें से बुध, शुक्र, बृहस्पति शनि और मगल—इन पाच ग्रहो के अतिरिक्त अवशेष तिरासी ग्रहों की नगरी चित्राभूमि पर बुध और शनि इन दोनों के अन्तराल में स्थित है। तारे सात सौ नब्वे योजन ऊपर से लगाकर नव सौयोजन पर्यन्त हैं और सूर्य से चार प्रामाणांगुल नीचे केतु का विमान और चन्द्रमा से चार प्रमाणांगुल नीचे राहु का विमान स्थित है। तारों से तारो के बीच तिर्यक्

रूप अन्तराल जघन्य एक कोश का सातवाँ भाग, मध्यम पचास योजन और उत्कृष्ट एक हजार योजन प्रमाण है। ज्योतिषी देवों के विमान जैसे किसी गोले को बीच मे से आधाकार चौड़ाई के भाग को ऊपर की ओर करके लटका दीजिए उसके ही आकार सदृश है। उन विमानों के उपर ज्योतिषी देवो के नगर है। वे सब नगर जिन मदिर सयुक्त महा मनोहर और रमणीक है।

आगे उन विमानो का व्यास और बाहुल्य कहते है—एक योजन के इकसठ भाग मे से छप्पन कला प्रमाण चन्द्रमा के विमान का और अडतालीस भाग प्रमाण सूय के विमान का व्यास है। शुक्र के विमान का एक काश, गुरु का किंचित् न्यून एक कोश, बुध, मगल और शनिश्चर इन तीनो का आधकोश प्रमाण व्यास है। तारो के विमान का व्यास जघन्य पाव कोश, मध्यम आध कोश और उत्कृष्ट व्यास पौण तथा एक कोश है। ऋक्ष अर्थात् नक्षत्र के विमान का व्यास प्रमाण एक कोश है। अन्य सर्व देवो के विमानो के बाहुल्य का प्रमाण अपने-अपने विमानो के व्यास से आधा-आधा है और राहु केतु के विमानो का किंचित् न्यून एक योजन होता है।

आगे चन्द्र आदि की किरणो का प्रमाण कहते है—

सूर्य के उष्ण किरण बारह हजार, चन्द्रमा के शीत किरण बारह हजार, शुक्र के ढाई हजार और भी शेष ग्रह नक्षत्रो के अढाई हजार तथा तारो के दो-दो हजार रश्मि है। आगे चन्द्र, सूर्य आदि के विमानो के वाहक देवो का प्रमाण कहते है —

चन्द्रमा तथा सूर्य के विमान वाहक देव सोलह सोलह हजार, ग्रहो के आठ-आठ हजार, नक्षत्रों के चार-चार हजार और तारो के दो-दो हजार होते है। आगे चन्द्रमा के परिवार रूप ग्रह, नक्षत्र तथा तारो का प्रमाण कहते है—अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र और छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोडा कोड़ी तारे—इतना एक चन्द्रमा का परिवार है।

अठासी ग्रहो के नाम इस प्रकार है.—

(१) काल विकाल, (२) लोहित, (३) कनक, (४) कनक सस्थान, (५) अतरद, (६) कचपव, (७) दुदुभि, (८) रत्ननिभ, (९) रूपनिर्भास, (१०) नील, (११) नीलाभास, (१२) अश्व, (१३) अश्वस्थान, (१४) कोस, (१५) कसवर्ण, (१६) कस, (१७) शखपरिमाण (१८) शखवर्ण, (१९) उदय, (२०) पचवर्ण, (२१) तिल, (२२) तिलपुछ, (२३) क्षीरराशि (२४) धूम, (२५) धूमकेतु, (२६) एकसस्थान, (२७) अक्ष, (२८) कलेर, (२९) विकट, (३०) अभिन्न सधि, (३१) ग्रन्थि, (३२) मान, (३३) चतुत्पाद, (३४) विद्युज्जिका, (३५) नभ, (३६) सदृश, (३७) निलय, (३८) कालचक्र, (३९) कालकेतु, (४०) अनप, (४१) सिहायु, (४२) विपुल, (४३) काल, (४४) महाकाल, (४५) रुद्र, (४६) महारुद्र, (४७) सतान, (४८) सभव, (४९) सर्वार्थी, (५०) दिश, (५१) शाति, (५२) वस्तून, (५३) निश्चल,

(५४) प्रत्यभ, (५५) निर्मंत्र, (५६)ज्य ोतिष्मान, (५७) स्वयप्रभ, (५८) भासुर, (५९) विरज, (६०) निदु ख, (६१) बीतशोक, (६२) सीमकर, (६३) क्षेमकर, (६४) अभयकर, (६५) विजय, (६६) वैजयन्त, (६७) जयात, (६८) अपराजित, (६९) विमल, (७०) त्रस्त, (७१) विजयष्णु (७२) विकस, (७३) करिकाष्ट, (७४) एकजटि, (७५) अग्निज्वाल, (७३) (७७) जलकेतु, केतु, (७८) क्षीरस, (७९) अघ, (८०) श्रवण, (८१) राहु, (८२) महाग्रह, (८३) भावग्रह, (८४) मगल, (८५) शनिश्चर, (८६) बुध, (८७) शुक्र और, (८८) बृहस्पति, ऐसे अठासी ग्रह हैं ।

अट्ठाईस नक्षत्रो के नाम--

(१) कृत्तिका, (२) रोहिणी, (३) मृगशिर, (४) आर्द्रा, (५) पुनर्वसु, (६) पुष्प, (७) अश्लेषा, (८) मघा, (९) पूर्वाफाल्गुनी, (१०) उत्तराफाल्गुणी, (११) हस्त, (१२) चित्रा, (१३) स्वाति, (१४) विशाखा, (१५) अनुराधा, (१६) ज्येष्टा, (१७) मूल, (१८) पूर्वाषाढ, (१९) उत्तरापाढ, (२०) अभिजित, (२१) श्रवण, (२२) धनिष्टा, (२३) शतभिषा, (२४) पूर्वाभाद्रपद, (२५) उत्तराभाद्रपद, (२६) रेवती, (२७) अश्वनी और, (२८) भरणी-इस प्रकार अट्ठाईस नक्षत्र है ।

अट्ठाईस नक्षत्रो के अधिदेवता:—

(१) अग्नि, (२) प्रजापति, (३) सोम, (४) रुद्र, (५) दिति, (६) देवयंत्री, (७) सूर्य, (८) पिता, (९) भाग, (१०) अर्यमा, (११) दिनकर, (१२) त्वष्टा, (१३) अनिल, (१४) इन्द्राग्नि, (१५) मित्र, (१६) रुद्र, (१७) नैऋत्य, (१८) जल, (१९) विश्व, (२०) ब्रह्मा, (२१) विष्णु, (२२) वसु, (२३) वरुण, (२४) अज, (२५) अभिवृद्धि, (२६) पूषा, (२७) अश्व और, (२८) यम—ये क्रमशः अट्ठाईस कृतिका आदि नक्षत्रो के अधिदेवता अर्थात् स्वामी है ।

कृतिका आदि नक्षत्रो के तारे क्रमश (१) छह, (२) पांच, (३) तीन, (४) एक, (५) छह, (६) तीन, (७) छह, (८) चार, (९) दो, (१०) दो, (११) पाच, (१२) एक, (१३) एक, (१४) चार, (१५) छह, (१६) तीन, (१७) नौ, (१८) चार, (१९) चार, (२०) तीन, (२१) तीन, (२२) पाच, (२३) एक सौ ग्यारह, (२४) दो, (२५) दो, (२६) बत्तीस, (२७) पांच व (१८) तीन होते हैं।

कृतिका आदि नक्षत्रो के तारे क्रमश इस-इस आकार वाले होते है:—(१) बीजना (२) गाड़े की उद्धिका, (३) हिरण का मस्तक, (४) दीपक, (५) छत्र, (६) तोरण, (७) (७) बाबी, (८) गौमूत्रवत् मौडे वाले, (९) शर का युगल, (१०) हाथ (११) कमल, (१२) दीपक, (१३) अहिरण, (१४) उत्कृष्ट हार, (१५) वीणा का शृंग, (१६) बिच्छू, (१७)

जीर्ण बावड़ी (१८) सिह का कुभस्थल, (१६) हस्ती का कुभंस्थल, (२०) मृदंग, (२१) आकाश से गिरता हुआ पक्षी, (२२) सेना, (२३) हस्ती का अगला शरीर, (२४) हस्ती का पिछला शरीर, (२५) नाव, (२६) घोड का मस्तक, (२७) चन्द्रता के पाषाण के समान आकार वाले होते है

आगे कृतिका आदि नक्षत्रो के परिवार रूप तारो का प्रमाण कहते है—

कृतिका आदि नक्षत्रो के मूल तारो को एक हजार, एक सौ ग्यारह से गुणा करने पर जो सख्या हो वह कृतिका आदि नक्षत्रो के परिवार रूप तारो की सख्या होती है जैसे कृतिका नक्षत्र के मूल तारे छह है उस छह की सख्या को एक हजार एक सौ ग्यारह से गुणा करने पर छहहजार छह सौ छयासठ कृतिका नक्षत्र के परिवार रूप तारो की सख्या हुई। इसी प्रकार अन्य नक्षत्रो के परिवार रूप तारो की सख्या होती है। एक चन्द्रमा के परिवार रूप समस्त तारे छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर है अर्थात् एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अठासी ग्रह, अठाईस नक्षत्र और छयासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोडा-कोडी तारे है। यह सब एक चन्द्रमा का परिवार है इतना-इतना ही सब चन्द्रमाओ का परिवार जानना चाहिए। इनमे चन्द्रमा इन्द्र और सूर्य प्रत्येन्द्र होता है। जम्बूद्वीप मे दो चन्द्र है और दो ही सूर्य है, एक सो पिचहत्तर ग्रह, छप्पन नक्षत्र और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोडा कोड़ी तारे जम्बूद्वीप मे होते है। इनको एक सौ नब्बे का भाग देने पर जो प्रमाण हो उसको भरत आदि क्षेत्र वा कुलाचलो की एक-एक से दुगनो शलाका जो विदेह पर्यन्त है और पश्चात् आधी-आधी है से गुणा करने पर भरत आदि क्षेत्र वा हिमवन् आदि कुलाचलों के तारों का प्रमाण होता है। भरत क्षेत्र की एक शलाका, हिमवन् कुलाचल की दो शलाका, हैमवत् क्षेत्र की चार शलाका ऐसे क्रमश द्विगुण-द्विगुण बढते हुए विदेह मे चौसठ शलाका है पश्चात् आधी-आधी है। इन शलाकाओ से तारागणो की एक सौ नब्बे द्वारा विभाजित सख्या को गुणन करने से क्रमशः भरत क्षेत्र मे सात सौ पाच कोड़ा-कोडी, हिमवन् पर्वत पर चोदह सौ दस कोड़ा-कोड़ी, हैमवत क्षेत्र मे अठाईस सो अस्सी कोडा-कोडी, महाहिमवान् पर्वत पर छप्पन सौ चालीस कोडा-कोडी, हरि क्षेत्र मे ग्यारह हजार दो सौ अस्सी कोडा-कोडी, निषिध पर्वत पर बाईस हजार पाच सौ चालीस कोडा-कोड़ी, विदेह क्षेत्र मे पेंतालीस हजार एक सौ बीस कोडा-कोड़ी, नील पर्वत पर बाईस हजार पाच सौ साठ कोड-कोडी, रम्यक् क्षेत्र मे ग्यारह हजार दो सौ अस्सी कोडा-कोड़ी, रुक्मि पर्वत पर छप्पन सौ चालीस कोड़ा कोड़ी, हैरण्यवत् क्षेत्र में अठाईस सौ बीस कोडा-कोड़ी, शिखरी पर्वत पर चौदह सौ दस कोड़ा-कोडी, ऐरावत क्षेत्र मे सात सौ पाच कोडा-कोड़ी तारे जानने चहिए। ये सब ज्योतिष देव मेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन परे-परे प्रदक्षिणा रूप निरन्तर गमन करते रहते है।

उनके गमन से समय विभाग अर्थात् घडी, पल, दिन, रात्रि आदि का व्यवहार सूचित होता है और उनकी चाल पर गणित करने से प्राणियों के सुख दुःख का बोध करते हैं। मनुष्य लोक के अर्थात् अढ़ाईद्वीप और दो समुद्रो के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि पांच प्रकार ज्योतिष देव तो मेरु की प्रदक्षिणा रूप गमन करते है और मनुष्य लोक के बाहर जो चन्द्रमा, सूर्य, आदि वे ज्योतिष देव है वे गमन नहीं करते अर्थात् जहाँ के तहा स्थित रहते हैं। अढ़ाईद्वीप में भी बहुत से तारे ऐसे है जो गमन नही करते अर्थात् जहां के तहाँ स्थित रहते हैं। इसी ही कारण उन्हे ध्रुवतारे कहते हैं। जो ध्रुवतारे जम्बूद्वीप में छत्तीस, लवण समुद्र में एक सौ उनतालीस धातकी खड द्वीप मे एक हजार दस, कालोदक समुद्र में इकतालीस हजार एक सौ बीस और पुष्करार्द्ध द्वीप में तरेपन हजार दो सौ तीस है। जम्बू द्वीप में दो लवण समुद्र में चार धातकी खड द्वीप में बारह, कालोदक समुद्र में बयालीस' पुष्कर द्वीप में बहत्तर चन्द्रमा और इतने ही सूर्य हैं। यहाँ तक अढाई द्वीप है। मानुषोत्तर पर्वत मे परे अर्द्ध पुष्कर भाग में एक हजार दो सौ चौंसठ चन्द्र हैं और पुष्कर समुद्र मे ग्यारह हजार दो सौ चन्द्र हैं उससे आगे-आगे समुद्र से चौगुणे समुद्रो में और द्वीप से चौगुणे द्वीपो मे चन्द्र और सूर्य जानने चाहिए इसी प्रकार असख्यात द्वीप समुद्र तक जानना चाहिए जिस द्वीप व समुद्र मे जितने ज्योतिष देव है उनमें आधे ज्योतिष देव तो एक भाग मे और आधे एक भाग मे गमन करते हैं। आगे पच प्रकार ज्योतिष देवो की आयु का प्रमाण कहते हैं—चन्द्रमा की आयु एक लाख वर्ष सहित पल्योपम प्रमाण है, सूर्य की हजार वर्ष सहित पल्य प्रमाण, शुक्र की सौ वर्ष सहित पल्य प्रमाण, गुरु की पौण पल्य, ग्रहों की आध पल्य, प्रकीर्णक तारे और नक्षत्रो की उत्कृष्ट आयु पल्य का चतुर्थांश और जघन्य आयु पल्योपम का अष्टमाश होती है। चन्द्रमा के चद्राभा, सुसीमा, प्रभकरा, और अर्यमालिनी—ये चार देवागनाएँ और सूर्य के द्युति, सूर्यप्रभा, प्रभकरा और अर्चिमालिनी—ये चार पट देवागनाएँ है। ये एक-एक पट देवागना चार-चार हजार परिवार देवी सहित है और यदि एक-एक पट देवांगना विक्रिया करे तो अपनी-अपनी परिवार देवियों की संख्या के समान अर्थात् चार चार हजार देवागनारूप हो जाती है। सबसे निकृष्ट देवो के न्यून से न्यून बत्तीस देवागनाएँ होती है। मध्य के देवो में यथायोग्य जानना चाहिए। समस्त ज्योतिष देवागनाओ की आयु अपने स्वामियो से अर्द्ध प्रमाण होती है। ग्रहों के आठ हजार, नक्षत्रों के चार-चार हजार और तारो के दो-दो हजार देवागनाएँ होती है। समस्त ज्योतिष देवों का काय प्रमाण सात हाथ और साढे बारह दिन बीतने पर उच्छवास तथा आहार होता है। आगे भवनत्रि कों से उत्पन्न होने वाले जीवो का वर्णन करते है—उन्मार्गचारी, जिनोपदिष्ट मार्ग से विपरीत आचरण करने वाले, निदान बंध करने वाले, अग्नि जल पात आदि से प्राण विसर्जन करने वाले, अकाम निर्जरा, बालतप तथा पंचाग्नि तप तपने वाले, सदोष चारित्री जीव भवनत्रिक अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में उत्पन्न होते है। इन भवनत्रिक

देवों के आदि की पीतलेश्या तक अर्थात् कृष्ण, नील कापोत और पीत ये चार लेश्याये होती है। परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धता न होने से पद्म और शुक्ल ये दो लेश्याये नही होती हैं। अब यहां प्रसगवश लेश्याओं का लक्षण, स्वरूप तथा दृष्टात द्वारा कर्मों को कहते है—

जिसके द्वारा आत्मा स्वय पुण्य पाप को स्वीकार करता है उसे लेश्या कहते हैं—

भावार्थ—योग प्रवृति और कषाय के सयोग को लेश्या कहते है और लेश्या तथा कषाय से ही वंध चतुष्ट्य होता है। शुभ योग तथा मद कषाय से शुभ रूप पुण्य प्रकृतियो का और अशुभ तथा तीव्र कषाय मे पाप रूप अशुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है तथा बध होता है। इसी कारण जिसके द्वारा आत्मा अपने आपको पुण्य पाप से लिप्त करते है उसे लेश्या कहते हैं—ऐसा कहा है।

वह लेश्या दो प्रकार की है। एक द्रव्य लेश्या और दूसरी भाव लेश्या। वर्ण नामकर्म के उदय से जो शरीर का श्वेत, कृष्ण आदि वर्ण होता है उसे द्रव्य लेश्या कहते है। यह बाह्य लेश्या आत्मा की कुछ अपकारक व उपकारक नही होती है। कषायो से अनुरजित योगो की प्रवृति को भाव लेश्या कहते है। इसी लेश्या के द्वारा समस्त ससारी जीव शुभाशुभ कर्म ग्रहण करते है। ये दोनों ही प्रकार की लेश्याये कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या-ऐसे छह प्रकार की होती है तथा प्रत्येक के उत्तर भेद अनेक है। वर्ण की अपेक्षा से भ्रमर के समान कृष्ण लेश्या, नील मणि (नीलम) के समान नील लेश्या, कबूतर के समान कापोत लेश्या, सुवर्ण के समान पीत लेश्या, कमल के समान, पद्म लेश्या और शख के समान शुक्ल लेश्या होता है।

आगे किस गति में कौनसी लेश्या होती है उसका वृतान्त कहते हे—

नरक मे सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण होते है। कल्पवासी देवों के द्रव्य लेश्या (शरीर-का वर्ण) भाव लेश्या के सदृश होता है। भवनवासी, व्यतर, ज्योतिषी, मनुष्य और तिर्यन्चो के कृष्ण आदि छहो द्रव्य लेश्या होती है तथा विक्रिया शक्ति से प्रादुर्भूत शरीर का वर्ण भी छहो में से किसी प्रकार का होता है। उत्तम भोगभूमि वालो का सूर्य समान, मध्य भोग भूमि वालो का चन्द्र समान और जघन्य भोगभूमि वालो का हरित वर्ण शरीर होता है। बादर जलकायिक के शुक्ल और बादर तेजकायिक के पीत द्रव्य लेश्या होती है। वायुकाय के तीन भेद हैं—

घनोदधिवात, घनवात और तनुवात। प्रथम का शरीर गो मूत्र वर्णवत्, दूसरे का शरीर मूग समान और तीसरे के शरीर का वर्ण अव्यक्त है। सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवों का तथा अपनी प्राप्ति के प्रारम्भ समय से शरीर पर्याप्ति पर्यन्त समस्त जीवो का शरीर नियम से कापोत वर्ण का होता है। विग्रह गति मे सपूर्ण जीवो का शरीर शुक्ल वर्ण का होता है।

षट् लेश्याओं के लक्षण—

अब षट् लेश्याओं के लक्षण कहते है—

जो जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों सहित, द्वेषरुपी गृह से घिरा हुआ, लडाई के स्वभाव वाला, अधर्मी, निर्दयी और कठोर चित्त हो, दुराग्रही हो उसके कृष्ण लेश्या समझनी चाहिए।१।

जो काम करने में मंद हो अथवा स्वच्छद हो, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित हो, कला चातुर्य रहित मूर्ख हो, स्पर्शन आदि पचेन्द्रियो के विषय सेवन करने में लम्पट हो, क्रोधी, मानी, लोभी और मायाधारी हो, आलसी हो रागी, द्वेषी, मोही, शोकी, क्रूर, भयकर, अति निद्रालु और दूसरो को ठगने मे अति दक्ष हो, कृत्य-अकृत्य का विचार न करने वाला, धन-धान्य आदि अधिक परिग्रह रखने वाला और अधिक आरम्भ करने वाला हो उसे नील लेश्यावाला समझना चाहिए।२।

जो क्रोध, शोक, भय, मत्सरता, असूया, परनिन्दा आदि करने में तत्पर, सदा अपनी प्रशसा करने वाला, दूसरो के मुख से अपनी प्रशसा सुनकर हर्ष मानने वाला, अनेक प्रकार से दूसरो को दुःख देने अथवा दूसरो मे बैर करने वाला, अपने हानि, लाभ को न समझने वाला, दूसरो के ऐश्वर्य आदि को न सहन करने वाला, दूसरे का तिरस्कार और अपकीर्ति चाहने वाला, युद्ध में मरने तक की इच्छा करने वाला, अहंकार रूपी ग्रह से घिरा हुआ, इच्छानुसार सब क्रियाओ को करने वाला, प्रशसा करने पर सदा देनें वाला और अपने कार्य अकार्य की कुछ भी गणना न करने वाला हो उसे कापोत लेश्या वाला समझना चाहिए।३।

जो पक्षपात रहित सबको समान देखने वाला (समदर्शी) द्वेष रहित, हित और अहित का विचार करने वाला, कृत्य व अकृत्य, सेव्य व अनुपसेव्य को समझने वाला, दयालु, दानदाता, सत्कार्यों में तत्पर और उदार चित्त वाला, कोमल परिणामी हो उसे पीत लेश्या वाला समझना चाहिए।४।

जो आचार और मन से शुद्ध, दान देने मे सदा तत्पर, शुभ चितवन करने वाला, भद्र परिणामी, विनयवान्, सत्कार्य और सज्जन पुरुषो के सत्कार करने में सदा तत्पर, क्षमा-वान्, न्याय पथ पर चलने वाला, प्रिय वचन वक्ता और मुनि, गुरु आदि की पूजा मे प्रीति-युक्त हो उसे पद्म लेश्या वाला समझना चाहिए।५।

जो निदानरहित, पक्षपात रहित, अहकार रहित, राग और द्वेष से पराङ्मुख, स्नेह रहित, और सब जीवों में समदर्शी हो उसे शुक्ल लेश्या वाला समझना चाहिए।६

साराँश यह है कि शरीर धारी जीवो के जो तीव्र परिणाम है उन्हे कापोत लेश्या, उनसे भी अधिक तीव्र परिणामों को नील लेश्या तथा सबसे तीव्र परिणामो को कृष्ण लेश्या

समझना चाहिए। इसी प्रकार मद परिणामों को पोत लेश्या, उनसे भी मंद परिणामो को पद्म लेश्या और सबसे अधिक मद परिणामो को शुक्ल लेश्या समझना चाहिए। ये लेश्यायें अप्रशस्त और प्रशस्त भेद से दो प्रकार की है। इनमें से आदि की कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें अप्रशस्त हैं। इनका फल निष्कृष्ट है। ये संसार परिभ्रमण की कारण और नरक तिर्यंच गति की मूल हैं और अन्त की पीत, पद्म तथा शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याये है इनका फल उत्तम है। ये सर्व मोक्ष सुख की मूलक है। जब आत्मा के उत्तरोत्तर सक्लेश परिणामों की वृद्धि होती है तब यह आत्मा क्रमश कापोत, नील कृष्ण, इन तीन अप्रशस्त लेश्याओ के जघन्य (तीव्र) मध्यम (तीव्रतर) और उत्तम (तीव्रतम) अशो को प्राप्त होता चला जाता है और जब उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणामों की वृद्धि होती है तब यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन तीनलेश्याओ के मद मदतर और मदतम अशो को प्राप्त होता चला जाता है। इन छहो लेश्या वालों के जो कार्य है उनका ऐसा दृष्टात जानना चाहिए। कृष्ण आदि छहो लेश्या वाले छह पुरुष देशान्तर को गमन कर रहे थे तो उन्होने मार्ग मे भ्रष्ट होकर वन में प्रवेश किया। वहाँ फलों से पूर्ण किसी एक वृक्ष को देखकर उसके फल भक्षण करने का उपाय अपनी-अपनी लेश्या के अनुसार चितवन करने लगे और अपने-अपने मन के विचारानुसार वचन कहने लगे कृष्ण लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा—मै इस वृक्ष को मूल से उखाडकर पृथ्वी में पटक के इसके फलो का भक्षण करुगा, नील लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा-मै इस वृक्ष को स्कध मे काटकर इसके फल खाऊंगा। पीत लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा मैं इस वृक्ष की बड़ी-बडी शाखाओं को काटकर इसके फलो को खाऊँगा पीत लेश्यावाला विचारने लगा और कहने लगा-मैं इस वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओ को काटकर इसके फलो को खाऊगा। पद्म लेश्या वाला विचारने लगा और कहने लगा—मै शाखा आदि को न तोड़कर इस वृक्ष के फलो को तोड तोड़कर खाऊँगा। शुक्ल लेश्या वाला विचारने लगा तथा कहने लगा—मैं इस वृक्ष को बाधा न पहुचाकर वृक्ष से स्वय टूटकर पडे हुए फलो को उठाकर खाऊँगा। इस प्रकार जो मन पूर्वक वचन आदि की प्रवृत्ति होती है उसे लेश्या का कर्म वा कार्य कहते है। यहा पर यह एक केवल दृष्टान्त दिया गया है अतएव इसी प्रकार से अन्यत्र भी समझना चाहिए।

अब किस-२ गुण स्थान में कौन-२ सी लेश्या होती है यह लिखते है—

चतुर्थ गुण स्थान पर्यन्त अर्थात् प्रथम के चार गुणस्थानो मे प्रत्येक में छह-छह लेश्या है। आगे के देशवरित, प्रमत्त विरत और अप्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानों में पीत पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्या होती है। सात से आगे के छह गुणस्थानों में अर्थात् अपूर्वकरण से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त केवल एक शुक्ल लेश्या ही होती है और अन्त के अयोग

केवली गुणस्थान में लेश्या का सर्वथा अभाव है। अकषाय जीवों के जो लेश्या बतलाई है वह केवल योग के सद्भावापेक्षा कही है।

इति लेश्या वर्णनम्।

अथ बैमानिक देव वर्णन:—

बैमानिक देवो के कल्पोपपन्न व कल्पातीत ऐसे दो भेद है जिनमें इन्द्र आदि दश प्रकार के देवों की कल्पना है ऐसे सोलह स्वर्गो को कल्प और उनमें रहने वालों को कल्पवासी (कल्पोपपन्न) कहते है। जिनमें इन्द्रादिको की कल्पना नही है ऐसे ग्रैवेयक आदि देवो को अपने-अपने विषय मे दूसरों की अपेक्षा न रखने से अहमिन्द्र कहते है। जिनमें से प्रथम कल्प जो स्वर्ग है उनके नाम कहते हैं। वे कल्प सज्ञापेक्षा से—१ सौधर्म, २. ईशान, ३ सनत्कुमार ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ ब्रह्मोत्तर, ७. लांतव, ८. कापिष्ट, ९ शुक्र, १०. महाशुक्र ११ सतार, १२. सहस्रार १३ आनत १४ प्राणत १५. आरण और १६ अच्युत—इस प्रकार सोलह है। इन सोलहो के जैसे सौधर्म १ और ईशान का युगल एक-२ और दूसरा सनत्कुमार तथा माहेद्र का युगल दूसरा-ऐसे दो-दो स्वर्गो के क्रमश: उपरोपरि आठ युगल है। आगे इनकेऊपर स्थित कल्पातीत विमानो के नाम कहते है आठ युगलो के ऊपर क्रमश अधस्तन, मध्यम और उपरिम नामक नव ग्रैवेयको के तीन-तीन त्रिक, नव अनुदिश विमान है। इनमे रहने वाला प्रत्येक देव इन्द्र के समान सुख के भोगता होने से अहमिन्द्र कहलाते है। आगे नव अनुदिश और पचानुत्तरो के विमानो के नाम कहते है।

अर्चि, अर्चिमालिनी वैर और वैरोचन -ये चार विमान तो क्रमश पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशाओ मे और सोम, सोमरूप, अक तथा स्फटिक—ये चार प्रकीर्णक विमान विदिशाओमे और आदित्य नामक इन्द्रक विमान मध्य में ऐमे नव अनुदिश विमान है। विजय वैजन्त जयन्त तथा अपराजित—ये चार श्रेणीबद्ध विमान पूर्वादि दिशाओं में और सर्वार्थसिद्धि नामक विमान मध्य मे ऐसे पांच अनुत्तर विमान है। इस प्रकार कहे हुए कल्प और कल्पातीत विमान के स्थिति स्थान को कहते है।

इस चित्रा पृथ्वी से एक लाख योजन ऊँचा तो सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत की चूलिका से नाभिगिरी (मेरुपर्वत) की उन्नतता विहीन डेढ राजू की ऊँचाई तक सौधर्म और ईशान युगल है। सौधर्म ईशान युगल से डेढ राजू की ऊँचाई तक सनत्कुमार माहेन्द्र युगल है। सनत्कुमार माहेन्द्र युगल के ऊपर ब्रह्म—ब्रह्मोत्तर १. लातव—कापिष्ट २, शुक्र—महाशुक्र ३, सतार—सहस्त्रार ४ आनत—प्राणत ५, आरण—अच्युत ६—ये छह युगल क्रमश: आधे-आधे राजू में है। इस प्रकार आठो युगल छह राजू में है। उनके ऊपर सातवे योजन के आदि में नव गंवेयक, मध्य में नव अनुदिश और अन्त में पंचानुत्तर विमान हैं।

अब आगे सौधर्म आदि कल्प और ग्रैवेयक आदि कल्पातीतों के विमानों की संख्या कहते हैं—सौधर्म स्वर्ग मे बत्तीस लाख, ईशान स्वर्ग में अठाईस लाख, सनत्कुमार में बारह लाख, माहेन्द्र में आठ लाख, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल मे चार लाख, लातव और कापिष्ट युगल में पचास हजार, शुक्र महाशुक्र मे चालीस हजार, सतार सहस्त्रार युगल मे छह हजार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—इनमें सात सौ विमान है। इस प्रकार सोलह स्वर्गों मे समस्त चौरासी लाख, छयाणवें हजार, सात सौ विमान है। आगे इनके ऊपर ग्रैवेयक के अधस्तमत्रिक मे एक सौ ग्यारह, मध्यम त्रिक मे एक सौ सात उपरिकत्रिक मे इक्याणवें, अनुदिश में नव और अनुत्तर मे पाँच विमान जानने चाहिए। इस प्रकार कल्पातीतो के विमानों का सकलन करने पर समस्त चौरासी लाख, सत्ताणव हजार तेईस विमान है। इन सब विमानो मे एक-एक जिन मदिर है। इस कारण इतने ही चैत्यालय है। उन सब में उत्कृष्ट अवगाहना परिमित जिन प्रतिमा विराजमान है। उन सबको त्रिकरण शुद्धतापूर्वक मेरा बारम्बार नमस्कार हो।

आगे कल्प और कल्पातीतो की पटल सख्या कहते है—

सौधर्म ईशान युगल मे (१) ऋजु, (२) विमल, (३) चन्द्र, (४) वल्गु, (५) वीर, (६) अरुण, (७) नन्द, (८) नलिन, (९) काँचन, (१०) रोहित, (११) चचत, (१२) मरुत, (१३) उद्वाश, (१४) वैडूर्य, (१५) रुचक, (१६) रुचि, (१७) अ क, (१८) स्फटिक, (१९) तपनीय, (२०) मेघ, (२१) अभ्र, (२२) हरिद्र, (२३) पद्म, (२४) लोहित, (२६) नद्यावर्त, (२७) प्रभकर, (२८) पृथक् (२९) गज, (३०) मित्र और (३१) प्रभ—नाम के धारक इकतीस पटल हैं।

सनत्कुमार माहेन्द्र युगल में (१)अ जन, (२) बनमाल (३) नाग, (४) गरुड (५) (५)लाँगल, (६) बलभद्र और (७) चक्र नाम के धारक सात पटल है।

ब्रह्म ब्रह्मोत्तर युगल मे अरिष्ट, सुरक, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर नाम के चार पटल है।

लातव और कापिष्ट युगल मे ब्रह्महृदय और लातव नाम के दो पटल है।

शुक्र महाशुक्र युगल मे शुक्र नामक एक ही पटल है। सतार और सहस्त्रार युगल में सतार नामक एक ही पटल है। आनत प्राणत युगल मे आनत, प्राणत और पुष्कर नामक तीन पटल हैं।

आरण अच्युत युगल में सानक, आरण और अयुच्त नामक तीन पटल है।

इस प्रकार आठ युगलो के बावन पटल है। इनके ऊपर ग्रैवेयक के तीन त्रिको के सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुध, यशोधर सुभद्र, सुविशाल, सुमनस, सौमनस और प्रीतिकर—ये नव पटल है। नव अनुदिशों का एक आदित्य नामक एक पटल है। अत के पचानुत्तरो में सर्वार्थ सिद्धि नामक एक अन्तिम पटल है। इस प्रकार समस्त तरेसठ पटल है।

सुदर्शन मेरु की चूलिका के ऊपर बालाग्र प्रमाण अन्तराल छोड़कर तो पहला ऋजुक नामक इन्द्रक पटल है। तदुपरि मध्य में असंख्यात योजन प्रमाण अन्तराल छोड़कर द्वितीय पटल है। इसी प्रकार ऊपरोपरि मध्य में असख्यात योजन अन्तराल छोड़कर तरेसठ पटल स्थित हैं। अन्त का सर्वार्थ सिद्धि नामक पटल सिद्ध क्षेत्र से बारह योजन नीचे है। प्रत्येक पटल के मध्य में जो एक विमान होता है उसको इन्द्रक विमान कहते हैं सो मेरु पर्वत पर तो ऋजुक नामक इन्द्रक विमान है। उस ऋजुक नामक इन्द्रक विमान की सीध में ऊपर-ऊपर वाले प्रत्येक पटलो में एक-एक इन्द्रक विमान होता है। पटलों के नामों के अनुसार ही इन्द्रक विमानो के नाम है। इन इन्द्रक विमानो की पूर्व, दक्षिण, पश्चिमोत्तर दिशाओं में जो पंक्ति बद्ध विमान होते है उन्हे श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। उन श्रेणीबद्ध विमानो के मध्य के अन्तराल में विदिशाओ में पक्ति रहित जहाँ तहाँ फैले हुए बिखरे हुए, वर्षा किए पुष्पोवत् जो होते है उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते है। प्रथम पटल के ऋजुक नामक इन्द्रक पटल की चारो दिशाओ में बासठ-बासठ श्रेणीबद्ध विमान है अत: चारों दिशाओं के समस्त दो सो अड़तालीस, श्रेणीबद्ध विमान हुए। आगे-आगे के द्वितीयादि पटलों के इद्रकों की प्रत्येक दिशाओं मे एक-एक श्रेणीबद्ध विमान हीन होने से प्रत्येक पटल मे चार-चार विमान श्रेणीबद्ध न्यून होते चले गये है। यहाँ तक कि बासठवे पटल (नव अनुदिश) में चारों दिशाओ मे एक-एक अर्थात् समस्त चार श्रेणीबद्ध विमान है। इन श्रेणीबद्ध विमानो के अन्तराल मे पक्ति रहित जहा तहा बिखरे हुए तारोवत् प्रकीर्णक विमान होते है। ये प्रकीर्णक विमान सख्या मे प्रत्येक कल्प के श्रेणीबद्ध व इन्द्रकों के सकलन को कल्प के समस्त विमान प्रमाण में घटा देने से जो अवशेष रहें उतने ही जानने चाहिए। जैसे सौधर्म स्वर्ग मे समस्त बत्तीस लाख विमान है। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम—ये तीन दिशा और नैऋत्य, आग्नेय विदिशा के श्रेणीबद्ध तथा प्रकीर्णक और इन्द्रको पर तो दक्षिणेन्द्र की आज्ञा होती है और उत्तर दिशा, वायव्य, ईशान विदिशाओं के श्रेणीबद्ध तथा प्रकीर्णक विमानों पर उत्तरेन्द्र की आज्ञा होती है। जिन विमानो पर दक्षिणेन्द्र की आज्ञा होती है उन विमानो के समुदाय को सौधर्म स्वर्ग और जिन पर उत्तरेन्द्र की आज्ञा होती है उन के समुदाय को ईशान स्वर्ग कहते है जिस प्रकार प्राय: यहाँ पर भी अपने स्वामी के नाम की अपेक्षा बहुत से नगर व ग्रामो के तत्सदृश नाम होते है। सनत्कुमार-माहेन्द्र आनत-प्राणत और आरण अच्युत इन युगलो मे पूर्वोक्तवत् विधान जानना चाहिए और जिन-जिन कल्प युगलो में एक-एक ही इन्द्र है ऐसे जो ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर १, लातव कापिष्ट २, शुक्र-महाशुक्र ३, और सतार—सहस्त्रार ४, इन चार युगलो में बसती की अपेक्षा से दो नाम है, इन्द्र की अपेक्षा नही है जिस प्रकार यहा पर नगर का एक स्वामी होते हुए बसतियो के अलग-अलग नाथ होते हैं। उनमें पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशाओं के इकतीस पटलों के

चार हजार, चार सौ दो श्रेणीबद्ध विमान और इकतीस पटलो के इतने ही इन्द्रक विमान— दोनों के संकलन चार हजार, चार सौ दो को बत्तीस हजार परिमित विमान सख्या मे से घटाने पर सत्ताईस हजार, पाच सौ, अठानवे अवशेष रहे वह ही प्रकीर्णक विमानों की सख्या है इसी प्रकार अन्य कल्पो मे जानना चाहिए।

आगे इन्द्रक आदि विमानो का विस्तार कहते है—

इन्द्रक विमान सर्व सख्यात योजन श्रेणी बद्ध समस्त असख्यात योजन और प्रकीर्णक विमान उभय प्रमाण वाले है अर्थात् कितने ही सख्यात योजन प्रमाण और कितने ही असख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले है। इसका खुलासा इस प्रकार है प्रत्येक कल्प के विमानो की जो सख्या है उस सख्या के पाचवे भाग प्रमाण सख्यात योजन विस्तार वाले और चार प्रमाण असख्यात योजन विस्तार वाले है। जैसे सौधर्म स्वर्ग मे बत्तीस लाख विमान है तो बत्तीस लाख का पाचवां भाग छ. लाख, चालीस हजार, इतने तो सख्यात योजन विस्तार वाले और अवशेष चार भाग पच्चीस लाख साठ हजार विमान असख्यात योजन विस्तार वाले है। अन्य कल्पो मे भी इसी प्रकार जानना चाहिए। कल्पोपरि कल्पातीतो मे अधो ग्रैवेयको में तीन, मध्यम ग्रैवेयक मे अठारह, उपरिम ग्रैवेयक मे सत्रह, नव अनुत्तरो मे एक, पचानुत्तरों में एक विमान सख्यात योजन विस्तार वाला और अवशेष असख्यात योजन विस्तार वाले हैं। आगे विमानो की भूमि की बाहुल्यता कहते है—

सौधर्म युगल के विमानों का तल अर्थात् भूमियो की मोटाई एक हजार एक सौ इक्कीस योजन, सनत्कुमार माहेन्द्र का एक हजार बाईस योजन, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर का नौ सौ तेईस योजन, लातव कापिष्ट का आठ सौ चौवीस योजन, शुक्र-महाशुक्र का सात सौ पच्चीस योजन, सतार सहस्त्रार का छह सौ छब्बीस योजन, आनत—प्राणत का पाच सौ सत्ताईस योजन, आरण अच्युत का भी पाँच सौ सत्ताईस योजन, अधोग्रैवेयक का चार सौ अठाईस योजन, मध्यम ग्रैवेयक का तीन सौ उनतीस योजन, उर्ध्व ग्रैवेयक का दो सौ तीस योजन, नव अनुदिश का एक सौ इकतीस योजन और पचानुत्तर की एक सौ इकतीस योजन प्रमाण मोटी भूमि है। इन भूमियो के ऊपर ही नगर मंदिर आदि की रचना है। आगे सौधर्म ईशान के विमानो की रचना कहते है—सौधर्म ईशान के विमान कृष्ण, नील रक्त, पीत और श्वेत—ऐसे पाचो वर्णो के सनत्कुमार माहेन्द्र के कृष्ण कम चार वर्ण के ब्रह्म ब्रह्मोत्तर आदि कल्प चतुष्ट्य के कृष्ण, नील वर्जित तीन वर्ण के शुक्र आदि कल्प चतुष्ट्य के कृष्ण, नील, रक्त वर्जित दो वर्ण के और अवशेष आनत आदि पचानुत्तर पर्यन्त सर्व विमान शुक्ल वर्ण के हैं। आगे विमानो के अधिष्ठान को कहते है—

सौधर्म युगल जल के, सनत्कुमार युगल पवन के, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर आदि आठ कल्पों के विमान जल और पवन दोनो के और अवशेष आनत आदि पचानुत्तर पर्यन्त के सब विमान केवल आकाश के आधार पर स्थित है। आगे इन्द्र के निवास स्थान का वर्णन करते हैं—छह

युगल के छह स्थान, और अवशेष कल्प चतुष्टय का एक स्थान ऐसे सात स्थानों मे अपने-अपने युगल के अन्तिम पटल के इन्द्रक विमान से लगते हुए श्रेणी बद्ध से अठारहवे श्रेणी बद्ध में तो सौधर्म युगल के युगलेन्द्र निवास करते हैं। अवशेष दो इन्द्र भी दो-दो श्रेणीबद्ध घटते हुए इसी प्रकार स्थित जानने चाहिए। इसका खुलासा इस प्रकार है कि सौधर्म युगल के अन्तिम पटल के इन्द्रक विमान से लगते हुए श्रेणीबद्ध से अठारहवे श्रेणीबद्ध में दक्षिण के दक्षिणेन्द्र सौधर्म और उत्तर के अठारहवे श्रेणीबद्ध में उत्तरेन्द्र ईशान निवास करता है। सनत्कुमार युगल के अंतिम पटल के सोलहवे श्रेणीबद्ध मे दक्षिण के दक्षिणेन्द्र सनत्कुमार और उत्तर के सोलहवे श्रेणीबद्ध में उत्तरेन्द्र माहेन्द्र निवास करता है। ब्रह्म युगल के अंतिम पटल के चौदहवे दक्षिण श्रेणीबद्ध में ब्रह्मेन्द्र, लातव युगल के अन्तिम पटल के बारहवे उत्तरेन्द्र के श्रेणीबद्ध में लातवेन्द्र, शुक्र युगल के अन्तिम पटल के दशवे दक्षिण के श्रेणीबद्ध में शुक्रेन्द्र, सतार युगल के अन्तिम पटल के आठवे उत्तर श्रेणीबद्ध में सतारेन्द्र, आनत युगल के अन्तिम पटल के छठे दक्षिण श्रेणीबद्ध मे आनतेन्द्र और उत्तर के छठे श्रेणीबद्ध मे प्राणतेन्द्र, आरण युगल के अन्तिम पटल के छठे दक्षिण श्रेणीबद्ध में आरणेन्द्र और उत्तर के श्रेणीबद्ध में अच्युतेन्द्र निवास करता है। जो इन्द्र का नाम होता है वह ही उसके कल्प का नाम और जो कल्प का नाम होता है वह ही इन्द्र स्थित (इन्द्र के रहने के) विमान का नाम होता है। जैसे सौधर्मेन्द्र कल्प का नाम सौधर्म और उसके रहने के विमान का नाम सौधर्म विमान है—इसी प्रकार अन्यत्र जानना चहिए। दक्षिण दिशास्थ इन्द्रों के विमानों के चारो पूर्वादि दिशाओं मे रुचक, मदर, अशोक, वैडूर्य, रजत, अशोक, मृषत्कसार नाम के सात विमान और उत्तर दिशस्थ इन्द्रो के विमानो की पूर्व आदि चारो दिशाओ में रुचक मदर, अशोक और सप्तच्छद सज्ञक चार विमान होते है। सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्त्रार पर्यन्त के बारह कल्पो और आनत तथा आरण युगलो के देवो के मुकुटो में क्रम से—(१) सूर, (२) हिरण, (३) भैंसा, (४) माछला, (५) चकवा, (६) मेंढ़क, (७) अश्व, (८) गज, (९) चन्द्रमा, (१०) सर्प, (११) षड्गी, (१२) छैला, (१३) वैल और, (१४) कल्प वृक्ष —ये चौदह चिन्ह होते है।

आगे इन्द्र के नगर के विस्तार और सस्थान तथा प्राकारादि के उदय आदि का वर्णन लिखते है—

इन्द्रो के नगर का विस्तार सौधर्म स्वर्ग में चौरासी हजार ईशान मे अस्सी हजार, सनत्कुमार मे बहत्तर हजार, माहेन्द्र में सत्तर हजार, ब्रह्मयुगल में साठ हजार, लातव युगल मे पचास हजार, शुक्र युगल में चालीस हजार, सतार युगल में तीस हजार आनत आदि कल्प चतुष्ट्य में बीस हजार, योजन प्रमाण है। ये सब नगर सम चतुरस्त्र अर्थात् जितने लम्बे है उतने ही चौडे-चौकोर है। और चारों तरफ प्राकार अर्थात् कोट है। सौधर्म युगल के प्राकार का गाध (नीम) पचास योजन, विस्तार पचास योजन

और उदय तीन सौ योजन है। सनत्कुमार युगल के नगरों के प्राकार का गाध पच्चीस योजन विस्तार भी पच्चीस योजन और उदय अढाई सौ योजन है। ब्रह्मयुगल के नगरो के प्राकार का गाध व विस्तार साढे बारह-बारह योजन और उदय दो सौ योजन है। लांतव युगल के प्राकार का गाध व विस्तार सवा छह-छह योजन और उदय एक सौ पचास योजन है। शुक्र युगल के प्राकार का गाध व विस्तार चार योजन और उदय एक सौ बीस योजन है। सतार युगल के प्राकार का गाध व विस्तार तीन-तीन योजन और उदय सौ योजन है और आनत चतुष्क के प्राकार का गाध व विस्तार अढाई-अढाई योजन और उदय अस्सी योजन प्रमाण है सौधर्म युगल के इन्द्र नगरो के प्राकारो की प्रत्येक दिशा में चार-चार सौ गोपुर सौ योजन उदय और सौ योजन विस्तार वाले गोपुर अर्थात् दरवाजे है। सनत्कुमार युगल के इन्द्र नगरो के प्राकारो की प्रत्येक दिशा मे तीन सौ योजन उदय और सौ योजन विस्तार वाले तीन सौ गोपुर अर्थात् दरवाजे है। ब्रह्म युगल के इन्द्र नगर के प्राकार के प्रत्येक दिशा मे दो सौ योजन उदय और अस्सी योजन विस्तार वाले दो सौ गोपुर हैं। लांतव युगल के इन्द्र नगर के प्राकार के प्रत्येक दिशा मे एक सौ साठ योजन उदय और सत्तर योजन विस्तार वाले एक सौ साठ गोपुर है। शुक्र युगल के इन्द्र नगर के प्राकार के प्रत्येक दिशा में एक सौ चालीस योजन उदय और पचास योजर विस्तार वाले एक सौ चालीस गोपुर हैं। सतार युगल के इन्द्र स्थित नगर के प्राकार के दिशा-दिशा प्रति एक सौ बीस योजन उदय और चालीस योजन विस्तार वाले गोपुर है और आनत चतुष्क के इन्द्र स्थित नगरों के प्राकारो के दिशा-दिशा प्रति सौ योजन उदय और तीस योजन विस्तार वाले गोपुर है।

आगे सामानिक आदि देवो की सख्या कहते है.—

सौधर्म स्वर्ग मे सामानिक चौरासी हजार, ईशान मे अस्सी हजार, सनत्कुमार मे बहत्तर हजार, माहेन्द्र मे सत्तर हजार, ब्रह्म युगल मे साठ हजार, लांतव युगल में पचास हजार, शुक्र युगल मे चालीस हजार, सतार युगल मे तीस हजार और आनत आदि कल्प चतुष्क में बीस हजार सामानिक देव होते हैं। सामानिको से चौगुणे अगरक्षक होते है। वृषभ, घोडा रथ, गज, पयादे, गधर्व और नर्त्तकी ऐसे सात प्रकार आनीक है। प्रत्येक आनीक मे सात-सात कक्ष है। वहाँ प्रथम कक्ष तो अपने-अपने सामानिक देवो के प्रमाण के समान है अर्थात् चौरासी हजार आदि जानना चाहिए और द्वितीय तृतीय आदि कक्षो में अन्तिम सप्तम कक्ष पर्यन्त प्रथम कक्ष से द्विगुण-द्विगुण वृषभ आदि आनीको का प्रमाण जानना चाहिए। वृषभ आदि सेनाओ के क्रम मे दामयष्टि, हरिदामा, मातलि, ऐरावत, वायु और अरिष्टयशा—ये छह तो पुरुष वेदी और नर्तकियों मे नीलाजना स्त्री प्रधान अर्थात् महत्तर है। ये सौधर्म सनत्कुमार आदि दक्षिणेन्द्रो के सेना प्रधानो के नाम हैं।

ईशान माहेन्द्र आदि उत्तरेन्द्रों की सात प्रकार की सेना के क्रम से महादामष्टि, अमितगति, रथमंथन, पुष्पदत, सलघुपरक्रमणी और गीतरति—ये छह पुरुष वेदी और नर्तकियों में महासेना नामक स्त्री प्रधान अर्थात् महत्तर है।

आगे इन्द्रो के त्रिविध पारिषदों की सख्या कहते है:—

सौधर्म स्वर्ग मे अभ्यन्तर पारिषद बारह हजार, मध्यम पारिषद चौदह हजार और बाह्य पारिपद सोलह हजार है।

ईशानेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद दस हजार, मध्यम पारिषद बारह हजार और बाह्य पारिषद चौदह हजार हैं।

सनत्कुमारेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद आठ हजार, मध्यम पारिषद दस हजार और बाह्य पारिषद बारह हजार है।

माहेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद छह हजार, मध्यम पारिषद आठ हजार और बाह्य पारिपद दस हजार है।

ब्रह्म युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद चार हजार, मध्यम पारिषद छह हजार और बाह्य पारिपद आठ हजार है।

लातव युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद दो हजार, मध्यम पारिषद चार हजार और बाह्य पारिषद छह हजार है।

शुक्र युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद एक हजार, मध्यम पारिषद दो हजार और बाह्य पारिषद चार हजार है।

सतार युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद पाच सौ, मध्यम पारिषद एक हजार और बाह्य पारिषद दो हजार है।

आनत-प्राणत तथा आरण अच्युत युगलेन्द्र के अभ्यन्तर पारिषद अढ़ाई सौ, मध्यम पारिषद पांच सौ और बाह्य पारिपद एक-एक हजार हैं।

प्रथम जो इन्द्रो के नगरो का प्रमाण कहा है उन एक-एक नगर के पाच-पाच कोट है। आगे उन नगरो के कोटो का अन्तराल कहते है—

पहले दूसरे कोट के बीच अन्तराल तेरह लाख योजन, दूसरे तीसरे के बीच तरेसठ लाख योजन, तीसरे चौथे के बीच चौसठ लाख योजन और पाचवे के बीच चौरासी लाख योजन अन्तराल है। प्रथम अन्तराल में सेना के नायक अगरक्षक देव, दूसरे अन्तराल मे तीन जाति के पारिषद देव, तीसरे अन्तराल में सामानिक देव और चौथे अन्तराल में वृष आदि के ऊपर आरुढ़ होने वाले आरोहक आभियोग्य और किल्विषक आदि अपने-अपने योग्य मन्दिरो में निवास करते हैं। उस पचम कोट से पचास हजार याजन के अन्तराल पर जाकर चारों दिशाओ मे महा आनन्दकारी चार नन्दन वन है। वे नन्दन वन पद्म द्रह

समान पचास हजार योजन लम्बे और पाच सौ योजन चौड़े हैं। उन चारों वनों में अशोक, सप्तच्छद, चपक और ताम्र ये चार चैत्य वृक्ष है।

उन चैत्य वृक्षो के चारो पार्श्व भागो मे पल्यकासन जिन प्रतिमा विराजमान हैं। उन्हें मेरा बारम्बार नमस्कार हो। उन वन खडो से बहुत से योजन परे पूर्वादि दिशाओ में साढे बारह लाख योजन प्रमाण विस्तार वाले सोम, यम, वरुण और कुबेर—इन चार लोक-पालों के नगर है। उन लोकपालो के नगरो के निकटवर्ती आग्नेय आदि विदिशाओं में एक लक्ष योजन प्रमाण लम्बे चौडे कामा, कामिनी पद्म गधा और अलवूषा नाम की धारक चार गणिका महत्तरियो के नगर है। इसी प्रकार अन्य कल्पो की भी रचना जाननी चाहिए।

आगे देव तथा देवागनाओ के मन्दिरो की ऊँचाई, लम्बाई तथा चौडाई का प्रमाण कहते है:—सौधर्म युगल देवों के मन्दिरो का उदय छह सौ योजन, और देवियों के मन्दिरों का उदय पाच सौ योजन,सनत्कुमार युगल मे देवो के मन्दिरो का उदय पाच सौ योजन और देवियो के मन्दिरो का उदय साढे चार सौ योजन, ब्रह्म युगल मे देवो के मन्दिरो का उदय साढे चार सौ योजन और देवियों के मन्दिरो का उदय चार सौ योजन, लांतव युगल मे देवो के मन्दिरों का उदय चार सौ योजन और देवियो के मन्दिरो का उदय साढे तीन सौ योजन शुक्र युगल मे देवो के मन्दिरो का उदय साढे तीन सौ योजन और देवियो के विमान का उदय तीन सौ योजन, सतार युगल मे देवो के मन्दिरो का उदय तीन सौ योजन और देवियो के विमान का उदय अढाई सौ योजन, आनत आदि कल्प चतुष्क मे देवो के मन्दिरों का उदय अढाई सौ योजन और देवियो के विमान का उदय दो सौ योजन है। इनकी लम्बाई तथा चौड़ाई अपने-अपने विमान के उदय से पाचवे भाग लम्बाई तथा दसवे भाग का प्रमाण चौड़ाई होती है।

नव ग्रैवेयक के प्रथम त्रिक में देवो के मन्दिर का उदय दो सौ योजन, लम्बाई तीस योजन और चौड़ाई पन्द्रह योजन है। दूसरे त्रिक मे देवो के मन्दिरो का उदय डेढ़ सौ योजन लम्बाई तीस योजन और चौडाई दस योजन है और तीसरे त्रिक मे देवो के मन्दिरो का उदय शत योजन, लम्बाई बीस योजन और चौडाई दस योजन है।

नव अनुत्तर के देवो के.विमान का उदय पच्चीस योजन, लम्बाई दस योजन और चौड़ाई पाच योजन है और सर्वार्थसिद्धि के देवो के मन्दिरो का उदय पच्चीस योजन, लम्बाई पच्चीस योजन और चौडाई अढ़ाई योजन है। आगे इन्द्रो की देवियों का प्रमाण कहते है—

दक्षिणेन्द्रो के शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिदी, सुलसा, अज्जुका और भानुनाम की धारक आठ है। उत्तरेन्द्रो के श्रीमती, रामा, सुसीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, वसु-

मित्रा और वसुधरा नाम की धारक आठ-आठ महादेवी होती है। एक-एक महादेवी सम्बन्धी सौधर्म युगल मे सोलह-सोलह हजार, सनत्कुमार युगल में आठ हजार, ब्रह्म युगल मे चार हजार, लातव युगल मे दो हजार, शुक्र युगल मे एक हजार, सतार युगल में पाच सौ और आनत आदि चतुष्क मे अढ़ाई सौ परिवार देवी होती हैं। इन्द्रो की एक-एक महादेवी यदि विक्रिया शक्ति से नवीन शरीर धारण करे तो मूल शरीर सहित सोधर्म युगल की सोलह हजार, सनत्कुमार युगल की बत्तीस हजार, ब्रह्म युगल की चौंसठ हजार, लातव युगल की एक लाख अठाईस हजार, शुक्र युगल की दो लाख छप्पन हजार, सतार युगल की पाच लाख बारह हजार और आनत आदि कल्प चतुष्को की दस लाख, चौबीस हजार देवागनाओ का रूप धारण कर लेती हैं। परिवार देवियो में से जो देवागनायें इन्द्र को अति वल्लभ प्रिय होती है उन्हे वल्लभिका कहते है। ऐसी वल्लभिका देवागनायें सौधर्म युगलेन्द्रो के बत्तीस हजार, सनत्कुमार युगल मे आठ हजार, ब्रह्म युगल में दो हजार, लातव युगल मे पाच सौ, शुक्र युगल मे दो सौ पचास, सतार युगल मे एक सौ पच्चीस और आनतादि कल्प चतुष्क इन्द्रो के तरेसठ होती है। उन वल्लभिका देवियो के मन्दिर अपने-अपने इन्द्र मन्दिर से पूर्व दिशा में स्थित है और परिवार देवियों के मन्दिरो की अपने कल्प की ऊँचाई की अपेक्षा इनके मन्दिर बीस-बीस योजन अधिक उदय वाले है। अमरावती नामक इन्द्र का पुर है उसमे इन्द्र के रहने के मदिर की ईशान विदिशा में सौ योजन लम्बा, पिचहत्तर योजन ऊंचा और पचास योजन चौडा सुधर्मा नामक आस्थान मडप (सभास्थान) है। उस आस्थान मडप के पूर्व, दक्षिण और उत्तर—इन तीन दिशाओ में सोलह योजन ऊँचे और आठ योजन चौडे तीन द्वार है। उस स्थान मडप के मध्य भाग में इन्द्रक सिहासन है। उसके आगे अष्ट पट्ट आदि देवियो के सिहासन है। उनमे बाह्य पूर्व आदि दिशाओ मे सोम, यम, वरुण और कुबेर नामक लोकपालो के चार सिहासन है। इन्द्रासन से आग्नेय तथा नैऋत्य दिशा में बारह हजार सोलह हजार, सोलह हजार, आदि सख्यक अभ्यन्तर, मध्य और बाह्य—इन तीन प्रकार पारिषद् देवों के नैऋत्य दिशा मे ही तेतीस आसन त्रायस्त्रिशत् देवो के, पश्चिम दिशा में आनीक महत्तर देवों के, वायव्य और ईशान दिशाओ मे बयालीस-बयालीस हजार सामानिक देवों के और चारो दिशाओ में अगरक्षक देवों के भद्रासन है इस प्रकार सौधर्मेन्द्र के एक एकदिश सबधी चौरासी हजार आसन समझने चाहिए। उस आस्थान मडप के आगे एक-एक योजन व्यास रत्नमय वाला छत्तीस योजन ऊँचा पीठ सहित एक-एक कोश के समानान्तर वाली बारह धाराओ सयुक्त मानस्तम्भ है। उस मानस्तम्भ के पौणे छह योजन नीचे के और सवा छह योजन ऊपर केभाग को छोडकर मध्य के चौबीस योजन के अन्तराल में रत्नमय शृखलाओ से बधे हुए एक कोश लम्बे और पाव कोश चौडे करंडक अर्थात् पिटारे छींकेवत् लटके हुए है। उनमें तीर्थंकर भगवान के उपभोग योग्य दिव्य, मनोहर वस्त्राभूषण आदि धरे रहते है। उन्हीं

करडको में से इन्द्र तीर्थंकर भगवान के जन्म, राज्य, विवाह और तप कल्याणक के समय वस्त्र आभूषण आदि लाता है तथा भेजता है। ये वस्त्राभूषण तीर्थंकर भगवान के ही भोग्य होते हैं, अन्य के नही ये देवकुमारो द्वारा रक्षणीय ज्यो के त्यो रखे रहते है। इस प्रकार के ये करंडक सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन चार कल्पो में ही हैं अन्य में नही। यहाँ विशेष यह है कि सौधर्म कल्प स्थित मानस्तम्भ के करडकों में भरत क्षेत्र सम्बन्धी ईशान में ऐरावत सम्बन्धी, सनत्कुमार में पूर्व विदेह सम्बन्धी और माहेन्द्र में पश्चिम विदेह सम्बन्धी तीर्थंकरों के वस्त्राभूषण रहते है।

आगे इन्द्र की उत्पत्ति ग्रह का स्वरूप कहते है—

उस मानस्तम्भ के निकट आठ योजन चौड़ा, इतना ही लम्बा और ऊँचा उपपाद ग्रह में दो रत्न शय्या है जिनमे इन्द्र का स्थान होता है। इसके ही उपपाद ग्रह के पास अनेक शिखरों सयुक्त जिन भगवान का बहुत सुन्दर मदिर है। कल्पवासी देवागनाएँ सौधर्म, ईशान स्वर्ग मे ही उत्पन्न होती हैं, अन्य कल्पो मे नही। जिसमे केवल देवागनाओ का ही जन्म होता है ऐसे विमान सौधर्म मे छह लाख, ईशान मे चार लाख एव समस्त दस लाख है। इन विमानों मे देवागनाओ के उत्पन्न होने के अनन्तर वे जिन देवो की नियोगिनी होती हैं उन्हे ऊपर के कल्पवासी देव अपने-अपने स्थान पर ले जाते है। अवशेष सौधर्म के छब्बीस लाख और ईशान के चौबीस लाख विमान ऐसे है जिनमे देव देवागना दोनो ही मिश्र उत्पन्न होते है।

आगे देव देवागनाओ के प्रवीचार का वर्णन लिखते है—भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्को मे और सौधर्म तथा ईशान इन दो स्वर्गो के देवो मे शरीर से काम सेवन होता है जैसे कि मनुष्यों आदि मे होता है। अवशेष सनत्कुमार और माहेन्द्र—इन दो स्वर्गो के देव देवियो की कामवासना परस्पर अ ग स्पर्श करने से, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लातव और कापिष्ट—इन चार स्वर्गो मे स्वाभाविक सुन्दरता और शृगारयुक्त रूप आदि को देखने से , शुक्र, महाशुक्र, सतार और सहस्त्रार—इन चार स्वर्गों मे प्रेम भरे, मधुर वचनालाप आदि से और आनत, प्राणत, आरण, तथा अच्युत—इन चारो स्वर्गों मे परस्पर मन मे स्मरण करने से ही कामवासना नष्ट हो जाती है। इन सोलह कल्पों से ऊपर नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पचानुत्तरो मे रहने वाले देव कामसेवन से रहित हैं अर्थात् इनके कामवासना होती ही नही। ये सदैव धर्म ध्यान मे लीन रहते है।

आगे वैमानिक देवो की विक्रया शक्ति और अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र कहते है—

सौधर्म युगलवासी देव अवधि के द्वारा प्रथम भूमि पर्यन्त देखते है। सनत्कुमार युगलवासी देव दूसरी पृथ्वी तक, शुक्र और सतार युगल के देव चौथी भूमि तक, आनत

प्राणत, आरण तथा अच्युत कल्पवासी देव पाचवीं भूमि तक, ग्रैवेयक देव छठी भूमि तक, अनुत्तरवासी सातवीं भूमि तक और पचानुत्तरों के देव सप्तम भूमि से नीचे तनुवातवलय पर्यन्त किंचित् न्यून सम्पूर्ण लोक नाड़ी को अवधि द्वारा देखते है। विक्रिया शक्ति भी समस्त देवो के अपने-अपने अवधि क्षेत्र के समान होती है किन्तु विषयों की उत्कृष्ट वांछा के न होने से ऊपर-ऊपर के देवों मे गमन करने की इच्छा कम होती है इन कल्पवासी देवों का अवधिक्षेत्र चौकोर किन्तु लम्बाई मे अधिक और चौड़ाई मे थोड़ा होता है और भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी के अवधि का क्षेत्र नीचे-नीचे कम और तिर्यक् रूप से अधिक होता है। शेष मनुष्य, तिर्यंच और नारकी का अवधि क्षेत्र बराबर घनरूप होता है।

आगे वैमानिक देवो के जन्म-मरण का विरह काल कहते है, जितने काल पर्यन्त जहाँ किसी का जन्म न हो उसे जन्मान्तर और जितने काल पर्यन्त मरण न हो उसे भोगान्तर कहते हैं अतः दोनो का उत्कृष्ट काल सौधर्म मे सात दिन, सनत्कुमार युगल में एक पक्ष, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लातव और कापिष्ट-कल्प चतुष्को मे एक मास, शुक्र, महा शुक्र, सतार और सहस्त्रार में दो मास, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत में चार मास और शेष ग्रैवेयक आदि मे चार मास होता है। इन्द्र, इन्द्र की महादेवी और लोकपाल के मरण के पश्चात् उत्कृष्ट विरहकाल छह मास और त्रायस्त्रिंश, अग रक्षक, सामानिक तथा पारिषद-इनका उत्कृष्ट विरहकाल चार मास जानना चाहिए।

आगे वैमानिक देवी का शरीर प्रमाण कहते है, सौधर्म युगल के देवो का शरीर सात हाथ, सनत्कुमार युगल के देवो का छह हाथ, ब्रह्मयुगल के देवों का साढे पाच हाथ, लांतव युगल के देवो का पाँच हाथ, शुक्र-महाशुक्र का चार हाथ, सतार-सहस्त्रार के देवो का साढे तीन हाथ, आनत, प्राणत और आरण तथा अच्युत स्वर्ग के देवो का तीन हाथ नव ग्रैवेयक के प्रथम त्रिक के देवो का अढाई हाथ, दूसरे त्रिक के देवो का दो हाथ, तीसरे त्रिक के देवो का डेढ हाथ, नव अनुत्तर देवों का एक हाथ और पचानु दिशवासी देवो का भी एक हाथ शरीर है।

आगे वैमानिक देवो की आयु प्रमाण कहते है—सौधर्म ईशान कल्प के देवो की उत्कृष्ट आयु दो सागर सनत्कुमार माहेन्द्र के देवों की उत्कृष्ट आयु सात सागर, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर के देवो की उत्कृष्ट आयु दश सागर, लांतव कापिष्ट के देवों की चौदह सागर-शुक्र महाशुक्र के देवो की सोलह सागर, सतार और सहस्त्रार के देवो की अठारह सागर, आनत प्राणत के देवों की बीस सागर और आरण अच्युत कल्प के देवो की बाइस सागर उत्कृष्ट आयु है। इससे आगे नवग्रैवेयको मे एक-एक सागर अधिक आयु होती है, नवअनुदिशों मे और पचानुत्तर विमानो में एक-एक सागर बढ़ती आयु है अर्थात् प्रथम ग्रेवेयक में तेईस सागर दूसरे ग्रैवेयक में चौबीस सागर, तीसरे ग्रैवेयक में पच्चीस सागर, चौथे ग्रैवेयक में छब्बीस सागर, पाचवे

में सत्ताईस सागर, छठे में अठाईस सागर, सातवें मे उनतीस सागर, आठवें में तीस सागर, नवमे में इकतीस सागर नवअनुदिशो में बत्तीस सागर और विजय, वैजयत, जयत, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि इन पाच विमानो मे तेतीस सागर आयु है। आगे पूर्वोक्त विमानो में जघन्य आयु कहते है- सौधर्म ईशान स्वर्ग मे जघन्यायु एक पल्य है सौधर्म युगल से आगे-आगे पहले पहले युगल की उत्कृष्ट आयु अगले-अगले युगलो मे जघन्य है जैसे सौधर्म युगल मे उत्कृष्ट आयु दो सागर है तो यही दो सागर आयु सनत्कुमार युगल मे जघन्य है और सनत्कुमार युगल की सात सागर उत्कृष्टायु ब्रह्मब्रह्मोत्तर के जघन्य है इसी प्रकार अन्य कल्पो में जानना चाहिए।

आचार्यवर्य श्री उमास्वामी कृत तत्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र में जो सहस्त्रार पर्यन्त के देवों की आयु कुछ-कुछ अधिक कही है वह घातायुष्क की अपेक्षा कही है। यदि कोई घातायुष्क सम्यग्दृष्टी सहस्त्रार पर्यन्त के युगलो में उत्पन्न हो तो उसकी अपने-अपने स्वर्ग की पूर्वोक्त उत्कृष्ट आयु से अन्तर्मुहूर्त्त कम आधे सागर की आयु अधिक हो जाती है जैसे सौधर्म और ईशान स्वर्ग मे दो सागर की उत्कृष्ट आयु है और यदि वहाँ घातायुष्क सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हो तो उसकी अतर्मुहुर्त्त कम अढाई सागर की आयु हो सकती है। इसी तरह घातायुष्क मिथ्यादृष्टि की पल्य के असख्यातवे भाग प्रमाण आयु हो सकती है परन्तु यह अधिकता सौधर्म युगल मे सतार युगल पर्यन्त के छह युगलो में ही है अन्य में नही है क्योकि आगे के विमानो मे घातायुष्क वाले जीव उत्पन्न नही होते।

भावार्थ—जो पहले आयुबध किया था उसको पश्चात् परिणामो के निमित्त से घटाकर अल्प कर देना घातायुष्क है। वह घातायुष्क दो प्रकार का है—एक अपवर्तन घात, दूसरा कदलीघात। उदय प्राप्त वर्तमान आयु के कम करने को अपवर्तनघात और उद्दीयमान आयु के घटाने को कदलीघात कहते है। कदलीघात तो यहाँ सम्भव नही इसीलिए यहा अपवर्तन घात का ही ग्रहण किया है सो ऐसा घातायुष्क सम्यग्दृष्टि जीव व्यतर व ज्योतिषी देवो मे उत्पन्न हो तो आध पल्य और भवनवासी तथा वैमानिको में हो तो अन्तर्मुहूर्त्त कम आध सागर पूर्वोक्त उत्कृष्टायु से अधिक आयु वाला होता है और इसी प्रकार घातायुष्क मिथ्यादृष्टि हो तो उसके भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिको में सर्वत्र पूर्वोक्त उत्कृष्ट आयु के प्रमाण से पल्य के असख्यातवे भाग प्रमाण आयु बढ जाती है।

आगे कल्पवासी देवागनाओ की आयु कहते है--

सौधर्म द्विक की देवांगनाओ की जघन्य आयु साधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु क्रमश: सोलहों स्वर्गो मे—पाच, सात, नव, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, सत्रह, उन्नीस, इक्कीस, तेईस, पच्चीस, सताईस, उनत्तीस, चौतीस, इकतालीस, अड़तालीस, और पचपन पल्य प्रमाण है।

आगे देवों के उच्छवास् और आहार के समय का प्रमाण कहते है—जहाँ जिस जिस कल्प में जितने-जितने सागर प्रमाण आयु कही है उतने-उतने पक्ष बीतने पर उच्छ्वास और उतने ही हजार वर्ष बीतने पर मानसिक आहार होता है। जैसे सौधर्मद्विक में आयु दो सागर है वहाँ दो पक्ष के अतराल से उच्छवास् और दो हजार वर्ष के अन्तराल से आहार होता है इसी प्रकार अन्य कल्पो मे जानना चाहिए।

आगे लौकालिक देवों का वर्णन लिखते है—

जो पाचवे ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में रहते है वे लौकातिक देव है। ये लौकान्तिक देव मनुष्य का एक भव धारण करके तद्भव से ही मोक्षगामी होते है। इस कारण जिनके लोक का अर्थात् ससार का अन्त होने वाला है उन्हे लौकान्तिक देव कहते है। ये लौकान्तिक देव कुल भेद करके (१) सारस्वत, (२) आदित्य, (३) वन्हि, (४) अरुण, (५) गर्दतोय, (६) तुषित, (७) अवावाध, और (८) अरिप्ट,—ऐसे आठ प्रकार है और क्रमश· सख्या में (१) सात सौ सात, (२) सात सौ सात, (३) सात हजार सात, (४) सात हजार सात, (५) नव हजार नव, (६) नव हजार नव, (७) ग्यारह हजार ग्यारह और (८) ग्यारह हजार ग्यारह है। इनमे से सारस्वत आदि सात प्रकार के देव तो ईशान आदि सात दिशा विदिशाओं के प्रकीर्णक विमानो में और अरिष्ट नामक देव उत्तरदिशा के श्रेणीबद्ध विमानो में रहते है। इनकी सज्ञा के सदृश ही इनके विमानो के नाम है।

आगे सारस्वत आदि अष्टविध देवों के एक-एक अन्तराल मे रहने वाले जो सोलह उपकुल है उनके नाम और सख्या कहते हैं—सारस्वत आदि देवों के अन्तराल में स्थित जो देव है वे (१) अग्न्याभ, (२) सूर्याभ, (३) चन्द्राभ, (४) सत्याभ, (५) श्रेयस्कर, (६) क्षेभकर, (ध) वृषभेष्ट, (८) कामधर, (९) निर्माणरजा, (१०) दिगतरक्षित, (११) आत्मरक्षित, (१२) सर्वरक्षित, (१३) मरुत, (१४) वसु, (१५) अश्व, और (१६) विश्व —ऐसे सोलह प्रकार के है और क्रमश· सख्या में (१) सात हजार सात, (२) नव हजार नव, (३) ग्यारह हजार ग्यारह, (४) तेरह हजार तेरह, (५) पन्द्रह हजार पन्द्रह, (६) सत्रह हजार सत्रह, (७) उन्नीस हजार उन्नीस, (८) इक्कीस हजार इक्कीस, (९) तेईस हजार तेईस, (१०) पच्चीस हजार पच्चीस, (११) सत्ताईस हजार सत्ताईस, (१२) उनतीस हजार उनतीस, (१३) इकतीस हजार इकतीस, (१४) तेतीस हजार तेतीस, (१५) पेंतीस हजार पेंतीस, और (१६) सैंतीस हजार सैंतीस है। इन कुलो के युगल क्रमश· सारस्वत आदि देवों के आठ अन्तरालों मे रहते है जैसे सारस्वत और आदित्य विमानो के बीच अग्न्याभ, सूर्याभ और आदित्य तथा वन्हि के बीच चन्द्राभ और सत्याभ के विमान है। इसी प्रकार अन्य अन्तरालो मे भी दो-दो कुलों के विमान जानने चाहिए। ये सब लौकान्तिक देव परस्पर हीनाधिक्यता रहित (सब समान) विषयो से विरक्त, ब्रह्मचारी, ग्यारह अग

एवं चौदह पूर्व के ज्ञाता उदासीन और अनित्य आदि द्वादश अनुप्रेक्षाओं के चिंतवन में निमग्न रहते हैं। इसी कारण देवो में ऋषियो के समान होने से इन्हे ऋषिदेव भी कहते हैं। अवशेष इन्द्र आदि देवो द्वारा पूज्य होते हैं। ये देव तीर्थंकर भगवान के तपकल्याणक के आदि में ही आते हैं। तपकल्याणक के सिवाय अन्य उत्सवो में नहीं आते हैं। इन समस्त ब्रह्मस्वर्ग के अन्त में रहने वाले लोकातिक देवो का शरीर प्रमाण साढे पाच हाथ और आयु आठ सागर की होती है। लोकान्तिक देवो मे जघन्य आयु नही होती है। इतना विशेष है कि अरिष्ट जाति के देवो की आयु नव सागर प्रमाण है।

इति कल्पातीत देव वर्णनम्।

इस प्रकार कल्पतीतो का वर्णन करके आगे क्रम प्राप्प सिद्ध क्षेत्र का वर्णन करते हैं—

पचानुत्तर विमानों से बारह योजन ऊपर एक राजू चौड़ी सात राजू लबी और आठ योजन मोटी उज्जवल वर्ण अष्टम ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी है। उस ईषत्प्राग्भार नाम की अष्टम पृथ्वी के मध्य रूपामयि (चान्दी के समान श्वेत) छत्र के आकार की मनुष्य क्षेत्र के समान पैतालीस लाख योजन व्यास वाला सिद्ध क्षेत्र है। उस भूमि की मोटाई मध्य में आठ योजन है, पर किनारों पर घटते-घटते क्रमश कम होती गई है।

अथ श्री श्रीपाल चरित्र लिख्यते—

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे अगदेश के अन्तर्गत चम्पापुर नामक एक मनोहर नगर था। जिस समय की यह कथा है उस समय उसके राजा अरिदमन थे। इनके छोटे भाई का नाम वीरदमन था। अरिदमन धर्मज्ञ, नोतिपरायण, प्रजाहितैषी और जिन भगवान के सच्चे भक्त थे। इनकी रानी का नाम कुन्दप्रभा था। कुन्दप्रभा पुष्प के समान उज्जवल गुणो से पूरित, सच्चरित्रा, पतिभक्ति परायणा और धर्मात्मा थी। राजा का भी इन पर अत्यन्त प्रेम था। इस दम्पति के पूर्वोपार्जित पुण्योदय से प्राप्त हुई राज्य लक्ष्मी को भोगते हुए परमानद और उत्सव के साथ दिन व्यतीत होते थे। एक दिन कुदप्रभा अपने शयनागार में कोमल शय्या पर सुखपूर्वक सोई हुए थी कि उसने रात्रि के पश्चिम पहर में पुत्र रत्न के सूचक सुवर्णमय विशाल पर्वत और कल्पवृक्ष देखे और तत्समय ही स्वर्ग से एक देव चयकर रानी के गर्भ में आया। स्वप्न देखकर कुन्दप्रभा जागृत हो गई।

थोड़े समय में प्रातःकाल हुआ। दिनकर के प्रताप से अंधकार का नाश हो गया जैसे सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भूत होने पर अज्ञानांधकार का नाश हो जाता है। तब वह कोमल तन्वी सुशीला रानी प्रातःकाल सम्बन्धी शरीर आदि की नित्य क्रियाओ से निवृत होकर मद-मद गति से पति के समीप गई। राजा ने प्रिया को आते हुए देखकर अर्द्धासन छोड़ दिया। कुन्द प्रभा पति को योग्य विनयपूर्वक नमस्कार करके बैठी और रात्रि में आए हुए स्वप्नो को मधुरालाप से कहने लगी। सुनकर राजा ने उनके फल के सम्बन्ध मे कहा—प्रिये! ये सब स्वप्न तुमने बहुत ही उत्तम और आनन्ददायक देखे है। इनके देखने से सूचित होता है कि तुम्हारे महा तेजस्वी, धीर, वीर, सकल उत्तमोत्तम गुणनिधान और चर्मशरीर पुत्र रत्न होगा। सुवर्णमय विशाल पर्वत का देखना सूचित करता है कि वह बड़ा पराक्रमी, साहसी, गम्भीर, प्रतापी, सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर तथा सुवर्णसम वर्ण का धारक होगा। कल्पवृक्ष देखने से विदित होता है कि वह बहुत ही उदार चित्त, दीनजन प्रतिपालक, महादानी और धर्म का धारी होगा। तात्पर्य यह है कि तेरे गर्भ से अखिल गुण सम्पन्न और तद्भव मोक्षगामी पुत्ररत्न प्रसव होगा।' इस प्रकार अपने पति द्वारा स्वप्न का फल सुनकर कुन्दप्रभा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। ठीक भी है—'पुत्र प्राप्ति से किसे प्रसन्नता नही होती।'

अथानन्तर आज से ये दोनों (दंपति) अपना समय जिनपूजन, अभिषेक, पात्रदान आदि पुण्य कर्मों में अधिकतर व्यतीत करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे। इस प्रकार आनन्द उत्सव के साथ दस मास बीतने पर कुन्द प्रभा ने शुभ लग्न और शुभ दिन में शुभ लक्षणों से युक्त सुन्दर पुत्र रत्न प्रसव किया। उसके जन्म लेते ही दुर्जनो व शत्रुओ के घर में उत्पात और स्वजन तथा सज्जनों के आनन्द की सीमा नही रही। महाराज अरिदमन ने पुत्र जन्म के उपलक्ष्य मे बहुत उत्सव किया, दान दिया और पूजा प्रभावना की। निमित्तज्ञानियो को बुलवाकर लग्न कुन्डली आदि बनवाई गई और तदनुसार ही उसका नाम श्रीपाल रख दिया गया। बालक दिनोदिन शुक्ल द्वितीया के चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा। राजा-रानी बडे लाड़-प्यार से पुत्र का पालन करने लगे। जब श्रीपाल आठ वर्ष के हुए तब इनका मूजी बधन तथा उपनयन सस्कार किया गया और विद्याध्ययन काल तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत देकर इनके पिता ने इन्हे पढाने के लिए ग्रहस्थाचार्य को सौप दिया। इनकी बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी और दूसरे इन पर गुरु की कृपा हो गई। इससे ये थोडे ही वर्षो में पढ लिखकर अच्छे विद्वान बन गए कितने ही विषयो मे इनकी अरोक गति हो गई। गुरुसेवा रूपी नाव द्वारा इन्होंने शास्त्र रूपी समुद्र का बहुत-सा भाग पार कर लिया। तब गुरु की आज्ञा लेकर माता-पिता के समीप आकर उनका योग्य विनयपूर्वक नमस्कार किया। माता-पिता ने भी पुत्र को विद्यालकृत जानकर शुभाशीर्वाद दिया। अब श्रीपाल कुमार नित्यप्रति राज्य सभा में जाने लगे और राज्य कार्यों में विचार करने लगे।

एक दिन की बात है कि महाराज अरिदमन अपनी सभा में बैठे हुए थे कि इतने में श्रीपाल कुमार भी वहा आए और योग्य विनय करके बैठ गए। उस समय राजा ने अपनी वृद्धावस्था और श्रीपाल की योग्यता पर विचार कर इनको राजनीतिक कर देने का निश्चय कर लिया और शुभ लग्न मे पुत्र को सब राज्य-भार सौंपकर आप एकात स्थान मे धर्म ध्यान पूर्वक कालक्षेपण करने लगे। कुछ समय के अनन्तर राजा परलोकगामी हुए जिससे राजा श्रीपाल इनके काका वीरदमन और माता कुन्दप्रभा आदि समस्त स्वजन व पुरजनो को अत्यन्त कलेश पहुँचा पर उसे दूर करने के लिए प्रतिकार ही क्या हो सकता था ? कर्मों की विचित्रता पर ध्यान देकर सबको सतोष करना पड़ा। राजा श्रीपाल अपने पिता की मृत्यु सम्बन्धी क्रिया कर चुकने के अनन्तर पुन. राज्यकार्य में दत्तचित्त हुए। प्रजा को उनके शासन की जैसी आशा थी श्रीपाल ने उससे भी बढकर धर्मज्ञता, नीति और प्रजा प्रेम दिखलाया। प्रजा को सुखी बनाने मे उन्होंने किसी बात की कमी न रखी। इस प्रकार नीतिपूर्वक अपने पुण्य का फल भोगते हुए वे सुख से समय बिताने लगे। जिस समय श्रीपाल सुखपूर्वक समय व्यतीत कर रहे थे और प्रजा का न्याय तथा नीति से पालन करते थे उस समय उनका ऐश्वर्य दुष्ट कर्म से सहन नही हुआ अर्थात् श्रीपाल जैसे कामदेव के शरीर मे कुष्ट (कोढ) रोग हो गया। सारा शरीर गलने लगा और शरीर मे पीप, रुधिर आदि बहने लगा। समस्त शरीर मे असह्य व्यथा होने लगी। यह अवस्था एक राजा श्रीपाल की ही नही थी किन्तु उनके निकटवर्ती सात सौ वीरो का भी यही हाल था। मत्री सेनापति तथा अगरक्षकों का सबका एक-सा हाल था। प्रजागण राजा श्रीपाल और उनके समीपवर्ती लोगों की यह अवस्था देखकर अत्यन्त दुःखी थे। दूसरे इनके शरीर को छूती हुई जिस ओर पवन चली जाती थी उस तरफ के मनुष्य इनकी शरीर की दुर्गन्ध से अति व्याकुल और कितने ही इस रोग के ग्रास बन जाते थे। इस बात से भी प्रजा अत्यन्त दुखी थी परन्तु सब मनुष्य राजा से यह बात कहने मे सकुचाते थे अतएव कितने ही मनुष्य तो अपने-अपने घरो को छोडकर बाहर चले गए और कितने ही बाहर जाने का उद्यम करने लगे। जब प्रजा के नगर छोडकर चले जाने का वृतात शहर के गण्यमान्य पुरुषो के द्वारा श्रीपाल के काका वीरदमन को मालूम हुआ तो उन्होंने तत्काल ही श्रीपाल कुमार के पास जाकर अति ही नम्र और विनीत वचनो से प्रजा की सब दुःख भरी कहानी कह सुनाई। तब राजा प्रजा के दुःख को सुनकर बहुत व्याकुल हुए और प्रजा को इस दुःख से निवृत करने का अपने काका वीरदमन से प्रतिकार पूछने लगे। वीरदमन बोले — राजन् ! यद्यपि मुझे कहने मे सकोच होता है परन्तु आपने मुझसे पूछा है अतएव प्रजा के और आपके हित के लिए जो उपाय मुझे सूझा है उसे कहता हू एकआशा है कि आप उस पर पूर्णतया विचार कर कार्य करेंगे वह उपाय यह है कि यावत् आपके शरीर मे असाता वेदनीय के उदय जनित व्याधि वेदना

का सद्भाव है तावत् यह राज्य कार्य किसी योग्य पुरुष के आधीन कर नगर के बाह्य उद्यान मे निवास करें। जब साता वेदनीय कर्म का उदय आ जाय अर्थात् यह कुष्ट रोग मिट जाए तब पुनः आकर राज्य कार्य सम्हाल लेवे।'

वीरदमन की यह बात सुनकर श्रीपाल ने निष्कपट होकर कहा—'मुझे यह तुम्हारी सम्मति सब तरह से स्वीकार है एव मेरा भी यही विचार है। अतएव जब तक मेरे असाता कर्म का उदय है तावत् मैं राज्य का भार आप ही को देता हूं क्योकि इस समय राज्य का कार्य सम्हाल लेने के योग्य आप ही है। रोगमुक्त होने पर मै पुन आकर राज्य सम्हाल लूंगा। तब तक इस राज्य के आप ही अधिकारी है इसीलिये मेरे वापिस आने तक प्रजा का न्याय और नीतिपूर्वक पालन-पोषण करते रहना और माता कुन्दप्रभा आदि की भी पूर्ण रूप से रक्षा करना।'

इतना कहकर राजा श्रीपाल अपने सात सौ वीरो को साथ लेकर नगर से बहुत दूर बाह्य उद्यान में जाकर रहने लगे।

आगे इसी कथा मे सम्बन्ध रखने वाला मैनासुन्दरी का वृतान्त प्रसग बनाने के लिए लिखते है—इसी आर्यखड में मालव देश के अन्तर्गत उज्जैन नाम की प्रसिद्ध और सुन्दर नगरी है। उस समय उस नगरी मे राजा पदुपाल शासन करते थे। इनके निपुण सुन्दरी आदि को लेकर एक से एक सुन्दर अनेक रानिया थी। सो निपुणसुन्दरी के गर्भ से दो कन्याये हुई। एक का नाम सुरसुन्दरी और दूसरी का नाम मैनासुन्दरी था। सुरसुन्दरी जब यौवन सम्पन्न हुई तब एक समय राजा पदुपाल ने सुरसुन्दरी से पूछा - 'हे पुत्री! तेरा विवाह कहा और किसके साथ होना चाहिए और तुझे कौन-सा वर पसन्द है सो स्पष्ट कह दे।' तब सुरसुन्दरी बोली—'मुझको तो कौशाम्बी नगरी के राजा का पुत्र हरिवाहन पसन्द है क्योकि वह ही सब गुण सम्पन्न, रूपवान और बलवान मालूम होता है। अतएव मेरा उस ही के साथ सम्बन्ध हो जाना चाहिए।' पुत्री की यह आकाक्षा सुनकर महाराजा पदुपाल ने शुभ मुहूर्त में पुत्री का यथेच्छित वर के साथ बडे समारोहपूर्वक पाणिग्रहण करा दिया।

अथानन्तर एक दिन जब छोटी पुत्री मैनासुन्दरी चैत्यालय से भगवान आदीश्वर स्वामी की पूजा कर भगवान के अभिषेक का जल लिए हुए पिता के पास आई तब राजा ने 'आओ, 'आओ ऐसा कहकर बैठने के लिये सकेत दिया। तब मैनासुन्दरी विनय सहित भेट स्वरूप राजा के सन्मुख गन्धोदक रखकर यथायोग्य स्थान पर बैठ गई। राजा ने गन्धोदक सहर्ष मस्तक पर चढाया और पुत्री को भक्तियुक्त देखकर अति ही प्रेम पूर्वक मधुरालाप से कहने लगा—'हे पुत्री! तू अपने मन के अनुसार रूपवान, पराक्रमी वर जो तुझे पसन्द हो सो आज मुझ से कह। सुरसुन्दरी के समान तेरा लग्न भी मैं तेरे इच्छित वर के साथ कर दूगा।' पिता (राजा पदुपाल) का यह वचन मैनासुन्दरी के

हृदय में वज्र जैसा घाव कर गया। वह सुनकर चुप हो गई। अपने पिता को इस बात का कुछ भी उत्तर न देकर मन ही मन में सोचने लगी कि पिताजी ने लज्जा शून्य ऐसे निष्ठुर वचन क्यों कहे ? क्या कुलीन कन्याएँ कभी मुँह से वर मागती है ? सुशील कन्याएँ तो स्वप्न में भी ऐसा सकल्प नही करती—इत्यादि विचारो में निमग्न हुई पुत्री लज्जा के मारे अधोमुख करके नीचे की ओर देखती रही तब भी राजा ने इसका हार्दिक भाव नही समझा और पुनः दूसरी तीसरी बार इसी बात को पूछने लगे। अन्त में मैना सुन्दरी ने जब पिता का इसी बात पर विशेष आग्रह देखा तो वह लाचार होकर बोली—

"तात, वचन सुन मम अवै, मन मे देख विचार, ।
मुख से वर मांगे नही, जे कुलवन्ति कुमारि ।"

अर्थ हे पिता ! पुत्री के सन्मुख आपको ऐसे लज्जाशून्य वचन नही कहने चाहिए । इस प्रश्न का उत्तर देना हम कुलीन कन्याओ का धर्म नही है क्योकि उच्च वश की कन्याएँ अविवाहित रहना स्वीकार करती है परन्तु कभी भी अपने मुख से वर नही मागती । माता-पिता आदि स्वजन वा गुरुजन जिसके साथ ब्याह देते है वह ही वर उनके लिए कामदेव के समान रूपवान और कुबेर के समान धनी होता है चाहे वह ऋणी हो, रक हो, धनी हो, रोगी हो, निरोगी हो, असुन्दर हो, सुन्दर हो, कुरूप हो, सुरूप हो, मूर्ख हो, पडित हो, गुणहीन हो तथा सर्व गुण सम्पन्न हो परन्तु कुलीन वंशज कन्यायों के लिए वही वर उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य होता है । दूसरे यह सब बात भाग्य मे होती है । आपके कहने और करने से ही क्या ? क्योकि जैसा जिसका सम्बन्ध होता है वैसा इष्ट अनिष्ट वस्तुओ का सयोग कर्म वश स्वयमेव ही आकर मिल जाता है इसीलिए "हे पिता जी ! आपको अधिकार है चाहे जिसके साथ आप मेरा ब्याह कर दीजिए ।"

पुत्री के ऐसे वचन सुनकर राजा को बहुत क्रोध आया और मन ही मन मे क्रोध से विह्वल होकर चित्त मे ठान लिया कि 'पुत्री जो मेरे घर मे उत्तमोत्तम भोगोपभोगो को भोगती हुई सबको निज कर्मोदय प्राप्त बतलाकर मेरे उपकार का लोप करते हुए इतने गर्व से युक्त वचन कहती है अतएव मुझे भी अब इसके कर्म की परीक्षा करनी है । मैं भी अब इसे हीनवर के साथ ब्याहूँगा । देखू इसका कर्म क्या करता है ?'—ऐसा विचार कर कुछ समय पश्चात् महाराज पदुपाल मत्रियो को साथ लेकर हीनवर की खोज करने के लिए निकले सो चलते-चलते उसी वन में जा पहुचे जहाँ महाराज श्रीपाल अपने सात सौ वीरो सहित पूर्वोपार्जित अशुभ कर्म का फल भोग रहे थे । श्रीपाल राजा पदुपाल को अपने पास आते हुए देखकर निजासन से उठ खडे हुए और यथा योग्य स्वागत करके कुशल प्रश्न के अनन्तर अपने पास तक आने का कारण पूछने लगे । राजा पदुपाल ने कहा—'मै तो बन क्रीडा के लिए निकल आया हूं । आपका आगमन यहाँ कैसे हुआ और किस कारण नगर बसाया है ?'

यह सुनकर राजा श्रीपाल ने अपना आद्योपात सब वृतात कह सुनाया। सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—'मै तुमसे बहुत सतुष्ट हुआ हूँ जो तुम्हे इच्छित हो सो मागो, मैं देने को तत्पर हूं।'

श्रीपाल ने अवसर देखकर कहा—"राजन्। यदि आपकी मुझ पर सन्तुष्टता है और आग्रह पूर्वक वर देना ही चाहते है तो आप अपनी पुत्री मैंनासुन्दरी मुझे दे दीजिए।' श्रीपाल के वचन सुनकर पदुपाल को एक बार तो कुछ क्रोध आया परन्तु साथ ही मैना-सुन्दरी के वाक्यो का स्मरण कर शात होकर सहर्ष बोले—'अरे कुष्टी राय! मैंने तुझको अपनी लघु पुत्री प्रदान की। तू अब अपने सखाओं सहित मेरे साथ चल और मैना सुन्दरी का सहर्ष वरण कर जिससे तुम्हारी मनो कामना पूर्ण हो।'

श्रीपाल ने हर्षित होकर राजा के वचनो को सादर स्वीकार कर लिया और उनके साथ चलने को तत्पर हो गए। महाराज पदुपाल ने कुष्टी श्रीपाल को सात सौ वीरो सहित लेकर अपने नगर की ओर प्रयाण किया। वहां से चलकर जब कुछ समय के अनन्तर नगर के निकट पहुंचे तो श्रीपाल को उनके सात सौ सखाओ सहित पुर के बाहर उद्यान मे डेरा देकर आप स्वय मत्रियो सहित नगर मे प्रवेश किया और पुत्री के निकट जाकर बोला—'पुत्री! अब भी तू कह दे कि तुझे कौन-सा वर पसन्द है? मै तेरा भी सुरसुन्दरी वत् इच्छित वर के साथ विवाह कर दूगा। अपने अभीष्ट को निस्सकोच होकर प्रगट कर दे? पिता के ऐसे वचनो को सुनकर मैंनासुन्दरी ने उत्तर में कहा—'पिता जी! बारम्बार पिष्ट पेषण (पिसे हुए को पीसने) से क्या लाभ? मै प्रथम ही आपसे निवेदन कर चुकी हू कि कुलीन कन्याएँ कभी निजमुख से वर नही मागती। माता-पिता तथा गुरुजन जिसको योग्य वर समझ लेते है वही उनको स्वीकृत होता है। अतएव मुझको भी आपका वचन स्वीकार होगा।'

पुत्री के ऐसे वचन सुनकर राजा को सतोष नही हुआ तब बोले— 'हे पुत्री! मैने तेरे लिए कुष्ठी वर योग्य समझा है।'

वह बोली—'वह वर मुझे स्वीकार है। इस भव मे तो वही कुष्ठीराय मेरा स्वामी होगा। अन्य सब आपके (पिता के) समान हैं।'

यद्यपि ये वचन मैना सुन्दरी ने अपने हार्दिक सद्भावों से कहे थे परन्तु राजा को नही रुचे। वह बोले—'हे पुत्री! तू बहुत हठीली है और विचार शून्य है। अब भी अपनी हठ छोड़ दे।' परन्तु मैनासुन्दरी अपने हार्दिक भावो से श्रीपाल को ही अपना जीवनेश समझ चुकी थी अतएव वह कहने लगी—'पिता जी! कर्म की गति विचित्र है। जब अशुभ कर्म का उदय आता है तब इष्ट रूप सामग्री अनिष्ट रूप हो जाती और जब शुभ कर्म का उदय होता है तो वही अनिष्ट रूप सामग्री इष्ट रूप परिणम जाती है। क्षणमात्र मे कुबेर

से धनी निर्धन, कामदेव के समान रूपवान कुरूप, स्वस्थ से रोगी, निर्धन से धनी, कुरूप से रूपवान और रोगग्रस्त से रोग मुक्त हो जाते है इसीलिए अब जो कुछ होना था सो हो चुका। अब इसमें कुछ सोच विचार करने की आवश्यकता नही है।'

जब राजा ने देखा कि पुत्री को भी अब जिद्द हो गई है तब उन्होंने तत्काल ही एक ज्योतिर्विद् पडित को बुलाया और उससे विवाह का उत्तम मुहूर्त पूछने लगे। तब ज्योतिषी ने लग्न विचार कर कहा— 'नरनाथ! आज का मुहूर्त अति उत्तम है क्योंकि सूर्य, चन्द्र और गुरु तीनों वर तथा कन्या के लिए बहुत ही अच्छे है, फिर ऐसा उत्तम मुहूर्त बीस वर्ष तक भी नही बनेगा।'

राजा ऐसा उत्तम और निकट मुहूर्त्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और विवाह का आयोजन करते लगे। तब मत्री, पुरोहित, स्वजन तथा कुटुम्बी जनो ने मैनासुन्दरी को कुष्टि के साथ देने से बहुत रोका परन्तु राजा ने सबको तिरस्कृत कर अपने हठ तथा मिथ्याभिमान के वश होकर उसी दिन मैनासुन्दरी का श्रीपाल के साथ विधिपूर्वक पाणिग्रहण करा दिया। जब विवाह विधि हो चुकी तब मैनासुन्दरी अपने पति के साथ-साथ चलने लगी और सब लोग विचार कर सुन्दरी को पहुचाने गए। उस समय कुष्ठी श्रीपाल के साथ दिव्य रूपवती सुन्दरी को जाते हुए देख कर किसी के चेहरे से शोक, किसी मे चिन्ता, किसी से भय, किसी से ग्लानि, किसी मे विस्मय, किसी मे क्रोध और किसी से बिरागता प्रदर्शित होती थी। उस समय राजा पदुपाल भी स्वय चित्त में बहुत खेदित और लज्जित हुआ परन्तु वह कर ही क्या सकता था? कर्म रेख पर मेख मारने की किसकी सामर्थ्य है? मैनासुन्दरी की माता तथा बहिन भी उसकी इस दशा को देखकर अश्रुपात करते हुए राजा को दोष देते जाते थे परन्तु उस सती, शीलवती, कोमलागी बालिका के चेहरे से अपूर्व प्रसन्नता प्रदर्शित होती थी। वह विचार कर रही थी कि न मालूम ये माता, पिता, गुरुजन तथा दर्शक जन आदि क्यो ऐसे मगलमय समय मे अमगल सूचक चिन्ह प्रगट करते है। मुझे शीघ्र ही क्यो नही विदा कर देते। ये ज्यो-ज्यो विलम्ब कर रहे है त्यों-त्यों मेरे पति- सेवा करने में अतराय पड रहा है। जब उसने देखा कि ये सब लोग प्रेम के वश होकर पिता के कृत्य और भाग्य को दोष देते हुए साथ में मेरे पति के लिए कोढी आदि निद्य वचन कह रहे है। तब उससे नही रहा गया और वह दीर्घ स्वर से बोली—'हे माता, पिता, बंधु तथा गुरुजन! यद्यपि आप सब लोग मेरे शुभचिंतक है और अब तक आप लोगो ने जो कुछ भी मेरे लिए किया वह सब सुख के लिए था परन्तु अब आप लोगो के ये वचन मुझको शूल मे मालूम होते है। मैं अब अपने पति के निंदा वाचक वचन नही सुनना चाहती हूँ। क्या आप लोग नहीं जानते कि स्त्री का सर्वस्व पुरुष ही है। जो सती, शीलवान और सुशील स्त्रियाँ है वे अपने पति के लिए निद्य वचन नही सुन सकती है। स्त्रियों को उनके कर्मानुसार जैसा वर प्राप्त हो जाए वही उनको पूज्य है यद्यपि

आप लोग मेरे पति को कुरूप और रोग सहित देख रहे है परन्तु मेरी दृष्टि में वह कामदेव के समान रूपवान हैं। आपलोग व्यर्थ ही पश्चाताप कर रहे हैं। यदि शुभोदय होगा तो थोड़े ही समय के अनन्तर आप लोग इन्हें देव, गुरु व धर्म के प्रभाव से रोगमुक्त देखेंगे इसीलिए आप लोग शांति रखें। किसी प्रकार की चिन्ता न करे। इसमे मेरे पिता का किंचित् भी दोष नही है इसीलिए कभी भी आप पिताजी को कुछ-कुछ कहकर क्लेशयुक्त न कीजिए।'

इत्यादि पुत्री के वचन सुनकर सबको सतोष हुआ और वे कर ही क्या सकते थे ? 'होनहार प्रबल है'—इस विचार से चित्त को शान्त कर राजा पदुपाल ने पुत्री तथा जामाता को उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण दिए तथा साथ मे सेवा करने के लिए दास-दासी तथा पालकी, रथ, घोटक, हस्ती, गाय, भैस, ग्राम, पुर पट्टनादि दिए एव क्षमा कर विदा किया। बहुत दूर तक लोग पहुँचाने गए थे सो पश्चात् लौटकर सब लोग अपने-अपने निवास स्थान को आए। कुछ समय तक नगर में यही चर्चा रही और ज्यो-ज्यो दिन बीतने लगे त्यो-त्यो लोग इस बात को भूलने लगे।

अथानन्तर जब से श्रीपाल जी मैनासुन्दरी को अपने घर पर ले आए तब ही से उनके शरीर में दिनोदिन कुछ-कुछ साता के चिन्ह प्रगट होने लगे। सो ठीक ही है—

शीलवान नर जहाँ-जहाँ जाय,
तहाँ-तहाँ मंगल होत बनाय।"

मैनासुन्दरी उत्तम मन वचन से ग्लानि रहित पति सेवा में लीन हो गई वह साध्वी निरतर श्रीपाल की अभिरुचि के अनुकूल पथ्य भोजन कराती और सदैव रोग की निवृति के लिए श्री जी से प्रार्थना करती थी। अथानतर एक दिन दोनो दपति श्री जिन भगवान के दर्श-नार्थ जिन मन्दिर गए। वहाँ भगवान की सभक्ति तीन प्रदक्षिणा देकर साष्टाग नमस्कार किया और दत्तचित हो भगवान के गुणो का गायन करने लगे। पश्चात् वहाँ पर विराजमान श्री गुरु के चरण कमलो में सभक्ति नमस्कार कर दोनो दपति अपने वेदनीय कर्म के उदय जनित व्याधि की निवृति के लिए प्रतीकार पूछने लगे।

तब मुनिराज ने कहा—"हे पुत्री !" मैं तुम्हे कुछ व्याधि की निवृति के लिए प्रतीकार बताता हूँ इस लिए दत्तचित होकर सुन। वह उपाय यह है कि सबसे प्रथम निर्दोष सम्यक्त्व स्वीकार कर। जिसके धारण करने से सब व्रतादिक सार्थकता को प्राप्त होते हैं। अन्यथा सम्यक्त्व के बिना व्रत आदि का आचरण करना अक के बिना अखिल शून्यवत् निरर्थक है। पश्चात् विधि सहित सिद्ध चक्र व्रत अर्थात् अष्टाह्निका व्रत धारण कर क्योकि इस व्रत के प्रभाव से सब प्रकार के रोग शोक दूर हो जाते है।" तब मैनासुन्दरी ने विनीत भाव पूर्वक निवेदन किया—"हे स्वामिन् ! अनुकम्पा कर इस व्रत की विधि बतलाइये।"

तब मुनिराज ने कहा—"हे पुत्री ! यह व्रत प्रति वर्ष में तीन बार कार्त्तिक, फाल्गुन और अषाढ–इन तीन महीनो के शुक्ल पक्ष के अन्त के आठ दिनो मे अर्थात् शुक्लाष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त किया जाता है। उत्तम व्रत तो यह है कि आठों ही उपवास करे। मध्यम बेला तेला आदि अनेक रूप है सो यथा शक्ति करे। इन उपवास के दिनो मे अपने चित को विषय कषायो से रोक कर धर्म ध्यान मे व्यतीत करे क्योंकि—

"कषाय विषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते।
उपवास सविज्ञेय. शेष तु लघन विदु: ॥"

अर्थ:—इस प्रकार प्रति वर्ष मे तीन बार व्रत करते हुए आठ वर्ष व्यतीत हो जावे तब यथाशक्ति विधि सहित उद्यापन करे।" इस प्रकार मुनिराज के द्वारा व्रत की विधि सुनकर मैनासुन्दरी ने सिद्ध चक्र व्रत को सहर्ष स्वीकार किया। पश्चात् वे दपति मुनिराज के चरणारविन्दो को नमस्कार कर अपने स्थान को पधारे और परस्पर प्रेमालाप करते हुए सुख पूर्वक समय व्यतीत करने लगे। कुछ दिन के अनन्तर पवित्र कार्तिक मास आया। सो कार्तिक शुक्लाष्टमी को मैनासुन्दरी बडे हर्ष के साथ स्नान कर उज्जवल, शुद्ध वस्त्र धारणकर प्राशुक सामग्री ले जिन मन्दिर गई और विधिपूर्वक अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा की। आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। इस प्रकार नित्यप्रति वह साध्वी आठो दिन भगवान की पूजा करके गधोदक लाती और सात सौ वीरो तथा श्रीपाल के कुष्ठ से गलित शरीर पर छिड़क देती थी। सो इस सती की सच्ची पति सेवा और जिन भगवान की भक्ति तथा व्रत के प्रभाव से आठ ही दिनो में श्रीपाल और उनके सात सो सखाओं के शरीर मे कुष्ठ इस तरह निर्मूल हो गया कि मानो कभी हुआ ही न था। अब श्रीपाल का शरीर सुवर्ण के समान कान्तिमान हो गया। देखो व्रत का प्रभाव कि जिसके अतिशय से तत्क्षण हो सात सौ सखाओ सहित राजा श्रीपाल कुष्ठ रोग से मुक्त हो कामदेव के समान दीप्त शरीर हो गए सच है—"व्रत की महिमा अचित्य है।" अब वे दपति असाता कर्म के क्षय होने पर सुख पूर्वक समय बिताने लगे। इनको ऐसा हर्ष हुआ कि निशिवासर जाते मालूम नही होते थे। यह बात तो यहाँ ही रही।

अब श्रीपाल जी की माता कुन्दप्रभा का वृतान्त कहते है माता कुन्दप्रभा पुत्र के वियोग मे तथा पुत्र की अस्वस्थ अवस्था का विचार करती हुई अत्यन्त दुखित रहा करती थी। सो चिन्ता ही चिन्ता में उनका शरीर बहुत क्षीण हो गया। परन्तु क्या करे निरुपाय थी। यद्यपि पुत्र का मोह बहुत था, यहा तक कि शरीर बहुत क्षीण हो गया था परन्तु वह प्रजा वत्सल रानी इस दशा मे भी श्रीपाल को बुलाकर पास रखना नही चाहती थी। निदान कुन्दप्रभा एक दिन स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहन जिन मन्दिर गई तथा प्रथम ही श्री जिन देव की वन्दना स्तुति करके वहाँ पर तिष्ठे हुए

श्री मुनिराज को नमस्कार करके विनय पूर्वक अपने पुत्र की कुशल पूछने लगी। तब सम-दर्शी निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिराज ने अवधि ज्ञान से श्री पाल के उज्जैन में जाने, मनासुन्दरी के साथ सम्बन्ध होने और कुष्ट व्याधि के दूर हो जाने आदि का सम्पूर्ण वृतात रानी कुन्दप्रभा को कह सुनाया। तब रानी प्रसन्न चित्त होकर निज घर आयी और अपने देवर वीरदमन से श्रीपाल के पास मिलने जाने की आज्ञा माँग कर सहर्ष उज्जैन की ओर प्रयाण किया। रानी कुन्दप्रभा पुत्र प्रेम से बाध्य हुई अति शीघ्रता से प्रयाण करती हुई कुछ ही दिना में उज्जैन के उद्यान मे पहुँच गई। वहा पहुँच कर पुरजनों के द्वारा श्री पाल के मैनासुन्दरी के साथ विवाह होने और रोग मुक्त होने का वृतात सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। पश्चात् श्रीपाल के महल के द्वार पर गई। नियमानुसार द्वार पाल से राजा को खबर देने के लिए कहा। तब शीघ्र ही द्वारपाल ने जाकर महाराज श्रीपाल से समाचार कह सुनाया। श्रीपाल माता का आगमन सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और मैनासुन्दरी को अपनी माता के आगमन से सूचित कर माता की अगवानी के लिए आए। मैनासुन्दरी भी सास की अगवानी के लिए आई। दोनो ने कुन्दप्रभा के पादारविंदों को स्पर्श कर मस्तक नवाया। तब माता ने उन दोनों को पुत्र पुत्री की तरह गले लगा लिया तथा शुभाशीर्वाद दिया। अत्यन्त प्रेम व बहुत दिनो मे विपत्ति के पश्चात् मिलने के कारण सबके नेत्रों से अश्रुपात होने लगे और हर्ष रोमाच हो आए। पश्चात् परस्पर कुशल समाचार पूछने लगे। तब श्रीपाल ने अपने उज्जैन मे आने मैनासुन्दरी से विवाह होने और सिद्ध चक्र व्रत के प्रभाव से कुष्ठ व्याधि के निवृत होने आदि का समस्त आद्योपात वृतान्त कह सुनाया। सुनकर माता बहुत प्रसन्न हुई और मैनासुन्दरी को यह आशीर्वाद दिया, "हे पुत्री! तू बहुत-सी रानियों की पटरानी हो और श्रीपाल कोटि भट्ट चिरजीव रहे तथा पदुपाल राजा जिसने उपकार कर निज पुत्री रत्न मेरे पुत्र को दिया सो बहुत ही कीर्ति वैभव को प्राप्त हो।" माता का यह आशीर्वाद सुनकर बहू बेटा अर्थात मैना सुन्दरी और श्रीपाल ने अपना मस्तक झुका लिया और विनीत भाव से कहने लगे, "हे माता! यह सब आपका प्रभाव है। हमने आज ही सम्पूर्ण आनन्द प्राप्त किया। धन्य है आज का दिन व घडी जो आपके दर्शन मिले। आपके शुभाशीर्वाद से मन पवित्र हुआ। तात्पर्य यह है कि हम लोग आपके दर्शन से आज कृत कृत्य हुए हैं"—इत्यादि परस्पर वार्ता-लाप करने के पश्चात् अपना-अपना समय आनन्द पूर्वक बिताने लगे। श्रीपाल को प्रिया सहित उज्जैन मे रहते हुए बहुत दिन हो गए। आनन्द मे समय जाते मालूम नही होता है। एक दिन अपने शयनागार में ये दपति सुखपूर्वक सो रहे थे कि अचानक श्रीपाल को आँख खुल गई तथा उनको एक बड़ी भारी चिन्ता ने आकर घेर लिया। वे पडे-२ करवटें बदलते और दीर्घ निश्वास लेने लगे। तब पति भक्ति परायणा मैनासुन्दरी ने पति का व्याकुल चित्त देखकर सविनय पूछा—"हे प्राणाधार! आज आप कुछ चिन्तित मालूम होते है। चिंता का क्या कारण है वह कृपा कर कहिए?" तब श्रीपाल ने बहुत कुछ सकुचाते हुए कहा—

"हे प्रिये! मुझे और तो किसी प्रकार की चिन्ता नही है, केवल यही चिन्ता है कि यहीं रहने से सब लोग मुझे राज जवाई ही कहते हैं तथा मेरे पिता का नाम कोई नही लेता है और वे पुत्र जिन से पिता का कुल व नाम लोप हो जाए यथार्थ मे पुत्र कहलाने के योग्य नहीं है। यही बात मेरे चित्त को चितित करती है क्योंकि कहा है कि—

"सुता और सुतके विषै, अन्तर इतनो होय।
वह परवश बढावती, यह निन वशहि सोय ॥
जो सुत तज निजस्वजन पुर, रहे श्वशुर गृह जाय।
सो कुपूत जग जानिये, अति निर्लज्ज वनाय ॥"

इसलिए हे प्रिये! अब मुझे यहाँ एक क्षण भी दिन के समान प्रतीत होता है बस केवल यही दुःख है और मुझे काई दु ख नही।" यह सुनकर मैनासुन्दरी ने कहा, "हे नाथ आपका यह विचार बिल्कुल सत्य और बहुत उत्तम है। जिन पुत्रो ने अपने कुल, देश, जाति, धर्म व पितादि गुरुजनो के नाम का लोप कर दिया यथार्थ मे वे पुत्र कुल के कलक ही है। इसलिए हे स्वामी! यहाँ से चतुरग सेना लेकर अपने देश को चलिए और सानन्द चिन्ता मिटा कर स्वराज्य भोगिए।" ऐसे वचन अपनी प्रिया के मुख से सुनकर श्रीपाल ने कहा —"हे प्रिये! तुमने जो कहा वह ठीक है परन्तु क्षत्रिय लोग कभी किसी के सामने हाथ नीचा नही करते अर्थात् याचना नही करते सो प्रथम तो माँगना ही बुरा है और कदाचित् यह भी कोई करे तो ऐसा कौन कायर वा निर्लोभी होगा जो दूसरो को राज्य देकर आप पराश्रित हो जीवन व्यतीत करे। ससार मे कनक और कामिनी को कोई भी खुशी-खुशी किसी को नही सौप देता है और यदि ऐसा हो भी तो मेरा पराक्रम किस तरह प्रगट होगा? अपने बाहुबल से ही प्राप्त हुआ राज्य सुख का दाता होता है दूसरी बात यह है कि जहाँ तक अपनी शक्ति से काम नही लिया वहाँ तक राज्य किस आधार पर चल सकता है? तीसरे शक्ति को काम मे न लाने से कायरता भी बढती जाती है। फिर समय पर शत्रु से रक्षा करना कठिन हो जाता है। विद्या अभ्यास कारिणी ही होती है इसलिए पुरुष को सदैव सावधान रहना ही उचित है इसीलिए हे वरनार! मै विदेश में जाकर निज बाहुबल से राज्यादि वैभव प्राप्त करूँगा। तुम आनन्द से अपनी सास की सेवा माता के समान करना और नित्य प्रति जिनदेव के वन्दन, स्तवनादि षट् कर्मों मे सावधान रहना। तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करना। मै शीघ्र ही आकर मिलूँगा।" पति के ये वचन यद्यपि मैंनासुन्दरी के लिए दु ख दायक थे परन्तु जब उसको यह विश्वास हो गया कि 'अब स्वामी नही मानेगे, वे अवश्य ही विदेश जाएगे इसलिए अब इनके चलते समय अवरोध करना उचित नहीं है'—ऐसा समझ कर वह धीमे स्वर में बोली—"हे स्वामिन्! आपकी आज्ञा

मुझे शिरोधार्य है परन्तु ये तो बतलाइये कि अब इस अबला को पुनः आपके दर्शन कब होगें जिसके सहारे व आशा पर चित्त को स्थिर रखा जाए ?" तब श्रीपाल ने कहा—"प्रिये ! बिल्कुल अधीर मत हो। चित्त में धैर्य रख मै बारह वर्ष पूर्ण होते ही इसी अष्टमी के दिन अवश्य आ मिलूंगा। इसमें किंचित् मात्र भी अन्तर न समझना इस प्रकार श्रीपाल जी पतिपरायणा मैनासुन्दरी को सन्तोष देकर अपनी माता के पास पहुंचे और नमस्कार कर माता से प्रार्थना की और माता से अपने मन का समस्त वृतान्त निवेदन करके विदेश गमन के लिए आज्ञा देने की प्रार्थना की। माता कुँदप्रभा पुत्र का शुभ अभिप्राय जानकर कहने लगी—"हे पुत्र ! अब बहुत दिनो मे आकर तो तुम्हारे वियोग जनित हृदय की दाह को शान्त किया था क्या अब मुझे फिर वही वियोग जनित दुःख देखना पड़ेगा इसलिए हे पुत्र जाने की आज्ञा देते हुए मेरे चित्त को बहुत दुःख होता है परन्तु मैं अब रोक भी नही सकती हूँ इसलिए अब तुम जाते ही हो तो जाओ। श्री जिनेन्द्र देव और देव, गुरु, धर्म के प्रभाव से तुम्हारी यात्रा सफल हो।" इस प्रकार श्रीपाल जी ने माता से शुभाशीर्वाद और आज्ञा ले, उसी रात्रि को पिछले पहर मे सर्व उपस्थित जनो को यथायोग्य प्रणाम करके, श्री पचपरमेष्ठी का उच्चारण करते हुए, हर्षित हो, उत्साह सहित नगर से प्रयाण किया। श्रीपाल जी वहाँ से चलते-चलते वत्सनगर में आए। उन्होंने वहाँ वत्सनगर के चपक वन में एक वृक्ष के नीचे तत्र निवासी वस्त्राभूषणो से अलकृत व क्षाण शरीर एक विद्याधर को कलेश युक्त व मत्र जपते हुए देखा। 'परन्तु इतना क्लेश उठाने पर भी मत्र सिद्ध नही होता था, इससे वह उदास चित्त हो रहा है'—ऐसा देखकर श्रीपाल ने उसके निकट जाकर पूछा तो उसने अपना समस्त वृतान्त कहकर उससे विद्यासाधन करने के लिए निवेदन किया। तब श्रीपाल उसके बारबार कहने और आग्रह करने से शुद्धता पूवक निश्चल आसन लगाकर मन, वचन, काय की स्थिरता से शुद्ध भाव पूर्वक मत्र जपने के लिए बैठ गए सो एकाग्रचित से आराधन करने से उन्हे एक ही दिन मे विद्या सिद्ध हो गई तब उन्हें सफल देखकर वह वीर उठा और प्रणाम करके श्रीपाल की स्तुति कर उससे कहने लगा—

"हे स्वामिन् ! यह विद्या आप ही अपने पास रखिए तथा मुझे मेरे घर जाने की आज्ञा दीजिए।" तब श्रीपाल ने कहा—"हे वीर ! मेरा यह धर्म नही है कि दूसरे की विद्या को छीन कर मैं विद्यावान् बनू। दूसरे मैने इसमें किया ही क्या है ? तुम्हारे दुराग्रह से मैंने अपनी शक्ति की परीक्षा की है"—ऐसा कह उस विद्याधर को वह विद्या दे दी। तब पुनः उस विद्याधर ने स्तुति करके कहा—"हे स्वामिन् ! यदि आप इस विद्या को स्वीकार नही करते हैं तो ये जलतारिणी व शत्रुनिवारिणी ये दो विद्याये अवश्य ही भेट स्वरूप स्वीकार कीजिए तथा मुझ पर अनुग्रह कर मेरे गृह को अपने पवित्र चरण कमलो से पवित्र कीजिए"—ऐसा कह उक्त दोनों विद्याएँ श्रीपाल जी को भेंट स्वरूप देकर अपने स्थान पर ले गया तथा कुछ

दिन तक अपने यहाँ रख कर बहुत सेवा की। पश्चात् उनको उनकी इच्छानुसार विदा कर आप सानंद आयु व्यतीत करने लगा। इस प्रकार श्रीपाल जी ने घर से निकल कर वत्सनगर के विद्याधर को अपना सेवक बनाकर और उससे उक्त दो विद्याएँ भेंट स्वरूप ग्रहण कर आगे को प्रयाण किया और वहाँ से चलकर भृगुकच्छपुर आए। यह नगर समुद्र तट के समीप होने से अति रमणीक था सो वे घूमने-घूमते उस नगर के उपवन में पहुँचे और वहा पास ही एक स्थान पर जिन मन्दिर देखकर हर्षित हो प्रभु के दर्शनार्थ उसमे प्रवेश किया वहा भगवान को सभक्ति साष्टाग नमस्कार कर के स्तवन कर अपना धन्य जन्म मानने लगे। श्रीपाल भगवान का दर्शन स्तवन व सिद्ध चक्र व्रत का आराधन करते कितने ही काल पर्यन्त इसी नगर मे रहे। इसी समय कौशाम्बी नगरी निवासी धवल सेठ व्यापार के निमित्त देशाँतर को जाने के लिए पांच सौ जहाज भर कर इसी नगर के समीप आया। पवन के योग से वे जहाज किसी खाडी में जा पडे। उस सेठ के साथ जितने आदमी थे उन सब ने मिल-कर शक्ति भर प्रयत्न किया परन्तु वे जहाज खाडी से न निकाल सके। तब सेठ को भारी चिन्ता हुई। तब वह वहा से उदास चित्त नगर मे गया और वहा किसी दक्ष निमित्त ज्ञानी से अपना वृत्तान्त निवेदन कर जहाजो के अटक जाने का करण पूछा। तब उसने कहा—"हे श्रेष्ठि! तुम्हारे अशुभ कर्म का उदय है इसलिए तुम्हारे जहाज जलदेवों ने कील दे दिए हैं यदि किसी गुणवान्, सुन्दर गम्भीर और शुभ लक्षणवत तथा शूरवीर पुरुष की उन देवों को बलि दी जाए तो तुम्हारे जहाज चल सकते है अन्यथा नही।" यह सुनकर सेठ अपने डेरे में आया और अपने मंत्रियो से मंत्रणा करके बहुमुल्य वस्तुएँ भेंट स्वरूप ले जाकर राजा से मिला। राजा को अपनी अमूल्य वस्तुएँ भेंट पाने मे प्रसन्नचित देखकर अपना समस्त वृतान्त कह सुनाया और एक मनुष्य को बलि देने की आज्ञा प्राप्त कर ली और तदनुसार ऐसे मनुष्य को जो कि अकेला हो, गुणवान हो, निर्भय हो ढूढने के लिए अपने सेवकगण चारो ओर भेज दिए। उनमे से कुछ मनुष्य वहाँ जा निकले जहाँ पर उपवन मे एक वृक्ष के नीचे श्रीपाल जी शीतल छाया मे सो रहे थे। उन्हे सोते हुए देखकर वे मन मे विचार करने लगे कि जैसा पुरुष चाहिए, यह ठीक वैसा ही मिल गया है। बस अपना काम बन गया परन्तु उन्हे जगाने का किसी को साहस नही पडता था। सब लोग एक दूसरे को उसे जगाने की प्रेरणा दे रहे थे। कि इतने मे श्रीपाल जी की नीद खुल गई और आंख खुलते ही अपने आप को चारो ओर से मनुष्यों से घिरा हुआ पाया तब निःशक होकर बोले—"तुम कौन हो और मेरे पास किस लिए आए हो?" तब वे सेठ के नौकर बोले, "हे स्वामिन्! कौशाम्बी नगरी का एक धनिक व्यापारी जिसका नाम धवल सेठ है, व्यापार के निमित्त पाँच सौ जहाज लेकर विदेश को जा रहा था। सो किसी कारण से उसके जहाज खाडी मे अटक गए है और मंत्रणा करके विवेक रहित हो जहाज चलाने के लिए एक आदमी की बलि देना निश्चय कर हमको मनुष्य की तलाश में भेजा है सो मनुष्य हमको कोई मिलता नही है और सेठ का डर

भी बहुत लगता है कि खाली जाएँगें तो मार डालेगा और वापस नही जावे तो हमे ढुढवा कर फिर हमे अधिक कष्ट देगा। इसलिए हम आपकी शरण में है। किसी तरह हमें बचाइए यह सुन श्रीपाल बोले—"भाइयों तुम भय न करो। तुम कहो तो क्षण भर में करोडों वीरो का मर्दन कर डालूं और कहो तो वहाँ चल कर सेठ का काम कर दूँ?" तब वे आदमी स्तुति करके गद्‌गद् वचन बोले—"स्वामिन् यदि आप वही पधारेगे तो अति कृपा होगी और हम लोगो के प्राण भी बच जाएँगे। आपका यश बहुत फैलेगा। आप धीर वीर हो। आपसे सब काम हो जाएगा।" यह सुनकर श्रीपाल जी तुरन्त ही यह विचार कर—"देखे कर्म का क्या बनाव है, क्या-क्या कौतुक होगा? मैं भी अपने बल की परीक्षा कर लूगा" उन वनचरो के साथ चलकर शीघ्र ही धवल सेठ के पास आ पहुँचा। सेवक सेठ से हाथ जोड़कर बोले—"हे सेठ! आप जैसा पुरुष चाहते थे सो यह ठीक वैसा ही लक्षणवन्त है। अब आप का कार्य निस्सदेह हो जाएगा।" सो उस लोभ अन्ध धवल सेठ ने बिना ही कुछ सोचे और बिन पूछे कि 'तुम कौन हो कहाँ से आए हो' श्रीपाल को बुलाकर, उबटना करा कर स्नान करवाया। इतर, फुलेल, चदनादि लगाकर उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहिनाए और बडे गाजे बाजे सहित उस स्थान पर जहाँ जहाज अटक रहे थे, ले गए। तब वहाँ शूरवीरो ने इनके मस्तक पर चलाने के लिए खड्ग उठाया। तब श्रीपाल जी हर्षित हो मन मे यह विचारते हुए कि अब इन सबका काल निकट आया है बोले —"अरे सेठ! तुझे यहा जीव-वध करने से प्रयोजन है कि अपने जहाजों के चलाने से है।" सेठ ने उत्तर दिया—"हमको जहाज चलाना है। यदि तू चला देगा तो तुझे फिर कोई तकलीफ देने वाला नही है।" तब श्रीपाल जी बोले—"अरे मूर्ख, लोभाध! तूने मुझे देखकर जरा भी शका नही की और बलि देने को तत्पर हो गया सो ठीक ही है। क्योकि कहा भी है—

"अर्थि दोषो न पश्यति"

क्या तू समझता है कि मै यहाँ तेरे उद्यम के अनुसार बलि हो जाऊँगा? देखूं तेरे पास कितने शूरवीर है? सबको एक ही बार मे चूर-चूर कर डालूगा देखू। कौन साहस कर मेरे सामने बलि देने को आता है? आओ शीघ्र ही आओ। देर मत करो और फिर देखो मेरे पराक्रम को। हे दुष्टो! तुमको जरा भी लज्जा नही आती। विचार हीन! केवल लोभ के वश अनर्थ करने पर कमर बाँध ली है सो आओ मै देखता हूं कि तुम कितने पराक्रमी वीर हो श्रीपाल जी के साहस युक्त ऐसे निर्भय वचन सुनकर धवल सठ और उसके सब आदमी मारे भय से काँपने लगे और नम्रता से विनय सहित स्तुति करके बोले—"स्वामिन्! हम लोग अविवेकी है। आपका पुरुषार्थ जाने बिना ही यह साहस किया था। आप दयालु, साहसी, न्यायी व गुणवान हो। हम आपकी प्रशसा कहा तक करे? अब क्षमा करो और हमसे प्रसन्न होओ हम लोगों का सकट निवारण करो।" इस पर श्रीपाल जी को दया आ गई।

तब उन्होंने आज्ञा दी—"अच्छा तुम लोग अपने जहाजों को शीघ्र तैयार करो।" तुरन्त ही सब जहाज तैयार किए गए।

जहाजों को तैयार देखकर श्रीपाल जी ने पच परमेष्ठी का जापकर सिद्ध चक्र का आराधन किया और पाव के अगूंठे से ज्यो ही जहाजो को स्पर्श किया त्यो ही सब जहाज चल पड़े। सब लोगो में जय-जयकार होने लगा। बहुत खुशी मनाई गई। सब लोग श्रीपाल जी के साहस, रूप, बल व पुरुषार्थ की प्रशमा करने लगे और सबने उनको अपने साथ ले जाने का विचार कर प्रार्थना की कि—"हे स्वामिन्! यदि आप हम लोगो पर अनुग्रह कर साथ चले तो हमारी यात्रा सफल हो।" तब श्रीपाल जी ने कहा—"सेठ जी! यदि आप अपनी कमाई का दसवा भाग मुझे देना स्वीकार करे तो निसशय चलू।" सेठ ने यह बात स्वीकार की और श्रीपाल जी ने धवल सेठ के साथ जहाजो पर सवार होकर प्रस्थान किया। जब समुद्र में धवल सेठ के जहाज चले जा रहे थे कि इतने मे एकाएक मरजिया (जहाज के ऊपर सिरे पर बैठकर दूर तक देखने वाला) एक दम चिल्ला कर बोला—"वीरो! सावधान हो जाओ। अब असावधान रहना उचित नही है। देखो सामने से एक बडा भारी तस्करो का समूह चला आ रहा है।" ये सुनते ही सब सामन्त लोग हथियार लेकर सामने आये। इतने मे लुटेरो का दल भी सामने आ गया और उन सबने मिलकर सेठ के जहाजों पर आक्रमण किया। परन्तु सेठ के शूरवीरो ने उन्हे कृतकृत्य न होने दिया और उलटा मार भगाया। अपने को निर्विघ्न हुआ जान सेठ के दल मे आनन्द ध्वनि होने लगी। परन्तु इतने ही से इस आपत्ति का अत नहीं हुआ था। वे डाकू लोग कुछ दूर तक जा कर एकत्र हुए और सबने सहमत होकर यह निश्चय किया कि एक बार और धावा करना चाहिए। बस फिर उन लोगो ने पुन आकर उनके रग में भग डाल दिया और इस जोर से आक्रमण किया कि सेठ के सामन्तो की बात ही बात मे पराजय कर धवल सेठ को जीते जी ही बाध कर ले गये। तब सेठ के दल मे बडा भारी कोलाहल मच गया। यहाँ तक श्रीपाल जी सब घटना चुपचाप बैठे देखते रहे। सो ठीक ही है—'धीर-वीर पुरुष क्षुद्र पुरुषो पर क्रोध नही करते, चाहे वे कितना ही उपद्रव क्यो न करे। जैसे मदोन्मत हाथी अपने पर सहस्त्रो मक्खिया भिनभिनाती हुई देखकर भी क्रोध नही करता है क्योकि वह समझता है कि मै इन दीनो पर क्या क्रोध करू। एक जरा मेरे कान हिलाने मात्र से ये दिशा विदिशाओं की शरण लेने लगेगी अर्थात् सब भाग जाएँगी।' निदान श्रीपाल को तस्करों के द्वारा धवल सेठ को बाध कर ले जाते हुए देखना सहन नही हुआ। वे उठकर खड़े हुए कि इतने ही मे सेठ के आदमी रुदन करते हुए आये और करुणाजनक स्वर में बोले—"स्वामिन्। बचाओ देखो सेठ को डाकू लोग बाँध लिए जा रहे है।" सो एक तो वैसे ही श्रीपाल जी को क्रोध उत्पन्न हो गया था फिर दीनों की दीन वाणी ने मानो अग्नि मे घी छोड़ दिया हो। इस तरह वह क्रोध और भी जोर पकड़ गया। वे बोले—"हे वीरो!

धैर्य रखो। चिन्ता न करो, मैं देखता हूँ चोरों में कितना बल है ? बात की बात में सेठ को छुड़ाकर लाता हूँ।" श्रीपाल जी के वचनो से सबको सन्तोष हुआ और श्रीपाल जी ने तुरन्त ही शस्त्र धारण कर चोरों को सामने जाकर ललकारा—"हे नीचो ! क्या तुम मेरे सामने सेठ को ले जा सकते हो ? कायरो ! खड़े रहो या तो सेठ को छोड़ कर क्षमा माँगो नही तो तुम अब अपना वध ही जानों।" श्रीपाल की यह सिंह गर्जना सुनकर वे डाकू मृगदल के समान तितर-बितर हो गए तथा किसी प्रकार अपना बचाव न देखकर थरथर कांपने लगे। निदान यह सोचकर कि यदि मरना होगा तो इन्ही के हाथ से मरेगे, अब तो इनकी शरण लेना ही श्रेष्ठ है। यदि इन्हें दया आ गई तो बच ही जाएगे और जो भागेगे तो यह एक-एक को पकड़ कर समुद्र में डुबो कर नाम निशान मिटा देगें। यह सोच कर श्रीपाल की शरण में आए और सेठ का बन्धन छोडकर नतमस्तक होकर बोले—"स्वामिन् ! हम लोग आपकी शरण में है जो चाहें जो सजा दीजिए।" तब श्रीपाल ने धवल सेठ से पूछा—"हे तात। इन लोगों के लिए क्या आज्ञा है ?" धवल सेठ तो क्रूर चित्त, अविचारी तथा लोभी था। मन्त्रणा करके बोला—"इन सबको बहुत कष्ट देकर मार डलना चाहिए।" श्रीपाल जी ऐसे कठोर वचन सुनकर बोले—"से तात ! उत्तम पुरुषो का कोप क्षण मात्र होता है और शरण में आए हुए को जो भी मारता है वह महा निर्दयी अधोगति का अधिकारी होता है। दयालु मनुष्यों का भूषण और दया ही धर्म का मूल है। दया के बिना जप, तप, व्रत, उपवास आदि आचरण करना केवल कषायमात्र है। अतएव मनुष्य मात्र को दया को कभी नही छोड़ना चाहिए और फिर जब हम सरीखे पुरुष आपके साथ मौजूद है फिर आपको चिन्ता ही किस बात की है ?" तब लज्जित होकर सेठ ने कहा—"कुमार आपकी इच्छा हो सो करो। मुझे उसी से सन्तोष है।"

तब श्रीपाल जी इस प्रकार उन चोरों को लेकर अपने जहाज पर आए और उन सबके बन्धन खोल कर बोले—"हे वीरो ! मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हे बहुत कष्ट दिया। आप यदि हमारे स्वामी को पकडकर नही ले जाते तो यह समय आता ही नही।" इत्यादि सबसे क्षमा माग कर सबको स्नान कराया और वस्त्राभूषण पहनाकर सबको पंचामृत का भोजन कराया तथा पान, इलायची व इत्र, फुलेल आदि द्रव्यों से भली प्रकार सम्मानित किया। वे डाकू श्रीपाल जी के इस वर्ताव से अति प्रसन्न हुए और सहस्त्र मुख से स्तुति करने लगे और अपना मस्तक श्रीपाल के चरणों मे रख कर बोले—'हे नाथ ! हम पर कृपा करो ! धन्य हो आप। आपका नाम चिरस्मरणीय है।" इस प्रकार परस्पर मिलकर वे डाकू श्रीपाल से विदा होकर अपने घर गए और श्रीपाल तथा धवल सेठ आनन्द से मिलकर समय व्यतीत करने लगे और अपनी आगामी यात्रा का विचार कर प्रयाण करने को उद्यत हुए। वे डाकू लोग श्रीपाल से विदा होकर अपने स्थान पर गए और श्रीपाल के

साहस और पराक्रम की प्रशसा करने लगे—'धन्य है उस वीर का बल कि जिसने बिना हथियार एक लाख डाकू बाँध लिए और फिर सबको छोड़ कर उनके साथ बडा अच्छा सलूक किया, इसलिए इसको इसके बदले अवश्य ही कुछ भेट करना चाहिए क्योकि अपने लोगों ने बहुत से डाके मारे और अनेक देशो मे अनेक पुरुष देखे है परन्तु आज तक ऐसा कभी नही देखा है। इसने पूर्व जन्मो में अवश्य ही महान तप किया है या सुपात्र दान दिया है इसी का यह फल है'—ऐसा विचार कर वे चोर बहुत सा द्रव्य लेकर और सात जहाज रत्नो से भरे हुए अपने साथ ले श्रीपाल के निकट आये और विनय सहित स्तुति कर वे जहाज द्रव्य सहित भेट कर विदा हो गए। सो ठीक कहा है—'पुण्य से क्या काम नही हो सकता है।' पुण्य की महिमा अचित्य है। ऐसा जान सब पुरुषो को पुण्य सम्पादन करना चाहिए। इस प्रकार श्रीपाल जी उन डाकुओं से रत्नों के भरे सात जहाज भेट स्वरूप लेकर उन्हे अपना आज्ञाकारी बना धवल सेठ के साथ समुद्र यात्रा करते हुए कुछ दिनो में हसद्वीप मे जा पहुचे। यह द्वीप वन, उपवनो से सुशोभित रत्न, सुवर्ण, रुप्य ताम्रादि खानो और सुन्दर, २सुगन्धित वृक्षो तथा मनोज्ञउतग मदिरो से परिपूर्ण स्वर्ण पुरी के समान मनोहर मालूम होता था। इस द्वीप का राजा कनककेतू और रानी कचनमाली थी। इसके दो पुत्र और रयणमजूषा नाम की एक कन्या थी। जब वह यौवन अवस्था मे पदार्पण करने लगी तो राजा को उसके वर के अनुसधान करने की चिन्ता व्यापने लगी। महाराज कनककेतू ने एक समय मुनिराज से पूछा—"भगवान्! मेरे मन में एक चिन्ता उत्पन्न हुई है कि मेरी पुत्री रयणमजूषा का वर कौन होगा, सो मुझ पर कृपा कर मुझे चिन्तासागर से निकाल सुखी कीजिए जिससे मेरा सशय दूर हो।"

तब वे परम दयालु मुनिवर बोले—"राजन्! जो सहस्त्रकूट चैत्यालय के कपाट अपने कर कमलो से खोलेगा वही निश्चय करके तेरी पुत्री का स्वामी होगा।" तब राजा प्रसन्न हो नमस्कार कर अपने घर पर आया और आते ही अपने नौकरो को आज्ञा दी कि —"जाओ तुम लोग सहस्त्रकूट चैत्यालय के द्वार पर पहरा दो और जो पुरुष आकर वहाँ के कपाट खोले उसी समय आकर हमको खबर दो और उस पुरुप का भली प्रकार सम्मान करो।" राजा की आज्ञा पर नौकरो ने उसी समय से वहाँ पर पहरा देना आरम्भ कर दिया तथा उसी समय धवल सेठ के जहाजों के साथ श्रीपाल जी का शुभागमन हुआ। यहाँ की शोभा और इसे व्यापार के लिए उत्तम स्थान देखकर जहाजो के लगर डाल दिए गए तथा नगर के निकट डेरा डाला गया। धवल सेठ आदि पुरुप व्यापार की खोज मे बाजार की हलचल देखने के लिए नगर मे गए और श्रीपाल जी भी गुरु वचन को स्मरण करके कि 'जहाँ जिन मन्दिर हो वहा पर प्रथम ही जिन दर्शन करके सारे कार्य करना और नित्य षट् आवश्यक कार्यों को यथाशक्ति पूर्ण करना'—यह विचार कर जिनमन्दिर की खोज मे गए। वे अनेक प्रकार नगर की शोभा देखते और मन को आनन्द युक्त करते हुए एक अति

ही रमणीक स्थान में आए और वहाँ अति विशाल व उनग स्वर्ग सा बना हुआ सुन्दर मन्दिर देखा। उसे देखते ही आनन्दित हो मन्दिर के द्वार पर जाकर देखा कि दरवाजा वज्रमयी किवाड़ों से बन्द था। तब वे पहरेदार विनय सहित कहने लगे—

"हे स्वामिन्! यह श्री जिन मन्दिर है। वज्र के कपाटो से बन्द कराया गया है। इसमें और कुछ विकार नहीं है परन्तु आज तक ये किवाड किसी से नही खोले गए हैं। अनेकों योद्धा आये और अपना-२ बल लगाकर थक गए परन्तु ये कपाट नही खुले हैं।" श्रीपाल जी द्वारपालों के वचन सुनकर चुप हो गए तथा मन में हर्षित हो सिद्ध चक्र का आराधन कर ज्यों ही उन किवाडो पर हाथ लगाया त्यों ही वे किवाड़ खट से खुल गए। श्रीपाल ने हर्षित होकर—

'जय नि' सही, जय नि मही, जय नि. सही, जय, जय, जय' इत्यादि शब्दो का उच्चारण करते हुए मन्दिर के मध्य प्रवेश किया और श्री जिन के सन्मुख खडे होकर मधुर स्वर से स्तुति पाठ पढ़ने लगे। तदनतर सामायिक, वन्दना, आलोचना, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग आदि षट् आवश्यक कार्य कर स्वाध्याय करने लगे और वे द्वार पाल जो पहरे पर थे ऐसे विचित्र शक्तिधर पुरुष को देख कर आश्चर्यान्वित हुए। उनमें से कुछ तो वहाँ ही रहे और कुछ राजा के पास गए। उन्होने जाकर सम्पूर्ण वृतान्त राजा से कह सुनाया। राजा यह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और समाचार देने वालो को बहुत कुछ परितोषिक दिया। पश्चात् आप बडे उत्साह से मन्त्री गणो को साथ लेकर समारोह के साथ सहस्त्रकूट चैत्यालय पहुचे तथा सानन्द भक्ति पूर्वक प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। पश्चात् भगवान की स्तुति करने लगे। स्तुति करने के पश्चात् श्रीपाल के निकट आये और यथा योग्य अभिवादन आदि के पश्चात् कुशलक्षेम और आगमन का कारण पूछने लगे —"हे कुमार! आपका देश कोन-सा है? किस कारण यहाँ तक आगमन हुआ है?" इत्यादि प्रश्न राजा ने किए। तब श्रीपाल जी मन मे विचारने लगे 'यदि मैं अपने मुख से अपना वृतान्त कहूगा तो राजा को निश्चय होना कठिन है क्योकि इस समय मेरे कथन की साक्षी करने वाला कोई नहीं है सो बिना साक्षी सच भी झूठा हो जाता है। अब राजा को किस प्रकार उत्तर दू जिससे भ्रम मिटे' इत्यादि सोच विचार कर ही रहे थे कि पूर्व पुन्य के योग से दो मुनि राज विहार करते हुए कही से वहा आ गए। सो ये दोनो उन दोनो को देख कर परमानंदित हो उठ खड़े हुए और बड़ी विनय से स्तुति करने लगे। तदनन्तर गुरु की स्तुति करके वे दोनों अपने-२ स्थान पर बैठ गए और श्रीगुरु ने उनको धर्म वृद्धि दे कर ससार सागर तारक सद्धर्म का उपदेश दिया जिसे उन्होंने ध्यान-पूर्वक सुनकर हृदय में धारण किया। पश्चात् राजा कनककेतू ने विनयपूर्वक पूछा—"हे प्रभो! यह पुरुष (श्रीपाल) कौन है और किस कारण से यहाँ आया सो सब वतान्त कहिए?" तब मुनि राज ने श्रीपाल का कुष्ट

रोग से व्यथित होना, जिसके कारण मे स्वदेश को छोड़कर सात सौ सखाओं सहित वन में रहना, वहां पर पूर्व पुण्योदय से राजा पदुपाल का सयोग होना तथा प्रसन्न होकर उज्जैन ले जाकर मैनासुन्दरी का विवाह होना आदि समस्त वृतान्त सविस्तार ज्यो का त्यों कह सुनाया। श्रीपाल का चरित्र सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और मुनिवरो को नमस्कार कर श्रीपाल जी को साथ ले अपने महल को आया तथा शुभ घड़ी व शुभ मुहूर्त विचार कर अपनी पुत्री रयणमंजूषा का विवाह उनके साथ कर दिया। इस प्रकार श्रीपाल रयणमजूषा से शादी करके वहा पर सुख पूर्वक समय व्यतीत करने लगे तथा धवल सेठ भी यथा योग्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने लगे। कुछ समय के अनन्तर जब धवल सेठ व्यापार कर चुके थे तब श्रीपाल से सहमत होकर राजा के पास आए और विनीत भाव से कहने लगे :—

"हे नरनायक ! प्रजा वत्सल स्वामी ! हमको आपके प्रसाद से बहुत आनन्द रहा तथा हमने बहुत सुख भोगा। अब आपकी आज्ञा हो तो हम लोग देशान्तर को प्रयाण करे।" यद्यपि राजा को सेठ के ये वचन अच्छे नही मालूम होते थे परन्तु ये सोचकर कि यदि हम उन्हे हठ पूर्वक ठहराये रक्खेगे तो इन्हे अ तरग मे दु.ख होगा। अतएव इनकी अभिरुचि के अनुकूल ही करना उचित है।

अत वे उदास होकर बोले—"आप लोगो की जैसी इच्छा हो और जिस तरह आपको हर्ष हो सो ही हमको स्वीकार है।" इस प्रकार इनके वचन स्वीकार कर देशातर को गमन करने की आज्ञा दे दी और बहुत-सा धन, धान्य, दामी, दास, हिरण्य, सुवर्णादि तथा अमूल्य रत्न भेंट देकर जिन पुत्री रयणमजूषा को विदा कर दिया। चलते समय राजा बहुत दूर पहुँचाने को गये। पश्चात् श्रीपाल और धवल सेठ से अपनी क्षमा माँग कर राजा निकटवर्ती मनुष्यो सहित लौट कर अपने निवास स्थान पर आए। श्रीपाल ने वहा से विदा होकर और रयणमजूषा को साथ लेकर हस द्वीप से प्रायण किया। श्रीपाल जब रयणमजूषा को साथ लेकर धवल सेठ के साथ जलयात्रा करने लगे तब राजा और हसद्वीप के अन्य मनुष्यों को इनके वियोग से बडा दु ख हुआ। श्रीपाल को ससुर के छोडने मे तथा रयणमजूषा को माता-पिता के छोड़ने का भी इतना ही रज हुआ जितना कि उनको हुआ था। परन्तु वे ज्यो-ज्यो दूर-दूर निकलते जाते थे त्यो-त्यो परस्पर की याद भूलने मे दु ख कम हो जाता था। ये दपति सुख पूर्वक समय व्यतीत करके सर्वसघ मन रजायमान करते हुए चले जा रहे थे। सब जहाजो के स्त्री-पुरुषों मे इन दोनो के पुण्य की महिमा कही जाती थी। ये दोनो सबके दर्शनीय हो रहे थे परन्तु दुष्ट कर्म इनके इस आनन्द को सहन नही कर सका इस-लिए उसने इनके सुख मे बाधा डालनी आरम्भ कर दी अर्थात् वह कृतघ्नी बणिक (धवलसेठ) जो इनको धर्म सुत बनाकर और दशवं भाग द्रव्य देने का प्रण करके साथ लाया था रयणमजूषा की अनुपम स्वर्गीय सुन्दरता देखकर मोहित हो गया और निरतर उसी की

प्राप्ति के उपाय की चिंता में क्षीण शरीर होने लगा। एक दिन वह दुष्टमती रयणमजूषा का अवलोकन कर मूर्छित हो गया और गिर पड़ा जिससे सब जहाजो में बड़ा कोलाहल मच गया श्रीपाल भी वहाँ पर दौड़ें आए। आते ही धवल सेठ को मूर्छित पड़े हुए देख, गोद में उठा लिया और शीतल उपचार करके जैसे-तैसे उनकी मूर्छा दूर की। जब वह कुछ सचेत हुआ तो श्रीपाल नें उसको वेदना से बहुत पीड़ित देखा। तब श्रीपाल ने बहुत मिष्ठ नम्र वचनों से पूछा—"हे तात! आपको क्या वेदना है सो कृपा कर कहिये जिससे उसका प्रतिकार किया जाए।" तब सेठ ने अतरग कपट रख बात बनाकर कहा—

"हे वीर! मुझको वात रोग है। सो दस पाच वर्ष में कभी-कभी अकस्मात् मुझे इस रोग का आक्रमण हो जाया करता है। औषधि सेवन करने से साता हो जाएगी। आप चिता न करे।" तब श्रीपाल उनको धैर्य देकर और अगरक्षको को ठीक सेवा सुश्रूषा करने की ताकीद करके अपने निवास स्थान पर चले आए। पश्चात् मंत्री गणो ने उससे पूछा—"सेठ जी! कृपा करके कहिए आपको क्या रोग है और इसका क्या प्रतिकार किया जाए जिससे आपको साता हो।" तब धवल सेठ ने लज्जाशून्य होकर कहा कि—"हे मत्रीगणो मुझे और कोई रोग नही है, केवल विरह की पीडा है सो यदि वह कोमलागी मुझे नही मिलेगी तो मेरा जीवित रहना महा कष्ट साध्य है। अतएव तुम लोग मेरा जीवन चाहते हो तो जिस प्रकार बने उसी प्रकार उसे प्राप्त करने का उपाय शीघ्र ही कीजिए।" मत्रियो को सेठ के ऐसे निद्य वचन सुनकर बहुत घृणा हुई। वे विचारने लगे कि सेठ की बुद्धि नष्ट हो गई है। इस कुबुद्धि का फल समस्त सघ का क्षय होना प्रतीत होता है। यह सोचकर मत्रीगणो ने शास्त्रीय आख्यानो तथा युक्तियो द्वारा बहुत कुछ समझाया परन्तु उसके हृदय मे एक वाक्य भी प्रवेश न कर सका जिस प्रकार चिकने घडे पर जल नही ठहरता। वह बारम्बार उन्ही वाक्यो को कहता रहा। निदान मत्रियो ने कहा—"सेठ जी! देखो हठ छोडो। हम तो आपके आज्ञाकारी है। जैसी आपकी आज्ञा होगी वैसा ही करेंगे परन्तु स्वामी के हित-अहित और लाभ-हानि की सूचना स्वामी को कर देना हमारा धर्म है। हम लोगो की बात पीछे याद करोगे।" परन्तु जब देखा कि सेठ नही मानता तब वे बोले—"हे सेठ! इसका केवल एक ही उपाय है कि मरजिया को बुलाकर साध लिया जाय कि एका-एक कोलाहल मचा दे कि आगे न मालूम जानवर है या चोर है। या कुछ दैवी चरित्र है। दौड़ो उठो सावधान होओ। सो इस आवाज से श्रीपाल जब मस्तूल पर चढ़ कर देखने लगेंगे। तब मस्तूल (जहाज का खभ जिस पर चढ़कर दूर तक समुद्र मे देख सकते है) काट दिया जाए। इस तरह वे समुद्र में गिर जाएगें तथा आपका मनवाछित कार्य सिद्ध हो जएगा अन्यथा उसके रहते उसकी प्रिया को पाना ऐसा है जैसा कि अग्नि मे से बर्फ निकालना है।" मंत्रियो का यह विचार उस पापी को अच्छा मालूम हुआ और उसने तुरन्त मरजिया

(खबर देने वाले) को बुलाकर सब प्रकार से सिखा दिया। सो ठीक है—'कामी पुरुष स्वार्थ वश आने वाली आपत्तियों का विचार नही करते।' निदान एक दिन अवसर पाकर मरजिया ने एकाएक चिल्लाना आरम्भ कर दिया—"वीरो सावधान हो जाओ सामने भय के चिन्ह दिखाई दे रहे है न मालूम बडा जल जन्तु है या चोर दल अथवा ऐसा ही कोई दैवी चरित्र है, तूफान है या भवर है कुछ समझ नही आता।" इस प्रकार उसके चिल्लाने से कोलाहल मच गया। सब लोग जहाँ तहाँ क्या है करके चिल्लाने और पूछने लगे। क्या है इतने मे श्रीपाल जी को खबर लगी सो वे तत्काल ही आए और कहने लगे—"अलग हो वो 'यह क्या है' कहने का समय नही है। चलकर देखना और उसका उपाय करना चाहिए।" ऐसा कह कर वे आगे बढे और शीघ्र ही मस्तूल पर जा खडे हुए। बडे गौर मे चारो ओर देखने लगे परन्तु कुछ दृष्टिगोचर नही हुआ। इतने में नीचे से दुष्टो ने मस्तूल को काट दिया। इससे वे (श्रीपाल) बात की बात मे समुद्र मे जा पडे और लहरो मे ऊंचे नीचे होने लगें। यहाँ (जहाजो में) कोलाहल मचा दिया कि मस्तूल टूट जाने से श्रीपाल जी समुद्र में गिर पड़े और अब उनका पता नही है कि लहरों में कहाँ गुम हो गए। जीवित है या मर गए। सबने शोक मनाया और धवल सेठ ने भी बनावटी शोक मनाना आरम्भ किया। वह कहने लगा—"हाय कोटि भट्ट! तुम कहाँ चले गए? तुम्हारे बिना यह यात्रा कैसे पूर्ण होगी। हाय जहाजो को अपनी भुजाओ के बल से चलाने वाले। लक्ष चोरो को बाँध कर बन्धन से छुडाने वाले। हाय कहा चले गए? हे कुमार! इस अल्प आयु में असीम पराक्रम दिखा कर क्यो चले गए? तुम्हारे बिना विपत्तियो मे कौन हमारी रक्षा करेगा? हा देव! तूने यह रत्न दिखाकर क्यो छीन लिया?" इत्यादि केवल ऊपरी मन से बनावटी रोने लगा अतरग में तो हर्ष के मारे फूल कर कुप्पा हो गया था।

जिस समय उस अबला रयणमजूषा ने यह सुना कि स्वामी समुद्र मे गिर गए है उसी समय वेसुध होकर वह भूमि पर मूर्छित होकर गिर पडी। तब सखी जनो ने शीतलो पचार कर मूर्च्छा दूर की तो सचेत होते ही "हे स्वामिन्! इस अबला को छोडकर तुम कहाँ चले गए, तुम्हारे बिना यह जीवन यात्रा कैसे पूरी होगी? हे स्वामिन! अब यह अबला आपके दर्शन की प्यासी पपीहे की तरह से व्याकुल हो रही है। तुम्हारे बिना मुझे एक पल भी चैन नही पडता है। हे जीव दया पालक स्वामिन्। दासी पर कृपा दृष्टि करो। मेरा चित्त अधीर हो रहा है। नाथ! यदि मुझसे सेवा में कोई कमी हो गई थी तो मुझे उसका दण्ड देते। अपने आपको दुःख सागर मे क्यो डुबोया? अब बहुत देर हो गई अब प्रसन्न हो जाओ और इस अबला को जीवन दान दे दो, नही तो ये प्राण आपके ऊपर न्यौछावर है। हाय हे प्रभो। अब आपकी ही शरण में हू। पार कीजिए।" इस प्रकार रयणमजूषा ने घोर विलाप किया। उसका शरीर कुम्हलाकर कुम्हलाए पुष्प के समान प्रभाव हीन हो गया।

खान-पान छूट गया तथा शृंगार भी। इस प्रकार उस सती को दुख से व्याकुल देख कर सब लोग यथा सम्भव धैर्य बँधाने लगे और पापी धवल सेठ भी बनावटी शोकाकुल होकर समझाने लगा—

"हे सुन्दरी! अब शोक छोड़ो। होनी अमिट है। इस पर किसी का वश नहीं है। ससार का सब स्वरूप ऐसा ही है। जो उपजता है वह नियम के अनुसार नष्ट हो जाता है। अब शोक करने से क्या हो सकता है? अब यदि तू उसके लिए मर भी जाएगी तो भी वह तुझे नही मिलेगा। इस पृथ्वी पर बड़े चक्रवर्ती नारायणादि हो गए परन्तु काल ने सबको ग्रास बना लिया। इसलिए शोक छोड़ो। हम लोगो को भी असीम दुःख हुआ है परन्तु किस से कहे और क्या करे कुछ उपाय नही है?" इस प्रकार सबने विचार कर समझा कर रयणमजूषा को धैर्य दिया। तब उस सती ने भी वस्तु स्वरूप का विचार कर किसी प्रकार शोक कम किया और अनादि निधन मगल रूप लोक में उत्तम शरणाधार पंच परमेष्ठी मत्र का मन में आराधन करने लगी। खान-पान की सुध न रही। यो ही दो चार दिन बीत गए। स्नान विलेपन और वस्त्राभूषण का ध्यान ही नही किया था। वह किसी से बात भी नही करती थी। न किसी की तरफ देखती थी। उसको तो केवल पंच परमेष्ठी का स्मरण और पति का ध्यान था। वह पतिव्रता उन जहाजो मे इस प्रकार रहती थी जैसे जल से कमल भिन्न रहता है। वह परमवियोगिनी इस प्रकार समय व्यतीत करने लगी। धवल सेठ के ये दिन बडी कठिनता मे बीत रहे थे इसलिए उसने शीघ्र ही एक दूती को बुलाकर रयणमजूषा को डिगाने के लिए भेजा सो व्यभिचार की खान पापिनी दूती लोभ के वश होकर शीघ्र ही रयणमजूषा के पास आ गई और यहाँ वहाँ की बाते बनाकर कामोत्पादक कथा सुनाकर अपना कार्य सिद्ध करने के लिए कहने लगी "हे पुत्री! धैर्य रखो। जो होना था सो हुआ। गई बात का विचार ही क्या करना है? हाँ यथार्थ में तेरे दुःख का क्या ठिकाना है इस बाल्यावस्था मे पति का वियोग हो गया है। इस बात की कुछ चिन्ता नही है परन्तु काम का जीतना बडा कठिन है। तू उस काम के बाणो को कैसे सहेगी जिस काम के वश होकर साधू और साध्वी ने रुद्र व नारद की उत्पत्ति की, जिस काम से पीडित होकर रावण ने सीता का हरण किया जिस काम के वश मे और तो क्या देव भी है उस काम को जीतना बहुत कठिन है अब तू श्रीपाल का हठ छोड़ कर इस परम ऐश्वर्यवान, रूपवान धनवान सेठ को अपना पति बना ले। मरे के पीछे कोई मरा नही जाता है। ऐसी लज्जा से क्या लाभ, जो जिन्दगी के आनन्द पर पानी डाल दे और वह तो धवल सेठ का नौकर था? सो जब मालिक ही मिल जाए तो नौकर की क्या चाह करना? मुझे तेरी दशा देखकर बहुत दुःख होता है। अब तू प्रसन्न हो और सेठ को स्वीकार कर तो मै अभी जाकर उस सेठ को भी राजी कर लाती हूँ। मै वृद्धा हूँ इसलिए मुझे ससार का अनुभव भली प्रकार है।

तू अभी भोली नादान है। इसलिए मेरे वचन मानकर सुख से समय बिताओ"--इत्यादि अनेक प्रकार से उस कुटिल दासी ने उसे समझाया परन्तु जिस तरह काले कम्बल पर और कोई रंग नहीं चढ़ता उसी तरह सती के मन पर एक बात भी नही जमी। इस पापिन दूती का जादू उस पर नहीं चला। वह कुलवती सती उस दूती के ऐसे निन्दनीय वचन सुनकर क्रोध से काँपने लगी और झिझकार कर बोली—"बस चुप रह। दुष्ट पापिन! तेरी जीभ के सौ टुकड़े क्यो नही हो जाते है? वह धवल सेठ मेरे पति का धर्म पिता और मेरे श्वसुर पिता समान है। क्या पिता और पुत्री का संयोग हो सकता है? पापिन तूने जन्मान्तरो मे ऐसे नीच कर्म किए जिससे कुटनी रडी हुई और न मालूम तेरी क्या गति होगी? इस जन्म में रयणमंजूषा का पति केवल श्रीपाल ही है तथा पुरुष मात्र उसको पिता, पुत्र, व भाई तुल्य है। हट जा यहाँ से। मुझे अपना मुह मत दिखाना। शीघ्र ही यहाँ से चली जा, नही तो इसका बदला पाएगी।" इस प्रकार सुन्दरी ने जब उसे झिझकारा तब अपना सा मुह लेकर काँपती हुई वह पापिन सेठ के पास आयी और बोली—

"हे सेठ! वह मेरे वश की नहीं है। मुझे तो उसने बहुत अपमानित करके निकाल दिया। जो थोड़ी देर और भी ठहरती तो न जाने मेरी वह क्या दशा करती। इसीलिए आप जानो व आपका काम जाने। मुझसे तो हो नही सकता है।" दूती ऐसा उत्तर देकर चली गई। जब धवल सेठ ने दूती से यह कृत कार्य न हुआ जाना तब वह कामांध पापी निर्लज्ज होकर स्वय उस सती के निकट पहुँचा और समीप बैठ कर विष-लपेटी छुरी के समान मीठे शब्दों में हंस-हस कर कहने लगा—

"हे प्रिये! रयणमजूषा! तुम भय मत करो। सुनो मैं तुमसे श्रीपाल कीकथा कहता हूँ। वह दास था उसको मैंने मोल लिया था। वह कुलहीन और वशहीन था और बडा प्रपची, झूठा तथा निर्दयी चित्त था। ऐसे पुरुष का मर जाना ही अच्छा है। तू व्यर्थ उसके लिए इतना शोक कर रही है। अब उसका डर भी नही रहा है क्योकि उसको गिरे हुए कई दिन हो चुके हैं। सो जलचरों ने उसके मृतक शरीर को खा लिया होगा। अब नि शंक हो जाओ। तू अब निःशंक होकर मेरी ओर देख। तू मेरी स्त्री और मैं तेरा स्वामी हूँ। मैं तुझको सब स्त्रियो में मुख्य बनाऊँगा और स्वप्न मे भी तेरी इच्छा के विरुद्ध न होऊगा। अब तू देर मत कर, जो कुछ कहना हो दिल खोलकर कह दे। मै सब कुछ कर सकता हूं। मेरे द्रव्य का भी कुछ पार नही है। राजाओ के यहाँ भी जो सुख नही है वह मेरे यहाँ है। केवल तेरी प्रसन्नता की ही कमी है सो इसे पूर्ण कर दे"—इत्यादि नाना प्रकार से वह दुष्ट बकने लगा। उस समय उस सती का दु ख वही जानती थी क्योकि शीलवती स्त्रियो को शील से प्यारी वस्तु ससार में कुछ नहीं होती। वे शील की रक्षा करने के लिए प्राणो को भी न्यौछावर कर देती है। वह बोली—

" हे तात ! 'आप मेरे स्वामी के पिता हो और मेरे श्वसुर। श्वसुर और पिता में कुछ अन्तर नहीं होता। मैं आपकी पुत्री हूँ। चाहे अचल सुमेरु चलायमान हो जाए पर पिता पुत्री पर कुदृष्टि नहीं कर सकता। प्रथम मेरे कर्म ने मेरे भरतार का वियोग कराया और अब दूसरा उससे भी कई गुणा दुःख यह आया। यदि कोई 'और यह कहता तो आपसे पुकार करती। आपकी पुकार किससे करूँ ? अपने कुल व धर्म को देखो। बड़े कुलवानों का धर्म है कि अपने और दूसरों के शील की रक्षा करे। देखो रावण व कीचक आदि पर स्त्री की इच्छा कर अपयश बांध कर नरक को चले गए। इसीलिए हे पिता जी ! अपने स्थान को जाओ और मुझ दीन को दुःखी मत करो कृपा करो और यहाँ से पधारो।" परन्तु जैसे पित्त ज्वर वाले को मिठाई भी कड़वी लगती है। उसी तरह काम ज्वर वाले को धर्म वचन कहां अच्छे लगते है। वह निर्लज्ज फिर भी कामातुर हुआ यद्वा-तद्वा बकने लगा। उस सती ने जब देखा कि यह दुष्ट नीति से नही मानता और यह अवश्य ही बलात मेरा शरीर स्पर्श करेगा। तब उसने क्रोध से भयकर रूप धारण कर कहा--

"रे दुष्ट पापी ! तेरी जिह्वा क्यो नही गल जाती ? हे नीच बुद्धि निशाचर। तुझे ऐसे घृणित शब्दों को कहते हुए लज्जा नही आती है ? हे धीठ ! अधम क्रूर। तू पशु से भी महान् पशु है। क्या तेरी शक्ति है जो शील धुरधर स्त्री का शील हरण कर सकेगा ? तू और चाहे सो कर सकता है। परन्तु मेरे शील को कभी नही बिगाड़ सकता है। श्रीपाल ही मेरा स्वामी है। अन्य सभी पिता, भ्राता के समान हैं। हे निर्लज्ज। मेरे सामने से हट जा नहीं तो अब तेरी भलाई नहीं है।" वह पापी इससे नही डरा और आगे को बढा। यह देख उस सती को चेत न रहा। कुछ देर तक चित्र लेखवत् रह गई। परन्तु थोड़ी देर मे वह जोर से पुकारने लगी—"हे दीन बन्धु ! दया सागर ! शरणागत प्रतिपालक ! इस अधर्मी निर्लज्ज सेठ के अन्याय मे मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार भगवान की स्तुति कर रही थी कि इतने में उसके पुण्य के प्रभाव से नही किन्तु उस सती के अखण्ड-शील के प्रभाव से वहा तत्काल जल देव व जलदेवी उपस्थित हो गये और उन्होने धवल सेठ की मसक बाध ली तथा गदा से बहुत मार लगाई। आखों में बालू भर दी। मुख काला कर दिया। इत्यादि अनेक प्रकार से उसकी दुर्दशा की और बहुत ही दंड दिया। सब लोग इस घटना को देखकर एक-दूसरे के मुंह की तरफ देखने लगे। बचावें किससे क्योंकि मार ही मार दिख रही थी, परन्तु मारने वाला कोई दृष्टिगोचर नही होता था। अंत में मत्री लोगों ने यह विचार कर कि कदाचित् दैवी चरित्र हो, इसके सतीत्व-धर्म से धर्म सहायक हुआ हो, रयणमजूषा के पास आए और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे—
"हे कल्याण रूपिणी पतिव्रते। धन्य है तेरे शील के माहात्म्य को। हम लोग तेरे माहात्म्य को, गुणों की महिमा को बिल्कुल कहने में समर्थ नही है। तू धर्म की सेवक और जिन शासन के व्रतों में लवलीन है। तेरे भावों को इस दुष्ट ने न समझकर अपनी नीचता दिखाई

अब हे पुत्री ! दया करो। इस समय केवल इस पापी का ही विनाश नही होता है। परन्तु हम सब का भी नाश हुआ जाता है। सब अब तेरी शरण मे है।" उन लोगों के दीन वचनों पर इस सती को दया आ गई। तब वह क्रोध को छोडकर खडी हो प्रभु की स्तुति करने लगी—"हे जिननाथ! धन्य हो। सच्चे भक्त वत्सल हो। ऐसे कठिन समय में इस अबला की सहायता की। अब हे प्रभु! आपके प्रसाद से जिस किसी ने मेरी सहायता की हो सो इन दीनों पर दया करके छोड दो" —यह सुनकर उस जल देवी ने उसे बहुत कुछ शिक्षा देकर छोड दिया और रयणमजूषा को धैर्य देकर बोली—"हे पुत्री तू चिन्ता मत कर। थोडे ही दिन में तेरा पति तुझसे मिलेगा और वह राजाओ का भी राजा होगा। तेरा सम्मान भी बहुत बढेगा हम सब तेरे आस पास रहने वाले सेवक है। तुझे कोई भी हाथ नही लगा सकता है।" इस प्रकार वे देव-देवी धवल सेठ को उसके कुकर्मों का दंड देकर और रयणमजूषा को धैर्य वधाकर अपने-अपने स्थान को गए और उस सती ने अपने पति के मिलने का समाचार सुनकर व शीलरक्षा से प्रसन्न होकर प्रभु की बडी स्तुति की। वह अनशन ऊनोदर आदि करके अपना काल व्यतीत करने लगी और वह पापी धवल सेठ लज्जित होकर उसके चरणों में मस्तक झुकाकर बोला—"हे पुत्री! अपराध क्षमा करो। मै वडा अधम पापी हू और तुम सच्ची शील धुरधर हो।"

तब साध्वी रयणमंजूषा ने उसे क्षमा कर दिया।

अब इस वृत्तान्त को यही छोड़कर श्रीपाल व्यवस्था विवरण लिखते है—

श्रीपाल जब समुद्र में गिरे तब ही से उन्होने यह तो जान लिया था कि यह सब मायाजाल धवल सेठ का है परन्तु 'उत्तम पुरुष किसी की साक्षी व निर्णय हुए बिना किसी पर दोषारोपण नही करते अपितु अपने ऊपर आए हुए उपसर्ग को पूर्वोपार्जित कर्मोदय जनित जानकर समभावो से सहन करते है' इसीलिए श्रीपाल अपने भावो को किंचित् भी मलिन न कर पंचपरमेष्ठी मंत्र का अराध्यन करके इसी सहारे से समुद्र से तिरने का प्रयत्न करने लगे। तिरते हुए उन्हे समुद्र की लहरो से उछलता हुआ एक लकडी का तख्ता दृष्टिगत हुआ तो उसे पकडकर उसी के सहारे से तिरने लगे। जब नीद आती तो उसी तख्ते पर आलस्य मिटा लेते थे। इनके लिए दिन-रात समान ही था। खाना-पीना केवल एक जिनेन्द्र का नाम ही था और वही त्रिलोकी प्रभु उन्हे मार्ग बतलाने वाला था। वे इस प्रकार महामंत्र के प्रभाव से तिरते-तिरते वे महापुरुष श्रीपाल कुमकुम द्वीप मे जाकर किनारे लगे। वहाँ मार्ग के खेद से व्याकुल होकर निकट ही एक वृक्ष के नीचे अचेत हो सो गए।

इतने में वहाँ के राजा के अनुचर वहाँ पर आ पहुँचे और हर्षित होकर परस्पर कहने लगे—"धन्य है राजकन्या का भाग्य कि जिसके प्रभाव से यह महापुरुष अपने भुजबल

से अथाह समुद्र को पारकर आज तहाँ तक आ पहुँचा है। अब तो हम सब का हर्ष का समय आ गया है क्योंकि यह शुभ समाचार राजा को देते ही वे हम सबको निहाल कर देंगे। अहा ! यह पुरुष कैसे सुन्दर शरीर वाला है मानो विधाता ने इसका शरीर सांचे में ढालकर बनाया हो यह नागमार गन्धर्व और इन्द्र से भी अधिक सुन्दर है—" इत्यादि वे सब परस्पर बातें कर ही रहे थे कि श्रीपाल की निद्रा खुलगई। वे अकस्मात् उठ खड़े हुए और पूछने लगे—"तुम कौन हो ? यहाँ क्यो आए ? मुझसे क्यों डरते हो ? मेरी स्तुति क्यो करते हो ? यह नि.शक होकर कहो।"

तब वे अनुचर बोले— हे स्वामिन् ! कु कुमपुर का राजा सतराज और रानी बनमाला है। वे अपनी नीति और न्याय से सम्पूर्ण प्रजा के प्रेम पात्र हो रहे है। उस राजा के अनुपम सौन्दर्यवान् और गुण की खान, सर्व कला प्रवीण गुणमाला नाम की कन्या है। एक दिन राजा ने कन्या को यौवनावस्था मे पदार्पण करते हुए देखक मुनिराज से पूछा—"भग• वन्! इस कन्या का स्वामी कौन होगा ?"

तब मुनिवर ने कहा—"जो समुद्र तिरकर आएगा वही इसका वर होगा।"

उमी दिन से राजा ने हमको यहां रक्खा है सो हे स्वामिन् ! पधारा और अपनो नियोगिनी को ब्याहो।" इस प्रकार कितने ही अनुचर श्रीपाल को नगर का आर चलने के लिए विनता करने लगे और कितनो ने जाकर राजा का खबर दा। राजा न हर्षित होकर उन लोगो को बहुत इनाम दिया और उबटन, तेल, फुलेल, अगरजा आदि भेजकर श्रीपाल जी को स्नान कराया और सुन्दर वस्त्राभूषण भी धारण कराकर बड़े उत्साह से गाजे-बाजे सहित नगर मे लाए। प्रत्यक घर मे आनन्द मगल हाने लगा और राजा ने शुभ मुहूर्त मे निजपुत्री गुणमाला का पाणिग्रहण श्रीपाल से कराया तथा बहुत-सा दहेज, नगर, ग्राम, हाथी, घाड़े, असवार, पयादे और वस्त्राभूषण दिए। श्रीपालजो बिना प्रयास के अनायास स्त्री-रत्न को पाकर सुख से समय बिताने लगे। वे बहुत प्रसन्न हुए परन्तु जब कभी भी रयणमजूषा और मैनासुन्दरी की स्मृति हो आती थी उस समय उदास हा जाते थे।

दैवयोग से कुछ समय के अनन्तर धवल सेठ के जहाज भी चलते-चलते कु कुमद्वीप में आ पहुँचे सो वहाँ डेरा डालकर सेठ ने बहुत उत्तम मनुष्यो सहित अमूल्य वस्तुएं लेकर राजा के पास भेट मे दो। भेट पाकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और सेठ का बहुत सत्कार किया।

कुछ समय के पश्चात् एकाएक सेठ की दृष्टि वहाँ पर बैठे हुए श्रीपाल के ऊपर पड़ी। उसे देखते ही मुरझाये फूल की तरह कुम्हला गया, मुख श्याम दिखने लगा, श्वासोच्छ्वास की गति रुक गई, शरीर कांपने लगा परन्तु यह भेद प्रगट न होने पाए अतएव वह

शीघ्र ही राजा से आज्ञा मांगकर अपने स्थान पर आया और तुरन्त ही मन्त्रियों को बुलाकर विचारने लगा—"अब क्या करना चाहिए क्योकि जिसने मुझ पर बहुत उपकार किए थे और मैंने उसे समुद्र मे गिरा दिया था सो वह अपने बाहुबल से तिरकर यहाँ आ पहुँचा है और न मालूम उसकी राजा से कैसे पहचान हो गई ?"

तब एक वीर बोला—"हे सेठ ! पुण्य से क्या-क्या नही हो सकता है ? वह समुद्र तिरकर आया और राजा ने उसे अपनी गुणमाला नामक कन्या ब्याह दी ।"

इससे तो सेठ और भी दुःखी हो गया । ठीक ही है—'दुष्ट मनुष्य किसी की बढ़ती देखकर सहन नही कर सकते है ।' चोर साहू से भयभीत होता ही है और वह श्रीपाल का चोर था अतः वह मारे भय और चिन्ता के व्याकुल हो गया और भोजन-पान सब भूल गया । वह सोचने लगा कि किसी तरह इसका अपमान राजा के सामने कराया जाय तभी मैं बच सकूगा अन्यथा अब मुझे यह जीवित नही छोड़गा इसीलिए वह अपने मन्त्रिवरों से बोला कि कुछ ऐसा ही उपाय करना चाहिए । तब मन्त्रि बोले —"हे सेठ ! चिन्ता छोडो और उसी दयालु कुमार श्रीपाल का शरण ले लो तो तुमको कुछ भी बाधा न होगी और यह भेद भी कोई जानने न पायेगा ।" परन्तु यह बात सेठ को अच्छी नही लगी । तब उनमें से एक दुष्ट मन्त्री बोला—"सेठ जी ! क्या मृग सिह के सामने जाकर रक्षा पा सकता है, कदापि नहीं । इसी प्रकार आपने जिसके साथ भलाई के बदले बुराई की है सो क्या वह अब अवसर मिलने पर तुमको छोड़ देगा, नही, कभी नही । अतएव अब मेरी समझ मे यह आता है कि भाडो को बुलवाकर उन्हे द्रव्य का लोभ देकर राज्य सभा मे भेजा जाय । वे प्रथम अपनी लीला दिखाकर श्रीपाल को बेटा, भाई, भत्तीजा आदि कहकर लिपट जाये जिससे राजा उसे भांडो का जाया जानकर प्राण दड देंगे जिससे हम तुम सब बच सकेंगे क्योकि राजा इसके कुल, गोत्र आदि के पूर्वज मनुष्यो से तो परिचित है ही नही अत हमारी बात जम जाएगी ।"

सेठ को यह उपाय बहुत रुचिकर लगा । वह मंत्री की बुद्धि की प्रशसा करने लगा और कहने लगा—"इस काम मे विलम्ब नही करना चाहिए । कारण यह है कि शत्रु को अवसर न मिलने पाए नही तो न मालूम वह क्या कर डालेगा ?" ऐसा कार्य न करने के लिए अन्यान्य मन्त्रीगणो ने सेठ को बहुत समझाया परन्तु उसने किसी की न मानी और भांडों को बुलाकर उन्हे द्रव्य का लोभ दे समझा-बुझाकर राजसभा मे भेज दिया । वे सब मिलकर राजसभा मे गए और राजा को यथायोग्य प्रणाम कर उन लोगो ने पहले तो अपनी नकले आदि करके राजा से बहुत-सा पारितोषिक प्राप्त किया । पश्चात् चलते समय सब परस्पर एक-दूसरे का मुह देखकर अगुलियो से श्रीपाल की तरफ संकेत करके बाते करने लगे । यों ही ढ़ोग बनाने पर थोड़ी ही देर मे ज्यों ही श्रीपाल जी राजा की तरफ से उन

लोगों को बीड़ा देने के लगे त्यों ही सबके सब भांड हाय-हाय करके उठ पड़े और श्रीपाल को चारों ओर से घेर लिया । कोई उन्हें बेटा कहता कोई पोता कोई पड़पोता, कोई भतीजा, कोई भानजा और कोई पति—इस तरह कह-कहकर कुशल पूछने लगे और राजा को अशीर्वाद देकर बलैइयां लेने लगे । वे कहने लगे—"अहा ! आज बड़ा ही हर्ष का समय है जो हमें प्यारा बेटा हाथ लगा । हे राजन् ! तुम युग-युगांतर तक जीवो । धन्य है प्रजापालक जो हम दीनो को पुत्र दान दिया है ।"

यह विलक्षण घटना देखकर राजा ने भांडों से कहा—"तुम लोग यथार्थ वृतान्त वर्णन करो कि यह क्या बात है नहीं तो एक-एक को शूली पर चढ़वा दूंगा ।"

तब वे भांड दीन हो हाथ जोडकर बोले—"महाराज दीनानाथ ! अन्नदाता ! यह पुत्र हमारा है । मेरी स्त्री के दो बालक थे तो एक तो यहीं है और दूसरे का पता नही था । हम सब लोग समुद्र में एक नाव में बैठे हुए आ रहे थे कि तूफान से वह नाव फट गई और हम सब लोग लकड़ी की पट्टियों के सहारे कठिनता से किनारे लगे और तो सब मिल गए परन्तु केवल एक लड़का नहीं मिला सो हे महाराज ! आपके दर्शन से द्रव्य और ये दोनों मिल गए ।"

भाडों के कथन को सुनकर राजा को बहुत पश्चाताप हुआ कि हाय मैंने बिना देखे और कुल, जानि व वश पूछे बिना अपनी कन्या ब्याह दी । यह बड़ा पापो है जिसने अपना कुल प्रगट नही किया । फिर वह सोचने लगा कि नही इसमें भी कुछ भेद अवश्य होगा क्योंकि जिस भाँति श्रीगुरु ने कहा था इसी भाँति यह प्राप्त हुआ है और हीन पुरुष कैसे समुद्र पार कर सकता है । इस बात के अतिरिक्त इन भाडों से इसका रग रूप और आचरण बिल्कुल मिलता नही है । देव जाने क्या भेद है ? फिर कुछ सोचकर वह श्रीपाल जी से पूछने लगा—"हे परदेशी ! तुम सत्य कहो कि कौन हो और भाडों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ?"

तब श्रीपाल ने सोचा कि यहाँ मेरे वचन की साक्षी क्या है ? ये बहुत है और मैं अकेला हूँ । बिना साक्षी के कहने से न कहना ही अच्छा है । यह सोचकर यह धीर-वीर निर्भय होकर बोला—"राजन् ! इन लोगो का कथन सत्य है । ये ही मेरे माता-पिता और स्वजन सम्बन्धी हैं ।"

श्रीपाल के कथन से राजा की क्रोधाग्नि तीव्र हो गई और उन्होंने चाडालों को बुलाकर इनको शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दे दी । राजा की आज्ञा से चाडालों ने श्रीपाल को बांध लिया और सूली देने के लिए चले तब श्रीपाल सोचने लगे कि यदि मैं चाहूँ तो इन सबका क्षण भर में सहार कर डालूं परन्तु कर्म पर क्या वश है इसीलिए उदय में आए सब

कर्मों को इसी जन्म में सहन कर लू जिससे फिर कोई कर्म आगे के लिए बाकी न रहे और न उदय मे आए। देखूं क्या-क्या उदय में आता है? इस प्रकार वे विचारते चले जा रहे थे कि राजमहल की किसी दासी ने यह सब समाचार गुणमाला से जाकर कह दिया। यह सुनते ही वह मूछित होकर भूमि पर गिर पड़ी। जब सखियो ने शीतलोपचार करके मूर्छा दूर की तो 'हे स्वामिन्, हे स्वामिन्' कहकर चिल्ला उठी और दीर्घ निश्वास लेती हुई तत्काल ही श्रीपाल जी के निकट पहुँची एवं उन्हे देखते ही पुन. मूच्छित होकर गिर पड़ी। जब मूर्छा दूर हुई तो भयभीत मृगीवत् सजल नेत्रो से पति की ओर देखने लगी और अति आतुर होकर पूछने लगी—"भो स्वामिन्! मुझ दासी पर कृपा करो और सत्य-सत्य कहो कि आप कौन और किसके पुत्र है और इन भांडो ने आप पर यह मिथ्यारोपण कैसे किया?"

तब श्रीपाल बोले—"प्रिये! मेरा पिता भाड और मेरी मा भाडिनी है और सब भांड मेरे कुटुम्बी हैं। इस बात की इस समय साक्षी भी हो रही है। इस मे सन्देह ही क्या है?"

तब गुणमाला बोली—"हे स्वामिन्! यह समय हास्य का नही है। कृपाकर यथार्थ कहिए। आपने पहले तो मुझसे कुछ और ही कहा था और मुझे उस ही पर विश्वास है परन्तु आज यह कुछ विचित्र ही चमत्कार देख रही हूँ। मुझे विश्वास नही होता कि आपके माता—पिता भांड होगे। आपका नाम, काम, रूप, शील, गुण, साहस और दया किंचित् भी उनमे नही मिलते। अतएव सत्य कहिए।"

तब श्रीपाल बोले—"हे प्रिये! तू चिता मत कर और अपना शोक दूर कर। समुद्र के तट पर जो जहाज ठहरे है उनमे एक रयणमजूषा नाम की सुन्दरी है। सो तू उससे जाकर सब वृतान्त पूछ ले। वह सब जानती है सो तुझसे कहेगी।"

यह सुनते ही वह सती शीघ्र ही समुद्र के किनारे गई और 'रयणमजूषा, रयणमजूषा कहके वहाँ पुकारने लगी। तब रयणमजूषा ने सुनकर विचारा कि यहाँ परदेश मे कौन मुझसे परिचित है? चलूँ देखूँ तो सही कौन है और क्यो बुला रहा है? यह सोचकर वह जहाज के ऊपर आकर देखने लगी तो सामने एक अति सुकुमार स्त्री को रुदन करते हुए देखा। उसे देखकर रयणमजूषा करुणामय मधुर स्वर से बोली—"हे बहिन! तू क्यों रो रही है और क्यो इतनी अधीर हो रही है? तू कौन है और यहां तक कैसे आई?"

तब गुणमाला ने अपने आगमन का आद्योपात वर्णन करते हुए निवेदन किया—"हे स्वामिनी! तुम इसके विषय में क्या जानती हो सो कृपाकर यथार्थ कहो जिससे मेरे पति की प्राण रक्षा हो। मुझ अनाथ को पति—भिक्षा देकर सनाथ करो।"

तब रयणमजूषा बोली—"हे बहिन! तू शोक मत कर वह पुरुष चरम शरीरी,

रैन मंजूषा पर मोहित सेठ ने श्रीपाल को सागर में डाला
राजकुमारी गुणमाला ने श्रीपाल को वर माला पहनाई
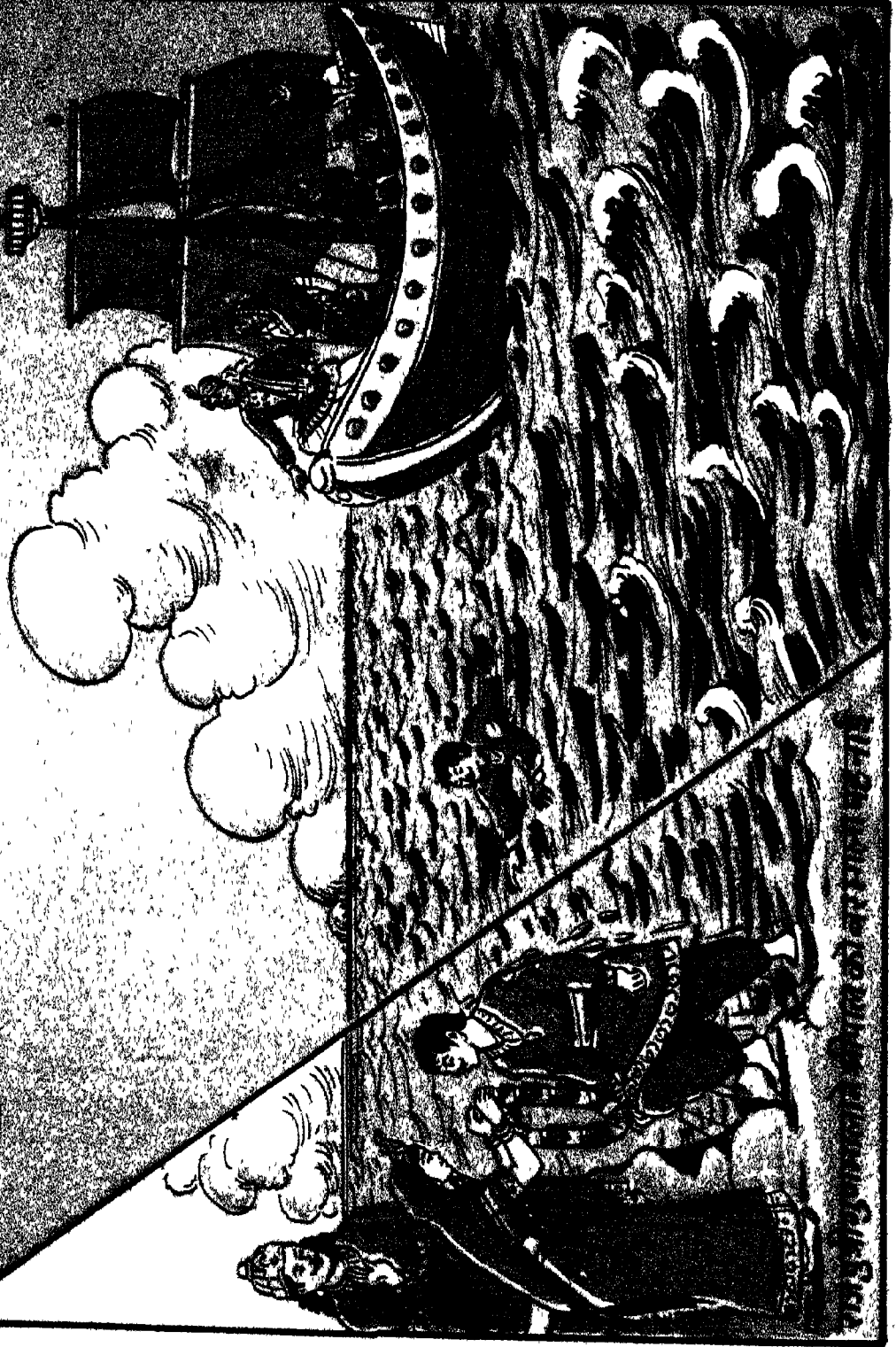
महाबली और उत्तम राजवंशीय है, मरने वाला नही है। चल मैं तेरे पिता के पास चलती हूँ और वहां सब वृतान्त कहूँगी।"

रयणमजूषा श्रीपाल का नाम सुनते ही हर्ष से रोमाचित हो गई और शीघ्र ही राजसभा मे आकर महाराज से पुकार की—'हे महाराज, प्रतिपालक, दीनबंधु, न्यायपरायण ! हम दीनों की प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। हम लोगों का सर्वस्व हरण हुआ जाता है। हम लोगों पर दया कीजिए।"

राजा ने उसकी पुकार सुनकर उसे सामने बुलाया और पूछा—"हे सुन्दरी ! क्या पुकार कर रही हो ? तुम को निष्कारण किसने सताया है शीघ्र कहो।"

तब वह हाथ जोड़कर बोली—"महाराज ! हमारे पति श्रीपाल को जो सूली दी जा रही है उसका न्याय होना चाहिए।"

राजा ने कहा—"सुन्दरी ! वह राज्य का अपराधी है। वह वंशहीन भाडों का पुत्र होकर भी यहाँ वंश छिपाकर रहा और उसने मुझे धोखा दिया इसीलिए उसे अवश्य ही फासी होगी।"

तब रयणमजूषा बोली—"महाराज ! यह एकतर्फी न्याय है। एकतरफी बात वादी के लिए मिश्री से भी मीठी होती है और प्रतिवादि के लिए तीक्ष्ण कटारी होती है। इसीलिए पहले शोध कीजिए और फिर जो न्याय हो कीजिए हम तो न्याय ही चाहती हैं।"

राजा से रयणमजूषा ने कहा—"हे नरनाथ ! ये अगदेश चम्पापुरी के राजाअरिदमन के पुत्र है और उज्जैन के राजा पदुपाल की रूपवती व गुणवती कन्या मैनासुन्दरी को ब्याह कर वहाँ से चले। मार्ग में बहुत से जनों को वश में करते हुए हसद्वीप में आए और वहाँ के राजा कनककेतु की पुत्री रयणमजूषा (मुझ) को परणा। पश्चात् आगे चले सो जहाजों के स्वामी धवल सेठ की मुझ पर कुदृष्टि हो गई और उसने छल करके श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया तथा मेरा शील भग करने का उद्यम किया सो धर्म के प्रभाव से जलदेवी ने आकर उपसर्ग दूर किया और सेठ को बहुत दंड दिया। देवी ने मुझसे कहा था कि 'पुत्री ! शीघ्र ही तेरा स्वामी तुझसे मिलेगा और बड़ा राजा होवेगा सो महाराज। अब तक मेरे प्राण इसी आशा पर टिके हुए है। अब आपके हाथ में बात है। इसमे कुछ भी सदेह नही है। कृपा करके पति-भिक्षा दे दो।"

राजा रयणमंजूषा से यह वृतान्त सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और तत्काल श्रीपाल के पास जाकर हाथ जोड़कर विनती करने लगा—"स्वामिन् ! मुझसे भूल हुई। मुझको क्षमा करो। मैं अधम हूं जो बिना विचारे यह कार्य किया। दया कर घर पधारो।" तब श्रीपाल ने कहा—"महाराज ! यह तो जीवो को अनादि काल से कर्म कभी दुःख और कभी सुख

दिया करता है। इसमें आपका कुछ भी दोष नही। सब मेरे ही कर्मों का अपराध है। जैसा किया वैसा पाया। अच्छा हुआ कि वे कर्म छुट गए। इसका मुझे कुछ भी हर्ष विषाद नही है। जो हुआ सो हुआ। अब व्यतीत हुई बात पर पश्चाताप क्या करना ? हाँ इतना अवश्य है कि पुरुषों को सदैव प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक ही करना चाहिए।"

राजा ने लज्जा से सिर नीचा कर लिया और सादर श्रीपाल को गजारुढ़ कर राजमहल में ले आए। नगर मे घर-घर मंगल नाद होने लगा। श्रीपाल जब महल में आए तो दोनो स्त्रियों ने पति की वदना की और परस्पर कुशल पूछकर अपना-अपना सब वृतान्त कह सुनकर चिन्ता को शात किया तथा अपना समय फिर आनन्द से बिताने लगे। राजा ने सेवकों को भेजकर धवल सेठ को पकड़ बुलवाया सो नौकर उसे मारते-पीटते हुए बड़ी दुर्दशा से राजसभा तक लाए। राजा ने तुरन्त श्रीपाल को बुलाया और कहा—"देखो इस दुष्ट ने आपको सताया है अतएव अब इसका शिरच्छेद करना चाहिए।" यह सुन और सेठ की दशा देखकर श्रीपाल को बड़ा दु ख हुआ। वे राजा से बोले—"महाराज! यह मेरा धर्म पिता है। कृपाकर इसे छोड़ दीजिए। इसने मुझसे जो अवगुण किया वह मुझे गुण हो गया। इनके ही प्रसाद से आपके दर्शन हुए और लाभ पाया। न ये समुद्र में गिराते और न मैं यहाँ तक आता और न गुणमाला को ब्याहता अतएव यह मेरा उपकारी ही है।"

राजा ने श्रीपाल के कहने से सेठ और उसके सब साथियो को छोड़ दिया तथा आदर पूर्वक पचामृत भोजन कराकर बहुत शुश्रूषा की। धवल सेठ ने लज्जित होकर सिर नीचा कर दिया और श्रीपाल की बहुत स्तुति की। मन ही मन मे वह पश्चाताप करने लगा कि हाय मैंने इसको इतना कष्ट दिया पर इसने मुझ पर भलाई ही की। हाय मुझ पापी को कहाँ स्थान मिलेगा—इस प्रकार पश्चाताप कर ज्यो ही एक दीर्घ उश्वास ली कि उसका हृदय फट गया और प्राण पखेरू उड गए सो वह पाप के उदय से सातवे नरक में गया। यहाँ श्रीपाल को सेठ के मरने का बहुत दु ख हुआ। सेठानी के पास जाकर उसने बहुत रुदन किया और पश्चात् कहने लगा—"माता! होनी अमिट है। तुम दु ख मत करो मैं आज्ञाकारी हूँ। जो आज्ञा होगी सो ही करूगा। यहा रहो तो सेवा करूँ और देश व घर पधारना चाहो तो वहा पहुँचा दू। सब द्रव्य मै तुम्हे देता हूँ। तुम किचित् शका मत करो। मे तुम्हारा पुत्र हूँ।"

तब सेठानी बोली—"हे पुत्र! तुम अत्यन्त कृपालु और विवेकी हो। जो होना था सो हुआ। पापी पुरुष का सग छूट गया। अब आज्ञा दो तो मै घर जाऊँ।" श्रीपाल ने उसकी इच्छानुसार प्रणाम कर उसको विदा किया और स्वय वही दोनों स्त्रियों सहित सुख से रहने लगा। अब इनकी कीर्ति रूपी पताका चारो तरफ फहराने लगी। वहा रहते हुए इन्होंने कुंडलपुर के राजा मकरकेतु की कन्या चित्ररेखा, कचनपुर के राजा वज्रसेन की विलासमती

बन्दी श्रीपाल सूली के निकट
गुणमाला की रैनमंजूषा
से वार्तालाप
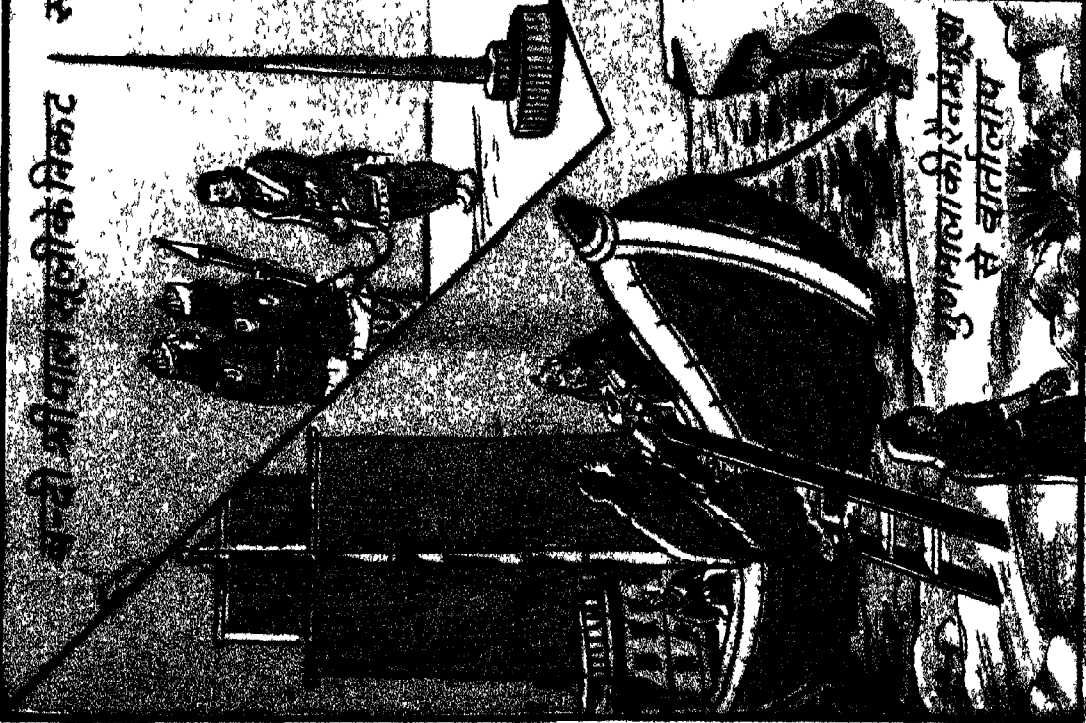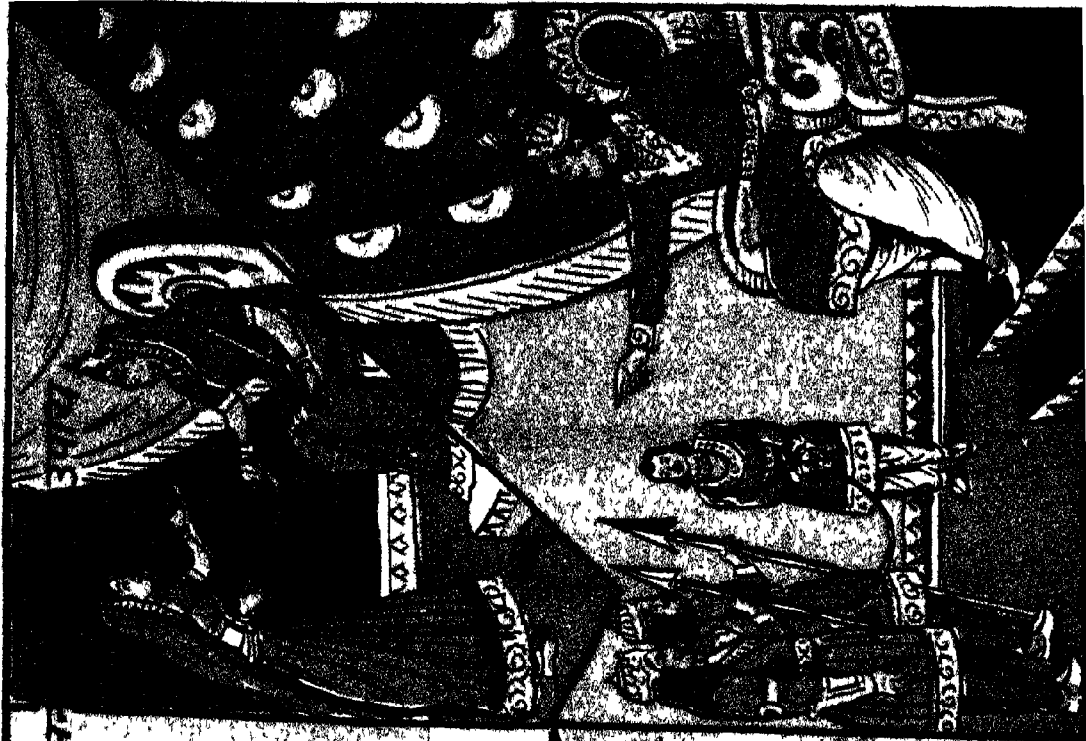
आदि नो सौ कन्याएं, कुंकुमपुर के राजा यशसेन की शृंगारगौरी आदि सोलह हजार कन्याएँ, कोकल देश को दो हजार कन्याएं, मेवाड़ की सौ और तैलंग देश की एक हजार कन्याएँ ब्याही। श्रीपाल का इन बहुत-सी रानियों के साथ क्रीड़ा करते हुए बहुत सुख से समय व्यतीत होता था।

अथानंतर एक दिन राजा श्रीपाल रात को सुख की नीद लेकर सो रहे थे कि अचानक इनकी नींद खुल गयी और मैनासुन्दरी की सुध में वे बेसुध हो गए। वे सोचने लगे—ओहो! अब तो बारह वर्ष में थोड़े ही दिन शेष रह गये है सो यदि मैं अपने कहे हुए नियत समय पर नही पहुचूंगा तो फिर वह सती स्त्री नहीं मिलेगी इसीलिए अब शीघ्र ही यहां से चलना चाहिए क्योंकि मुझे जो इतना ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है यह सब उसी का प्रभाव है। मैं तो यहा सुख भोगू और वह वहाँ पर मेरे विरह मे सन्तप्त रहे यह उचित नहीं है—इस विचार में रात्रि पूरी हो गई और श्रीपाल ने भी चलने का पूर्ण निश्चय कर लिया। प्रात.काल होते ही नित्य क्रिया से निवृत होकर वे राजा के पास गए और सब वृतान्त जैसा का तैसा कह सुनाया तथा घर जाने की आज्ञा मागी। तब राजा सोचने लगे कि जाने की आज्ञा देते हुए तो मेरा जी दु.खता है परन्तु हठात् रोके रखने से इनका जी दु'खेगा अतएव रोकना व्यर्थ है—ऐसा विचारकर पुत्री को बहुत से वस्त्राभूषण पहनाकर और बाकी सब श्रीपाल की स्त्रियों को वस्त्राभूषण पहनाकर उन्हें हित शिक्षा देकर विदा किया।

श्रीपाल जी वहा विदा होकर मार्ग में आते हुए देशों के राजाओ की कन्याओं को ब्याहते हुए अपनी बहुत-सी रानियों और बहुत बड़ी सेना सहित चलते-चलते उज्जैनी के उद्यान मे आए और वहीं कटक सहित विश्राम किया। जब रात्रि हो गई और सब लोग जहाँ तहाँ सो गए तब श्रीपाल ने विचारा कि मैने बारह बर्ष का वादा किया था सो आज ही वह अष्टमी का दिन है। यदि मै आज उस सती सुन्दरी से न मिलूंगा तो वह प्रभात होते ही दीक्षा ले लेगी और फिर समीप आकर वियोग हुआ तो बड़ा दु.ख होगा। इसी चिंता से उनका चित्त विह्वल हो गया और एक-एक क्षण वर्ष भर के समान व्यतीत होने लगा। निदान जब चित्त न रुका तब महाबली श्रीपाल अकेले ही अर्द्धरात्रि को माता के महल की ओर हो लिए। जब महल के द्वार पर पहुँचे तो क्या सुनते है कि प्राण प्रिय मैनासुन्दरी हाथ जोड़े खड़ी हुई सास से कह रही है कि—"माता जी! आपके पुत्र जो बारह वर्ष का प्रण करके विदेश गये थे सो आज वह अवधि पूरी हो रही है परन्तु अब तक न तो वे स्वय ही आए और न ही किसी प्रकार का सदेश भेजा सो अब प्रात.काल ही जिन दीक्षा लूंगी। इतने दिन मेरे आशा ही आशा में व्यर्थ गए। कुछ आत्म कल्याण भी न करने पाई। हे माता! अब तक आपकी सेवा की सो उनमें जो भी भूल हुई हो उसे क्षमा करो और कृपा कर शीघ्र ही आज्ञा दो अब विलम्ब करने से अमूल्य समय जाता है।" तब कुन्दप्रभा बोली—"हे पुत्री! दो चार

दिन तक और भी धैर्य रखो। यदि इतने में वह न आवेगा तो मैं और तू साथ-साथ दीक्षा ले लेंगे। मुझे आशा है कि वह धीर वीर दो चार दिन में अवश्य आयेगा।

तब मैनासुन्दरी बोली—"माता जी ! यह तो सत्य है कि स्वामी अपने वचन के पक्के हैं परन्तु कर्म बड़ा बलवान है। क्या जाने स्वामी को कौन-सी विपत्ति या पराधीनता आ गई हो जिससे नही आये। अब बिना सदेश के कैसे निश्चय कर सकती हू कि स्वामी शीघ्र ही इतने दिनों में आएँगे। फिर माता जी जब आने की कुछ खबर ही नही है तो फिर क्यो अपना समय व्यर्थ बिताऊँ ?"

इस प्रकार सास बहू की बाते हो रही थी। श्रीपाल जी अब तक तो चुपके से सुनते रहे थे परन्तु अब उनसे न रह गया तब वे तत्काल ही कपाट खुलवाकर भीतर गए और जाकर माता को नमस्कार किया। माता ने हर्षित होकर आशीर्वाद दिया। पश्चात् श्रीपाल की दृष्टि मैनासुन्दरी पर पडी तो देखा कि वह कोमलागी अत्यन्त क्षीण शरीर हो रही है। तब वे निज महल को गए। वहां पहुँचते ही मैनासुन्दरी ने स्वामी के चरणो में नमस्कार किया। बहुत दिनो के अनन्तर आज दोनो के विरह दु ख की इतिश्री हुई। दोनो का सुख सम्मिलन हुआ। एक को देखने से दूसरे को परमान्द हुआ। कुशल प्रश्न के अनन्तर श्रीपाल जी माता कुन्दप्रभा और मैनासुन्दरी दोनो को अपने कटक मे ले गये और वहा जाकर माता को सिहासन पर बैठाकर निकट ही मैनासुन्दरी को माता के सिहासन के नीचे स्थान दिया। तत्र स्थित रयणमजूषा आदि अन्यान्य स्त्रियो ने स्वामी के मुख से सम्बन्ध जानकर यथाक्रम सब ने सास कुदप्रभा और मैनासुन्दरी को यथायोग्य नमस्कार करके बहुत विनय सत्कार किया। पश्चात् श्रीपाल जी ने मैनासुन्दरी को सब कटक दिखाया। माता की आज्ञा लेकर मैनासुन्दरी को आठ हजार रानियो में मुख्य पटरानी का पद प्रदान किया। पट्टाभिषेक होने पर रयणमजूषा, गुणमाला, चित्ररेखा आदि समस्त आठ हजार रानिया मैनासुन्दरी की सेवा करने लगी। पश्चात् मैनासुन्दरी बोली—"हे स्वामिन्। आप तो दिगत विजयी हो अतएव मेरी इच्छा है कि मेरे पिता का भी युद्ध मे मान भग करना चाहिए और वह कधे पर कुल्हाड़ी रखे, कम्बल ओढ़ व लगोटी लगाकर आवे तभी छोड़ना चाहिए तो मेरा चित्त शात होगा क्योकि उन्होने कर्म पर वाद-विवाद किया था।"

सुनकर श्रीपाल बोले—"हे काते ! तेरे पिता ने मेरा बड़ा उपकार किया है अर्थात् मैं जब सर्व स्वजनो से वियोगी हुआ फिर रहा था तब उन्होने मेरी सहायता की थी और उपकारी पर अपकार करना कृतघ्नता है। मुझसे यह कार्य होना ही योग्य नही है।"

तब मैनासुन्दरी बोली—"हे स्वामी ! मै द्वेष से नही कहती हूं परन्तु यदि कुछ चमत्कार दिखाओगे तो उनकी जिनधर्म पर दृढ़ श्रद्धा हो जाएगी, यही मेरा अभिप्राय है।"

श्रीपाल प्रिया के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए और तुरन्त ही एक दूत बुलाकर उसे सब भेद समझाया और तत्काल ही राजा पदुपाल के पास भेजा सो दूत आज्ञा-नुसार शीघ्र ही राजद्वार पर जा पहुँचा और द्वारपाल के हाथ अपना सदेश भेजा। राजा ने उसे आने की आज्ञा दी सो उस दूत ने सन्मुख जाकर राजा पदुपाल को यथायोग्य नमस्कार किया। राजा ने कुशल पूछी तब दूत बोला—"महाराज ! एक अत्यन्त बलवान पुरुष कोटीभट्ट अनेक देशो पर विजय करते हुए, वहाँ के राजाओ को वश करते और अनेको जो अनाज्ञाकारी थे उनका पराभव करते हुए आज यहाँ आ पहुँचा है। उसकी सेना नगर के चारो ओर खड़ी है। उसके सामने किसी का गर्व नही रहा है सो उसने आपको भी आज्ञा दी है कि "लगोटी लगा, कम्बल ओढ, माथे पर लकडी का भार रख, काधे पर कुल्हाड़ी लेकर आकर मिलो तो कुशल है अन्यथा क्षण भर में विध्वंस कर दूगा," इस लिए हे राजन् ! अब जो कुशल चाहते हो तो इस प्रकार से जाकर उससे मिलो नहीं तो आप जानो। पानी मे रहकर मगर से वैर करके काम नही चलेगा।"

राजा पदुपाल को दूत के वचनो से क्रोध आया और वे बोले—"इस दुष्ट का मस्तक उतार लो जो अविनय कर रहा है।"

तब नौकरो ने आकर तुरन्त ही उसे पकड़ लिया और राजा की आज्ञानुसार दड देना चाहा परन्तु मन्त्रियो ने कहा—"महाराज ! इसको मारना अनुचित है क्योकि यह बेचारा अपनी तरफ से तो कुछ कह नही रहा है, इसके स्वामी ने जैसा कहा होगा वैसा ही कह रहा है। इसमे इसका कुछ भी अपराध नही है अतः यह छोड़ने योग्य है और हे महाराज ! यह पर चक्र बहुत ही प्रबल मालूम पड़ता है। इससे युद्ध करने में कुशलता नही है अपितु कहे अनुसार मिल लेना उचित है।"

तब राजा ने दूत को छुड़वाकर कहा कि तुम अपने स्वामी को कह दो कि मैं आज्ञा प्रमाण आपसे आकर मिल लूगा। यह सुनकर दूत हर्षित होकर श्रीपाल के पास वापिस गया और यथायोग्य बात कह दी कि महाराज पदुपाल आपसे आपकी आज्ञानुसार मिलने को तैयार है।

तब श्रीपाल ने मैनासुन्दरी से कहा—"प्रिये! राजा तुम्हारे कहे अनुसार मिलने को तैयार है। अब उन्हें अभय दान देना ही योग्य है। मैनासुन्दरी ने कहा—'आपकी इच्छा हो सो कीजिए, मुझे भी स्वीकार है।"

श्रीपाल ने पुनः दूत को बुलाकर राजा पदुपाल के पास सदेशा भेजा कि आप चिंता न करे और अपने दल-बल सहित जैसाकि राजाओं का व्योहार है, उसी प्रकार से मिले।" सो दूत ने जाकर राजा पदुपाल को यह सदेश सुनाया। वह सुनकर राजा बहुत हर्षित हुआ

और दूत को बहुत सा परितोषिक देकर विदा किया तथा आप मन्त्रियों को सग लेकर बड़े समारोह के साथ मिलने को चला। जब पास पहुँच गए तब राजा पद्मपाल हाथी से उतर कर पैदल चलने लगे सो श्रीपाल भी श्वसुर को पैदल आते हुए देखकर सन्मुख गए और दोनों परस्पर कठ से कठ लगाकर मिले। दोनों को बहुत प्रीति और आनन्द हुआ परन्तु राजा पद्मपाल को संदेह हो गया इसीलिए वह एकदम श्रीपाल के मुह की ओर देखने लगा परन्तु पहचान न सका। तब वह बोला—"हे स्वामिन्! आपको देखकर मुझे बहुत सदेह उत्पन्न होता है परन्तु मै अब तक आपको पहिचान नही सका हू। आप कौन है?"

तब श्रीपाल जी हसकर बोले—"महाराज! मैं आपका लघु जवाई श्रीपाल हूं जो मैनासुन्दरी से बारह वर्ष का प्रण करके विदेश गया था सो आज आया हूँ।"

यह सुनकर राजा फिर से श्रीपाल जी को गले से लगाकर और परस्पर कुशल क्षेम पूछकर हर्षित हुए। आनन्द भेरी बजने लगी, फिर राजा ने मैना सुन्दरी से कहा कि हे पुत्री! तू क्षमा कर। मैंने बड़ा अपराध किया है। तू सच्ची धर्म धुरधर शीलवती सती है। तेरी प्रशंसा कहाँ तक करू?

मैनासुन्दरी ने सन्तुष्ट होकर पिता को शिर नमाया। फिर राजा और भी पुत्रियो (रयणमजूषा आदि से) से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ और सघ को लेकर नगर मे गया। नगर में शोभा कराई गई। राजा ने श्रीपाल का अभिषेक किया और सब रानियो समेत वस्त्राभूषण पहिनाए। इस प्रकार श्वसुर जवाई मिलकर सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे। इस प्रकार सुखपूर्वक रहते हुए श्रीपाल को बहुत समय बीत गया। एक दिन बैठे-बैठे उनके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि जिस कारण विदेश निकले थे वह तो कार्य अभी पूर्ण नही हुआ अर्थात् पिता के कुल की प्रख्याति नही हुई। मैं अभी पर राजधानी में हू और वही राज जवाई का पद मुझ से लगा हुआ है अतएव अब अपने देश मे चलकर अपना राज करना चाहिए। यह सोचकर श्रीपाल जो पद्मपाल के निकट गए और स्वदेश जाने की आज्ञा मागी। राजा ने इनकी इच्छा प्रमाण विलषित होकर आज्ञा दी।

श्रीपाल मैनासुन्दरी आदि आठ हजार रानियो और बहुत सेना हाथी, घोडे, पयादे आदि सहित उज्जैन से विदा हुआ। श्रीपाल जी इस प्रकार विभूति सहित स्वदेश चपापुर के उद्यान मे आये और नगर के चहुँ ओर डेरे डलवा दिए। सो नगर निवासी इस अपार सेना को देख कर उद्वेग से भर गए। श्रीपाल जी विचारने लगे कि इसी समय नगर में चलना चाहिए। सो ठीक ही है—'बहुत दिनो से बिछुड़ी हुई प्यारी प्रजा को देखने के लिए ऐसा कौन निर्दयी चित्त होगा जो अधीर न हो जाए, सभी हो जाते है।'

तब मन्त्रियो ने कहा—"स्वामिन्! एकाएक मिलना ठीक नही है। पहले सदेशा

भेजिए और यदि इस पर महाराज वीरदमन सरल चित्त से ही आपसे आकर मिलें तो ठीक है। फिर कुछ झगड़ा करने की आवश्यकता नही है और यदि कुछ शल्य होगी तो भी प्रगट हो जाएगी।" श्रीपाल को यह मंत्र अच्छा लगा और उन्होने तत्काल दूत बुलाकर उसे सब बात समझाकर वीरदमन के पास भेज दिया। दूत ने जाकर वीरदमन से कहा—"महाराज महावीर, भाग्यशाली श्रीपाल बहुत विभव सहित आ पहुँचे है सो आप जाकर उनसे मिलो और उनका राज उनको वापिस दे दो।"

यह सुनकर कुशल प्रश्न के अनन्तर वीरदमन ने दूत से उत्तर में कहा—"रे दूत! तू जानता है कि राज्य और वल्लभा भी कोई क्या मांगने से दे देता है, कदापि नही। ये तो बाहुबल से ही प्राप्त होती हैं। जिस राज के लिए पुत्र पिता को, भाई-भाई को और मित्र मित्र को मार डालते हैं वह राज्य क्या मैं दे सकता हूँ कदापि नही यदि उसमें बल होगा तो मैंदान में ले लेगा।"

यह सुन दूत नमस्कार कर वहा से चल दिया और जाकर श्रीपाल से समस्त वृतान्त कहदिया कि वीरदमन ने कहा है कि सग्राम में आकर लड़ो और यदि बल हो तो राज्य ले लो श्रीपाल जी को दूत के द्वारा यह समाचार सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो आया। उन्होने तुरन्त ही सेनापति को आज्ञा दी। आज्ञा के होते ही सेना तैयार हो गई। उधर से वीरदमन भी सेना लेकर युद्ध के लिए निकल पडे। दोनों ओर के योद्धाओ की मुठभेड़ हो गई। घोर युद्ध होना प्रारम्भ हुआ। बहुत समय पर्यन्त युद्ध होने पर भी दोनों में से कोई भी सेना पीछे नहीं हटी तब दोनो ओर के मत्रियों ने यह देखकर कि देश का सर्वनाश हुआ जाता है अपने-अपने स्वामियों से कहा कि हे राजन् इस प्रकार लडने से किसी का भी भला नहीं होगा। अच्छा यह है कि आप दोनों आपस में युद्ध करके लडाई का फैसला कर ले।" तो यह विचार दोनों को रुचिकर हुआ और दोनो सेनाओ को रोककर परस्पर ही युद्ध करना निश्चित करके वे काका और भतोजे रणक्षेत्र में आ गए। दोनों की मुठभेड हो गई और भीषण युद्ध हुआ। जब युद्ध करते हुए बहुत देर हो गई और किसी के सिर विजय मुकुट नही बंधा तो शस्त्र छोड़कर वे मल्ल युद्ध करने लगे सो बहुत समय तक तो यों ही लिपटते और लोटते रहे परन्तु जब बहुत देर हो गई तब श्रीपाल ने वीरदमन के दोनों पाँव पकड़कर उठा लिया और चाहा कि पृथ्वी पर दे मारे उनके मन में दया आ गई और आकाश से जय-जय शब्द होने लगा। देवो ने श्रीपाल के गले मे पुष्पमाला पहनाई और बोले—"राजन्! तुम दयालु हो। इसको छोड़ो।" तब श्रीपाल ने वीरदमन को छोड़ दिया वीरदमन बोले—"हे मित्र! यह तू अपना राज्य संभाल। मैने तेरा बल देख लिया। यथार्थ में तू महाबली है। तेरी कीर्ति सब दिशाओ मे सच्ची ही फैल रही है। हमारे इस वंश में तेरे जैसे शूरवीर ही चाहिएँ।"
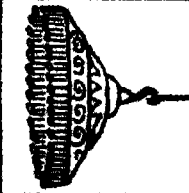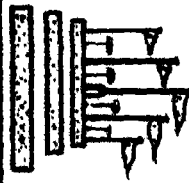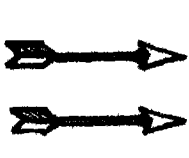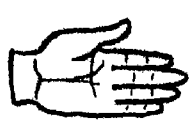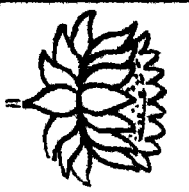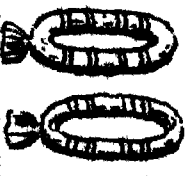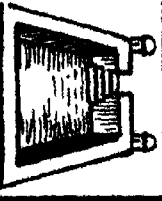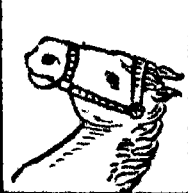
तब शूरवीर श्रीपाल बोले—"हे तात ? यह सब आपका ही प्रसाद है । जो आप की आज्ञा हो वह करू । अब आप मुझे आज्ञा दीजिए और निश्शंक हो प्रभु का भजन कीजिए वीरदमन बोले—"हे पुत्र ? ठीक है । मेरा भी यही विचार है कि तुझे राज्य देकर जिनदीक्षा लूं जिससे भववास मिटे ।" यह कहकर वीरदमन ने श्रीपाल को राज्याभिषेक कराकर राज्य पद दे दिया और बोले—"हे धीर-वीर ? अब तुम चिरकाल तक सुख से राज्य करो और नीति व न्याय पूर्वक पिता पुत्रवत् प्रजा का पालन करो । दु खी दरिद्रियो पर दयाभाव रखो और मुझे क्षमा करो । जो कुछ मुझसे तुम्हारे विरुद्ध हुआ है वह सब मै भूल जाऊंगा अब दीक्षा रूपी नाव में बैठकर कर्म शत्रु को जीतकर भव-सागर से तिरुंगा ।"

इस प्रकार वीरदमन अपने भतीजे श्रीपाल को राज्य देकर स्वय वन मे गए और वस्त्राभूषण उतार कर केशों का पचमुष्ठी से लोच किया, चौबीस प्रकार के परिग्रह को तजकर पंच महाव्रत धारण किए और घोर तपश्चरण कर घातिया कर्मो का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और बहुत जीवो को धर्मोपदेश देकर ससार से पार किया । पश्चात् शेष बचे हुए अघातिया कर्मों को भी आयु के अन्त में नि शेष कर परम धाम मोक्ष को प्राप्त किया ।

महाराज श्रीपाल आठ हजार रानियो सहित इन्द्र के समान सुखपूर्वक काल व्यतीत करने लगे । देश-देश मे इनकी ख्याति होने लगी । प्रजा भी इनके शासन से बहुत सन्तुष्ट हुई । इस प्रकार इनका राज्य करते हुए सुख से समय व्यतीत होता था । कितन दिन के अनन्तर मैनासुन्दरा के गर्भ रहा सो अनेक प्रकार के शुभ दोहले उत्पन्न होने लगे और श्रीपाल ने उन सबको पूर्ण किया ।

जब दस महीने पूर्ण हो गए तब शुभ घड़ी व मुहूर्त्त में चन्द्रमा के समान उज्जवल काति का धारी पुत्र हुआ । पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में राजा ने बहुत दान दिया, पूजा प्रभावना की । पश्चात् ज्योतिषी को बुलाकर ग्रह आदि का विवरण पूछा तो उसने कहा—"यह पुत्र उत्तम लक्षणों वाला होगा और इसका नाम धनपाल है ।"इस तरह दूसरा महिपाल, तीसरा क्षेत्र-रथ और चौथा महारथ—ये चार पुत्र मैनासुन्दरी के हुए । रयणमजूषा और गुणमाला के पाच पुत्र हुए । और भी सब स्त्रियो के किसी के एक, किसी के दो । इस प्रकार महाबली, धीर-वीर व गुणवान् समस्त बारह हजार पुत्र हुए । वे नित्य प्रति दिन दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे ।

इस प्रकार महाराज श्रीपाल पुण्ययोग से प्राप्त हुए विषय-भोगो को न्याय पूर्वक भोगते हुए अपनी प्रजा का सुखपूर्वक पालन करते थे । वे एक दिन सुख से बैठकर दिशाव-लोकन कर रहे थे कि अचानक उल्कापात होकर अन्तर्हित हो गया । उन्हे सभी पदार्थ

२८ "नक्षत्रों के स्थानाकार"

बीजणा	गाड़ी का ऊर्द्धिका	हिरन का मस्तक	दीपशिखा	छत्र	तोरण	बाँबी
गौमूत्रवत मोड़	बाँणों का जोड़ा	हाथ	कमल	दीपक	अहरन	हार
सींग	बिच्छू	बावड़ी	सिंह का कुंभस्थल	हाथी का कुंभस्थल	मृदंग	आकाश से पड़ता पक्षी
सैना	हाथी का अग्रभाग	हाथी का पिछल: भाग	नाविका	घोड़े का मस्तक	चूल्हा	वींणा

विनाशीक बिजलीवत् चंचल मालूम होने लगे। उन्होंने तब ही अपने ज्येष्ठ पुत्र धनपाल को बुलाकर उसके राज्य पट्ट बांध कर तिलक कर दिया। इस प्रकार कुल परम्परागत राज्य का भार धनपाल को सौंपकर और स्वयं गृह त्याग बन में जाकर मोक्षसुख की साधक जिन-दीक्षा ले ली और कितने ही दिनो तक कठिन तपश्चरण कर घातिया कर्मों का नामशेष किया और केवलज्ञानी होकर सदा के लिए मोक्षपद प्राप्त किया। मैनासुन्दरी ने भी अर्जिका के व्रत ले घोर तपश्चरण कर सोलहवे स्वर्ग में देव-पद प्राप्त किया। वहाँ से चल-कर मैनासुन्दरी का जीव मोक्ष पायगा। श्रीपाल की माता कुन्दप्रभा रानी ने भी तप के योग से सन्यास मरण कर सोलहवें स्वर्ग मे देव पर्याय पाई तथा रयणमंजूषा आदि अन्य स्त्री तथा पुरुषों ने भी जैसा भी तप किया उसी के अनुसार गति पाई। देखो सिद्ध चक्र व पच नमस्कार मत्र की महिमा कि कहाँ तो श्रीपाल कोढी था जो आठ दिन में कोढ़ दूर कर कामदेव के समान रूपवान् हो गया और अथाह सागर से तिरा एव इन्द्र के समान महा विभूति का स्वामी हुआ। अतएव जो परम कल्याण अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाले सज्जन पुरुष है उन्हे प्रमाद छोड़कर नित्य ही भव-सागर से पार करने वाले पंच नमस्कार मत्र का स्मरण, जाप तथा ध्यान करना चाहिए। यह महामत्र तीन लोक में अपराजित है अर्थात् किसी से जीता नही जा सकता है। यह अनादि निधन मगलरूप लोक में उत्तम और शरणाधार है। देखो, यह पंच परमेष्ठी मत्र की आराधना से सीता को पति का मिलाप और अग्नि का जल हो गया था। अजना को इसी महामत्र के प्रभाव से बन में रक्षा और पति का समागम हुआ था। यही महामत्र धनदत्त सेठ ने सूली पर चढे हुए दृढ़ सूर्य चोर को दिया था जिसके प्रभाव से वह मर कर सौधर्म स्वर्ग मे देव हुआ था। और तो क्या पशु और पक्षियो की भी इसी मत्र के प्रभाव से शुभ गति हो गई है। भूधरदास जी ने कहा है :—

दोहा — विषधर बाघ न भय करे, विनशें विघ्न अनेक।
व्याधि विषम व्यंतर भजे, विपत्ति न व्यापै एक ॥१॥
बैठत चलते सोवते, आदि अत लो धीर।
इस अपराजित मत्र को, मत विसरो हो वीर ॥२॥
सकल लोक सब काल में, सर्वागम मे सार।
भूधर कबहुं न भूलिए, मत्र राज मन धार ॥३॥

प्राचीन काल मे अनेक जीवों ने इसके द्वारा जो फल प्राप्त किया है उसे लिखने की शक्ति नही है। इस प्रकार नमस्कार मत्र का महात्म्य जानकर भव्यो को उचित है कि वे प्रसन्नता के साथ इस पर विश्वास कर और प्रतिदिन इसकी अराधना करें।

॥ इति श्रीपाल चरित्र सपूर्णम् ॥

॥इति णमोकार ग्रंथ भाषा वचनिका समाप्तम् ॥ शुभं भवतु ॥

अथ ग्रन्थ कर्त्ता प्रशस्ति.—

दोहे:—गत घाति चतुष्टय गरिम, नव केवल लब्ध्येश ।
ज्ञायक लोकालोक के, नमहुं सकल परमेश ।।१।।
अष्ट कर्म गत शर्म मय, नत निरजन नित्य ।
ज्ञानादि वसुगुण गरिम, नमहुँ सिद्ध कृतकृत्य ।।२।।
व्रत तप वीर्याचारपन, दरशन ज्ञान प्रधान ।
धरे धरावे मोह्यगण, नमू सूरि तिन जान ।।३।।
रत्नत्रय मणिजुत सतत, वृष उपदेशन लीन ।
सयतिवर उवज्भाय हैं, नमहुं चरण तिन चीन ।।४।।
दरश बोध चारित रतन, तीनों शिवपुर पथ ।
साधे ठाइ समूल गुण, नमहुं सकल निर्ग्रन्थ ।।५।।
द्वादशाग वाणी विमल, उदभव वदन जिनेश ।
नमहुं चरण युग दीजिए, विद्या दान अशेष ।।६।।
या विधि पच परमेष्ठी अरु, वाणी श्री जिनराय ।
नमि के पद युग पद्म को, लिखू प्रशस्ति बनाय ।।७।।
इस ही भारत क्षेत्र मे, अन्तर्गत कुरु देश ।
इन्द्रप्रस्थ राजत नगर, शोभा सहित विशेष ।।८।।
पचम जार्ज सम्राट मणि, सब राजन परधान ।
वरतै तिस शासन तहाँ, पजा सुखद कल्यान ।।९।।
विविध जाति धर्मी सुजन, निवस तहाँ समुदाय ।
जिन धर्मी राजे बहुत, जन धन साता पाय ।।१०।।
तिष्ठे तहा अन्वय प्रवर, खडेलवाल विख्यात ।
पुनीत वैनाडा गोत्र मणि. धर्म बुद्धि निष्णात ।।११।।
मम पितु कन्हैयालाल जी, किशन चद के नद ।
तिन पद युग को दास मम, कहावत लक्ष्मी चद ।।१२।।
ज्ञानावरण क्षयोपशम, पूरव भव सस्कार ।
भयो अटल विश्वास मम, जिनवाणी पर सार ।।१३।।
तिस हेतु वय अल्प से, आगम श्री जिन चद ।
पृच्छ अलापन गुणनि का, करत रहत सानद ।।१४।।
एक दिवस मम चित्त में, उपजो यहै हुलास ।
पढ़ो सुनो तिहि सचिये, यथाशास्त्र क्रम भाष ।।१५।।

पच परमेष्ठि नमन करि, सरस्वती उर धार।
करन संग्रह आरम्भ कियो, यथा बुद्धि अनुसार ।।१६।।
जो निज धी तें जानियो, सुनो सुबुद्धिन पास।
तिस एकत्रित करि कियो, आगम रुप प्रकाश ।।१७।।
या के सग्रह करन में, मम मितु निर्भयराम।
तिन सहाय बहु हम करी, सम्मति दे सुख धाम ।।१८।।
मम संग्रह अभिमानवश, कियो न यश विस्तार।
पर हित हेतू तथा, स्वज्ञ बढन हितकार ।।१६।।
याहि पठन-पाठन थकी, स्वल्प बुद्धि नर नार।
न्यूनाधिक ताते कछु, होवहिगो उपकार ।।२०।।
विज्ञन से मम प्रार्थना, पूर्वक भाव विनीत।
हस प्रकृति से शुध करो, क्रोध भाव को जीत ।।२१।।
नाही मैं व्याकरण विद्, नही चरित पुरान।
नही काव्य तत्वार्थ विद्, नही न्याय कछु ज्ञान ।।२२।।
अन्त सभवत· या मध्य में, होंगी त्रुटी अनेक।
किन्तु न्यूनाधिक तथा, ह्वैगो स्थल नैक ।।२३।।
वीर अब्द चौबीस शत, छयालिस ऊपर जान।
चैत्र शुक्ल एकादशी, भयो ग्रन्थ अवसान ।।२४।।

।। इति णमोकार ग्रन्थ समाप्त ।।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

।। णमोकार पैंतीसी व्रतोद्यापन ।।

स्थापना—

मंत्राधिराजं णमोकार मंत्रम् ।
आह्वानन स्थापन सन्निधापनैः ।।
संपूजयामीह विधानपूर्वकं ।
प्रत्येक वर्णानुगतं हित प्रदं ।।

ॐ ह्री श्रीं सर्वज्ञमुख समुद्भूत अनादि निधन श्री अपराजित नाम मंत्राधिराज अत्राह्वयेति संवौषट् इत्याह्वानन, ॐ ह्री श्री सर्वज्ञमुख समुद्भूत अनादि निधन श्री अपराजित नाम मंत्राधिराज अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापन । ॐ ह्रीं श्रीं सर्वज्ञमुख समुद्भूत अनादि निधन श्री अपराजित नाम मंत्राधिराज अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् इति सन्निधापन ।

पयोभिः शशांको ज्वलैश्चित्तचौरैः ।
कनत्कांचना मत्रनालात्पतद्भिः ।।
गुरून् पच संपूजयामीह भक्त्या ।
यथा शक्ति संभावितान् चित्तवृत्त्या ।।

ॐ ह्री अर्हं श्री परमब्रह्मभ्यो अनतानंत ज्ञान शक्तिभ्यो अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्वसाधु पंच परमेष्ठीभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा ।।१।।

सुगधागतै भ्रामरैगंधसारैः ।
सरद्गंधसदिग्धिताशांतरालैः । गुरुन् । चंदन ।।२।।
यशो राशि शका गतै रक्षतोघैः ।
पयः पूरसंक्षालितैः शालिजातैः । गुरुन् । अक्षत ।।३।।
लसत्मालती चपकुंद प्रसूनैः ।
सुगधामिलत्षट्पदारावरम्यैः । गुरुन् । पुष्पं ।।४।।

मनोघ्राण सतर्पकैर्भक्ष्यभेदैः ।
जगज्जतु क्षुद्रोग विद्राणदक्षैः । गुरुन् । नैवेद्यं ॥५॥
मनोध्वांत सघात सघातनार्थं ।
विकाशकरैः शकरै सुप्रदीपै । गुरुन । दीप ॥६॥
दशागोद्भवै र्धूपधूमैः सुगंधैः ।
जगद्घ्राण सतर्पणार्थं सरद्भिः । गुरुन् । धूपं ॥७॥
फलैर्नालिकेराम्र पूगै कपित्थै ।
मनोवाछितार्थै फलैर्दानदक्षैः । गुरुन् । फल ॥८॥
पानीय चदन सुशालि भवाक्षतौघै. ।
पुष्पैश्चरुत्करसुदीप दशाग धूपैः ॥
नानाफलैर्वरतरविधिना ददेऽह ।
अर्घ च पच गुरुवे गुरुवे त्रिशुद्धया ॥
ॐ ह्री पचपरमेष्ठिभ्यो अर्घम् ॥९॥

प्रत्येकाक्षर सम्बन्धिनी पूजा

ण न्यचतिनी च कर्माणि, णकारोच्चारमात्रत. ।
शर्म्माणि समुदयं याति, ततोऽह पूजयामि त ॥
ॐ ह्री अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घ ॥१॥

मो मोऽक्षर मन्त्रराजस्य यो जनो जिह्वया जपेत् ।
मुच्यते मोह मातगोपद्रवादिह तत् क्षण ॥
ॐ ह्री अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोऽक्षराय अर्घ ॥२॥

अ अकार स्वर सभूत वर्णन केन वर्ण्यते ।
आदौहि द्विपचाशद्वर्णना पठ्यते तथा ॥
ॐ ह्री अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि तृतीय अकारस्वराय अर्घ ॥३॥

र रायतिकिन्नरादेवाः सेवाया च जगद्गु रोः ।
उच्चैः स्वर विशेषेण रकार तमह यजे ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थरकाराक्षराय अर्घं ॥४॥

हं — हति हमक्षयं शीघ्र मोह शत्रुमनादिज ।
तमह प्रयजे तस्मात्स्वकर्महानयेऽनिश ॥

ॐ ह्री अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि पंचम हमक्षराय अर्घ ॥५॥

ता — पूर्वनप्राणिभि. प्राप्ता ऋद्ध्योऽष्टौ च विष्टये ।
ताक्षरेणाशु जायन्ते तस्मात्ताक्षरमर्च्च्यते ॥

ॐ ह्री अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि षष्ठ ताक्षराय अर्घ ॥६॥

णं — णमित्यक्षर लोकेऽहो प्रणामार्थप्रकाशक ।
प्रणामपूर्वक तस्मात्तमर्च्चेह जलादिभि ॥

ॐ ह्री अर्हन्नमस्कार सम्बन्धि सप्तम णमक्षराय अर्घ ॥७॥

इति सप्ताक्षरैर्युक्तानर्हतश्च जलादिभि.
अष्टमिर्द्रव्यसदौहैरर्घमुत्तारयाम्यह अर्घ ॥

ॐ ह्री णमो अरहताण अर्हत् परमेष्ठीभ्यो अर्घ ॥

ण — सिद्ध प्रबन्ध सम्बन्धि णकारोऽत्र प्रपूज्यते ।
तस्य प्रसादतो नून नमस्यति नरामरा. ॥

ॐ ह्री सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घ ॥१॥

मो — मोस्वरूपाक्षरदक्षा लक्ष्यीकृत्यानुवेलक ।
ध्यायतु हृदये स्वस्य मोक्षमार्गानुगामिनः ॥

ॐ ह्री सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोऽक्षराय अर्घ ॥२॥

सि — सिस्वरूपाक्षर शास्वत् पूजा द्रव्येण पावन ।
पूजयामि जगत्पूज्य भवस्य हरणेक्षम ॥

ॐ ह्री सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि तृतीय सिकाराक्षराय अर्घ ॥३॥

द्धा — धारण पोपण चेहाऽमुत्रेद्धाक्षरधारणात् ।
तस्मात्कारणात्तमऽह पूजा द्रव्यै. प्रपूजये ॥

ॐ ह्री सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थ द्धाक्षराय अर्घ ॥४॥

ण — सानुस्वार णकार यः प्रात प्रातश्च पूजयेत् ।
सिद्धाः सिद्धि प्रयच्छतुतस्मैपूजानुबंधिने ॥

ॐ ह्रीं सिद्ध नमस्कार सम्बन्धि पचम प्रांत प्राप्त णकाराक्षराय अर्घ ॥५॥

॥ इतिपचाक्षरी पूजा भव्याणा वाछिन्तप्रदा ॥
तदर्थमष्टभिद्र व्यैरर्घमुत्तारयाम्यह ॥

ॐ ह्री णामो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठीभ्यो: अर्घ ॥

ण — णाक्षरं त पुनर्नौमि प्रणमति सुरा: यदा ।
आचार्य्यवदनाया च पूजयामि जलादिभि: ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घ ॥१॥

मो — भूयोऽपि मोक्षर मान्य मानन्द मन्दिर मुदा ।
जलाद्यष्ट विधैद्र व्यैर्भक्ति भारेण भाक्तिकै ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोऽक्षराय अर्घ ॥२॥

आ — आकार निर्विकार च साध्वाचारस्य सूचक ।
आचरति मुदाचार्या: स्वाचारार्थमहयजे ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि तृतीय आकारस्वराय अर्घ ॥३॥

ई — ईश्वर स्वरसघात पूजित प्रार्थितप्रद ।
प्रमोदभरसभूत भक्तिभारेणचार्च्यते ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थ ईस्वराय अर्घ ॥४॥

रि — रीत्यक्षरराजस्य गान कुर्वति रागिण. ।
आचार्याणा गुण ग्रामानर्चयामि विशेषत: ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि रिकाराक्षराय अर्घ ॥५॥

या — याक्षर पूज्यते नित्य परमार्थ प्रकाशक ।
यस्यार्थधारिणाश्चाश्रु प्राप्ता मोक्ष मुनीश्वरा. ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि षष्ठयाक्षराय अर्घ ॥६॥

णं — णमक्षरयजामीद नमिताऽशेषभूतल ।
आचार्य नमन तस्मादाद्योपांतेन जायते ॥

ॐ ह्री आचार्य नमस्कार सम्बन्धि सप्तम प्रात णमक्षराय अर्घं ॥७॥

इति सप्ताक्षरी पूजा तृतीया पूरणीकृता।
तदर्थं जलमुख्यैश्च स्वर्घमुत्तारयाम्यह ॥

ॐ ह्रीं णमो आइरियाण आचार्य परमेष्ठीभ्यो, अर्घं ॥

ण — उपाध्यायाधिकारीयो णकार: पूज्यते नरै:।
पाठ शुद्धिर्भवेद्यस्माद्विधा या व्यसनस्य च ॥

ॐ ह्री उपाध्यानमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घं ॥१॥

मो — भूयोपि मोक्षरं भव्या. पूजयतु विशेषत·।
पानीय प्रमुखैर्द्रव्यै: ससारासातहानये ॥

ॐ ह्री उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोऽक्षराय अर्घं ॥२॥

उ — वितिवर्णं विशेष य. पूजाद्रव्येण पूजयेत्।
सुरै: सन्मानतायाति किं पुनर्नर नायकै. ॥

ॐ ह्री उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि तृतीय उकाराक्षराय अर्घ ॥३॥

ब — वेतिवर्ण विधानेन नरो नारी निरन्तर।
अर्चयत्यर्चना द्रव्यै सुरै: सौर प्रपूज्यते ॥

ॐ ह्री उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थ वकाराक्षराय अर्घं ॥४॥

ज्झा — ज्झाक्षर निर्झरद्वारिधारया गन्ध सारया।
पूजयामि शुभै द्रर्व्यै: सुगन्धाकृष्टषट्पदै: ॥

ॐ ह्री उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि पचम ज्झाक्षराय अर्घं ॥५॥

या — यजन याक्षरस्योच्चैर्जना: कुर्वतु नित्यश:।
न्यायोपात्तेन द्रव्येणानीतै द्रव्यैर्जलादिभि: ॥

ॐ ह्री उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि षष्ठ याक्षराय अर्घं ॥६॥

णं — नमति प्रणिधानेन णमित्यक्षरनामकं।
ये नरा: नरके घोरे न विशंति कदाचन ॥

ॐ ह्री उपाध्याय नमस्कार सम्बन्धि सप्तम णमित्यक्षराय अर्घ ॥७॥

भूय: सप्ताक्षरीचेमां पूजा कुर्वतु भावत:।
जलाद्यष्टविधैर्द्रव्यैरर्घमुत्तारयाम्यह ॥

ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाण उपाध्याय परमेष्ठीभ्यो: अर्घं।

ण
विना ण वर्ण साधूणां वदन नहि जायते।
ततस्तमक्षर नित्य पूज्यते परमादरात् ॥
ॐ ह्रीं सर्वसाधू नमस्कार सम्बन्धि प्रथम णकाराक्षराय अर्घ ॥१॥

मो
मोक्षर यजते यो ना मुच्यते पापसचयात् ।
सचिनोतिपर पुण्य ततोह पूजयामित ॥
ॐ ह्री सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि द्वितीय मोक्षराय अर्घ ॥२॥

लो
लुनाति चाघ संघात लोवर्ण लपित मुखान् ।
यस्त सलिलधाराभिर्यजते वर्ण नात्रका ॥
ॐ ह्री सर्वसाधू नमस्कार सम्बन्धि तृतीय लो वर्णाय अर्घ ॥३॥

ए
एक्षर येधरत्युच्चै कर्णजाप जना. यदा।
तदा तेषा भवेत् सर्वा सपच्च सुख साधिनी ॥
ॐ ह्री सर्वसाधु नमस्कार सम्बन्धि चतुर्थ एऽक्षराय अर्घ ॥४॥

स
स-साधुसेव्यते नित्य यस्य ज्ञान गुणाबुधै ।
पार न प्राप्यते सद्भिर्बाहुभिश्च विचारकै· ॥
ॐ ह्री सर्व साधू नमस्कार सम्बन्धि पचम सकाराक्षराय अघ ॥५॥

व्व
सर्वार्थसाधनेदक्ष दक्षा वाक्षर चर्चन।
कुर्वतु करुणायुक्ता मशक्ता. सर्व कर्मणि ॥
ॐ ह्री सर्वसाधू नमस्कार सम्वन्धि पष्ठ वाक्षराय अर्घ ॥६॥

सा
साक्षरेणश्रुमा सेव्या मोक्षलक्ष्मी मन प्रिया ।
ययाच रचित चेतो वैचित्य नोपढौकते ॥
ॐ ह्री सर्वसाधू नमस्कार सम्बन्धि सप्तमं सा-क्षराय अर्घ ॥७॥

हू
हूस्वरूपाक्षर स्यौच्चै पूजन मुदाचरेत्।
हा हा हू व्हादिभिर्दव्यै: पूजा प्राप्नोति नित्यश ॥
ॐ ह्री सर्वसाधू नमस्कार सम्बन्धि अप्टम हू-स्वरूपा क्षराय अर्घ ॥८॥

णं
णमहं साधु वर्गस्य साधुसवादतां गता।
पूजयामि महा भक्त्या पूजा द्रव्यैनिरतर ॥

ॐ ह्रीं सर्वसाध नमस्कार सम्बन्धि नवम् ण-मित्यक्षराय अर्घं ।।६।।

सार्द्ध द्वितीय द्वीपेषु साधवो ये वसन्ति वै ।
तदर्थमष्टभिर्द्रव्यै रर्घमुत्तारयाम्यह ।।

ॐ ह्रीं णमो लोएसव्वसाहूणं सर्वसाधुभ्यो अर्घं ।।

अपराजित मन्त्रस्य पूजा सन् मंगल प्रदा ।
विदुषाक्षयरामेण कृता ज्ञेया विवेकिभिः ।।

जयमाला

अर्हंत सुरराज पूजित पदा, सिद्धा लसत्सद्गुणा । आचार्या. सुचरित्र साधनापराः अध्यापका धीश्वरा । सिद्धा साधन साधवाऽत्रभुवने सद्बुद्धय साधव । पंचते परमेष्ठिनो निजगुणान्, यच्छतु चाराधिताः ।।१।। कर्म कलक निवारण कारण ध्यान कराः । भव्य समूह समुद्धरणैक जिनेश्वरा ।। सिद्ध वधू वरवाछित लांछित बोध धरा. । जन्म-जरामृति रोग निवारण सिद्धवरा ।।२।। आचरणे सुविचारपरा, शुभध्यान धराः । भूरिभवार्णवतारण कारण पीतवरा. ।। दीक्षित बुद्धि समुद्र विवर्धन चन्द्रकरा । पाठ-कतागुण धारण पाठक नाम धराः ।।३।। सौम्यदृग कुशमार मतंगज मानभिद । साधु समूह-मह प्रयजे गुरु ज्ञान विद ।। पाप हर महामत्रपर प्रणमति नरा । ये निज भक्तिभरेण त्रिसधि विवेक परा ।।४।। ते सुर सद्म लभन्ति निरन्तर सौख्यभर। देवगणै परिशोभितमधि विदूरतर ।। इन्द्र नरेन्द्र फणीद्र खगेन्द्र विभूति प्रद । जाप्यजपाक फलेण जलेन जलोदरद ।।५।। भूतगण ग्रहचौररण, मणि मन्त्र पर । नाशयनीह च पापघनाघनवातभर ।। प्रातर र जपनीयपर पर भक्तिभरैः । श्रावकैः करुणारसपानमहाचतुरै ।।६।। इत्थ पचप्रभून वै वर विधि-सहिता श्रावका. पूजयन्ति ।। येते वाग्भिःस्तुवति । प्रगुणित परमाह्लाद भाजो भवन्ति ।।७।। तेषा वै पचत्रिशत् सुगुणितगणनाम सयुताना निमित्त ।। वर्णाना सोपवासविधि मनति नय सविधि-ते स भव्य. ।।८।।

वत्सरे युग[२] नवाश्च[६] चन्द्रके[७] । (स. १७६२) माघवासित चतुर्दशी दिने ।। नूतने जयपुरे पुरेशिनि । राजमान जयसिह राजनि ।।९।। वाणी गच्छे गच्छाधीशः । शमजातो विद्यानन्दी विद्याधीश ।। समजातः तेषाशिष्यः शिष्य मुख्योऽक्षयराम । पूजामेना मुच्चेश्चक्रे अक्षयरामः ।। इति श्री नवकार पचत्रिशति कोद्यापन पूजा सम्पूर्णा ।।

णमोकार पैंतीसी के उपवास—३५ । सप्तमी के ७ । पचमी के पाच । चतुर्दशी के १४ । नवमी के ९ । ऐसे उपवास ३५ होते हैं ।

आमषाणेकापरिणामछउहीकाहै परंतु येकतो मूलसेंझाडकूं काटतोहै येकमोटाडालाकाटतोहै येकछोटाडालाकाट-तोहै येककचापकासर्व आमतोडतोहै येकपकातोडतो है· येकजमीकेऊपर पडेहुयेही उगायेषातोहै उतरो उतरहै